'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका पञ्चम सुमन

(संरक्षक—श्रीपं० मुरारीलालजी मेहता, कलकत्ता)

सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत

श्रीसनातनधर्मालोक

हिन्दुधर्मके आचार-विचार एवं पर्व
तथा
उनका वैज्ञानिक-रहस्य।

प्रणेता—

पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि

[भूतपूर्व प्रिन्सिपल स० ध० सं० कालेज, मुलतान]

प्रिन्सिपल सं० हिं० महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली ६

प्रकाशक—

श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत शास्त्री, प्रभाकर

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय

फर्स्ट बी० १६, लाजपतनगर, नई देहली १४

विजयादशमी सं० २०१३]

[मूल्य ५)

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' शास्त्री सारस्वत, प्रभाकर
श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी० १९, लाजपतनगर, नई देहली १४

प्रथम संस्करण
मूल्य साढ़े [illegible] रुपये

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव, देहली ।

❀ प्रारम्भिक शब्द ❀

"वामाङ्गीकृतवामाङ्गि कुण्डलीकृतकुण्डलि ।
आविरस्तु पुरो वस्तु भूतिभूत्यम्बराम्बरम् ॥"

करुणावरुणालय श्रीपरमेशानके दयादान एवं जनता-जनार्दनके सहयोगसे 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका पञ्चम-सुमन विकसित हो रहा है। पाठकोंने देखा होगा कि इसमें कितनी उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। हमारी ओरसे इसके प्रचारकी न्यूनता अवश्य रही है; पर जनताने इस ग्रन्थमालाका आदर करके अपनी गुणग्राहकताको परिचायित करके हमारे उत्साहको बढ़ा दिया है।

यह ग्रन्थमाला अपने देशमें प्रचलित तो हुई ही है; विदेश (दक्षिणी-अमेरिका डचगायना, ब्रिटिशगायना आदि)में भी इसकी मांग हुई है। इसे सनातनधर्मियोंने तो लिया ही है, गुणग्राही आर्यसमाजियोंने भी इसे लिया एवं अपनाया है। इस पञ्चम-सुमन के लिए तो विद्वानोंके बहुत आग्रहपूर्ण पत्र आये कि—आप इसके प्रकाशनमें विलम्ब क्यों कर रहे हैं? हम उन सभी प्रेरकों, प्रचारकों, ग्राहकों तथा अर्थ-सहायकोंका हृदयसे धन्यवाद करते हुए 'हिन्दुधर्मके आचार-विचार एवं पर्व तथा उनका वैज्ञानिक-रहस्य' नामक पञ्चम-सुमन उनकी सेवामें उपहृत करके उनसे सम्भावना करते हैं कि वे पूर्वकी भांति इस सुमनका भी सम्यक् प्रचार करेंगे, और पूर्ववत् अर्थ-साहाय्य भी स्वयं तथा दूसरोंसे कर-कराकर आगेके छठे-पुष्पके विकासकी भूमिका बांधनेमें भी सहयोग

प्रारम्भ कर देंगे। सहायता जितनी शीघ्र प्राप्त होगी, नवीन-सुमन भी उतनी शीघ्रतासे विकसित होंगे।

प्रस्तुत-सुमनसें हिन्दुधर्मके आचार-विचारों एवं पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताये गये हैं। इसमें हमने जनताके लाभार्थ कई प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंको भी उनके ग्रन्थों वा निबन्धोंसे दुहकर अपने क्रमसे रखा है; अतः उन सभी विद्वानों के कृतज्ञ होते हुए हम उन्हें धन्यवाद-प्रदान करते हैं। यह सुमन बहुत ही बड़ा (६१० पृष्ठका) हो गया है; अतः कई उपयोगी भी निबन्ध इससे निकाल लेने पड़े, जिनका उपयोग फिर अन्य-पुष्पोंमें होगा। इस सुमनको सभी प्रकारके विचार रखनेवाले हिन्दुमात्रको अपने पास रखना चाहिये। प्रत्येक पुस्तकालयको यह सुमन सुवासित करनेवाला सिद्ध हो सकता है।

यह गत-पुष्पमें बताया जा चुका है कि—हमारा 'श्रीसनातनधर्मालोक' मूल-महाग्रन्थ संस्कृतमें है, और दशसहस्र पृष्ठका है, पर इस देशकालमें संस्कृतका बहुत प्रचार न देखकर इसकी ग्रन्थमालाको हिन्दीमें प्रकाशित किया जा रहा है। इसके पञ्चम-सुमन-इतने २० पुष्प विकसित हो सकते हैं। इस ग्रन्थमालाको जनताने बहुत ही पसन्द किया है, और अपनी लम्बी-लम्बी सम्मतियां भेजी हैं, पर स्थानाभाव-वश पूरी तथा सभी सम्मतियों को उपस्थित नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थमालाका आरम्भ कैसे हुआ?

जब मैं छात्रावस्था (प्राज्ञ-विशारद-श्रेणी सन् १९१५–१९१७)

में था, उस समय अपने पूज्यपाद गुरुवर श्रीमान् पं० हीरानन्दजी शास्त्रीको पं० कालूरामजी शास्त्रीकी 'धर्मप्रकाश' आदि पुस्तकें पढ़ते हुए देखता था। उनसे मुझपर सनातनधर्मके संस्कार पड़े। फिर शास्त्रि-श्रेणी (सन् १९१८-१९) के गुरुवर श्रीपं० जगन्नाथजी शास्त्रीके आर्य-समाजकी वेदीपर सनातनधर्मकी ओरसे डिबेटमें भाग लेने और विपक्षियोंको चुप करानेसे १५-१६ वर्षकी अवस्थावाले मुझपर उक्त-संस्कारोंका प्राबल्य हुआ। सन् १९२१ में जब मैं अलीपुर (मुज़फ्फ़रगढ़) सनातनधर्म संस्कृत-विद्यालयमें मुख्याध्यापक बना; वहां उसके मन्त्री श्री पं०खण्डालालजीशर्माकी प्रेरणासे मैंने वहांके पुस्तकालयमें श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी, श्री पं० भीमसेन जी, तथा श्री पं० कालूरामजी शास्त्री तथा अन्य विद्वानोंके सनातनधर्म-विषयक समस्त-ग्रन्थ पढ़ डाले। इससे मुझे इस विषयमें उद्बोधना तथा प्रेरणा मिली। फिर मुलतान स० ध० संस्कृत कालेज (सन् १९२४) में आकर मैंने प्रतिपक्षियोंके ग्रन्थ भी देखे, स्वयम् अनुसन्धान भी किया। तत्फलस्वरूप दशसहस्र फुलिस्केप पृष्ठका 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थ संस्कृतमें लिखा। सन् १९२५ से लेकर १९३५ तक इसका परिष्करण, परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा। मुलतानमें आये हुए श्री पं० कालूरामजी शास्त्रीने उस हमारे महाग्रन्थके बहुतसे निबन्ध सुने, इससे वे बहुत प्रभावित एवं प्रसन्न हुए, और अपने किये हुए भाषानुवादसे युक्त उक्त-ग्रन्थ प्रकाशित करनेकेलिए मुझसे मांगा। इससे पूर्व मैं केवल संस्कृत-पत्रों में लेख भेजता था, हिन्दीमें नहीं। उनके अनुरोधसे मैंने पत्रोंमें

सनातनधर्म-विषयक हिन्दीके लेख भी भेजने प्रारम्भ किये।

उसी महाग्रन्थके निबन्ध मैंने संस्कृत-हिन्दी पत्रोंमें भेजे; उसका विद्वानोंपर गम्भीर-प्रभाव पड़ा; और उससे मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया गया। इससे उक्त-महाग्रन्थ छपवानेका विचार दृढ होगया। उस समय उक्त-महाग्रन्थ छपवानेकेलिए मांगनेवाले श्री पं० कालूरामजी शास्त्री, तथा स०ध० कालेज मुलतानके आचार्य श्री पं० देवराजजी शास्त्री वेदकाव्यतीर्थमहोदयका देहावसान हो चुका था। श्रीलक्ष्मीदेवीकी कृपा अपनेपर न होनेसे स्वयं छपवानेका साहस ही न होता था। विचारते-विचारते देशभङ्ग हो गया, और इधर खण्डित हुए हिन्दुस्थानमें आ जाना पड़ा। सौभाग्यकी यह बात हुई कि—लिखित उक्त-महाग्रन्थ सुरक्षितरूपसे साथ आगया। यदि वहीं नष्ट होजाता, तो फिर उत्साह शेष ही न रह जाता। इससे उक्त महाग्रन्थ परमेशानको इष्ट है—ऐसा अनुभव करके अतिशयित-प्रमोद प्राप्त हुआ, और परमेशानकी असीम कृपा-कटाक्षका बार-बार स्मरण प्राप्त होता रहा। अब छपे कैसे?

यह विचार हुआ कि—जब प्रभुने इसे यहांतक सुरक्षित पहुँचावाया है, तो आगेके योग-क्षेमका विचार भी तो उसी प्रभुने करना है—हमें इसकी चिन्तासे क्या प्रयोजन? स्वयं ही इसके प्रकाशनके निमित्त बन जाएँगे। बात भी ठीक थी। मुझ जैसे किसीके पास न आने-जानेवालेसे यह कार्य हो भी नहीं सकता था। यहाँ आकर गुरुकुल-घरौण्डाके आचार्य-महाशयसे उनकी अभिमत 'नमस्तेकी एकपदता' पर पत्रव्यवहार द्वारा विचार जारी

हुआ। चार पत्रोंके उत्तर देनेके बाद उन्होंने पत्रोत्तर देना बन्द कर दिया, और पुस्तक छपवानेकेलिए उत्तेजित किया। उसी विषयका प्रथम-पुष्प 'श्रीस्वाध्याय'के संपादक-महोदयने 'श्रीस्वाध्याय' में छपवाकर उसे पृथक्-रूपसे भी छपवा दिया। दूसरा पुष्प शुरू करवाकर भी कारणवंश उसमें उन्होंने अपना सहयोग बन्द कर दिया। उस समय जनताके द्वारा कुछ सहायता प्रारम्भ होगई थी। उससे द्वितीय-पुष्प छपा। फिर तृतीय-पुष्पकी तैयारी हुई, वह भी छप गया। फिर चतुर्थ-पुष्प छपा। अब पञ्चम-पुष्प आपके समक्ष है। छठे-पुष्पकी तैयारीकी आशा भी बँध रही है। यह सब जनता-जनार्दनकी सहायताका फल है। इस प्रकार जनता अपना सहयोग देती चले, तो २० पुष्प पूर्ण होकर उक्त १० सहस्र पृष्ठका महाग्रन्थ पूरा प्रकाशित हो जाय। यदि प्रतिपुष्पमें एक नवीन-महोदय संरक्षक होते चलें, शेष २० सहायक होते चलें, तो यह ग्रन्थ-माला शीघ्र पूर्ण हो सकती है। धर्मानुरागी जनताका ध्यान इधर अपेक्षित है। इस विषयमें हमसे पत्रव्यवहार किया जा सकता है।

सनातनधर्मी विद्वान्।

सनातनधर्मके इस ग्रन्थमें सनातनधर्मी-विद्वानोंका भी कुछ परिचय अपेक्षित है। यों तो सनातनधर्मी-विद्वानोंकी संख्या की ही नहीं जा सकती। पर उनमें प्रसिद्ध-विद्वान् श्रीपं०ज्वालाप्रसादजी तथा पं०श्रीभीमसेनजीने बड़ा भारी कार्य किया। इनके बाद श्री पं० कालूरामजी शास्त्री युक्ति-विशारदका नाम न लिया जावे; तो यह हमारी कृतघ्नता होगी। इनके ग्रन्थ सुमधुर एवं सुगम-भाषामें

इस शैलीसे लिखे गये हैं कि—सनातनधर्म-सिद्धान्तोंके अज्ञाताको भी उससे बड़ा लाभ प्राप्त हो जाता है। मैंने सनातनधर्मके विषय में गवेषणा श्री पं० कालूरामजी शास्त्री आदि अपनेसे पूर्व-विद्वानों की अपेक्षा बहुत अधिक कर रखी है; पर मैं यह स्पष्ट कह देता हूँ कि मुझे श्रीपं०कालूरामजीशास्त्रीके ग्रन्थ ही स०ध०की वेदीपर ले आये। उनमें श्री पं० भीमसेनजीके 'ब्राह्मणसर्वस्व' स्थित लेखों का तथा पं० ज्वालाप्रसादजीके 'दयानन्दतिमिरभास्कर'का भी बड़ा हाथ था।

म० म० पं० गिरिधरशर्मा न्यायशास्त्रीजीने भी सनातनधर्मका अद्भुत प्रचार किया। अपनी व्याख्यानमाला तथा शास्त्रार्थोंसे जनताको बहुत ही प्रभावित किया; पर म० म० जीमें यह त्रुटि रही कि—उन्होंने सनातनधर्म-विषयक विशाल-ग्रन्थ अभी तक भी जनताके समक्ष नहीं रखा, जो कि उनके जीवनके बाद उनकी स्थानपूर्ति कर सके। यदि वे चाहें तो उनमें इस विषयमें अद्भुत क्षमता है। पर उन्हें अपेक्षित-वृत्तिकी न्यूनता इधर नहीं आने देती। सनातनधर्मी धनिकों वा संस्थाओंका कर्त्तव्य था कि उन्हें वृत्तिसे निश्चिन्त कर देते; तब देखते कि—उनसे कैसा सुन्दर सनातनधर्म-विषयक ग्रन्थरत्न बनता। इसे सनातनधर्मका दुर्दैव ही कह सकते हैं। एक पत्रमें प्रकाशित उनके एक लेखमें यह जानकर कि—'उन्होंने पुराण-विषयक कुछ रचनायें प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है' मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई है। उनके एक-एक अक्षरमें अतिशयित-ज्ञान भरा होता है।

इनके बादके स० ध० प्रचारक विद्वान् थे मुलतानके गोस्वामी पं० यदुकुलभूषण शास्त्री महामहोपदेशक। उनकी भी स्तुति इस मुखसे नहीं की जा सकती। उन्होंने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये; सुन्दर ट्रैक्ट प्रकाशित किये। एक सुन्दर ग्रन्थ छपवाना प्रारम्भ ही किया था कि—काल के कराल-गालमें अकालमें ही समा गये। इससे धार्मिक-जनताको बड़ी चोट लगी।

उनके बादके प्रचारक विद्वान् हैं महामहोपदेशक शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं० माधवाचार्यजी शास्त्री। इनका वर्णन करना भी इस मुखसे सम्भव नहीं। वस्तुतः इन्होंने अपने सुन्दर-भाषणों, शास्त्रार्थों तथा सुन्दर पुस्तक-निर्माणसे देश-विदेशमें प्रतिपक्षियोंके छक्के छुड़वा दिये। यह बहुत सभ्य, शिष्ट, संयत और वाग्मी हैं। प्रतिपक्षीके हृदयपर धाक डाल देते हैं। इनके बाद सनातनधर्म-संसारमें मुझे अन्धकार दीख रहा है। इन्हें चाहिये कि—अपने-जैसे किसी अधिकारीको अपने जीवनमें नियुक्त कर जावें, जिससे इनका प्रारम्भ किया हुआ भाषणादि-कार्य आगे भी चलता रहे।

एक बात मैं भूल गया, जिससे मुझे कृतघ्नता प्राप्त हो सकती थी; वह है सनातनधर्मके प्रसिद्ध एवं सुमधुर-व्याख्याता श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज भारतधर्म-महामण्डल तथा कविरत्न पण्डित अखिलानन्दजीका निरूपण। इन दोनों महापण्डितोंने भी सनातनधर्म-विषयक बहुत सुन्दर-पुस्तकें बना दी हैं। वेदमन्त्रोंके प्रमाणोंपर कविरत्नजीका विशेष प्रयत्न रहा है। विपक्षी-समुदाय इनसे जलता

है, इन्हें विविध-धूर्तताओंसे बदनाम करता है। पर इनके ग्रन्थ बहुत ही उत्तम हैं, आशा है—इस वार्धक्यमें भी वे अपना शेष-साहित्य जनताको सौंप जावेंगे। स्वामी दयानन्दजीमें यह विशेषता रही है कि-वे प्रतिपक्षीका खण्डन इस प्रकार करते हैं कि किसीको उसमें खण्डन मालूम ही नहीं होता। इनका 'धर्म विज्ञान' ग्रन्थ बहुत सुन्दर है। आजकलके सनातनधर्मके विद्वानोंमें श्री पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी 'सिद्धान्त'* सम्पादक (काशी) बड़े परिनिष्ठित हैं। वे जब किसी सनातनधर्म-विरोधीकी आलोचना करते हैं, तो विषयके बीच घुस जाते हैं, बहुत सुन्दर, शिष्ट एवं संयत अकाट्य-विवेचना देते हैं। शेष श्री पं० ब्रह्मदेवजी शास्त्री आदि विद्वानोंका परिचय फिर दिया जायगा।

सनातनधर्मके जागरणमें हम उसकी अर्वाचीन विपक्षि-शाखा आर्यसमाजका भी आभार मानते हैं। यदि सचमुच यह सम्प्रदाय शुरू न होता; स० ध० को जली-कटी न सुनाता, खण्डन-मण्डनका प्रचार न करता; चालाकियां करके अर्थका अनर्थ न करता; तो सोये हुए स०ध०के विद्वानोंको आजका ईसाइयोंका नवीन-संस्करण सुधारक सदाकेलिए सुला देता। फिर उन विद्वानोंको जागरित

---

*'सिद्धान्त'के प्रधान-सम्पादक श्री पं० गङ्गाशङ्करजी मिश्र हैं। आप सनातनधर्मके ऊँचे पण्डितोंमें हैं। पौरस्त्य-पाश्चात्य दोनों साहित्योंमें तथा राजनीतिक-शास्त्रमें परम-प्रवीण हैं। 'सिद्धान्त' पहले साप्ताहिक, पर अब पाक्षिक पत्र है, यह भी संग्रहणीय-पत्र है। दैनिक 'सन्मार्ग' भी इन्हींकी सम्पादकतामें निकलता है। मँगानेका पता—'सिद्धान्त' कार्यालय गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।

करनेवाले व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालुशर्मा जैसे सुमधुर तथा युक्तिपूर्ण व्याख्याता कहांसे निकलते ? सचमुच आजके स०ध०के सभा-सोसायटीके रूपमें जागरणका श्रेय इन्हीं पण्डित-महानुभाव (श्री दीनदयालुजी)को है, इसमें कोई चाटुकारिता वा मृषावाद नहीं।

आ०स०के प्रतिद्वन्द्वी-प्रचारसे सनातनधर्ममें पर्याप्त जागृति आई। आज कांग्रेसका युग आगया है। इसने यह विवाद समाप्त करा दिये हैं। पर हमें शास्त्रार्थोंका वह समय उत्कण्ठापूर्वक स्मरण आता है। चाहे आर्यसमाजी-पण्डित चालाकियां करते थे; अर्थका अनर्थ भी करते थे, ग्रन्थोंके प्रामाण्य-अप्रामाण्यमें अपने स्वैराचारको ही मुख्य रखते थे; तथापि इन दोनों संस्थाओंके विद्वान् इस मिषसे शास्त्रोंको तो देखते-भालते थे। आज फिर शास्त्रोंका देखना-भालना बन्द हो गया है। सनातनधर्मी विद्वान् फिर ऊँघ रहे हैं: उनको जगानेकेलिए ही हमने यह 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला जारी की है। यह पञ्चम-सुमन आपके हाथोंमें है। यदि आप सहायता करते-कराते चलें; तो पञ्चम-सुमन-इतनी बीस पुष्पोंकी यह ग्रन्थमाला शीघ्र पूर्ण हो जावे।

आज भीषण-युग प्रवर्तमान है, अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं। यदि यह ग्रन्थमाला पूर्ण हो गई, तो सनातनधर्मपर होनेवाली शङ्काएँ प्रायः समाप्त हो जायेंगी—यह हमारा जनताकी सम्मति देखकर विश्वास है। अब इसे अपना कार्य समझकर अपनाइये। हमें बहुत कहने-लिखने का अवसर न दीजिये।

ग्रन्थमालाके सहायक।

इस बार कोई महोदय संरक्षक नहीं बने। हां, सहायक बने हैं। इस बार जगद्गुरु-शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज सहायक बने हैं। इस देशमें आने पर श्रीचरण हमारा ध्यान आरम्भसे ही रखते रहे हैं। इन्होंने स्वामी श्री १०८ भूमानन्दजी महाराज तथा दानवीर पं० कृष्णचन्द्र जी वैंकर्सको भी सहायक बनवाया है। इसके बाद 'पण्डितभूषण' स्वामी श्रीरामदासजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, अध्यक्ष श्रीचन्द्र-चिकित्सालय समोसा-गली देहली, इसके सहायक बने हैं। यह मुलतान-निवासी हैं, जहाँ आप आयुर्वेदके योग्य विद्वान् हैं, वहाँ रोगियोंकी चिकित्सामें भी सिद्धहस्त हैं। फिर स्वामी श्री १०८ वासुदेवानन्दजी महाराज शास्त्री वेदान्ताचार्य, दर्शनाचार्य सहायक बने हैं। आप पंजाब-निवासी हैं, और योग्य-विद्वान् हैं। फिर आगराके कारोनेशन प्रेसके अध्यक्ष रायबहादुर गोस्वामी ब्रजनाथजी शर्मा सारस्वत-महोदय भी सहायक बने हैं। मारवाड़ मूंडवाके सुप्रसिद्ध वैद्यराज श्री पं० वनमालिदत्तजी व्याकरणायुर्वेदाचार्य (अध्यक्ष श्रीवेङ्कटेश्वरधर्मार्थ-औषधालय) महाभागने श्रीगोपीलालजी काबरा महोदयको सहायक बनाया है। उनके भी प्रेरक श्री पं० रामेश्वरजी शास्त्री महाभाग हैं। सहायकोंका न्यूनसे न्यून १००) नियत है।

यह सब सहायक वा प्रेरक ब्राह्मण वा चतुर्थाश्रमी हैं। इसके बाद सेठ श्रीभांगीरामजी सेठ श्रीछबीलदास जी बम्बई इस

ग्रन्थमालाके १५१) देकर सहायक बने हैं। इनके प्रेरक सेठ श्री तेजभानजी तथा दैवज्ञधुरीण श्रीपं०बालमुकुन्दजी मुलतान-निवासी हैं।

अर्थदाता

इस पुष्पमें श्री सेठ कुम्भनदास विशनदासजी, तथा सेठ श्री भगवानदास जी डी. गांधी बम्बई ने ५१)-५१) रुपये, श्रद्धेय श्री पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी—महोदयने २५), मुलतानिवासी श्री पं० बालमुकुन्दजी ज्योतिर्वित्-महोदयने २५), श्रीमान् पं० भवानीशंकर जी शास्त्री संस्कृत-शिक्षक दरबार मिडल स्कूल जयपुर महोदयने इस बार भी २५) ग्रन्थमालाको सहायतार्थ दान दिये हैं। सनातनधर्मके भक्त श्री रामशरणदासजीने ११) दान दिये हैं।

पूर्वके सहायक

श्री पं० ब्रह्मदत्तजी शर्मा सांकरिया निवासी, (अध्यापक माध्यमिक-विद्यापीठ कादेड़ा) महोदय तो आरम्भसे ही इस ग्रन्थमालाके सहायक हैं। तृतीय-पुष्पसे लेकर प्रत्येक पुष्पमें १००) की सहायता दिया करते हैं। दूसरे श्री पं० हरिप्रसादजी शास्त्री पाराशर ओ. टी. (संस्कृत-शिक्षक S. D. हाईस्कूल पठानकोट) महोदय इस बार भी १००) रु० के सहायक बने हैं। इस मालाके सबसे पूर्वके सहायक श्री पं० रेवाशंकरजी शास्त्री पुरोहित देलवाड़ाकर (बम्बई) थे, पर हमें यह जानकर अत्यन्त ही खेद हुआ कि वे इस लोकको छोड़ चुके हैं। ग्रन्थमालाको उनके इस आत्यन्तिक-वियोगसे बड़ा आघात पहुँचा है। अस्तु, वे स्वर्गसे भी ग्रन्थमालाकी शुभाशंसा कर रहे

होंगे। श्री पं०रामेश्वरजी शास्त्री प्रत्येक पुष्पको पर्याप्त-संख्यामें बिकवाकर इसका प्रचार कराया करते हैं। श्री पं० विष्णुदत्तजी बी. ए. (बूँदी) महोदयने भी पुस्तकोंके विक्रयमें अपना हाथ बटाया है।

अस्तु; इन सब सहायकों, अर्थदाताओं, प्रेरकों- तथा ग्रन्थमाला-के प्रचारकोंको हृदयसे धन्यवाद देते हुए हम अन्य महोदयोंको भी प्रेरणा करते हैं कि वे भी इस ग्रन्थमालाको स्वयं सहायता दें; तथा दूसरोंसे भी दिलवायें। इस ग्रन्थमालाके इतने ही बीस सुमन खिलने हैं। उनमें सनातनधर्मके सभी विषय आगये हैं। जनताके सहयोगसे यह ग्रन्थमाला शीघ्र पूर्ण हो सकती है। ग्रन्थमालाको अनन्तश्रीविभूषित श्री १००८ स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका हृदयसे आशीर्वाद प्राप्त है। यदि वे किसी समर्थ-भक्तको इस यज्ञमें कुछ अंश आहुति देनेकेलिए प्रेरित करदें; तो इस धर्मयज्ञकी शीघ्र ही पूर्णता सम्पन्न हो सकती है।

सोल-एजेन्ट

सूरिनेम (डचगायना-दक्षिण अमेरिका)में हमारे सोल एजेन्ट श्रीलोकनाथजी हैं। ये सनातनधर्मके सच्चे प्रेमी हैं। इनके श्रीपिताजी उधर सनातनधर्मके महोपदेशक हैं। यह भी इस ग्रन्थमालाका प्रचार दक्षिण-अमेरिकामें कर रहे हैं।

प्रस्तुत-पुष्प

प्रस्तुत-पुष्पमें हिन्दुधर्मके आचार-विचार एवं पर्वोंके वैज्ञानिक रहस्य बताये गये हैं। आजका संसार विज्ञानसिद्ध-सिद्धान्तको

प्रमाणित करता है, अतः इस पुष्पमें हमने विज्ञानको ही लिया है, जिससे 'सनातनधर्म वैज्ञानिक धर्म है, अवैज्ञानिक नहीं' यह जनता को ज्ञात हो सके। इसे हिन्दुमात्रको अपनाना चाहिये।

अमूल्य कोई भी न ले।

यह ध्यान रहे कि—हमें इस ग्रन्थमालामें जो भी सहायता वा मूल्य प्राप्त होता है, वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है; उसका एक पैसा भी अपने काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको विना मूल्य न ले। यदि कोई महोदय अधिक सहायता न भी कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इस ग्रन्थमालाके प्रचार तथा विक्रयणमें अवश्य सहायक बनें; इससे अग्रिम पुष्पके प्रकाशनमें सहायता मिल जाती है।

सहायताके नियम।

दस हजार रु० देनेवाले ग्रन्थमालाके 'सर्वस्व' माने जाते हैं, पांच हजार देनेवाले महासंरक्षक, ढाई हजार देनेवाले मान्य-संरक्षक और एक हजार देनेवाले संरक्षक माने जाते हैं। इनका नाम प्रत्येक प्रकाशनमें छपता है, और चित्र प्रथम-प्रकाशनमें। 'सर्वस्व' तथा महासंरक्षकका परिचय भी दिया जाता है। पांच सौ रु० देनेवाले सम्मान्य-सहायक, और ढाई सौ दाता-मान्यसहायक और एक सौ रु. देनेवाले सहायक माने जाते हैं।

अधिकारी-विद्वानोंसे प्रार्थना है कि—विचारमें यदि कोई त्रुटि रह गई हो; तो सूचना दें, जिससे आगे ध्यान रखा जा सके। इन शब्दोंके साथ यह भूमिका समाप्त है।

निवेदक—

विजय-दशमी
सं० २०१३

दीनानाथशर्मा सारस्वत शास्त्री विद्यावागीश
[प्रिन्सिपल सं. हिं. महाविद्यालय, दरीबाकलां]
देहली-६

श्रीसनातनधर्मालोक (४) के सम्बन्धमें

—: कुछ विद्वानोंके भावोंका संक्षेप :—

(१) 'आपका प्रखर पाण्डित्य और परिश्रम तो सदैव स्तुत्य रहा है, परन्तु उक्त-पुष्पकी छपाई-सफाई आदिमें भी सर्वथा आधुनिक बनानेकी कला देखकर अतीव हर्ष हुआ। सनातनधर्मको आपकी लेखनी पर गर्व है'। (पं० श्रीमाधवाचार्यशास्त्री शास्त्रार्थ-महारथी, स० ध० महामहोपदेशक,) कौल (करनाल)।

(२) 'पं० दीनानाथशास्त्रिणां यावन्तो निबन्धा आर्यसमाजि-विचारखण्डन-सम्बन्धे तथा स०ध०-सिद्धान्तपोषणसम्बन्धे अद्यावधि निर्गताः, ते हि अमूल्याः सर्वेषामपि संस्कृतविदुषां समक्षे समुपस्थापनीयाः सन्ति।'...'धर्मसम्बन्धे यः शङ्कोद्गमरोगो जायते, तस्य निराकरणार्थं शास्त्रिवर्याणां निबन्धा रामबाणायमानाः सन्ति।... एभिर्निबन्धैरहं शास्त्रिवर्यान् अभिनन्दितुं बलात्प्रेरितोस्मि'। (पं० श्रीगोपालशास्त्री दर्शनकेसरी, काशी (सूर्योदये २६।६–७)

(३) 'इस पुष्पमें हिन्दुधर्मके २० गूढ-विषयोंपर गम्भीर-विवेचन किया गया है। अवान्तर-विषय तो अनेकों आगये हैं। शास्त्रीय-प्रमाणोंके साथ आधुनिक-तर्क भी दिये गये हैं। इन ग्रन्थोंसे शास्त्रीजीके ठोस-पाण्डित्यका पता लगता है'।.. (पं० श्रीगङ्गाशंकर मिश्र, सम्पादक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी।

(४) 'यह पुस्तक वस्तुतः आद्योपान्त सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन करानेवाला है।.....'(पं०श्रीदेवेन्द्रशास्त्री, सम्पादक 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार, बम्बई)।

(५) आपके सब ग्रन्थ हमने मँगाये थे; उन्हें पढ़कर हम बहुत प्रभावित हुए। आपकी विद्वत्ता और श्रमशीलता सब प्रकार सराहनीय है...'(पं० श्रीरामशर्मा आचार्य, सम्पादक 'अखण्ड-ज्योति' मथुरा)।

(६) 'श्रीमतां श्रमविषये बहुज्ञताविषये च मम हृदये महान् आदरः।...' (श्रीभगवदाचार्यस्वामी, श्रीरामानन्दसम्प्रदायके एक विद्वान् आचार्य, अहमदाबाद)।

(७) 'शास्त्रीजीने 'सनातनधर्मालोक' का प्रकाशन आरम्भ कर धार्मिक-जगत्का महान् उपकार किया है। सनातनधर्मके दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझनेकेलिए इन पुष्पोंका अध्ययन परमावश्यक है।...'(श्रीस्वामी राघवाचार्य महाराज, आचार्यपीठ, बरेली)।

(८) 'श्रीमन्तः शास्त्रिणो भारतीय-विद्वत्समाजे सुप्रसिद्धाः संस्कृत-संसारे प्रथितयशसो लेखकाः सन्ति। द्वात्रिंशद्वत्सरेभ्यो निरन्तरं प्रचलन्ती शास्त्रिणां लेखनी, न साम्प्रतं यावद् मनागपि श्रममनुभवति। इमे नितान्त-शान्तस्वभावाः, आडम्बरविहीनाः, मननशीला विचारकाश्च सन्ति।...एभिः प्रकाशिते 'श्रीसनातनधर्मालोके' युक्तयो न केवलं शास्त्रमूला एव, प्रत्युत विज्ञानमूला अपि—इत्ययं विशेषः' (पं० श्रीकेदारनाथशर्मा सारस्वतः, 'संस्कृत-रत्नाकर'-सम्पादकः देहली)।

(९) 'आप वेद-वेदाङ्ग पुराणादि अनेक-शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् हैं। शास्त्रीय-विषयोंपर आपकी लेखनीका पूर्ण-अधिकार है। 'सनातन-धर्मालोक' आपका विशाल-ग्रन्थ अनेक-खण्डोंमें प्रकाशित होरहा है, जिसमें भारतीय-संस्कृतिके सब अङ्गोंका शास्त्रीय-आधारपर विवेचन

किया गया है...'(श्रीकपीन्द्रजी, श्रीभवानीशङ्कर त्रिवेदी, 'मकरन्द'-सम्पादक, देहली)।

(१०) "'आलोक' ४र्थ पुष्प आज समाप्त किया। पढ़कर बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ। पुस्तक अतीव गवेषणापूर्ण है। आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है। आपने सनातनधर्म पर बड़ा उपकार किया है।...' (पं० श्रीरामचन्द्र शर्मा, रिटायर्ड हैडमास्टर, आर्य-हाईस्कूल, अम्बाला सिटी)।

(११) 'मेरी बिल्डिंगमें कालेजके एक प्रोफेसर रहते हैं, जिनके चोटी नहीं थी, जनेऊ नहीं था, अपनेको हिन्दु बतानेमें भी संकोच करते थे, पर ज्योंहीं उन्होंने मुझसे 'श्रीसनातनधर्मालोक' लेकर पढ़ा और शास्त्रीजीके अकाट्य-प्रमाणों द्वारा हिन्दुशब्दकी वैदिकता देखी; तो वह हिन्दु कहनेमें गौरव अनुभव करने लगे। मूर्तिपूजा-रहस्य पढ़कर ऐसे प्रभावित हुए कि—जो मन्दिरमें जानेसे घृणा करते थे; अब मन्दिरमें जाने लगे। यह अद्भुत ग्रन्थ लिखकर शास्त्रीजीने हिन्दुजातिके ऊपर महान् उपकार किया है।...'(भक्त श्रीराम-शरणदास, पिलखुआ)।

एतदादिक अयाचित सम्मतियां बहुत अधिक आई हुई हैं; स्थानाभाववश सब प्रकाशित नहीं की जा सकीं। 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमाला स्वयं खरीदकर तथा दूसरोंसे खरीदवाकर सनातनधर्मके प्रचार तथा छठे सुमनके विकाशमें सहयोग दें। निवेदक—

नारायण शर्मा 'राजीव' सारस्वत
शास्त्री, हिन्दी-प्रभाकर
[प्रकाशक]

पंचम-पुष्पकी विषय-सूची

क्रमाङ्क	विषय		पृष्ठ

क्रमाङ्क	विषय		पृष्ठ

'श्रीसनातनधर्मालोक' प्रणेता

श्रीदीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः
विद्यावागीशः, विद्याभूषणः, विद्यानिधिः
प्रिंसिपल सं. हि. महाविद्यालय रामदल, दरीबाकलां, देहली ।

हिन्दुधर्मके आचार-विचार

एवम्

उनका वैज्ञानिक रहस्य

(१) वैदिक-मङ्गलाचरणम् ।

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते ! आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्'
(ऋ० सं० २।२३।१)

ॐ निषुसीद गणपते ! गणेषु, त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च'
(ऋ० सं० १०।११२।९)

ॐ गणानां त्वा गणपति ꣳ हवामहे, प्रियाणां त्वा प्रियपति ꣳ हवामहे।
निधीनां त्वा निधिपतिं ꣳ हवामहे, वसो ! मम आहमजानि गर्भधमा
त्वमजासि गर्भधम्' (यजुः० वा० सं० २३।१९)

ॐ तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (कृष्णयजुः मैत्रा० सं० २।९।१।६)
'ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्' (कृ० य० तैत्तिरीयारण्यक १०।१)
'प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामवित्र्यवतु' (ऋ० सं० ६।६१।४)
'शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शंनो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः (अथर्व सं० १९।९।१०)

(२) श्रीगणेश का मङ्गलाचरण ।

ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाण-वाचकः ।
तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम् ॥१॥
अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥२॥
आलम्बे जगदालम्बे हेरम्बचरणाम्बुजे ।
शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात् सद्यः प्रत्यूह-वार्धयः ॥३॥

(१) सनातन हिन्दुधर्मके आचार-विचारके अनुसार पहले-पहल सब कार्योंमें श्रीगणेशका नमन तथा स्तवन किया जाया करता है; अतः आजकी भाषामें कार्यारम्भका मुहावरा भी 'श्रीगणेश' नामसे कहा जाता है। इस कारण हमने भी वैदिक-मङ्गलाचरणमें गणपति-गणेशका ही स्तवन किया है। ऋग्वेद-संहिताके उक्त मन्त्रका कथन है कि 'न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चन' अर्थात्—हे गणपति-गणेश ! तुम्हारे विना कोई भी कर्म नहीं किया जाता। कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणीसंहितामें गणेशको 'हस्तिमुख' और तैत्तिरीयारण्यकके मन्त्रमें उसे 'वक्रतुण्ड' कहा है। इस प्रकार गणेश वैदिक देवता हैं।

पर आजकलके कई व्यक्तियोंका विचार है कि गजानन गणेश, अवैदिक एवं अनार्योंके देवता हैं। वेदमें गणपतिका कहीं गजाननत्व नहीं आता; अतः यह पौराणिक ही देवता हैं। प्रकरण-वश हम इसपर विचार करते हैं। यह बहुत आवश्यक विषय है।

(२) कहा जाता है—'गणेशजीकी गणना वैदिक देवोंमें नहीं

है, परन्तु वे सर्वत्र पुजते हैं। उनके लिये 'गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे, यह यजुर्वेद का मन्त्र पढ़ा जाता है। इसमें 'गणपति' शब्द तो आया है पर गणेशके लिए नहीं; किन्तु 'अश्वमेधके अश्वके लिए है। शब्दसाम्यके बलपर यह घोड़ेवाला मन्त्र गणेश जीके मत्थेपर मढ़ा गया है। इस प्रकार 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनाम्' यह ऋग्वेदका मन्त्र ब्रह्मणस्पति-बृहस्पतिके लिए है, गणेशके लिए नहीं। अर्थज्ञानविहीन लोगोंने ही इसमें 'गणपति' शब्द देखकर गणेशको वैदिक देव बना डाला। गणेश-के वैदिक देवता न होनेसे ही आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं गणेशका मङ्गलाचरण नहीं दीखता'।

आजकल प्रतिपक्षियोंकी विचित्र प्रकृति दिखलाई पड़ती है। हमारे शास्त्रोंमें जिस देवताका वर्णन या पूजन स्पष्ट दीखे, उसमें तो वे श्रद्धा नहीं रखते; परन्तु जिसका उनके मतमें स्पष्ट वर्णन न मिले; पर उसका पूजन प्रचलित हो, वे वहाँ अशास्त्रीयता की घोषणा करनेमें उद्यत हो जाया करते हैं। इसको यों समझिये कि शास्त्रोंमें इन्द्र, सूर्य, अग्नि, वरुण आदि देवपूजनको देखकर भी वे उसे नहीं करना चाहते; परन्तु गणेश-पूजनको व्यवहारमें प्रचलित, पर ग्रन्थोंमें अपनी समझमें थोड़ा देखकर उसे अर्वाचीन कहनेके लिए तैयार हो जाते हैं।

परन्तु वे लोग नहीं जानते कि देवता बहुत होते हैं। कालकी महिमासे अथवा रुचि-वैचित्र्यसे कभी एक देवताकी प्रधानता हो जाती है तो कभी दूसरेकी। आजकल अवतारोंमें भगवान्

श्रीकृष्णकी महिमा बहुत बढ़ गई है। भगवान्का जेलखानेमें जन्म, अन्यायी राजाओंसे विरोध, उनकी राजनीति, शत्रूच्चाटननीति, गो-सेवा, सर्वप्रिय उपदेशशैली, सब प्रकारके पुरुषोंको प्रसन्न करना—यह सब कुछ वर्त्तमान समयके अनुकूल होनेसे, अवतार न माननेवालोंको भी प्रभावित किये विना नहीं रहता। तो फिर भगवान् श्रीकृष्ण जहां प्राचीन भक्तोंके उपास्य थे, वहां पर वे अर्वाचीन शिक्षितोंके लिए भी श्रद्धास्पद होगये हैं।

भगवान् श्रीराम भी प्रसिद्ध अवतार हैं। उनकी महिमा भी अधिक मात्रामें रही है, परन्तु वर्तमान कालके शिक्षित व्यक्ति कई कारणोंसे उन्हें अपनी आलोचनाका विषय बनाते हैं—तब आजकलकी पुस्तकोंमें श्रीकृष्ण-स्मरणात्मक मङ्गल अधिक मात्रामें और श्रीरामका स्मरण अल्प मात्रामें देखकर क्या श्रीरामका मंगलाचरण अशास्त्रीय वा अर्वाचीन हो जायगा? यदि नहीं; तब उन्हें यहाँ पर भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

(३) 'कलौ चण्डीविनायकौ'के अनुसार गणेशका प्रधानतासे कलियुगमें अधिक प्रचार देख, पूर्वयुगके ग्रन्थोंमें उसकी अल्पता देखकर इसमें गणेशपूजनकी अर्वाचीनता नहीं हो जाती। यथार्थता यह है कि—पहले यह शैली सर्वसाधारण हुआ करती थी कि सबसे पूर्व गणेशपूजन विधिपूर्वक पृथक् करके तब ग्रन्थादिका ग्रथन हुआ करता था। इस कारण ग्रन्थोंकी आदिमें उसका उल्लेख आवश्यक नहीं था। इसलिए ही बहुतसी प्राचीन पुस्तकोंकी आदिमें मङ्गलाचरण भी दिखाई नहीं देता। तब क्या इससे प्रतिपक्षी लोग

मङ्गलाचरणको भी अर्वाचीन मानने लगेंगे ? ऐसा नहीं हो सकता। हमारे पूर्वज मङ्गलाचरणके प्रेमी अवश्य थे। जैसा कि-महाभाष्यमें कहा है—'मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते (१।३।१)। साङ्ख्यदर्शनमें भी लिखा है—'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्च (५।१)।

फिर भी उन पूर्वजोंके शास्त्रोंमें स्पष्टतया मङ्गल न दीखने ही प्रतीत होता है, कि वे अपने मनमें अथवा पृथक् मङ्गल अवश्य कर लेते थे। फिर कई उत्तरकालीन विद्वान् शिष्यशिक्षाके लिए ग्रन्थके आरम्भमें भी अपने इष्टदेवका स्मरण करने लगे, पर गणेशके सर्वसाधारण होनेसे पृथक् ही उसका स्तुतिपाठ कर लिया करते थे। पहले भारतीयोंका धोती-पगड़ी आदि वेष सर्वसाधारणतासे होता था, पर सर्वसाधारण होनेसे उसे ग्रन्थोंमें न देखकर क्या यह कल्पना की जाएगी कि धोती आदि पहिनना अर्वाचीन वेष है, क्योंकि वेदादि प्राचीन साहित्यमें नहीं मिलता ?

(४) अन्य बात यह भी है कि—अथर्ववेदकी ९ शाखाओंमें ६ शाखाओंका विनियोग 'नक्षत्रकल्पो वैतानः तृतीयः संहिताविधिः। तुर्य आङ्गिरसः कल्पः (आभिचारिकः) शान्तिकल्पस्तु पंचमः' (वायु पुराण ६१।५४) इन आचार्य उपवर्षप्रणीत कल्पसूत्रके अधिकरणमें उद्धृत पांच सूत्र-ग्रन्थोंमें किया गया है। इनमें 'नक्षत्रकल्प' में नक्षत्र आदिकी भिन्न-भिन्न शान्तियां तथा पूजा बतलाई गई है। दूसरे 'वैतानसूत्रमें दर्श-पूर्णमास अग्न्याधान आदिका विधान है। तीसरी संहिताविधिमें—जिसका दूसरा

नाम कौशिकसूत्र है—शत्रूच्चाटन, भूत, प्रेत, पिशाच, वालग्रह आदियोंके हटानेवाले कर्म तथा दुःस्वप्ननिवारण, पापनक्षत्रोत्पत्ति-शान्ति, अपशकुनशान्ति, आभिचारिककर्म, अन्यके अभिचारका निवारण इत्यादि वर्णित किया है। चौथे 'आङ्गिरसकल्पमें अभिचार कर्मोंका स्वतन्त्रतासे निरूपण तथा उनके निवारणका प्रकार बताया गया है। पांचवें 'शान्तिकल्प' में विनायक (गणेश) पूजा, ग्रहपूजा, ग्रहयज्ञादिका वर्णन किया गया है। वह अथर्ववेदकी श्रीसायणाचार्यकृत भाष्यभूमिकामें देखा जा सकता है।

भिन्न-भिन्न सूत्रोंमें जो गणेश, नवग्रह आदिकी पूजा नहीं दिखलाई गई, उसका कारण यह है कि प्रत्येक कर्ममें शान्तिकर्मकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक गृह्यसूत्र तथा प्रत्येक संस्कारमें शान्तिकर्म प्रतिपादन करनेसे गौरव हो सकता है; इसलिए परिभाषास्वरूपमें एक ही शान्तिविधि नियत कर दी गई है। अन्य स्थलोंमें उसी गणेशादि-पूजनको आभ्युदयिक, स्वस्तिक, स्वस्त्ययन आदि नामोंसे संकेतित किया गया है। कात्यायनीशान्ति उक्त सूत्रके आधार पर बनाई गई है। गृह्यसूत्रके प्रारम्भमें कुशकण्डिकाका कृत्य तथा सर्वयज्ञशेष एक ही वार उपदिष्ट किया गया है। फिर 'एष एव विधिर्यत्र क्वचिद् होमः (पारस्करगृ १।१।२७) इस सूत्रके कथनसे वह विधि सब स्थान पर निरूपित नहीं की जाती।

जो लोग प्रत्येक गृह्यसूत्रमें, प्रत्येक संस्कारमें ग्रह-गणपति-पूजनादि वर्णित न देखकर उसकी अकर्तव्यता मानते हैं, उनके

मार्गप्रदर्शक स्वा० द० जीने अपनी 'संस्कारविधि' (पृ०४) में १६ संस्कारोंमें की जानेवाली 'सामान्यकर्मकी विधि' भिन्न-भिन्न स्थानोंमें न बताकर एक स्थानमें ही उसका उल्लेख कर रखा है। इस प्रकार ही 'शान्तिकल्प' में गणेश ग्रहपूजा आदिका उल्लेख हो जाने से, प्रत्येक सूत्रादिमें उसका पृथक् उल्लेख अनावश्यक समझा गया था।

यदि वेदमन्त्रोंमें इस प्रकारकी प्रक्रियाके स्पष्ट उल्लेख न होनेसे उसे अप्रमाणिक माना जावे, तब तो वैवाहिक-पद्धतियोंमें लिखित सप्तपदी आदि प्रक्रियाओं तथा शिखा, उपनयनादिकी पद्धतियोंका भी किसी संहिताके मूलमन्त्रोंमें उल्लेख न होनेसे तदादिक विधियाँ भी अवैदिक सिद्ध हो जाएँगी, पर यह प्रतिपक्षियोंको भी अनिष्ट है, इस प्रकार गणेश-पूजनके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

(५) अब हम इस सम्बन्धमें प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) 'याज्ञवल्क्यस्मृति' आचाराध्याय गणपतिकल्पमें कहा गया है—'विनायकं सम्प्रपूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः। कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं प्राप्नोत्यसंशयम् (२९३)। इस प्रकार गणेश-पूजन स्मार्त भी सिद्ध हुआ। यह याज्ञवल्क्य-स्मृति शतपथब्राह्मणके प्रवक्ता श्रीयाज्ञवल्क्यसे प्रोक्त है; अतः जहाँ वह प्राचीन है; वहां प्रामाणिक भी सिद्ध है। (अ) न्यायदर्शन के ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें लिखा है—

'द्रष्टृ-प्रवक्तृ-सामान्याच्च धर्मशास्त्रस्य अप्रामाण्यानुपपत्तिः। (जो

मन्त्र—ब्राह्मणके द्रष्टा-प्रवक्ता हैं; वे ही धर्मशास्त्रोंके भी द्रष्टा-प्रवक्ता हैं; अतः धर्मशास्त्र (स्मृति)की अप्रमाणता नहीं होती)। य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः, ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च (इसलिए समानप्रवक्तृकता होनेसे मन्त्र-ब्राह्मणके प्रामाण्यकी तरह इतिहास-पुराण तथा स्मृतिका भी प्रामाण्य है।)

इससे शतपथ-ब्राह्मणके द्रष्टा एवं प्रवक्ता श्रीयाज्ञवल्क्य 'याज्ञवल्क्य-स्मृतिके प्रवक्ता भी सिद्ध होगये। दोनोंके भाषाभेदका कारण यह है कि शतपथब्राह्मण सूर्यसे श्रीयाज्ञवल्क्यको प्राप्त अपौरुषेय रचना है, (देखो इसपर महाभारत शान्तिपर्व ३१८।६) और 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' उनकी अपनी अपौरुषेय रचना है। अतः भाषाभेद स्वाभाविक है। यहाँ कालभेदकी कोई बात नहीं। संस्कृत भाषामें 'समता' दोष माना गया है। अतः उसमें एक पद्यमें भी विषयानुसार भाषा बदल जाती है; भिन्न पुस्तकमें तो भला क्या कहना? इससे कर्तृ-भिन्नता नहीं हो जाती। अतः संस्कृतमें भाषा-शैलीसे प्राचीनता-अर्वाचीनता ठहराना आधुनिकोंकी निराधार कल्पना है।

(आ) इसे केवल हम ही नहीं कहते; आर्यसमाजके रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्तजी बी० ए० भी मानते हैं। वे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (द्वितीय भाग १६० पृष्ठ)में लिखते हैं—'वही ऋषि ब्राह्मणोंका प्रवचन करते थे, और वही धर्मशास्त्र आदिका भी। अतः भाषाके साम्यपर कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। भाषा तो विषयानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो सकती है।'

(इ) 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (१म भाग ७२ पृष्ठ)में वही

लिखते हैं—'जिन ऋषियोंने चरक, काठक आदि संहिताएं और ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र प्रवचन किये, उन्हीं ऋषिमुनियोंने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद ग्रन्थोंकी लोकभाषा संस्कृतमें रचना की। यही कारण है कि वर्तमान धर्मसूत्रोंके अनेक वचन तथा याज्ञवल्क्य स्मृति और महाभारतके अनेक पाठ ठीक ब्राह्मणसदृश भाषामें हैं।'

(ई) इसीको स्पष्ट करते हुए उक्त अनुसन्धाताजी आगे लिखते हैं—'पं० ईश्वरदत्तजी (भूतपूर्व दयानन्दोपदेशक विद्यालय लाहौरके दर्शनाध्यापक)ने 'ब्राह्मण ग्रन्थोंके द्रष्टा और इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रके रचयिता ऋषियोंका अभेद' नामक एक बृहद् ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सिद्ध किया है कि शतपथ ब्राह्मणकी भाषा वैदिक प्रवचनशैलीकी भाषा होने, तथा 'ह, वै' आदिकी बहुलता पर भी याज्ञवल्क्य स्मृतिकी भाषासे पर्याप्त सदृशता रखती है। याज्ञवल्क्य स्मृतिके अनेक पाठ पाणिनीय व्याकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर बदले गये हैं। पहले वे पाठ पुरातन लोकभाषामें थे। (पृ० ७३)

(उ) उक्त ग्रन्थके ५४ पृष्ठमें तो श्रीभगवद्दत्तजीने सर्वथा स्पष्टता कर दी है। वे लिखते हैं—'याज्ञवल्क्य स्मृति' वाजसनेय (शतपथ) ब्राह्मणके प्रवक्ता (श्रीयाज्ञवल्क्य)ने बनाई थी...इस विषयका विशद विवेचन पं० ईश्वरचन्द्रजीके ग्रन्थमें देखिये। याज्ञवल्क्य स्मृतिके १००से अधिक प्रयोग पाणिनिसे पूर्वके हैं।'

(ऊ) श्रीभगवद्दत्तजी बी० ए० की यह बात समूल भी है। शतपथके अन्तमें कहा है—'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि

वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।६।४।३३) यहाँपर श्रीयाज्ञवल्क्यको सूर्यके द्वारा शतपथ-ब्राह्मणकी प्राप्ति कही है। इसका स्पष्टीकरण महाभारतके शान्तिपर्वमें है। यहाँ याज्ञवल्क्यने मिथिलाके राजा जनकको कहा था—'मयाऽऽदित्याद् अवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप!' (३१८।१) ततः शतपथं कृत्स्नं...चक्रे सपरिशेषं च, (३१८।१६) इससे स्पष्ट है कि—श्रीयाज्ञवल्क्य मिथिलामें राजा जनकके पास रहा करते थे। यही याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी कहा है—'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः (याज्ञवल्क्यः) क्षणं ध्यात्वाब्रवीन्मुनीन्' (१।१।२)

उसी स्मृतिमें श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी 'बृहदारण्यक'के लिए जो कि शतपथका अन्तिम (१४वां) काण्ड है—कहा है—'ज्ञेयं चारण्यकमहं (याज्ञवल्क्यः) यद् आदित्याद् (सूर्याद्) अवाप्तवान्' (प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०) यहाँ श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें अपनेसे प्रवचन किये हुए 'बृहदारण्यक' (शतपथके १४वें काण्ड)की सूर्य द्वारा प्राप्ति कही है।

इससे स्पष्ट है कि शतपथब्राह्मणके तथा याज्ञवल्वयस्मृतिके प्रवक्ता श्रीयाज्ञवल्क्य कोई भिन्न-भिन्न नहीं; किन्तु एक व्यक्ति हैं। जब ऐसा है; तो याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें प्रोक्त गणेश-ग्रहपूजनादि प्राचीन तथा प्रामाणिक सिद्ध हुआ।

(ख) इस प्रकार 'कात्यायन (गोभिल) स्मृतिमें भी गणेश-पूजन आया है—'गणेशेनाधिका ह्येता वृद्धौ पूज्याश्चतुर्दश। कर्मादिषु तु सर्वेषु मातरः सगणाधिपाः। पूजनीयाः प्रयत्नेन' (१।१३)। याज्ञवल्क्य

स्मृतिके आचाराध्यायमें 'विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः। गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा (२७१)में विनायकको विघ्नकारक कहा है; तब यदि उस गणपतिकी पूजा न की जावे; तो कर्मोंके विघ्न कैसे हटें ?

(ग) प्राचीन पुस्तक 'मानवगृह्यसूत्र'में इन विनायकोंको विघ्नकारक बताया है। 'अध्येतॄणामध्ययने महाविघ्ना भवन्ति' (२।१४।१-२-३) २१ सूत्र तक वहाँ इनका वर्णन है, इनकी शान्त्यर्थ विनायक-स्वामी गणपतिका पूजन किया जाता है। जैसे कि—श्रीयाज्ञवल्क्यने कहा—'एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः। कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम्। (२९३)। श्रीभोजराजासे बने हुए 'समराङ्गणसूत्रधार' (५८।१३-१४)में 'विनायक' प्रासादके 'कुञ्जर, मोदक' आदि चिह्न रखे हैं—वह चिह्न गणेशजीके ही हैं।

(घ) शातातप-स्मृतिमें भी लिखा है—'सर्वकार्येष्वसिद्धार्थो... गणेशप्रतिमां न्यसेत्, (२।५२) यहाँपर कार्योंके विघ्नमें गणेशमूर्तिकी प्रतिष्ठा अथवा उसका जप तथा पूजन भी कहा है—'अथवा गणनाथस्य मन्त्रं लक्षमितं जपेत्' (२।५३)। 'तत्र संस्थापयेद् देवं विघ्नराजं सुपूजितम् (३।२२)। इन याज्ञवल्क्य, कात्यायन, शातातप आदिको अनार्य वेदानभिज्ञ नहीं कहा जा सकता; जिन्होंने गणेशपूजा बड़े स्पष्ट रूपसे कही है।

(ङ) अब बृहत्पराशरस्मृति भी देख लीजिये। इसमें (६।६-७-८) पद्योंमें विविध विघ्न दिखलाये हैं, फिर उनकी

शान्त्यर्थं गणेशपूजा एवं ग्रहपूजा बताई है। 'तस्मात् तदुपशान्त्यर्थं समभ्यर्च्य गणेश्वरम्'। (६।६) ग्रहेभ्यो वा गणेशस्तु तस्य शान्तिरिहोच्यते' (६।१) 'एतेन संपूज्य गणाधिदेवं विघ्नोपशान्त्यै' (६।३१)। पराशरजीने २।४३४में त्र्यम्बक (महादेव)की, फिर 'गणानां त्वा' मन्त्रसे त्र्यम्बकके पुत्र गणेशकी पूजा कही है—'विनायकाय होतव्या तथा घृतस्य चाहुतिः। सर्वविघ्नोपशान्त्यर्थं पूजयेद् यस्तु तत्-(त्र्यम्बक) सुतम् (गणेशम्)। गणानांत्वेति मन्त्रेण स्वाहाकारान्त-पादतः। चतस्रो जुहुयात् तस्मै गणेशाय तथाहुतीः' (२।४३४-४३५) क्या पराशर जी इतने वेदानभिज्ञ थे कि घोड़ेवाला मन्त्र उन्होंने गणेशजीके मत्थे मढ़ा! याज्ञवल्क्य स्मृतिकी मिताक्षरामें (२८६) 'तत्पुरुषाय विद्महे' यह मङ्गलाचरणोद्धृत मन्त्र लिखा है। क्या यह सब वेदानभिज्ञ थे?

(ज) भविष्यपुराणमें भी गणेशका मन्त्र 'गणानां त्वा' कहा है—'गणेशं तु चतुर्बाहुं व्यालयज्ञोपवीतिनम्। 'गजेन्द्रवदनं देवं श्वेतवस्त्रं चतुर्भुजम्। परशुं लगुडं वामे, दक्षिणे दण्डमुत्पलम्' 'मूषकस्थं महाकायं शङ्खकुन्देन्दुसप्रभम्। 'गणानां त्वेति मन्त्रेण विन्यसेदुत्तरे ध्रुवम्,(मध्यमपर्व, २ य भाग २०।१४१-१४२)

(झ) अब 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र'में विनायककल्प देखिये—'मासि-मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां वा, अभ्युदयादौ सिद्धि-काम ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत' (३।१०।१) 'पूर्वेद्युः कृतैकभुक्तः, शुचिरप आचम्य,...दक्षिणामुखं हस्तिमुखं···उपवेश्य दैवतमावाहयति—'विघ्न! विघ्नेश्वरागच्छ

विघ्नेत्येव नमस्कृत ! अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदास्माकं भव प्रभो ! (२) इस प्रकार विनायकका पूजन जब सूत्र-सम्मत भी है; तब इसे अवैदिक वा अनार्यदेव कैसे कहा जा सकता है ? सूत्र 'कल्प' होने से 'वेदाङ्ग' है ।

(६) इसीलिए यजुर्वेद में 'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमः' (वा० सं० १६।२५) इस मन्त्रमें गणपतिको नमस्कार भी किया गया है। यहां गणपति को बहुवचन सम्मानार्थ दिया गया है। जैसे कि—'यूयं हि सोम ! पितरो मम स्थन, दिवो मूर्धानः' (ऋ० ६।६६।८) यहां एक सोमको बहुवचन पूजार्थ है। 'गणपति-उपनिषद्'में 'नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये' में एक वचन भी आया है। जैसे वहाँ बहुवचन गणपतिको आया है, वैसे 'विनायकानां' (वाराह पु० ३३।२५) तथा मानवगृह्यादिमें 'विनायकों'को बहुवचन भी आया है। मत्स्यपुराण में 'गणेश्वरगण' (१५४।५४५) शब्द आया है। अतः गणपति अनेक भी हो सकते हैं, पर उनका एक अधिपति होकर महागणपति भी हो सकता है; बहुतों में एक होता ही है।

यद्यपि यजुर्वेदके उक्त सूक्तमें रुद्र देवता हैं; तथापि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (पारस्करगृ १।१८।२) के अनुसार पिता-पुत्रका अभेद प्रसिद्ध होनेसे रुद्रका गणपति रूपसे वर्णन आया है। गणपति महादेवके पुत्र माने गये हैं। यही बात एक गाणपत्यने स्वा० शङ्कराचार्यको कही थी—'अंशांशिनोरभेदस्तु वेदे सम्यक् प्रकीर्तितः। गणेभ्यो गणपेभ्यश्च नम इत्यादिना यते !' (३८४) रुद्रस्तु

गणपत्मैव नत्वन्यो मुनिपुङ्गव ! (शंकरदिग्विजय १५ सर्ग)। इस लिए ही महाभारत (वनपर्व)में 'महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति' (८२।५०) यहां महादेवकी कृपासे गणपतिभावकी प्राप्ति भी कही गई है। यहां भी पूर्वोक्त ही कारण है। गणपतिके रुद्ररूप होनेसे ही 'गणपति-उपनिषद्में गणेशजीको 'त्वं रुद्रः, लम्बोदराय शिवसुताय नमो नमः' यहां रुद्र एवं शिवका सुत कहा गया है। स्वा० शङ्कराचार्यने भी गाणपत्यको कहा था—'अस्त्वेवं परमात्मैव जगत्कर्ता त्वयेरितः। गणाधिपतिशब्देन सर्वनामा महेश्वरः (३६६) अंशांशिनोरभेदेन रुद्र-पुत्रोपि च स्वयम्। सम्भवत्येव सर्वात्मा सर्वविघ्ननिवारकः' (३६७) (शङ्करदिग्विजय १५ सर्ग)।

केवल यहीं नहीं, बल्कि रुद्रको 'गणपति' कहना 'रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि' (यजु० वा० सं० ११।१५) इस अन्य मन्त्रमें भी प्रसिद्ध है। इस मन्त्रका देवता आर्यसमाजी प्रेस 'वैदिक यन्त्रालय अजमेरमें प्रकाशित यजुर्वेद सं० में 'गणपति' लिखा गया है। जब इस प्रकार गणपति वैदिक देवता रुद्रके अन्य रूप, अथवा अंशावतार वा पुत्र सिद्ध हुए; तब गणपतिको 'अवैदिक देव' कहना एक अक्षम्य अपराध है।

(७) इसीलिए यजुर्वेदसंहितामें अन्यत्र 'गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे, प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳहवामहे, निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे, वसो मम' (२३।१९) यहांपर अश्वमेधके अश्वकी स्तुतिके लिए भी उसे गणपतिदेव रूपसे आहूत किया गया है। इसलिए 'गणेशपुराण' के उपासनाखण्डमें भी गणेशसहस्रनामोंमें 'ज्येष्ठ-

राजो निधिपतिर्निधिः प्रियपतिः प्रियः' (४६।१५) यही गजानन-गणेशके नाम आये हैं। तब दोनोंकी अभिन्नता सिद्ध होगई।

इसलिए वैदिक प्रेस अजमेरमें मुद्रित यजुर्वेदसं०में भी इस मन्त्रका देवता 'गणपति' लिखा गया है। आनन्दगिरिके 'शंकर-दिग्विजय'में भी एक गाणपत्यने आचार्य शंकरके आगे गणपतिका यही मन्त्र रखा, उन्होंने इसका खण्डन न कर अनुमोदन ही किया। पहले हम यजुर्वेदके ही मन्त्र द्वारा रुद्रका गणपति यह रूप-विशेष लिख चुके हैं, सो यह 'आत्मा त्वं पुत्रनामासि' (मं० ब्रा० १।५।१७) के अनुसार ठीक है; तो गणपति अवैदिक देवता कैसे हो सकते हैं? देवता यद्यपि बहुत होते हैं; तथापि वेदने उन देवताओंका किन्हीं अन्य देवताओंमें अन्तर्भाव करके संक्षिप्त वर्णन कर डाला है। तभी निरुक्तकार श्रीयास्क इन्द्र, अग्नि, सूर्य इन तीन देवताओंमें शेष देवताओंका अन्तर्भाव मानकर कहते हैं कि—'एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (७।४।६)

इसीलिए ही इस गणपतिको वेदमें कहीं नैघण्टुक रीति (अन्य देवताके मन्त्रमें अन्य देवताका वर्णन करना)से अश्वमेधके अश्वमें वर्णित किया गया है; तो कहीं रुद्रमें, कहीं इन्द्रमें, तो कहीं बृहस्पति वा ब्रह्मणस्पतिमें। अब हम वेद-द्वारा ही गणपतिका ब्रह्मणस्पति तथा इन्द्रके रूपमें वर्णन दिखलाते हैं।

(८) 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते! आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्' (ऋसं० २।२३।१)। यही नाम 'गणेशपुराण'के सहस्रनामोंमें

गजानन गणेशके भी आये हैं—देखिये—'कविं कवीनामृषभो ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः। ज्येष्ठराजो निधिपतिः' (४६।१४) तब दोनों का ऐक्य भी सिद्ध होगया।

(क) कहा जाता है कि—उक्त मन्त्र ब्रह्मणस्पतिका है। ब्रह्मणस्पतिसे 'ब्रह्मणां पतिः' बृहस्पतिका बोध होता है, गणेशका नहीं। इसपर यह जानना चाहिये कि—देवताओंके बहुतसे नाम तथा रूप हुआ करते हैं—यह प्रसिद्ध है। गणपति 'स्वस्तिक' रूपमें भी हुआ करते हैं—यह प्रसिद्ध बात है। उसी स्वस्तिकमें चारों ओर गणपतिका बीजमन्त्र 'गं' विराजमान है—यह ध्यानसे देख लीजिये 卐। यही 'गम्' बीजमन्त्र उक्त ब्रह्मणस्पतिके मन्त्रके आदि तथा अन्तके अक्षरसे निष्पन्न है—यह आगे 'त्रिपुरातापिनी उपनिषद्' के प्रमाणसे कहा जायगा।

(ख) आकाशमें भी 'खस्वस्तिक' प्रसिद्ध है। 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु' (सामवेदके अन्तमें) यहां पर इन्द्र, पूषा, तार्क्ष्य, बृहस्पति ये चार देवता आकाशमें तारोंके रूपमें इस प्रकार विराजमान हैं कि—उन चारोंके ऊपरसे नीचेको, तथा दाहिने पार्श्वसे बाएँको रेखा कर दी जावे; तो स्वस्तिक बन जाता है। उक्त मन्त्रमें चार बार 'स्वस्ति' शब्द आनेसे 'स्वस्तिक' बना है। श्रीपाणिनिने भी (६।३।११५ सूत्रमें) 'स्वस्तिक'को स्मरण किया है।

तब वेदमें जहां इन्द्रका कोई मन्त्र हो; वा पूषा, वा तार्क्ष्य (गरुड़) वा बृहस्पतिका मन्त्र हो; उससे स्वस्तिक (गणेश)का बोध

होगा। उक्त मन्त्रमें पहले गणपतिका इन्द्र-रूपसे स्तवन है, सबसे पीछे बृहस्पतिरूपसे। इसका भाव यह हुआ कि—वेदमें इन्द्र भी गणपतिरूपसे स्तुत होता है, तथा बृहस्पति भी। तब इससे वेदमें 'गणपति'की असिद्धि न हुई, किन्तु सिद्धि ही हुई; क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं—'एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (७।४।६)। श्रीसायणाचार्यने भी अपने ब्रह्मणस्पतिमन्त्रके भाष्यमें 'देवादिगणानां सम्बन्धी गणपतिः' यह अर्थ भी किया है। तब इसका देवपतित्व वा गणपतित्व भी सिद्ध हुआ। पहले हम गणेशपुराणसे गणेशका नाम 'ब्रह्मणस्पति' भी दिखला ही चुके हैं। 'गणेशगीता'में भी गणपतिको ब्रह्मणस्पति कहा है। इसलिए गणपतिको देव-देव, महादेवका आत्मा (पुत्र) माना गया है। इसलिए 'वाल्मीकि-रामायण' के एक स्थलमें महादेवको भी 'गणेश' कहा गया है; वेदसे तो हम पूर्व दिखला ही चुके हैं।

(ग) इसके अतिरिक्त 'गणेश' बुद्धि के अधिष्ठाता भी प्रसिद्ध हैं। इसीलिए ब्रह्मणस्पतिवाले मन्त्रमें गणपतिको 'कवि' भी कहा गया है। 'कवि'का अर्थ क्रान्तदर्शी एवं बुद्धिमान् है। महाभारतके लिखनेके अवसरमें गणपतिका कवित्व प्रसिद्ध है ही। अथवा 'ब्रह्मणस्पति'में 'ब्रह्म' वेदका नाम है। वेदमाता 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' (१६।७१।१) इस अथर्ववेद (शौ० सं०)के मन्त्रमें गायत्री प्रसिद्ध है। वह गायत्री 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु० ३।३५) इस प्रकार बुद्धिरूपा है। गायत्री चारों वेदोंकी सारस्वरूपा है—इस पर आगे 'गायत्री मन्त्रकी महत्ता' निबन्ध देखिये। अथवा

मनुस्मृति (२।७७) देखिये। तब बुद्धिका अधिष्ठाता गणपति भी वेदका स्वामी होनेसे यौगिक ब्रह्मणस्पति है। इसलिए इसे बृहस्पति भी कहा जाता है—'बृहतीनां—वेदवाचां पतिः बृहस्पतिः'। तब बृहस्पति-रूपसे वर्णन भी गणेशका ठीक ही हुआ।

(घ) इसलिए गणेशपुराणमें भी गणेशको 'ब्रह्म ब्रह्मार्चितपदो ब्रह्मचारी बृहस्पतिः (४६।१०२) बृहस्पति शब्दसे भी कहा है। 'कविः कवीनामृषभो ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः। ज्येष्ठराजो निधिपतिर्निधिः प्रियपतिः प्रियः (४६।१५) यहां ब्रह्मणस्पति तथा ज्येष्ठराज भी कहा है। तब यह 'ब्रह्मणस्पति'वाला 'गणानां त्वा' मन्त्र गणेशजीका ही सिद्ध हुआ। इस वेदमन्त्रका इतिहास गणेशपुराणमें इस प्रकार आया है—(ङ) 'कदाचित् स मुहूर्ते तु पिता वाचक्नविः सुतम् (गृत्समदनामानम्)। गणानां त्वेति ऋङ्मन्त्रम् महान्तमुपदिष्टवान्। उवाच च महामन्त्रो वैदिकोऽखिलसिद्धिदः। आगमोक्तेषु सर्वेषु मन्त्रेषु श्रेष्ठ एव च। ध्यात्वा गजाननं देवं जपैनं स्थिरमानसः। परां सिद्धिं समाप्यैव लोके ख्यातिं गमिष्यसाततो गृत्समदो विप्रो मन्त्रं प्राप्य पितुर्मुखात्। अनुष्ठानरतो भूत्वा जपध्यानपरोऽभवत्। (१६।१८-२२)

(च) यहां पर 'गणानां त्वा' यह ऋग्वेदका मन्त्र गृत्समदको मिला—यह कहा गया है, इसी 'गणानां त्वा' मन्त्रका ऋषि भी वैदिक-यन्त्रालय (स्वा० द० के प्रेस) अजमेर'-मुद्रित ऋग्वेद-संहितामें 'गृत्समद' दिया गया है। यही ऋक्मन्त्र 'तैत्तिरीय यजुर्वेदसं० (२।३।१४।३)में तथा 'यजुर्वेद काठक-संहिता', (१०।४०)में भी आया

है। इस प्रकार इस विषयमें जहां वेद और पुराणकी एकवाक्यता सिद्ध हुई, वहां 'गणानां त्वा' यह ऋक्मन्त्र गजानन-गणेशके लिए भी सिद्ध होगया।

(६) यह गणपतिका बृहस्पति रूपसे वर्णन हमने वेदसे दिखला दिया; अब वेदमें गणपतिका इन्द्ररूपमें वर्णन देखिये— 'निषुसीद गणपते! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्। न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च' (ऋ० १०।११२।६) यह वही मन्त्र है, जिसे हमने मङ्गलाचरणमें दिया है। इस वेदके मूलसे तथा गृह्यसूत्र, स्मृति, एवं पुराण आदिकी साक्षीसे गणपति-पूजा अनादि पूजा है। इसलिए गणपति-उपनिषद्में कहा है— 'सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते'। हां, इसके अवतार भिन्न-भिन्न कालमें होते रहते हैं। 'त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्' इस ऋचाके अंशमें 'विप्र'का निघण्टु (३।१५)के अनुसार 'मेधावी' और 'विद्यया याति विप्रत्वं, (अत्रिस्मृति १३६)के अनुसार 'ब्राह्मणयोनिग विद्वान्' यह यौगिक वा योगरूढ अर्थ है। देवताओंमें भी वर्ण-विभाग है, इसलिए 'ब्राह्मण वर्णके विद्वान्' यह अर्थ भी सङ्गत है। गणपतिकी विद्वत्ता 'महाभारत' के लेखकत्वमें स्फुट है। उसे आदिपर्व (१।७५-८३) में देखा जा सकता है। उसमें गणेशके हेरम्ब, गणेशान, गणनायक, विघ्नेश, और गणेश यह नाम आये हैं। 'गजानन' शब्द यदि नहीं भी आया, तो इससे महाभारत तथा पुराणोंके प्रवक्ता श्रीव्यास वा सूतको वह अनभीष्ट नहीं; क्योंकि वे अन्यत्र उसे गजानन शतशः लिख चुके हैं। गणेशजीने

महाभारतका लेखक होना स्वीकार किया कि-'मेरी लेखनी न रुके'। व्यासजी ने कहा कि—'आप भी श्लोकका अर्थ विना जाने लेखनी न चलाइये।' परस्पर स्वीकृति होगई। व्यासजीने महाभारतमें ८८०० कूटश्लोक (बहुत कठिन पद्य) रखे। गणेशजी क्षणभरमें ही (लिखते-लिखते ही) उनका अर्थ जान लेते थे, अतः उनकी लेखनी रुकती नहीं थी। अब देखिये—हो न गई सिद्ध वेदप्रोक्त गणपतिकी विद्वत्ता ? अस्तु।

(ख) इन्द्र उक्त मन्त्रमें गणपतिदेवरूपमें स्तुत किये गये हैं—'गणपते! मघवन्!इसलिए 'गणपत्युपनिषद्'में गणेशको 'त्वमिन्द्रः' (१) भी कहा है। 'स्वस्ति न इन्द्रो' इस स्वस्तिकके मन्त्रमें इन्द्र ही पूर्व हैं, यह हम पहले लिख चुके हैं। इसका 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'(७।४।६) 'इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः' (७४।१२) 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा वहुधा स्तूयते' (७।४।८) यह निरुक्त-प्रोक्त कारण भी पहले संकेतित किया जा चुका है। इसे नैघण्टुक भी कह सकते हैं कि एक मुख्य देवतामें अन्य देवताका वर्णन आजावे। सो इन्द्रदेवतामें गणपतिदेवका वर्णन आजानेसे नैघण्टुकता भी हो सकती है।

(ग) इधर अन्य एक कारण यह भी है कि—'शतपथब्राह्मण' में कहा गया है—'इन्द्रः सर्वा देवताः' (३।४।२।२) 'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (१३।२।७४) 'इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः' (६।३।३।२१) इससे स्पष्ट है कि इन्द्र हो चाहे अग्नि; उसकी सब देवताओंके रूपसे स्तुति हो सकती है। इसीलिए 'त्वमग्ने ! इन्द्रो...त्वं विष्णु...त्वं ब्रह्मा'

(ऋ. २।१।३) 'त्वमग्ने ! राजा वरुणो...त्वं मित्रो' (ऋ. २।१।४) 'त्वमग्ने ! रुद्रो...त्वं पूषा' (ऋ. २।१।६) इत्यादि मन्त्रोंमें अग्निको बहुत देवताओंके रूपोंवाला कहा है; वैसे यहाँ इन्द्रको गणपतिदेव के रूपमें स्तुत किया गया है।

(घ) एक प्रश्न यहां प्रतिपक्षियोंका यह उपस्थित होता है कि-'यद्यपि यहां इन्द्रको 'गणपति' कहा गया है; तथापि सम्भव है कि—यह उस इन्द्र का अपना ही नाम हो, गजानन—गणेशवाला यह 'गणपति' शब्द न हो। सो जब तक इन्द्रका कहीं गजाननत्व, वा गजके किसी चिह्नवाला होना वेद में न मिले; तब तक यहांके 'गणपति' से गजानन—गणेशके रूपका बोध कैसे होसकता है ? इस पर जानना चाहिये कि—जब 'गणेशपुराण तथा गणपति-उपनिषद्में वर्णित गणेशको 'गजानन' माना जाता है, और उसका जो वहां बृहस्पतित्व, अथवा इन्द्रत्व वा रुद्रत्व कहा है; वह वेदमें मिलता है, और स्वस्तिकको भी गणेश ही माना जाता है, वेदानुसार उसमें इन्द्र तथा बृहस्पति आदिका अंश भी आ जाता है—यह हम पूर्व बता चुके हैं; तब इन्द्र वा बृहस्पतिके मन्त्रमें जब गणपतिका नाम आजाय; तो समझना पड़ेगा कि—यह वही गजानन—गणेश का बोधक 'गणपति' शब्द है। तो वेदमें 'गजानन' आदि चिह्न न मिलनेपर भी स्वयं विचार लेना पड़ता है कि—यह वही गणपति हैं, जिन्हें गणपति-उपनिषद् तथा गणेशपुराण आदिने कहा।

(ङ) फिर भी यदि प्रतिपक्षियोंका इससे सन्तोष न हो तो फिर हम इन्द्रदेवताका ऐसा मन्त्र दिखलाते हैं; जिसमें उसे 'हस्ती' कहा

गया है। वह मन्त्र यह है–'आ तू न इन्द्र !''' महाहस्ती दक्षिणेन' (ऋ० ८।८१।१) इस इन्द्रके मन्त्रमें उसे महाहस्ती—महाहस्तधारी कहा है। महाहस्तकी विशेषता 'हस्ती'में होती है। यही गणेशजीका स्वरूप है। 'सामविधान' ब्राह्मणमें 'आ तू न' (सामवेद पू० २।३।३) इति 'सुहस्त्या' (साम० पू० ६।३।७) इति प्रथमषष्ठे च एषा वैनायकी नाम संहिता, एतां प्रयुञ्जन् विनायकं प्रीणाति' यह कहकर एतदादिक मन्त्रोंको गणेशार्थक माना गया है। बौद्धग्रन्थोंमेंभी विनायकी-शक्ति का स्वरूप 'हस्ताकार-समायुक्ता' मिलता है। अतः वेदको गणपतिभी 'गजानन' इष्ट हैं, क्योंकि किसी भी जीवका स्वरूप उसके आनन (मुख)से जाना जाताहै, अतः 'हस्ती'से भी 'हस्तिमुख'का बोध हुआ। इसलिए कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणीसंहितामें तो गणेशजीके लिए 'तत्कराटाय''' हस्तिमुखाय धीमहि' (२।९।१।६) कहा है। करं-हस्तं, शुण्डादण्डमिति यावत्, आटयति-भ्रमयतीति कराटः। इससे गजानन-गणपतिदेवका पूजन वैदिक सिद्ध हुआ।

(१०) 'गणपति' कोई देवविशेष वेदमें है ही नहीं' यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि–यजुर्वेदसं० (२३।१९) मन्त्रका वैदिकप्रेस अजमेरकी छपी हुई यजुर्वेदसं०में 'गणपति देवता' लिखा है, इस प्रकार ११।१५ मन्त्रकाभी 'गणपति' देवता लिखा है। तब गणपति देवताकी वेदमें सिद्धि होजानेसे हमारे पक्षकी सिद्धि होगई।

(११) 'गणेशाथर्वशीर्ष' उपनिषदोंमें है। उसमें भी 'गणेश' जीका वर्णन है। देखिये—'ॐ नमस्ते गणपतये, त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। गकारः पूर्वरूपम्, अकारो मध्यमरूपम्, अनुस्वारश्च

अन्त्यरूपम्, बिन्दुरुत्तररूपम्। (यह गणेशके बीजमन्त्र 'गं' के लिए कहा गया है।)...एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्'। एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्। अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्। रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्। रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्।...नमो गणपतये, नमः प्रमथपतये, नमस्तेस्तु लम्बोदराय, एकदन्ताय, विघ्न-नाशिने, शिवसुताय, श्रीवरदमूर्तये नमः' इसमें गणपति-विषयक सब सिद्धान्त स्पष्ट आगये हैं। यह उपनिषद् है। उपनिषद् ब्राह्मण-भागके अन्तर्गत हुआ करती है। ब्राह्मणभाग भी वेद होता है—यह हम अग्रिम पुष्पमें बतानेवाले हैं। यह गणेशको अनार्यदेव प्रसिद्ध करनेवाले डाक्टर श्रीसम्पूर्णानन्द जी भी मानते हैं। यह उनके शब्द हैं—'कुछ लोग केवल संहिता-भागको वेद मानते हैं; परन्तु हम 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'की पुरानी पद्धतिको स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार ब्राह्मण अर्थात् आरण्यक और उपनिषद् भी वेदके अन्तर्गत हैं' (गणेश पृ० १)

जब ऐसी बात है; तब गणपतिदेव स्वयं वैदिक देवता सिद्ध हो गये; क्योंकि मन्त्रभागकी संहिता ११३१ हैं, उतने ही ब्राह्मण-भागके ग्रन्थ हैं। प्रायः उतने ही आरण्यक तथा उतनी ही उपनिषदें होती हैं। इसलिए 'मुक्तिकोपनिषद्' में लिखा है—'एकैकस्या हि शाखाया एकैकोपनिषन्मता'। (१।१४)। उपनिषदें १०८ वा २५० नहीं होतीं; किन्तु १०८ तो उपलब्ध हैं। सारी उपनिषदें तो ११३१ होती हैं, ११३१ मन्त्रोपनिषत्, ११३१ ब्राह्मणोपनिषत्। आरण्यक

भी इतने ही होते हैं। वादिप्रतिवादिमान्य श्रीयास्कने भी 'यस्मात्परं नापरमस्ति' (निरु० २।३।१) यहां 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' (३।६) की इस कण्डिकाको निगम कहा है। श्रीयास्क 'निगम' शब्द वेद-प्रमाणके लिए देते हैं—यह बात विज्ञ-समाजमें प्रसिद्ध है। तब उपनिषत्प्रोक्त गणपति-पूजा भी वैदिक सिद्ध होगई। मन्त्रभागके संकेत तो पहले हम दे ही चुके हैं।

(ख) भाषाभेदके आधारसे उक्त उपनिषद्को अर्वाचीन बताना ठीक न होगा, यह पाश्चात्य दृष्टिकोण है। इस दृष्टिसे तो ऋग्वेदके १म तथा १०म मण्डल भाषाभेदवश अन्य मण्डलोंकी अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध हो जाते हैं। अथर्ववेद तो उससे भी अर्वाचीन हो जावेगा। श्रीसम्पूर्णानन्दजी उसमें भी कहीं-कहीं आधुनिकताका सन्देह करते हैं; पर निश्चय नहीं करते; तब उक्त उपनिषद्की आधुनिकताका भी निश्चय नहीं कर लेना चाहिये। मेरे सं० १९८१-८२ आदिकी तथा आजकलकी मेरी संस्कृत-भाषाके शैलीभेदसे भी दो दीनानाथ-शर्मा सिद्ध किये जा सकते हैं; पर जैसे यह असंगत होगा; वैसे यह दृष्टि भी विषम है। एक ही लेखकका भी एक कालमें भी भाषा-भेद हो जाना अस्वाभाविक नहीं।

(ग) 'अथर्वशिराः' को महाभारत (शान्तिपर्व ३३८।३) तथा 'शंखस्मृति' (११।४) आदिमें स्मरण किया गया है। श्रीशंकराचार्यके भाष्य होनेसे ही यदि १० उपनिषदोंको प्रमाण माना जावे; तो उनसे अव्याख्यात मन्त्रसंहिता तथा ब्राह्मण एवं अन्य उपनिषद् अमुख्य वा अप्रमाण हो जाएंगे। फिर उन्होंने अपनेसे अव्याख्यात

जावाल, कैवल्य, मुक्तिका, श्वेताश्वतर' आदि उपनिषदोंके प्रमाण अपने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें क्यों दिये ? यदि आचार्य शंकर गणेशको न मानते तो शास्त्रार्थमें गाणपत्योंसे कह देते कि—गणेश हैं ही नहीं, वा वेदमें नहीं; पर उन्होंने तो उसे माना है और कहा है—'प्रतिपादितं ब्रह्मैव गणपतिरिति...रुद्रपुत्रो गणपतिरिति चाप्य-विरोधः; अंशांशिनोरभेदात्। अतो देवकार्यार्थं जगन्निर्माणादिषु अविघ्नकर्ता, (आनंदगिरिकृत शंकरदिग्विजयमें देखिये)। प्रतिपक्षियोंसे मान्य उन्हीं श्रीशंकराचार्य स्वामीने भी जब अपने सुब्रह्मण्यभुजङ्ग-स्तोत्रके आरम्भमें 'सदा बालरूपापि विघ्नादिहन्त्री महादन्ति-वक्त्रापि पंचास्यमान्या। विधीन्द्रादिमृग्या गणेशाभिधा मे विधत्तां श्रियं कापि कारुण्यमूर्तिः' इस प्रकार गणेशजीसे प्रार्थना की है, इस प्रकार उनके 'गणेशपंचरत्न' 'गणेशाष्टक और वरदगणेशस्तोत्र प्रसिद्ध हैं। तब आचार्यशङ्करकी दृष्टिमें 'गणपत्युपनिषद्' उनसे अव्याख्यात होनेपर भी अप्रमाण नहीं हो सकती। ११३१ संहिताओं तथा इतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदोंको बिना देखे ही गणपति-देवको अवैदिक कह देना साहसमात्र है। वेदमन्त्रोंमें तथा अनुक्रमणि-काओंमें जो देवता कहे हैं; वे सब वैदिक देवता हैं। निरुक्तमें कहा गया है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (७।१।४) इसी कारण 'निरुक्त' में तीन देवता बताकर शेष देवता इन्हीं तीनमें अन्तर्भूत कर दिये हैं। यदि ऐसा है, तो देखना चाहिये कि किसी मन्त्रका देवता 'गणपति' लिखा गया है या नहीं ?

(१२) 'रुद्रस्य गाणपत्यं' (यजु० वा० सं० ११।१५) इस मन्त्रका देवता 'गणपति' है। 'गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे' (यजु:२३।१६) यहां भी 'गणपति' देवता है; यह अजमेरके वैदिक यन्त्रालयकी यजुर्वेद-संहितामें देखा जा सकता है। 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' (४।१।८४) इस प्रकार वेदाङ्ग पाणिनिव्याकरणसे सिद्ध 'गाणपतो (गणपतिर्देवता अस्य मन्त्रस्य इति) मन्त्रः' यह उदाहरण भी गणपतिको किसी वेदके मन्त्रका देवता वताकर उन्हें वैदिक देवता वता रहा है। शेष प्रश्न यह है कि वेदमें तो मेधके लिए उपस्थित अश्वको 'गणपति' कहा है; इसपर जानना चाहिए कि उस समय अश्व आलब्ध (मृत) है; तब मृतकको गणपति, प्रियपति निधिपति एवं वसुरूप कैसे कहा जा सकता है? क्या मरे घोड़ेकी पुरुष प्रार्थना कर सकता है और वह उन कामनाओंको पूर्ण कर सकता है? उस अश्वको वहां यज्ञियदेव गणपतिके रूपमें आहूत किया जाता है, और पूजा जाता है उसीसे ही प्रार्थना की जाती है। इसे हम अन्यत्र स्पष्ट करेंगे। अन्य देवताके मन्त्रमें अन्य देवताके वर्णनको श्रीयास्क (निरुक्त १।२०।३) 'नैघण्टुक' कहते हैं; सो इसी रीतिसे इस मन्त्रमें अश्वमें गणपतिको आहूत किया जाता है। तभी श्रीकात्यायन मुनिने अश्वमेधमें विनियुक्त इस मन्त्रका अपने 'यजुर्विधान'में 'गणानां त्वा' ···वक्रतुण्डस्य एतानि' (४) यह कहकर इसे गणपति-देवत्य माना है। तब गणपति वैदिक-देव सिद्ध होगये।

(ख) इसी कारण ऋ० सं०में 'गणपतिं हवामहे' (२।२३।१) गणपतिको ब्रह्मणस्पति रूपमें स्तुत किया गया है; अश्वको नहीं।

'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च' (यजु० १६।२५) यहाँ गणपतिदेवका रुद्ररूपमें वर्णन है, अश्वका नहीं। बहुवचन यहांपर पूजार्थक है।

(ग) वेदमें केवल 'गणपति'का वर्णन ही नहीं; बल्कि उसके लिए हवि देना भी कहा है—जैसे कि 'वसुभ्यः स्वाहा, रुद्रेभ्यः स्वाहा, आदित्येभ्यः स्वाहा, (यजु० वा० सं० २२।२८) यहांपर रुद्र आदि देवताओंको हवि दी गई है। फिर 'गणश्रिये स्वाहा, गणपतये स्वाहा, (यजुः २२।३०) यहां गणपति आदि देवताओंको हवि दी गई है। वैदिक यन्त्रालय अजमेरकी यजुर्वेद-संहितामें इस मन्त्रके देवता 'वस्वादयः' लिखे हैं। इसका भाव वह हुआ कि—इस मन्त्रके देवता वसु, विवस्वान्, गणश्री और गणपति आदि पृथक्-पृथक् हैं। श्री पं० ज्वालाप्रसादजीकी व्याख्यात यजुर्वेदसं०में तो 'गणपत्यादयो देवताः' यह स्पष्ट लिखा है। उवट-महीधर आदिकी यजुःसं०में अस्वादयः-असु आदि पृथक्-पृथक् देवता माने गये हैं; इन्हीं में स्थित 'गणपति' भी एक भिन्न देवता सिद्ध होगये। 'सर्वानुक्रमसूत्र' में यहाँ 'लिङ्गोक्ता देवताः' बतलाया है, सो गणपति देवता पृथक् सिद्ध होगये। यहाँपर गणपति, इन्द्र (२२।६), बृहस्पति (२२।६) और रुद्र (२२।२८) से पृथक् गिने गये हैं। इस प्रकार यजुर्वेदकाण्वासंहितामें भी 'गणपतये स्वाहा' (२४।४२) गणपति देवताको हविः आई है। इसी प्रकार यजुर्वेद-मैत्रायणीसंहिता (३।१२।१३)में भी 'गणपतये स्वाहा' आया है। तब "वैदिक यज्ञोंमें गणपतिके नामसे आहुति देनेकी प्रथा नहीं है" ऐसा व्याज कट गया। आक्षेप्ता श्रीसम्पूर्णानन्दजीने भी

'विघ्नाय विघ्ननाशाय संख्यातीताय मायिने। रुद्राय भद्ररूपाय गणाधिपतये नमः' लिखकर इसी गणपतिके आगे सिर झुका दिया; उसीके लिए 'गणानां त्वा' (ऋ०) मन्त्र भी लिख दिया; तब तो हमारा पक्ष उनसे भी सिद्ध होगया।

(१३) गणपति अनादि देव हैं। देवोंके जब-तब अवतार भी होते हैं। तब रुद्रके विवाहमें पूजित होकर भी गणपति रुद्रके पुत्र भी बन सकते हैं। इसीलिए यजुः (११।१५)में रुद्रका गणपतित्व भी दिखलाया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि 'इतरेतर-जन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः' (७।४।१२) निरुक्तके इस कथनके अनुसार देवता एक-दूसरेको भी उत्पन्न करते हैं; और एक-दूसरे की प्रकृतिको भी धारण करते हैं। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (बोधायनगृ (२।१।४) इस कथनसे रुद्र-पिता, गणपति-पुत्र होनेसे दोनोंकी बातें एक-दूसरे में घट सकती हैं।

वेदमें दक्षसे अदिति, और अदितिसे दक्षकी उत्पत्ति बताई गई है-'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ० १०।७२।४) इसपर 'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाद् अदितिः परि' तत् कथमुपपद्येत समानजन्मानौ स्याताम्' इस शङ्काका कि एक-दूसरेसे उत्पत्ति कैसे—श्रीयास्क मुनिने निरुक्त में समाधान कर दिया है—'अपि वा देवधर्मेण इतरेतरजन्मानौ स्याताम्, इतरेतरप्रकृती' (११। २३।३-४) कि एक-दूसरेसे उत्पन्न (प्रकट) होना-यह देवधर्म है। यही बात गणेश और महेशदेवके विषयमेंभी जान लेनी चाहिये।

(ख) यजुर्वेदकी १०१ संहिताएँ हैं। इनमें ८६ कृष्णयजुर्वेदकी

और १५ शुक्लकी होती हैं। इसीलिए (३।१।७) पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें श्रीपतञ्जलिने लिखा है—'ऋषिः (वेदः) पठति 'शृणोत ग्रावाणः''। यहां कृष्णयजुःके मन्त्रको ऋषि (वेद) कहागया है। श्रीपाणिनिने भी 'तप्तनप्' (७।१।४५) इस वैदिकसूत्रमें 'कृष्णयजुः'के प्रयोग 'शृणोत'को वैदिकरूप माना है। सो यह मन्त्र 'कृष्णयजुर्वेद' (तै० सं० १।३।१।१३।१)का है। इसप्रकार जब कृष्णयजुर्वेद वेद है, उसका ब्राह्मण तथा आरण्यक एवं उपनिषद् वेद हैं, तब उसमें वर्णित गणपतिदेव भी वैदिकदेवता सिद्ध होगये। कृष्णयजुर्वेदके आरण्यक एवं उपनिषद्का मन्त्र हम गणेशजीकी सिद्धिमें दे चुके। अब हम कृष्णयजुर्वेदकी संहिताका मन्त्र इसपर देते हैं। वह मन्त्र यह है—

'तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (२।६।१।६) यह कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणी-संहिताका मन्त्र है। करं-शुण्डादण्डम् आटयति-भ्रमयतीति कराटः। यहाँ गजानन-गणेशका संहितात्मक वेदमें स्पष्ट वर्णन होनेसे वे वैदिकदेवता सिद्ध होगये। अब इस वेदमन्त्रको देखकर क्या किसीका साहस हो सकता है कि गणेशजीको अनार्यदेव, वा अपदेव वा अवैदिकदेव कह सके? वा उसे देव माननेवालेको वेदार्थानभिज्ञ कह सके?

(१४) अब वादिप्रतिवादिमान्य कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यकमें भी गणेशजीका वर्णन देखें-'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। 'तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (१०।१) यहाँ भी हस्तिमुख और एकदन्त गणेशजीका वर्णन स्पष्ट है। जो इसे प्रक्षिप्त मानते हैं; उनके पास

अपने असत्याग्रहको पूर्ण करनेके लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी तो नहीं है।

(ख) जो कि ऋग्वेदीय गणपतिके मन्त्रको सायणाचार्यके कथन के अनुसार प्रतिपक्षिगण ब्रह्मणस्पतिवाचक मानते हैं; यदि उनका श्रीसायणपर इतना विश्वास है, तो प्रत्येक वेद-भाष्यके आरम्भमें देखें, उसने 'वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे। यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्, मङ्गलाचरणभी गजाननका ही किया है। यदि वैदिक गवेषक श्रीसायण गजानन-गणेशको अवैदिक देवता मानते; तो आरम्भमें उस गजाननकी स्तुति न करते। शेष रही ब्रह्मणस्पतिकी बात, सो ब्रह्मणस्पतिको ही यहाँ गणपतिके रूपमें स्तुत किया गया है। इसीलिए 'त्रिपुरातापिनी उपनिषत्'की तृतीय कण्डिकामें ब्रह्मणस्पतिके 'गणानां त्वा' 'सीद सादनम्' इस मन्त्रको देकर इस मन्त्रके आदिम तथा अन्तिम अक्षरका बीजमन्त्र 'गं गणपतये नमः' बताकर गणेशको नमस्कार कराया है। वहीं चतुर्थ कण्डिकामें फल लिखा है—'गणानां त्वा—इति त्रैष्टुभेन पूर्वेण अध्वना गणाधिपमभ्यर्च्य गणेशत्वं प्राप्नोति' इससे इस गणपति तथा गणेशमें स्पष्टही अभेद सिद्ध होजाता है। उपनिषत्के वेद होनेसे (जैसेकि—अग्रिम पुष्पमें हम कहनेवाले हैं) उपनिषत्प्रोक्त संहिता-मन्त्रका विनियोगभी वैदिक सिद्ध होगया। इससे यहभी सिद्ध हुआ कि एक स्थलमें विनियुक्त मन्त्रका अन्यत्र विनियोग बाधित नहीं होजाता। तब ब्रह्मणस्पतिका मन्त्र गणेशमें भी विनियुक्त होजाता है। 'एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते, वाग् हि बृहती, तस्या एष

पतिः (१।२।११)। इस छान्दोग्य उपनिषद्वचनके अनुसार वाणीरूप बुद्धिके पति होनेसे गणपतिही यौगिक बृहस्पति बने। इसीही मन्त्र से 'गं गणपतये नमः' यह बीजमन्त्र बनता है, ब्रह्मणस्पतिका बीज-मन्त्र 'गं' कहीं नहीं देखा गया।

(ग) एक देवताका नानारूपों तथा नाना नामोंसे भी वर्णन आता है, जिसमें 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (निरु० ७।४।८) तथा 'विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा! उत यज्ञियानि वः' (ऋ० १०।६३।२) 'देवो देवानां गुह्यानि नामा-ऽऽविष्कृणोति' (ऋ० ६।६५।२) एतदादिक प्रमाण साक्षी हैं। गणेश के ब्रह्मणस्पति होनेसेही 'गणपत्युपनिषद्' में गणेशकेलिए 'त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि, त्वं ब्रह्मा, त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्म असि, त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि' इत्यादि कहा है। गणेशपुराणके सहस्रनामोंमें तो उसे 'कविं कवीनामृषभो ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः' (४६।१४) स्पष्ट ही ज्येष्ठराज, 'ब्रह्मणस्पतिः' नामसे कहा है।

(घ) अन्य वैदिक शैली यह भी है कि—समान स्थान, समान गुण तथा समानकार्यता एवं इतरेतरप्रकृतिवश तत्तद्देवको एक-दूसरे के नामसेभी बुलाया जाताहै, जैसाकि निरुक्तमेंभी कहागया है— 'अपि सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति' (७।४।१०) 'तत्र सस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्' (७।५।८) 'सम्भोगैकत्वं' के दुर्गाचार्यके शब्दोंमें 'लोकेपि समानकार्यता येषां भवति, तेषा-मैक्यमित्युच्यते' दोनों देवोंकी सम्मानकार्यताभी याद रख लेनी चाहिये, जिससे दोनोंका एकत्व सिद्ध होता है। देवताओंमें इतरेतर

प्रकृतिभी निरुक्तमें मानी गई है, तभी तो निरुक्तकारका कई करोड़ वा कई हज़ार देवताओंका तीन संख्यामें गिन लेना सङ्गत होजाता है। तब बृहस्पतिकेभी देवगुरु तथा बुद्ध्यधिष्ठाता प्रसिद्ध होनेसे तथा गणपतिकेभी देवगणोंके पति तथा उपनिषद्के शब्दोंमें ज्ञानमय अर्थात् बुद्ध्यधिष्ठाता होनेसे बृहस्पतिको गणपति रूपमेंभी स्तुत किया जा सकता है, अश्वमेधके अश्वमेंभी उसे स्तुत किया जा सकता है। 'यहाँ गणपतिका काम भी है'। गणपतिको विघ्नदूरी-करणार्थ यज्ञस्थलमें प्रतिष्ठित न किया जावेगा, तो अन्य किसे प्रतिष्ठित किया जाएगा? एक ही गणने दक्षका यज्ञ विध्वस्त कर दिया था; तब यज्ञकी निर्विघ्नतार्थ अश्वमेधके अश्वमें गणपतिभी आहूत किये जाते हैं। वे इसमें अन्यथासिद्ध नहीं, यज्ञके क्षेत्रमें हैं। 'यज्ञ' यज धातुका रूप है। 'यज' धातु देवताओंके पूजनमें आता है, तब इतने बड़े यज्ञ अश्वमेधमें विघ्नदूरीकरणार्थ देवाधि-पति गणपतिका पूजन वा स्तुति अनिवार्य है। जैसे 'ब्रह्मणस्पति' के मन्त्रके आदि-अन्तसे 'गम्' यह गणेशका बीजमन्त्र निकला है, वैसे अश्वमेधाध्यायवाले 'गणानां' 'गर्भधम्' मन्त्रके आदि-अन्तसेभी। तब दोनों, गणेशके ही मन्त्र सिद्ध होगये, और गणपति वैदिक देव सिद्ध होगये। तब इसमें अपने प्राच्य ग्रन्थोंको न मानना और निकल्स तथा एलिसगेटी आदि पाश्चात्योंका मत मान लेना यह उनका मानसिक दास बनना है। गणपतिके पुराणोंमें विभिन्ननाम वेदमें 'इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुचे' इस निरुक्त (७।१३।६) के कहे प्रकारसे आये हैं; उन भिन्न-भिन्न नामोंसे भिन्न-

भिन्न आहुति भी दी जाती है; पर इससे इन्द्र अनार्य नहीं हो जाते; इस प्रकार इन्द्रान्तर्गत गणेशभी पुराणोंमें वर्णित भिन्न नामोंसे वा भिन्न जन्मकर्मके निरूपण से अनार्यदेव नहीं होजाते।

(१५) तैत्तिरीयारण्यकमें जैसे गरुडगायत्री है, वैसे ही 'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् (१०।१) यह गणेशगायत्री भी आई है। उसीमें गरुडगायत्री भी है, दुर्गागायत्री भी है, नारायणगायत्री भी। उसमें यह कहना कि (संहिता भागमें सहस्रों मन्त्रोंमें दन्ति या वक्रतुण्डके नामसे एक भी मन्त्र नहीं है, और आरण्यकमें जो मन्त्र आये हैं, वे कहीं नहीं मिलते, ब्राह्मणोंमें वैसे ही मन्त्र होने चाहियें, जैसे संहितामें, क्योंकि ब्राह्मणमें संहिताकी ही व्याख्या-सी होती है, यह प्रतिपक्षियोंका वचन भी व्यर्थ है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि-जैसे 'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, वक्रतुण्डाय धीमहि, सुवर्णपक्षाय धीमहि, कात्यायनाय विद्महे, कन्याकुमारि धीमहि, 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि' इन कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यकके मन्त्रोंका कृष्णयजुर्वेद की किसी संहितामें मिलना आवश्यक है, पर यह मन्त्र अन्य किसी भी संहितामें नहीं मिलते' ऐसा कहना अपनी दृष्टिको असर्वतोमुखी बनाना है। कृष्णयजुर्वेदकी 'मैत्रायणी-संहिता' के दूसरे काण्ड, नवम प्रपाठक, प्रथम अनुवाकमें यही मन्त्र मिलते हैं; बल्कि वहाँ कई विशेष मन्त्र भी मिलते हैं। पाठकगण भी देखें—'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्' (२।९।१।२) यह रुद्रगायत्री 'तद् गाङ्गौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि, तन्नो गौरी

प्रचोदयात्' (४) यह गौरीगायत्री 'तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि । तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्' (५) यह कार्तिकेय-गायत्री मिली है। स्कन्द रुद्रके बड़े लड़के माने जाते हैं, गणेश छोटे, और गौरी पत्नी। अब यह सारा परिवार ही वैदिक सिद्ध होगया। अब उसी संहिता में दन्तीका मन्त्र भी देख लीजिये—

'तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (२।६।१।६) अब भी क्या सन्देहकी गुञ्जायश रह गई ? इस प्रकार आगे रुद्रकी अन्य विभूतियाँ भी देखिये—'तच्चतुर्मुखाय विद्महे पद्मासनाय धीमहि। तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्' (७) यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा की 'तत् केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' (८) यह नारायणकी, 'तन्नो भानुः प्रचोदयात्' (९) यह सूर्यकी 'तन्नश्चन्द्रः प्रचोदयात्' (१०) 'तन्नो वह्निः प्रचोदयात्' (११) इत्यादि बहुत-से गायत्रीमन्त्र हैं। तब आरण्यकके मन्त्रोंके मूल संहितामें मिल जानेसे कई व्यक्तियोंका पूर्वोक्त व्याज कट गया। वही दन्तीका मन्त्र नारायणोपनिषत् तथा गणपत्युपनिषत् वा गणपत्यथर्वशीर्ष आदिमें भी आया है, मिताक्षरा आदि टीकाग्रन्थों में भी उद्धृत है; तब प्रतिपत्तियोंसे आविष्कृत प्रक्षिप्तता कट गई। अभी तो ११३१ संहिताओंमें कठिनतासे १२-१३ ही संहिता मिलती हैं, उनमें भी जब गणेशका वर्णन स्पष्ट मिल रहा है; तब अलभ्य संहिताओंमें पता नहीं कि गणेश-विषयक सामग्री कितनी मिल सकेगी ? तो बिना सारी संहिताओंके देखे 'गणपति अवैदिक देव हैं' यह फतवा दे देना साहसमात्र है। यहाँ संहिताने स्पष्ट

गणेशको हस्तिमुख बताया है।

(ख) जोकि तैत्तिरीयारण्यकके उक्त दन्तीके मन्त्रके लिए कहा जाता है कि 'सायणने इनको खिलमन्त्र माना है, और कहा है—'इत ऊर्ध्वं तेषु-तेषु देशेषु श्रुतिपाठा अत्यन्तविलक्षणाः' इन बातोंसे अनुमान होता है यह अंश प्रक्षिप्त है; इस पर जानना चाहिये कि 'खिल' न तो अप्रमाण ही होते हैं, और न उनका कर्ता भिन्न होता है; किन्तु 'खिल' उसी ग्रन्थकर्ताका अनियमित संग्रह होता है। आजकलके भी ग्रन्थकर्ता अपने ग्रन्थके अन्तमें 'परिशिष्ट' रखते हैं, वह अन्यकृत वा अप्रमाण नहीं होजाता। ऋग्वेदका परिशिष्ट भी 'ऋक्-परिशिष्ट' प्रसिद्ध है; इसे अप्रमाण नहीं माना जाता। 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' यह 'ऋक्परिशिष्ट' (८ अष्ट०, ६ अध्या. २वर्ग) का मन्त्र निरुक्तकारके द्वारा निपातप्रकरण (१।११।१) में तथा 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (३।४।८) इस पाणिनिके छान्दस सूत्रके उदाहरणमें दिया गया है। इस प्रकार 'भद्रं वद दक्षिणतः' इस ऋक्परिशिष्ट (२।१३।१) के मन्त्रको श्रीयास्कने 'तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति' (९।४।१) कहकर इसे ऋग्वेद माना है। इससे स्पष्ट है कि—'खिल' प्रक्षिप्त वा अप्रमाण नहीं हुआ करते।

(ग) जिस सायणाचार्यकी 'खिल' कहनेके लिए दुहाई दी जाती है; उसीने लिखा है—'यथा बृहदारण्यके सप्तमाष्टमाध्यायौ 'खिल' काण्डत्वेन आचार्यैरुदाहृतौ, तथा इयं नारायणीयाख्या याज्ञिकी उपनिषदपि खिलकाण्डरूपा, तल्लक्षणाक्रान्तत्वात्'। तब क्या बृहदारण्यकके ७ म 'खिल' में आये 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्, तथा ८म

में आये 'यो ह ज्येष्ठं श्रेष्ठं च वेद' इत्यादि नाना उपासनाओं तथा 'स यः कामयेत महत् प्राप्नुयाम्, इत्यादि मन्थ नामक कर्मको, 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत सर्वान् वेदाननुब्रुवीत' इत्यादि कर्मोंको प्रक्षिप्त वा अन्यकृत मान लेंगे ? यजुर्वेद संहितामें 'अग्निश्च पृथिवी' (२६।१) यह अध्याय 'खिल' माना गया है; तब क्या यह प्रक्षिप्त है ? ऋ० सं० में १६ के लगभग तथा अथर्व० सं०के २० वें काण्डमें ३ खिल सूक्त हैं। श्रीसायणने आरण्यकके उस सारे ही प्रपाठकको 'खिल' माना है; तब प्रतिपक्षी उसकी 'रुद्रगायत्री' को ही क्यों प्रमाण मानते हैं ? उसमें स्थित 'इमं मे गंगे, ऋतं च सत्यं' मन्त्रोंको भी क्या प्रक्षिप्त मान लिया जायगा ? यदि उन्हें अन्य संहिताओंमें मिलनेसे प्रक्षिप्त न माना जाए; तो गणेशगायत्री आदि भी 'तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' इत्यादि रूपमें कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणी-संहितामें मिलती है; तब वे अप्रमाण क्यों होंगे ?

(घ) प्रतिपक्षी, निष्पक्षविचारक श्रीसायणकी कही 'खिल' की परिभाषाको भी याद रखें—'कर्मोपासनब्रह्मकाण्डेषु त्रिष्वपि यद्-यद् वक्तव्यमवशिष्टम्' तस्य सर्वस्य अभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वं खिलत्वं' यहाँ कर्म, उपासना, ज्ञानकाण्डसे अवशिष्टके संग्रह कर देनेका नाम 'खिल' है; तब संग्रह प्रक्षिप्त कैसे होगा ?

(ङ) 'खिल' की परिभाषा श्रीनीलकण्ठने 'हरिवंश' की अवतरणिकामें यह लिखी है—'यच्च शाखान्तरस्थं शाखान्तरे प्रयोजनवशात् पठ्यते; यथा-बाह्वृचे श्रीसूक्तमेधासूक्तादि तत् खिलमुच्यते'।

अन्य शाखाके निगमको अन्य शाखामें रखना 'खिल' होता है। महाभारत शान्तिपर्वके 'प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः' (३१८।१०) इस पद्यकी टीकामें श्रीनीलकण्ठने 'खिल' का यही अर्थ दिया है— 'परशाखीयं स्वशाखायामपेक्षावशात् पठ्यते, तत् खिलमित्युच्यते। यथा बह्वृचानां 'हिरण्यवर्णां हरिणीम्' इतिसूक्तम्। सो 'खिल' निर्मूल न हुए, किन्तु समूल ही हुए, दूसरी संहिताओंके ही हुए। सभी संहिता वेद ही तो होती हैं।

(च) खिलोंके प्रमाण होनेसे ही पितृकर्ममें मनुजीने 'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये' 'पुराणानि खिलानि च' (३।२३२) यहाँ खिलोंका सुनाना आदिष्ट किया है। (छ) श्रीकुल्लूक भट्टने लिखा है— 'खिलानि श्रीसूक्तशिवसंकल्पादीनि'।

(ज) यही प्रतिपक्षी लोग 'निरुक्त' के 'खिल' से 'एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्' (१३।१२।१) इसे 'निरुक्त' के नामसे उद्धृत करके प्रमाणित कर लेते हैं, पर दूसरेके लिए ऐसा करने पर रोड़ा अटका देते हैं—यह क्यों? यामलाष्टकतन्त्रमें 'खिल' का लक्षण यह आया है—'पुरा व्यासेन वेदेषु संक्षिप्तेषु चतुर्ष्वपि। अनुवाकाष्टकाध्यायसूक्त-वाक्य-पदात्मसु। तत्र तत्र तु शिष्टानि यानि वाक्यानि सन्ति हि। खिलानि तानि प्रोच्यन्ते'। अतः स्पष्ट है कि 'खिल' अप्रमाण नहीं होते।

(झ) श्री सायणाचार्यके 'इत ऊर्ध्वं तेषु-तेषु देशेषु श्रुतिपाठा अत्यन्तविलक्षणाः' इन शब्दों से 'वक्रतुण्डाय' आदि मन्त्रोंकी प्रक्षिप्तताका अनुमान भी ठीक नहीं। श्रीसायण इसमें शाखाभेदको

कारण बताते हैं और सभी पाठोंको उपादेय मानते हैं—'तदीयपाठसम्प्रदायस्तु देशविदेशेषु बहुविध उपलभ्यते । तत्र यद्यपि शाखाभेदः कारणम्, तथापि तैत्तिरीय-शाखाध्यापकैः तत्तद्देशनिवासिभिः शिष्टैरादृतत्वात् सर्वोपि पाठ उपादेय एव' । और फिर श्री सायणाचार्य पूर्वोक्त पाठके आगे 'तत्र विज्ञानात्मप्रभृतिभिः पूर्वैर्निबन्धकारैर्द्रविडपाठस्य आदृतत्वाद् वयमपि तमेव आदृत्य व्याख्यास्यामः' यह लिखकर उन मन्त्रोंका आदर करके उनके भाष्यमें प्रवृत्त हैं, इससे स्पष्ट है कि उनकी प्रक्षिप्तता एवं निर्मूलता वा अप्रमाणता नहीं। पाठभेद भी अनुवाकक्रमसे है। द्रविड ६४ अनुवाकोंका, आन्ध्र ८० अनुवाकोंका, कई कर्णाटक ७४ अनुवाकोंका, कई ८६ का मानते हैं। पर गणेशगायत्री आदि सभी पाठोंमें है। पूनाके छपे तै० आ० में १० म प्रपाठक ६४ अनुवाकोंका छपा है, ८० का भी। दोनोंमें ही गणेशगायत्री उपलब्ध है। इस प्रकार कर्णाटक पाठ में भी समझ लेना चाहिये। पाठभेद भी यह होगा कि कहीं गरुड का मन्त्र होगा, स्कन्दका नहीं। नन्दीका होगा, ब्रह्माका नहीं। तब गणेशकी अवैदिकता कैसी ?

(ञ) बल्कि श्रीसायणाचार्यने उक्त गणेशगायत्रीकी व्याख्या करते हुए अवतरणिका लिखी है—'बीजापूरगदेक्षुकार्मुक' इति आगमप्रसिद्धमूर्तिधरं विनायकं प्रार्थयते'। इस प्रकार गणेशको आगमप्रसिद्ध मानकर 'वक्रतुण्ड' की व्याख्या की है—'गजसमानवक्त्रत्वेन तुण्डस्य रत्नकलशादि-धारणार्थं वक्रत्वम्, दन्तिर्महादन्तः'। यहाँ श्रीगणेशको रत्नधारण करनेवाला माना है। इसलिए ही 'आ तू

न इन्द्रः क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन' (८।८१।१) ऋग्वेदसंहिताके इस इन्द्रके मन्त्रमें उसे गणपतिके रूप होनेसे (जैसेकि हम पहले बता चुके हैं) 'महाहस्ती' कहा है, और उस हस्तसे धन देना प्रार्थित किया है।

(ट) बृहत्पराशरस्मृतिमें 'श्रा तू न इन्द्र वृत्रहं सुरेन्द्रः स गणेश्वरः' (११।३२६) इस मन्त्रको गणेश्वरपरक माना है। इस प्रकार गणेश वैदिकदेवता सिद्ध होगये। तभी वेदभाष्यकार श्री सायणने प्रत्येक स्थानमें 'वागीशाद्याः' 'तं नमामि गजाननम्' गणेश को नमस्कार किया है।

(१६) गणेशके बारह नामोंमें 'धूमकेतुर्गणाध्यक्षो' 'धूमकेतु' नाम भी आया है; उस नामसे भी वेदमें गणेशका वर्णन देखिये—'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अथर्व० सं० १६।६।१०) यहाँ पर सूर्य-चन्द्र आदि सात ग्रहोंसे तथा राहु-ग्रहसे कल्याणकी प्रार्थना की गई है। 'राहोश्छाया स्मृतः केतुः' ज्यौतिष-शास्त्रके इस वचनसे राहुसे केतु, धूमकेतु आदिका ग्रहण भी हो जाता है, इसलिए पञ्चांगोंमें राहुके राशि-अंश आदि लिखकर केतुके नहीं लिखे जाते, क्योंकि केवल ६ राशिका उन दोनोंमें अन्तर होता है; शेष अंश, कला, विकला, गति-विगति उन दोनोंकी बिल्कुल बराबर होती हैं। सो राहु-केतु दोनोंसे ग्रस्त सूर्य-चन्द्रमाके ग्रहणोंसे इसमें कल्याण प्रार्थित कर दिया गया। उत्तरार्धके चौथे पादमें तीक्ष्ण रुद्रसे कल्याणकी प्रार्थना की गई है, उस रुद्रके साहचर्यसे 'धूमकेतु' यहाँ गणेशका नाम ही है;

क्योंकि गणेश रुद्रके पुत्र माने जाते हैं। पहले गणेशका नाम रखना पुत्रके पितासे बढ़ जानेके कारण है। 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः। वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेवं न मानवाः'। पर रुद्र भी उनके पीछे पूजनीय होते हैं। इसलिए रुद्रके विवाहमें भी गणेश-पूजन हुआ। उस धूमकेतु (गणेश) का विशेषण यहाँ पर 'मृत्यु' माना गया है, इसका कारण यह है कि श्रीगणेश 'विघ्न'-स्वरूप होनेसे जैसेकि—बौधायन-गृह्यशेषसूत्रमें लिखा है—'विघ्न! विघ्नेश्वरागच्छ विघ्नेत्येव नमस्कृत! अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदाऽस्माकं भव प्रभो!' (३।१०।२) जैसेकि मानव-गृह्यसूत्रमें कहा है—'एतैः खलु विनायकैराविष्टाः'''स्त्रीणामाचारवतीनामपत्यानि म्रियन्ते' (२।१४।१-२-३-२१) जैसाकि 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी कहा है—'विघ्नार्थमसृजद् ब्रह्मा शङ्करश्च विनायकम्' (६।३) उसी, विघ्नकारक होनेसे मृत्युस्वरूप श्रीगणेशसे 'शं' की प्रार्थना उक्त मन्त्रमें की गई है। विवाहादिमें गणेश-ग्रहादिपूजन हुआ ही करता है; वह इस मन्त्रके मूलसे है। मनुस्मृतिमें 'मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं'''प्रयुज्यते विवाहेषु' (५।१५२) विवाहादिमें 'स्वस्त्ययन' करना बताया गया है। इससे मनुजीको गणेशपूजन इष्ट है। यह हम पहले बता चुके हैं कि श्रीगणेशका 'स्वस्तिक' से बोध होता है; सो स्वस्तिवाचनमें गणेश-पूजा भी अन्तर्भूत होजाती है। अस्तु।

उक्त मन्त्रमें गणेशजीका नाम 'धूमकेतु' है, संहिताओंके अन्य स्थलोंमें गणपति, दन्ती, हस्तिमुख, वक्रतुण्ड, महाहस्ती, बृहस्पति आये हैं; तब गणेशजी वैदिक ही सिद्ध हुए। वेदसे ही वे पुराणमें

गये हैं; जैसेकि काशी केदारनाथ-माहात्म्य में उनके लिए कहा है—

(ख) 'विघ्नध्वान्तनिवारणैकतरणिर्विघ्नाटवीहव्यवाट्

विघ्नव्यालकुलोपमर्दगरुडो विघ्नेभपञ्चाननः।

विघ्नोत्तुङ्गगिरीशमर्दनपविर्विघ्नाब्धिकुम्भोद्भवो 'विघ्नाम्बुधौ वाडवो'

विघ्नाभ्रौघघनप्रचण्डपवनो विघ्नेश्वरः पातु नः'।

वाराह-पुराणमें 'नमस्ते गजवक्त्राय नमस्ते गणनायक। विनायक! नमस्तेस्तु नमस्ते चण्डविक्रम! नमस्ते रुद्रवक्त्रोत्थ! प्रलम्ब-जठराश्रित! सर्वदेव! नमस्कारादविघ्नं कुरु सर्वदा'। 'रुद्र-वक्त्रोत्थ'से वे रुद्रके लड़के सिद्ध हो रहे हैं। तैत्तिरीयारण्यकके एकदन्तका मन्त्र जो किन्हींको रुद्रका मालूम होता है; उसमें पिताके पुत्रके लिए 'आत्मा त्वं पुत्रनामासि' (मीमांसादर्शन ४।३।३८) यह न जानना ही उनकी भूलका कारण होता है। पुराणोंसे फिर गणेशजी बौद्ध-साहित्यमें गये हैं। वहाँ विनायकी शक्तिका स्वरूप 'हस्ताकारसमायुक्ता' मिलता है। महायान बौद्धधर्ममें भी गणेशका पूरा वर्णन मिलता है—'भगवन्तं गणपतिं रक्तवर्णं' 'लम्बोदरैक वदनं' 'त्रिनेत्रमेकदन्तं, सव्यभुजेषु कुठारशराङ्कुश-वज्रखड्गशूलं च, वामभुजेषु मुसलचापखट्वाङ्ग', रक्तपद्मे मूषिकोपरि स्थितम्'।

(ग) अपने देशमें तो गणेशजी हैं ही, वे विदेशोंमें भी पहुँचे हुए हैं। क्योंकि भारतीय लोगोंने विदेशोंमें अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे उसीके कारण हैं; अनार्योंके देवोंके कारण नहीं। भारतीय संस्कृतिका दूर-दूर तक प्रचार हो चुका था। तुर्किस्तानसे लेकर मलयद्वीपपुंज, बालि, जावा, बोर्नियो, स्याम, कम्बोडिया

तक भारतीय लोग जाकर बसे थे। वहाँ आज भी हिन्दुओंके अनेक स्मारक मिलते हैं। इन्हीं हिन्दुओं द्वारा इन देशोंमें गणेश-पूजाका प्रचार हुआ। ये मूर्तियाँ हैं तो भारतीय मूर्तियोंके सदृश ही, परन्तु उनमें कुछ विशेषताएँ भी हैं। जर्मनीमें स्वस्तिक रूपमें उन्हें राष्ट्रियपताकामें स्थान मिला। मेसोपोटामिया, वेबीलोनिया, ट्राय, इटली आदि देशोंमें जब भूगर्भकी खुदाई हुई; वहाँ पर स्वस्तिक मिला। दक्षिण यूरोपमें भी इसका प्रचार पाया गया है। सिसली और क्रीटमें स्वस्तिकका प्रचार प्राचीनकालसे चला आ रहा है, स्पेन और इटलीके इतिहासमें स्वस्तिकका अस्तित्व बहुत काल से आ रहा है। अमेरिकामें भी उसका प्रचार पाया जाता है। भारतमें तो प्रचार है ही। हिन्दुराजाओंके सिक्कोंमें भी स्वस्तिक प्रयुक्त किया जाता था। स्वस्तिकाकृति भूषण भी बनते थे।

(घ) हिन्दुओंके विवाहादि-कार्योंमें, पूजा-स्थलोंमें, व्यापारकी बहियोंमें, विशेष उत्सवोंमें, कुआं आदिमें, द्रव्यकी पेटियोंमें, मन्दिरों वा घरोंके द्वारोंमें भी इसका प्रयोग होता है। लामाओंके दार्जिलिङ्गके महाकाल मन्दिरमें अभी तक स्वस्तिक उत्कीर्ण है। 'गीतारहस्य' ५९० पृष्ठमें श्री तिलकजीने 'ईसाके सैकड़ों वर्ष पहले से ही इस स्वस्तिकको वैदिकों द्वारा शुभदायक माना जाना' कहा है, कोलम्बससे भी कई शतक पूर्व पेरू तथा मैक्सिको आदिमें भी यह प्रचलित था। इतना यह गणेशजीका प्रचार हिन्दुधर्मकी एक महान् विजय है। आश्चर्य है कि हमारे ही देशके कई महाशय ? उसके विरोधमें लगे हैं। लेकिन भिन्नरूपमें वे भी इसे प्रार्थित करते हैं—

(ङ) 'हे सर्वविद्यामय! सर्वार्थवित्! मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं वयं पूर्णं कुर्वीमहि' (ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका पृ० ७) 'अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नाः, तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव-दूरं गमय' (पृ० ३) यहाँ पर स्वा० द० जीने एक प्रकारसे गणेशको मान लिया है। सत्यार्थप्रकाशमें-'गण संख्याने' इस धातुसे 'गण'शब्द सिद्ध होता है, और इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखनेसे 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते, तेषामीशः'—स्वामी, पतिः-पालको वा' यह लिखा है; तो थोड़ा ही भेद रहा है। गणपत्युपनिषद्में भी गणेशको ब्रह्म ही माना गया है। इससे विघ्न हटानेके लिए विघ्नाधिपति अनादि गणपतिदेवकी प्रार्थनात्मक पूजा स्वामीके मतमें भी सिद्ध हुई। यदि वे श्रद्धासे वैध गणपतिकी अर्चना करते; तो उनके वेदभाष्य अवश्य पूर्ण होजाते। अद्वैतमें अवश्य एक तत्त्व है, पर जैसे उत्पत्ति, स्थिति, और लयमें हिन्दुधर्म के ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह हिन्दुधर्ममें भिन्न नाम रूपकी त्रिमूर्ति मानी गई है; वैसे ही विघ्नविभागके भी अनिवार्य होनेसे उनसे भी भिन्न नाम-रूपवाले देवकी सत्ता भी अनिवार्य है, अतः वह देव भी है; और वह गणपति है।

(१७) गणेशके जन्मके सम्बन्धमें विभिन्न कथाओंके पाये जानेसे इन्हें अपदेव वा अनार्योंका देव मानना और यह कहना कि—'राम-कृष्णादि शुद्ध आर्य देवकल्प पुरुषोंके जन्मादिसम्बन्धमें इस प्रकारका कथा-वैषम्य नहीं है' यह भी ठीक नहीं। एक के

विषयमें कथाओंकी विभिन्नताका अनार्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। श्रीकृष्णादिकी कथा ही श्रीमद्भागवत, 'हरिवंश, गर्गसंहिता, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदिमें देखनेसे उसमें कुछ-कुछ वैषम्य मिलेगा ही। श्रीरामकी कथाके लिए महाभारत, वाल्मीकि-रामायण; पद्म-पुराण, उत्तररामचरित आदिको देखिये-कुछ वैषम्य मिलेगा ही। इससे वे अनार्य नहीं होजाते। ऐसे विरोध कल्पभेद द्वारा समाहित होजाते हैं। कल्पभेदसे सृष्टिमें कुछ परिवर्तन होते रहते हैं; जैसेकि स्वा० द०जीने भी ऋ० भा० भू० में इसका संकेत दिया है 'मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित्-किञ्चिद्भवति' (पृ० २२) सृष्टिका स्वभाव नया-पुराना प्रतिमन्वन्तरमें बदल जाता है (पृ० २४) जब वे प्रतिमन्वन्तरमें कुछ भेद मानते हैं, तब भिन्न कल्पोंमें कुछ-कुछ भेद होजाय; तो वहाँ क्या कहना? वेद-उपनिषदादिमें भी सृष्ट्युत्पत्तिमें वैषम्य मिलेगा। कहीं आदि में सत्की उत्पत्ति, कहीं असत्की, कहीं आकाशादि-पूर्विका, कहीं अग्न्यादिपूर्विका, कहीं जलादिपूर्विका सृष्टि बताई गई है। तब क्या यह अनार्योंका संग्रह होगा? अनादिदेव होने पर भी गणेश जीके भिन्न-भिन्न अवतार भी हुए हैं। अतः कहीं उनका अनादि रूपसे वर्णन आता है, कहीं उनके भिन्न-भिन्न अवतारोंके रूपमें। कहीं-कहीं उनके भिन्न-भिन्न भावों पर बल देदिया गया है। कहीं विघ्नाभिमानी देवके रूपमें उनका वर्णन किया गया है। कहीं तात्पर्य-समानतामें भी उसी एकका वर्णन पूर्वसे विलक्षणतार्थ कुछ भिन्न करना ही पड़ता है, जिससे पाठकको वैरस्य प्रतीत न हो।

उससे भी कुछ भेद होजाना स्वाभाविक है।

(ख) जोकि 'गणानां त्वा' मन्त्रको महीधरके अनुसार अश्वदेवत माना जाता है, तथा वैसाही अर्थ किया जाता है; तो इससे गणपति-देवका अभाव नहीं होजाता। कल्पके अनुसार एक मन्त्रके अनेक देवता वा अनेक विनियोग भी होते हैं। श्री महीधरके अर्थमें भी अश्वकी गणपतिदेव रूपसे स्तुति की गई है। यदि वेदभाष्यकार महीधरपर पूरा विश्वास किया जाता है; तो उसने भी वाजस० संहिताके भाष्यके आरम्भमें 'प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं' इस प्रकार गणेशजीको प्रणाम किया है। तब श्रीगणेश अनार्यदेव कैसे ? रुद्र वैदिक देवता हैं; तब 'आत्मा वै पुत्र नामासि' (निरुक्त ३।४।२) रुद्रके विग्रहविशेष-अंशावतार-पुत्र गणेश अवैदिकदेव कैसे हो सकते हैं ?

(ग) यदि अमङ्गलकारक होनेसे गणेश अपदेव माने जाएँ, तो 'ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्' (यजु० १६।६२) (रुद्र अन्न-दूध खाने-पीनेवाले पुरुषोंको बींधा करते हैं) मृत्युकारक होने से, तमोगुणी होनेसे 'मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र ! रीरिषः' (यजुः १६।१५-१६) इत्यादि प्रार्थित होनेवाले रुद्रको भी क्या अनार्यदेव मान लिया जायगा ?

(घ) 'या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी' (यजुः २।४६) इससे शिवजी के भी घोर, तथा अघोररूप दिखलानेसे क्या घोर--रूपधारी रुद्र भी अपदेव हो जावेंगे ? यदि नहीं, तो शिवसुत गणेशके भी; पिताके अभेदवश घोर-अघोररूप मान लेनेसे व्यवस्था

लग जाती है कि-घोररूप विघ्नकारक है और अघोर विघ्ननाशक। जो तत्त्व आध्यात्मिक उन्नतिमें स्वतः बाधक होता है, वही उपासना के द्वारा सहायक बन जाता है। अनिष्टकर भी इष्टकारी बन जाता है। विघ्नदेवताका स्वरूप साधनाके बलसे सिद्धिका देवता होजाता है, क्योंकि परमार्थतः विघ्न और सिद्धि, अविद्या और विद्या एक ही परा देवताके दो अविच्छेद्य रूप हुआ करते हैं।

(ङ) यह कहना भी कि-'वैदिककालमें जब आर्य सप्तसिन्धु प्रदेशमें रहते थे, गणेशकी पूजा नहीं होती थी'-ठीक नहीं। इसमें प्रष्टव्य है कि वैदिककालमें अनार्य थे या नहीं? यदि नहीं थे; तो पूर्वमें आर्योंका अनार्योंसे सम्पर्क कैसे बढ़ा? यदि वैदिककालमें भी अनार्य थे, और गणेशपूजा आर्योंने अनार्योंसे सीखी; तो इससे स्पष्ट हुआ कि वैदिककालमें भी गणेशपूजा थी, केवल आर्यों ने उसे अनार्योंसे सीखा; परन्तु अनार्योंसे गणेशपूजन सीखना निष्प्रमाण है। जब वेदमें गणेशका वर्णन है; तब वे वैदिकदेव हुए। जब सभी वेदसंहिताएं तथा तदन्तर्गत आरण्यक उपनिषदादि वेद हैं; यह हम चतुर्थ पुष्पमें सिद्ध कर चुके हैं, कुछ अग्रिम पुष्पमें करेंगे, प्रतिपक्षीको भी यह सम्मत है, तब कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणी संहितामें, कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यकमें, अथर्ववेद-गणपत्युपनिषद्में, अथर्ववेदीय 'शान्तिकल्प' (जिसके लिए श्रीसायणाचार्यने अथर्ववेदभाष्यके अपने उपोद्घातमें 'शान्तिकल्पेपि प्रथमं वैनायकग्रहगृहीतलक्षणानि, वैनायकहोमाः, तत्पूजाविधानम्' इत्यादि लिखा है) तथा स्मृतियोंमें और वेदोंसे स्मृत किये हुए अनादिज्ञान पुराणोंमें

जब स्पष्टतया गणेशजीका वर्णन आया है, तब उन वैदिकदेव गणेशको अवैदिक कहना परम साहस है। जो हिन्दु लोग मुसलमानी किसी पीर वा कब्रको पूजते भी हैं; तो दूसरेका देव समझकर; पर गणेशजीको कहीं दूसरों (अनार्यों) का देव नहीं कहा गया; वा समझा जाता। यदि गणेशजी अनार्योंके देव होते; तो वे अब तक उन्हींके मुख्य देव होते; पर अनार्योंमें तो गणेशजी की मुख्य पूजा ही नहीं। जो है वह आर्योंसे गई है। रुद्रपूजा, विष्णुपूजा आदि उनमें भी यहाँसे गई है।

(च) बात यह है कि आर्यसमाजादिके संस्कारवश पहले प्रतिपक्षिगण इन प्रचलित चार संहिताओंको वेद मानते रहे; तब इनमें भी बीजरूपसे उन्हें गणेश यद्यपि वर्णित तो प्रतीत हुए, तथापि उन्होंने उनसे सहज ही जान छुड़ाली। पर उन्हें जब अनुसन्धान से आरण्यक एवं उपनिषद् भी वेद मालूम पड़े; तब उनमें भी 'गणेशजी'को वर्णित देखकर प्रतिपक्षियोंने अपनी भूल तो नहीं मानी, किन्तु उन वचनोंको ही उल्टी-सीधी युक्तियों द्वारा 'प्रक्षिप्त' कहकर जान छुड़ा ली। जब उन्हें लुप्त संहिताएँ उपलब्ध हुईं, तब मैत्रायणी-संहिताने भी प्रतिपक्षियोंका पीछा न छोड़ा, उसमें भी गणेश मिल गये। अभी अन्य भी संहिताएं मिलेंगी, उनमें भी मिलेगा। पुराणादि वेदके भाष्य ही तो हैं; वे भला अपनी निर्मूल कल्पनाएं कैसे कर सकते थे? उनके समय वेदोंकी प्रायः सम्पूर्ण संहिताएं थीं; उनमें गणेशका वर्णन देखकर ही तो पुराणोंने उसका विशकलन किया।

वस्तुतः एक बात यह भी है कि कई ऐसे देवविशेष हैं, जिनका पूजन कालक्रमसे घटता-बढ़ता रहता है। आजसे पहिले महादेव-पूजन बहुत प्रचलित था; पर कालक्रमसे अब घट गया। कलिमें चण्डी एवं विनायकका प्रचार बहुत होता है; पर इससे उस देवका पूर्व अभाव वा नवीनोपास्यता नहीं हो जाती। अभी प्रतिपक्षियोंको अन्य संहिताएं नहीं मिलीं। यदि मिल जाएं; तब फिर प्रतिपक्षियों को उनसे आक्षिप्त देवोंका पूजन भी स्पष्ट मिल जाए। फिर वे पूर्व संस्कारवश उन्हें प्रक्षिप्त मान लेंगे। वास्तवमें उनके पास उनसे जान छुड़ानेका इसके अतिरिक्त उपाय है भी क्या ? शेष परिवर्तन मतिवैचित्र्यसे, अथवा अधिकारिभेदसे अथवा कल्पादिभेदसे अथवा कुछ नवीनतार्थ होजाते हैं।

(छ) प्रतिपक्षियोंका यह कहना कि 'अनार्योंसे आर्योंने गणेश-पूजा सीखी' यह ठीक नहीं। यह भी वे मानते हैं कि आर्योंने अनार्यों पर विजय पाकर इस देश पर अधिकार किया। तो विजित जाति पर विजेताका ही अधिक प्रभाव पड़ता है, विजेता पर विजितका नहीं। हम लोग तो विजेताके हैट-बूट आदि पहनने लग गये। अपना शिखा-यज्ञोपवीत तिलक आदि खो बैठे, अपनी मूर्तिपूजा हटा बैठे, ईसाइयों वा अंग्रेजोंका संक्षिप्त संस्करण बन चुके, पर विजेता अंग्रेजोंने हमारी धोती, पगड़ी, चोटी, जनेऊ, तिलक हमसे नहीं सीखे। अभी तक भी पराजित दास्यमनोवृत्तिवाले हमारे बन्धु अंग्रेजियत नहीं छोड़ सके; बल्कि उनसे प्रभावित होकर अपने प्राचीन साहित्यको ही दूषित करने लगे; और नवीन एवं विषैले,

अपने प्राचीन साहित्यमें शङ्कित दृष्टि रखनेवाले साहित्यकी सृष्टि करने लगे।

(ज) 'गणपतिके नामसे एक 'उपनिषद्'को रचना पीछेसे कर दी गई' यह आरोप भी असत्य है। यह केवल प्रतिपक्षियोंके अपने पक्षके रक्षणार्थ है। प्रतिपक्षी जब अपना एक विचार स्थिर कर लेते हैं; तब उन्हें उससे विरुद्ध विचार जहाँ मिलता जावे; उसे या तो प्रक्षिप्त कह देते हैं; या उसे अर्वाचीन रचना, वा मध्यकाल का मूढाग्रह कह देते हैं। जब वह भी न बन सके; तो उसे आलङ्कारिक कहकर उससे अपनी जान छुड़ा लेते हैं। वस्तुतः इस पर यह जान रखना चाहिये कि जितनी मन्त्र-संहिताएं होती हैं; उतने ही ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक एवम् उपनिषद् भी होते हैं। इनका काल भी भिन्न नहीं। समाधि-द्वारा उसका दर्शन और ग्रन्थ-रूपमें संग्रहणका काल भले ही भिन्न हो; पर अपौरुषेय वेद होने से यह सब एक ही कालमें विद्यमान थे। जैसेकि—व्रात्यकाण्डकी भूमिकामें उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री, गणेशको अनार्यदेव प्रसिद्ध करनेवाले, डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजीने लिखा है—'ईश्वर नित्य है, अतः उसका ज्ञान नित्य है, इसलिए वेद नित्य है। परन्तु सारे मन्त्र एक ही साथ मनुष्यके सामने नहीं आये, भिन्न-भिन्न ऋषियोंको भिन्न-भिन्न अवसरों पर पृथक् मन्त्रोंका समाधिकी अवस्थामें दर्शन हुआ। इस दृष्टिसे पौर्वापर्यका व्यपदेश हो सकता है' यही बात उपनिषदादिके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये—क्योंकि वह भी वेद हैं। तब उपनिषत्काल भी संहिताकालसे पीछे नहीं हो सकता।

जब विघ्नेश्वरका व्यापार भी जगत्में अपेक्षित है, वह अर्वाचीन नहीं; तब विघ्नेश्वर गणपतिकी उपनिषद् भी अर्वाचीन क्यों हो ? अभी तक न तो सारी संहिताएं ही मिली हैं; न सारे ब्राह्मण और न आरण्यक-उपनिषद् आदि, न सूत्रग्रन्थ। तब वर्तमान शास्त्रोंमें प्राप्त 'गणेशजी'को एकदम 'अपदेव' कह देना साहसमात्र है— जैसाकि—अप्रयुक्त शब्दोंके विषयमें भाष्यकारने कहा है—'महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः, सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम्, वैद्यकम्। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्ति अप्रयुक्ताः' इति कथनं साहसमात्रमेव'।

(झ) भाषाभेद देखकर इस गणपति-उपनिषद्को अर्वाचीन बताना भी ठीक नहीं। यह लटका अंग्रेजोंकी देन है, और दास्य-मनोवृत्तिका परिचायक है। रघुवंशमें सब सर्गोंमें सरलता होने पर भी नवम-सर्गकी यमककी कठोरता देखकर भिन्न-कालीनता वा भिन्नकर्तृकता नहीं होजाती। भाषा तो विषयानुसार बदलती रहती है। वेदमें भी 'भाषायां' वाले सूत्रोंको छोड़कर शेष सारी लौकिक संस्कृत आ सकती है, जिसके प्रमाण संहिताओंमें प्रत्यक्ष हैं। उपनिषद् भी वेद हैं। संहिताओंमें प्रायः देवताओंकी उपासना है; उनके लिए भाषा भी वैसी चाहिये; पर उपनिषदें जनताके हितार्थ हैं; अतः भाषा भी उनके लिए सुगम अपेक्षित है। उसमें भिन्न-कालीनता वा भिन्नकर्तृकता नहीं होजाती। एक ही लेखककी रचना

में एक ही कालमें (इसमें १५-२० वर्षोंका अन्तर नगण्य है) बड़ा भेद मिलता है। इस पाश्चात्य दृष्टिकोणसे तो ऋग्वेदसं०के प्रथम और दशममण्डल शेष मण्डलोंसे अर्वाचीन सिद्ध होजाते हैं। डा० सम्पूर्णानन्दजी स्वयं व्रात्यकाण्डकी भूमिकामें अथर्ववेदकी भाषा को देखकर कहते हैं-"कहीं-कहीं भाषा इतनी आधुनिक-सी है कि प्रक्षेपका सन्देह होता है।" यह अंग्रेजी दास्यमनोवृत्ति है। संस्कृत-भाषाके विषयमें ऐसी बात बन भी नहीं सकती। एक ही कर्ता मधुर, वैदर्भी रीतिका प्रयोग भी कर सकता है, और कठोर, गौड़ी रीतिका भी। एक ही बाणभट्ट कठिनतर 'हर्षचरित' को भी बना सकता है, मधुर 'कादम्बरी' को भी। इससे उपनिषत्काल संहिता-कालसे पीछेका नहीं हो सकता। समाधिसे वह पीछे मिला हो—यह भिन्न बात है, वहाँ प्रतिपत्तियोंके अनुसार पौर्वापर्यका व्यपदेश-मात्र है। कहीं भाषा परोक्षवृत्ति हुई हो; तो वह कठिन होजाती है; कहीं प्रत्यक्षवृत्ति हुई हो, तो वह सरल होजाती है।

कोई नद-नदी वा समुद्र कहीं कुटिल वा कहीं सरल, और कहीं अतलस्पर्श गम्भीर और दुष्प्रतर वा तलस्पर्श एवं सुखतरणीय हो; कहीं पृथिवी दुर्गम और कहीं सुगम; कहीं संसार दुर्बोध और कहीं सुबोध सम्भव है; इससे भिन्नकालीनता वा भिन्नकर्तृकता नहीं होजाती। अपौरुषेयतामें ऐसी प्राकृतिकता वा विभिन्नता [illegible]क है। सृष्टिके एककालमें बने हुए भी पुरुषोंकी आकृति [illegible]रों, कुत्त[illegible] मिलती; इसी तरह अपौरुषेय रचना मन्त्रभाग वा ठीक नहीं। वि[illegible]षामें एकरूपताका नियम अनिवार्य नहीं।

(१८) गणेशजीके वाहन मूषकको देखकर भी असम्भवकी आशङ्का करके गणेशको उडाना वा उसे अनार्यदेवता बताना अन्याय है। गणेशजीके देवता होनेसे उनका वाहन मूषक भी दिव्य समझना चाहिये, लौकिक नहीं। सूर्य कितना बड़ा है, १३ लाख पृथिवी-इतना, पर वह वृश्चिक, मकर, मीन आदि राशियों पर आरोहण करता है। वे वृश्चिक आदि लौकिक विच्छू आदि नहीं होते; किन्तु दिव्य राशि होती है। कुछ लौकिक आकृति वा गुणके सादृश्यसे वही वृश्चिक, मूषक आदि नाम रख दिये जाते हैं। वस्तुतः उस मूषकको भी देवावतार तथा दिव्य समझना चाहिये, लौकिक नहीं। उससे गणेशजीका कोई उपहास नहीं।

श्रीयास्कने निरुक्तमें देवताओंके वाहनोंकी अनित्यताकी चर्चा उठाकर पूर्वपक्षीके अनुसार उन्हें अनित्य वा अप्रमाण (अदेवता) माननेकी शङ्का उपस्थापित की है—'अपि हि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। यथा-अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि, अथापि अष्टौ द्वन्द्वानि' (७।४।७)। इस शङ्काका समाधान श्रीयास्कने यह किया है—'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (७।४।८) 'आत्मैव एषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधम, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' (७।४।१५) अर्थात् देवताके वाहन एवं आयुध बाण आदि सब उसीका अपना दूसरा रूप है। यही बात मूषकवाहनके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। इस मूषकवाहन होनेसे भी गणेशजी अनार्य देवता [illegible] नहीं हो सकते। वेदमें भी अश्वियोंका वाहन रासभ बताया लेखककी रचके

घोड़े, अग्निका रोहित (मृग), पूषाका अजा, इस प्रकार मूषक, मयूर आदि वाहनोंसे भी अश्वी आदि की भांति गणेशजी भी अनार्यदेव नहीं होजाते।

(ख) यजुर्वेदसंहितामें 'आखुस्ते पशुः' (३।५७) चूहेको गणपति का वाहन माना गया है। उणादिकोष (१।३३) में स्वा० दयानन्द जीने भी 'आखु' चूहेका नाम माना है। यद्यपि इस मन्त्रका देवता रुद्र है; तथापि रुद्रसूक्तमें ही 'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च' (१६।२५) इस मन्त्रमें रुद्रको गणपतिरूपमें वर्णित किया है। यजु० ११।१५ में रुद्रका गणपतित्व कहा गया है, सो यह 'आत्मा वै जायते पुत्रः' (महाभारत ३।३१३।७२) के अनुसार है। इसमें वैदिकता है, अनार्यता नहीं। वैदिक यज्ञकी क्रियामें चूहेके विलकी मिट्टी आवश्यक होती है (देखो शतपथ २।१।७)। सो उसके अध्यक्ष गणपति की भी यज्ञमें पूजा होती है। 'गणानां त्वा' (यजु० २३।१६) मन्त्र से अश्वमेध यज्ञमें उसके नायक-अश्वमें गणपतिका आह्वान किया जाता है; अतः गणपति याज्ञिक क्षेत्रमें ही हैं। प्राकृतिक गणपति-प्राणके च्युत होने पर उसका प्रथम प्लेगरूप आघात चूहे पर होता है; उस प्लेगके उपशमनके लिए गणपति-याग ही शास्त्रोक्त उपाय है। अतः गणपति चूहे पर चढ़े रहते हैं कि वह आक्रान्त रहे।

(ग) "रुद्रके रूप गणपतिके प्रणाम करनेसे गणपतिकी महत्ता इसलिए न मानना कि—जबकि यजुर्वेदके उसी सूक्तमें रुद्रके रूप चोरों, कुत्ते आदिको भी नमस्कार किया गया है" यह कहना भी ठीक नहीं। विष्णुपादोत्पन्न गङ्गाकी पूजा तो होती है; पर पादोत्पन्न

शूद्रकी नहीं। शूद्रकी महत्ता नहीं मानी जाती, पर गङ्गाकी मानी जाती है। वहाँ किरात-रूपधारी रुद्रके गणोंको नमस्कार अवश्य आई है, आजकल के चोर आदि को नहीं। न चोर आदिकी पूजा कहीं मिली है, पर गणपतिकी पूजा तो मिली है; तब उनकी महत्ता भी सिद्ध होती है। पर जैसे प्रतिपक्षी रुद्रके वेद-वर्णित विचित्र आकृतिवाले गणोंको अनार्य नहीं मानते, वैसे गणपतिके लिए भी जान लेना चाहिये।

(घ) यह भी प्रष्टव्य है कि प्रतिपक्षी लोग सप्तसिन्धु-प्रदेशको आर्योंका आदि-देश मानते हैं; वा अनार्योंका? यदि अनार्योंका, और आर्य बाहरसे ही इसमें वैदिककालमें आये; और उनसे आर्यों ने गणपति-पूजा सीखी; तब अनार्य-सभ्यता आर्य-सभ्यतासे प्राचीन सिद्ध होजायगी; और गणेशपूजा वेदकालसे भी प्राचीन सिद्ध हो जाएगी। यदि सप्तसिन्धु-प्रदेश आर्योंका ही आदिदेश था; तो आर्योंके साथ अनार्य भी वैदिककालमें थे या नहीं? यदि थे; तो गणेशपूजा वेदसमकालीन सिद्ध हुई।

यदि पहले आर्य ही थे; सम्पूर्ण भूमण्डलमें आर्योंकी ही सभ्यता थी, पीछे अनार्य-सभ्यता फैली; तो सभी देशों वा स्थानों में किसी न किसी रूपमें गणेशपूजाको फैला हुआ जानकर प्रतिपक्षी को अनुमान करना पड़ेगा कि यह आर्योंकी ही देन है। 'एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व-मानवाः' (मनु० २।२०) सब देशों वा जातियोंको सिखलानेवाली जगद्‌गुरु आर्य हिन्दु जाति अनार्योंसे नये अपदेवकी पूजा सीखे

यह अश्रद्धेय है। वैसा मानना उसका अपमान करना है।

वस्तुतः अनार्योंमें भी यह आर्योंसे ही गई, और वहाँ कुछ भिन्न-रूपमें होगई। जैसेकि–स्त्रियोंकी अवगुण्ठन प्रथा (पर्दा) वेद पुराण एवं इतिहास-सम्मत है; यह हम अन्य पुष्पमें लिखेंगे। पीछे हुए मुसलमानोंने यह प्रथा हमींसे सीखी; और उसे कठोररूप दे दिया; पर आजकलके नवशिक्षित यह न जानकर उसे मुसलमानी प्रथा मानने लगे जोकि एक अक्षम्य अपराध है। यह संस्कार उनके चित्तमें पड़ा होनेसे जब इन्हें ब्राह्मणभाग तथा रामायण एवं महाभारतमें पर्दा-प्रथा मिलती है; तब वे उसे उसमें प्रक्षिप्त मान लेते हैं। पुराणोंमें मिलने पर वे पुराणोंको मुसलमानी कालके मान लेते हैं। यही प्रकार प्रतिपक्षी गणेशपूजामें अपनाते हैं। पर यदि वे अस्तकी दिशावाला 'पश्चिमी' (अंग्रेज़ी) काला चश्मा उतार लें; और अपनी श्रद्धासे संस्कृतकी हुई 'पूर्व'की आँखोंसे काम लें; तो उनका भ्रम स्वतः दूर होजावेगा; तब उन्हें कुछका अन्य कुछ न दीख पड़ेगा।

(१६) 'विघ्नेश्वर' गणेशका नाम देखकर "वह गणेश 'विघ्न-विनाशक' कैसे हो सकते हैं; तब अच्छे कार्योंमें विघ्न डालने वाले होनेसे वे अपदेव अतः अनार्योंके देव हुए" यह प्रतिपक्षियों का कहना भी अज्ञानातिशयके कारण है। 'मृगेन्द्र' सिंह 'मृगोंका स्वामी' होता हुआ 'मृगोंका विनाशक' भी होता है। 'जगदीश्वर' जहाँ 'जगत्का स्वामी' है वहाँ 'जगत्संहारक' भी है। एक ही देवको जब कर्ता, भर्ता और हर्ता भी माना जाता है; तो 'विघ्नेश्वर'में

'विघ्नविनाशकता'की शङ्काका अवकाश ही क्या ? क्योंकि—ईश्वरमें अनुग्रहके समान निग्रहकी शक्ति भी हुआ करती है। उपक्रमके समान उपसंहारकी शक्ति भी हुआ करती है। 'महेश्वर' क्या 'संहारकारी' नहीं ?

गणपतिको उपनिषद्में 'सर्वेश्वर' भी माना गया है। जो सर्वेश्वर है, वह 'विघ्नेश्वर' भी है। जब कोई 'विघ्नेश्वर'का अस्तित्व नहीं जानता, तो 'सर्वेश्वर'को भी नहीं जानता। विघ्नेश्वरके व्यापारकी आवश्यकता भी पड़ती है। जिस व्यक्तिको सतत दस्त आरहे हों; उसमें विघ्नेश्वर यदि प्रतिबन्ध-स्वरूप विघ्न न डालें; तो वह व्यक्ति मर जाय।

राजाकी अंगुली कट गई; मन्त्रीने कहा—जो विघ्नेश्वर करता है, ठीक करता है। राजा ने क्रुद्ध होकर मन्त्रीको निकाल दिया। मन्त्री ने उस विघ्नको भी अच्छा समझा। एकवार राजा सेनासे छूट गया। जंगलमें वह अकेला कापालिक लोगोंसे देवीके आगे बलि देनेके लिए पकड़ लिया गया। बलि देनेके समय उसका अङ्ग-भङ्ग देखकर उन लोगोंने उसकी बलि नहीं दी। तब राजाको मन्त्रीकी बात ठीक ज्ञात हुई। उसने मन्त्रीको फिरसे बुला लिया। राजाने मन्त्रीको कहा कि—तुम्हारा निकालना तो तुम्हारे हकमें ठीक सिद्ध न हुआ। पर उसने उत्तर दिया कि आप तो अङ्ग-भङ्ग होनेसे बलिदानसे बच गये; मैं आपके साथ ही होता; और पूर्णाङ्ग होने से बलि दे दिया जाता; अतः आप द्वारा मेरा निकालना मेरे लिए विघ्नस्वरूप भी ठीक ही हुआ'। यह विघ्नेश्वरके विघ्नोंका भी

लाभ हुआ।

यदि 'विघ्नेश्वर'के विघ्न न हों; तो पुरुष अशुभ व्यवहारोंसे निवृत्त कैसे हो ? उनमें विघ्न ही तो उनसे पुरुषको बचाते हैं। प्रतिबन्धस्वरूप विघ्न होनेसे ही हमें सुख तथा दुःख भी क्रमशः मिलते हैं। अप्रतिबन्धवश निरन्तर सुख मिले तो हम अभिमत्त होकर मर जाएँ; निरन्तर दुःख मिले; तो हम निराश होकर मर जाएँ। संसारकी गाड़ी एक सुव्यवस्थासे चले; उसमें प्रतिबन्धस्वरूप विघ्न न हो; तो गाड़ी किसी स्टेशन पर रुके ही नहीं, यात्री कैसे चढ़ें वा उतरें। वही बिना लाइनक्लियरके कहीं जा टकराये—बड़ी हानि करे।

राजा बलिके बढ़े हुए वैभवमें वामनावतारका याचनावृत्ति करके उसमें विघ्न डालना वैष्णववृत्ति थी, आर्यवृत्ति थी; वामन अनार्यदेव नहीं थे। हम लोग भी कई कार्य ऐसी शीघ्रतासे करने लग जाते हैं; जो हमारी प्राणहानि भी कर सकते हैं। यदि विघ्नेश्वर उसमें विघ्न न डालें; तो हम मर जाएँ। यदि विघ्नेश्वर न हों; और पापकर्मोंमें विघ्न न हों, तो पापकर्म कैसे रुकें ? हमारा मरण भी बड़ा विघ्न है; पर वह भी हमारा नया संस्करण करके हमारा नवजीवनदाता होता है।

अतः जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके देव त्रिमूर्ति की तरह विघ्न व्यापारके देवकी भी अवश्य आवश्यकता होती है। अद्वैतमें एक तत्त्व होने पर भी व्यवहारमें सब नाम-रूप भिन्न हैं; वही गणेश हैं। विघ्न होनेसे कई लाभ भी हो जाते हैं।

जिस कार्यके शीघ्र कर देनेसे हमें वह लाभ न होता, जो हमारे कार्यमें विघ्न पड़नेसे देरी हो गई; और वह देरी लाभका कारण सिद्ध हुई। अतः विघ्नकारक होनेसे भी विघ्नेश्वर गणेश 'अपदेव' कभी नहीं बन सकते, जैसा कि प्रतिपक्षी कहा करते हैं।

ईश्वर तभी हो सकता है; जब उसमें अनुग्रह के समान निग्रह-शक्ति भी हो। अतः विघ्नेश्वर विघ्नविनाशक भी हो सकते हैं। असत्कर्मोंमें विघ्न करनेपर वे शुभसंस्कारोत्पादक भी हुए। शुभ संस्कार विद्या एवं बुद्धिसे होता है; अतः विघ्नेश्वर विद्या एवं बुद्धि के अधिष्ठाता भी सिद्ध हुए। विद्या एवं बुद्धि वाक्से ही प्राप्त होती है; अतः विघ्नेश्वर वाक्पति भी हुए। वाक्पति होनेसे ही उन्हें वेद एवं गणेश आदि पुराणमें 'बृहस्पति' कहा जाता है, क्योंकि 'वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः, एतमु एव बृहस्पतिं मन्यते' (छान्दोग्य उ० १।२।११)। इसीलिए गणपतिको बृहस्पति भी कहा जाता है—'वाग् वै बृहती तस्या एष पतिः, तस्माद् बृहस्पतिः' (बृहदारण्यक १।३।२०) 'एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः, वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिः, तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः' (१।३।२१)। 'वागर्थाविव संपृक्तौ ...पार्वती-परमेश्वरौ' (रघुवंश १।१) बृहती वाक् पार्वतीरूपा है; अतः गणपति भी वागरूप होनेसे पार्वती-पुत्र हैं।

इस प्रकार जब विघ्नेश्वर विद्या एवं बुद्धिके अधिष्ठाता भी सिद्ध हुए; तो ऋद्धि, सिद्धि एवं निधिके दाता होने से निधिपति एवं प्रिय बातोंके अधिष्ठाता होनेसे 'प्रियपति' भी हुए। अच्छे कार्योंमें विघ्नोंके भी विघ्न करनेसे विघ्नविनाशक भी हुए।

इस कारण ही वे अभीप्सितार्थ-सिद्धिदायक होनेसे सुरासुर-पूजित भी हुए। तभी तो उनके लिए कहा जाता है—'अभीप्सितार्थसिद्ध्यर्थं पूजितो यः सुरासुरैः। सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः।

इन्द्रदेवता भी 'गणपति' हैं—यह पहले कहा जा चुका है; वे भी देवताओंके पति हैं। उनको भी मर्यादा-रक्षणार्थ कई तपस्वियोंकी तपस्या में, वा यज्ञकर्ताओंके यज्ञोंमें भी विघ्न डालना पड़ता है; अतः उन्हें शाप आदि भी प्राप्त हुए। इसी प्रकार समान-कार्यतावश विघ्नेशको भी गणपति होनेसे विघ्नकारकतावश प्रतिपक्षियोंसे 'अनार्योंके देवता' वा 'गणेश हैं ही नहीं' इत्यादि गालियाँ सुननी पड़ती हैं; पर जिस प्रकार इन्द्र अपदेव नहीं मान लिये जाते; वैसे विघ्नेश्वर गणपति भी 'अपदेव' नहीं हो सकते।

यदि कोई देव सौम्य नियमोंका सञ्चालक है; विघ्नादि कठोर नियमोंका नहीं; तब वह किसी गणका पति वा सर्वेश्वर भी नहीं हो सकता। गणेशजीमें विघ्न-सञ्चालनकी शक्ति होनेसे ही वे गणपति तथा सर्वेश्वर भी बने। 'अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते' इसीसे आक्षेप्ता श्रीसम्पूर्णानन्दजीको भी उनके आगे सिर झुकाना पड़ा।

जोकि—रुद्रकी भान्ति गणपतिको कहीं 'चोर गणपति' कहा जाता है; वहां 'सब विघ्नोंका चोर' यह भाव है। जैसेकि—'नारायणो नाम नरो नराणां, प्रसिद्ध चौरः कथितः पृथिव्याम्। अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि'। इस प्रकार श्रीकृष्णको 'चोर' कहा जाता है। गणेशजीको 'उच्छिष्ट-गणपति'

भी कहा जाता है। वहां वही भाव है जो अथर्ववेदसं० में 'उच्छिष्टसूक्त' (११।७) का है कि—'सर्वान्तेऽवशिष्टः'। उसी 'उच्छिष्ट' से सब वेदादिकी उत्पत्ति बताई गई है। सो गणपति ब्रह्म होनेसे - जैसाकि 'गणपति-उपनिषद्' में कहा है—वे 'उच्छिष्ट' भी हैं। जहां गणेशजीको 'पिचण्डिल' लिखा है, वहां भाव है कि—'लम्बोदर'। इससे गणपति अनार्य-देव नहीं हो सकते।

(२०) 'लम्बोदर' शब्द से डरकर गणपतिको अनार्यदेव बताना भी 'भारी भूल' होगी। जब गणपतिको परब्रह्म कहा गया है; तब उसमें 'लम्बोदर' का भाव यह है कि—'जगन्ति यस्यां सविकासमासत' अर्थात् सारा जगत् उनके पेट में समाया हुआ है; अतः उनका पेट बहुत बड़ा है। यही भाव इस शब्दमें ओत-प्रोत है। तब डरनेकी आवश्यकता नहीं।

(२१) 'गजमुख' से डर जाना भी ठीक नहीं। कदाचित् यह डर इसलिए हो कि—वे गजमुखसे बोल कैसे सके, और सिर कटने पर गजमुखका सन्धान कैसे हुआ, और उनकी मृत्यु क्यों न होगई'? यह सन्देह भी दूर हो सकते हैं; पर चाहिये श्रद्धा। ब्राह्मणभागात्मक वेदको उठा लीजिये; उस (शतपथ ब्रा०) में १४।१।१।१६,२०,२१,२२,२३,२४ यह स्थल देखना चाहिये। अथर्वा के लड़के दध्यङ्का अश्वियोंने सिर काटकर उसपर घोड़ेका सिर जोड़ दिया। उस दध्यङ्के घोड़ेके सिरसे यज्ञपूर्तिकी विद्या अश्वियोंने सीखी। सिर काटनेसे दध्यङ् मरे भी नहीं, घोड़ेके सिर का वैद्यों द्वारा सन्धानभी होगया, उससे बोलचाल वा विद्या भी

प्राप्त होगई। कहीं यह बात ब्राह्मणभागकी होनेसे प्रतिपक्षियोंको खटक न जाए; अतः उन्हें संहिताभी देख लेनी चाहिये—'आथर्वणाय अश्विनौ दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयताम्' (ऋ० सं० १।११७।२२) 'ध्र वं दधीचो मन आविवासथो अथा शिरः प्रति वाम् (अश्विनौ) अश्व्यं वदत्' (१।११६।६)

फलतः उक्त वैदिक कथाकी भान्ति गज-मुखका सन्धान तथा उससे भाषणशक्तिभी असम्भव नहीं। यह भी स्मर्तव्य है कि—देवता स्वभावसे अमृताशी होते हैं। इसीलिए अथर्ववेदसं० में कहा है—'देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्' (११।७।(५)।२३) 'यत्र देवा अमृतमानशानाः' (अथ० २।१।५)। 'येनामृतमपां मध्याद् उद्धृतं पूर्वजन्मनि। यतोऽमरत्वं संप्राप्ताः त्रिदिवाः त्रिदिवेश्वरात्' (सुश्रुत सं० उत्तरतन्त्र ३६।३) यह उपवेदका वचन है। स्वा० द० जीकी संस्कारविधि (पृ० ५८) में उद्धृत 'देवा आयुष्मन्तः, ते अमृतेन आयुष्मन्तः। (१।१६।६) इस पारस्करगृ०के वचनसे अमृताशी होनेपर सिर कटनेपर भी शरीर मृतक नहीं होता; इसपर राहुको नहीं भूलना चाहिये। इस प्रकार गणपतिके भी देव होनेसे अमृताशी होनेके कारण उनकी प्राणवायु भी निकल नहीं गई। वेदान्तदर्शन (१।३।३३) के शांकरभाष्यमें कहा हुआ 'ऋषीणामपि [एवं देवादीनामपि] सामर्थ्यं न अस्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्' यह वचन याद रख लेनेसे इस विषयमें कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रहता। तब गजके शिरके सन्धानसे यथापूर्व भाषण शक्ति होगई। जैसे जरासन्धकी दोनों सन्धियोंके जरा-राक्षसी द्वारा

जोड़नेपर उसकी अव्यक्त प्राण-वायु फिर व्यक्त होगई; वैसे गजके शिरके सन्धानसे भी अन्तर्हित प्राणवायु प्रकटरूपमें होगई।

यह प्रश्न तो व्यर्थ है कि—'हाथीका सिर बहुत बड़ा, वह छोटे पुरुषकी ग्रीवा पर कैसे समा सका ?' गणपतिको मनुष्य-शरीर समझना भूल है। गणपति मनुष्य नहीं, किन्तु देव हैं। देवताओंके शरीर मनुष्य-इतने नहीं होते, किन्तु बहुत बड़े होते हैं। चाहे आप चित्रोंमें गणेशको ह्रस्व आकारवाला देखें, वहां वास्तविकता नहीं होती। १३ लाख पृथिवी—इतना बड़ा सूर्यदेवता भी चित्रमें कितना छोटा होता है। हाथी भी वहांपर दिव्य समझना चाहिये; इस लोकका प्राणी नहीं। तब 'गजेन्द्रवदनं देवं' (भविष्य पुराण प्रतिसर्गपर्व द्वितीयभाग २०।१४०) 'मूषकस्थं महाकायं' (२०।१४१) इत्यादि वचनोंमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती।

तब क्या अश्वशिरकी आकृतिसे वैदिक ऋषि दध्यङ् को भी 'अनार्य ऋषि' मान लिया जाएगा ? नर-सिंहकी संकीर्ण आकृति वाले नृसिंहावतारको भी, मत्स्य, कूर्म, वराह तथा हयग्रीवकी आकृतिवाले विष्णुको भी 'अनार्यदेव' मान लिया जायगा ? तुरग-वदन किन्नरोंको भी क्या अनार्ययोनि मान लिया जायगा ? ऋ०शा०सं० (८।८५।७) के अनुसार रासभवाहनवाले अश्वियोंको, तथा कृष्ण-रंग वाले श्रीकृष्ण तथा श्रीजगन्नाथमूर्तिको भी अनार्यदेव मान लिया जायगा ? वस्तुतः गणनायकका गजमुख होना स्वाभाविक ही होता है—यह हम 'गणेशचतुर्थी' पर्वमें लिखेंगे।

अतः 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' के

अनुसार गणेशजीकी पूजा भी उनके ईश्वरत्वके कारण है, आकृति के कारण नहीं। बाहरसे नारियलकी भी आकृति कठोर और कुत्सित है, पर भीतर सुन्दर है। वेरकी बाहिरसे तो आकृति अच्छी है; पर भीतरसे कठोर है। इस आकृतिसे आर्यानार्यता नहीं हो जाती, जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं। 'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि ...नानावर्णाकृतीनि च' (गीता ११।५) इसमें भगवान्‌ने अपना नाना आकृतियोंवाला विराट् रूप दिखलाया था; उसमें 'गजानन' मूर्ति भी है।

(२२) ३३ देवताओंमें 'गणेश' के न आनेसे भी गणेशजी अवैदिक नहीं होजाते। नहीं तो उनमें सरस्वती, ब्रह्मणस्पति आदि देवताओंके भी न होनेसे वे भी अवैदिक देवता होजाएँ; पर यह बात वादियोंको भी अनिष्ट है। गणेशजीका जब सर्वत्र प्रचार है; तब स्पष्ट है कि—भूमण्डलभरमें फैले हुए आर्योंके मान्य वेदादि शास्त्रोंकी ही यह देन है। 'गजानन' शब्द भी चारों वेदोंके अन्तिम अक्षरोंको संकेतित करता है—'ऋग्' से 'ग', 'यजुः' से 'जा', 'सामन्'से 'न', और 'अथर्वन्'से 'न'। तब यह वेदसे प्रकट हुआ 'गजानन' देव अवैदिक वा अनार्य कैसे होसकता है ? हां, अनार्यों ने हमसे सीखकर उसे कुछ विकृतरूपमें कर दिया हो; तो आश्चर्य नहीं। प्रतिपक्षियोंके एतद्विषयक अनुमान प्रायः बेसिर-पैरके एवं निर्मूल हैं।

'विघ्नराज ! क्षमस्व' यह गणपतिपूजाके अन्तमें कहना 'आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्। 'पूजां चैव न जानामि

क्षमस्व परमेश्वर !' की भान्ति पहले आवाहन करके फिर विसर्जनार्थ है, गणेशकी अनावश्यकतार्थ नहीं। यदि प्रतिपक्षिगण अंग्रेजी दृष्टिकोण छोड़ दें; और पौरस्त्य श्रद्धा ले लें; तो 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः १६।३०) उन्हें सत्य मिल जायगा। फिर वे भ्रममें न पड़ सकेंगे।

(२३) सर्वत्र मङ्गलाचरणमें गणेशको न देखकर गणेशपूजन अर्वाचीन वा अवैदिक नहीं होजाता। स्वस्तिवाचनको प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि—वह वैदिक है। 'स्वस्ति न इन्द्रो' यह स्वस्तिवाचन का आदिम मन्त्र है; इसीसे स्वस्तिकरूपमें गणेशजीकी उत्पत्ति हुई—यह हम पूर्व बता चुके हैं। सो जहां स्वस्तिवाचन हो रहा हो; वहां समझना चाहिये कि—वह गुप्त वा संक्षिप्त गणेश-पूजा होरही है।

दूसरी गणेशकी मूर्ति है 'ॐ'। 'ओम्' जो वर्णसमुदाय है, उसमें सामने हल् प्रत्याहार न होनेपर वा अच् पड़े होनेपर 'म्' को अनुस्वार नहीं हो सकता। और किसी समयमें उसकी आकृति भिन्न भी हो सकती है। पर 'ॐ' वस्तुतः गणेशजीकी मूर्ति है। आरम्भिक हिस्सा गजका शुण्डादण्ड है, ऊपरका अनुनासिक बालचन्द्र है। दाहिनेमें गोलाकार मोदक है। किन्हींके मतानुसार प्लुतचिह्न '३' मूषक है। इसे हम पूर्व संकेतित कर चुके हैं; कुछ अन्तमें सम्भवतः 'ॐकारका महत्त्व' निबन्धमें लिखेंगे। सो जो लोग सामने कुछ न होनेपर वा सामने अच् होनेपर अनुस्वारवाला 'ओं' वा 'ॐ' लिखते हैं; यदि वर्णसमुदाय 'ओम्' उन्हें इष्ट है; तो वे व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्धि करते हैं; क्योंकि जब तक सामने हल्

प्रत्याहार न हो; तब तक अनुस्वार नहीं हो सकता; 'ॐ' इस प्रकार अनुनासिक तो हो ही नहीं सकता। 'ॐ' इस आकृति में तो 'ओ' की मात्रा भी नहीं; अतः स्पष्ट है कि यह 'ॐ' 'ओम्' नहीं; किन्तु गजानन-गणेशकी प्रणवाकार संक्षिप्त मूर्ति है, जैसाकि 'गणेश-तापिनी उपनिषद्में संकेतित किया है—'ततश्च ॐ इति ध्वनिरभूत्, स वै गजाकारः'। 'ॐकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठितः' (गणेशपुराण)। अतः 'ॐ' वा 'ओं' लिखनेवाले महाशय गुप्तरूपसे गजानन-गणेशका मङ्गलाचरण वा उसकी मूर्तिपूजा कर रहे हैं; क्योंकि मूर्तिपूजा भी वैदिककालसे ही आ रही है। यह हम 'श्रीसनातनधर्मालोक'के चतुर्थ पुष्पमें स्पष्ट कर चुके हैं। गणपति-अथर्वशीर्षमें भी लिखा है—'अनेन गणपतिमभिषिञ्चति, स वाग्मी भवति' यहांपर गणपतिकी मूर्तिपर अभिषेक करनेका उल्लेख है।

इसपर 'वैदिकधर्म'के सम्पादक 'श्रीपाददामोदर सातवलेकर' महाशय 'पुरुषार्थ'के गणेशाङ्कके दूसरे भागके पृष्ठ ७ पर लिखते हैं—'गणपति—अथर्वशीर्षका काल। इसमें गणपतिकी मूर्तिपर अभिषेक करनेका उल्लेख है, अर्थात् मूर्तिपूजा शुरू होनेपर यह (अथर्वशीर्ष) बना है—ऐसा कह सकते हैं, किन्तु कई वर्ष पूर्व तक 'वैदिककालमें मूर्तिपूजा नहीं थी, वह बादमें शुरू हुई, ऐसा कई विद्वानोंका रूढ ज्ञान था; परन्तु जैसा-जैसा वेदोंका अनुसन्धान विशेष होने लगा; वैसा-वैसा उपरोक्त विद्वानोंके ज्ञानमें अन्तर पड़ने लगा है। अब अनेक यूरोपियनोंको भी ऐसा जँच रहा है कि—ऋग्वेदकालमें भी मूर्ति बनाकर, उस मूर्तिकी रथमें सवारी निकालनेकी और पुष्पों एवं वस्त्रालङ्कारोंसे उस मूर्तिकी

तथा रथकी पूजा करनेकी प्रथा थी। 'इन्द्रकी मूर्ति इतना मूल्य लेकर दूंगा और इतना मूल्य मिला; तो भी नहीं दूंगा' ऐसे मन्त्र मिल जाने से इन्द्रादि देवोंकी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं, यह मत बहुधा सर्व विद्वानों को मान्य होने लगा है। तदनुसार वेदमें सर्व देवोंके वर्णन हैं, वे देवता विग्रहवान् होने जैसे ही हैं। उन वर्णनोंकी उपपत्ति उनकी मूर्तियाँ माने बिना नहीं लगती। ऐसे अनेक कारणोंसे 'वैदिक-कालमें मूर्तिपूजा नहीं थी' यह मत अब उतना मान्य नहीं रहा। इसलिए गणपति पर अभिषेक करनेका उल्लेख होनेसे 'यह अथर्वशीर्ष अर्वाचीन है' ऐसा नहीं कह सकते।"

फलतः 'ॐ' यह गणेशजीकी प्रणवाकार मूर्ति है। तदनुसार हमने भी वैदिक मङ्गलाचरणमें सबसे पूर्व श्रीगणेशजीकी संक्षिप्त मूर्ति 'ॐ' देकर श्रीगणेशजीका मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदोंके मन्त्रोंसे मङ्गलाचरण किया है। इस निबन्धमें श्रीपं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी तथा श्रीकृष्णजीके निबन्धसे भी कई निर्देश प्राप्त किये गये हैं। गणेशजीके १२ पौराणिक एवं वैदिक नामों का रहस्य हम 'गणेश-चतुर्थी' पर्व में कहेंगे।

हिन्दुधर्म का आचार होनेसे हमने श्रीगणेशजीका मङ्गलाचरण किया। उस पर जो प्रतिपक्षियोंने उनकी अवैदिकता फैला रखी है, उसका समाधान कर दिया। 'गणानां त्वा' इस यजुर्वेदसं० (२३।१६) के गणपतिके मन्त्रके महीधरभाष्य-प्रोक्त अर्थसे आज की जनतामें बहुत-बड़ा भ्रम फैला हुआ है, यहाँपर स्थान न होनेसे हम उसका विशदीकरण सम्भवतः 'गणेशचतुर्थी'में करेंगे। अब पहले हिन्दुधर्मके प्रसिद्ध आचारोंका निरूपण तथा उनका वैज्ञानिक रहस्य विवृत किया जावेगा, फिर हिन्दु-पर्वोंका निरूपण होगा।

हिन्दुधर्मके प्रसिद्ध आचार

(३) शिखा की वैज्ञानिक-रहस्यपूर्णता ।

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत्कृतम्' ॥

(कात्यायन स्मृति १।४)

श्रीगणेशके मङ्गलाचरण तथा उनका वैदिक देव होना वेदादि से सिद्ध करके हम हिन्दुधर्मके प्रसिद्ध आचार 'शिखा' पर पहले लिखना उचित समझते हैं, क्योंकि—हिन्दुजातिका बाह्य मुख्य चिह्न शिखा है। आजकलके हिन्दु नवयुवक शिखाके रखनेसे बहुत घबराते हैं, और उसके रखनेके वैज्ञानिक प्रयोजन पूछा करते हैं।

लार्ड मैकालेके अनुयायी।

(१) सन् १८३५ में लार्ड मैकाले हिन्दुस्थानमें अंग्रेजी शिक्षाकी योजना बना रहे थे। उस समय उनके ये शब्द थे—

"हमें अपनी सब शक्ति लगाकर अवश्य ही ऐसा उद्योग करना चाहिये— जिससे इस देशमें एक ऐसी जनश्रेणी पैदा होजाय, जो हमारे और उन करोड़ों व्यक्तियोंके बीच मध्यस्थका काम करे, जिनपर हम शासन कर रहे हैं। अंग्रेजी शिक्षा-द्वारा एक ऐसा मनुष्यदल तैयार होगा, जो हाड़, मांस और लहूमें भले ही हिन्दुस्तानी रहे, किन्तु आचार-विचार, खान-पान, रुचियों, रहन-सहन तथा दिल-दिमाग और बुद्धिमें बिल्कुल अंग्रेज होगा'।

(Quoted in C.H. I, Vol VI P, 111)

यह सोचकर लार्डने भारतवर्षमें अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ की। उसका फल उसने अपने पिताको लिखा था कि—वह शिक्षापद्धति जिसका आरम्भ भारतीयोंको दोगले-अंग्रेज बनानेके लिए किया गया था, कितनी सफल होरही है। लार्डने लिखा—'जो भी हिन्दु अंग्रेजी-शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्ममें सच्ची श्रद्धा खो बैठता है। कुछ लोग केवल दिखावेकेलिए उसे मानते हैं, अधिकतर एकेश्वरवादी और कुछ ईसाई होजाते हैं। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि—यदि हमारी शिक्षाकी योजनाका पूरी तरह अनुसरण किया गया; तो अबसे तीस वर्ष बाद हिन्दुस्तानमें अच्छे-अच्छे घरानोंमें एक भी हिन्दु मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।'

'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (प्रथम भाग) पृष्ठ ६३ में आर्यसमाजके अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजी ने लिखा है—'लार्ड वेण्टिङ्क उन दिनों भारतका गवर्नर जनरल था। उसने मैकालेके प्रस्तावके साथ पूर्ण सहानुभूति प्रकट की। अन्ततः मैकालेकी नीतिके अनुसार भारतमें शिक्षाका प्रकार चलने लगा। अंग्रेज और जर्मन अध्यापक और महोपाध्याय भारतमें आने लगे। उन्हींकी बताई विद्या वास्तविक विद्या मानी जाने लगी। जो कोई सज्जन, भारतीय ढंगकी बात करता था; उसे तर्क-विरुद्ध, विद्या-विरुद्ध, इतिहास-विरुद्ध, बुद्धिविरुद्ध, प्रमाण-शून्य कहानी, अथवा मिथ्या कथा कहा जाने लगा। ये शब्द विदेशीय लेखकों और अध्यापकोंने अधिकाधिक प्रयुक्त किये।...इसमें सन्देह नहीं—मैकालेने भारतीयताको नष्ट करनेकी ज़ो कूट-नीति बर्ती थी; वह प्रभावशालिनी सिद्ध हुई।

आज भारतमें अंग्रेजीशिक्षा-प्राप्त लोगोंकी एक श्रेणी है, जो विचार और रुचि आदिमें आमूलचूल अंग्रेज है। उस श्रेणीमें भारतके अनेक गण्यमान्य नेताओंकी गणना हो सकती है।'

इसी पाश्चात्य शिक्षामें दीक्षित लोग यूरोपकी सभ्यताके दास बन चुके हैं। इन्हें सिर पर चोटी रखनेसे लज्जा आती है। गलेमें यज्ञोपवीत पहननेसे भार दीखता है। देवदर्शनार्थ देवमन्दिरमें जाना इनके मतमें मूर्खताकी पराकाष्ठा है। चन्दन आदि अन्य हिन्दुचिह्न रखते घबराते हैं। नाम भी अपने जे. पी. चौधरी आदि अंग्रेजी शैलीके रखते हैं। शिखा-यज्ञोपवीत आदि धार्मिक चिह्नोंके लिए जो श्रद्धा एक गँवार भारतीयमें है; वह बी० ए० ग्रेजुएट में नहीं।

यह लोग पवित्र संस्कृत भाषाको मृतभाषा (Dead-Language) कहते हैं। अपने आपको इस देशके आदिम निवासी न मानकर वैदेशिक मानते हैं। भारतीय होते हुए भी भारतसे उनका प्रेम नहीं रहा। इस सारे अनर्थका मूल पाश्चात्य शिक्षा है। जिस कामको औरङ्गजेबकी तलवारकी धार न कर पाई, वही इस पाश्चात्य शिक्षासे अनायास होरहा है। लोगोंका अपने धर्मसे विश्वास, अपनी भाषा एवं प्राचीन वेष-भूषामें आस्था दिनों-दिन घटती जा रही है। अंग्रेज चले गये पर अंग्रेजियत सुव्यवस्थित है। इसीलिए आज शिखा तथा यज्ञोपवीत आदिके प्रयोजनोंको पूछनेकेलिए तरह-तरहके प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी जाती है। उस जिज्ञासाकी पूर्त्यर्थ हमारी यह पुस्तक है। इसमें हम प्राचीन-

अर्वाचीन सब प्रकारके विचारोंका सङ्कलन करेंगे।

(२) हमारे प्राचीन लोग पहले समयमें धार्मिक चिह्नोंके प्रयोजनोंको न बताकर उनका अवलम्बन 'धर्म' कह दिया करते थे। उनका आशय यह था कि-प्रयोजन बता देने पर नवीनता-प्रिय लोगोंके दृष्टिकोणमें उस नियममें कोई नवीनता नहीं रह जाती। उन लाभोंको मानकर भी उन नियमोंके अवलम्बनमें उपेक्षा हो जाया करती है। इसका उदाहरण भी देख लीजिये। धार्मिक नियम यह था कि-रजस्वला स्त्रीका स्पर्श नहीं करना चाहिये। धार्मिक दृष्टि स्थापित करनेवालोंने इस नियमका यथावत् पालन किया; परन्तु नवशिक्षितोंने जब इस अस्पृश्यताके प्रयोजन पूछे और उनको उन्हें बतलाया गया; तब वे कहने लगे ये तो ठीक हैं, परन्तु हम उस स्त्रीका स्पर्श क्यों न करें? उसके द्वारा रोटी क्यों न पकवावें? हम उसका अन्य उपयोग न लेंगे; परन्तु यह बात भी कुछ समय चली। फिर उसका विपरीत उपयोग होने लगा। फिर यथापूर्व उपयोग करके हानियोंका विचार हटा दिया गया।

इस प्रकार सनातनधर्मानुसार हिन्दुजातिके सिर पर शिखा रखना वास्तवमें अदृष्टमूलक ही है, उसमें दृष्ट प्रयोजनोंकी आवश्यकता सर्वथा नहीं; पर आजकलके अविश्वासी लोग बिना प्रयोजन जाने शिखा रखना छोड़कर सनातनधर्मको हानि पहुँचानेवाले न सिद्ध होजावें, यह विचारकर उनकी जिज्ञासापूर्त्यर्थ यथाशक्ति प्रयत्न किया जाता है।

शिखा बाह्य चिह्न

(३) शिखा हिन्दुजातिका उपयोगी बाह्यचिह्न है। यद्यपि 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' (मनु० ६।६६) चिह्न धर्मका कारण नहीं होता; तथापि यदि चिह्नमात्र भी न हो, तब लोकलज्जा आदिके न होनेसे पुरुष सर्वथा कर्तव्यहीन हो जावे। इस चिह्नके होनेसेही हिन्दुओंमें आज भी सन्ध्यातर्पण आदि कर्म सुरक्षित हैं। इस कारण उक्तवचन पर कुल्लूकभट्टने कहा है—'एतच्च धर्मप्राधान्य-बोधनाय उक्तम्, न तु लिङ्ग-परित्यागार्थम्' अर्थात् धर्मको प्रधानता देनेके लिये उक्त वचन है; धार्मिक चिह्नको छोड़ देनेके लिए यह नहीं। आजकल हिन्दु लोग अपने चिह्न भी छोड़ रहे हैं, साथ ही धर्म भी छोड़ रहे हैं। कैसे जाना जाय कि ये हिन्दु हैं? मस्तकसे तिलक मिटा दिया गया है, यज्ञोपवीत हटा दिया जा रहा है, धोतीसे लांग हटाई जा रही है; अब शेष बचा हुआ शिखा (चोटी)का चिह्न भी हटाया जा रहा है। शोक !!! क्या दशा होगी हिन्दुजातिकी? यह हिन्दु है या मुसलमान—यह कैसे जाना जाय?

(४) मुसलमान अपने चिह्नोंको नहीं छोड़ते; पर ये हिन्दु सुधारक तो अपने चिह्नोंको छोड़कर मुसलमान-जैसे बन बैठते हैं। तब तो हिन्दु-मुसलमान-भेद बतलानेके लिए अश्लीलताका अनुसरण करना पड़ेगा, जैसेकि एक ग्रामीण हिन्दुने किया था। एक ग्रामीण (गाँवका) हिन्दु हिन्दु-प्याऊमें जल पीनेके लिए पहुँचा। किसी हिन्दु-चिह्नके न होनेसे जल पिलानेवालेने पूछा कि—तू कौन है? हिन्दु है वा मुसलमान? (क्योंकि मुसलमान आदिको सीधा जल

न देकर नली द्वारा दिया जाता था) उसने उत्तर दिया कि—हिन्दु। तब जल पिलाने वालेने कहा कि–कैसे जाना जाय कि तुम हिन्दु हो? तुम्हारा हिन्दुत्व-चिह्न कोई भी तो नहीं दीख रहा!

उस निर्लज्जने अपनी इन्द्रियको निकालकर दिखला दिया कि–देखो—यही हिन्दुत्वका चिह्न है। जल पिलाने वालेने जब उसकी ढिठाई पर बहुत डांटा; तब वह गाँवका हिन्दु कहने लगा कि—आजकल इन्द्रिय ही हिन्दुत्वका चिह्न है। हिन्दुओंने चोटी कटवा डाली, जनेऊको सदाके लिए धोवीको दे दिया, तिलक मिटा दिया, लांगको खोल दिया, हिन्दु-वेषको बिदा कर दिया। अब वे चिह्न तो गये। इस अंशमें तो हिन्दु-मुसलमान बराबर होगये। अब भेद रह गया है केवल इन्द्रिय में; 'सुन्नत'से रहित इन्द्रिय वाला हिन्दु, और 'सुन्नत'-सहित इन्द्रिय वाला मुसलमान—यह भेद है। आजकल नान-मुसलिम ही हिन्दु है। इसीलिए मैंने अपना हिन्दुत्व का चिह्न अपनी इन्द्रिय दिखलाई है। तुम गुस्सा क्यों करते हो?

उस समय वहाँ दूसरे हिन्दु भी इकट्ठे होगये थे। उस गाँव वालेकी ढिठाई होनेपर भी सबने उसकी बात सच्ची मानी; और समझदारोंने आजकलकी हिन्दुजातिपर खेद प्रकट किया। इस प्रकार सन् १९४५की होलीमें एक नगरमें होलीके अवसर पर एक पुरुषने रंग डालने वालोंको कहा कि—'मैं मुसलमान हूँ, खबरदार! मुझ पर रंग न पड़े'। उस पुरुषका चोटी-जनेऊ नहीं था–यह उसने दिखला भी दिया। वह पुरुष पतलूनधारी था। पर होलीमें मस्त लोगोंने उसकी पतलून खोल ली। उसका मुसलमानी चिह्न

'सुन्नत' न देखकर उन लोगोंने उसे रंगसे सराबोर कर दिया। उसके असत्य-भाषणके दण्डस्वरूप उन्होंने उसे पतलून नहीं दी। तब वह कोटसे अपनी लज्जा ढककर वहांसे भागा। वस्तुतः इन चिह्नोंको दूर करानेवाले पाश्चात्य-शिक्षासे दीक्षित, लार्ड मैकालेके शिष्य सुधारक लोग ही हैं; जिन्होंने पाश्चात्य-शिक्षा पाकर हिन्दु-जातीय चिह्नोंसे घृणा कर ली।

परन्तु लार्ड मैकालेकी दूरदर्शिता उसके अपने विचारसे भी बढ़ गई। अब तो यह हिन्दु जनश्रेणी अपने चिह्नोंको छोड़ती हुई रूप-रंगमें भी 'भारतीय' नहीं दीखती। अंग्रेज-मुस्लिम रमणियोंको स्वीकार करती हुई रुधिरसे भी वैदेशिक हो रही हुई दीख रही है। अंग्रेजोंके चले जाने पर भी अंग्रेजियत नहीं गई। खेद !!! इन्हीं लार्ड मैकालेके मानसिक शिष्योंको अपने शिखा आदि चिह्न छोड़ता हुआ देखकर अन्य लोगोंने भी उनका अनुसरण किया। आज भी पूरा-पूरा तो उनका प्रभाव नहीं हुआ; अतः चोटी सर्वथा तो नहीं हटी; आज भी बहुतसे शिखा-सूत्रधारी हैं ही। थोड़े लोगोंने शिखा छोड़ी है; उससे उनकी कहीं-कहीं हानि भी दिखाई पड़ जाती है। बम्बईमें हिन्दु-मुसलमानोंकी लड़ाईमें अनेक हिन्दु हिन्दुओंके द्वारा ही मार दिये गये जो चोटी न होनेसे हिन्दुओंसे मुसलमान समझ लिये गये थे।

(५) परन्तु कई लोग यह कहते हैं कि—'शिखाके न होनेसे हम साम्प्रदायिक कलहोंमें मुसलमानोंके समूहमें निश्चिन्त होकर विचरेंगे; और उनसे हानि न प्राप्त करेंगे।' पर इस प्रकारके

पुरुष दूरसे ही प्रणाम-योग्य हैं। बहुत खेदकी बात है कि—इसी शिखाके बचावकेलिए महाराणा प्रतापने तथा महाराष्ट्र-राष्ट्रपति शिवाजीने, इस प्रकार दूसरे राजपूतोंने प्राणोंको दाँव पर लगा दिया था, गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने और बालक हकीकतरायने अपने प्राणोंकी आहुति देनेमें भी देरी नहीं लगाई; उसी शिखाको यह लोग बिना ही किसी अत्याचारके स्वयं ही काट रहे हैं !

ऐ अंग्रेजी राज्य ! हम तेरी मुक्तकंठसे प्रशंसा करेंगे। यदि आज मुसलमान सम्राट् औरङ्गजेब होता, तो वह हिन्दुओंकी शिखाके काटनेकेलिए किये गये अपने अत्याचारोंकी स्वयं ही निन्दा करता और कहता कि—मैंने अत्याचार करने पर भी हिन्दुओंकी शिखा कटवानेमें सफलता प्राप्त नहीं की; और तू (अंग्रेजी-राज्य) ने बिना ही अत्याचार एवं बिना ही उसके रुकवानेके प्रचारके, हिन्दुओंसे चोटी छुड़वा दी, बल्कि भारत-वर्षसे तेरे निकल जानेपर भी हिन्दु तथा उनके नेता भी आज भी उस चोटीका सिरपर रखना हास्यास्पद एवं 'जंगलीपन' समझते हैं। तभी तो 'टुडे स्मृति' में अपटूडेट 'फैशनाचार्य'ने कहा है—'न शिखां धारयेत् प्राज्ञः टेनिसे हास्यकारिणीम्'।

आजकलके शिखाकी उपेक्षा करनेवाले जानते हैं कि—इसी शिखाके ही कारण हिन्दु जाति आज भी जीती है, धार्मिक परतन्त्रताको प्राप्त किये हुए भी सांस ले रही है। शिखा-विहीन जातियाँ क्रमसे नाम भी विलुप्त करवा बैठी, और करवा लेंगी। यदि आप अपनी शिखा कटवाते हैं; तो शिखा कटवाने वाली अन्य

जातियोंकी तरह आप भी कट जावेंगे। 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः' (मनु० ८।१५)। इस शिखाके महत्त्वको आप कभी न भुलावें। जो लोग फैशनके दास बनकर या उन जैसोंसे ठगे जाकर शिखाको काट देते हैं, वे अवश्य भारी भूल करते हैं; पीछे उन्हें पछताना पड़ेगा। शिखाके ही एकछत्र राज्यकी छायामें समस्त हिन्दुजातिकी एकता हो सकती है।

शिखा सर्वव्यापक।

(६) वैसे तो शिखासे कोई किसी भी रूपमें छूटा हुआ नहीं है। मुसलमान लोग अपनी तुर्की टोपीपर काले धागे की बनाई चोटी को प्रकारान्तरसे रखते ही हैं। यूरोपियन फौजियोंके टोपी के ऊपर भी रुपहरी वा पीतलकी चमकदार शिखा हुआ ही करती है। इस प्रकार हैट पर भी शिखासदृशता दीखती है। राजाओं वा सेनानायकों के सिरों पर सुन्दर पक्षियोंके पंखकी बनाई 'कलगी' शिखाका ही तो दूसरा प्रकार है। थानेदार आदियोंके पटके पर रुपहरा वा सुनहरा गुच्छा शिखा ही तो है। किन्हीं के पटके (साफे) पर दीख रहा हुआ तुर्रा अथवा पटकेके बीचमें पड़ा पठानी कुल्ला ऊँची शिखाका ही तो बोध कराते हैं। किन्हीं की शिखा तो स्वराज्यान्दोलनसे आन्दोलित होकर साफेकी जेल में बन्द होना न सहती हुई-सी, माथेके अग्रिम केशोंके रूपमें परिणत हो जाती है। परन्तु वैध शिखा न होनेसे वैसे लोग उससे होने वाले लाभोंको प्राप्त नहीं कर सकते। आजकलके अंग्रेजी बाल भी जिसमें पिछले बाल कान तक काटे जाते हैं,

शेष सब रखे जाते हैं—शिखाका ही तो प्रकार है। दाक्षिणात्य लोग इससे उल्टी शिखा रखते हैं, सिरके अग्रिम बालोंको काट देते हैं; शेष सब बालोंकी उनकी चोटी होती है।

न केवल मनुष्योंमें ही, अपितु पक्षियोंमें भी शिखा दीखती है। मोर 'शिखी' नामसे और कुक्कुट (मुर्गा) 'ताम्रचूड' नामसे प्रसिद्ध हैं ही। काष्ठकूट पक्षीकी शिखा कैसी सुन्दर होती है। राज-सर्पोंके सिरपर भी प्रकृतिसे दी हुई शिखा सुनी जाती है। पशुओंके सिर पर उभरे हुए सींग उनकी शिखाका बोध कराते हैं। शिखाके कारण ही ये पशु-पक्षी सौन्दर्य एवं कई प्रकारके गुणोंको धारण करते हैं। अग्निदेवता भी शिखा धारण करनेसे 'शिखी' कहलाते हैं, जिनका उपासक सारा संसार है। इस विषय में आगे स्पष्टता की जायगी।

इस प्रकार वृक्षोंमें प्रत्येक फलके, प्रत्येक शाखा एवं पुष्पके सिर पर भी शिखा दीखती है। शिखरी (पहाड़)का शिखर भी शिखा होनेसे ही होता है। 'शिखाया ह्रस्वश्च' (५।२।१०७) इस पाणिनिसूत्रसे शिखा शब्दको ह्रस्व और 'र' प्रत्यय करने पर 'शिखर' बनता है, जिसका अर्थ है 'शिखा वाला'। शिखा सबसे ऊँची होती है, यह उसकी श्रेष्ठताका प्रमाण है। 'चोटीके विद्वान्' यह हिन्दीमें 'मुहावरा' रूपसे प्रयुक्त वाक्य भी शिखाको मुख्य बता रहा है। इस तरह स्थावर जङ्गमात्मक जगत्में जहाँ-तहाँ शिखाका साम्राज्य जिस-किसी रूपसे दीखता ही है। परन्तु हिन्दु लोग नियमपूर्वक शिखाको रखते हैं और उसे धार्मिक चिह्न मानते हैं

और उससे लाभ उठाते हैं। अन्य जातियाँ नियमपूर्वक शिखाको नहीं रखतीं, या अनियमित स्थान पर रखती हैं, इसलिए विशिष्ट लाभको प्राप्त नहीं करतीं। परन्तु हिन्दु-जातिकी शिखा धार्मिक चिह्नके साथ ही साथ जातीय संघटन एवं एकता प्रदर्शित करती हुई विशेष लाभ भी पहुँचाती है।

संस्कार-महिमा

(७) संस्कारका लाभ जगत्प्रसिद्ध है। जब सुवर्ण खानसे निकलता है, तो मलिन होता है। खानसे निकले हुए सोनेका जब तक संस्कार न किया जावे; तब तक सुवर्ण सु-वर्ण (अच्छे रंगका) नहीं होता। तब वर्तमान संस्कृत अवस्थाके समान उसकी दीप्ति आकृति एवं मूल्य नहीं होते। इसीलिए ही सुवर्णका संस्कार करके उसे सु-वर्ण किया जाता है। संस्कारके बिना कृत्रिम और अकृत्रिम सोनेका परीक्षण भी नहीं हो सकता। संस्कार-द्वारा ही सभी पदार्थ व्यवहारोपयोगी होते हैं। किसी भी वस्तुमें दोषनिराकरणपूर्वक गुणोंका उत्पन्न करना ही उसका संस्कार कहा जाता है। जब तक किसी भी वस्तुका संस्कार नहीं होता; तब तक वह सदोष और गुणहीन रहती है। संस्कार होने पर ही उसके दोष दूर होकर गुणोंका आविर्भाव होजाता है। हीरेको जब तक शानमें नहीं खरादा जाता; तब तक हीरेका न तो मट्टीका आवरण दूर होता है न ही उसमें चमक आती है। इस प्रकार शाणसंस्कारके बिना तलवार की न धार तेज होती है, न ही उसमें काटनेकी शक्ति आती है। जब ये वस्तुएँ शानपर चढ़ाई जाती हैं, और इनका संस्कार

किया जाता है; तभी उनके उक्त दोष दूर होकर उक्त गुण प्रकट होते हैं। जड वस्तुकी तरह घोड़ा आदि चेतन पदार्थोंके भी दोष दूर करने और गुणोंके उत्पन्न करनेकेलिए संस्कार अपेक्षित होता है।

फलतः सांसारिक सब पदार्थोंको यदि उपयोगी करना इष्ट हो तो उस समय संस्कारकी अपेक्षा होती है। इस प्रकारकी कोई वस्तु जगत्‌में नहीं मिलती; जिसका कार्योपयोगकेलिए संस्कार न किया जाता हो। इस प्रकार संस्कारसे ही मनुष्यका भी दृष्ट-अदृष्ट मल धुलता है। संस्कारसे ही मनुष्यके स्वरूपका यथार्थ प्रकाश होता है। संस्कारसे ही मनुष्यता आती है। संस्कारों से ही मनुष्यके पाप दूर होते हैं। 'मनुस्मृति' में कहा है—'गार्भै-र्होमैर्जातकर्म-चौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानाम-पमृज्यते' (२।२७) 'वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीर-संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च (२।२६) यहां पर चूडा-कर्म आदि संस्कारोंसे बीज वा गर्भ-सम्बन्धी पापका दूर होना तथा शरीरका पवित्र होना कहा है। यह संस्कारकी महिमा है।

शिखा में प्रमाण

(८) शास्त्रोंमें संस्कार सोलह कहे गये हैं। इस विषयमें 'षोडश-संस्काररहस्य' आगे देखिये। उनमें आठवां संस्कार "चूडाकर्म" है। इस संस्कारमें बालकका सिर भद्र कर अर्थात् उसके गर्भसे आये बालोंका मुण्डन करके चूडा (शिखा) रखनी पड़ती है। यह संस्कार भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह संस्कार

हिन्दुत्वका प्रथम सोपान है। श्री मनुने कहा है—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्' (२-३५) यहां पर 'श्रुतिचोदना'से चूडाकरण-शिखास्थापन कहा है। श्रुति मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदको कहते हैं। इस विषयमें अन्य पुष्पमें कहा जायगा। कुछ चतुर्थ पुष्पमें देखिये। उसमें मन्त्रभागका लिङ्ग हैं—'यत्र वाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' (यजुर्वेद वा० सं० १७।४८) यहां 'विशिखाः' का अर्थ है—'विशिष्टा-दीर्घा, गोखुर-परिमाणा, शिखा-चूडा येषां तादृशाः कुमारा इव'। इस मन्त्रमें 'शिखा' का मूल दीख रहा है।

अब इस विषयमें दूसरा मन्त्र भी द्रष्टव्य है—'आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम, मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम। केशा न शीर्षन् यशसे, श्रियै शिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि' (यजुः १९।९२) यहां पर श्री-प्राप्त्यर्थ शिखाका धारण कहा है, और शिखाके बालोंको सिंहके लोमके स्थानापन्न कहा है। अब शिखाके विषयमें ब्राह्मण-भागका प्रमाण देखिये—'अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोनपिहितो यन्मुण्डः, तस्य एतद् अपिधानं यत् शिखा—इति' (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१०।८) यहां शिखारहितको रिक्त—श्री-हीन दिखाया गया है। तब शिखाका स्थापन आयु, बल, तेज तथा वृद्धिका सहायक सिद्ध हुआ।

इस प्रकार अन्य शास्त्रोंने भी शिखाकी आवश्यकता तथा शिखा-छेदनमें प्रायश्चित्तार्हता कही है। जैसे कि—'कात्यायन-स्मृति'में कहा है—'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।

विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्' (११४) यहाँ पर शिखाहीनके कृत्यको अकृत्य बतलाया है। 'लघुहारीतस्मृति'में कहा है—'शिखां छिन्दन्ति ये केचिद् वैराग्याद् वैरतोपि वा। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः (१८) मोहाच्छिन्दन्ति ये केचिद् द्विजातीनां शिखां नराः। चरेयुस्ते दुरात्मानः प्राजापत्यं विशुद्धये, (१६) इस प्रकार 'स्त्री-शूद्रौ तु शिखां छित्त्वा क्रोधाद् वैराग्यतोपि वा। प्राजापत्यं प्रकुर्यातां निष्कृतिर्नान्यथा भवेत्' (लघुहारीतस्मृति २०) 'खल्वाटत्वादिदोषेण विशिखश्चेन्नरो भवेत्। कौशीं तदा धारयीत ब्रह्म-ग्रन्थियुतां शिखाम्' (संस्कार-भास्कर) इन प्रमाणोंसे शिखाका रखना आवश्यक सिद्ध होता है। न होने पर कुशाकी शिखा रखना कहा गया है। अन्य शास्त्रोंमें भी शिखाका वर्णन आता है। इस प्रकार शिखा न केवल हिन्दुत्वका चिह्न है, बल्कि कर्मका अङ्ग भी है। शिखाके बिना मनुष्य वैदिक कर्ममें अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण वैदिक यज्ञोंमें खल्वाट पुरुषको कर्माधिकारी नहीं माना जाता; अथवा वहां पर उस पुरुषकी विवशता विचारकर कुशकी शिखा बनानी पड़ती है। इस प्रकार शिखा केवल हिन्दुत्वका चिह्न नहीं; अन्यथा ज्ञानकाण्डके अधिकारी संन्यासी हिन्दुओंमें न गिने जाते; अतः शिखा हिन्दु-कर्मकाण्डका अङ्ग भी है।

शिखारहस्य

(६) यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीय उपनिषद्'की शिक्षावल्लीमें कहा गया है—'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इव अवलम्बते, सा इन्द्रयोनिः,

यत्र असौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्य शीर्षकपाले' (१।६।१) तालुके मध्यमें स्तनकी तरह जो केशराजि दीखती है—इसमें केशोंका मूल है। वहां सिरके दोनों कपालोंका भेदन करके इन्द्र-योनि है, इन्द्र अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका भाग सुषुम्णा नाड़ी है।

आशय यह है कि—जैसे घट दो कपालोंके संयोगसे बनता है, वैसे सिर भी दो कपालोंसे बना है। दोनों कपालोंके मूलको भेदकर सुषुम्णा नाम नाड़ी रहती है। दोनों कपालोंका मूलस्थान सुषुम्णा नाडीका घर है। योगी लोग इडा एवं पिङ्गला नाड़ीकी गतिको पार करके सुषुम्णाको जगाया करते हैं, उसीसे आत्माका साक्षात्कार करते हैं। यह नाडी अपने मूल-स्थानसे होती हुई मस्तकके मध्यमें विचरती है। योगी लोग जिस स्थानको सुषुम्णा-का मूल-स्थान मानते हैं; वैद्य लोग उसी स्थानको 'मस्तुलिङ्ग' नामसे बुलाते हैं। मस्तुलिङ्गके निम्न भागको योगी लोग 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं, और वैद्यगण उसके साथके भागको 'मस्तिष्क' कहते हैं।

वैद्य लोगोंका यह अभिप्राय है कि—सम्पूर्ण शरीरमें प्रधान अङ्ग है सिर, अथवा यह कहना चाहिये कि—व्यष्टि ब्रह्माण्डरूप शरीरकी शक्तियोंका भाण्डार सिर है। सब शरीरमें व्याप्त नस-नाड़ियोंका सिरसे सम्बन्ध है। मनुष्य जीवनका केन्द्र वा आधार भी सिर ही है। सिरमें दो शक्तियाँ रहती हैं; एक ज्ञान-शक्ति, दूसरी कर्म-शक्ति। इन दोनों शक्तियोंकी परम्परा नाड़ी-द्वारा शरीरमें व्याप्त हो जाती है; और कार्यरूपमें परिणत हो जाया करती है। इसी कारण शरीरमें ज्ञान और कर्म दो विभाग हैं। इन दोनों

विभागोंका मूलस्थान वही सुषुम्णाका मूलस्थान और ब्रह्मरन्ध्र है अर्थात् मस्तुलिङ्ग तथा मस्तिष्क है। मस्तुलिङ्ग कर्मशक्तिका भण्डार है और मस्तिष्क ज्ञानशक्तिका। मस्तिष्कके साथ आंख, कान, नासिका, रसना, त्वचा इन ज्ञानेन्द्रियोंका सम्बन्ध है, और मस्तुलिङ्गके साथ वाणी, हाथ, पैर, गुद, उपस्थ इन कर्मेन्द्रियोंका सम्बन्ध है। मस्तिष्क एवं मस्तुलिङ्गका सामर्थ्य वा स्वास्थ्य जितनी अधिकतासे होगा, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंमें भी उतनी प्रबलता सम्पन्न होगी। उन दोनों स्थलोंके अस्वास्थ्यसे इन इन्द्रियोंमें भी विकृति होती है। इसमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है।

प्रकृतिकी विलक्षण महिमासे इन दोनों स्थलोंकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। मस्तिष्क शैत्यको चाहता है, मस्तुलिङ्ग उष्णताको। मस्तिष्ककी ठंडकके लिए तालु-प्रदेशमें क्षौर (हजामत) करवानी पड़ती है। उसमें शैत्यार्थ छुरेसे वहांके केश, पानके आकारसे कटवाये जाते हैं; उस पर तेल, साबुन, दही, मलाई आदिका, उपयोग किया जाता है, तालुको जल-वायु आदिसे ठण्डा रखना पड़ता है। सिरदर्द होने पर तालुके बाल कटवाने वा मुंडवानेसे वेदना शान्त होजाती है। फलतः तालु-प्रदेशस्थ मस्तिष्क तो ठण्डक चाहता है; उससे भिन्न धर्मवाला मस्तुलिङ्ग गर्मी चाहता है।

अब प्रश्न यह है कि—मस्तुलिङ्गमें कितनी वा कैसी ऊष्मा (गर्मी) अपेक्षित है। ऊष्माकी न्यूनाधिकतासे नाडियोंमें प्रकोप हो सकता है, और उससे कई हानियाँ हो सकती हैं; इस कारण उसमें मध्यम ऊष्मा चाहिये। ऊष्मासे ही यह हमारा शरीर है, ऊष्मा गई

तो शरीर भी शान्त हुआ। मर जाने पर कहते हैं कि ठण्डा होगया। एक अमेरिकन वैज्ञानिक विद्वान्ने वक्तव्य दिया है कि यदि हमारी ऊष्मा सुरक्षित रहे; तो हमारी ४०० वर्षकी आयु भी हो सकती है। सो उस ऊष्माके संरक्षणमें शिखा भी एक उपाय है। वह ऊष्मा कपड़े आदिसे नहीं हो सकती; क्योंकि कपड़े आदिके गुण अनेक प्रकारके होते हैं। अतः उनसे पूर्ण लाभकी सम्भावना नहीं हो सकती।

यह भी निश्चित बात है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वही उसकी वास्तविक सहायक हुआ करती है। जैसे–घड़ा मिट्टीसे बनता है, उसके प्रत्येक अवयवकी पूर्ति भी मिट्टीसे ही होती है, जल अग्नि आदिसे नहीं। मस्तुलिङ्ग सिरका एक भाग है, उसकी रक्षा भी सिरसे उत्पन्न पदार्थ-द्वारा ही हो सकती है, टोपी-हैट आदिसे नहीं। शिरसे उत्पन्न पदार्थ बाल हैं; अतः वहाँ घनीभूत गोखुरपरिमाणके बाल ही मध्यम परिमाणकी गर्मी कर सकते हैं; अन्य वस्तु नहीं। गंजापन जितने अंशमें होता है; उतना ही अंश चोटीका होता है। इस स्थानपर लम्बे बाल रखना ही गंजेपनका इलाज है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मस्तिष्कमें ठण्डक अपेक्षित है और मस्तुलिङ्गमें गर्मी। इसलिए मस्तिष्ककी ठण्डकके लिए वहां तालु-प्रदेशमें केश थोड़े अपेक्षित होते हैं; अतः लोग वहां पर अपने बाल कम करा देते हैं; वा वहां छुरेसे क्षौर करवा लेते हैं, पर स्त्रियोंमें सौभाग्यके कारण न तो उनका क्षौर होता है; न वहांके बाल कटाये

जाते हैं; तब उनके मस्तिष्कको वायु कैसे लगे; इसके लिए हमारे पूर्वजोंने उनके लिए माँग (सीमंत) रखना नियत किया है। दो भागों में बाल होजानेसे मध्यमें माँगकी रेखा होती है; वह मस्तिष्कका स्थान होनेसे उस रेखाके द्वारा उनके तालुको वायु लगती रहने से मस्तिष्कमें ठण्डक रहती है; पर मस्तुलिङ्गकी गर्मीके लिए उस पर घनीभूत केशोंकी आवश्यकता होती है। मुनियोंने वहाँ उपयुक्त गर्मीके लिए गोखुरके परिमाणके केश माने हैं। इसलिए मस्तुलिङ्ग में गहरे केश सदा रहें; वे अन्य बालोंसे अधिक रहें, भिन्न रहें, ऊंचे रहें, इसलिए उनका नाम भी विशेष रखा गया है 'शिखा'; और उसका सम्बन्ध कर्म-प्रवर्त्तक धर्मके साथ स्वीकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त सन्ध्या आदिके अवसर पर परमात्माकी कृपा भी शिखा के ही द्वारा भीतर प्राप्त होती है; इसी कारण 'तैत्तिरीयोपनिषत्' ने उस स्थानका नाम 'इन्द्रयोनि' कहा है यह पहले कहा ही जा चुका है। 'ब्रह्मरन्ध्र' भी इसे इसीलिए कहते हैं। जैसे ब्राडकास्ट किया हुआ शब्द सारे आकाशमें व्याप्त होजाता है—पर उसका आकर्षण करता है रेडियो-यन्त्र। और रेडियोका तरीका यह है कि मकानकी चोटी पर एक बाँस तारके साथ खड़ी की जाती है; वही चोटीकी तार शब्दको खैंच लेती है; जिसे हमारा रेडियो-यन्त्र खैंचकर हमारे आगे उपस्थित कर देता है, इसी प्रकार चोटीके बाल भी परमात्माकी व्यापक कृपाको अपनेमें आकृष्ट कर लेते हैं।

यह विषय कृत्रिम भी नहीं है, किन्तु वास्तविक और प्राकृतिक है। आप मस्तुलिङ्ग परके केशोंको कटवानेवाले पुरुषोंको देखें—

वहां पर गोलाकार मण्डल दीख रहा होता है। एक भागमें वालोंकी ऐसी रचना दीखती है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कपाल की ग्रन्थि है। ग्रन्थिस्थलको मर्मस्थल भी कहा जाता है। प्रत्येक मर्मस्थलकी रक्षा भी आवश्यक हुआ करती है। अन्य मर्मस्थलोंकी अपेक्षा यह मर्मस्थल सम्राट्-स्थानीय है, क्योंकि यही सब नस-नाड़ियोंका केन्द्र है। इसकी रक्षा अधिकतासे हो; अतः यहाँ शिखा अवश्य रखनी चाहिये। इसी घनीभूत शिखासे ही सनस्ट्रोक आदिकी आशङ्का भी नहीं रह जाती।

विज्ञान और आयुर्वेद

(१०) वर्तमान वैज्ञानिकोंने अन्वेषणके वाद अब यह जाना है कि सिरके पिछले भागमें उन नस-नाड़ियोंका केन्द्र है, जो आंखोंमें प्राप्त होती हैं। उनकी रक्षा यहां ठहरे हुए पर्याप्त-परिमाण के केशोंसे होती है। वर्तमान वैज्ञानिकोंने अभी यह बात जानी है; परन्तु हमारे ऋषि-महर्षियोंने प्राचीन कालसे ही शिखा रखनेका नियम बना रखा है। शल्यविद्याके सभी अंग्रेजी पुस्तकों में डाक्टरोंने सिरके उस स्थलमें जहां शिखा रक्खी जाती है–एक मर्मस्थल माना है, जिसे अंग्रेजीमें Pineal Gland (पिनियल ग्लेण्ड) नामसे कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस स्थलपर शिखा रखी जाती है; उसी स्थलके नीचे एक ग्रन्थि है. जिसे 'पिचुइटी' नामसे कहा जाता है; जो शरीरकी पुष्टि तथा वृद्धिमें बहुत सहायता करती है। प्रकृतिने सिरमें जो बाल उत्पन्न किये हैं; उनका तात्पर्य शरीरकी भीतरी कोमल वस्तुओंका संरक्षण है।

कपालशास्त्रके अनुसार भी उक्त स्थलमें आत्मोन्नतिका केन्द्र है। एक कपालशास्त्रीने यह सिद्ध किया है कि उस केन्द्रमें केशराजि की स्थापनासे आत्मोन्नतिकी रक्षा होती है।

आयुर्वेदके अनुसार मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि इन पांच भेदोंके ८८ साधारण मर्म होते हैं; १६ विशेष मर्म होते हैं; इस प्रकार १०७ मर्म कहे गये हैं। इनमें ११ मांसके, ४१ शिराओं (नसों)के, २७ स्नायुओं के, ८ अस्थियों (हड्डियों)के २० सन्धियों के मर्म होते हैं इस प्रकार १०७ मर्म 'सुश्रुत-संहिता' (शारीर-स्थान ६।४)में कहे गये हैं। १६ संख्याके विशेष मर्मोंमें एकका नाम 'अधिप' होता है, जहां केशोंका आवर्त होता है। उसके नीचे नाड़ियोंकी संधि होती है। थोड़े आघातसे भी यहांके मर्म-स्थलोंमें हानिकी सम्भावना रहती है; बल्कि कभी तो मृत्यु की सम्भावना भी रहती है। इसी कारण 'सुश्रुत-संहिता'के शारीर स्थानमें कहा है—'मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् शिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः; तत्रापि सद्य एव [मरणम्] (६।२०) 'आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं शिरासन्धिसमागमः। रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्म सद्यो हरत्यसून्' (अष्टाङ्गहृदय, शारीरस्थान)।

इस पर श्री अरुणदत्तने लिखा है—'मस्तकस्य अभ्यन्तरतो यः स्थितः, तथा ऊर्ध्वं प्रकृतत्वान्मस्तकस्यैव उपरि शिरासन्धिसमागमः शिरा-सन्धीनां सन्निपातो रोमावर्तलक्षणः; सोधिपो नाम मर्मविशेषः, मर्मणामधिपो यथार्थनामा। तदायत्तानि हि सर्वाणि मर्माणीत्यर्थः। सोऽधिपो विद्धो नरस्य सद्योऽसून् हरति, पुरुषं मारयतीत्यर्थः'। आशय

यह है कि जैसे स्वामीके दुःखमें सब नौकर दुःखी होते हैं; जैसे सेनानायकके क्षत-विक्षत होकर गिरने पर सब सेनाके पांव उखड़ जाते हैं; इसी प्रकार इस 'अधिपति' नामक मर्म-सम्राट्में थोड़ा भी आघात होनेपर सारे मर्मस्थानोंमें शिथिलता होजाती है। उस समय उपचार न करनेपर मृत्यु तक भी हो सकती है। जैसे राजा सैनिकोंकी अपेक्षा सेनानायकके संरक्षणार्थ अधिक अवधान देता है; वैसे ही मनुष्यमात्रको सब मर्मोंकी अपेक्षा 'अधिप' मर्मकी रक्षा तो बहुत सावधानीसे करनी चाहिये। उसकी रक्षा होवे इस पर उपाय अपेक्षित है। प्राचीन महर्षियोंसे उद्भावित वह उपाय ही 'शिखा' है। शिखाके अतिरिक्त कोई भी सरल शास्त्रीय उपाय नहीं है, जिससे दिन-रात एवं प्रतिक्षण अधिप-मर्मकी रक्षा हो सके। इस उपायके आश्रयणसे चाहे गरीब हो वा साहूकार—सभी समान लाभ प्राप्त कर सकते हैं। हमारे पूर्वजोंने जो सुगम एवम् अपूर्व युक्ति बनाई है; वैसी युक्ति कोई भी नहीं बन सकती। इस तात्पर्यको न जानकर आजकी सभ्य(?) मंडली अपनी शिखाको कटवाकर शिखाधारिणी मण्डलीका उपहास करती है, यह उसकी अविद्या दयनीय है। जो इस विषयके अन्य उपाय किये जाते हैं, वे खर्चीले एवं अवैध हैं, पर हमारे प्राचीनोंसे उद्भावित उपायोंमें खर्च न होना, परतन्त्रता न होनी—यह एक भारी विशेषता होती थी। फिर साथ वह जातीय चिह्न भी बन जाता था। इस प्रकार 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी' नहीं-नहीं-'त्र्यर्थकरी प्रसिद्धा' हो जाती है।

प्राचीन कालमें ब्रह्मचर्याश्रममें कुमार यहां पर केशजूटक रख

कर सिर पर अधिक विद्युत्को उत्पन्न करते थे। शिखा रखनेसे आयुकी वृद्धि होती है; सैनिकोंको धूप वा सनस्ट्रोकसे बचानेके लिए टोप दिये जाते हैं। यदि वे पूर्ण-केशयुक्त शिखा रखें, तो उन्हें टोपियोंकी आवश्यकता ही न रहे। इस शिखाका परिमाण गोखुर-इतना होता है, जिससे शीतकालमें शीतसे, भयानक गर्मीमें गर्मीसे और वर्षा ऋतुमें जलवर्षणके आघातसे साधारणतः रक्षा होती है।

एक विचार

(११) कहा जाता है कि-'जो शीत-प्रधान देश हो तो कामचार है चाहे जितने केश रखे और जो अतिउष्ण देश हो तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिरमें बाल रहनेसे उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम होजाती है' (स० प्र० १० समु० १६२ पृष्ठ) यह विचार उक्त अनुसन्धानसे अपूर्ण सिद्ध होता है; क्योंकि-शिखामुण्डनसे ही उस मर्मप्रदेशमें धूप जल्दी प्रभाव कर देती है। गोखुरपरिमाण बालोंके वहां रखने पर तो जैसे बाहरी शीतसे रक्षा होती है; वैसे ही बाहरी तापसे भी रक्षा होती है। इसका अनुभव स्वयं भी किया जा सकता है। जो लोग गर्मीमें सभी बालोंको कटवाते हैं; दो-तीन दिन उन्हें गर्मी अधिक अनुभूत होती है। जो बाल नहीं कटवाते; उनको वैसी ऊष्मा प्रतीत नहीं होती, बल्कि बाहरी गर्मीसे रक्षा ही होती है। नहीं तो फिर उनके अनुयायियोंको गर्मीमें बुद्धिमन्दताके डरसे अपनी स्त्रियों या पढ़ रही हुई लड़कियोंके बाल भी कटवाने पड़ेंगे।

अथवा गर्मीमें वा गर्म देशमें वालोंका कटवाना मान भी लिया जाय तो वह मस्तिष्कके तालु-प्रदेशमें तो कुछ लाभकारी हो सकता है, पर शिखाके स्थानमें नहीं। इसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् प्रमाण हैं। इस बातका आविष्कार करनेवाले तो वैद्यकके विद्वान् थे; उन्होंने 'सालस-मिश्री' आदिकी ओषधियाँ भी जान रखी थीं तो यहाँ भी उन्हें कोई ओषधि लिख देनी चाहिये थी; जिससे गर्मी हट जाती; पर उन्होंने शिखा पर ही आक्रमण कर दिया; खेद !!! प्राचीन ऋषि, मुनि, तपस्वी जो जटाधारी थे; क्या उनकी बुद्धि न्यून थी? उन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थ कैसे बनाए? 'दीक्षितो दीर्घ-श्मश्रुः' (अथर्व० ११।५।६) इससे वेदने ब्रह्मचारीके लिए दीर्घकेश की स्थापना कही है; इससे वेदको उससे ब्रह्मचारीकी बुद्धिकी मन्दता इष्ट नहीं।

उक्त स्थलमें शिखा-छेदन मनुजीके 'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः' (२।६५) इस पद्यके अनुवादके अवसर पर ही 'स० प्र०'में कहा है; परन्तु मनुजीको वहाँ ऐसा अभिप्राय विवक्षित नहीं। न वहाँ ग्रीष्मका नाम है, न ही केशान्त संस्कारमें शिखाके छेदनका गन्ध ही है। यदि यहाँ गर्मीका कारण है तो ब्राह्मणका १६वें वर्षमें ही मुण्डन कैसे कहा है? क्या पहले वा पीछे उसे गर्मीका अनुभव नहीं होता?

इस प्रकार क्षत्रियको बाईस वर्षसे पहले वा पीछे क्या गर्मी तंग नहीं करती? वैश्यको चौबीसवें वर्षसे पहले वा पीछे क्या गर्मी

नहीं लगती ? शूद्रकेलिए तो वैसा करनेकी आज्ञा ही नहीं है; तो क्या उसे सारी आयु गर्मी ही नहीं लगती ? इससे यह बात ठीक नहीं। न मालूम मनुजीके उक्त पद्यसे यह बात कैसे निकाली गई ? स्वयं उन्होंने स० प्र०के ११वें समु० २४४ पृष्ठमें लिखा है—'यज्ञोपवीत और शिखाको छोड़कर मुसलमान-ईसाइयोंके सदृश बन बैठना व्यर्थ है'।

शिखा काटनेमें वेदका प्रमाण (?)

(१२) कई व्यक्ति ऊपर कहे पक्षकी सिद्ध्यर्थ 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' (यजुः १७।४८) यहां 'विशिखा इव'का 'विगतशिखाः-शिखाहीनाः' अर्थ करके अपने इष्ट पक्षको सिद्ध करना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। इस मन्त्रमें ग्रीष्ममूलक उष्णताके कारण शिखा कटवाना अथवा शीत होनेसे शिखा रखवाना नहीं कहा गया। यहाँ विशेषण 'कुमार' है, तो क्या बड़ोंको गर्मी नहीं लगती ?' तब उनका यह प्रमाण-प्रदर्शन व्यर्थ है। क्योंकि इससे उस पक्षकी सिद्धि नहीं।

वस्तुतः उक्त मंत्रमें 'विशिखाः'का विशेष्य 'कुमाराः' है, 'ग्रीष्मखिन्ना नराः' नहीं। उसका एक अर्थ है 'विविधशिखावन्तः'। कुमारावस्थामें कई अपने प्रवरानुसार पाँच शिखा वा तीन शिखा रखते हैं, जैसेकि 'प्रयोग-रत्न'में कहा है—'मध्ये शिरसि चूड़ा स्याद् वासिष्ठानां तु दक्षिणे। उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता'। 'माधवीय'में भी ऐसा ही कहा है। आपस्तम्बने भी इसी प्रकार कहा है—'तूष्णीं केशान् विनीय यथर्षि शिखाः निदधाति' (आपः गृ. १६-१५)

तथा ऋषिप्रवर-सङ्ख्यया। 'अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथा वा एषां कुलधर्मः स्यात् यथर्षि शिखां निदधाति' (बोधा० गृ० २।४।१७-१८) 'संस्कारभास्कर'में भी कहा है—'दक्षिणतः चूडा वसिष्ठानाम्' (४०।२) 'उभयतोऽत्रिकश्यपानाम्' (३) 'पञ्चचूडा अङ्गिरसः' (५)। स्वा० दयानन्दजीने भी अपनी 'संस्कारविधि'में लिखा है—'[चूडाकर्ममें] पाँचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे' (७६ पृष्ठ)। अपने यजुर्वेदभाष्यमें भी स्वामीजीने लिखा है-'यथा विगत-शिखा विविधशिखा वा, विना चोटीके वा बहुत चोटियोंवाले बालकोंके समान बाण आदि शस्त्र-अस्त्रोंके समूह अच्छे प्रकार गिरते हैं'। इस प्रकार 'विशिखाः'का 'विविधशिखाः' भी अर्थ हुआ।

चूडाकर्म संस्कारमें मध्यवाली शिखाको छोड़कर शेष शिखाओं का मुण्डन करा दिया जाता है। इसीलिए 'यज्ञोपवीतविधि'में आता है—'तासां मध्यशिखावर्जम् उपनयने वपनं कार्यम्'। 'जैमिनिगृह्य-सूत्र'मेंभी कहा है—'सर्वाणि लोमनखानि वापयेत् शिखावर्जम्' (१।१८) फलतः उन्हीं विविध शिखाओंको सूचित करनेवाला उक्त मन्त्र है। यदि यहाँ 'विशिखाः'का 'शिखाहीनाः' अर्थ किया जाय तो उपमानोपमेयभाव घटित नहीं होता। 'विशिखा बाणाः सम्प-तन्ति' यह उपमेय-वाक्य है, 'विशिखाः कुमाराः सम्पतन्ति' यह उपमान-वाक्य है, बाण शिखाहीन नहीं होते, किन्तु शिखासहित ही होते हैं। 'शिखा' होती है उनके पंख, तभी तो बाणोंकी गति तेज़ होजाती है। इसी कारण आगे क्रिया है-'सम्पतन्ति' सम्यक् पतन्ति (खूब.उड़ते हैं) शिखा-(पंख) हीन बाणोंकी सम्पातक्रिया

(उड़ना क्रिया) नहीं होती। इससे उक्त मन्त्रसे शिखाहीनता सिद्ध नहीं होती। एक प्रश्न होता है कि तब तो 'सशिखा इव' पाठ होता, 'विशिखा इव' क्यों? इस पर उत्तर है कि 'विशिष्टा-गोखुरपरिमाणा शिखा येषाम्' यहाँ 'वि'का अर्थ 'विशिष्ट' अर्थात् गोखुरपरिमाण वाली शिखा है, अथवा 'वि'का अर्थ 'विविधाः शिखाः येषाम्' यह भी हो सकता है जैसेकि—'प्रयोगरत्न' आदिके अनुसार पहले दिखाया जा चुका है। अथवा 'शिखाहीनता'का भी अर्थ हो तो वहाँ मध्यकी शिखासे भिन्न शिखाओंका राहित्य ही इष्ट है। कौमार्यमें उनका मुण्डन हुआ करता है—यह पहले ही कहा जा चुका है। इससे भी उक्त पक्ष (गर्भदेशमें शिखा काटने)की सिद्धि नहीं होती।

मीमांसा आदिमें तो इसी (कुमारा विशिखा इव) मन्त्रको शिखा-स्थापनमें मूल कहा है। जैसेकि—'मीमांसादर्शन' (१।३।१) सूत्रके भाष्यमें शवरस्वामीने स्पष्ट लिखा है—'गोत्रचिह्नं शिखाकर्म; दर्शनं च—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति। 'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। ··· कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्' (२।३५) इस मनु-पद्यकी टीकामें कुल्लूकभट्टने लिखा है—'श्रुतिचोदनात्—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति मन्त्रलिङ्गात्'। यहाँ पर श्रीकुल्लूकभट्टने भी उक्त मन्त्रको शिखास्थापक ही माना है। उक्त पद्यमें नारायण नामक टीकाकारने भी लिखा है—'श्रुतेः मन्त्ररूपायाश्चोदनाया लिङ्गतया प्रवर्तकत्वात्। मन्त्रश्च 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमाराः विशिखा इव'। यहाँ भी वही बात हुई। यही राघवानन्दने भी लिखा है—'श्रुतिचोदनात्—यत्र बाणाः सम्पतन्ति

कुमारा विशिखा इव' इति श्रुतेः'। इस प्रकार 'काठकगृह्यसूत्र'के ४०।१६ सूत्रके व्याख्यानमें देवपालने भी कहा है—'श्रुतिमूलक-मेतत् कर्म-इति प्रदर्शितम्-'यत्र बाणा निष्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' इत्यादिना'।

(१५) अब एक प्रश्न बच जाता है—'यदि शिखाराहित्य अवैदिक है; तथा 'कुमारा विशिखा इव'में 'विशिष्टशिखाः' वा 'विविधशिखाः' यह अर्थ है; तो यजुर्वेद वाजसनेयी-संहिताके भाष्यकार उवट-महीधर आदिने इसका 'विगत-शिखाः' वा 'शिखा-हीनाः' यह अर्थ क्यों लिखा है? इससे तो शिखाछेदन ही सिद्ध होगा'—इस पर यह जानना चाहिये कि—उवट-महीधरके उक्त व्याख्यानसे भी उक्त अभिप्रायकी सिद्धि नहीं हो सकती। उनके आशय पर भी विचारना चाहिये। वह आशय यह है कि-जैसे शिखाहीन बाण गिर ही जाया करते हैं, लक्ष्यवेध रूप उन्नति नहीं कर सकते; वैसे ही शिखाहीन कुमार भी पतन को प्राप्त करते हैं, उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते। तभी तो कषायरसवाले सोमके पानमें अप्रवृत्त होते हुए कुमारोंको लोभ भी यही दिया जाता था कि—इसके पीनेसे तुम्हारी शिखा बढ़ जायगी 'शिखा ते वर्धते वत्स! गुडूचीं श्रद्धया पिब'। इस प्रकार यहाँ 'संपतन्ति'का 'सम्यक् पतन्ति-अवनतिं प्राप्नुवन्ति' 'अवनति प्राप्त करते हैं' अर्थ होनेसे 'विशिखाः'का 'शिखाहीनाः' अर्थसे समन्वय हो जाता है। बात वही हमारी आकर निकली कि—शिखाहीन अवनतिको प्राप्त करते हैं। प्रतिपक्षियोंकी इससे इष्ट-सिद्धि न हुई।

इस प्रकार शिखाका धारण उन्नति-क्रियाका साधक सिद्ध हुआ। इसीलिए 'काठकगृह्यसूत्र' (४०।७)में देवपालने व्याख्या की है—'निःशिखत्वं तु अमङ्गलधर्मोऽरिष्टहेतुः। तथा च पठन्ति—'अमेध्यमेतत् शिरोऽशिखम्, यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति निन्दावादः।' इससे हमारा अभिप्राय ही पुष्ट हुआ।

'नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च' (यजुः १६।२६) इस मंत्रको शिखाछेदनमें उदाहृत करना भी युक्त नहीं हो सकता। क्योंकि—यहाँ पर शिखाहीनता नहीं कही गई; सामान्य केश वहाँ पर इष्ट हैं। 'केशा न शीर्षन् यशसे, श्रियै शिखा' (यजुः १९।९२) इस मन्त्रमें शिखा तथा केश भिन्न-भिन्न शब्द आये हैं। तब केशोंसे 'शिखा'-का ग्रहण नहीं हो सकता। इधर 'श्रियै शिखा' इस मन्त्रसे विरोध भी पड़ेगा। शिखा श्रीप्राप्तिकेलिए कही गई है, फिर उसे क्यों काटा जाय? अथवा रुद्राध्यायके इस मन्त्रमें रुद्रके दो आश्रम बताये गये हैं। कपर्दी-जटाजूटधारी को कहते हैं; सो यह शब्द वानप्रस्थावस्थाका द्योतक है; क्योंकि—वानप्रस्थी को ऐसे ही जटिल रहना पड़ता है और 'व्युप्तकेश'से संन्यासाश्रम इष्ट है; जैसे कि—महीधराचार्यने भी अपने भाष्यमें सकेत दिया है—'यत्यादिरूपेण मुण्डितत्वम्।'

(१४) संन्यासियोंके लिए शिखाका त्याग तो अपवाद है, प्रतिपक्षियोंसे प्रोक्त कारण नहीं। इस कारण उनके लिए 'ताण्ड्य-महाब्राह्मण'में कहा है—'शिखा अनुप्रवपन्ते, पाप्मानमेव तदपघ्नते।

लघीयाꣳसः स्वर्गलोकमयामेति' (४।१०।२५)। स्वा० दयानन्दजीने भी 'प्राजापत्येष्टि (कि—जिसमें यज्ञोपवीत और शिखाका त्याग किया जाता है) कर' इस प्रकार मनु० (६।३८) के प्रमाणसे (संस्कार-विधि २६२ पृष्ठ) 'सर्ववेदसम—गृहाश्रमस्थ पदार्थ मोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदिको धारण करता है, उनको छोड़, यह अथर्ववेदके प्रमाणसे (संस्कार विधि पृ० २७२) 'सर्ववेदसम्—शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रम-चिह्नोंका त्याग करना है, यह सबसे बड़ा यज्ञ है' इस तैत्तिरीयके प्रमाणसे (संस्कारविधि पृ० २७६)में संन्यासियोंके लिए शिखा-त्याग स्वीकार किया है।

७५ वर्षके बाद सामान्यतया संन्यासका विधान है; तब आयुकी वृद्धि हो जानेसे शरीरकी पूर्णता हो जानेके कारण 'अधिप' मर्मस्थलकी त्वचा कठोर हो जाती है, और शिखाजन्य लाभ भी ७५ वर्ष तक प्राप्त होकर सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं; तब उस समय शिखा-त्यागमें भी कोई हानि नहीं होती। इसके अतिरिक्त तब कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके समाप्त हो जानेसे तत्सम्बद्ध शिखा-सूत्रका त्याग ठीक भी है। 'विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत् कृतम्' (१।४) यह 'कात्यायनस्मृति'का वचन कर्म-उपासना-काण्डपरक है, ज्ञानकाण्डपरक नहीं। जो लोग शिखाजन्य सब लाभोंको प्राप्त करके सिद्धिको प्राप्त हो चुके हों; जिनकी सब वासनाएँ नष्ट हो चुकी हों; संन्यासके अधिकारी भी वही हैं; शिखा-त्यागमें भी उन्हींका अधिकार है, क्योंकि अब उनका किसी भी कर्मफलके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। शिखा रखी जाती

है कर्मकरणार्थ और प्राणोंके रक्षणार्थ। वे ही ज्ञानशाली योग प्राप्त कर कर्मोंको छोड़कर अपने प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित कर उन प्राणोंके निकालनेमें अन्तरायस्वरूप शिखाको हटाकर उस रिक्त स्थानके द्वारा उन प्राणोंको निकाल देते हैं; जिससे उनकी ऊर्ध्वगति होती है। उक्त वेद-मन्त्रमें, तथा संन्यास-विधानमें गर्म ऋतु वा देशके कारण शिखात्याग नहीं कहा गया। इससे प्रतिपक्षियोंका पक्ष कभी भी सिद्ध नहीं होता।

शिखा रखनेमें अन्य उपपत्ति

(१५) तीन आश्रमों तक शिखा रखने फिर संन्यासमें उसका त्याग करनेमें यद्यपि पहले उपपत्तियाँ दी जा चुकी हैं, तथापि अन्य उपपत्तियाँ भी दी जाती हैं। पाठक अवधानसे देखें।

सारी सृष्टिका मूल अग्नि ही है। अग्निका स्वरूप उसकी शिखासे ही व्यक्त होता है। अग्निको संस्कृतमें 'शिखी' कहा जाता है। अग्नि जब शिखारहित हो तो उसमें हवन निषिद्ध माना गया है। जब अग्नि 'शिखी' हो; तो किसीकी शक्ति नहीं कि—उसका स्पर्श कर सके। उसके उस स्वरूप (शिखित्व)के नष्ट होने पर भस्म भी उसे आच्छन्न कर दिया करती है। आज हम भी जो पददलित हो रहे हैं, उसमें भी कारण यह है कि हमने अपना अग्निसे प्राप्त स्वरूप शिखित्व हटा दिया है। हम सब अग्निसे उत्पन्न हैं, अग्निके उपासक हैं। अग्निसे ही हम 'तन्वं मे पाहि, आयुर्मे देहि, वर्चो मे देहि, अग्ने! यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण' (पारस्क० २।४।७) 'मयि मेधां, मयि प्रजां, मयि अग्निस्तेजो दधातु'

(आश्व० गृ० १।२१।४) 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने ! मेधाविनं कुरु स्वाहा' (यजुर्वेद वाज० सं० ३२।१४) इत्यादि प्रार्थना करते हैं।

हमारे गोत्र-पुरुष भी हमारा अग्निके साथ प्राचीन सम्बन्ध बताते हैं। जमदग्निगोत्र 'जमद् (ज्वलद्) अग्नि' (निरुक्त ७।२४।८) को बताता है, अङ्गिरस् गोत्र अग्निके अंगार (निरु० ३।१७।१)को बताता है। इस प्रकार भृगु, अत्रि, भारद्वाज आदिकी भी वहीं अग्निमूलक उत्पत्तिकी निरुक्ति कही गई है। ब्राह्मणोंमें तो अग्निका विशिष्ट निवास माना गया है, जैसे कि—'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' (कठोपनि० १।१।७) 'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (गोपथब्रा० १।२।२०), 'अग्निः''यो ब्राह्मणाँ आविवेश' (अथर्व० १६।५६।२)। तभी निषादोंके खानेके समय विनताने गरुड़को ब्राह्मण खानेकेलिए निषेध कर दिया कि— ब्राह्मणके खानेसे तेरे गलेमें दाह होगा। देखो 'महाभारत' आदिपर्व २६ अध्याय। अस्तु।

जो जिसकी उपासना करता है, अन्तमें वह उसके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। उपासक भी यही चाहता है; तभी वह अपने उपास्यके स्वरूपकी प्राप्त्यर्थ उपास्यके ही लिङ्गोंको धारण करता है। जैसे—गणेशभक्त सिन्दूर आदि, शैव भस्म, रुद्राक्षादि-मालाको, वैष्णव लोग गोपीचन्दन-तुलसीमाला आदिको धारण करते हैं। इसीलिए शुक्लयजुर्वेदके 'शतपथब्राह्मण'में कहा है—'देवो भूत्वा देवान् एति' (१४।६।१०।४)।

इस प्रकार हम लोग भी अग्निके उपासक होनेसे उसके लिङ्ग 'शिखा'को धारण करते हैं, और उस चिह्नको धारण करना भी चाहिये। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि तीन आश्रमोंमें अग्निकी उपासना कही गई है। अनग्नि (अग्निरहित) होकर हम प्रत्यवाय-भाक् माने जाते हैं। संन्यास आश्रममें जब कि अग्निका त्याग कहा है; तब अग्निके चिह्न शिखाका भी त्याग कहा गया है। अग्नि-सेवन (यज्ञ)के अधिकारपट्ट (यज्ञोपवीत-सूत्र)का भी त्याग कहा गया है। ऐसी स्थितिमें पुरुषका अग्निमय संसारसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तभी तो मृत्युके समय भी संन्यासीको अग्निसे नहीं जलाया जाता। इससे स्पष्ट है कि—हमें तीन आश्रम तक शिखाका त्याग ठीक नहीं। अग्निके उपासक शिखाके श्रद्धालु हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि जल-वायु आदिका सेवन करते हुए भी परम तेजस्वी थे। तेजस्वी होनेसे ही वर-शाप आदि देनेमें भी समर्थ हुए। इसीलिए ही शिखामें अधिक बल भी ब्राह्मणादियोंमें था। आज वे ही शिखाकी उपेक्षासे तेजोहीन होगये हैं। शिखात्याग सर्वथा नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेपर यही शिखा आपको तेजस्वी बनायेगी। शिखा-त्यागका ही परिणाम देशनिर्वासन वा पाकिस्तान हुआ है।

अन्य उपपत्ति

(१६) पुरुष शक्तिके यौवनका विकाश मुख-छाती आदि स्थानोंमें केशनिर्गमके द्वारा होता है, किन्तु स्त्रीके यौवनका विकास इस केशनिर्गम द्वारा न होकर मासिक ऋतुधर्म, स्तनोंमें दूध तथा

जरायुकी वृद्धि द्वारा होता है। जब यौवन-विकासके साथ केश-निर्गमका सम्बन्ध है तो जिस प्रकार वृक्षकी शाखा काटनेसे उसमें नवीन शाखा निकलनेका वेग बढ़ता है, उसी प्रकार प्रतिदिन केश काटते रहनेसे या दाढ़ी-मूंछ मुण्डवाते रहनेसे यौवनका वेग भीतरी कामशक्ति-रूपमें स्नायुओंमें अधिक प्रकट होता है और वह शुक्रके बाहर करवानेमें सहायक होकर क्रम-क्रमसे क्षीणताको प्राप्त करता जाता है। यही कारण है कि—ब्रह्मचारी, एवं वानप्रस्थीके लिए विशेषकर केशधारणकी विधि शास्त्रोंमें आई है। केश धारण करनेसे काम-सम्बन्धी नसोंका वेग स्वभावतः दबा रहता है और शुक्रके बाहर होनेकी उत्तेजना प्राप्त नहीं होती। संन्यासी तो उस यौवनावस्थाका पार करके ही होता है; पहले भी संन्यासी हो जावे; तो 'सोऽहम्' भावमें अभेदबुद्धिवश कामकी चिन्ता ही नहीं रहती; अतः यतिगण मुण्डन कराते हैं। गृहस्थावस्थामें यौवनका कुछ उपयोग अपेक्षित होता ही है; अतः गोखुर-इतने केश सिरके मध्यमें रखकर शेष केश समय-समय पर कटाये जाते हैं। गोखुरमें सिरके मध्यका अंश, और कुछ पीछेका अंश ढक जाता है; वही शिखाके रूपमें सिरके ऊपर रहता है। योग-शास्त्रके सिद्धान्तानुसार सिरके मध्यके उस अंशके नीचे ब्रह्मरन्ध्र और ब्रह्मरन्ध्रके ठीक ऊपर सहस्रदल-कमलमें परमात्माका केन्द्र-स्थान है। विज्ञानके अनुसार मस्तिष्क-भागमें कामका केन्द्र स्थान है। इन दोनों अंशोंमें शिखास्थानमें केशराशि रखनेसे आत्मिक शक्ति बनी रहती है और काम-चिन्तनशक्ति दबी रहती है। इसी

कारण हिन्दुजातिमें शिखाके रखनेके कारण ही बल, आयु, तेज, आत्मचिन्तन, कामका संयम भी दीखता रहा है; अन्य जातियोंमें वैसा न रहनेसे उच्छृङ्खलता, नास्तिकता, कामुकता, विलासिता, कायरपन आदि स्वाभाविक होते हैं। अब हिन्दुओंमें भी शिखाकी स्थापनामें आस्था घटती जानेसे पूर्वोक्त गुण भी घटते चले जा रहे हैं और अन्य दुर्गुण बढ़ते चले जा रहे हैं। जो गुण जिसके होनेपर होता है, जिसके नष्ट होने पर नहीं होता; वह उसीका धर्म माना जाता है।

ध्यानके समय ओजः-शक्ति प्रकट होती है। यदि परमात्माका ध्यान किया जाय; तो मस्तकके ऊपर शिखाके रास्तेसे ओजः-शक्ति प्रकट होती है; परमात्माकी शक्ति उसी पथसे अपने भीतर आया करती है। इससे तेज-आयु आदि की वृद्धि होती है। परमहंस यति लोग सदा ही ब्रह्मसे मिले रहते हैं; इसलिए उन्हें पृथक् रूपसे शिखा द्वारा शक्ति खींचनेकी आवश्यकता नहीं होती है। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी शिखा और जटा द्वारा, गृहस्थी लोग गोखुर-शिखा द्वारा इस शक्तिका ग्रहण करके अपनी आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उन्नति प्राप्त करते हैं। शिखाधारण, शिखास्पर्श, शिखाबन्धन आदि प्रक्रिया-द्वारा सहस्रदलकमलकी ओर झुकाव रहनेसे आत्मदृष्टि मनुष्यमें बढ़ा करतीहै—यही शिखाका रहस्यहै।

वार-बार बाल छंटवाते रहनेसे, शिखा न रखनेसे, दाढ़ी-मूंछ बार-बार मुण्डाते रहनेसे कामसम्बन्धी नसोंमें उत्तेजना फैलती है; अतः ऐसे मनुष्य प्रायः विषयी एवं विलासी हुआ करते हैं।

स्थूल शरीरके सुन्दर बनानेमें लगे रहनेसे उन्हें शिखा उसमें असुन्दरताका कारण प्रतीत होनेसे उसे वे कटा डालते हैं। ऐसे पुरुष वा जातियाँ आत्मोन्नतिको खोकर विषय-विलासी बने रहते हैं। इसी कारण हमारे शास्त्रोंमें शेष बाल भी जब चाहे न कटवा-कर किसी तिथि-विशेष वा नक्षत्र-विशेष वा वार-विशेषोंमें मुण्डित करनेका आदेश दिया है। ऐसा करनेसे उस आदेशके वशंवद होनेसे हममें सुन्दरताका भाव तथा तन्मूलक कामोत्तेजना नहीं रह पाती। इसके अतिरिक्त उस तिथिके देवता वा नक्षत्रके देवता, वा वारके देवतासे संयमशक्तिमें सहायता प्राप्त हो जाती है; और उस दिन नखकेशादिमें जीवन नहीं रहता अर्थात् मनुष्य-शरीरके साथ उनका चेतनता-सम्बन्ध नहीं रहता। अतः ऐसे समयमें केश-कर्तन मुण्डनादि द्वारा हमारी नसोंमें उच्छृङ्खल कामोत्तेजना भी नहीं होती। हमारे सूक्ष्मदर्शी प्राचीन महानुभाव सूर्य-नक्षत्रादि देवताओं का हमारे शरीर पर भिन्न-भिन्न दिन भिन्न-भिन्न प्रभाव जानते थे— जिसका आभास कभी-कभी आजके वैज्ञानिकोंको भी होजाता है। अतः कई तिथि-विशेषोंमें स्त्री-गमनादिका भी हमारे पूर्ण वैज्ञानिक महानुभाव निषेध कर गये हैं। तिथि-विशेषमें काटे गये हमारे केशादि यदि किसी जादूगरके हाथमें पड़ भी जायँ; तब भी वह हमारा अनिष्ट करनेमें सक्षम नहीं हो सकता। बिना वार, तिथि, नक्षत्रका विचार किये केवल सुन्दरताका लक्ष्य करके केश आदि कटवाते रहनेसे, क्षुर वा रेज़रोंका जब-तब प्रयोग करते रहनेसे, हमारी कामोत्तेजनाकी वृद्धि, पुंस्त्वनाश, यौवनका शीघ्र ही जीर्ण-

शीर्णताको प्राप्त होजाना–इत्यादि बातें हुआ करती हैं। उसका दुष्परिणाम–प्राचीन मर्यादाओंको तोड़ रहे हुए हम लोग—प्राप्त करते हुए दिनोंदिन ह्रासको प्राप्त होने जा रहे हैं।

(१७) स्त्रियोंकेलिए केश काटना नहीं है; क्योंकि उनका स्त्री-शक्तिविकाश ऋतुधर्म, जरायु आदि द्वारा होता है; अतः स्त्रियाँ अपने प्राकृतिक धर्मको छोड़कर यदि पुरुषोंकी तरह बाल कटवाना प्रारम्भ करेंगी; तो उनमें स्त्रीसुलभ शक्ति घट जायगी; उनके प्राकृतिक विकाशमें बाधा पहुँचेगी; जिससे उनके ऋतुधर्म, स्तनोंमें दूध आदिमें बाधा आकर वे 'मां' बननेसे रह जायंगी; उनमें ओजकी न्यूनता तथा मातृभावका नाश होकर पुरुषभाव आने लग जायगा, और जरायु, प्रसव, मासिकधर्म आदिके विषयमें अनेक रोग उत्पन्न होकर उनके शरीरोंको भीतरसे खोखला कर डालेंगे। प्रायश्चित्तमें भी उनका केवल चार अंगुल केश काटनेकी विधि है, पूरा शिरोमुण्डन नहीं किया जाता। केश रखनेसे ही उनके उत्पन्न होनेवाले बच्चोंके मस्तिष्कको भी लाभ पहुँचता है। हाँ, निवृत्तिके आश्रममें उन्हें (स्त्रियोंको) भी मुण्डन आदिष्ट है। वैधव्य स्त्रियोंका संन्यास है; उसमें निवृत्तिवश उत्तेजनाकी आवश्यकता नहीं रहती; अतः वैधव्यमें स्त्रीका केश पूरा काट देनेका विधान वेद-शास्त्रानुशिष्ट है।

शिखा ब्रह्मरन्ध्रकी पताका

(१८) फलतः द्विजोंकी शिखा बल, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक उन्नतिके साधन होनेके साथ ही साथ उत्तम ज़ातीय-चिह्न

भी है। यह शिखा ब्रह्मरन्ध्र-स्थलकी पताका है। इस शरीररूप किलेके पाँच तट, सात गर्भगृह, साढ़े तीन लाख छोटी कोठियाँ तथा सात महल हैं। सातवें महलमें सम्राट्रूप ज्योतिः-स्वरूप परब्रह्मका निवास है। जैसे दुर्गके राजनिवासस्थलमें विशेषताकेलिए पताका-ध्वजा-झण्डा आरोपित किया जाता है; वैसे ही इस शरीर-रूप दुर्गमें ब्रह्मरन्ध्र-स्थलमें जहाँ ब्रह्म गुप्त रहता है; वहीं शिखारूप पताका भी रखी गई है। यह शिखा उस ब्रह्मरन्ध्रको सूचित करती है; इसीलिए सनातनधर्मके आचार्योंने वहाँ शिखा रखवाकर गायत्री-मन्त्रसे सन्ध्याके समय शिखाबन्धनकी प्रणाली प्रचलित की है। शिखाबन्धनसे केवल बिखरे हुए बालोंके समेटनेमें तात्पर्य नहीं; जैसेकि अर्वाचीन सम्प्रदायके व्यक्ति कहते हैं; किन्तु अपनी चित्तवृत्तिको सन्ध्या-समयमें ब्रह्मरन्ध्रके पास ब्रह्मध्यानके बन्धनमें बद्ध करनेमें तात्पर्य है।

उक्त किलेके पाँच तट हैं पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश। सात गर्भगृह हैं रोम, चर्म, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र। साढ़े तीन लाख नाडियाँ ही छोटी कोठियाँ हैं। सात महल सात पद्म हैं। पहला चतुर्दल-पद्म आधारचक्र है। दूसरा षड्दल-पद्म मणिपूरनामक चक्र है। तीसरा दशदल-पद्म स्वाधिष्ठान-चक्र है। चौथा द्वादशदल-पद्म अनाहत-चक्र है। पांचवां षोडशदल-पद्म विशुद्ध नामक चक्र है। छठा द्विदल-पद्म आज्ञाचक्र है, इस सन्धि-स्थानमें ही अर्थात् त्रिकुटी महलमें इतर नामक लिङ्ग है, जिसके द्वारा सहस्रदल-पद्म दिखलाई देता है। जिसकी कर्णिकामें कोटि

सूर्यके समान प्रभा वाला ब्रह्म रहता है। सातवाँ सहस्रदल पद्म है।

इस प्रकार वह ब्रह्मरन्ध्र–जिसके ऊपर शिखा है, उनमें सम्राट्-रूप ब्रह्मके निवास होनेसे उसपर पताकारूप शिखाका स्थापन भी आवश्यक सिद्ध हुआ। शिखाका मुख्य स्थापन धर्मरूप एवं कर्माङ्ग-रूपसे स्थापन द्विजोंकेलिए है, गौणता तथा चिह्नादिरूपसे स्थापन हिन्दु-जातिमात्रकेलिए है। शिखा बांधकर कर्म करनेसे उसके निम्नस्थान में स्थित ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेसे उस कर्ममें मनकी स्थिरता होजाती है; उस स्थानकी रक्षा भी होजाती है। ग्रन्थिसे बाह्य आघातसे रक्षा अवश्य होती है। स्वा० दयानन्दजीने भी अपनी 'पञ्चमहायज्ञविधि' (५ पृ० ११ पं०)में 'इसके अनन्तर गायत्री मन्त्रसे शिखाको बाँधके रक्षा करे' इससे शिखाबन्धनसे रक्षा मानी है। बालोंके इधर-उधर न फैलनेकेलिए ही शिखा-बन्धन मानना तो शुष्कतर्कमात्र है; इस भयसे तो लोग शिखाको ही कटवा देंगे—'न रही बाँस, न बजी बाँसुरी'। तब इस प्रकारके तर्क अश्रद्धाके ही बढ़ानेवाले होते हैं।

शिखासे दृष्ट-अदृष्टमें लाभ

(१६) इस प्रकार शिखाका अदृष्टमें जहाँ लाभ है; वहाँ वह हिन्दुत्वका चिह्न भी है; ३३ करोड़की हिन्दु-धर्मशालामें प्रविष्ट होचुके हुएका चिह्न है। उससे शारीरिक लाभ भी है, क्योंकि शरीरके सब मर्मस्थानोंका सम्राट् शिखास्थानमें ही विराजमान है। वहाँ पर शीतोष्ण अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होजाता है। अधिकतासे प्राप्त शीतोष्ण भीतरी स्नायु, मांस, रुधिर आदिमें अपना प्रभाव पहुँचाकर हानि

पहुँचा देते हैं। वहाँ पर पड़ा हुआ साधारण आघात भी हानि पहुँचाता है। वहाँका शिखारूप केशसंघात उस हानिसे रक्षा करता है।

इसके अतिरिक्त 'ऊर्ध्वमूल, अधःशाख' यह शरीर वृक्षरूप है। इसका मूल सिर है, शिखाके केश मूलशिफा (जड़ें) हैं। कन्धेके भागसे कमर तकका भाग शाखाएँ हैं, हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशाखा हैं। भांति-भांतिके विषय इसके पत्ते हैं, सुकर्म-कुकर्म इसके फूल हैं, सुख-दुःख आदि इसके फल हैं। किसी वृक्षकी मूलशिफा (जड़ें) कभी काटी नहीं जातीं, क्योंकि उनके काटनेसे वृक्ष आरूढमूल नहीं होता। इसी कारण ही वृक्षारोपणके लिए एक स्थानसे अन्य स्थानमें ले जानेके समय जब पौधेको ले जाया जाता है; तब मूलशिफाओंके संरक्षणार्थ विशेष ध्यान दिया जाता है। फलतः वृक्षके अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलित होनेकेलिए जैसे उसकी मूलशिफाओंका काटना ठीक नहीं होता; वैसे ही शरीर-वृक्षकी रूढमूलताकेलिए भी मूलशिफाभूत शिखाका रखना आवश्यक ही है, जिसके कारण हिन्दु-जाति अनन्त शताब्दी-सहस्राब्दियोंसे लेकर आजतक भी जीवित है; शिखाके काटने-कटवानेवाली जातियाँ उत्पन्न होकर नष्ट होगईं।

शिखाकी गाँठ

(२०) शिखामें गायत्री-मन्त्र द्वारा ग्रन्थि दी जाती है। इसे सब जानते हैं कि—शिखा मस्तिष्कके केन्द्र-बिन्दुपर स्थापित है। जैसे—रेडियोके ध्वनि-विस्तारक केन्द्रोंमें ऊंचे खम्भे लगे होते हैं;

वैसे ही हमारे मस्तिष्कका विद्युत्-भाण्डार शिखास्थान पर है। इस केन्द्रमें हमारे विचार, संकल्प और शक्ति-परमाणु प्रतिक्षण बाहर निकल-निकलकर आकाशमें दौड़ते रहते हैं। इस प्रवाहसे शक्तिका अनावश्यक व्यय होता है, और अपना मानसिक कोष घटता है। इसका प्रतिरोध करनेकेलिए शिखामें ग्रन्थि लगाई जाती है।

सदा ग्रन्थि लगाये रहनेसे अपनी मानसिक शक्तियोंका बहुत सा अपव्यय बच जाता है। इस ग्रन्थिको सन्ध्याके समयसे बांध। जाता है। उस समय अनेक सूक्ष्म तत्त्व आकर्षित होकर अपने अन्दर स्थित होते हैं। वे सब मस्तिष्क-केन्द्रसे निकलकर बाहर न उठ जाएँ कि–कहीं अपनी साधनाके लाभसे वंचित रहना पड़ जाय, इससे शिखामें गाँठ लगाई जाती है।

फुटबालके भीतरके ब्लेडरमें एक हवा भरनेकी नली होती है, उसमें गाँठ लगा देनेसे भीतर भरी हुई वायु बाहर नहीं निकलने पाती। साइकलके पहियोंमें भरी हुई वायुको रोकनेकेलिए एक छोटी वालट्यूब नामक रबड़की नली लगी होती है, जिसमें होकर हवा भीतर तो जा सकती है, पर बाहर नहीं आसकती। गाँठ लगी हुई शिखासे भी यही प्रयोजन पूर्ण होता है। वह बाहरके विचार और शक्तिसमूहको ग्रहण तो करती है, पर भीतरके तत्त्वोंका अनावश्यक व्यय नहीं होने देती। आचमनसे पूर्व शिखाबन्धन इसलिए नहीं होता, क्योंकि उस समय त्रिविध शक्तिका आकर्षण किया जाता है, फिर उसे बांध दिया जाता है। यही शिखाग्रन्थिका रहस्य है।

एक तर्क

(२१) एक तर्क यह किया जाता है कि-मुसलमान, ईसाई आदि शिखा नहीं रखते, उन्हें हानि क्यों नहीं होती ? इस पर यह जानना चाहिये कि सूक्ष्मरूपसे हानि होती अवश्य है, परन्तु उसके अनुभव न होनेसे उन्हें उसका पता नहीं लगता। इससे उसकी अनावश्यकता तथा अयुक्तता सिद्ध नहीं होजाती। आयुर्वेदने जो नियम शरीरके स्वास्थ्यके कहे हैं; उनका उल्लङ्घन करनेसे आपाततः तो हानि प्राप्त होती हुई नहीं दीखती; परन्तु सूक्ष्मरूपसे वह होती अवश्य है। अनुभव न होनेसे उन नियमोंको बतानेवाला आयुर्वेद तथा वे नियम अयुक्त नहीं हो जाते। वह हानि उत्तरोत्तर नियमों के उल्लङ्घन करते रहनेसे भीतर सञ्चित होती हुई शारीरिक शक्तिकी दुर्बलतामें ज्वरादि-रूपमें प्रकट होजाती है; परन्तु हम उसका कारण नहीं जान पाते। वैसे शिखाके भावाभावमें भी जान लेना चाहिये। हिन्दुओंकी ईसाई-मुसलमानोंसे कुछ विशेषता अवश्य है; और वह सर्वसम्मत है। उनमें हिन्दुओं जैसा संयम, तथा मर्यादितता-आदिका अभाव है; इसमें हमारी शिखाकी ही कारणता मानी जावेगी। क्योंकि—जो बात जिसके होनेपर होती है, जिसके न होनेपर नहीं होती, वह उसीकी मानी जाती है। नैषधचरितके चतुर्थसर्गमें लिखा है—'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः'। स्वा० शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्र (३।३।५३ सूत्र) के भाष्यमें कहा है—'यो हि यस्मिन् सति भवति, असति च न भवति, स तद्धर्मत्वेन अध्यवसीयते'।

हमारे प्राचीन महानुभाव जहां लाभ देखते थे; उसको अवश्य नियत करते थे; बल्कि उसमें अर्थवादोंका प्रयोग करनेमें भी संकुचित न होते थे। पहले समय यज्ञोंमें गुडूची (सतगिलोय) या सोमरस)का उपयोग हुआ करता था; परन्तु उसके कसैले होनेसे बटु उससे मुंह फेर लेते थे। तब प्राच्य लोग कहते थे—'शिखा ते वर्धते वत्स ! गुडूचीं श्रद्धया पिब'। जैसे आजकलके शिक्षित जनोंको पता लग जावे कि—अमुक ओषधिके सेवनसे दाढ़ी-मूंछ तथा चोटीके बाल उत्पन्न नहीं होते; तब उस ओषधिके कड़वी होनेपर भी वे उसका सेवन बड़े संरम्भसे करेंगे; वैसे ही प्राचीनकालमें गुडूचीको शिखा बढ़ानेवाला समझकर बटु उसका पानकर जाते थे; इससे स्पष्ट है कि—वे बढ़ी हुई शिखाको लाभ-जनक मानते थे।

सनातन-हिन्दुधर्ममें जिन वस्तुओंकी पूजा प्रचलित है; जैसे कि—तुलसीपूजा, गोपूजा, व्रतानुष्ठान, शिखा-आदि; जिनकेलिए वहां अर्थवाद भी उपन्यस्त किये जाते हैं; आपातदर्शी लोग उनमें उपहास करते हैं; पर वैज्ञानिकोंने उनमें उनकी श्रद्धाधिकता पर विचार किया; तब उन्होंने तुलसी, गाय, व्रत आदियोंमें अनुसन्धान करके बड़े लाभ देखे। तब उन्होंने उन लाभोंका प्रचार किया। अब वर्तमान शिक्षितोंका भी उधर ध्यान पड़ने लगा है। खेदकी बात है कि—आजके शिक्षित लोग हमारे पूर्वजोंकी आज्ञासे तो उनका आदर नहीं करते; पर जब आजके पाश्चात्य वैज्ञानिक उनपर अपनी स्वीकृतिकी मुहर लगाते हैं; तभी उनका

उधर ध्यान पड़ता है। वस्तुतः यह 'परप्रत्ययनेयबुद्धिता' है, जो ठीक नहीं।

शिखा के अन्य लाभ

(२२) गोखुर-परिमित शिखाके रखनेसे वीर्यकी गति ऊपरको होती है; वह वीर्य परिपाकको प्राप्त हुआ-हुआ तेज-रूप होकर शिखाके नीचे रहता है। इसी तेजको हिन्दु लोग मस्तिष्क मानते हैं। मनुष्यमें यह तेज जितना गाढ होता है, मनुष्य उतना ही मस्तिष्कशाली तथा चिरायु होता है। इसी तेजको ओज भी कहते हैं; शिखा उसके संरक्षणका मुख्य साधन है; वैसा होने पर बहुत पुत्र होते हैं; शिखा-त्यागियोंकी तो बहुत कन्याएं उत्पन्न होती हैं। अतः शिखास्थापन लाभप्रद ही है।

इसके अतिरिक्त बाल स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) माने जाते हैं, शिखाके बाल तो विशेष अङ्ग हैं। जैसे अङ्गहीन मनुष्य अशुभ माना जाता है, वैसे शिखाके केशरूप स्वाङ्गसे रहितको भी समझना चाहिये। वह ऐहिक, पारलौकिक शुभकर्म कलापका अधिकारी नहीं रहता। जो लोग शिखासे अपने सिरकी शोभाकी हीनता मानते हैं, सीमन्त (मांग निकालने) आदिसे अपनी शोभामें लगे हुए स्त्रीत्वको बढ़ा रहे हैं; इसीके परिणामस्वरूप उनकी कन्या-सन्तानें बढ़ रही हैं, अथवा सन्तानहीनता हो रही है।

सन्ध्या आदिके समय आकाश द्वारा शिखाग्रन्थिको द्वारीभूत करके व्यापक दिव्य-शक्तिका आकर्षण होता है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश होता है। इस विषयमें पाश्चात्य विद्वान् विक्टर ई क्रोमरका

मत पहले दिखलाया जा चुका है। एतदर्थ ध्यानके समय नंगे सिर रहनेका तथा शिखाग्रन्थिबन्धनका नियम है। 'स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने। शिखाग्रन्थिं विना कर्म न कुर्याद् वै कदाचन'।

जैसे वस्त्रमें बन्धी गांठ तरह-तरहके कार्यमें लगे पुरुषको विशेष कार्य याद करा दिया करती है, वैसे ही शिखाकी गांठ भी सांसारिक कार्यमें लगेहुए पुरुषको अपने कर्तव्य वैदिक कर्म-कलापको याद करा देती है शिखा-बन्धन मन, वाणी, शरीरकी चंचलता नष्ट कर अपने कर्त्तव्य कर्ममें स्थिरता कर दिया करता है। मन, वाक्, शरीरकी स्थिरतापूर्वक किया हुआ ही कर्म शुभफलप्रद हुआ करता है। इस कारण शास्त्रकारोंने शुभ कर्मके प्रारम्भमें शिखाबन्धनका आदेश दिया है। इसीलिये 'आह्निक-तत्त्व' में भी लिखा है—'गायत्र्या तु शिखां बद्ध्वा नैर्ऋत्यां ब्रह्मरन्ध्रतः। जूटिकां च ततो बद्ध्वा ततः कर्म समारभेत्। निबद्धशिख आसीनो द्विज आचमनं चरेत्। कृत्वोपवीतं सव्येंसे वाङ्मनःकायसंयतेः'। बद्ध शिखा कब छोड़नी चाहिये—इस विषयमें भी कहा है—'शौचेऽथ शयने सङ्गे भोजने दन्तधावने। शिखामुक्तिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्'। शौच-शयन आदिके समय उसे खोल देना चाहिये।

जबकि सब सम्प्रदायोंमें कई साम्प्रदायिक चिन्ह नियत दिखाई देते हैं; उनका विशेष प्रयोजन न होने पर भी उन्हें वे छोड़ते नहीं; तब शिखाको ही क्यों छोड़ दिया जावे? यह शिखा तो प्रयोजनवती भी है, हिन्दुजातीय विशेष चिन्ह भी है। तब उसका त्याग कैसे

ठीक हो सकता है? स्वामी दयानन्दजीने भी कहा है—जो विद्या (?) का चिन्ह यज्ञोपवीत और शिखाको छोड़कर मुसलमान-ईसाइयोंके सदृश बन बैठना व्यर्थ है। (सत्यार्थप्र० ११ समु० पृ० २४४)

दो आक्षेप

(२३) कई आक्षेप करते हैं कि मुद्गल नामक ब्राह्मण ने कार्तिक-माहात्म्यमें (१५।५५-५६) 'इत्युक्तः सोऽपतद् वन्हौ सर्वेषामेव पश्यताम्। मुद्गलस्तु तदा क्रोधात् शिखामुत्पाटयत् स्विकाम्। ततस्त्वद्यापि तद्गोत्रे मौद्गला अशिखाभवन्' अपनी शिखा उखाड़ डाली थी; अतः शिखा रखना-न रखना अपनी इच्छा पर है' यह बात ठीक नहीं। रागद्वेषसे किया जानेवाला कार्य प्रमाणभूत नहीं होता। जब चौल राजासे बहुत यज्ञदान आदि अपने आचार्यत्वमें कराने पर भी राजगुरु मुद्गलने उसकी सद्गति-प्राप्ति न देखी, और उसके प्रतिद्वन्द्वी विष्णुदास ब्राह्मणकी साधारण कार्तिकव्रत आदिसे भी विमान-प्राप्ति देखी; इस खेदसे राजाका यज्ञकुण्डकी अग्निमें गिर जाना देखा; तो क्रोधसे अपनी शिखा उखाड़ डाली। वह उसका क्रोधमूलक विरुद्ध आचार था। उस मुद्गलका अनुकरण मुद्गल-गोत्रवालोंको भी उचित नहीं; अन्योंका तो क्या कहना? इतिहासवर्णित सभी व्यवहार आचरणीय नहीं हो जाता। क्योंकि—'देश-जाति-कुलधर्माश्च आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्' (गौतम-धर्मसूत्र २।२।२०) शिखात्याग किन्हींका कुलधर्म होनेपर भी आम्नायसे विरुद्ध ही है, अतः ग्राह्य नहीं। 'श्रियै शिखा' (यजु०

वा० सं० १६।६२) इस आम्नाय-वचनसे शिखाका स्वीकार अनिवार्य है। 'मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्ये' (४०।७) इस 'काठक-गृह्यसूत्र' के सूत्र पर देवपालने लिखा है—'निःशिखत्वं तु अमङ्गलधर्मोऽरिष्टहेतुः'। तथा च पठन्ति—'अमेध्यमेतत् शिरोऽशिखम्' 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति निन्दावादः, यन्मूलं शिखा कर्मस्मरणम्'। 'खल्वाटत्वादिदोषेण विशिखश्चेन्नरो भवेत्। कौशीं तदा धारयीत ब्रह्मग्रन्थियुतां शिखाम्' यह 'नागदेव' का वचन खल्वाटत्वमें अनुसरणीय है। तब कुशाकी शिखा बनावे। शिखाको काटना पहले समयमें तब होता था; जब किसीको मृत्युदण्ड-जैसा दण्ड देना हो। तब उसे स्वयं कटवा डालना अपने आपको मृत्युदण्ड देना है।

(२४) कई महोदय उपनयनकालमें 'पारस्करगृह्यसूत्र' में 'पर्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति' इत्यादि वचनोंसे 'मुण्डो वा' इस मनु-वचनसे, 'सशिखं वपनं कार्यम् आम्नानाद् ब्रह्मचारिणाम्' इत्यादि छन्दोगपरिशिष्टके वचनसे चूडाकरणमें लड़केका शिखा-सहित मुण्डन मानते हैं—वह भी ठीक नहीं, क्योंकि गृह्यसूत्रोंमें शिखा छोड़कर ही मुण्डन कहा है, यह हम पूर्व कह ही चुके हैं। इसलिए इस संस्कारका नाम भी 'चूडाकरण' है, 'चूडायाः-शिखायाः करणम्-स्थापनम्। तब चूड़ाका करण शिखातिरिक्त केश-मुण्डनसे ही हो सकता है। 'तं च (कुमारं) पर्युप्तशिरसम्' (२।२।५) इस पारस्करके वचनमें 'परितः-सर्वतः उप्तम्-मुण्डितम्' यह देखकर मध्य शिखाका काटना तो ठीक नहीं। 'परिक्रमा' शब्दमें जैसे 'परितः

क्रमणम्' अर्थमें मध्यवाले देवप्रतिमास्थानको छोड़कर ही चारों ओर परिक्रमा होती है, 'पर्युक्षण' शब्दमें जैसे 'परितः उक्षणम्' अर्थमें यज्ञकुण्डके मध्यवाले प्रदेशको छोड़कर ही चारों ओर जल-सेचन होता है, 'परितः कृष्णं गोपाः' इसमें भी गोपोंकी स्थिति मध्यस्थित कृष्ण-अधिष्ठित देशको छोड़कर ही सर्वसम्मत है; वैसे ही सिरके मध्यदेश (शिखा) को छोड़कर ही मुण्डन 'पर्युप्तशिरसम्' शब्दसे उपदिष्ट है, सम्पूर्ण नहीं। इसी कारण 'तासां (गौणशिखानां) मध्यशिखावर्जमुपनयने वपनं कार्यम्' यह 'निर्णयसिन्धु' में कहा है, 'उपनयनकाले मध्यशिखेतरशिखानां वपनं कृत्वा मध्यभाग एव उपनयनोत्तरं शिखा कार्या' यह 'धर्मसिन्धु'में कहा है। तब मध्य-शिखाका मुण्डन कहीं भी विहित नहीं।

अथवा 'एते लूनशिखास्तत्र दशनैरचिरोद्गतैः। कुशाः काशा विराजन्ते बटवः सामगा इव' इस 'वीरमित्रोदय'-(संस्कार-प्रकाश, उपनीत-धर्मप्रकरण) स्थित 'विष्णु-पुराण'के वचनसे कई छन्दोग-शाखावालोंका, अथवा 'मुण्डा भृगवः'(४०।४) इस 'काठकगृह्यसूत्र'-के वचनसे भृगुगोत्रियोंका शिखा-सहित मुण्डन मान भी लिया जावे; तथापि इनसे भिन्नोंका वैसा व्यवहार कैसे हो सकता है? ऐकदेशिक व्यवहारका सार्वदेशिकतामें उपयोग करनेमें कोई प्रमाण नहीं।

(२५) कइयों का यह विचार हो कि—'चूडाकरणमें मुण्डन इसलिए हुआ करता है कि—लड़का माताके गर्भसे जिन बालोंको लाया; उनका मुण्डन कर्तव्य ही है; क्योंकि—उन गर्भज केशोंमें

अशुद्धता तथा हानिप्रद गैस हुआ करती हैं; तब माताके गर्भसे आये हुए बालोंको शिखाकेलिए ही क्यों रखा जावे ? इस कारण उनके सारे सिरका ही मुण्डन इष्ट है' परन्तु यह बात 'चूडाकरण'से विरुद्ध ही है; सर्वमुण्डनमें 'चूडा-करण' किस प्रकार हो सकता है ? तथापि उनके भी मतमें बालकके अपने बालोंके उत्पन्न होने के बाद शिखाका रखना इष्ट होता है; हमारे मतमें तो मातृगर्भस्थ शिखाकेश स्वयं ही क्रमसे गिर जाते हैं; क्रमशः नवीन केश उनके स्थानको लेते जाते हैं। अतः शिखाके केशोंका मुण्डन आवश्यक नहीं। शेष केशोंका ही वहां मुण्डाना सफल है। 'मुण्डो वा, जटिलो वा स्याद्, अथवा स्याच्छिखाजटः (२।२१६) यह मनु-वचन उपकुर्वाण सामग ब्रह्मचारियोंके लिए है—जैसा कि पूर्व 'विष्णु-पुराण'का संवाद दे चुके हैं, सर्वसाधारणकेलिए नहीं। अथवा 'मुण्डः' से नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंका बोध होता है; उनका संन्यासियोंकी तरह गेरुआ वस्त्र पहनने आदिका आचार होनेसे मुण्डन भी उनका उन्हींकी तरह शिखा-सहित हो जाता है। अस्तु-

इस प्रकार शिखाका स्थापन रहस्यमय होनेसे आवश्यक सिद्ध हुआ। परमुखापेक्षी, परानुकरणप्रवण तथा अकर्मण्य लोग ही दूसरोंके अवगुणोंको गुण जानते हुए, अपने गुणोंको भी अवगुण जानते हैं; क्योंकि—अकर्मण्यतासे उनकी विवेचना-शक्ति नष्ट हो जाती है; तभी वे अपने पूर्वजोंसे नियमित 'श्रियै शिखा' (यजुः १९।९२) इस वैदिक शोभाको भी अवहेलित करके शिखा-हीनताको ही श्री-जनक मानते हैं; परन्तु इस प्रकारके दूसरोंके

अनुकरणमें लगे व्यक्ति अपनी जाति एवम् अपने सम्प्रदाय तथा अपने धर्मके अहित-कारक होनेसे दूरसे ही नमस्करणीय हैं। जो 'हैट' पहननेसे तो सिरमें भार नहीं समझते, परन्तु शिखा रखनेसे सिरमें भार समझते हैं, लार्ड मैकालेके मानसिक दास परानुकरण-प्रवण वे वस्तुतः दयनीय हैं। यदि हिन्दुजाति शिखाको छोड़ देगी; तो उसके न होने पर निम्न हानियाँ होगी; तब अधि-पति-नामक सम्राट्भूत मर्मस्थानकी शीत-उष्ण, जलवर्षण, वायु आदिसे शीघ्र हानि हो सकती है। अधिपतिकी म्लानिमें उसके आश्रित समग्र अन्य मर्मस्थानोंकी भी म्लानि हो सकती है; जिससे शीत-उष्णकी सहनशक्तिका नाश हो जा सकता है।

(२६) समस्त जातियोंमें हिन्दु जाति ही शीत-उष्णके द्वन्द्वके सहनेमें प्रसिद्ध है; शीतकालमें प्रातः स्नान-सन्ध्या आदिसे नहीं डरती, उसका कारण शिखाका धारण ही है। शिखा छोड़ने पर मर्म-स्थानोंमें दुर्बलता हो जाती है, जिससे वैसा व्यक्ति सर्दी-गर्मी नहीं सह सकता। सर्दीमें भूलकर भी स्नान नहीं करना चाहता। गर्मीमें अग्निहोत्रमें नहीं बैठ सकता। इसके अतिरिक्त शिखा छोड़नेपर यह सामाजिक एवं धार्मिक चिह्नविशेष नष्ट होगा, जिसकी छत्रछायामें संपूर्ण हिन्दु-जातिकी एकता स्थापित है। एकता नष्ट होनेपर जो अनेकता होगी; उसकी हानि स्पष्ट है। शिखाके त्यागमें शुक्रकी अधोगामिनी गति होने पर कैसी हानि होगी—यह भी परोक्ष नहीं। पुरुषत्वकी हानिमें अपनी स्त्रियाँ अपने वशमें नहीं रहतीं, व्यभिचारमें लग जाती हैं। हिन्दु-स्त्रियाँ पतियोंकी शिखाके कारण पतिव्रता प्रसिद्ध

हैं। जिन जातियोंमें शिखास्थापन नहीं होता वा हटता जाता है; उस जातिकी ही स्त्रियाँ अधिक व्यभिचारमें लग जाती हैं; तलाक आदि वही करती या चाहती हैं। यह एक बड़ी भारी हानि है।

शिखा शुक्रकी ऊर्ध्वगतिमें सहायक हुआ करती है। ऊर्ध्वरेताः ही जितेन्द्रिय होता है। जितेन्द्रियोंके ही घरमें योगियोंका जन्म सम्भव हुआ करता है। उनकी स्त्रियाँ उनके वशमें होती हैं। हिन्दुजातिमें ही योगियोंका जन्म अधिकतया हुआ है। शिखा-त्यागमें निकम्मी, निर्धर्मक सन्तानें हुआ करती हैं। इस प्रकार शिखाके छोड़नेमें बहुत हानियाँ हैं। आशा है 'आलोक' पाठकोंने यह शिखा-रहस्य शास्त्रीय दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक एवं लौकिक दृष्टिकोणसे सुपरीक्षित किया होगा। आगे 'उपनयन-रहस्य' दिया जाता है।

सूचना—पृ० ८ पं० १० में 'याज्ञवल्क्यस्मृति' उनकी अपनी अपौरुषेय रचना है' यहां पर 'पौरुषेय रचना है'—यह पढ़ना चाहिये। पृ० ११-१२ में (छ) (ज) (झ) के स्थान (ङ) (च) (छ) पढ़ा जाए।

(४) यज्ञोपवीत-रहस्य

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम् ॥'
(कात्यायनस्मृतिः १।४)

'अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितॄणां च भागो येन प्रदीयते ॥
(मृच्छकटिक १०।१८)

उपनयन का अर्थ और उसके अधिकारी

संस्कार सोलह प्रसिद्ध हैं, इसे हम अग्रिम निबन्धमें लिखेंगे। उनमें भी उपनयन और विवाह यह दो संस्कार अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। उनमें यहां उपनयन-विषय पर कुछ विचार किया जाता है। यद्यपि संस्कार सभी हैं; पर 'संस्कार' यह नाम मुख्यतया उपनयनका ही प्रसिद्ध है। उपनयनका सम्बन्ध वेदाधिकारियोंसे है। जिनको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है, उनको उपनयनका अधिकार भी नहीं है। उसका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषोंको है। इसीलिए 'गर्भाष्टमेब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः' (मनु० २।३६) 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत गर्भाष्टमे वा, एकादशवर्षं राजन्यम्, द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पारस्क० २।२।१-२-३) इत्यादि वचनोंसे उपनयन ब्राह्मणादि तीनोंका कहा है, न तो यहां मनुष्यमात्र शब्द है, न स्त्रियोंका ग्रहण है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका वास्तविक संस्कार इसी उपनयन-संस्कारसे होता है। 'उप-समीपे नयनम्' यह इसका व्युत्पत्त्यर्थ है। परन्तु इसका केवल व्युत्पत्त्यर्थ स्वीकार करने पर जहां-तहां अति-व्याप्ति हो सकती है। तब तो किसी पुरुषको वेश्याके पास ले जाना (नयन) भी 'उपनयन' हो जावेगा। किसी शूद्रका अन्य शूद्रके समीप ले जाना भी 'उपनयन' माना जा सकेगा; परन्तु यह इष्ट नहीं। तब यह शब्द 'विवाह' 'श्राद्ध' आदि शब्दोंकी भान्ति पारिभाषिक या रूढ या योगरूढ इष्ट हैं, केवल यौगिक नहीं। वेदमें भी इस प्रकारके शब्द देखनेसे, वहां भी यही अर्थ विवक्षित होनेसे वेदमें भी योगरूढ, रूढ वा पारिभाषिक शब्द सिद्ध हुए, जिन्हें वादी नहीं मानते।

परिभाषाके अनुसार 'आचार्यके समीप वैध नयन' ही 'उपनयन' शब्दवाच्य हुआ करता है। इसीलिए कहा है—'गृह्योक्तकर्मणा येन समीपे नीयते गुरोः। बालो वेदाय, तद्‌योगाद् बालोपनयनं विदुः'। आचार्यके साथ ही साथ उपनेय वटुको अग्नि तथा गायत्रीके समीप भी लाया जाता है। इसीलिए ही 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत' (२।२।१) इस पारस्करके सूत्रकी व्याख्या करते हुए गदाधरभट्टने कहा है—'आचार्यस्य उप-समीपे माणवकस्य नयनम् 'उपनयन' शब्देन उच्यते। उपनयनं च विधिना आचार्य-समीपनयनम्, अग्निसमीपे नयनं वा, सावित्रीवाचनं वा'।

आचार्यके पास पहुँचने पर उस वटुको आचार्यकी सेवा करनी पड़ती है जिसके द्वारा वह मानसिक-शक्तिको प्राप्त करता है और

अपने कार्यमें पटुता भी प्राप्त करता है। फिर उसे अग्निकी उपासना करनी पड़ती है, जिसके द्वारा वह शारीरिक शक्तिको पाता है। फिर गायत्री-मन्त्रकी उपासना (जप) करनी पड़ती है, जिसके द्वारा वह बुद्धि-पवित्रतारूप आत्मिक बलको प्राप्त करता है।

इसीका नाम यज्ञोपवीत-संस्कार वा आचार्यकरण अथवा व्रत-बन्ध वा उपनयन है। उपनयनसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, 'एकज' होते हैं; उपनयनसे वे 'द्विज' होते हैं। अर्थात् उनका एक जन्म माताके गर्भसे होता है, दूसरा जन्म आचार्यके गर्भसे होता है। यही दूसरा जन्म महत्त्वपूर्ण होता है। तभी श्रीमनुजीने कहा है—'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या, साऽजराऽमरा' (२।१४८) अर्थात्—आचार्य उपनयनके समय गायत्री-मन्त्रके उपदेशसे जिस जन्मका सम्पादन करता है; वह दृढ होता है।

आचार्य-द्वारा गायत्री प्रदानसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एकज थे। फिर 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे उपनयनके समय आचार्य उन्हीं तीन एकज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको तीन दिन अपने गर्भमें रखता है। तब तीन दिनोंके बाद फिर उन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका दूसरी बार जन्म होता है। पहले वे एकज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य थे; अब द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, होगये। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्यायसे सुदृढ होगये। इसी लिए वेदमें भी कहा है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभि-

संयन्ति देवाः' (अथर्व०सं० ११।५।३)। यहां तीन रात आचार्यके गर्भमें रहकर उसके बाद उत्पन्न हुए ब्रह्मचारीके दर्शनकेलिए देवता भी आते हैं—यह कहा है। तब आचार्य उपनयनसूत्र, यज्ञसूत्र या ब्रह्मसूत्र या उपवीतको विधिपूर्वक ब्रह्मचारीके गलेमें पहिनाता है। यज्ञोपवीत पहनानेका मन्त्र यह है—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः' (पारस्करगृ० २।२।११)

यज्ञोपवीतका लक्षण

'गोभिलीयगृह्यकर्मप्रकाशिका'में उपनयनसूत्रका लक्षण दिया गया है, कात्यायन-परिशिष्टमें भी। 'पारस्करगृह्यसूत्र'के हरिहर-भाष्यमें तथा 'कात्यायनस्मृति'के आरम्भमें भी यज्ञोपवीतकी विधि बताई गई है। हम उसे हिन्दीमें स्पष्ट कर देंगे।

यज्ञोपवीतके विषयमें पहले यह जानना चाहिए कि यज्ञोपवीत-का सम्बन्ध यज्ञसे है, यज्ञका सम्बन्ध वेदसे है। जैसे कि 'न्यायदर्शन'में कहा है—'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः' (वात्स्या० भा० ४।१।६२) वेदका सम्बन्ध वेदाधिकारियोंसे है, जिन्हें ब्रह्मसूत्र पहनना पड़ता है। बिना यज्ञोपवीत पहने द्विजातिवंशोत्पन्न भी वेदाध्ययनाधिकारी नहीं हो सकता, तो यज्ञोपवीताधिकारसे विरहित पुरुष भला वेदाध्ययनमें कैसे अधिकृत हो सकते हैं ?

यज्ञोपवीत किस प्रकार पुरुषपर वेदका भार रखता है, यज्ञोपवीतियोंको कितना वेद आवश्यक है, यज्ञोपवीत त्रैवर्णिक पुरुषोंका क्यों होता है; इत्यादि बातोंका उत्तर यज्ञोपवीतसूत्र स्वयं

ही देता है, यज्ञोपवीतकी रचना-विधिसे एतदादिक प्रश्नोंका उत्तर स्वयं होजाता है। अब हम यज्ञोपवीत-निर्माणकी विधिका रहस्य बताते हैं। यहाँ हमने विविध विद्वानोंके विचार यथास्थान सन्निवेशित कर दिये हैं—जिससे यह निबन्ध जनताके योग्य होगया है।

यह यज्ञोपवीत हाथकी चार अंगुलियों (चप्पा) पर छियानवें बार लपेटा जाता है। इसमें कई लोग कारण बताते हैं—

(क) 'चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरा। तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मसूत्रमुदीरयेत्' अर्थात् चारों वेदोंमें गायत्री २४ अक्षरकी है। इसलिए ब्रह्मसूत्र भी २४×४=९६ बार चप्पे पर लपेटा जाता है।

(ख) अथवा—छान्दोग्यसूत्र-परिशिष्टमें कहा है—'तिथिर्वारं च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णव'। अर्थात् १५ तिथि, ७ वार, २७ नक्षत्र, २५ तत्त्व, ४ वेद, ३ गुण, ३ काल, १२ महीने—इनकी संयुक्त संख्या ९६ होती है; यज्ञोपवीतमें भी ये सब निहित हैं; अतः उसे भी ९६ बार लपेटा जाता है।

(ग) परमेष्ठी (ब्रह्मा)के शरीरमें सूत्रात्मक प्राणका ९६ वस्तु-रूप राशिचक्र कन्धेसे लेकर कमर तक यज्ञोपवीतकी तरह होता है, यही उसका स्वाभाविक यज्ञोपवीत है (प्रजापतेर्यत् सहजं); तब ब्रह्मसूत्रमें भी वैसी शैली रखनी पड़ती है।

(घ) अन्य रहस्य यह है कि सामुद्रिक शास्त्रमें पुरुषका परिमाण अपनी अंगुलियोंके नापसे ८४से लेकर १०८ अंगुलियों तक माना

गया है। ८४ और १०८ का मध्यमान (औसत) ९६ होता है; इस कारण पुरुषका उपनयन-सूत्र भी ९६ चप्पेका होता है।

(ङ) वस्तुतः बात यह है—११३१ संहितात्मक वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड—ये तीन भाग होते हैं। इनके सब मन्त्र एक लाख हैं। जैसे कि 'वायुपुराण'में कहा है—'आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्र-सम्मितः' (६०।७)। यही विष्णुपुराण (३।४।१)में कहा है। अन्यत्र भी कहा है—'लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च' (चरणव्यूह ५।१)। इनमें स्थूल गणनासे कर्मकाण्डके मन्त्र ८० सहस्र हैं। उपासनाकाण्डके १६ हजार मन्त्र हैं; शेष चार सहस्र ज्ञानकाण्डके हैं। इस प्रकार एक लाखकी पूर्ति होती है। यही बात निरुक्तकार भी सूचित करते हैं। 'तास्त्रिविधा ऋचः, परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च भूयिष्ठाः, अल्पश आध्यात्मिक्यः' (७।३।१) 'परोक्ष' शब्दसे 'कर्म-काण्ड' इष्ट है, क्योंकि कर्मकाण्ड परोक्ष कर्म-फलका प्रतिपादक होता है। 'प्रत्यक्ष' शब्दसे 'उपासनाकाण्ड' इष्ट है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष-फलका निदर्शक है। 'आध्यात्मिक' शब्दसे 'ज्ञानकाण्ड' इष्ट है, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार ही ज्ञान होता है।

इस प्रकार ज्ञानकाण्डके मन्त्रोंकी अल्पता सिद्ध हुई। ज्ञान-काण्डके मन्त्रोंकी अल्पतासे ज्ञानकाण्डको कर्मकाण्डसे अवर (हीन) न समझ लेना चाहिये; क्योंकि वरता वा अवरता संख्या पर निर्भर नहीं होती। एक भी सूर्य लाखों तारोंसे 'वर' ही तो होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्डकी अपेक्षा होना भी अल्प ही चाहिये। युद्धमें

सेनापति 'ज्ञान' होता है। सेना 'कर्मकाण्ड' होती है। जितनी संख्या सैनिकोंकी होती है, उतनी सेनापतियोंकी नहीं। यदि सभी सैनिक सेनानायक बन जाएँ; तो विजय कभी होगी ही नहीं। लोकमें भी ज्ञानी बहुत होजाएँ; तो सबकी भिन्न-भिन्न बुद्धि हो जानेसे वे जनताको कर्ममें प्रवृत्त कर ही न सकें। इसीलिए लोकमें जैसे ज्ञानी वा नेता थोड़े होते हैं; परन्तु उनकी आज्ञामें चलनेवाले कर्मिष्ठ बहुत अपेक्षित होते हैं; जो उनकी आज्ञा, बिना विशेष विचार किये ही मान लें, वैसे ही वेदमें भी ज्ञानकाण्ड थोड़ा होता है, कर्मकाण्डकी उसकी अपेक्षा संख्या बहुत अधिक होती है।

इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा अवर होता हुआ भी सर्वथा अवर नहीं जाता। यदि कर्मकाण्ड सर्वथा न हो तो ज्ञान निराधार हो जाय। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना।' नेता व्यर्थ हो जाता है यदि कर्मिष्ठ जनता न हो, यद्यपि जनता नेताकी अपेक्षा अवर होती है। फलतः वेदके तीनों काण्डोंके मन्त्र एक लाख हैं।

यह यज्ञोपवीत चप्पेपर ९६ बार लपेटा जाता है, इसीलिए ११३१ संहितात्मक चार वेदोंमें स्थित कर्मकाण्ड एवम् उपासना-काण्डके ८०+१६=९६ सहस्र मन्त्रोंका अधिकार-पट्ट 'चपरास'की तरह द्विजको अर्पण किया जाता है। शास्त्रने केवल कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डके अधिकार तक ही यज्ञोपवीत नियमित किया है। वे ९६ सहस्र मन्त्र चारों वेदों के हैं—इस कारण चार अङ्गुलियों (चप्पे)पर उतनी संख्यासे सूत्र लपेटा जाता है। फिर जो पहले उसे तिगुना करके ऊपर बांई ओर लपेटा जाता है, इससे इसमें

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंका अधिकार सिद्ध होता है।

इस तीन डोरी वाले सूत्रको जो फिर तिगुना करके नीचेसे दाहिनी ओर लपेटा जाता है इससे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ इन तीन आश्रमोंको इसमें अधिकृत बताया जाता है। पूर्व तथा यहांपर यह भी अभिप्राय व्यक्त हो रहा है कि ऋग्, यजुः, साम ये तीन प्रकारके वेद (मन्त्रविशेष) इसके विषय हैं, और श्रौत-यज्ञोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप गार्हपत्य, दाक्षिणात्य, एवम् आहवनीय इन तीन अग्नियोंका उपयोग होता है। जैसे कि 'ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्याद् ईश्वरो दक्षिणे तथा। विष्णुराहवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोग्नयः। (गृह्यासंग्रह १।७)। अथवा धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग उसका विषय होता है। इन सबसे मनके मल, आवरण विक्षेप तीन दोष दूर किये जाते हैं।

इस प्रकार यह नव-तन्तुका सूत्र हो जाता है। प्रत्येक तन्तुका एक देवता हुआ करता है। जैसे कि 'गृह्यासंग्रह' में कहा है—'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम्। देवतास्तत्र वक्ष्यामि आनुपूर्व्येण याः स्मृताः। (२।४८) ओङ्कारः प्रथमस्तन्तुर्द्वितीयश्चाग्नि-दैवतः। तृतीयो नागदैवत्यश्चतुर्थः सोमदैवतः। पञ्चमः पितृदैवत्यः षष्ठश्चैव प्रजापतिः। सप्तमो वायुदैवत्यश्चाष्टमो यम (सूर्य) दैवतः। नवमः सर्वदैवत्य इत्येते नव तन्तवः।' (२।४६-५०-५१) इन नौ देवताओंके पृथक्-पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीतधारण द्वारा द्विज बालकको भूषित होना चाहिये। ओंकारका गुण ब्रह्मज्ञान, दूसरे अग्निदेवताका तेजस्वी होना, तीसरे देवता अनन्तनागका गुण

धैर्य धारण करना, भार उठाना, चतुर्थ देवता चन्द्रका गुण सर्वजन-मनः-प्रह्लादक बनना, पञ्चम देवता पितृगणका गुण स्नेहशीलता तथा अपनोंका संरक्षण करना, छठे देवता प्रजापतिका गुण प्रजा-पालन, सातवें देवता वायुका गुण बलशाली होना, अष्टम देवता यमका गुण दुष्टोंको दण्ड देना, अथवा सूर्यका गुण प्रकाश धारण करना, नवम देवता विश्वेदेवोंका गुण सब दिव्य गुण तथा सात्त्विकता धारण करना इन नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीतधारण-द्वारा इन देवताओंका नित्य स्मरण तथा उनके गुणोंका अवलम्बन करना अपना कर्तव्य सूचित होता है।

फिर इस नव-तन्तु सूत्रको इस प्रकार तिगुना किया जाता है कि जिससे तीन सूत्रोंकी योजना सिरमें एक हो जावे। इस समयकी त्रिगुणता ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋणको सूचित करती है। इसीलिए देवतर्पण, पितृतर्पण एवम् ऋषितर्पणमें यज्ञोपवीतको क्रमसे सव्य, अपसव्य, तथा निवीती करना पड़ता है। 'मैं इस अधिकृत कर्मको अवश्य करूंगा, अवश्य करूंगा, करूंगा' इस प्रकार तीन वार प्रतिज्ञाको भी सूचित करता है।

यदि इस यज्ञोपवीत-सूत्रको सनातनधर्मका संक्षिप्त चित्र कह दें; तो अत्युक्ति न होगी, यह बताया ही जा चुका है इससे सनातनधर्मका परमार्थवाद अद्वैतवाद भी सिद्ध हो रहा है। सनातनधर्मका सिद्धान्त है कि—ब्रह्मसे सम्पूर्ण जगत प्रकट होता है, उसीके आश्रयसे अवस्थित रहता है, अन्तमें भी फिर उसीमें लीन हो जाता है। एक ही ब्रह्मसे त्रिगुणात्मक जगत्का प्रपंच

होता है, अन्तमें एक ब्रह्म ही हो जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार एक ब्रह्मका सूत्र ही सारे संसारमें प्रसृत है; अन्तमें सारे संसारका उसी ब्रह्ममें लय हो जाता है। अब ब्रह्मसूत्र-यज्ञोपवीतकी रचना पर भी ध्यान दीजिये। एक ही सूत्रसे उसकी रचना प्रारम्भ होती है। एक ही सूत्रसे तीन सूत्र बन जाते हैं। अन्तमें एक ही ब्रह्मग्रन्थिमें उसकी समाप्ति हो जाती है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तमें एक ही ब्रह्मसे सत्त्व, रज, तम यह त्रिगुणात्मक सृष्टि होती है, अन्तमें एक ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार यज्ञोपवीत भी एक सूत्रसे त्रिगुण होकर अन्तमें ब्रह्मग्रन्थिमें ही समाप्त हो जाता है। जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व भी एक ही अद्वितीय ब्रह्म होता है, प्रलयमें भी वही। संसार-दशा अथवा व्यवहार-दशामें त्रिगुणात्मक प्रकृतिका चक्र है. यही अवस्था ब्रह्मसूत्र (उपवीत) की भी है। आरम्भमें भी एक सूत्र, अन्तमें भी सब मिलकर एक ब्रह्मग्रन्थिमें समाप्त होता है, मध्यमें ही केवल त्रिगुणचक्र होता है।

अब आगे चलिये—ऊपरकी तीन या पांच ग्रन्थियाँ प्रवर-संख्याको सूचित करती हैं, ग्रन्थिका नाम ब्रह्मपाश हुआ करता है। शूद्रोंका वेदमें अधिकार न होने तथा गोत्रप्रवरादि न होनेसे तन्मूलक उपनयन भी उनका नहीं होता। स्त्रियोंके भी स्वतन्त्र गोत्र-प्रवर नहीं होते, इस कारण उनका भी स्वतन्त्र (पृथक्) यज्ञोपवीत नहीं होता।

इस यज्ञोपवीतके कर्म-उपासनाकाण्डार्थ होनेसे, ऋणत्रयकी

पूर्तिका मूल होनेसे, तथा धर्म, अर्थ, काममूलक होनेसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आश्रम तक उसका अधिकार होता है, फिर 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' (मनु० ६।३५) 'अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्' (मनु० ६।३६) 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' (मनु० ६।३८) इस प्रकार मोक्षप्राप्त्यर्थं संन्यासाश्रममें केवल ज्ञान-काण्डका उपयोग करना पड़ता है। इस कारण उसमें यह यज्ञोपवीत छोड़ना पड़ता है; क्योंकि—यह वेदके ९६ सहस्र कर्म-उपासना काण्डके धर्म, अर्थ, कामप्रतिपादक मन्त्रोंका ही अधिकार देता है। इस पूर्तिके हो जाने पर मोक्षप्राप्त्यर्थं अवशिष्ट वेदके ज्ञानकाण्डके चार सहस्र मन्त्रोंके मननका क्रम प्राप्त हो जानेसे इस यज्ञोपवीत-सूत्रको छोड़ना पड़ता है। इष्ट स्थानकी प्राप्ति हो जाने पर यात्री अपना 'टिकट' देकर 'स्टेशन' पार हो जाता है। इस प्रकार संन्यासाश्रमसे पूर्व द्विजको इसे छोड़ना न चाहिये—यह भी इससे सूचित हो जाता है।

संन्यासीके शिखा-सूत्र नहीं होते; इस विषयमें 'शङ्करदिग्विजय' में स्वा० शङ्कराचार्य तथा श्रीमण्डनमिश्रका संवाद भी प्रमाण है। जब आचार्य शङ्कर माहिष्मती नगरीमें मण्डनमिश्रके यहाँ शास्त्रार्थ करने पहुँचे; तो संन्यासी होनेसे इनके शिखा-सूत्र नहीं थे; पर कन्धे पर भारी कन्था (झोली) रखी हुई थी। इस पर मण्डनमिश्रने स्वा० शं०को कहा—'कन्थां वहसि दुर्बुद्धे! गर्दभेनापि दुर्वहाम्। शिखा-यज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति' (८।२०) (इतनी भारी

झोलीको तो उठा रहे हो, शिखा वा जनेऊका कोई बड़ा भार था कि उसे नहीं पहना?) । श्रीशंकरने भी उसी शैलीसे उत्तर दिया कि-'कन्थां वहामि दुर्बुद्धे ! त्वत्-पित्रापि सुदुर्वहाम् । शिखा-यज्ञोपवीताभ्यां श्रुतेर्भारो भविष्यति' (८।२१) कन्था तो इतनी भारी है कि उसे तुम्हारे पिता भी नहीं उठा सके; पर संन्यासीकेलिए शिखासूत्र श्रुतिके प्रतिकूल होनेसे उसे रखनेसे श्रुति पर ही भार चढ़ेगा। इसलिए नहीं पहरे) । यही नारद-परिव्राजकोपनिषद्के तृतीयोपदेश में लिखा है—

'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः । यदक्षरं परं ब्रह्म तत् सूत्रमिति धारयेत्' (७७) 'यज्ञोपवीतं छित्त्वा 'ओं भूः स्वाहा' इति अप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य 'संन्यस्तं मया' इति त्रिवारमभिमन्त्रयेत्' (संन्यासोपनिषद् २।६) इससे संन्यासीको यज्ञोपवीत हटा देना पड़ता है ।

जो लोग वेदको ११३१ संहितात्मक नहीं मानते, वर्तमान चार संहिताकी पोथियोंको ही वेद मानते हैं; तब उनके मन्त्र तो अधिक-से-अधिक बीस सहस्रके लगभग हैं; उन्हींमें कर्म, उपासना, ज्ञान-काण्ड अन्तर्भूत हो जाते हैं। उनमें ज्ञानकाण्डके चार सहस्र मन्त्रोंको छोड़कर कर्म एवम् उपासनाकाण्डके सोलह सहस्रके लगभग मन्त्र अवशिष्ट रह जाते हैं। ऐसा होनेपर उनके दाहिने हाथकी चार अंगुलियोंसे ९६ बार लपेटनेमें कोई भी उपपत्ति नहीं रहती। इस कारण उनका पक्ष भी निर्मूल है। तब वे दाहिने हाथके चप्पेसे १६ बार लपेटे हुए यज्ञोपवीत सूत्रके अत्यन्त छोटे

होनेसे उसे पहिन ही कैसे सकेंगे ? ९६ संख्यासे अन्य संख्या यज्ञोपवीत-निर्माणमें कहीं कही भी नहीं गई है।

उपनयन-संस्कारसे हम द्विज होते हैं, यह पूर्व कहा ही जा चुका है। यहीं इसका महत्त्व है। जैसा कि स्मृतियोंमें कहा है—'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने' (मनु० २।१६९) 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते' (अत्रिस्मृति १३८) 'द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातुः स्यात् प्रथमं तयोः। द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरोः। एवं द्विजातिमापन्नो विमुक्तो वाऽन्यदोषतः। श्रुतिस्मृति-पुराणानां भवेद् अध्ययनक्षमः' (व्यासस्मृति १।२२-२३) इसी प्रकार 'वसिष्ठस्मृति' (२।२-३) तथा 'शङ्खस्मृति' (१।६) में भी कहा है। इस संस्कारसे पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एकजत्व-धर्मसे शूद्र-सदृश होते हैं। तब वे वेदपठनमें अधिकृत नहीं होते, क्योंकि वेदारम्भ-संस्कार उपनयन-संस्कारके सम्पन्न होने पर ही हुआ करता है। इसी कारण श्रीमनुजीने कहा है—'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते। शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२)

इसी प्रकार कई आजकलके सुधारक भी एक वचन कहा करते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते' यद्यपि यह वचन किसी स्मृतिके मूलमें नहीं पढ़ा गया; तथापि इसमेंके 'शूद्र' शब्दका 'शूद्र'-सदृश अर्थमें पर्यवसान होता है; यहां पर उपमावाचक-शब्द लुप्त है। नहीं तो यदि सभी जन्मसे शूद्र हो जायँ; तब उपनयनसे सभी केवल ब्राह्मण होते, क्योंकि वहां कर्म-

भेद नहीं होता। परन्तु ऐसा नहीं है, किन्तु जन्मसे ही वह-वह वर्ण माना जाता है।

यदि यह बात स्वीकृत न हो तो—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत गर्भाष्टमं वा, एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पारस्करगृ० २।२।१-२-३, आपस्तम्बगृ० ४।१०।१-२-३, द्राह्यायणगृ० ३।४।१-३-५, जैमिनिगृ० १।१२, गोभिलगृ० २।१०।१-२-३, वसिष्ठध० ११।४४, मनु० २।३६-३७, व्यासस्मृ० १।१६, शङ्खस्मृ० २ अ०, याज्ञवल्क्यस्मृ० आचाराध्याय १४) इत्यादि वचनोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शब्द असम्भव होते। इस कारण 'जन्मना जायते शूद्रः' यहां पर 'ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम' इस न्यायसे 'शूद्रसधर्मता' ही अर्थ है, वास्तविक शूद्र हो जाना नहीं। अन्यथा जन्म-शूद्रको भी उपनयनाधिकार तथा द्विजत्वकी प्राप्ति हो जाती; परन्तु उसको जीवन तक 'एकज' माना जाता है 'द्विज' नहीं। इससे शूद्रको यज्ञोपवीतका भी अधिकार नहीं।

यज्ञोपवीतकी रचना भी यही सूचित करती है। उसकेलिए कहा है—'स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न कर्तव्यं कदाचन। स्तनाद् ऊर्ध्वं श्रियं हन्ति नाभ्यधस्तात् तपः-क्षयः' (गोभिलगृह्यासंग्रह २।५४) 'पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद् विन्दते कटिम्। तद् धार्यमुपवीतं स्याद् नातो लम्बं न चोच्छ्रितम्' इस 'कर्मप्रदीप'के वचनसे यज्ञोपवीतको अधिकसे अधिक कमर तक धारण करना कहा है। कमर तकका भाग वैश्यकी सीमा है—'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः (अथर्व० शौ० सं० १९।६।६)। शरीरमें मुखकी सीमा ब्राह्मणकी,

बाहुकी सीमा क्षत्रियकी, कमरकी वा ऊरुकी सीमा वैश्यकी है। उससे निचली पांव तककी सीमा शूद्रकी है। वहां जब यज्ञोपवीत-धारणका निषेध है, तब शूद्रका यज्ञोपवीत भी शास्त्रीय नहीं। इसके अतिरिक्त यज्ञोपवीतकी तीन तन्तुएँ भी तीन वर्णोंमें सीमित हैं। जो लोग सब वर्णोंको यज्ञोपवीत पहनानेमें उत्सुक हैं, उन्हें उचित है कि वे चार तन्तुओं वाला यज्ञोपवीत बनावें तथा पैरों तक लम्बा बनावें। उक्त परिमाण (कमर-तकका) तब ठीक उतरता है जबकि ९६ चप्पा सूत हो।

तब कई लोगोंसे उद्धृत 'जन्मना जायते शूद्रः' इस वचनमें 'शूद्र' शब्दका—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा-एष ब्रह्मदत्तः, अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवद् अयं भवतीति' (महाभाष्य १।१।५।२२) 'शूद्रवत्' यह अर्थ है; इसमें मनु आदिकी साक्षी दिखलाई जा चुकी है कि—'शूद्रेण हि समस्तावद्'

शूद्रके एकजत्वमें प्रमाण यह है—'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः, त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः' (मनु० १०।४) द्विजत्वके अधिकार न होनेसे ही उसका उपनयनमें अधिकार नहीं। उपनयनमें अधिकार न होनेसे उसका वेदमें भी अधिकार नहीं; क्योंकि उपनयन ही वेदाधिकार देनेका पट्ट है। इसलिए कहा है-'तस्माद् यज्ञोपवीती एव अधीयीत, याजयेद् यजेत वा, यज्ञस्य प्रसृत्यै' (तैत्तिरीयारण्यक २।१)। इसके अतिरिक्त यजन स्मृतियोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका आया है; यह 'मनुस्मृति'में द्रष्टव्य है। शूद्रका यजन-यज्ञ न होनेसे यज्ञोपवीत भी कैसे होसके ?

'वसिष्ठधर्मसूत्र'में कहा है—'गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्। त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्, न केनचित् छन्दसा शूद्रम्-इति असंस्कार्यो विज्ञायते' (४।३) यहाँ पर वर्णोंकी उत्पत्ति छन्दोंसे कही है।

गायत्रीसे ब्राह्मणका द्वितीय जन्म कहा है, क्योंकि पहला जन्म तो मातासे कहा है। गायत्रीछन्द आठ अक्षरोंका होता है। अतः द्वितीय जन्मरूप यज्ञोपवीत एवं गायत्री-छन्दका ग्रहण भी ब्राह्मणका आठवें वर्षमें कहा है। इसी कारण सन्ध्यामें गायत्रीके विसर्जनके अवसर पर 'उत्तमे शिखरे देवि! ..... ब्राह्मणेभ्योभ्यनुज्ञाता' (तैत्तिरीयारण्यक १०।३०) गायत्रीकी ब्राह्मणोंकेलिए अभ्यनुज्ञा स्वीकृत की गई है। इसी प्रकार 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' 'पावमानी द्विजानाम्। ''ब्रह्मवर्चसं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (अथर्व० सं० १६।७१।१) इस मन्त्रमें भी वेदमाता-गायत्रीको द्विजों (ब्राह्मणों) को पवित्र करनेवाली कहा है। गायत्रीको माता इसलिए कहा है—यह द्वितीय जन्म कराती है। गायत्रीके आठ अक्षर हैं, इसका द्विगुण सोलह होते हैं। तो सोलह वर्ष गायत्री-सावित्री (यजुः वा० सं० ३।३५) प्राप्ति अर्थात् उपनयनकी ब्राह्मणकी अन्तिम अवधि है।

त्रिष्टुप्से क्षत्रियकी उत्पत्ति कही है। त्रिष्टुप् छन्दके ११ अक्षर होते हैं। अतः द्वितीय-जन्मात्मक यज्ञोपवीत तथा त्रिष्टुप्-मन्त्रग्रहण भी क्षत्रियका ११ वें वर्षमें कहा है। ग्यारहका दुगना बाईस होता है, अतः २२ वर्ष त्रिष्टुप्-सावित्री (यजुः वा० सं० १२।३)-ग्रहण अर्थात् उपनयनकी क्षत्रियकी अन्तिम अवधि है।

वैश्यका द्वितीय जन्म जगती छन्दसे कहा है। जगतीके १२ अक्षर होते हैं; तब वैश्यका द्वितीय जन्मरूप जगतीसावित्री (यजुः वा०सं० १७।७४)-ग्रहण भी १२वें वर्षमें नियत है। १२ का द्विगुण २४ होता है; अतः वैश्यकी जगतीमन्त्र-ग्रहणकी अर्थात् उपनयनकी अन्तिम अवधि भी २४ वर्षकी है। इसीलिए ही 'पारस्करगृह्यसूत्र'में 'गायत्रीं ब्राह्मणेभ्योनुब्रूयात, त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य, जगतीं वैश्यस्य' (२।३।७-८-९) इस प्रकार तीन वर्णोंको गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इन भिन्न-भिन्न छन्दोंके सावित्री (सवितृदेवताक) मन्त्रोंका अधिकार कहा है। यही बात 'मानवगृह्यसूत्र' (१।२।३)में, 'ऐतरेय ब्राह्मण' (१।५।२८) तथा अन्य गृह्यसूत्रोंमें कही है। इन सावित्रियोंका ग्रहण 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत, एकादशवर्षꣳ राजन्यम्, द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पार० गृ० ३।२।१-२-३) अपने-अपने छन्दोंके एकपादके अक्षरोंके अनुसार इन वर्षोंमें आया है; और अन्तिम अवधि 'आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य अनतीतः कालः, आ द्वाविꣳशाद् राजन्यस्य, आ चतुर्विꣳशाद् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतित-सावित्रीका भवन्ति' (पार० २।५। ३६-३७-३८-३९) इन अपने-अपने छन्दोंके दो पादोंके अक्षरोंके अनुसारी वर्षोंमें कही है।

ब्राह्मणका यज्ञोपवीत वसन्त-ऋतुमें होता है, क्षत्रियका ग्रीष्ममें वैश्यका शरद्में। वर्ण-विभागमें यह ऋतुएँ भी शतपथके अनुसार क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं। वसन्तमें न भीषण सर्दी होती है, न घोर गर्मी। ब्राह्मणको भी ऐसी सात्त्विकता अपेक्षित होती है। ग्रीष्म तेजस्वी है, क्षत्रियको भी तेजस्वी बनना पड़ता है। शरद्

ऋतुमें व्यापार-कार्य शुरू होता है, तृण-आदिका संग्रह भी किया जाता है; वैश्यको भी वैसा संग्रही बनना पड़ता है। इन कारणोंसे यह ऋतुविभाग रखा गया है।

परन्तु शूद्रका द्वितीय जन्म न तो किसी छन्दसे कहा है; न ही कोई छन्दोमन्त्र (सावित्री) उसके लिए कहा गया है। न उसके सावित्री-ग्रहणार्थ कोई आरम्भिक वर्ष कहा है, न अन्तिम वर्ष। न ही त्रैवर्णिकोंकी तरह अन्तिम वर्षका अतिक्रमण करने पर उन्हें कहीं 'व्रात्य' कहा है; अतः शूद्रका यज्ञोपवीत भी किसी वर्षमें नहीं होता। जब शूद्रको ही उपनयनमें अधिकार नहीं; तब अवर्ण तथा अन्त्यजादि सङ्कर-जातियोंका तो उपनयनाधिकार हो ही कैसे सकता है ?

स्वा० दयानन्दजीने अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है—'जो कुलीन, शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे। यह मत अनेक आचार्योंका है' (३ समु० पृ० २५)। '६ वें वर्षके आरम्भमें द्विज अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्यकुलमें....भेज दें। और शूद्रादिवर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यासकेलिए गुरुकुलमें भेज दें' (स० प्र० २ पृ० १८) यहां पर स्वामीजीने शूद्रोंका उपनयन नहीं माना; तब उन्हें वेदाधिकार भी नहीं हो सकता है। इस कारण उन्होंने अपनी संस्कारविधिमें भी उपनयनसंस्कारके बाद ही 'वेदारम्भ-संस्कार' माना है। 'मनुस्मृति'में भी कहा है—'कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो (वेदस्य) ग्रहणं चैव

क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) यहांपर उपवीतीको ही वैध वेदाध्ययन का अधिकार कहा है।

८-११-१२ वर्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके उपनयनका मुख्य काल है। मनु (२।३७)के अनुसार ५-६-८ वर्ष तीनोंका काम्यकाल है; क्योंकि उसमें ब्रह्मवर्चस, बल तथा धनकी कामना करनी पड़ती है। मनु (२।३८)के अनुसार १६-२२-२४ वर्ष तीनोंका गौणकाल है, अतः आपत्कालरूप है। इसीलिए 'बृहत्पराशरस्मृति'में कहा है—'अष्टैकद्वादशाब्दानि सगर्भाणि द्विजन्मनाम्। मुख्यः कालो व्रतस्यैष, ह्यन्य उक्तो विपर्यये' (गौणत्वे) (४।१६२)। उसके बाद 'व्रात्यता' तथा प्रायश्चित्तार्हता होती है।

'कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रिकम्' (मनु० २।४४) यह तीनों वर्णोंका रुई, सन और ऊनके सूत्रोंसे यज्ञोपवीतका भेद है; जिससे अनायास मालूम हो जाय कि—यह किस वर्ण का है; परन्तु आजकल जैसे तीन वर्णोंका छन्दभेद नहीं दिखाई पड़ता; वैसे यज्ञोपवीतभेद भी नहीं दिखलाई पड़ता; वह समयका स्वातन्त्र्य है। क्षत्रिय, वैश्यका सन तथा ऊनका यज्ञोपवीत उसकी दृढ़ताके लिए अनुमित होता है, युद्ध एवं व्यापारके काममें लगे क्षत्रिय-वैश्योंके लिए उपयुक्त भी यही प्रतीत होता है। यह बाह्य उद्देश्य हैं; आभ्यन्तरिक उद्देश्य अदृष्ट-मूलक हो सकता है।

'एकैकमुपवीतं तु यतिनां ब्रह्मचारिणाम्। गृहिणां च वनस्था-नामुपवीतद्वयं स्मृतम्' (वृद्धहारीतस्मृति८।४४) 'गृहस्थाश्रमी यज्ञो-

पवीते...धारयेत्' (वैखानसधर्मसूत्र ३।१।१) 'उपवीतं वटोरेकं, द्वे तथा इतरयोः (गृहस्थवानप्रस्थयोः) स्मृते' (पारिजातमें देवल वचन) 'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि। तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्राभावे तदिष्यते, (हेमाद्रि) इत्यादि वचनोंसे गृहस्थियोंको श्रौत-स्मार्त कर्मके कारण दो यज्ञोपवीत पहनना कहा है। जो लोग दूसरा यज्ञोपवीत स्त्रीके प्रातिनिध्यसे पहनना कहते हैं कि—'दूसरा यज्ञोपवीत स्त्रियोंका होता था; परन्तु स्वार्थियोंने उनके गलेसे उतारकर स्वयं पहिन लिया, यही कारण है कि पुरुषके गलेमें दो यज्ञोपवीत होते हैं'—उनका कथन उक्त प्रयोजनसे खण्डित हो गया। नहीं तो तीसरा यज्ञोपवीत उत्पन्न हुए बालकके प्रतिनिधित्वसे हो जाय! परन्तु ऐसा नहीं। प्रयोजन वहांपर कहा ही जा चुका है। वस्तुतः स्त्रियोंको यज्ञोपवीतका अधिकार नहीं होता। विवाह ही उनका यज्ञोपवीत-संस्कार है।

श्रीमनुने कहा है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७) यहांपर स्त्रियोंके विवाहको ही उपनयनस्थानीय कहा है, पतिसेवा ही उनका गुरुकुलवास माना गया है। घरका काम आदि उनका यज्ञ कहा है। इसमें टीकाकारोंकी सम्मति भी मिलती है। हम उनकी उक्त पद्यकी टीका उद्धृत करते हैं—

श्रीकुल्लूकभट्ट लिखते हैं—'अनेन ['अमन्त्रिका' इति पद्येन स्त्रीणाम्] उपनयनेपि प्राप्ते विशेषमाह—विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुले

वासो वेदाध्ययनरूपः। गृहकृत्यमेव सायं-प्रातः समिद्धोमरूपोऽग्नि-परिचर्या। तस्माद् विवाहादेरुपनयन-स्थाने विधानाद् उपनयनादे-र्निवृत्तिरिति'।

श्रीमेधातिथिने भी लिखा है—'पूर्ववचनेन [स्त्रीणां] जात-कर्मादिवद् उपनयनेपि अमन्त्रके प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमारभ्यते—वैवाहिको विधिरिति—वेदग्रहणार्थो वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो यः स स्त्रीणां वैवाहिको विधिः। विवाहे भवो, विवाहविषयो, विवाह-साध्यः। अतो विवाहस्य उपनयनस्थाने विहितत्वात् तस्य निवृत्तिः। (प्र.)यदि विवाहस्तत्-(उपनयन) कार्यम्, हन्त! प्राप्तं वेदाध्ययनं, प्राप्ता च ब्रह्मचर्या, उपनयनं नाम मा भूदिति? (उ.) एतद् उभयमपि निवर्तयतिपतिसेवा गुरौ वासः, पतिं या सेवते, उपचरति, आराधयति, सा एव अस्याः (स्त्रियाः) गुरौ वसतिः"।

श्रीगोविन्दराजने लिखा है—'एवमुपनयनेपि [स्त्रीणाम्] अमन्त्र-के प्राप्ते आह—वैवाहिक इति। यद् विवाहविधानम्, तदेव आसां वैदिकसंस्कारोपनयनस्थाने, पतिसेवा च गुरुशुश्रूषास्थाने, गृहकृत्यं च अग्निपरिचरणस्थाने'। श्रीनारायणने लिखा है—'उपनयनं तु न कार्यं तासाम्, विवाहसंस्कारस्य तत्स्थानीयत्वादित्यर्थः। वैदिको वेदाधिगमार्थः उपनयनरूपः। धर्मातिदेशार्थं तदङ्गसम्पादनोक्ता पतिसेवेति। यथा गुरुशुश्रूषा व्रतिनः, तेनैव प्रकारेण स्त्रिया पतिः शुश्रूष्यः। यथा चाप्रमादेन अग्न्युपचरणं तत्र, तथा गृहार्थेषु गृह-प्रयोजनेषु पाकादिषु अप्रमत्तया भाव्यमित्यर्थः। परिक्रिया-परिचर्या। शूद्रस्य तु द्विज-सेवैव गुरौ वास इति ग्राह्यम्'।

यहां पर राघवानन्दने लिखा है—'तेषु स्त्रीणां विशेषमाह—'वैवाहिको वक्ष्यमाणविवाह-सम्बन्धी संस्कारः उपनयनसंस्कार-स्थानीयः। तेन तन्निवृत्तिः। वैदिकः—वेदमन्त्रकृतः—'विवाहस्तु समन्त्रकः' इत्युक्तेः। तासां पतिसेवैव गुरुकुलवासतया विधीयते, अकरणे प्रत्यवायस्मरणात्, करणे च स्तुतिस्मरणात्। एवं गृहार्थो गृहकृत्यमेव सायं-प्रातः समिद्धोमरूपा अग्निपरिचर्या'। यहीं श्री नन्दनने लिखा है—'उपनयनं तासां समन्त्रकम्, तच्च विवाह एवेत्याह वैवाहिको विधिरिति। संस्कारः—उपनयनम्। वैदिकः समन्त्रकः। तत्र गुरुकुलवासोऽग्निकार्यं च उत्तरार्धे प्रोक्तम्। गृहार्थः—गृहकार्यम्। अग्निपरिक्रिया—अग्निपरिचर्या। विवाहस्य उपनयन-प्रतिपादनं तत ऊर्ध्वं कामचारवादभक्ष्यादि-वर्जनार्थम्'। यहीं श्री रामचन्द्रने लिखा है—'स्त्रीणां—कन्यानाम्, संस्कारः वैवाहिको विधिः, वैदिकः—वेदमन्त्रैः स्मृतः। स्त्रीधर्मानाह—पतिसेवा गुरौ वासः गुरोराचार्यस्य समीपे वासः। अग्नेः परिक्रिया—गृहार्थे पाकनिमित्तम्'।

इस प्रकार स्त्रियोंका उपनयन ही जब नहीं है; तब 'पुरुषका यज्ञोपवीत स्त्रीके प्रातिनिध्यसे है' यह कइयोंका अनुमान ठीक न रहा। 'आह्निकसूत्रावली' में कहा है—ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा'। ब्रह्मचारियोंको केवल वैदिक कर्म करना पड़ता है, इसलिए उनका नाम 'ब्रह्मचारी' हुआ करता है। 'ब्रह्म चरति' यह उसकी व्युत्पत्ति होती है। इसलिए वे एक ही सूत्र धारण करते हैं। स्नातक हो जानेपर वैदिक एवं स्मार्त दोनों कार्य

करने पड़ते हैं, इस कारण उन्हें दो सूत्र पहनने पड़ते हैं। स्मृतियाँ भी उतनी होती हैं; जितनी मंत्र-संहिता। वेदार्थस्मरणका नाम 'स्मृति' हुआ करता है। तब स्मार्त-कर्मके लिए दूसरा सूत्र धारण करना पड़ता है, वादिप्रोक्त कारणसे नहीं। आजकल सुधारक लोग यज्ञोपवीत छोड़ रहे हैं; इसीलिए क्या अपनी स्त्रीको दो यज्ञोपवीत दे रहे हैं?

बिना यज्ञोपवीतके जबकि द्विजात्युत्पन्न भी वेदाध्ययनका अधिकारी नहीं रहता; तब यज्ञोपवीताधिकारसे रहित तो भला वेदाध्ययनमें किस प्रकार अधिकृत हो सकता है? इसके अतिरिक्त पत्नी विवाह हो जाने पर उस पदवीको अनायास प्राप्त कर लेती है, जिस पदवीको उसके पतिने बड़े आयाससे प्राप्त किया था। यह लोक-प्रत्यक्ष है कि पण्डितकी स्त्री पण्डितानी, मास्टरकी स्त्री मास्टरानी, चौधरीकी पत्नी चौधरानी, राजाकी स्त्री रानी कही जाती है; उसकी सन्तान भी पतिगोत्रज वा पतिकी जातिकी मानी जाती है। प्रत्युत स्त्रीका पितृगोत्र भी बदल जाया करता है, पतिका गोत्र हो जाता है। 'अनूढा न पृथक् कन्या पिण्डे गोत्रे च सूतके। पाणिग्रहण-मन्त्राभ्यां स्वगोत्राद् भ्रश्यते ततः' (८४) 'विवाहे चैव संवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वं सा व्रजेद् भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके' (८६) यह इस 'यमस्मृति' तथा 'लिखित स्मृति' के वचनसे विवाहिता स्त्री पितृगोत्रसे हटकर पति-गोत्रकी हो जाती है। उस स्त्रीका और्ध्वदेहिक भी पति-गोत्रसे होता है। इस प्रकार पतिसे अभिन्न रूप उसके लिए उपनयन आदिकी पृथक् आवश्यकता भी

नहीं रहती, पतिके यज्ञोपवीतसे वह यज्ञोपवीतके बिना भी यज्ञोपवीतिनी मानी जाती है। तभी उसका विवाह मन्त्र-सहित हुआ करता है, विशेष कई स्वाधिकृत मन्त्र भी वह वरके सहारे पढ़ सकती है।

उसका पृथक् उपनयन तो लौकिक दृष्टिसे भी उचित नहीं सिद्ध होता। उसका स्त्रीत्व प्रायः उसे अपवित्र दशामें रखनेको बाध्य करता है, जिसके सबब वह यज्ञोपवीतके नियम नहीं पाल सकती। प्रतिमास रजस्वला होने पर क्या वह यज्ञोपवीतको बार-बार बदलती रहेगी? प्रसवकालमें क्या वह चालीस दिन तकके लिए उपवीतको छोड़ देगी? इधर नवजात शिशुको अपने साथ सुलानेके सबब स्त्रीका समय प्रायः बच्चोंके मलमूत्रमें ही जाता है। क्या वह ढाई वर्षके लिए फिर यज्ञोपवीतको सन्दूकमें बन्द कर रखेगी? फिर 'नित्ययज्ञोपवीतिता' कैसे होगी? स्त्रीके जिस वक्षःस्थल पर सुधारक परम पवित्र उपवीत लटकाना चाहते हैं; वह तो धूलि-धूसरित, मलमूत्रव्याप्तसर्वाङ्ग नवजात शिशुका दिन-रात स्तनपानके समय उसका क्रीडास्थल बनेगा। वह उसे रस्सी मानकर खींचेगा, तोड़ेगा, उसके साथ खेलेगा और फिर वह सूत्र उसके तेल-उबटनसे सना रहेगा। इस प्रकार सोचनेसे उसका स्त्रीके कन्धेपर लटकाना लौकिक दृष्टिसे भी ठीक नहीं जँचता; शास्त्र-दृष्टिसे तो निषेध है ही। इस विषयमें 'सिद्धान्त' (काशी) पत्रके ७-८ वर्षमें हमारा शास्त्रार्थ छप चुका है। इस विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' के तृतीय पुष्पमें भी हम स्पष्टता कर चुके हैं। (इस तृतीय पुष्पका

मूल्य ३।) है; पाठक हमसे मंगा सकते हैं। स्त्री-शूद्रको उपनयन तथा वेदाधिकार देनेके जो प्रमाण दिये जाते हैं; उन पर इसमें शास्त्रीय विचार किया गया है।)

शौचादिके समय यज्ञोपवीतका दाहिने कानपर रखना

शौच आदिके समय यज्ञोपवीतसूत्रको दक्षिण कर्णपर लपेटना पड़ता है। इस पर कई दृष्टिकोणोंसे विचार किया जाता है। पहले इसपर शास्त्रीय दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है—'निवीती दक्षिणे कर्णे यज्ञोपवीतं कृत्वा मूत्रपुरीषे विसृजेत'। (वैखानसधर्मप्रश्न २।८।१, वैखानसधर्मसूत्र २।८।२)। [शौचविधौ] 'यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणे कर्णे वा कृत्वा' (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ४।६।१) इसी प्रकार कात्यायन-परिशिष्टके शौचसूत्रमें भी कहा है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में भी कहा है—'कर्णस्थ-ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः। कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु' (आचाराध्याय, ब्रह्मचारिप्रकरण १६ पद्य)। इसकी 'मिताक्षरा' में लिखा है—'पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्'। 'अग्नि-वेश्यगृह्यसूत्र'में कहा है—'कर्णस्थ-ब्रह्मसूत्रो मूत्रपुरीषं विसृजति' (२।६।८)। यह शास्त्रीय प्रमाण शौचादिके समय उपनयन-सूत्रको कानमें लपेटनेको समूल बता रहे हैं।

अब इसमें धार्मिक दृष्टिकोणके अनुसार पाठकगण रहस्य देखें। 'मनुस्मृति' में लिखा है—'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः'। (१।९२) (पुरुष नाभिसे ऊपर पवित्र है, नाभिके नीचे अपवित्र है)। इस प्रमाणसे नाभिका निचला भाग मलमूत्रका धारक होनेसे, विशेषतः शौचादिके समय अपवित्र होता है; इस कारण उस

समय पवित्र यज्ञोपवीतको वहां नहीं रखना पड़ता, किन्तु 'तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा' (मनु० १।६२) इस प्रमाणसे अत्यन्त पवित्र एवं ज्ञानका भण्डार होनेसे बौधायनके अनुसार सिर पर अथवा बोधायन, याज्ञवल्क्य आदिके अनुसार उसे दाहिने कान पर रखा जाता है।

दाहिने कानकी पवित्रता उसमें दीक्षाके समय आचार्यों द्वारा गुप्तमन्त्रोपदेश करनेसे तथा देवता-निवासके कारण सूचित होती है। 'शाङ्खायन'ने कहा है—'आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्। विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः'। 'आचार मयूख'में भी कहा है—'अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलास्तथा। एते सर्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे।' 'पराशर-स्मृति'में भी कहा है—'प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा। विप्रस्य दक्षिणे कर्णे वसन्ति मनुरब्रवीत्' (७।३६–४०, १२।२०) 'गोभिल-गृह्यासंग्रहमें भी कहा है—'मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च। एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे' (२।६०) इन पद्योंमें 'विप्र' शब्द द्विजोंका उपलक्षक है। 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' यह न्याय हुआ करता है।

दाहिने कानके पवित्र होनेसे ही 'क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते। पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्' (गृह्यासंग्रह २।८६, कार्तिकमाहात्म्य १।३५) असत्य आदिके अवसरपर दाहिने कानको छूना कहा गया है। इसलिए अपराधी लोग भी अपनी शुद्धिके लिए दाहिने कानको छूते वा पकड़ते हैं। स्पष्ट है कि—

देवता-निवास होनेसे उसमें पवित्रता मानी जाती है, इसलिए शौचादिके समय उपवीतकी शुद्धिकी अक्षुण्णतार्थ उसे दाहिने कान पर लपेटा जाता है। किन्हींके मतमें उस समय बाएँ कानपर भी यज्ञोपवीतका रखना कहा है। जैसा कि—'मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके। उपवीतं सदा धार्यं मैथुने तूपवीतिवत्। कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कण्ठलम्बितम्। विण्मूत्रे तु गृही कुर्याद् वामकर्णे समाहितः'। यहांपर उपवीतको मूत्रविसर्जनके समय दाहिने कानपर, पुरीष-त्यागके समय बाएँ कानपर, मैथुनके समय कण्ठी करके पीठके पीछे करना कहा है। यदि तब कानपर यज्ञोपवीत रखनेमें पुरुष भूल जाय; तो उसकी अशुद्धिके कारण उसका त्याग कहा है। जैसा कि 'सायणीय'में—'मलमूत्रं त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्। उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यद् नवं तदा'।

अब इस विषयमें वैज्ञानिक वा आयुर्वेदिक दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है।—कानोंकी नसका गुप्त इन्द्रिय और अण्डकोषके साथ सम्बन्ध है। मूत्रोत्सर्ग आदिके समय सूक्ष्म वीर्यस्रावकी आशङ्का रहती है। वीर्यका मुख्य-केन्द्र मस्तिष्क है। वैसे तो वीर्य सारे शरीरमें व्यापक होनेसे किसी भी छिद्रसे बह सकता है; पर उसका मुख्य द्वार मलमूत्र-द्वार ही है। मूत्रादिके समय वीर्य मस्तिष्कसे चलित होकर, दाहिने कानकी लोहिनिका नसके द्वारा आता हुआ मलमूत्रके साथ सूक्ष्म रूपसे गिरता है। इसी कारण वैद्य वा डाक्टर लोग भी मूत्रके द्वारा ही वीर्यस्रावकी परीक्षा करते हैं। इसी कारण दाहिने कानको यज्ञोपवीतसूत्रसे लपेटा जाता है,

जिससे वीर्यस्रावसे रक्षा हो। इसीलिए ही मैथुनमें यज्ञोपवीतका कण्ठी करना कहा है; जिससे शुक्रका निरोध न हो। इसके अतिरिक्त जिसको स्वप्नदोष होता हो; वह यदि दोनों कानोंको उपवीतसूत्रसे अच्छी तरह बांधकर सो जाए; तब स्वप्नदोष रुक जाता है; ऐसा वैद्य लोग कहते हैं।

कानकी नसका शिश्नेन्द्रियसे संबन्ध है—इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब स्त्री-पुरुष, घोड़ा-घोड़ी आदि नौकाके द्वारा नदी पार करते हैं; उस समय घोड़ीको देखकर घोड़ा कामातुर होकर जब शिश्नोत्थान कर लेता है; स्त्रियोंके भी बीचमें होनेसे यह अच्छा न समझकर उस समय मलाह लोग घोड़ेका कान मसल देते हैं; उससे घोड़ेका शिश्नोत्थान हटकर शिश्नसंकोच हो जाया करता है।

इस प्रकार उस समय सूक्ष्मतया अण्डवृद्धिकी भी आशङ्का रहती है। सात प्रकारकी अण्डवृद्धिमें छठा भेद 'मूत्रज-अण्डवृद्धि' हुआ करता है। तब उससे सम्बन्ध रखनेवाली कानकी नसके यज्ञोपवीतसूत्र द्वारा दब जानेसे वह आशङ्का प्रायः नहीं रहती। जिस स्थानमें कानपर यज्ञोपवीत लपेटा जाता है; वहां पर एक पुरुषने छिद्र कराया हुआ था; हमने उससे इसका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि—ऊँचे स्थानसे नीचे कूदनेके कारण मेरे अण्ड-कोषोंमें विषमता आगई थी। तब डाक्टरने कानके उक्त स्थलमें छिद्र करके उस नसको ठीक कर दिया। इसी कारण कई लोग उस भागमें सुवर्ण-कुण्डल धारण करते हैं, इससें इसमें प्रत्यक्ष

प्रमाणका अनुग्रह भी होगया। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण'।

इसमें लौकिक दृष्टिकोण भी है। मलमूत्र आदिके अवसर पर कानमें यज्ञोपवीत होनेसे हाथ धोना तथा कुल्ला करना नहीं भूलता। उस समय जलकी असुविधा होनेसे पीछे जल मिलने पर कानपर यज्ञोपवीत न होनेसे हाथ धोना भूल जाता है। उस समय अन्य मित्रादि उसके कान पर यज्ञोपवीत देखकर उसको अशुद्ध मानकर उससे हाथ नहीं मिलाते; नहीं तो मित्रगण आते ही हाथ मिलाना प्रारम्भ कर देते हैं। उस समय कानपर यज्ञोपवीत होनेसे अपनी तथा अपने हाथकी शुद्धि तथा कुल्ला करनेसे तात्कालिक दूषित परमाणुओंका नाश होता है। तब हाथकी शुद्धिसे गुप्त-इन्द्रियकी अस्पृश्यता भी हमारे वा अन्यके दिमागमें बैठ जाती है। इससे पुरुष, अशुद्धिके डरसे गुप्त-इन्द्रियका व्यर्थ स्पर्श भी नहीं करेगा; नहीं तो सर्वदा उसके स्पर्शसे कुविचारकी आशङ्का बनी रहती है। वृथा स्पर्श न करनेसे कुविचारोंसे रक्षा भी हो सकती है।

अब इसमें लौकिक एवं शास्त्रीय दोनों दृष्टिसे शौचादिके समय कान पर यज्ञोपवीत रखनेकी विशिष्टविद्वत्सम्मत उपपत्ति दी जाती है। पाठकगण उसका भी मनन करें—

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' इस मन्त्रमें यज्ञोपवीतकी पवित्रता स्पष्ट है, परन्तु जैसे पवित्र अग्नि भी श्मशान आदि स्थानमें स्थित हुई व्यवहार्य नहीं होती; वैसे ही उपवीतसूत्र भी अपवित्र-अवस्था में उसके सम्बन्धसे निकले विद्युत्-प्रवाहसे अपवित्र हो सकता है। यज्ञोपवीत पवित्र अवस्थामें तो ब्रह्मसूत्र है; पर अपवित्र

अवस्थामें वह कपासका सूत्रमात्र ही होता है। मलमूत्रके उत्सर्ग-समयमें शरीरकी वैद्युतिक-शक्ति दूषित होजाती है। इस दशामें जैसे मदिराके पात्रमें रखे पवित्र भी गङ्गाजलकी तथा हींग आदिके संसर्गसे होमियोपैथिक दवाईकी और अस्पृश्यके संसर्गसे देव-प्रतिमाकी शक्ति दूषित होजाती है; वैसे ही अपावन दशामें पवित्र यज्ञोपवीतकी रक्षा न करने पर वह अव्यवहार्य होजाता है; क्योंकि वह उस समय ब्रह्मसूत्र नहीं रहता। इस कारण गायत्री-मन्त्रसे अभिमन्त्रित अन्य यज्ञोपवीतसूत्र जब तक धारण न किया जाय; तब तक ब्रह्म (वैदिक) कर्मका उस पहिलेके अपवित्रीभूत यज्ञोपवीत से करनेका अधिकार नहीं रहता।

परन्तु मलमूत्रके उत्सर्गके समय शारीरिक अशुद्ध विद्युत्से बचावकेलिए तथा यज्ञोपवीतकी दिव्यशक्तिकी रक्षाकेलिए क्या उपाय हो? इस विषयमें ऋषि-मुनियोंने एक उपाय ढूँढ निकाला है। वह यह है कि—उस समय यज्ञोपवीत-सूत्रका दाहिने कानसे सम्बन्ध कर देनेपर वह अपवित्र नहीं होता, क्योंकि—किसी ऐसे पवित्र तत्त्वके साथ जोड़नेसे जिसकी विद्युत् कभी दूषित न होती हो, उससे सम्बद्ध वस्तुमें भी पवित्र विद्युद्-धाराके प्रवाहसे वह अपवित्र अवस्थामें भी पवित्र रह सकता है। इस प्रकारका कौन-सा तत्त्व है जो कभी भी अपवित्र न हो, जिसके साथ सम्बन्ध कर देनेसे अपवित्र अवस्थामें भी यज्ञोपवीतकी पवित्रता त्रिकालमें पवित्र रहनेवाले तत्त्वके पवित्र विद्युत्-प्रवाहके संसर्गसे दूषित न हो?

इस पर यह जानना चाहिये कि—प्रकृतिने अपनी सृष्टिका सौन्दर्य प्रधानतासे पाँच तत्त्वोंसे अलंकृत किया है। वे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी नामक तत्त्व सम्पूर्ण मण्डलके सभी पदार्थोंमें ओत-प्रोत हैं। इनमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जो कदापि दूषित न हो? पृथिवी भी देशकालानुसार दूषित होजाती है; जैसे-श्मशानभूमि। जल भी स्थानभेद वा अवस्थाभेदसे दूषित हो जाता है। अन्य जलोंकी तो बात छोड़िये, पात्रस्थ पवित्र गङ्गाजल भी अन्त्यज-स्पर्शसे वा मद्यके पात्रमें रखनेसे दूषित होजाता है। तेज का भेद अग्नि भी अशुद्ध हो जाया करती है। चिताग्नि तथा मुखकी फूंकसे जलाई हुई अग्नि भी अपवित्र मानी जाती है। वायु भी पुरीषालय, वेश्यालय, मदिरालय आदियोंकी दूषित मानी जाती है। अतः उस दूषित वायुमण्डलमें रहनेसे अनेक व्यक्ति रोगसे आक्रान्त होजाते हैं।

उक्त विवेचनासे सिद्ध हुआ कि-पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व सदा पवित्र नहीं रहते। अपवित्र देशकालमें इनकी पवित्रता नष्ट होजाती है। अवशिष्ट रहा आकाश-तत्त्व। यह अपवित्रसे अपवित्र अवस्थामें रहकर भी दूषित नहीं रहता। उसकी विद्युद्-धारा दूषित कभी भी नहीं होती। किसी भी शास्त्रमें यह नहीं लिखा कि अमुक स्थानका आकाश भी दूषित होजाता है। वह जल, वृष्टि आदिसे गीला वा ठण्डा, तेज वा लूसे गर्म, मिट्टी वा धुएँसे मलिन, वायु वा तूफानसे कम्पित नहीं होता। मलालय वा मद्यालयका भी आकाश दूषित नहीं होता। इस कारण पवित्र

यज्ञोपवीतकी भी पवित्रता मलमूत्रोत्सर्गकी अपवित्र अवस्थामें भी दूषित न हो, एतदर्थ उसका सम्बन्ध सदा पवित्र आकाशके साथ कर देना चाहिये, जिससे आकाश-तत्त्वमें सदा पवित्र ठहरा हुआ वैद्युतिक प्रवाह यज्ञोपवीत-सूत्रके सर्वांशमें व्याप्त होजाय। जिस प्रकार विद्युद्-भवनके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे विद्युत्प्रवाह सर्वत्र दौड़ता है, वैसे ही आकाशके साथ जोड़े हुए यज्ञोपवीतकी भी पवित्रता नष्ट नहीं होती। वह तब ब्रह्मसूत्र ही रहता है।

यज्ञोपवीतका बाह्याकाशमें लटकाना असम्भव है। इसके अतिरिक्त शरीरसे पृथक् करने पर भी यज्ञोपवीत अशुद्ध होजाता है। इस कारण शरीरमें आकाशतत्त्वसे बना हुआ जो अङ्ग वा इन्द्रिय हो; मूत्र-पुरीषोत्सर्गके समय उसीके साथ यज्ञोपवीत-सूत्रका सम्बन्ध कर देना चाहिये। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पाँच तत्त्वोंके गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं। इनको धारण करनेवाले उक्त तत्त्वोंसे उत्पन्न इन्द्रिय हमारे शरीरमें क्रमशः कान, त्वचा, आँख, जिह्वा, नासिका हैं। इनमें आकाशतत्त्वसे उत्पन्न कर्णेन्द्रिय ही आकाशके गुण शब्दको ग्रहण करता है; अन्य इन्द्रिय नहीं। तब शब्दग्रहणके कारण कर्णेन्द्रिय ही आकाशसे उत्पन्न है और आकाशकी तरह सदैव पवित्र हैं। इस कारण शास्त्रोंमें दक्षिण कानकी पवित्रता प्रसिद्ध है। उसके साथ सम्बन्ध कर देनेसे यज्ञोपवीतसूत्र मलमूत्रोत्सर्गकी अवस्थामें भी पवित्र रहता है। दाहिने कानकी पवित्रता होनेसे ही आचार्यगण विशेष-मन्त्रको भी दक्षिण-कर्णमें ही सुनाते हैं। इस कारण अपान वायु

हो जाने पर शरीरके प्रतिनिधिभूत हाथसे दाहिने कानको छूते हैं; जिससे शरीर शुद्ध हो जाय।

'पराशरस्मृति'में भी लिखा है-'क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते। पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्' (७।३८)। इस प्रकार अपराधी भी दाहिने कानको छूता है, जिससे उसकी शुद्धि होजाय। हमारी ओरकी स्त्रियाँ भी अन्त्यजादि-स्पर्श द्वारा अपने बालकके अशुद्ध होजाने पर स्नानकी असमर्थतामें अपने दाहिने कानके सुवर्णसे छुए हुए जलको उस पर डालती हैं, जिससे वह पवित्र हो जाय। उसमें कारण दाहिने कान तथा सोनेकी पवित्रताका है। इसी कारण द्विज लोग लघुशङ्का वा दीर्घशङ्काके अवसर पर कानपर यज्ञोपवीतको रखते हैं।

अब एक ही प्रश्न अवशिष्ट है कि-यज्ञोपवीतसूत्रको दाहिनेही कान पर क्यों रखा जाता है, बाएँ पर क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि-बाएँ अङ्गसे दाहिना अङ्ग सर्वथा पवित्र माना जाता है। दान दाहिने ही हाथ से दिया जाता है, लिखा भी दाहिने ही हाथ से जाता है। शरीरके वामाङ्गमें स्त्रीशक्ति तथा दक्षिणाङ्गमें पुरुषशक्ति मानी जाती है। जिस स्त्री-जातिको वेदाध्ययन एवं यज्ञोपवीतका अधिकार ही नहीं; तब स्त्री-शक्तिसे समाविष्ट वामाङ्गमें यज्ञोपवीतको रखनेका अधिकार ही कैसे हो? जिस स्त्रीशक्तिमें अपवित्रताकी स्थिति स्वाभाविक है; उसके साथ संसर्गमें पवित्र वस्तुकी पवित्रता सुरक्षित क्योंकर हो सकती है? इसलिए ऋषि-मुनियोंने दक्षिण कर्ण पर ही यज्ञोपवीत रखकर मलमूत्रोत्सर्गकी आज्ञा दी है—यही

यज्ञोपवीतका दाहिने कानपर रखनेका वैज्ञानिक रहस्य है। मलमूत्रोत्सर्गकी समाप्तिमें मार्जन आदि द्वारा तथा हस्तप्रक्षालनपूर्वक सम्यक् शरीरशुद्धि हो जाने पर तब यज्ञोपवीतका दाहिने कानसे उतारना ठीक ही है।

इसके अतिरिक्त शरीरके भीतरी आगसे पीठसे जाती हुई, कन्धेमें होकर छातीके मार्गसे, नाभिप्रदेशसे लेकर कमर तक एक प्राकृतिक रेखा है, ऐसा सुना गया है। वह वह्निके वा विद्युत्के समान है। वह इन्द्रियोंमें उष्णता उत्पन्न कर मनुष्यको काम-क्रोधादि-से आविष्ट करती है, उसकी धनुषकी आकृति है। उसका स्वभाव लाजवन्ती बूटीके समान होता है, जो स्पर्शमात्रसे कुम्हला जाती है। यज्ञोपवीत उसी रेखा पर ठहरता है। इस कारण यज्ञोपवीती व्यक्ति अयज्ञोपवीतियोंके समान कामी या क्रोधी या हिंसक नहीं हुआ करते। जो लोग यज्ञोपवीतको प्रतिदिन नहीं धोते, (प्रतिदिन स्नान नहीं करते); वे भी क्रोधी हो सकते हैं। मलत्यागके समय यज्ञोपवीत इसीलिए भी कानमें रखा जाता है जिससे जागरित हुई वह विद्युद्-रेखा मलाशयमें उष्णता करके मलको विशुद्धतासे उतार दे। इस प्रकार वह रेखा यज्ञोपवीतके भारके सम्बन्धसे सदा हीन होने पर शरीरमें उष्णता उत्पन्न कर उष्णतामूलक काम-क्रोधादियोंको उत्पन्न करती है।

इस प्रकार उपनयन-संस्कारका महत्त्व सिद्ध हो गया। संस्कारसे जैसा चमत्कार होता है, वैसा जन्मसे नहीं। रेशम संस्कारसे ही पहिनने योग्य होता है और कोमल भी। खानसे निकला सोना

संस्कारसे ही चमकता है। हीरेको यदि शान पर चढ़ाकर संस्कारसे चमक न लाई जाय, तो उतना बहुमूल्य नहीं होता, जितना कि चमकदार होने पर। स्वच्छ मणि भी शानके संस्कारकी अपेक्षा रखती ही है। लकड़ीकी बनी हुई वस्तु रंगरोगनके द्वारा संस्कृत की हुई अधिक शोभा भी पाती है, टिकाऊ भी बनती है। इस अर्थमें तो सभी संस्कार प्रयोजनीय हैं; पर उपनयन तो विशेष-संस्कार है। उसीसे ही उसके अधिकारियोंकी शुद्धि होती है।

यज्ञोपवीतको देवकार्यमें बाएँ कन्धे पर रखा जाता है, मृतक-पितृकार्यमें दाहिने कन्धे पर रखा जाता है। ऋषिकृत्यमें निवीती-रूपमें (कण्ठीकी भांति) धारण किया जाता है। यह गृह्यसूत्र एवं स्मृतियोंमें स्पष्ट है। इनका लक्षण तथा इनका सम्बन्ध भी प्रकरण-वश बताया जाता है—इनको सव्य-अपसव्य भी कहा जाता है। 'वामं शरीरं सव्यं स्याद्' (अमर० ३।१।८४) 'सव्यं वामे च' (अजय) 'सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः' (पञ्चतन्त्र) इत्यादि प्रमाणोंसे 'सव्य' बाएँ-कन्धे पर यज्ञोपवीत रखनेका नाम है। इसी का पर्यायवाचक उपवीती, वा यज्ञोपवीती है—'तस्माद् यज्ञोपवीती एव अधीयीत याजयेद् यजेत वा यज्ञस्य प्रसृत्यै' (तैत्तिरीयारण्यक २।१)।—'अपसव्यं तु दक्षिणम्' (अमरकोष ३।१।८४) दक्षिणका नाम अपसव्य है। तो यज्ञोपवीतको दाहिने कन्धे पर करना उसका 'अपसव्य-करण' है। इसीका पर्यायवाचक 'प्राचीनावीती' होता है। निवीतीका अर्थ है यज्ञोपवीतका कण्ठी करना 'निवीतं कण्ठ-लम्बितम्'. (अमर० २।७।५०)।

अब इनके लक्षण देखिये—'उद्धृते दक्षिणे पाणौ उपवीती-त्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने' (मनु० २।६३, अमरकोष २।७।४९-५०) गलेमें पहने हुए यज्ञोपवीत-सूत्रमें दाहिना हाथ घुसा दे। इस प्रकार वह बाएँ—कन्धेमें हो जाता है। यही 'यज्ञोपवीती' है। जैसा कि 'गोभिलगृह्यसूत्र'में कहा है—'दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणकक्षमन्ववलम्बं भवति, एवं यज्ञोपवीती भवति' (१।२।२)। गलेमें पहरे हुए यज्ञोपवीत-सूत्रमें बाएं हाथको घुसेड़ दे; तो यज्ञोपवीत दाहिने कन्धे पर हो जाता है। इसीका नाम अपसव्यकरण वा प्राचीनावीती है। जैसे कि 'गोभिलगृह्य'में कहा है—'सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंसे प्रतिष्ठापयति, सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवति, एवं प्राचीना-वीती भवति' (१।२।३)। गलेमें मालाकी तरह यज्ञोपवीतको पहने, बायां वा दाहिना हाथ उसमें न घुसेड़े; तो निवीती होता है। जैसे कि 'शिरोवधाय दक्षिणपाण्यादौ अनुद्धृते कण्ठादेव आसज्जने ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति'।

अब यह प्रश्न है कि—सव्य, अपसव्य, निवीतित्व किस-किस कर्ममें कर्तव्य है। इसमें जानना चाहिये कि देवकर्ममें यज्ञोपवीती, पितृकर्ममें प्राचीनावीती, और ऋषि-कर्ममें निवीती होना चाहिये। 'प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा। पित्र्यमानिधनात् कार्यं विधिवद् दर्भपाणिना' (३।२७९, गोभि० १।२।४) यहांपर पितृकर्म प्राचीनावीतित्वमें कहा है—'कृतोपवीती देवेभ्यो, निवीती च

भवेत्ततः। मनुष्यांस्तर्पयेद् भक्त्या ऋषिपुत्रान् ऋषींस्तथा' (आह्निकतत्त्व)।

शेष प्रश्न यह है कि—ये भेद क्यों? इसपर 'शतपथब्राह्मण'-का कथन यह है। 'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जानु आच्य उपासीदन्' (२।४।२।१) वहां पर देवताओंको यज्ञोपवीती—बाएँ कन्धेमें सूत्र किये कहा है। अतः हमें भी देवकार्यमें वैसा करना पड़ता है। प्रायः हमें देवकार्य करना पड़ता है; अतः सामान्यतया उपवीत भी हमें बाएँ कन्धेपर ही रखना पड़ता है; इसमें एक और भी प्रयोजन सूचित होता है। वह यह कि शरीरका दाहिना भाग पुरुषका होता है और बायां स्त्रीका। पुरुष पुरुषरूप होता है, स्त्री प्रकृतिरूप। पुरुष स्वतन्त्र होता है, प्रकृति पुरुषके अधीन होती है। बाएं कन्धेपर सदा सूत्र रखनेसे, दाहिनेमें उसके सर्वदा न रखनेसे सूचित होता है कि स्त्री सदा परतन्त्र रहती है और पुरुष स्वतन्त्र। स्त्रीको पुरुषके अधीन होना चाहिये, पुरुषको प्रकृतिके अधीन नहीं होना चाहिये। 'शतपथ'में पूर्वके आगे पितरोंके लिए कहा है—'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जानु आच्य उपासीदन्; तानब्रवीद् मासि मासि वोऽशनम्' (२।४।२।२) यहांपर पितरोंको प्राचीनावीती कहा है; तो जो कि—प्रतिमास हम उन्हें भोजन सौंपते हैं; वहां हमें भी प्राचीनावीती होना पड़ता है। आगे—'अथैनं मनुष्या (ऋषयः) प्रावृता उपस्थं कृत्वा उपासीदन्' (२।४।२।३) यहाँ पर मनुष्य-विशेष ऋषियोंका प्रावृत—निवीती होना ('निवीतं प्रावृतं त्रिषु' (अमरकोष २।६।११३)

दिखलाया है; तब ऋषिकर्ममें भी निवीती होना पड़ता है। इस प्रकार तीन ऋणोंके शोधनार्थ यज्ञोपवीतकी परम आवश्यकता होती है। अतः यज्ञोपवीतको शरीरसे कभी भी पृथक् नहीं करना चाहिये। 'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्' (कात्यायन-स्मृति १।४)। 'विना यज्ञोपवीतेन द्विजातिर्यद्युपस्पृशेत्। प्राजापत्यं प्रकुर्वीत निष्कृतिर्नान्यथा भवेत्' (लघुहारीत० २१) 'विना यज्ञोपवीतेन भुङ्क्ते तु ब्राह्मणो यदि। स्नानं कृत्वा जपं कुर्वन् उपवासेन शुध्यति (२३)। यह यज्ञोपवीत छोड़नेका प्रायश्चित्त कहा है।

स्वामी दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' (११ समु० पृ० २४४)में यज्ञोपवीतको 'विद्याका चिह्न' माना है, यह बात ठीक नहीं। ऐसा मानने पर वे स्वयं अविद्वान् सिद्ध हो जाएंगे; क्योंकि उनका यज्ञोपवीत नहीं था। 'न्यायदर्शन' (१।२।१३)में 'व्रात्य' (उपनयनादि-रहित)को भी ब्राह्मण माना गया है; अतः वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका द्विजत्वसम्पादक तो हो सकता है, विद्वत्ता-सम्पादक वा हिन्दुत्व-सम्पादक नहीं। जहां यज्ञोपवीत-धारणका यह प्रयोजन है, वहांपर द्विजत्व-चिह्नका भी प्रयोजन है, सब चिह्नोंके रखनेसे बड़े-बड़े लाभ होते हैं। मुलतानमें एक दंगेमें मुसलमानोंने एक ब्राह्मणको मार डाला। यह हिन्दु है या मुसलमान—यह पता न लग सके; इस कारण मुसलमानोंने उसके परिचय-चिह्न नष्ट कर डाले। उसकी चोटी काट ली, तिलक मिटा दिया, इन्द्रिय भी काट दी, धोती भी हटा दी, मुंहकी खाल भी उतार ली कि पहिचाना न

जावे; पर शीघ्रतासे कमीजमें छिपा हुआ यज्ञोपवीत तोड़ना वे भूल गये; उसके शवको उन्होंने कुएँमें फैंक दिया। सिपाहियों द्वारा लाश मिलने पर उसके यज्ञोपवीत-द्वारा उसकी पहिचान होगई, क्योंकि—उसकी खोज पहलेसे ही जारी थी। तब उसके हत्यारोंको फांसी मिली। कहनेका भाव यह है कि—सभी चिह्नोंके रखनेसे जब-तब लाभ हो ही जाया करता है।

खेद है कि आजकल पुरुष-समाजमें यज्ञोपवीत पहिननेका विचार हटता जा रहा है। बड़े नेता कहे जानेवाले भी इसके पहननेसे पराङ्मुख हैं। अन्य बाबू लोग नैकटाई प्रेमसे लगाते हैं जो ईसाकी फाँसीका चिह्न है; हैटके चमड़ेको बड़े गौरवसे सिर पर धारण करते हैं, पतलून खैंचनेवाले चमड़ेके पट्टेको कन्धेपर बड़े गर्वसे पहनते हैं। रेलवेके टी० टी०, पुलिसके थानेदार आदि जनेऊकी तरह चमड़ेके पट्टेको बड़ी प्रतिष्ठा समझकर पहनते हैं; पर वे यज्ञोपवीतका भार-सा समझते हैं जो कि नहीं पहरते—यह आश्चर्यका अवसर है! स्वा० दयानन्दजीने भी ऐसे व्यक्तियोंको ठीक डांटा है कि—'जब पतलून आदि वस्त्र पहिनते हो; और तमगोंकी इच्छा करते हो; तो क्या यज्ञोपवीतादिका कुछ बड़ा भार होगया? (सत्यार्थप्र० ११ समु० २४४ पृ०) 'यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान और ईसाइयोंके सदृश बन बैठना व्यर्थ है।' (स० प्र० पृ० २४४)।

ऐसे व्यक्तियोंसे यदि पूछा जाय कि—आप कौन हैं? तो वे कहते हैं—हम हिन्दु हैं। परन्तु वेष उनका ईसाइयोंका होता है,

भाषा भी उर्दू-अंग्रेजी होती है, सिर पर चोटी भी नहीं होती, माथे पर तिलक भी नहीं होता, ग्रीवामें यज्ञोपवीत भी नहीं होता। हिन्दुत्वका अन्य कोई चिह्न नहीं होता; वे अपने आपको हिन्दु कैसे सिद्ध कर सकते हैं? गोरे न होनेसे वे अंग्रेज भी नहीं। सुन्नत न होनेसे वे मुसलमान भी नहीं। केश, कड़ा आदि न होनेसे सिक्ख भी नहीं। क्या 'इतो भ्रष्टास्ततो नष्टाः' ही का नाम हिन्दु है? क्या अपने कोई चिह्न भीतर-बाहर न रखनेवालेका ही नाम हिंन्दु है? हाय खेद! ऐसोंको लज्जा क्यों नहीं आती? कुछ समय के बाद इन्हें 'हिन्दु' नाम कहते हुए भी शर्म लगेगी।

आजकल स्त्री, शूद्र, अन्त्यज भी यज्ञोपवीत पहननेमें उत्कण्ठित दिखाई देते हैं; पर शास्त्रानुसार उनका उसमें अधिकार नहीं; इस विषय पर 'श्रीसनातनधर्मालोक'में ५०० पृष्ठ दिये गये हैं। कुछ अंश 'श्रीसनातनधर्मालोक के तृतीय पुष्पमें भी दिया है। पाठक उसे मँगाकर देख सकते हैं। इससे उनके एतद्विषयक सन्देह मिटेंगे। इस उपनयनका नाम 'यज्ञोपवीत' प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है— 'यज्ञका सूत्र'। यज्ञमें द्विजका अधिकार होता है—'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ० १।१४९।५)। तब द्विज पुरुषोंसे अतिरिक्त यज्ञ का वस्त्र अन्य कौन ले सकता है। इस कारण स्त्री-शूद्रान्त्यजादि यज्ञ तथा यज्ञ-विषयवाले वेदमें अनधिकृत हैं।

जोकि स्वा० दयानन्दजीने 'यज्ञे सौत्रामणीसुते' (यजुः १९।३१) इस पदसे यज्ञोपवीत-धारण करना अर्थ किया है, वह ठीक नहीं। अपने वेदभाष्यमें स्वामीजीने इस प्रकार अर्थ किया है—'यज्ञे

(सौत्रामणी) सूत्राणि-यज्ञोपवीतादीनि मणिना-ग्रन्थिना युक्तानि क्रियन्ते यस्मिन्, तस्मिन् (सुते) सम्पादिते' जिसमें यज्ञोपवीतादि ग्रन्थियुक्त सूत्र धारण किये जाते हैं, उस सिद्ध किये हुए यज्ञमें'। स्वामीजीका यह अर्थ 'मीमांसादर्शन, शतपथ-ब्राह्मण, कातीयश्रौत-सूत्र तथा कोश-व्याकरणादिसे विरुद्ध ही है। सौत्रामणि एक यज्ञविशेष ही है; यह यज्ञोपवीतका नाम नहीं। शतपथ एवं मीमांसा-दर्शनमें सौत्रामणी-यज्ञविशेषके देखनेसे स्पष्ट है कि यह यज्ञविशेष है, यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं। 'शतपथ-ब्राह्मण'में लिखा है— 'सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणी' (१२।८।१-२) इसी कारण यजुर्वेदमें 'सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं' (यजुः १६।३२) में यह कहा है।

'सौत्र'का 'यज्ञोपवीतवत्' 'मणि'का ग्रन्थि 'सुते'का 'सम्पादिते' यह अर्थ भी निर्मूल होनेसे असङ्गत ही है। 'गौतमधर्मसूत्र'में ४८ संस्कारोंमें यज्ञोपवीतसे 'सौत्रामणी'को पृथक् रखा गया है। अस्तु—

जो लोग स्त्री-शूद्रादिको यह कहकर उत्तेजित करते हैं कि-सनातनधर्मियोंने तुम्हें उपवीतका अधिकार न देकर तुम्हारा अपमान किया है, उन्हें यह तो देखना चाहिये कि वही सनातनधर्म संन्यासियोंको यज्ञोपवीत नहीं देता, वा उन्हें नहीं पहनने देता; क्या इससे वह उनका अपमान करता है? नहीं-नहीं। बल्कि संन्यासी वा यती लोग तो सर्वनमस्करणीय माने गये हैं। अतः वादियोंकी यह उत्तेजनात्मक नीति ठीक नहीं। यहाँ तो अधिकार-अनधिकारमें शास्त्रकी ही मान्यता होती है। तीन आश्रम, तीन वर्णों

के पुरुषोंमें ही उपवीतका अधिकार होता है; तभी यज्ञोपवीतकी तीन तन्तुएँ होती हैं। इस प्रकार 'उपनयन' मुख्य संस्कार तथा रहस्यपूर्ण सिद्ध हुआ।

उपनयनमें मेखला

उपनयनमें मेखला हुआ करती है। मेखलाका माहात्म्य पारस्कर-गृह्यसूत्रके 'इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्' (२।२।८) इस मन्त्रमें आया है। इससे स्पष्ट है कि--यह लाभदायक है। प्राण-अपानको वल देनेसे यह हार्निया रोगको नहीं होने देती। पाठकोंने देखा होगा कि कई वृद्ध पुरुष नल वढ़ आनेसे रवड़की एक साँपकी भांति नलके स्थान पर एक पेटी बांधते हैं; इससे वह स्थान दबा रहनेसे नल-वृद्धि नहीं हो पाती। ब्रह्मचर्यावस्थासे मेखला रखने पर पच्चीसवें वर्ष उतार देने पर फिर उस रोगकी सम्भावना नहीं रह पाती। कोई अन्त्ररोग नहीं हो पाता।

इसी मेखलाबन्धनका ही दूसरा रूप पतलून पर पेटी बांधना, पजामेमें नालेका बांधना, नेकर पहिनना, कमरबन्द बांधना, सिपाहियोंका पेटी बांधना आदि है। कटिके निचले स्थल पर मेखलाका दबाव पड़नेसे प्राण-अपानकी गति ठीक रहती है। इसीसे कमर कसने पर चुस्ती मालूम पड़ने लगती है। अतः अन्त्रवृद्धिकी आशङ्का नहीं हो पाती। यद्यपि धोती, साड़ी, लहंगा आदिके बन्धन भी इसीके रूपान्तर हैं; तथापि वैध-संस्कार वा अभिमन्त्रण द्वारा मेखलाबन्धन विशेष लाभदायक है जैसा कि मन्त्रमें कहा जा

चुका है। वह वायुको शान्त करके कामचेष्टामें संयम लाती है, पुंस्त्वको भी स्थिर रखती है।

मेखला-भेद वर्ण-भेदको बताता है, जिस प्रकार पेटीका भेद पुलिस, मिलटरी आदिमें भेद बताता है। मेखला मूँजकी जो कही गई है; तो मुञ्जमें यह विशेष गुण है कि-वह दाह, रक्त, मूत्राशय-सम्बन्धी रोगों तथा नेत्र रोगोंको दूर करता है। इस मौञ्जीको कमरमें कसकर स्नान-ध्यान आदिसे तेज समस्त देहमें भर जाता है। इससे ब्रह्मचारीका बल बढ़ जाता है, तथा प्राण-अपानकी शक्ति प्राप्त होती है। यह मेखला विद्युत्-शक्तिको लौटाती है, और उसको स्थानान्तरित भी करती है। जैसे बैटरीमें जोड़ी हुई गोलाकार तार विद्युत्को लौटाती है, और स्थानान्तरित करती है।

मेखला बांधनेसे कमरकी शक्ति बढ़ती है। आजकल यौवनमें ही नवयुवकोंकी कमर जो कि झुक जाती है; वहाँ मेखलाका धारण न करना ही हेतुभूत है। अंग्रेजोंका 'वेल्ट' बांधना मेखलाका ही अनुकरण है। पर मौञ्जीमें जो गुण है, वह कमरबन्दमें कहांसे हो सकता है। मौञ्जी मेखलामें व्यय भी नहीं है, गुण बहुतसे हैं। यह सर्वविदित है कि-संकट उपस्थित होने पर कार्यकर्ताको उत्साह देनेके लिए कहा जाता है कि-'कमर कसकर तैयार हो जाओ'। तब कमर कस लेने पर निर्बलका भी साहस बढ़ जाता है। तब वैध मेखला-धारणके लाभ कितने हो सकते हैं-यह स्वयं सोचा जा सकता है। क्षत्रियके लिए धनुषकी डोरीके समान तनी हुई मूर्वा-तृणकी, और वैश्यके लिए सनकी मेखला कही गई है। क्षत्रिय

और वैश्यको बल-व्यापारादिमें भविष्यमें लगनेसे कमरकी दृढता बहुत अपेक्षित होती है; अतः उनके लिए भिन्न मेखलाका विधान है।

उपनयनमें भिक्षा एवं गायत्री

उपनयनमें भिक्षा भी माँगी जाती है, उसका रहस्य यह है कि धनीका भी लड़का निर्धनके समान भिक्षा मांगे, जिससे भविष्यमें उसे धनका गर्व न रहे और सभी अपने पर देशका ऋण समझें। भविष्यमें वे अपनेको देशका ऋणी समझकर देश-सेवा द्वारा उस ऋणकी पूर्ति करें। अन्य इस विषयमें 'षोडशसंस्कार-रहस्य'में बताया जायगा।

उपनयनसंस्कारमें वेदके सारस्वरूप सावित्र-मन्त्रका उपदेश भी दिया जाता है, जिसे 'गायत्री-मन्त्र' कहा जाता है। उस गायत्री-मन्त्रका क्या महत्त्व तथा उस महत्त्वका क्या रहस्य है, यह अग्रिम निबन्धमें बताया जाता है, 'आलोक' पाठक इसे भी सावधानता से देखें।

सूचना—यह पञ्चम पुष्प है; इससे पूर्वके चार पुष्पोंका मंगाना भी आवश्यक है। जिनके पास न हों; वे उन्हें हमसे मंगा लें। मूल्य ७।) डाक-व्यय पृथक्।

(५) गायत्री-मन्त्रकी महत्ताका रहस्य।

'गायत्री छन्दसामहम्' (भगवद्गीता १०।३५)

'उपनयन-रहस्य' हम बता चुके; उपनयनमें गायत्री-मन्त्रका उपदेश किया जाता है। यह क्यों? इसका इतना महत्त्व क्यों? इसपर अब विचार किया जाता है।

'ॐ भूर्भुवः स्वः, तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।' यह मन्त्र धार्मिक जगत्में प्रसिद्ध है। यह 'अथर्ववेदसं०'से अतिरिक्त तीन वेदोंकी संहिताओंमें मिलता है। 'अथर्ववेद'की शौनकसंहितासे भिन्न किसी संहितामें उक्त मन्त्र कदाचित् मिल जाय; यह सम्भावना हो सकती है। तथापि अथर्ववेद-शौनकसंहिता (१९।७१।१)में वेदमाता गायत्रीकी महिमा तो वर्णित है ही। 'ऋग्वेद' की शाकलसंहितामें (३।६२।१०) उक्त मन्त्र मिलता है, 'सामवेद' की 'कौथुमसंहिता' में भी उत्तरार्चिक (१३।४।३।१) में मिलता है। शुक्ल-यजुर्वेदकी वाजसनेय-संहिता (३।३५, १६।३, २२।९, ३०।२)में, तथा काण्वसंहिता (३।४३, २४।१३, ३४।२) एवं 'कृष्णयजुर्वेद'की 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।५।६।१२, १।५।८।१०, ४।१।११।७)में तथा कृष्णयजुर्वेदकी 'मैत्रायणी-संहिता' (४।१०।७७)में भी मिलता है। इस प्रकार अन्य वेदसंहिताओंमें भी इसका मिलना सम्भव है।

यह गायत्री-मन्त्र, सावित्री, गुरुमन्त्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। गायत्री-छन्दवाला होनेसे यह 'गायत्री' नामसे प्रसिद्ध है। यद्यपि

गायत्री-छन्दवाले मन्त्र अन्य भी बहुत से हैं; तथापि 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रधान इसी मन्त्रका उक्त नाम प्रसिद्ध है। अथवा 'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः' (निरुक्त ७।१२।६) 'गायतो [ब्रह्मणो] मुखादुदपतत्-इति ब्राह्मणम्' (नि० ७।१२।५), तथा 'गायन्तं त्रायते' इत्यादि निर्वचनसे योगिक-रूपसे भी उक्त नामसे प्रसिद्ध है। 'सा हैषा गयान् [प्राणान्] तत्रे, तस्य प्राणान् त्रायते' (शत० १४।८।१५।७) इस प्रकार गायत्री प्राण-रक्षणी विद्या भी है। 'सवितुरियम् ऋक्' इस विग्रहसे यह मन्त्र 'सावित्री' नामसे भी प्रसिद्ध है। इसी कारण ही इसकी स्त्रीलिङ्गसे प्रसिद्धि है। अथवा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इन तीन छन्दोंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके सावित्र मन्त्र हैं, तब इन छन्दोंके स्त्रीलिङ्गान्त होनेसे गायत्री-सावित्री, त्रिष्टुप्-सावित्री, जगती-सावित्री इस प्रकार भी 'सावित्री' में स्त्रीत्व है। इस प्रकार 'वेदमाता' (अथर्व० १९।७१।१) इस नामसे प्रसिद्ध होनेसे भी इसमें स्त्रीलिङ्ग-रूपसे प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त सविता वाले मन्त्रमें सविताकी शक्ति भी सन्निहित है, क्योंकि—शक्ति तथा शक्तिमान्का अभेद हुआ करता है; कभी उस शक्तिमान्को शक्तिरूपसे भी वर्णित किया जाता है। शक्ति स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसे 'देवी' रूपमें वर्णित किया जाता है। सविताकी शक्ति ही गायत्रीदेवीके नामसे विख्यात है। इसी कारण सनातनधर्मकी सन्ध्यामें उक्त मन्त्रके विसर्जनके अवसर पर 'उत्तमे शिखरे देवि !' (तैत्तिरीयारण्यक १०।३०) इस प्रकार स्त्रीत्वका प्रयोग है। सविताकी शक्तिरूप होनेसे उसका 'श्वेतवर्णा

समुद्दिष्टा' इस प्रकार देवीरूपसे वर्णन आया है। इसी गायत्रीका उपस्थान 'गायत्र्यस्येकपदी...असावदो मा प्रापत्' (१४।८।१५।१०) शतपथ-प्रोक्त इस मन्त्रमें आया है, जो सन्ध्यामें पढ़ा जाता है। उपनयन होजाने पर वेदारम्भमें आचार्य-पदवीको धारण करने वाला गुरु इसी मन्त्रका उपदेश करता है। इस कारण यह 'गुरु-मन्त्र' नामसे प्रसिद्ध भी है। यद्यपि वेदारम्भ-संस्कारमें वेदका ही आरम्भ अपेक्षित है; तथापि उस समय विद्यार्थी वेदाङ्ग पढ़े हुए न होनेसे वेदमें चल नहीं सकता; तब वेदका सारभूत यही मन्त्र गुरुद्वारा उपदिष्ट किया जाता है। 'उक्त मन्त्र वेदका साररूप है'—यह आगे बताया जायगा।

इस मन्त्रमें 'सविता' देवतासे प्रार्थना है। 'सविता' सूर्यको कहते हैं। इससे 'अभिमानिव्यपदेशात्' (२।१।५) इस 'वेदान्त-दर्शन' के सूत्रके आधारसे सूर्यमण्डलान्तर्गत सूर्याभिमानी देवविशेष लिया जाता है, जो चेतन है। जैसे जड़ जलोंका चेतन देव वरुण, वेदमें 'यासां (अपां) राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' (ऋ० ७।४६।३) [यहां पर 'आपो देवताः' है, अप्-शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है] इस मन्त्रसे संकेतित किया गया है; वैसे ही जड़ सूर्यमण्डलका भी चेतन-देव 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्' (४०।१७) इस यजुर्वेद (वा. सं.) के मन्त्रमें संकेतित किया गया है।

सूर्यादिका अभिमानी देवता भी उसी-उसी नामसे प्रसिद्ध होता है। जो कि वेद हमें सूर्य आदिकी उपासना सिखलाता है, उसे वहाँ उनकी चेतनता इष्ट है। चाहे सूर्य आदि पदार्थ लौकिक-

व्यवहारमें जड़ प्रसिद्ध हों; पर वास्तवमें ये चेतन हैं; क्योंकि—इनके अन्दर इनका अभिमानी (अधिष्ठाता) देवता विराजमान है। इसी कारण 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (२।१।५) इस 'ब्रह्मसूत्र'के शाङ्कर-भाष्यमें कहा है—'मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते, न भूतेन्द्रियमात्रम्।...अनुगताश्च सर्वत्र अभिमानिन्यः चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहास-पुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते—" इति। यहां पर आचार्यने भूत तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठाताके चेतन होनेमें वेदके मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभागकी भी साक्षी बताई है। तभी वेदमें—'वरुणोऽपामधिपतिः' (अथर्व० ५।२४।४) 'आपश्च, वरुणश्च राजा' (अथर्व० १५।२।६) 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (शतपथ० ३।५।२।६) जल, यज्ञ आदिके अधिष्ठाता देवता वरुण, इन्द्र आदि माने गये हैं।

इसीको स्वा० श्रीशंकराचार्यने 'वेदान्त-दर्शन'के १।३।३३ सूत्रके भाष्यमें भी स्पष्ट किया है। जैसे कि—'ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः, चेतनावन्तम् ऐश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति हि ऐश्वर्ययोगाद् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्च अवस्थातुम्, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथाहि श्रूयते—'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंशब्राह्मण १।१) स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते—'मृदब्रवीद्, आपोऽब्रुवन—इत्यादि-दर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिषु अचेतनत्वमभ्युप-

गम्यते । चेतनास्तु अधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादि-व्यवहाराद्—इत्युक्तम्'। (देवताधिकरणेऽष्टमे)।

इस सिद्धान्तका विशदीकरण आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजाराम-जी शास्त्रीने अपने 'अथर्ववेदभाष्य' की भूमिकामें इस प्रकार किया है—'परमेश्वरकी सृष्टिमें देहधारी जीवोंकी सृष्टि नाना-प्रकारकी है। इस भूलोकमें ही शैवाल, तृण, घास आदि नाना-प्रकारके स्थावर और पशु-पक्षी आदि नानाप्रकारके जङ्गम हैं, ये सारे जीव-विशेष हैं। मनुष्य इन सबसे ऊंची श्रेणिका जीव है, पर परमात्मा की सृष्टि यहीं तक समाप्त नहीं है। मनुष्यसे कई दर्जोंमें ऊंचा पद रखनेवाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं; जो मनुष्योंकी नाईं चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञानमें इतने ऊंचे पहुँचे हुए हैं कि—मनुष्यकी शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ हैं। इस अनेक प्रकारकी ऊंची सृष्टिमें सबसे ऊंचा स्थान देवताओंका है। देवता चेतन हैं। मनुष्योंसे ऊपर और परमेश्वरसे नीचे हैं। परमेश्वरकी ओर से उनको भिन्न-भिन्न अधिकार मिले हुए हैं जिनका कि वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं, पर उनका अजर-अमर होना मनुष्योंकी अपेक्षासे है, वस्तुतः उनकी भी अपनी-अपनी आयु नियत है। ब्रह्माण्डकी दिव्य शक्तियोंमें से एक-एक शक्ति पर एक-एक देवताका अधिकार है। जिस शक्तिपर जिसका अधिकार है, वही उसका देह है जो उसके वशमें है।

जैसे हमारे देहमें एक जीवात्मा है, जो इस देहका अधिपति है, इसी प्रकार उस शक्तिके अन्दर भी एक जीवात्मा है, जो उसका

अधिपति है। जैसे हमारे अधीन यह देह है, वैसे ही एक देवताके अधीन सूर्यरूपी देह है। हम एक थोड़ीसी शक्तिवाले देहके स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्तिवाले देहका स्वामी है, वह अध्यात्म शक्तियोंमें इतना बढ़ा हुआ है कि—अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहे, वैसा रूप धारकर, जहां चाहे वहां जा सकता है। वही देव सूर्यका अधिष्ठाता कहलाता है और सूर्यके नामसे ही बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु आदिके अधिष्ठाता देवता हैं। देवताओंका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है; पर वह सारा परमेश्वरके अधीन है। एक-एक देवता एक-एक दिव्यशक्तिका नियन्ता है। पर उन सबके ऊपर उन सब का नियन्ता परमेश्वर है। इसलिए भी सभी देवता मिलकर जगत् का प्रबन्ध इस प्रकार कर रहे हैं—जिस प्रकार राजाके अधीन उसके भृत्य उसके राज्यका प्रबन्ध करते हैं।

देवताओंकी उपासनाओंसे उन कामनाओंकी सिद्धि होती है, जिसके कि वे मालिक होते हैं।...वे तब तक दिव्य-शरीरको धारण किये रहते हैं, जबतक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता, जिस अधिकार पर उनको परमेश्वरने लगाया है। अधिकारकी समाप्ति पर वे मुक्त हो जाते हैं और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं; जो मनुष्योंमें से ही उपासना द्वारा उस पदके योग्य बन गये हैं। देवताओंके ऐश्वर्यके दर्जे हैं, सबसे ऊँचा दर्जा ब्रह्माका है, (अथर्ववेदभाष्य-भूमिका पृ० ११)

इससे स्पष्ट है कि सूर्य आदि देवता चेतन हैं। बल्कि शास्त्रोंमें तो यहां तक कहा है कि सभी वस्तुएँ चेतन हैं। इसी अभिप्रायसे

महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने भी ३।१।७ सूत्रमें 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' इस वार्तिकके विवरणमें कहा है—'अथवा सर्वं चेतनावत्। एवं हि आह—'कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति, सुवर्चला आदित्यमनु पर्येति। 'आस्कन्द कपिलक' इत्युक्ते तृणमास्कन्दति। अयस्कान्तमयः संक्रामति। ऋषिः [वेदः] पठति 'शृणोत ग्रावाणः' यहां पर 'शृणोत ग्रावाणः' यह वेदमन्त्र देकर सिद्ध किया गया है कि सभी जड़ दीख रही वस्तुएँ भी चेतन हैं।

उक्त वेदमन्त्र यह है—'शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे, शृण्वन्तु आपो धिषणाश्च देवीः। शृणोत ग्रावाणो विदुषोऽनु यज्ञ ᳪ शृणोतु देवः सविता हवं मे' (कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसं० १।३।१३।१) जब यहां जड़ पत्थरको भी वेदने सुननेकेलिए कहा है; तब पत्थर आदि वाह्य व्यवहारमें अचेतन कहे जाते हुए भी, वेदकी दृष्टिमें चेतन हैं, यह वैदिक सिद्धान्त है। यह महाभाष्यकारका आशय है। इसीको 'प्रदीप' में कैयट ने स्पष्ट किया है—'सर्वस्य वेति' आत्माऽद्वैतदर्शनेनेति भावः। ऋषिरिति-वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः। वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मः सर्वत्र नोद्भावनीयः'। इसमें इस प्रश्नका कि यदि पत्थर आदि चेतन हैं तो वे भी हम चेतनोंकी तरह चलते-बोलते क्यों नहीं—इसका उत्तर दे दिया गया है कि पदार्थोंमें परस्पर विचित्रता भी हुआ ही करती है, तब सभी चेतनोंके धर्म उसी रूपमें सभी चेतनोंमें नहीं मिल सकते, क्योंकि किसीमें चेतनता अभिव्यक्त होती है; किसीमें अनभिव्यक्त। श्रीनागेशभट्टने भी अपने 'उद्योत' में इसीका इस

प्रकार समर्थन किया है—'वैचित्र्येणेति' चेतनेषु मनुष्येष्वपि नानाजातीय–व्यवहारदर्शनाद् इति भावः। सर्वत्र परिणामदर्शनेन चेतनाधिष्ठानं विना च तदऽसम्भवात् सर्वस्य तदधिष्ठितत्वं ज्ञायते इति तात्पर्यम्'। अर्थात् जब चेतन मनुष्योंमें भी नाना-प्रकारके व्यवहार दिखलाई पड़ते हैं, तब चेतन पत्थर आदियोंमें भी सभी चेतनोंवाले व्यवहार नहीं हो जाते। चेतन मनुष्योंमें भी लकवा आदिके कारण चलना-बोलना आदि चेष्टा नहीं रहती। जब सर्वत्र परिणाम-परिवर्तन आदि विकार दीखता है, तब वह चेतनके अधिष्ठानके बिना नहीं हो सकता। जब ऐसा है तब सभी पदार्थ चेतन हैं–यह स्पष्ट है।

वार्तमानिक विज्ञान भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि करता है। वैज्ञानिकोंने रेडियम धातुकी विद्युत्कणिकाका परीक्षण करके यह ज्ञान प्राप्त किया है कि 'रेडियम' धातुके एक परमाणुसे हजारों विद्युत्-कणिका प्रतिक्षणमें प्रकट होती हैं। परिमाणमें वे कण इतने छोटे होते हैं कि एक हज़ार भी मिले हुए उनका संयुक्त-परिमाण वा गुरुत्व 'हाईड्रोजन' के एक परमाणुके तुल्य भी नहीं होता। इनके निकलनेका वेग प्रकाशके वेगका लगभग दो-तिहाई होता है। प्रकाशका वेग एक सेकंडमें १,८६,००० मीलके लगभग सिद्ध किया गया है। सूर्यसे लगभग साढ़े नौ करोड़ मीलकी दूरी पर स्थित पृथ्वी पर उसका प्रकाश आठ मिनटमें पहुँचता है।

इन अपूर्व बातोंको देखकर वैज्ञानिकोंकी यह धारणा हो गई है कि समस्त चराचर जगत्में सारभूत वस्तु कोई भी नहीं है और

संसारमें कोई भी पदार्थ जड़ नहीं है। जड़ कहे जानेवाले पदार्थोंके छोटे-से-छोटे कण अर्थात् परमाणुको देखनेसे तथा उसे तोड़कर उसके सहस्रों भाग करने पर विद्युत्कणियोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। फिर भी उनकी सत्ता दिखाई पड़ती है और नियमसे प्रतिक्षण उनकी चलन-प्रवृत्ति मिलती है; इससे वर्तमान वैज्ञानिकोंके विचारमें जड़ वस्तुओंमें भी दैवी शक्तिका आभास दीखनेसे जड़ोंमें भी चेतन-सत्ता सिद्ध हुई।

वस्तुतः यह सिद्धान्त है भी ठीक ही। शास्त्रका भी यही सिद्धान्त है। शास्त्र परमात्माको अणु-अणुमें व्याप्त मानता है। अद्वैत-सिद्धान्तमें तो अणु-अणु भी परमात्माका ही रूप है, वा परमात्मा ही है। उस (परमात्मा) से भिन्न किसी भी वस्तुकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। ईश्वर 'सच्चिदानन्द' इस शब्दसे चेतन ही है; तो समस्त सांसारिक वस्तुएँ जड़ दीख रही हुई भी वस्तुतः चेतन ही हैं। जो कि उनमें स्थूलतासे चैतन्यकी अभिव्यक्ति नहीं दीखती; उसमें कारण है उनमें स्थूलतासे इन्द्रियों तथा मनकी अनभिव्यक्ति। आत्माको ही देख लीजिये, वह चेतन है। जब उसमें मरणके समय इन्द्रियाँ और मन अभिव्यक्त नहीं होते; तब वह आत्मा भी चेष्टाशाली नहीं मालूम होता। प्रत्युत आत्माके शरीरमें विद्यमान होने पर भी, उसमें होती हुई भी इन्द्रियाँ कारणवश कार्य करनेवाली नहीं होतीं, वा निर्बल हो जाती हैं; तब आत्म-युक्त शरीरवाले होने पर भी पुरुषकी चेष्टा नहीं दीखती। इस विषयमें मूर्छित (बेहोश) पुरुषोंका उदाहरण

देख लीजिये। अथवा न मूर्च्छित भी निर्बल-इन्द्रियशक्ति वाले, वा लकवा बीमारीसे घिरे पुरुषोंका उदाहरण देख लीजिये। परमात्मा चेतन माना जाता है, पर उसमें 'हरकत' क्यों नहीं दीखती? उसमें भी कारण है उसका स्थूल इन्द्रिय-मन आदिसे असंयोग। इसीलिए उसके शब्द आदि व्यवहार भी स्थूल नहीं हुआ करते।

इससे सिद्ध हुआ कि—जड़ वस्तु भी वास्तवमें चेतन हुआ करती है। भैंसकी पुरीषके जड़ परमाणुओंमें जब स्थूलतासे विशिष्ट शक्तिका संयोग व्यक्त होता है; तब उसके पुरीषमें कीड़े होजाते हैं। यदि जड़ोंमें चेतन-शक्ति सर्वथा न होती; तो अभावसे भावकी उत्पत्ति कैसे होगई? जो चैतन्य-शक्ति कीड़ोंमें है, वह भैंसकी पुरीषके जड़ कहे जानेवाले परमाणुओंमें भी थी। परन्तु इन्द्रियादिकी अभिव्यक्ति न होनेसे वह चैतन्य-शक्ति अपना उपयोग न कर सकी। वल्ब न होने पर बिजली नहीं जला करती। इसी सिद्धान्तको मानकर स्वर्गीय जगदीशचन्द्रवसुने वृक्षोंमें चेतनता मानी थी; इसी प्रकार पत्थरोंमें भी मानी। इसी अभिप्रायसे वर्तमान वैज्ञानिक लोग सूर्यमें भी प्रसन्नता-अप्रसन्नताके परमाणु मानने लगे हैं।

इसका विवरण इस प्रकार है। कैम्ब्रिज-युनिवर्सिटी लण्डनमें सूर्यके विषयमें एक लैक्चर हुआ था; जो समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हो चुका है। उसको तो हम फिर अन्य पुष्पोंमें पाठकोंको उपहृत करेंगे। उसमें प्रकृत अंश यह है। उस व्याख्याताने कहा—'उत्तरी अमेरिकाके ग्रेनलैण्ड प्रदेशमें एक दफीनेका खोदना शुरू हुआ।

खोदने पर दफीना (माणिक्य) तो मिला नहीं, किन्तु एक देवमन्दिर मिला। उसमें सूर्यकी एक मूर्ति है, जो चमकदार पत्थरोंसे बनाई हुई है। सूर्यके सामने एक हिन्दु डण्डेकी तरह झुककर प्रणाम कर रहा है। सामने ही अग्निमें धुवाँ उठ रहा है, जिससे मालूम होता है कि-अग्निमें कुछ सुगन्धित द्रव्य डाला गया है। इधर-उधर फूल पड़े हैं। यह सब दृश्य पत्थरोंसे बनाया गया है।

इस विचित्र सूर्य-मन्दिर मिलनेसे मालूम हुआ कि-किसी युगमें हिन्दुओंका चक्रवर्ती राज्य अमेरिका तक फैला था। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हुआ कि-हिन्दुओंका विश्वास था कि-सूर्य प्रसन्न तथा क्रुद्ध भी होसकता है। यदि ऐसा विचार न होता; तो एक हिन्दु उस (सूर्य)की पूजा क्यों करता? क्यों उसे नमस्कार करता? इस विषयको लेकर वैज्ञानिक-संसारमें क्रान्ति उत्पन्न होगई। मिस्टर जार्जनामक किसी विज्ञानके प्रोफेसरने यह परीक्षा की कि-सूर्यमें कृपाशक्ति है या नहीं? हम सूर्यमें समस्त तत्त्वोंकी सत्ता तो मानते रहे; पर यह कल्पना भी नहीं कर सके कि सूर्यमें प्रसन्नता-अप्रसन्नताका तत्त्व भी विद्यमान है! हिन्दुओंकी सूर्य-पूजाका वृत्त भारतीय प्राचीन इतिहाससे हमें पहले ही पता था। अमेरिकामें मिले सूर्य-मन्दिरसे हमें हिन्दुओंकी सूर्य-पूजामें अन्य भी निश्चय होगया। मि० जार्जने सोचा कि-हिन्दुओंकी सूर्योपासना क्या मूर्खतापूर्ण थी वा वास्तविकतापूर्ण?

इसकी रोचक परीक्षा हुई। मईका महीना था। पूरे दोपहरके समय केवल पाजामा पहनकर मि० जार्ज नंगे शरीर धूपमें ठहरे।

पाँच मिनट सूर्यके सामने ठहरकर वे कमरेमें गये। थर्मामीटरसे उन्होंने अपना तापमान देखा। तीन डिग्री तक बुखार चढ़ा था। दूसरे दिन उक्त महाशयने फूल-फलोंका उपहार तैयार किया। अग्निमें धूप जलाया। तब वह पूरे दोपहरमें नंगे शरीर धूपमें गया। उसने सूर्यके सामने श्रद्धासे फूल चढ़ाये, फल भी। हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जब वह अपने कमरेमें गया; तो घड़ीमें उसने देखा कि—आज वह ग्यारह मिनट तक सूर्यके सामने रहा। थर्मामीटरसे मालूम हुआ कि—आज उसका तापमान नार्मल रहा। उसका पारा ठण्डककी ओर रहा।

इससे उसने यह परिणाम निकाला कि वैज्ञानिकोंका "सूर्य केवल अग्निका गोला और जड़ है" यह सिद्धान्त गलत है, वस्तुतः उसमें अप्रसन्नता और प्रसन्नताका तत्त्व भी विद्यमान है।"

'आलोक'के पाठकोंने वैज्ञानिकोंकी यह गवेषणा सुन ली। उन लोगोंको अभी ये बातें धीरे-धीरे मालूम होरही हैं; परन्तु अपने यहाँ तो यह सिद्धान्त वैदिककालसे चला आरहा है कि सूर्यमें बुद्धि-शक्ति है। इसीलिए वेदमें सूर्यकेलिए कहा है—'इनो विश्वस्य, भुवनस्य गोपाः, स मा धीरः' (ऋ० १।१६४।२१) यहाँ पर सूर्यको धीर—बुद्धियुक्त 'निरुक्त'के शब्दोंमें 'धीरः-धीमान्' (३।१२।१) कहा है। तभी बुद्धियुक्त सूर्य (सविता)से 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजुः वा० सं० ३।३५) इस प्रकार बुद्धिकी प्रार्थना धार्मिकगण किया करते हैं।

सविता पर विवेचन

'सविता' सूर्यको कहते हैं-यह कहा जा चुका है। 'सुवति-प्रेरयति कर्मणि लोकम् इति सविता' यह सविताकी व्युत्पत्ति है। इससे सूर्यका बोध होता है क्योंकि-वही हमें कर्मोंमें प्रेरित करता है। सूर्योदय हो रहे होने पर वा होजाने पर हम आलस्यको छोड़कर अपने आवश्यक कर्मोंमें जुट जाते हैं। कई महाशय 'सविता' शब्दको 'षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातुसे निष्पादित करते हैं। कई विद्वान् 'यः चराचरं जगत् सुनोति, सूते वा उत्पादयति, स सविता' (स० प्र०) इस प्रकार व्युत्पादित करके 'अभिषवः-प्राणिगर्भविमोचनं च उत्पादनम्' यह कहकर 'षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (स० प्र० १ समु०) इन धातुओंसे निष्पादित करते हैं; पर यह वेद तथा वेदाङ्ग व्याकरणसे विरुद्ध है।

इस विषयमें 'षुञ् प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातुका उपन्यास तो ठीक नहीं, क्योंकि षुञ् धातु 'अभिषव' अर्थमें आता है; प्रसव आदिमें नहीं। 'सविता'में अभिषव अर्थ नहीं। अभिषव स्नपन, पीडन तथा सुरासन्धान (सोमवल्लीका रस निकालना) अर्थमें आता है। वेदाङ्गप्रकाश 'आख्यातिक'में स्वा० दयानन्दजीने भी 'षुञ्' धातुका 'यन्त्रसे रस खींचना, वा राज्याधिकार देना' यह अर्थ माना है, उत्पादन अर्थ नहीं माना।

इसके अतिरिक्त 'षुञ्' धातु अनिट् होती है; पर 'सविता'में तो इट् प्रत्यक्ष ही है। जो 'प्रसवैश्वर्य'में धातु होती है; वह 'षु' धातु होती है 'षुञ्' नहीं। वह भी सेट् नहीं होती, किन्तु अनिट्

होती है। यहाँ पर 'प्रसव'का अभ्यनुज्ञान अर्थ विवक्षित है, गर्भ-मोचन अर्थ नहीं। प्रसव अर्थमें तो 'पूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (अ० वे० आ०) यह अदादिकी, अथवा 'पूङ् प्राणिप्रसवे' (दि० वे० आ०) यह दिवादिकी धातु प्रयुक्त करनी चाहिये। परन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि ये धातुएँ भी वेट् होती हैं; पर सविता देवतावाले मन्त्रोंमें सर्वत्र 'सविता' इस प्रकार नित्य इट् ही देखा गया है; कहीं 'सोता' इस प्रकार इट्-रहित प्रयोग 'सूतवे' (अथर्व० ५।२५।१०)की तरह नहीं देखा गया। अन्यथा वेट् (वैकल्पिक इट्) होनेका लाभ ही क्या है और सविता देवतावाले मन्त्रोंमें प्राणिप्रसव आदि अर्थ देखा भी नहीं गया है। 'अनु सूतु सवितवे' (अथर्व० ६।१७।१) इत्यादि मन्त्रोंमें उक्त धातुओंकी वेट्कता देखी भी गई है, अर्थ भी वही देखा गया है। पर सावित्र (सविता देवतावाले) मन्त्रोंमें कहीं भी 'सविता, सोता, इस प्रकार वेट्कता नहीं देखी गई है। व्यत्ययसे भी उक्त सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि-सावित्र मन्त्रोंसे विरोध आता है।

कई महाशय 'सविता में उक्त दो धातुओंको सिद्ध करनेके लिए उनके वैकल्पिक रूपके प्रदर्शनार्थ 'वि हि सोतोरसृक्षत' (ऋ० १०।८६।१) इस मन्त्रको उपस्थित करते हैं; पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यहां पर भी 'सोतोः' का 'सविता' पदके समान अर्थ इष्ट नहीं, किन्तु 'सोमाभिषवं कर्तुम्' यही अर्थ इष्ट है। तब यह वैकल्पिक इट्वाली 'पूङ्' धातुका वैकल्पिक प्रयोग नहीं है, किन्तु अनिट् षुञ् (सुनोति) धातुका ही रूप है, जिसका 'सविता' से कोई सम्बन्ध

नहीं। इसके अतिरिक्त 'सोतोः' यहां पर 'सविता' की तरह 'तृच्' नहीं किन्तु 'तोसुन्' प्रत्यय है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों ही वेदको इष्ट नहीं दीख पड़ते। अर्थात् 'सविता'में न तो 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' (भ्वा.प.अ.) यह 'सवति'का प्रयोग है, और न ही 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' (अदा. प. अनि.) इस 'सौति' धातुका प्रयोग है और न ही 'षूङ् प्राणिगर्भ-विमोचने' (अदा० आ० वे०) इस 'सूयति' का प्रयोग है, और न ही 'षुञ् अभिषवे' (स्वा० उ० अनि०) इस 'सुनोति'का ही रूप इष्ट है। उत्पादनार्थक धातु तथा परमात्मा अर्थ 'सविता'में मानने पर कुछ विरोध भी आता है; क्योंकि—जगत्का उत्पादक उनके मतमें परमात्मा नहीं, किन्तु प्रकृति मानी जाती है; तब वह धातु भी परमात्मार्थमें कैसे हो सकती है, यदि 'सविता'का अर्थ 'परमात्मा' माना जाय। और एक प्रबल युक्ति यह है कि सवितामें उक्त धातुएँ नहीं हैं। जहाँ भी 'सविता' शब्द आता है, उस मन्त्रमें कहीं भी सवति, सूति, सौति, सूयति, सुनोति धातुओंकी क्रिया भी नहीं दीखती; तब 'सविता' शब्दमें उन धातुओंके अर्थ भी कैसे इष्ट हो सकते हैं ?

वस्तुतः 'सविता' पदमें वेदको 'षू प्रेरणे' (तु० प० से०) यह तौदादिक धातु ही इष्ट है; वह 'अनिट्' भी नहीं है, 'वेट्' भी नहीं है, किन्तु 'सेट्' है। 'सुवति-प्रेरयति कर्मणि लोकम्' यह 'सविता' की व्युत्पत्ति है। यही धातु तथा यही अर्थ 'सविता'में वेदको इष्ट है, उत्पादन आदि अर्थ नहीं। इसमें वेदमन्त्रोंकी साक्षी भी द्रष्टव्य

है। 'देव! सवितः प्रसुव' (यजुः वा० सं० ६।१) इस मन्त्रमें 'सविता'को सम्बोधित किया गया है। यहां पर तुदादिगणकी 'षू प्रेरणे' धातु ही क्रियामें प्रयुक्त की गई है। तुदादिमें 'श' विकरण होनेसे अपित्-सार्वधातुकताके कारण ङित्संज्ञा मानी जाती है। तब गुणनिषेध होनेसे उवङ् हो जाता है।

इसी प्रकार 'सविता नः सुवतु सर्वतातिम्' (ऋ० १०।३६।१४) यहां भी 'सुवति'का प्रयोग किया गया है, सवति, सौति, सूति, सूयति तथा सुनोति धातुका प्रयोग नहीं किया गया। इसी तरह 'सुवाति सविता' (ऋ० ५।८२।३-६) 'सवितर्वरेण्यं भागमासुव' (ऋ० १०।३५।७) सविता नु वो देवः...सुवतु' (ऋ० १८।१७५।४) 'देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवताद् अनागसः, (ऋ० ४।५४।३) 'सविता धर्मं साविषत्' (यजुः ६।५) [यहां अपने अष्टाध्यायी-भाष्यमें स्वा० दयानन्दजीने लिखा है—'अत्र साविषत्' इति 'षूं प्रेरणे' इत्यस्य प्रयोगः (३।१।३४)] इन मन्त्रोंमें भी पाठक स्वयं देखें। इस प्रकार ऋ० ३।५६।६, ४।५४।२, ५।८२।४-५, ६।७१।६, ३।५४।११, ७३८।२ इत्यादि मन्त्रोंमें भी देखा जा सकता है।

सविताका प्रसिद्ध एक मन्त्र भी देखना चाहिये। 'विश्वानि देव! सवितर्! दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव' (यजुः३०।३) यहां पर भी विधि-निषेधमें सविताके लिये तुदादिगणी 'षू प्रेरणे' धातुका ही प्रयोग किया गया है। केवल वही धातु क्यों; अपितु वेदमें 'सविता'में अर्थ भी 'षू प्रेरणे' धातुका ही इष्ट है। इस विषय

में प्रकृत सावित्र मन्त्रमें ही दृष्टि डालनी चाहिये। 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' यहां पर क्रियामें यद्यपि 'सुवति' धातुका तो प्रयोग नहीं किया गया; तथापि उसका प्रेरणा अर्थ 'प्रचोदयात्' इस 'चुद संचोदने' धातुसे ही प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार 'सविता'की 'सूते, सौति, सवति, सूयते, सुनोति, ये व्युत्पत्तियाँ वेदसे विरुद्ध सिद्ध हुईं।

तब 'सुवति कर्मणि लोकम्' इस व्युत्पत्तिके ही बचनेसे और वेदसम्मत होनेसे युक्तता सिद्ध हुई। तब इस व्युत्पत्तिसे सूर्यदेव का ग्रहण स्वतः सिद्ध हुआ; क्योंकि—वह उदय होता हुआ ही लोगोंको कर्ममें प्रेरित करता है। इसी कारण यजुर्वेद (शतपथ-ब्राह्मण)में कहा है—'असौ वै आदित्यो देवः सविता' (६।३।१।२०)। अतः 'सविता'के पर्यायवाचक 'सूर्य' शब्दमें भी यह धातु मानी गई है। जैसे कि—'राजसूयसूर्य' (पा० ३।१।११४) इस सूत्रमें 'सूर्य' शब्दके व्युत्पादनके अवसरमें 'सिद्धान्तकौमुदी'के कृत्यप्रकरणमें कहा है—'सरति आकाशे सूर्यः। यद्वा—षू प्रेरणे तुदादिः, क्यपो रुट्। सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति सूर्यः'।

वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकार श्रीयास्कने भी 'सूर्य'की यही निरुक्ति की है—'सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा।' (१२।१४।२)। इसीलिए वेदमें भी 'सूर्य! अप सुव' (ऋ० १०।३७।४) इस मन्त्रमें सूर्यके सम्बोधनमें 'सुवति' धातुका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार स्वा० दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' कृत्यप्रक्रियामें ६८४ सूत्रकी व्याख्यामें कहा है—'सरति आकाशमार्गेण गच्छति, वा 'सुवति लोकं

कर्मणि प्रेरयतीति सूर्यः' यहां 'सृ गतौ वा षू प्रेरणे धातुसे क्यप् प्रत्यय रुडागम निपातन है' (पृ० २९६)। इस प्रकार सविता तथा सूर्य पर्यायवाचक होनेसे सविता सूर्यार्थक हुआ।

इसमें मन्त्रभागकी साक्षी भी द्रष्टव्य है। 'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्' (ऋ० १०।८५।९) इस मन्त्रमें 'सूर्या' को सविताकी लड़की बताया गया है। 'युवो (अश्विनोः) रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ० १।११७।१३) यहाँ 'सूर्यकी लड़की' (सूर्या)का अश्विनों के रथमें चढ़ना कहा है। यहां 'सूर्यकी लड़की' शब्द कहा गया है; अन्य इसी अर्थको बतानेवाले मन्त्रमें 'सूर्या' का नाम स्पष्ट है। जैसे कि–'ता वां (अश्विनोः) रथं वयमद्या हुवेम' 'अश्विनौ !' 'यः सूर्यां वहति' (अथर्व० २०।१४३।१) यहां पर सूर्याको अश्विनोंके रथ पर चढ़ा हुआ बताया गया है। पूर्व कहे मन्त्रमें सूर्याका अपने पिता सविता द्वारा पतिको देना कहा गया है। इससे सविता और सूर्यकी पर्यायवाचकता सिद्ध हो जानेसे 'सविता' का 'सूर्य' अर्थ हुआ। इसलिए उपनयन-समयमें 'देव ! सवितः ! एष ते ब्रह्मचारी' ऐ सविता ! यह तेरा ब्रह्मचारी है, यह कहकर उसे सूर्यके सामने ठहराया जाता है। इस पर स्वामी दयानन्दजीकी 'संस्कार-विधि' का ८४वाँ पृष्ठ भी देखा जा सकता है। इससे 'सविता' सूर्यवाची है—यह अत्यन्त स्फुट हो गया।

सूर्यके ही ब्रह्मचारी होनेसे उसे सावित्र (सविताके, सूर्यके 'तत्सवितुर्वरेण्यं) मन्त्रकी दीक्षा देना ठीक भी है। तब सविता सूर्य-वाचक ही सिद्ध हो गया। इसीलिए उपनयन तथा सन्ध्यामें

भी 'तच्चचुर्देवहितं' इत्यादि सूर्य देवतावाले चार मन्त्रोंसे जहां सूर्यका उपस्थान होता है, वहां जपन भी 'तत्सवितुः' इसी सूर्यके मन्त्रका ही होता है। इस प्रकार सावित्र-मन्त्रमें 'योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजु० वा०सं० ४०।१७) एतन्मन्त्रोक्त सूर्य-मण्डलाभिमानी देवता ही उपासनाका विषय सिद्ध हुआ। उक्त सावित्र-मन्त्रमें अपनी बुद्धिकी प्रेरणा प्रार्थित की गई है। सविताका परमात्मा अर्थ मानने पर तो आत्माका कर्ममें परतन्त्रता-पक्ष भी मानना पड़ जायगा।

सूर्यकी उपासनाके विषयमें १।१।२० 'ब्रह्मसूत्र' के सूत्रके शाङ्कर-भाष्यमें भी कहा है—'य एषोन्तरादित्ये' इति श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। यदपि आधारश्रवणान्न परमेश्वर इति ? अत्रोच्यते - स्वमहिमप्रतिष्ठस्यापि आधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति। सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणो व्योमवत् सर्वान्त-रत्वोपपत्तेः'। इसलिए सूर्यमण्डलाभिमानी देव ही सन्ध्यामें उपास्य सिद्ध हुआ। तभी प्रातः-सन्ध्यामें मुखको पूर्वाभिमुख करना पड़ता है और सायंकालमें पश्चिमाभिमुख; क्योंकि सूर्य उस अवसर में उस-उस दिशामें होता है। इसीलिए 'सत्यार्थप्रकाश' के चतुर्थ समुल्लास ५६ पृष्ठमें उद्धृत हुए सामवेदके 'षड्विंश-ब्राह्मण' के वचनमें कहा है—'तस्माद् अहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्या-मुपासीत उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्' (४।५) यहां पर उदय और अस्त होते हुए सूर्यके ध्यानको ही 'सन्ध्या' कहा गया है। इसीलिए मन्त्रभागमें भी कहा है—'उद्यते नमः, उदायते नमः,

उदिताय नमः' (अथर्व०शौ० १७।१।२२) 'अस्तं यते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः' (अ० १७।१।२३) यहां पर उदय हो रहे हुए, उदय होनेवाले, और उदय हो चुके हुए तथा अस्त हो रहे हुए, अस्त होनेवाले, और अस्त हो चुके सूर्यको नमस्कार करना कहा है।

इसी मूलको लेकर पुराण-आदिमें—'उत्तमा तारकोपेता, मध्यमा लुप्ततारका। अधमा सूर्यसहिता प्रातः-सन्ध्या त्रिधा मता' 'उत्तमा सूर्यसहिता, मध्यमा लुप्तभास्करा। अधमा तारकोपेता सायं-सन्ध्या त्रिधा मता' यहां दोनों सन्ध्याओंके तीन भेद कहे हैं। अथवा उक्त मन्त्रोंमें दोनों सन्ध्याओंकी अवधि हो। तभी मनुजीने कहा है—'पूर्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनः सम्यग् ऋक्षविभावनात्' (२।१०१)। 'प्रातः-सन्ध्या सूर्यदर्शन तक करे, सायं-सन्ध्या तारोंके दीखने तक करे'। यह प्रसक्तानुप्रसक्त कहा गया है; अब प्रकरण पर आना चाहिये।

सावित्र-मन्त्रकी मुख्यताका कारण अदृष्टमें तो जो भी हो; क्योंकि यह वेदका सार-रूप है; पर दृष्टमें भी यह मुख्य है। इसकी मुख्यता वा इसकी महत्ताका कारण यह है कि इस मन्त्रमें बुद्धिकी प्रार्थना है। सूर्यसे बुद्धिकी प्रार्थना इस कारण है कि वह बुद्धिका अधिष्ठाता देव है। इसी बुद्धिके दाता होनेसे ही सूर्योदयके समय चोरोंकी चौर्य-प्रवृत्ति तथा जारोंकी जारता-प्रवृत्ति हट जाती है। सूर्यसे ही वैज्ञानिकोंने ऐसी सूई तैयार की है जिसके इन्जैक्शनसे कुलटा स्त्रियोंमें सद्बुद्धि उदय हो आती है। सूर्योदयसे

ही साधारण पुरुषोंका भय हट जाता है, उसके उदयसे बुद्धिकी शुद्धि और कर्मों की प्रेरणासे बुद्धिकी वृद्धि प्रत्यक्ष है।

बुद्धिकी प्रार्थनासे ही 'वृद्धकुमारी-वर' तथा 'वृद्धान्धब्राह्मणवर' इन न्यायोंसे सब कुछ माँग लिया जाता है; इस कारण गायत्री-मन्त्र बुद्धिदाता होनेसे सभी-कुछ देनेवाला है; अतः उसकी महत्ता स्पष्ट है। एक वृद्धा कुमारीने पति, पुत्र, धान्य, गाय आदि चाहते हुए भारी तपस्या की। देवने साक्षात् होकर उसे एक वर माँगनेको कहा; तो उसने वर माँगा—'मैं अपने पुत्रको बहुत घी-दूध मिला भात सोनेके पात्रोंमें खाता हुआ देखना चाहती हूँ'। इस प्रकार उसने एक ही वरसे 'यौवन, पति, पुत्र, सोना, धान्य, गाय' आदि माँग लिये। इसी प्रकार एक जन्मान्ध, निर्धन, अविवाहित ब्राह्मण की भी कथा है। देवताके मुखसे एक वरकी प्राप्ति जानकर उसने उससे वर माँगा—'मैं अपने पोतेको राजसिंहासन पर बैठा देखना चाहता हूँ'। इस प्रकार उसने एक वरसे अपनी आंखें, धन, यौवन, विवाह, स्त्री, पुत्र-पौत्र आदि सन्तान माँग ली।

यही बात है बुद्धिकी प्रार्थनाकी। हमारे जो काम सिद्ध नहीं होते, वा उल्टे पड़ जाते हैं; उसका मुख्य कारण है बुद्धिकी विपरीतता। इस कारण प्रसिद्ध है कि-'विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः'। 'महाभारत'में भी देवताओंकेलिए कहा है—'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्। यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति' (उद्योगपर्व ३४।८०-८१)।

'देवता पशुपालकी तरह डण्डा लेकर पुरुषकी रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे बुद्धि दे देते हैं। जिसको गिराना चाहते हैं; उसकी बुद्धि वे छीन लेते हैं। बुद्धिकी विपरीतता होने पर ही तो पाप होते हैं। इससे बुद्धिकी महत्ता सिद्ध हुई। इसलिए 'साङ्ख्यदर्शन'में २।१३ सूत्रके विज्ञानभिक्षुभाष्यमें कहा है—'अस्याश्च बुद्धेर्महत्त्वं स्वेतर-सकलकार्यव्यापकत्वाद् महैश्वर्याच्च मन्तव्यम्'। 'यह बुद्धि अपनेसे भिन्न सभी कार्योंमें रहती है; और इसमें बहुत सामर्थ्य है'। इस कारण इसका बहुत महत्त्व है। तभी न्यायकी पुस्तक तर्कसंग्रहमें कहा है—'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धि-र्ज्ञानम्' अर्थात् बुद्धि सब व्यवहारोंका कारण है। इसीलिए 'महाभारत'के उद्योगपर्वमें कहा है—'येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत! यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते' (३७।५५) अर्थात् बुद्धिबल सब बलोंसे श्रेष्ठ है। एक हाथीपर एक बालक चढ़ा हुआ अंकुशके द्वारा उसे अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ-तहाँ चला रहा था। हाथीके गलेमें बंधा हुआ घण्टा बज रहा था। उस पर एक कविने यह उत्प्रेक्षा की कि—यह घण्टानाद नहीं है किन्तु हाथीके मुखसे यह शब्द निकल रहे हैं कि—'मतिरेव बलाद् गरीयसी, यदऽभावे करिणामियं दशा'। 'इयं दशा'का यह अर्थ है कि—एक बुद्धिमान् बालक भी बलवान्‌को अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ चलाता है।

इस प्रकार जब सब व्यवहारोंके मूल होनेसे बुद्धिकी महत्ता सिद्ध हुई, और बुद्धिका सम्बन्ध सविताके साथ है; तब बुद्धि-

प्रार्थक सावित्र-मन्त्रकी महत्ता तो स्वतः सिद्ध हुई। इसीलिए ही इस गायत्री-मन्त्रका फल वेद-मन्त्रमें भी स्वयं कहा है—'स्तुता मया वरदा वेदमाता (गायत्री) प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (अथर्व० १९।७१।१) यहाँ पर वेदमाता गायत्रीका ही आयु, सन्तान, यश, धन, ब्रह्मतेज आदि फल कहा है। इसी गायत्रीकी महत्ता होनेसे ही उसे आदरार्थ 'प्रचोदयन्ताम्, व्रजत' यहाँ बहुवचन दिया गया है। 'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्' (मनु० २।१०३) यहाँ पर सन्ध्या न करने वालेको शूद्रवत् कहा गया है। यहाँ पर भी यही रहस्य है। सन्ध्याका सर्वस्व है सावित्री (गायत्री), और सावित्रीमें है बुद्धि-प्रार्थना। जो द्विज सन्ध्योपासन न करेगा, वह गायत्री-रहित होनेसे बुद्धिके अभाववश शूद्रसदृश ही रहेगा। इस वादिप्रतिवादिमान्य मनु-वचनसे शूद्रोंका द्विजकर्म-वेदात्मक-सन्ध्यामें अनधिकार भी सिद्ध होगया।

इसी प्रकार 'मनुस्मृति'के 'अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयाद् निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च' (२।७६) त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्' (२।७७) एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते' (२।७८) इस पद्यके अनुसार वेदका भी सर्वस्व गायत्री है; तभी उपनयन होजाने पर वेदारम्भ संस्कारमें वेदकी सारस्वरूपा गायत्री को ही उपनयनके दिन पढ़ाकर आचार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको

एकजसे उसी दिन द्विज करता है। तभी वेदाध्ययन न होनेसे गायत्रीसे रहित होनेके ही कारण श्रीमनुजीने 'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' (२।१६८) इस प्रकार वेदके अनध्ययनमें द्विजको भी शूद्र-सदृश कहा है। इस वादिप्रतिवादिमान्य मनु-वचनसे भी शूद्रको वेदाध्ययनका अनधिकार सिद्ध होरहा है। इसी कारण उसी वेदका अधिकारपट्ट यज्ञोपवीतसूत्र भी शूद्रोंका नहीं होता। बुद्धिका कार्य भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका होता है, शूद्रोंका नहीं। तभी स्वा० दयानन्दजीने भी उपनयनमें आद्य तीन वर्णोंको ही अपनी 'संस्कारविधि'में अधिकृत किया है। फलतः बुद्धिप्रकाशक होनेसे ही सूर्य 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः वा० सं० ७।४२) इस प्रकार जगत्का आत्मा माना गया है। बुद्धिका उदय होता है कर्मोंमें प्रेरणासे। तब 'सूर्य'के पर्यायवाचक 'सविता'में भी 'षू प्रेरणे' इस प्रकार 'सुवति' धातु ही है। यही वेदवाणीका अभिप्राय है।

यद्यपि बुद्धिकी प्रार्थना लौकिक श्लोकोंसे भी हो सकती है; तथापि वेदके नियत आनुपूर्वीवाले तथा नियतपदप्रयोगपरिपाटी वाले होनेसे उसमें अनन्यसदृश अपूर्वता हुआ करती है, जिससे उसके द्वारा फलातिशय हुआ करता है, जैसे कि 'निरुक्त'में श्रीयास्कमुनिने कहा है—'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (१।२।७)। इसी कारण मन्त्रके पदोंको अन्यथा करने पर वह मन्त्र न रह जाने से उसमें वह शक्ति भी नहीं रहती। तब शक्ति न होने पर वह

फल ही कैसे हो ?'

इस प्रकार गायत्री-मन्त्रकी महत्ता सिद्ध हुई। इसी कारण 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' (गीता ७।१०) 'गायत्री छन्दसामहम्' (१०।३५) भगवद्गीतामें वैष्णव आदि सबके मान्य भगवान् श्रीकृष्णने गायत्रीको अपनी विभूति कहा है। 'छान्दोग्योपनिषद्' (३।१२)में गायत्रीको परब्रह्मस्वरूपा कहा है। 'गायत्री छन्दसां माता' (नारायणोपनिषद् ३४) यहाँ पर उसे वेदकी माता कहा है। तब गायत्री मन्त्रको गौण कहते हुए कई साम्प्रदायिक निरस्त होगये। तभी तो यदि मृतक-कर्ममें जप ❀ कराया जाता है; तब भी गायत्री का। यदि शुभ कर्ममें जप कराया जाता है, तब भी गायत्रीका। चिरायुष्मत्ताकेलिए भी गायत्री-मन्त्रका जपन कराया जाता है। इससे वहां पर उस रोगीकी, उसके स्वजनोंकी, उसके वैद्यकी बुद्धि-वृद्धि होनेसे स्वयं ही चिरायुष्य-जनक कार्योंकी प्रेरणा होगी और रोगीको स्वास्थ्य-लाभ एवं शुभ प्राप्त होगा। इसी कारण कहा है—'गायत्री वा इदथ्ंसर्वम्' (छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।१) श्रीमनुजीने भी कहा है। 'सावित्र्यास्तु परं नास्ति' (२।८३)। इस प्रकार बुद्धि-प्रार्थक होनेसे गायत्री-मन्त्रकी महत्ता सिद्ध हुई। इसके जपसे

❀यद्यपि 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि' इस प्रकार व्यक्त वाणीका नाम जप कहना चाहिये; तथापि 'जप मानसे च' मानसिक भी जपन हुआ करता है। मानसका फल भी अधिक होता है। जैसे कि—'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशु स्यात् शतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः' (२।८५)।

ग्रह-बाधा भी दूर हो जाती है। जैसेकि-महाभारतमें कहा है—'प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्। ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि। ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा' (३।२००।८३-८५)।

इसलिए द्विजोंको सदा ही इस मन्त्रका जपन करना चाहिये, जैसे कि मनुजीने कहा है—'सावित्रीं च जपेन्नित्यम्' (११।२२५) इसीसे उनके सब मनोरथ पूर्ण होंगे। 'स्तुता मया वरदा वेदमाता (गायत्री) प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अथर्व० १९।७१।१) इस वेद-वाणीसे गायत्रीमें द्विजोंका ही अधिकार है। द्विजके यहाँ दो अर्थ हैं, एक तो 'ब्राह्मण' दूसरा 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य'। अर्थात् गायत्रीमें ब्राह्मणका अधिकार है—यह एकपक्ष है। गायत्रीमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंका अधिकार है—यह दूसरा पक्ष है। केवल ब्राह्मण इसका अधिकारी है—इसमें प्रमाण है गायत्रीका विसर्जन मन्त्र—'उत्तमे शिखरे देवि! भूम्यां पर्वतमूर्धनि। ब्राह्मणे-भ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि! यथासुखम्' (कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यक १०।३०) यहाँ पर गायत्रीको ब्राह्मणोंकेलिए अनुज्ञात किया गया है। 'ब्राह्मणेभ्यः' यह चतुर्थी है। इसीलिए पारस्कर आदि गृह्यसूत्रोंमें उपनयनसंस्कारमें 'गायत्रीं ब्राह्मणाय अनुब्रूयात, त्रिष्टुभं राजन्यस्य, जगतीं वैश्यस्य' (पारस्करगृ० २।३।७-८-९ मानवगृ० १।२।३ ऐतरेय-ब्रा० १।५।२८) इस प्रकार ब्राह्मणको गायत्रीका उपदेश देना कहा है, क्षत्रियको त्रिष्टुप् तथा वैश्यको जगती छन्दके उपदेशार्थ कहा है। यह ठीक भी है। गायत्रीके आठ अक्षरोंवाली होनेसे ही

गायत्रीका उपदेश लेनेवाले ब्राह्मणका उपनयन भी आठवें वर्षमें अभ्यनुज्ञात किया गया है; अन्तिम उपनयनकी अवधि पूर्वसे द्विगुण सोलह वर्षकी रखी गई है। क्षत्रियके उपनयनके समय त्रिष्टुप्का उपदेश होनेसे और त्रिष्टुप्के ग्यारह अक्षर वाला होनेसे क्षत्रिय का उपनयन भी ग्यारहवें वर्षमें आदिष्ट किया है, अन्तिम अवधि पूर्वसे द्विगुण बाइस वर्षकी रखी गई है। जगतीके बारह अक्षर वाली होनेसे उपनयन-समयमें उस (जगती)के ग्रहण करनेवाले वैश्यका उपनयन भी बारह वर्षमें माना है, अन्तिम अवधि पूर्वसे दुगुने चौबीस वर्षमें मानी गई है। इसमें मेधातिथिने भी श्रुति उद्धृत की है—सावित्र्या ब्राह्मणमुपनयीत, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्'।

इसी प्रकार गायत्रीके 'आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसंम्मतम्। गायत्री छन्दसां मातः!' (बोधायनगृह्यशेषसूत्र ३।६।१) इस गायत्रीके आह्वान-मन्त्रमें भी उसे 'ब्रह्म-सम्मत' माना है। ब्रह्म ब्राह्मणको कहते हैं। जैसे कि—'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (शत० ५।१।१।११) ब्राह्मण-भोजनमें 'ब्रह्म-भोज' शब्द प्रसिद्ध है। अथर्वके 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' 'द्विजानाम्।' 'ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (१६।७१।१) इस गायत्री-विसर्जनके मन्त्रमें जहां 'द्विज' शब्द आया है, वहां अन्तमें 'ब्रह्मवर्चस' की प्रार्थना भी आई है। ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना वेदमें ब्राह्मणकेलिए आई है-'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (यजु० वा० सं० २२।२२)

इस प्रकार गायत्रीमें ब्राह्मणका मुख्य अधिकार सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः' (२।७९) इस मनुपद्यमें भी 'द्विज'से ब्राह्मण ही इष्ट है। 'वेदमाता (गायत्री) द्विजानाम्' (अ० १९।७१।१) यहां पर दूसरा पक्ष 'द्विज'का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह अर्थ स्वीकार करने पर तो 'ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता' इस गायत्रीविसर्जनात्मक मन्त्रमें 'ब्राह्मण' यह शब्द 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका उपलक्षक है। तभी पारस्कर आदि गृह्यसूत्रोंमें 'सर्वेषां वा गायत्रीमनुब्रूयात्' (२।३।१०) यह पक्ष भी आया है। पूर्वोक्त वेदमाताके मन्त्रमें 'ब्रह्मवर्चस' शब्द क्षत्रियादिके 'हस्तिवर्चस' आदिका भी उपलक्षक है, इस पक्षमें 'ब्रह्मसम्मतम्'में 'वेदसम्मतम्' अथवा 'ब्रह्मदेवस्य सम्मतम्' यह अर्थ है। इस प्रकार 'ब्रह्म-गायत्री' शब्दमें भी जान लेना चाहिये। अस्तु।

बुद्धिमन्त्र गायत्रीमें उपास्यदेव सूर्य है। उसकी वेदने 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः वा० सं० ७।४२) इस प्रकार स्तुति की है। सूर्य-व्यायामसे सर्वविध स्वास्थ्य भी प्रत्यक्ष है। शारीरिक स्वास्थ्य होनेपर मानसिक स्वास्थ्य प्रत्यात्म-वेदनीय है। तब 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' चित्तस्वास्थ्यमें बुद्धिविकास सुस्पष्ट है। इस प्रकार सूर्यसेवन आध्यात्मिक दृष्टिसे तथा आधिभौतिक एवम् आधिदैविक दृष्टिसे भी लाभप्रद सिद्ध है। तभी हमारे पूर्वजोंने सन्ध्यावन्दन भी सूर्यके समक्ष ही करना नियमित किया था। यही बात शास्त्रोंसे जानकर पाश्चात्य-विपश्चिद्गणने सूर्य द्वारा बहुत रोगोंकी चिकित्सामें साफल्य प्राप्त कर लिया। रोगका कारण

होता है बुद्धिकी न्यूनता हो जाने पर मस्तिष्क तथा मनमें निर्बलता हो जानेसे बाह्य आहार-विहार-वैषम्यमूलक अपरिपाक; और उससे भीतरी अन्तड़ियोंमें त्रुटि हो जानेसे रोग हो जाया करते हैं। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे सविता तथा सावित्रीकी महत्ता सिद्ध हुई। आजकलके वैज्ञानिक जो कार्य यन्त्र आदिसे कर लेते हैं; उसे हमारे पूर्वज तपःशक्ति से पूर्ण कर लिया करते थे। उसी तपस्यामें गायत्रीका जप भी अन्तर्भूत हो जाता है। उसके लिये श्रीमनुने ठीक कहा है—

'सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः। महतोप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते' (२।७९) 'त्र्यक्षर 'ओम्' (अ, उ, म्) तीन व्याहृति, त्रिपदा गायत्री इसके सहस्रवार ग्रामसे बाहर नदी तट वा वनमें हजार-बार एक मास जपनेसे द्विज महापापसे भी छूट जाता है।' उसका कायाकल्प हो जाता है, वह नये क्रियाशील जीवनमें प्रवेश करता है। इसलिए इसे 'तारक-मन्त्र' कहते हैं।' इससे बढ़कर इसकी अन्य क्या महत्ता हो? अधिक कहना व्यर्थ विस्तार है। अतः हम यहीं समाप्त करते हैं। तथापि उसके माहात्म्यको देखनेके इच्छुक निम्नाङ्कित प्रमाणों को देखें—मनुस्मृति (२।७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३)। बृहद्-विष्णुस्मृति) (५५।१५) हारीतस्मृति (४।४०, ४७-४८) याज्ञवल्क्य-स्मृति (१।२।२२-२३) शङ्खस्मृति (११।१-२, १२।१, ३, ८, १४-१५-१६-१७-१८-२०-२३-२४-२५-२६-२९-३०-३१)। महाभारत (भीष्मपर्व (४।१८, अनुशासनपर्व १५०।१-४) देवीभागवत (११।३६।१५,

१२।८।२६) इत्यादि।

यद्यपि बुद्धिके मन्त्र लौकिक भी हो सकते हैं; तथापि वेदमें नियत आनुपूर्वी होनेसे, नियतपदप्रयोग-परिपाटीकत्व होनेसे उसके मन्त्रकी विशिष्टता भी स्वतः-सिद्ध है। वेदमें भी जब गायत्रीको सर्वस्व माना गया है; तथा उसे वेदमाता कहा गया है—तब उसकी अन्य भी महत्ता तथा विशिष्टता सिद्ध होगई, यह 'श्रीसनातनधर्मालोक'के विद्वान् पाठकोंने भली भांति समझ लिया होगा।

प्रासङ्गिक होनेसे यहां क्षत्रिय वैश्य की सावित्रीके मन्त्र भी उद्धृत कर दिये जाते हैं—

वाराहगृह्यसूत्रके उपनयन-प्रकरण पंचम खण्डमें यह मन्त्र लिखे हैं—'तत्सवितुर्वरेण्यम् इति गायत्रीं ब्राह्मणाय, आ देवो याति सविता सुरत्नः' (ऋ० सं० ७।४५।१) इति त्रिष्टुभं क्षत्रियाय, 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो' (ऋ० सं० ५।८१।१) इति जगतीं वैश्याय' वसिष्ठ धर्मसूत्र (४।३) में भी इसी प्रकार कहा है। अन्यत्र यह मन्त्र आये हैं—'ताꣳसवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिम्' (यजु० १७।७४) यह त्रिष्टुप्-सावित्री क्षत्रियके लिए, तथा 'विश्वा-रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं...सविता वरेण्यः' (यजु० १२।३) यह जगती-सावित्री वैश्यकेलिए है। इन मन्त्रोंका देवता भी सविता है; इनमें भी बुद्धिका सम्बन्ध है। अतः क्षत्रिय वैश्य इनको, इन अपने मन्त्रोंका उपयोग भी शास्त्रानुसार करना चाहिये। इनमें उन्हें अपनेलिए अधिकृत होनेसे विशेष ही फल

होगा। अस्तु। ब्राह्मणके लिए तो गायत्री-सावित्री ही आई है। उसकेलिए तो इतना कहा है कि अन्य यदि वह कुछ न कर सके तो सुयन्त्रित होकर सावित्रीको ही अपना ले 'सावित्रीमात्र-सारोपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोपि (मनु० २।११८) इससे उसका ब्राह्मणत्व अक्षुण्ण रहता है। सो इस प्रकारके गायत्री-मन्त्रकी यह महत्ता केवल शाब्दिक नहीं है; किन्तु सोपपत्तिक भी है—यह रहस्य *'आलोक' पाठकोंने समझ लिया होगा।

---

*प्रेरणा—'श्रीसनातनधर्मालोक' दश-सहस्र पृष्ठोंका है। इसके न्यूनसे न्यून पञ्चम पुष्प-इतने बीस पुष्प प्रकाशित हो सकते हैं। यदि संरक्षक तथा सहायक आदि निरन्तर तथा शीघ्र सहायता करते चलें; तो यह ग्रन्थमाला शीघ्र ही पूर्ण हो सकती है। धार्मिकोंका इसके संरक्षक तथा सहायकोंका जुटाना कर्तव्यमें आ पड़ता है। इस ग्रन्थमालाके पूर्ण हो जाने पर सनातनधर्म पर होनेवाली शङ्काएँ प्रायः समाप्त हो जायँगी। सहायकका १००) है, और संरक्षकका १०००)। संरक्षकका चित्र भी छपता है और प्रत्येक प्रकाशनमें नाम भी। प्रेरकोंका नाम भी छपता है। आशा है—हिन्दु जनता अपनी शुद्ध कमाईका सदुपयोग इस ग्रन्थमालामें करेगी। जो यह न कर-करा सकें; वे इस ग्रन्थमालाके पुष्पोंको अन्योंके द्वारा खरीदवाकर भी इसकी सहायता कर सकते हैं। गत चार पुष्पोंका मूल्य ७।), डाकव्यय १।=)।

(६) कच्छबन्ध-रहस्य

शास्त्रोंमें 'शिरः प्रावृत्य कर्णौ वा मुक्तकच्छशिखोपि वा। अकृत्वा पादयोः शौचम् आचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत्' इसमें आचमनसे शुद्धि बताई गई है पर सन्ध्यादि कर्मके आरम्भमें शिर वा कानको ढकना, कच्छ (लांग) वा शिखा खोले रखना, और पांवकी शुद्धि न करना, इनसे, आचमन किये हुए भी पुरुषकी अशुचिता बताई गई है। इनमें लांग खोले रखना भी अशुद्धियोंमें परिगणित किया गया है।

सन्ध्या आदिमें सिरके ढकनेके निषेधका रहस्य यह है कि सन्ध्या-समयमें परमात्माकी जो कृपा हमें प्राप्त होती है वह शिखाके द्वारा ही आती है। आशीर्वाद देनेवाला सिरमें शिखावाले स्थान पर हाथ रखके चरण छूनेवालेको आशीर्वाद देता है। शिखाके ढकने पर पुरुष उस कृपाके अंशसे वञ्चित हो जाता है। इसके अतिरिक्त सन्ध्यामें पहले स्नान करना पड़ता है। स्नान कर लेने पर फिर सद्यः सन्ध्या करनी पड़ जाती है। स्नानके समय पोंछने पर भी शिरकी क्लिन्नता नहीं जाती। उसको सुखानेके लिए सिरका नंगा रखना आवश्यक हो जाता है; नहीं तो यदि उस समय शिरको पटके आदिसे वेष्टित कर दिया जावेगा; तो सिरकी गर्मी, इधर सिरका गीलापन, इधर सिर बन्द होनेसे मल बढ़ेगा, जिससे सिरमें विकार और जूँ आदि सिरमें हो जाएँगी। उस भयके दूरीकरणार्थ भी सन्ध्या आदिमें नंगा सिर रखना ठीक है।

इसी प्रकार कानके बन्द करनेमें भी समझ लेना चाहिये। उस समय शिखाका खोले रखना भी ठीक नहीं। खोलकर फिर उसमें ग्रन्थि दे देनी चाहिये, इस विषयमें शिखा-विज्ञानमें हम दिखला चुके हैं।

पांओंकी शुद्धि आवश्यक है ही, क्योंकि जूते आदिका स्पर्श वा अशुद्ध स्थलका स्पर्श होनेसे शुद्ध कर्ममें अशुद्धि न प्रवेश करे—अतः पावोंकी जलसे शुद्धि आवश्यक ही है; अब शेष रह जाता है कच्छ बांधना। कच्छसे लांग (धोतीके पीछेकी ग्रन्थि) बांधना इष्ट है। जहां वह हमारे कर्मका अङ्ग है वहां लौकिक लाभ भी इसके स्पष्ट हैं। एक तो हिन्दु-मुसलमानका भेद स्पष्ट हो जाता है। उत्तर प्रदेशमें हिन्दुओंकी सङ्गतिसे मुसलमान भी लांग बांधते हैं; पर अन्यत्र पंजाबादिमें नहीं बांधते। पश्चिमी पंजाबके ग्रामके लोगोंने लांग खोले रखना यह वहांके मुसलमानोंके सम्पर्कसे सीखा है। वैदिककर्माधिकारी होनेसे द्विजोंका लांग बांधना आवश्यक है। स्त्रियोंमें भी कर्माधिकार न्यून होनेसे उनकी साड़ीकी लांग भी खुली रहती है। पर बंगाल आदि दक्षिण देशोंमें स्त्रियोंमें भी लांग बांधनेका प्रचार है।

अब लांगके लौकिक लाभों पर भी विचार कर लेना चाहिये। लांग न बांधनेसे चलनेके समय धोतीके अंशके द्वारा जांघोंके पास घर्षण होता रहता है; इससे वहांकी त्वचा तथा नसोंको हानि पहुँचती है। धोतीके आगेके भागके वस्त्रके पांवमें पहुँचनेसे गिरने की भी आशंका रहती है। उसके वेगसे मट्टीके उड़नेकी आशंका भी

रहती है; और लघु-शंका करनेके समय अपने आपको नीचेसे नंगा करना पड़ता है। घोड़ेपर वा साइकलपर कूदकर चढ़नेसे नंगे होनेकी शंका रहती है। इसलिए स्त्रियोंकी साड़ी वा घाघरा आदिके लांग-हीन होनेसे साइकल पर कूदकर चलनेके समय नंगेपनकी आशंका रहती है; उस आशंकाको दूर करनेकेलिए स्त्रियोंकेलिए विशेष प्रकारका साइकल बना होता है, जिसका डंडा ऊपर नहीं होता, किन्तु नीचेसे ही टेढा हुआ-हुआ होता है; इससे उन्हें उस पर कूद कर चढ़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे उनकी नग्नताकी आशंका भी नहीं रहती। हिन्दु-जातीयताका चिन्ह तो है ही। प्राचीन समयसे हिन्दुका ऐसा वेष चला आता है, जिससे पुरानी हिन्दु-जातिके दर्शन भी हो जाते हैं।

पंजाब आदिमें मुसलमान इसे हिन्दुओंका चिह्न मानकर उनसे विरुद्ध व्यवहार वाले होनेसे लांग नहीं बांधते। लेकिन घोड़े वा साइकिल आदि पर कूदकर चढ़नेकी आवश्यकतामें उन्हें भी नग्नताका अनुभवहोता है। तब पीछेकी लांग बांधनेमें हिन्दुओंका चिह्न न हो जावे, इस कारण वे पीछेकी लांग न बांधकर आगेसे लांग बांध लेते हैं अर्थात् पीछेके धोतीके हिस्सेको नीचेसे आगे ऊपर बस्ति-वाले स्थानके पाससे निकाल लेते हैं। यह भी एक लांग जैसी बन जाती है, इससे नग्नताकी आशंका नहीं रहती, पर द्रविडप्राणायाम के समान हो जानेसे इसमें असुविधा बहुत होती है। भशाकोंके उठानेवाले मुसलमान भी ऐसी ही लांग बांधते हैं, जिससे धोतीका खुला हुआ भाग जांघसे घिसता हुआ तकलीफ़ न पहुँचावे।

सन्ध्यादिके समय लांग न बांधी जाय तो नीचेसे नग्नता होनेसे देवताकी अवहेलना समझी जाती है; अतः उस समय लांगका बांधना आवश्यक है। धोतीमें पीछेकी लांग होनेसे चलने, उठने, बैठने आदिमें एक सुविधासी रहती है इसका अनुभव लांग बांधने-वाले ही जान सकते हैं।

लांग खोले रहनेमें तब अयुक्तता नहीं मानी जाती; जब अन्दर से कौपीन (लँगोटा) हो। इसलिए जब ब्रह्मचारी वा संन्यासी विना लांगकी धोती बांधते हैं; तो वे अन्दर कौपीन पहर लेते हैं। स्त्रियां वैसा साड़ीका वेष सुन्दर लगनेसे अन्दरसे पेटीकोट पहर लेती हैं। पजामा, सलवार, पतलून आदि पहनना हिन्दु-वेष नहीं है। यह मुसलमानों वा अँग्रेजोंसे आया है। हमारे धार्मिक कार्योंमें इसका उपयोग नहीं किया जाता। उनके पहननेवाले उन्हें उतारनेके समय अन्य पजामे वा पतलून आदि नहीं पहर सकते; अतः उन्हें अन्य पजामा आदि बदलने और पहले पजामा आदिके उतारनेमें या तो नंगा होना पड़ता है या धोती पहननी पड़ती है। पजामे आदिमें बन्धन होता है, नालेकी पराधीनता पड़ती है; कभी नाला ही नहीं खुलता, कभी टूट ही जाता है तो बड़ी असुविधा होती है। पेशाब आदिके समय पजामा खोलकर कुछ नग्न भी होना पड़ता है, पर धोतीमें स्वाधीनता है। आग लग जाए तो धोतीको जल्दीसे खोला जा सकता है; पर पजामे आदि खोलनेमें बहुत देर लग जाती है; उसके उतारनेमें भी समय लग जाता है। पैन्टवाला नीचे भूमि पर ठीक नहीं बैठ सकता; उसे टांगें फैलाकर असभ्यतासे बैठना पड़ता

है। साथ ही उसने कन्धे तककी चमड़ेकी पेटी भी यदि लगा रखी हो, और कभी बूटके सबबसे गिर जावे; तो फिर वह स्वयं उठ भी नहीं सकता, जब तक कि कोई दूसरा उठाकर खड़ा न करे। अतः धोतीका वेष जहां प्राचीन है, भारतीयता वा हिन्दु-संस्कृति वा सात्त्विकताका बोध करानेवाला है वहां बहुत लाभोंका भी देनेवाला है, और लांग होनेपर लघुशंका आदिके समय विना धोती खोले भी मूत्रत्याग आदि कार्यमें कोई रुकावट नहीं पड़ती, और किसी भी प्रकारकी नग्नताका अनुभव नहीं करना पड़ता। लगता भी यह वेष सुन्दर है। पर लार्ड मैकालेके मानस-दास इस पर उपहास करते हैं। इसका भाव यह है कि उन्हें भारतीयतासे घृणा तथा अँग्रेजियतसे अनुराग है।

सड़क आदिमें कीचड़ होनेपर धोतीको सिकोड़ा भी जा सकता है। यदि कभी बहुत आवश्यकता भी पड़े तो धोतीके अग्रभागके कपड़ेमें कोई वस्तु भी ली जा सकती है। जो नाक आदि साफ कर चुके हों तो उसके अग्रभागसे नाकको साफ भी किया जा सकता है। गीले हाथ भी सुखाये जा सकते हैं। आंख वा नाकमें खुजली होनेपर उसके अग्रभागसे ठीक किया जा सकता है।

फलतः लांग-सिष्टम तथा धोतीवाला वेष जहां प्राचीनता एवं सात्त्विकता लिये हुए है वहां लाभप्रद भी बहुत है। हिन्दुजातिको इसका परित्याग नहीं करना चाहिये। इसे कमर पर लपेटकर बांधनेका अभ्यास करना चाहिये। अभ्यासी व्यक्ति जब इसे बांधता है; तो दूसरा व्यक्ति उस धोतीको खैंचकर भी खोलनेमें समर्थ नहीं हो सकता। अतः जो लोग खुल जानेके डरसे इसे नहीं पहनना चाहते वा इसके पहिननेमें असभ्यता समझते हैं उन्हें यह भ्रम दूर कर लेना चाहिये।

(७) षोडश संस्कार और उनका रहस्य

'पुत्र ही पिता होता है,' 'आजके बालक कलके भविष्यद् भारतवर्ष हैं' ये उक्तियाँ जहाँ प्रसिद्ध हैं, वहाँ ठीक भी हैं। हम बालकोंमें जैसा संस्कार डालेंगे, हमारे आचार-विचारोंका जो प्रभाव उनपर पड़ेगा, वे वैसे ही बनेंगे; वही आगे भारतवर्षका स्वरूप बनेगा। अंग्रेजी राज्यके समय अंग्रजियतका प्रभाव जनता पर अधिक पड़ा; उस जनताके वैसे ही आचार-विचार-विहार बने। उसका बालकों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। उस समयके बालक आज युवा हैं। वे भी अप-टू-डेट अंग्रेज बने हैं। न केवल उनका वेषभूषादि बाह्य व्यापार ही, अपितु उनका मन एवं मस्तिष्क भी वैसा बना है। अंग्रेजोंके चले जाने पर भी अंग्रेजियत नहीं गयी। लार्ड मैकालेने भारतीय बालकों पर अपनी शिक्षा-दीक्षाका संस्कार डालकर उनको इस प्रकार अपना मानसिक दास बना लिया है कि अब वे युवक प्राच्य-साहित्यसे घृणा दिलानेवाले विषैले साहित्य की सृष्टिमें लगे हैं। उन पर प्राच्य-आचार-विचारोंका तथा प्राच्य युक्तियोंका प्रभाव नहीं पड़ता। 'पूर्वकी दिशा भारतका उदय है, पश्चिम अस्त है'—यह वे जानते हुए भी नहीं जान पाते।

अब आगे भारतीय बालकको नवीन वातावरणके चंगुलसे बचाना चाहिये, उस पर पाश्चात्त्य संस्कारोंका असर न पड़ने देकर प्राच्य संस्कार डालने चाहियें—जिससे यहाँका बालक भारतीय-धर्म एवं भारतीय-संस्कृतिका उपासक बने, उससे जातीयता

की भावना तथा गौरव न छूटे; अतः बालक पर अपने संस्कार डालने चाहियें। यह उचित भी है; क्योंकि नीति-शास्त्रकी यह उक्ति परम प्रसिद्ध है कि—'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' नवीन पात्रमें लगा हुआ संस्कार अन्यथा नहीं हुआ करता; उसमें स्थिर रहा करता है। वह नवीन पात्र बालक है। उस पर जो आचार-विचारका संस्कार पड़ेगा, वह परिवर्तित नहीं होगा। बालक पर ही देशका, जातिका, धर्मका तथा संस्कृतिका भविष्य निर्भर है। संस्कारोंसे ही बालक सद्गुणी, सद्विचारसम्पन्न, सदाचारी, सत्कर्म-परायण, आदर्शभूत, अनुशासनप्रिय, सेवा-परायण, साहसी एवं संयमी होगा। इसके ऐसा बननेसे समाज तथा देश भी वैसा बनेगा। बालकके संस्कारहीन होने पर वह बिगड़ेगा; इससे देश एवं समाज भी बिगड़ेगा। इसी बिगड़नेके परिणाम कलह, युद्ध एवं महायुद्ध हैं।

बालककी सीमा क्या है? शिशु, बाल, कुमार, पौगण्ड, किशोर—ये बालकके अवस्था-भेद हैं। बालक इन अवस्थाओंमें सब सीखता है। बालक अनुकरणप्रिय तो होता ही है; हम जो करेंगे, वह वही करेगा। इस कारण हमें उसके सामने आदर्श बनकर रहना पड़ेगा! 'यह अबोध शिशु है इस पर हमारे असंयम आदिका क्या प्रभाव पड़ेगा'—यह सोचना सर्वथा अयुक्त है। उसके मन-बुद्धिका विकास चाहे न हुआ हो, तथापि मन एवं बुद्धि की सत्ता तो उसमें भी होती है; अतः उस पर भी यथा-तथा प्रभाव पड़ता ही है।

पर हमारे ऋषि-मुनि तो और भी दूर गये हैं। वे कहते हैं कि गर्भ भी बालककी एक अवस्था है। बालक गर्भरूप भी सीखा करता है। अभिमन्युने गर्भमें ही चक्रव्यूह-प्रवेश सीखा था। जबसे गर्भमें चैतन्य-संचार होजाता है, तबसे बालक सीखा करता है। गर्भका ही प्रथम संस्करण बालक है, बालकका ही द्वितीय संस्करण युवा है और तृतीय संस्करण वृद्ध। तभीसे हमें आदर्शरूप बनना चाहिये। केवल बाहरसे ही नहीं; किन्तु अन्तरङ्ग भी हमें वैसा बनाना चाहिये; क्योंकि माताके विचारोंका भी गर्भ पर प्रभाव पड़ता है।

यह गर्भावस्था भी कुछ दूरकी है। निषेक (गर्भाधान) बालककी सबसे पूर्वकी और सूक्ष्म अवस्था होती है। इसमें भी माता-पिताके जैसे आचार-विचार-विहार होंगे, उनका संस्कार गर्भस्थ बालक पर अवश्य पड़ेगा—यह विज्ञान हमारे दूरदर्शी ऋषि-मुनियोंने ही निकाला था। प्रत्युत वे इससे भी आगे पहुँचे। उन्होंने अनुसंधान करके यह भी बता दिया कि जब स्त्री ऋतुमती हो तब एकान्तमें बैठे। ऋतुस्नान करके फिर पतिके दर्शन करे, अथवा उस समय शीशेमें अपनी आकृति देखे तो सन्तान वैसी ही होगी 'पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः'॥ (सुश्रुत० शारी० २।२६)

कितनी दूर पहुँचे हैं वे, फिर इससे भी दूर पहुँचते हुए उन्होंने स्त्रीको गृहक्षेत्र देकर और बाह्य-संसारसे उसका सम्बन्ध हटवाकर उसे, तथा हमारे परिवार, प्रत्युत हमारी हिन्दु-संस्कृतिको भी सुरक्षित

कर दिया। विचारने पर यह उनकी बहुत सूक्ष्मदर्शिता सिद्ध होती है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है—'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ (९।७) 'तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः।' (९।९) इसी संस्कृतिकी रक्षारूप दूरदर्शिताका नाम ऋषि-मुनियोंने 'संस्कार' रक्खा था।

हिन्दुधर्ममें संस्कारोंका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है? संस्कारों का क्या लाभ है और उसके कौन अधिकारी हैं? संस्कार कितने हैं? संस्कारोंमें किसका क्या मत है? प्रत्येक संस्कारका क्या रहस्य है? इस विषयमें हिन्दुमात्रको ज्ञान रखना आवश्यक है। इस आकांक्षाकी पूर्तिकेलिए हम प्रयत्न करते हैं।

संस्कार-महत्त्व

संस्कारका लाभ जगत्प्रसिद्ध है। जब सोना खानसे निकलता है तब वह मलिन होता है। जब तक उसका संस्कार नहीं किया जाता, तब तक सुवर्ण सु-वर्ण नहीं बनता। उस समय वर्तमान संस्कृत-अवस्थाके समान उसकी चमक-दमक, आकृति एवं मूल्य आदि नहीं हुआ करता। इस कारण सुवर्णका संस्कार करके उसे सु-वर्ण बनाया जाता है। उसे इस प्रकारका बनानेकेलिए पहले उसका मार्जन करना पड़ता है—यह उसका दोष-मार्जक संस्कार होता है। संस्कारके बिना कृत्रिम और अकृत्रिम सुवर्णकी परीक्षा भी सम्भव नहीं होती। संस्कार द्वारा ही सब पदार्थ व्यवहारोपयोगी हो जाते हैं।

किसी पदार्थमें दोष-निराकरणपूर्वक गुणोंको उत्पन्न करना ही

उसका संस्कार कहा जाता है। जब तक किसी पदार्थका संस्कार नहीं होता, तब तक वह सदोष और गुणहीन रहता है। संस्कार होने पर ही उस पदार्थके दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। जब तक हीरेको शाण पर संस्कृत नहीं किया जाता, तब तक हीरेका न तो मिट्टीका आवरण ही हटता है, न उसमें चमक ही आती है। इस प्रकार शाण-संस्कारके बिना तलवारकी न तीक्ष्ण धार बनती है, न उसमें छेदनकी शक्ति प्राप्त होती है। जब ये वस्तुएँ शाणमें संस्कार पाती हैं, तभी उक्त दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। गुण प्रकट होनेसे ही उनका मूल्याङ्कन होता है। जाति यदि स्वरूपकी सत्ताको देती है; तो संस्कार उसका उत्कर्ष उत्पन्न करते हैं। एक लोहा जिसकी साधारण-सी जाति है, संस्कार को प्राप्त करके घड़ीके बाल-कमानी आदि पुर्जेके रूपमें आता है; तब वह लोहा रहता हुआ एक घड़ी एवं उसका आत्मा बनकर महामूल्यवान् होजाता है। कभी-कभी तो विशेष सारंगियोंका तार बनकर सुवर्णसे भी महँगा बिकता है। यह संस्कारकी महिमा है।

संस्करणका नाम 'संस्कार' होता है। सम् उपसर्गसे कृञ् धातुको घञ् प्रत्यय करने पर और 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' (पा० ६।१।१३७) इस सूत्रसे भूषण-अर्थमें सुट् करने पर 'संस्कार' शब्द बनता है। सोनेका खानसे निकलने पर उसका मल हटाना यह उसका पहला दोषमार्जक संस्कार होता है; तब हम यदि उसका भूषण बनाना चाहें; तो उसे अग्निमें तपाकर, हथौड़ेसे उसे पीटकर, छेनीसे उसे जहाँ-तहाँ काटकर, यन्त्र-विशेषसे उसे घिसकर

तब उसका भूषण बनता है—यह उसका हीनाङ्गपूरक संस्कार होता है। फिर उसमें हीरा एवं मोती-रत्न आदिको यथास्थान खचित (जड़ना) किया जाय तो यह उसका अतिशयाधान-संस्कार होगा। इससे सोना बहुत सुन्दर, उपादेय तथा बहुमूल्य होजाता है। लकड़ीमें भी बढ़ई द्वारा संस्कार करने पर उसकी बहुमूल्यता हो जाती है। जब जड़ वस्तुओंमें भी संस्कारसे इस प्रकारकी विलक्षणता हो जाती है, तब मनुष्योंका तो क्या कहना?

फलतः सांसारिक सब पदार्थोंकी यदि उपयोगिता इष्ट हो तो उनका संस्कार अवश्य अपेक्षित होगा। इस प्रकारकी कोई वस्तु नहीं मिलती, जिसका कार्योपयोगकेलिए संस्कार न किया जाता हो। इस प्रकार मनुष्यका भी स्वरूप संस्कारसे ही यथार्थतः प्रकाशित होता है। संस्कारसे ही मनुष्यता प्राप्त होती है। संस्कारसे ही मनुष्यका दृष्ट-अदृष्ट मल प्रक्षालित होता है। सोलह संस्कारोंका भी यही लाभ होता है। माता-पिताके रजोवीर्यगत दोषके कारण सन्तानमें शारीरिक और मानसिक बहुत-सी त्रुटियाँ रह सकती हैं, उनको दूर करने तथा पापोंको हटानेकेलिए संस्कारोंका यथाधिकार उपयोग हुआ करता है। जैसा कि मनुस्मृतिमें कहा है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (२।२७) वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (२।२६)

यहाँपर शारीरिक संस्कारको इस लोक तथा परलोकमें पावन

तथा बीजगत एवं गर्भगत दोषोंका दूर करनेवाला माना है। इनमें गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कार-द्वारा दोषमार्जन होता है। चूड़ाकर्म, उपनयनादि संस्कारों-द्वारा हीनाङ्गपूर्ति होती है। गृहाश्रम, संन्यासाश्रम आदि संस्कारोंके द्वारा अतिशयाधान होता है। पुरुष इनसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपको प्राप्त करता है। शरीर, आत्मा एवं मन संस्कृत हो जाते हैं। ऋषियोंने संस्कारोंके सोलह प्रकाशस्तम्भ नियत किये हैं। वे उस मार्गके अधिकारियोंको यथावत् मार्गनिर्देश करते हैं। इन संस्कारोंके प्रकाशमें जो जाता है, वह चन्द्रमाकी तरह षोडशकलापूर्ण होकर संसारमें प्रकाशित होता है। ये संस्कार धर्मरूप चावलोंकी रक्षाके लिये उसकी ऊपरकी त्वचा हैं। इसी त्वचासे धर्मरूप चावलोंका परिपोषण एवं वृद्धि होती है।

संस्कारोंके अधिकारी

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥ (१।२।१०)

इस याज्ञवल्क्यके वचनसे द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक सभी संस्कार मन्त्रसहित होते हैं। शूद्रोंके सब संस्कार नहीं होते। उनके आश्रम-संस्कार तो होते ही नहीं; केवल गृहाश्रम ही विना वेदमन्त्रोंके होता है। ब्रह्मचर्याश्रम भी शूद्रोंका वैध नहीं होता; इस प्रकार उनके उपनयन-वेदारम्भ-समावर्तन आदि संस्कार भी नहीं होते। जब कि श्रीमनुजीके 'योऽनधीत्य द्विजो वेदम्...स जीवन्नेव शूद्रत्वम्' (२।१६८) 'स

शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः' (२।१०३) इन वचनोंको वादी-प्रतिवादी सभी अप्रक्षिप्त स्वीकृत करते हैं; तब शूद्रोंके वेदानधिकारवश उसके उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन आदि संस्कार भी नहीं होते। उनके जो कई संस्कार होते हैं वे अमन्त्रक, पौराणिक एवं तान्त्रिक मन्त्रोंसे होते हैं; जैसे कि—'व्यासस्मृति'में भी लिखा है—

'नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश' ॥ (१।१६–१७)

वैध ब्रह्मचर्याश्रम स्त्रियोंका भी नहीं होता; विवाह ही उनका द्विजत्वाधायक संस्कार होता है। श्रीमनुजीने कहा है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७) अर्थात्—स्त्रियोंका विवाह ही उनका उपनयन एवं वेदारम्भ होता है, क्योंकि स्त्रियोंका पतिसे व्यतिरिक्त गुरु न होनेसे पतिके पास विधिपूर्वक नयन तथा उससे उन्हें उपवस्त्रकी प्राप्ति और उसे यज्ञोपवीत-सूत्रकी तरह लपेट लेना ही उसका उपनयन और विवाहसम्बन्धी एवं यज्ञोपयुक्त स्त्रीसम्बन्धी कई विशिष्ट मन्त्रोंका पतिरूप गुरुके आश्रयसे उच्चारण ही उनका वेदारम्भ होता है। स्त्रियोंका स्वतन्त्रतासे न तो उपनयनका विधान है, न वेदारम्भका, गुरुस्थानीय पतिके पास निवास और पतिकी सेवा करना ही उनका गुरुकुलवास होता है, घरके काम-काज करके, गृहपतित्व प्राप्त करके, पतिको घरके कामोंसे निश्चिन्त करके उसके विद्या, पठन-पाठन आदि कर्मोंमें असुविधाओंको

हटाना, उसकी यज्ञादि सामग्री जुटाना, समिधाओंका परिमाणानुसार काटना, यज्ञमें पतिके साथ बैठना, अपने घरसे लायी गयी वैवाहिक अग्निको कभी भी बुझने न देना, उसीमें ही बलिकर्म तथा पाकक्रिया-निष्पादन—यही पत्नीका अग्निहोत्र-विधान है।

जब इस प्रकार पत्नी अनायास ही 'द्विज' हो जाती है, पति-कर्तृक यज्ञादि धर्म-कर्मकी और स्वर्गादिक फलकी इच्छाकी अधिकारिणी हो जाती है तो उसे अन्य क्या चाहिये? 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्?' वैसे सोचा जाय तो घरके काम-धन्धे, पतिके धर्मकर्ममें विघ्न न आने देना—इत्यादि कार्य भी बहुत कठिन हैं। पतिसे यह सम्भव नहीं। पतिकेलिए यह कृत्य उसके धर्म-कर्ममें विघ्न डालनेवाले तथा उसके अर्थकार्यमें धक्का पहुँचानेवाले हैं; तब उसमें सहायता पहुँचानेवाली, उसकी अभिन्नताको प्राप्त हुई पत्नी भला पतिके धर्म-कर्मके फलमें अधिकारिणी हो भी क्यों नहीं?

वस्तुतः विचारा जाय तो पति-पत्नी एक-दूसरेके शेष-पूरक हैं? जिस कार्यको एक नहीं जानता या नहीं कर सकता, उसको दूसरा पूर्ण करता है। पति यदि विदेशमन्त्री है तो पत्नी स्वदेशमन्त्रिणी है। पति बाहरका स्वामी है तो पत्नी घरकी। पति यदि दाहिनी आँख है तो पत्नी बायीं। पति यदि दाहिनी भुजा है तो पत्नी बायीं। पति यदि दाहिनी जाँघ है तो स्त्री बायीं। पति यदि साइकलका अगला पहिया है तो पत्नी पिछला। पति यदि रथका दाहिना पहिया है तो पत्नी बायाँ। पति यदि द्वारका दाहिना

किवाड़ है तो पत्नी बायाँ। इस प्रकार पति-पत्नी एक देहके गौरी-शङ्कर हैं; चतुर्भुज लक्ष्मी-नारायण हैं; सीता-राम हैं। अपने-अपने अधिकारमें रहना ही, समय-समयपर एक-दूसरेकी सहायता करना ही व्यवस्था-स्थापन है। पति 'पोषक' होता है, पत्नी 'पोष्या' होती है। उसी पतिकी संतानकी 'पोषक' भी होती है। फलतः पत्नीको स्वतन्त्र कुछ भी कार्य नहीं होता। पतिका संन्यासी होना या स्वर्गवासी होना—यही पत्नीका संन्यास होता है—इससे भिन्न नहीं।

संस्कारोंकी संख्या

'गौतमधर्मसूत्र'में ४० संस्कार कहे गये हैं—'चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः' (१।८।८)। वे संस्कार ये हैं—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चूड़ाकर्म, ८ उपनयन, ९–१२ चार वेदोंके व्रत, १३ समावर्तन, १४ विवाह, १५ देवयज्ञ, १६ पितृयज्ञ, १७ अतिथियज्ञ, १८ भूतयज्ञ, १९ ब्रह्मयज्ञ (यह पञ्चमहायज्ञ), २० श्रावणीकर्म, २१ आश्विनीकर्म, २२ आग्रहायणी-कर्म, २३ चैत्रकर्म, २४ अग्न्याधान (श्रौत एवं स्मार्त), २५ नित्याग्निहोत्र, २६ दर्श-पौर्णमासयाग, २७ चातुर्मास्य (वश्वदेव, वरुणप्रघास, शाकमेध, शुनासीरीय), २८ आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि), २९ निरूढपशुयाग, ३० सौत्रामणीयाग (यह सात हविर्यज्ञ), ३१ अग्निष्टोम, ३२ अत्यग्निष्टोम, ३३ उक्थ्य, ३४ षोडशी, ३५ वाजपेय, ३६ अतिरात्र, ३७ आप्तोर्याम—(यह सात सोमयाग), ३८ पितृमेध (पिण्डपितृयज्ञ), ३९ अष्टकाश्राद्ध, ४० पार्वणश्राद्ध।

(गौतम-धर्मसूत्र १।८।१४–२२, गौतम-स्मृति ८।३)। १ दया, २ शान्ति, ३ अनसूया, ४ शौच, ५ अनायास, ६ मङ्गल, ७ अकार्पण्य, ८ अस्पृहा—इन आठ आत्म-गुणोंके साथ गौतमने ४८ संस्कार कहे हैं।

अङ्गिराने ये पचीस संस्कार कहे हैं—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्त, ४ विष्णुबलि-कर्म, ५ जातकर्म, ६ नामकर्म, ७ निष्क्रम, ८ अन्नप्राशन, ९ चूडाकर्म, १० उपनयन, ११–१४ चारों वेदोंके वेदारम्भ, १५ स्नान (समावर्तन), १६ विवाह, १७ आग्रयण, १८ अष्टका, १९ श्रावणीपर्व, २० आश्विनीपर्व, २१ मार्गशीर्षीपर्व, २२ पार्वण, २३ उपाकर्म, २४ उत्सर्ग, २५ नित्यमहायज्ञ।

'व्यासस्मृति' (१।१३-१४-१५)में ये १६ संस्कार कहे गये हैं—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्त, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ वपन, (चूडाकर्म), ९ कर्णवेध, १० व्रतादेश, (उपनयन) ११ वेदारम्भ, १२ केशान्त, १३ स्नान (समावर्तन), १४ विवाह, १५ विवाहाग्निपरिग्रह, १६ त्रेताग्निसंग्रह। कई विद्वान् यहाँपर 'चिताग्निसंग्रह' पाठ मनाते हैं। सनातनधर्मके प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भीमसेन शर्माजीने १५वें संस्कारका नाम 'आवसथ्याधान' और १६वेंका नाम 'श्रौताधान' कहकर यही १६ संस्कार अपनी 'षोडशसंस्कारविधि'में निरूपित किये हैं।

श्रीजातूकर्ण्यने ये १६ संस्कार गिनाये हैं—१ आधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्त, ४ जातकर्म, ५ नाम, ६ अन्नप्राशन ७ चौलक, ८ मौञ्जी, ९–१२ चतुर्वेद-व्रत, १३ गोदान (केशान्त), १४ समावर्तन,

१५ विवाह, १६ अन्त्य। 'शूद्राणां चैव भवति विवाहश्चान्त्यकर्म च' शूद्रोंके उसने दो संकार माने हैं—१ विवाह, २ अन्त्यकर्म। ये १६ संस्कार ब्राह्म कहे जाते हैं, पाकयज्ञ आदि दैव कहे जाते हैं।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने अपनी 'संस्कार-विधि'में १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूड़ाकर्म, ९ कर्णवेध, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, १२ समावर्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ वानप्रस्थ, १६ संन्यास, १७ अन्त्येष्टि—ये १७ संस्कार कहे हैं। गृहाश्रमको भी उन्होंने पृ० १७६ में 'संस्कार' कहा है, अन्त्येष्टिको भी २८८ पृष्ठमें 'शरीरके अन्तका संस्कार' कहा है। उक्त पुस्तककी सूची बनानेवालोंने 'अन्त्येष्टि'के साथ 'संस्कार' न लिखकर 'अन्त्येष्टिकर्म' शब्द लिख दिया है। पर स्वामीजीने गर्भाधान प्र० (पृ०३१)में अन्त्येष्टिपर्यन्त १६ संस्कार माने हैं; अथवा गृहाश्रमको विवाहसे पृथक् संस्कार न गिनना चाहिये।

सनातनधर्मके विख्यात-व्याख्याता भारतधर्म-महामंडलके श्रीस्वामी दयानन्दजीने अपने 'धर्मविज्ञान'में १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चूडाकरण, ८ उपनयन, ९ ब्रह्मव्रत, १० वेदव्रत, ११ समावर्तन, १२ विवाह, १३ अग्न्याधान, १४ दीक्षा, १५ महाव्रत, १६ संन्यास—ये संस्कार कहे हैं।

संस्कारोंकी संख्यामें भेदका कारण

उक्त संस्कारोंमें बहुतसे विद्वान् कर्णवेधको नहीं मानते। उपनयन

और वेदारम्भको पृथक्-पृथक् संस्कार गिनते हैं। कई विद्वान् केशान्तको पृथक् न गिनकर उसका समावर्तनमें अन्तर्भाव मानते हैं। वे भी उपनयन तथा वेदारम्भको पृथक्-पृथक् गिनते हैं, विवाह तथा गृहाश्रमको एक संस्कार मानते हैं। कई विद्वान् आवसथ्याधान तथा श्रौताधानको पृथक्-पृथक् संस्कार गिनते हैं। वे वानप्रस्थ तथा संन्यास एवं अन्त्येष्टिको संस्कारोंमें नहीं गिनते।

गौतमस्मृतिमें चालीस संस्कार माने गये हैं—यह पहले दिखलाया जा चुका है, उसमें पहला संस्कार 'गर्भाधान' कहा है, पिण्ड-पितृयज्ञको भी संस्कारोंमें गिना है, यही स्पष्ट अन्तिम 'पितृमेध' है। श्रीजातूकर्ण्यने जिसका प्रमाण म० म० पं० नित्यानन्दजीने अपने 'संस्कारदीपक'में उद्धृत किया है—आदिम संस्कारका नाम 'आधान' तथा अन्तिमका नाम 'अन्त्य' कहा है, स्पष्ट है कि यह 'अन्त्येष्टि' है। 'मनुस्मृति'में 'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीन् अन्त्यकर्मणि' (५।१६८) यहाँपर 'अन्त्यकर्म' कहा है, स्पष्ट है कि यह 'अन्त्येष्टि' है।

'निषेकादिश्मशानान्तो—'(२।१६) इस मनुके वचनमें आदिम संस्कार निषेक (गर्भाधान) तथा अन्तिम 'श्मशान' कहा है। इसी श्मशानकृत्यका नाम मनुने ५।६५ पद्यमें 'पितृमेध' कहा है। 'निषेकादीनि कर्माणि' (२।१४२) इस मनुवचनमें 'निषेक' आदि कर्मका नाम कहा है। 'निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः।' (२।२६) इस मनुपद्यमें निषेकादिको शरीरका संस्कार कहा है। मनुजीको यहाँ आदि पदसे 'श्मशान' ही इष्ट प्रतीत होता है;

क्योंकि—अन्तिम कर्म वे २।१६ पद्यमें वही कह चुके हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यने भी—'ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः। (१।२।१०) यहाँपर आदिम गर्भाधानकी तथा अन्तिम क्रिया श्मशानकी मानी है। तब पितृमेधमें भी शरीरका संस्कार ही फलित हुआ। संस्कृत अग्निसे शरीरके दाहसे उसके आत्माकी परलोकमें सद्गति होती है। इसलिए असंस्कृतोंका पितृमेध न होकर पृथ्वीनिखनन ही होता है, मुसल्मानोंका मरनेपर गाड़ा जाना अथवा हिन्दु होते हुए भी मलकानोंका गाड़ा जाना इसका साक्षी है।

सोलह संस्कार

हम मनुस्मृतिके अभिप्रायको लेकर १ निषेक (गर्भाधान), २ पुंसवन ३सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूडाकरण, ९ कर्णवेध, १० उपनयन-वेदारम्भ (ब्रह्मचर्य-व्रत), ११ केशान्त, १२ स्नान-समावर्तन (ब्रह्मचर्यसमाप्ति), १३ विवाह, स्मार्त एवं श्रौत अग्न्याधान, १४ वानप्रस्थ, १५ परिव्रज्या, १६ पितृमेध—ये सोलह संस्कार कहेंगे। इनमें विद्वानोंके मतभेद होनेपर भी इनमें पूर्वोक्त सभी संस्कारोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

'मनुस्मृति' में 'गार्भैर्होमैः' (२।२६–२७) इस वचनसे गर्भसंस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन इष्ट हैं जो कि सर्वसम्मत हैं। चौथा जातकर्म मनुके (२।२९) पद्यमें, पांचवां नामकरण (२।३०) पद्यमें, छठा-सातवाँ निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन (२।३४) पद्यमें, आठवाँ चूडाकरण (२।३५) पद्यमें है। नौवां कर्णवेध मनुस्मृति-

सें पृथक् न होनेपर भी 'शुभे रौक्मे च कुण्डले' (१४।३६ पद्य)में स्पष्ट है, सुश्रुत-चरकादिमें भी स्पष्ट है। दसवाँ संस्कार उपनयन मनु २।३६-६४ पद्यमें और ब्रह्मारम्भ २।७१-१४०-१७३ पद्यमें, ग्यारहवाँ केशान्त (२।६५) श्लोकमें बारहवाँ स्नान (समावर्तन) २। १०८-२४५ श्लोकमें तथा ३।४ पद्यमें, तेरहवाँ विवाह-गृहाश्रम ३।२, ४।१ पद्यमें, चौदहवाँ वनवास ६।१ पद्यमें, पन्द्रहवाँ परिव्रज्या ६।३३ पद्यमें कहा है। १६ वाँ पितृमेध मनुजीके मतमें पूर्व दिखाया ही जा चुका है।

परन्तु कई विद्वान् पितृमेधकर्मको तो स्वीकार करते हैं. पर उसे संस्कार नहीं मानते। वस्तुतः वह भी शरीर-संस्कार ही है। उसके संस्कृत होनेसे ही वेदादिमें उसके आत्माकी सद्गति मानी जाती है। वेद्में इस प्रकारके मन्त्र आते हैं, जिनसे सूचित होता है कि मृतक कच्चा न रह जाय, पूरा जल जाय। ईसाई-मुसलमान आदिका संस्कारोंमें अधिकार न होनेसे ही उनके शरीरको भूमिमें गाड़ा जाता है, अग्निसंस्कार उनका नहीं किया जाता। 'नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया' (५।६९) इस मनुजीके वचन से संस्कारानई बालकोंका भी अग्निसंस्कार कहा गया है; अतः वह भी संस्कारोंमें गिने जाने योग्य है।

वस्तुतः संस्कारोंका वर्गीकरण किया जाय, तो यह स्पष्ट दीखता है कि मोक्ष-धाममें जानेकेलिए ब्रह्मचर्याश्रम, गार्हस्थ्याश्रम, वान-प्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम—यह चार जंक्शन स्टेशन हैं। यह शुक्रमें आनेके दिनसे लेकर आगकी लपटोंमें समा जानेतक जीवनको

सुसंस्कृत बनानेवाले हैं। इनमें वीर्यमें जानेसे लेकर जन्मतक १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म-संस्कार हैं। फिर उसी जात(उत्पन्न)के साथ संबन्ध रखनेवाले ५ नामकरण,६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूडाकरण, ९ कर्णवेध—यह पांच संस्कार हैं। फिर ब्रह्मचर्याश्रमके १० उपनयन—वेदारम्भ, ११ केशान्त, १२ समावर्तन—यह तीन संस्कार हैं कुल बारह संस्कार हुए। मनुजीसे कहे केशान्तको 'वेदारम्भ' कहना ठीक नहीं; अन्यथा वेदारम्भ १६वें वर्षमें करना पड़ेगा—'केशान्तः षोडशे वर्षे' (मनु० २।६५) गोभिलके मतमें भी केशान्त समावर्तन है, वेदारम्भ नहीं। उपनयन के पीछे वर्णित होनेसे 'केशान्त' वेदारम्भ नहीं हो जाता।

फिर गृहस्थाश्रमका संस्कार (१३) विवाह एवं अग्न्याधान है। तब ब्रह्मचर्याश्रम एवं गृहस्थाश्रमके सहचारी वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रमका होना भी अनिवार्य है। वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम-में प्रविष्ट होनेकेलिए जो विधि अवलम्बित की जाती है, वही इन संस्कारोंकी विधि हो जाती है। अतः मनुस्मृतिकी शैलीसे हमने इन अन्तिम दो आश्रमोंको भी संस्कारोंमें स्थान दिया है; इस प्रकार यह अपने स्वतन्त्र संस्कार हुए। अन्तिमका नाम अन्त्य है—इसी को 'पितृमेध' कहते हैं। मृतक शरीरकेलिए वेदादि-शास्त्रोंमें 'पितृ' शब्द आता है। इस प्रकार संस्कार चार आश्रमोंमें वर्गीकृत हैं। इन्हींसे मोक्षधामकी प्राप्ति होती है।

संस्कारोंका संक्षिप्त रहस्य

अब १६ संस्कारोंका संक्षिप्त रहस्य बताया जाता है यद्यपि

सनातनधर्मानुसार संस्कारोंका मुख्य प्रयोजन अदृष्ट (धर्म)-प्राप्ति ही है, हिन्दु-धर्मका उद्देश्य भी यही है, पर संस्कारोंके कई दृष्ट प्रयोजन भी विद्वानोंने अनुभूत किये हैं; इससे 'सोना और सुगन्ध' तथा 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' यह न्याय चरितार्थ हो जाते हैं। हम उनके वैज्ञानिक एवं लौकिक रहस्य भी लिखनेकी चेष्टा करते हैं। 'स्मृतिसंग्रह' में विवाहान्त संस्कारोंके निम्नलिखित फल लिखे हैं—

गर्भाधानसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी पापका नाश होता है; तथा क्षेत्रका संस्कारभी गर्भाधानका फल कहा गया है। पुंसवनसे गर्भमें पुरुष-चिह्न प्रकट होता है। सीमन्तोन्नयनका फल गर्भाधानके फलके समान ही जानना चाहिये। जातकर्मसे गर्भस्राव-जन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है। आयु एवं तेजकी वृद्धि तथा लौकिक व्यवहारकी सिद्धि—विद्वानोंने नामकरणका यह फल वर्णित किया है। सूर्यदर्शनसे निश्चय ही आयुकी वृद्धि होती है। निष्क्रमणसे भी विद्वानोंने आयुवृद्धि बताई है। अन्नप्राशनसे गर्भमें माताका मल खाने आदिका दोष दूर होता है तथा बल, आयु एवं तेजकी वृद्धि चूडाकर्मका फल कहा गया है। द्विजत्वकी प्राप्तिके साथ-साथ वेदाध्ययनके अधिकारकी प्राप्ति ऋषियोंने उपनयनका फल बताया है। ब्राह्म आदि आठ प्रकारके विवाहोंके फलस्वरूप उत्पन्न हुआ पुत्र पितरोंको तारनेवाला होता है। श्रेष्ठ ऋषियोंने विवाहका यही फल व्यक्त किया है। इसी प्रकार विवाहके द्वारा पत्नीके सहयोगसे अग्निहोत्र आदि बन पाता है और उनका स्पष्ट फल स्वर्गकी

प्राप्ति है।

इन मूल वचनोंके आधारपर पाठकोंके समक्ष इनपर विवेचना दी जाती है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।' (यजु० वा०सं० ४०।२) इस प्रकार वेद कर्मोंकी आवश्यकताका निरूपण करता है। तब हमें इनपर ध्यान देना चाहिये। संस्कारों का फल मनुजीने इस प्रकार कहा है—'वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च'॥ (२।२६) गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (२।२७) इन वचनोंसे संस्कारोंको पापमार्जन करनेवाले होनेसे इहलोकमें अभ्युदयार्थ और परलोकमें निःश्रेयसार्थ अवश्य करना चाहिये। इनसे जीवन कलापूर्ण हो जाता है। इनके रहस्यका प्रतिपादन करनेकेलिए हम प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानोंके तथा अपने विचारोंका यथास्थान उपयोग करेंगे।

१. गर्भाधान-रहस्य।

'गर्भाधानं प्रथमतः'। (व्यासस्मृति १। १६)

यह संस्कार पितृ-ऋणके संशोधनार्थ और धार्मिक संततिके उत्पादनार्थ किया जाता है। इस संस्कारसे बीज एवं गर्भसे सम्बद्ध मलिनता नष्ट हो जाती है तथा क्षेत्रका संस्कार हो जाता है। इसमें कामभाव न करके धर्म-भाव किया जाता है। यह बालकका संस्कार नहीं; पर बालक बननेका संस्कार है। इसमें सावधानता न करनेसे बालकका भविष्य नष्ट हो जाता है। काममूलक-मैथुनसे सन्तान

कामवाली उत्पन्न होती है; उसमें आगे चलकर व्यभिचारकी भी आशङ्का रहती है। संस्काररूपसे वैध गर्भाधान होनेपर उसमें—'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः' ॥ (मनु० ४।१२८) ('स्नातक द्विजको चाहिए कि पत्नीका ऋतुकाल आने पर भी अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियोंको सदा ब्रह्मचर्यका ही पालन करे)।' इन अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी आदिको ब्रह्मचारी रहने आदि नियमोंका पालन अनिवार्य होनेसे धर्मानुकूलता आ जाती है।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' (गीता ७।११) (भरतश्रेष्ठ! मैं सम्पूर्ण भूतोंमें धर्मानुकूल काम हूँ)। 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (गीता १०।२८) ('मैं शास्त्रोक्तरीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतुभूत कामदेव हूँ।') इस प्रकार धर्मसे अविरुद्ध होने पर वही काम भगवद्रूप हो जाता है। यही समय भावी सन्तानके जीवनके मूल रखनेका होता है। इस समय माता-पिताकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति जैसी शुद्ध-पवित्र होगी; बालकका मन और शरीर भी उससे वैसा ही प्रभावित होगा।

यदि माता-पिता केवल कामवासना रक्खेंगे तो उनकी सन्तान भी वैसी ही कामी होगी। अतः गर्भाधानके समय शरीरकी नीरोगताके साथ माता-पिताका मन भी स्वस्थ और धर्मान्वित हो—यह आवश्यक है। तब माता-पिताके विचार गर्भ-समयमें जैसे होंगे—उनका पुत्र भी वैसा ही होगा। जैसे कि सुश्रुतसंहिता शारीर-

स्थानमें कहा है—'आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः' ॥ (२।४६।५०) ('स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा आदिसे युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभावका होता है।')

गर्भावस्थामें माता-पिताके खान-पानका, स्थिति-परिस्थितिका, एक-एक शब्दका, जो उनके कानमें पड़ता है, एक-एक दृश्यका जो उनकी आँखोंके सामने उपस्थित होता है, एक-एक संकल्पका जो उनके मनमें उठता है, गर्भस्थ बालक पर प्रभाव पड़ता है; अतः आदिम तीन गर्भके संस्कारोंमें माता-पिताको बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। महाभारतके अनुसार अभिमन्युने चक्रव्यूहमें प्रवेश तथा उसका भेदन मातृगर्भमें ही सीखा था, जब कि अर्जुनने अपनी गर्भवती पत्नी सुभद्राको सुनाया था। जब अर्जुन चक्रव्यूहसे निर्गमनका प्रकार सुभद्राको सुना रहे थे, उस समय उसे नींद आ गई थी, सुभद्रा नहीं सुन सकी; इसीसे गर्भस्थ अभिमन्यु भी उसे नहीं सीख सका; अतः वह उससे निकलनेमें सफल न होकर मारा गया। इसीसे समन्त्रक गर्भ-संस्कारकी आवश्यकता सिद्ध होती है।

प्रह्लाद दैत्य–माता-पिताका पुत्र होने पर भी गर्भावस्थामें नारदजीका उपदेश पानेसे महान् भगवद्भक्त बन गया—यह घटना पुराणोंमें सुप्रसिद्ध है। महाराष्ट्र-राष्ट्रपति शिवाजीके इतने प्रतापी होनेका कारण भी यही बताया जाता है कि उनकी माता जीजाबाई सदा उसी प्रकारके विचारोंसे युक्त रहती थी। नेपोलियन बोनापार्ट की अतुल शूरवीरता और अदम्य साहस एवं उत्साहका कारण भी

यही था कि उसकी गर्भवती माता रणक्षेत्रमें रहा करती थी और शूरवीरोंकी गाथाएँ प्रतिदिन सुना करती थी।

मातामें भी पहलेसे जैसे संस्कार पड़े होते हैं, उसका गर्भदोहद भी उसी प्रकारका होता है। गर्भका दोहद पूर्ण करने पर बालकमें भी पूर्णता होती है। सुश्रुत-शारीरस्थानमें दोहदोंके भिन्न-भिन्न फल लिखे हैं। जैसे कि—

'राजसंदर्शने यस्या दोहदं जायते स्त्रियाः। अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥ (३।२२।२५) ('जिस गर्भवती स्त्रीको राजाके दर्शनकी इच्छा होती है, वह परम सौभाग्यशाली और धनवान् पुत्र उत्पन्न करती है।') देवताप्रतिमायां च [दोहदे] प्रसूते पार्षदोत्तमम्। दर्शने व्यालजन्तूनां हिंसाशीलः प्रजायते'॥ (३।१४।२७-२८) इत्यादि। ('देवमूर्तियोंके दर्शनकी इच्छा होने पर वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त बालक को जन्म देती है। सर्पों तथा हिंसक जन्तुओंके दर्शनकी इच्छा होने पर उसके गर्भसे हिंसक-स्वभावका बालक पैदा होता है।')

इस प्रकार समक्षस्थित दृश्यके प्रभावका यह उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक अमेरिकन रमणीके शयनागारमें एक हब्शीका चित्र सामने दीवाल पर टँगा हुआ था। सदा-सर्वदा उस पर दृष्टि पड़ते रहनेसे उसका लड़का भी काला हब्शी-जैसा उत्पन्न हुआ, जिससे उस अमेरिकनको अपनी पत्नीके चरित्रमें भी सन्देह उपस्थित होगया था। पीछे पता लगने पर सन्देह दूर हुआ। किन्हींकी सन्तान बन्दरों-जैसी, किन्हीं भारतीयोंकी सन्तान चीन आदि भिन्न देशीयों-जैसी होजाती है; अतः गर्भावस्था बहुत सावधानताका

समय है। इस समय गर्भिणी स्त्रीका सिनेमाओंमें जाना तो अत्यन्त ही हानिप्रद है; क्योंकि अच्छे-से-अच्छे चलचित्रमें भी कामवासना-वासित शृङ्गार रक्खा जाता है, जिससे गर्भस्थ बालक पर भी उसका दुष्प्रभाव पड़ना अनिवार्य होजाता है। फलतः इन आदिम तीन संस्कारोंमें माता-पिताको सदा कुलपरम्परासे चले आते आचार-विचार एवं व्यवहारका पालन अवश्य करना चाहिये। यह संस्कार मनुस्मृति, आश्वलायनगृ०, पारस्करगृ० आदि में आया है। वेदमें भी स्पष्ट आया है।

पर्वमें गर्भाधान-निषेधका रहस्य।

'पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्' (मनु० ३।४५) पर्वोंको छोड़कर अन्य तिथियोंमें ऋतुस्नाता पत्नीके पास जाय। 'अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः' (मनु० ४।१२८) इसमें कहा हुआ अमावास्या, पूर्णिमा, अष्टमी आदिमें स्त्रीगमनका निषेध केवल शास्त्रोक्त नहीं, अपितु वैज्ञानिक भी है। समुद्रमें सबसे अधिक ज्वार-भाटा पूर्णिमामें, सबसे कम अमावस्यामें हुआ करता है। मध्यम ज्वार-भाटा वह होता है, जहाँ जलका उतार-चढ़ाव मध्यम हो—यह दोनों अष्टमियोंका समय है। यह सूर्य-चन्द्रके आकर्षण-विकर्षणसे नियमानुसार होता है। जैसे—सूर्य-चन्द्र दोनोंका प्रभाव समुद्र वा नद-नदी, तालाबों तथा फलों पर पड़ता है, वैसे ही प्राणियोंके रक्त पर भी पड़ता है; क्योंकि—रक्त भी जलका ही भाग है। चन्द्रमाका प्रभाव पुरुषकी अपेक्षा स्त्री पर अधिक पड़ता है। उक्त तिथियोंमें स्त्री-पुरुषोंकी वीर्य आदि

धातुएँ विषम होती हैं; अतः यदि इन पर्वोंकी रात्रियोंमें स्त्री-सम्पर्क किया जाता है तो वैषम्यापन्न शुक्रशोणित विकृत होकर स्वास्थ्यको विकृत कर देते हैं; और इन अवसरोंपर यदि गर्भस्थिति होजाती है तो भावी सन्तान रक्तविकार-दोषवाली, फोड़े-फुन्सी आदि व्रणोंवाली, प्राणशक्तिमें दुर्बल तथा हृदयदोष (जिससे हार्ट-फेल होजाता है) आदि बीमारियोंको भोगनेवाली होती है। इसके अतिरिक्त पूर्णिमा देवतिथि है, अमावास्या पितृतिथि और अष्टमी दोनोंकी सम्बद्ध तिथि है। अतः अपने बड़ोंके इन विशिष्ट दिनोंमें स्त्री-संयोग करना अपनी धृष्टता या निर्लज्जताको भी सिद्ध करने वाला होता है। यही कारण है कि पहले समयके लोग इस अवसर पर यज्ञ-व्रत-उपवास आदिका अनुष्ठान करते थे; इसी कारण इन दिनोंमें वेदोंका अनध्याय भी हुआ करता था।

दिनमें गर्भाधानका निषेध।

यह संस्कार स्त्रीके ऋतुस्नानके समय तथा गर्भाधानकी योग्यता होने पर करना चाहिए। यह ऋतु-प्राकट्यके पाँचवें दिनसे सोलहवें दिनके अन्दर तक, क्योंकि इतने ही दिनों तक स्त्रीमें ऋतु रहता है—अर्धरात्रिके समय करना चाहिये। दिनमें गर्भाधान करना शरीर और मनकेलिए हानिकारक है। प्रश्नोपनिषद्में कहा है—'अहोरात्रो वै प्रजापतिः। तस्य अहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। (१।१३) ('दिन और रातका जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि

ही रयि है। अतः जो दिनमें स्त्री-सहवास करते हैं, ये लोग सचमुच अपने प्राणोंको ही क्षीण करते हैं तथा जो रात्रिमें स्त्री-सहवास करते हैं, उनका वह सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है।')

यहाँ पर दिनको रति करना प्राणोंका क्षीण करना बताया है, रात्रिकी रतिको ब्रह्मचर्यावलम्बन कहा है। दिनमें सूर्यमूलक ऊष्मा होनेसे किया गया गर्भाधान प्राणोंकी—बलकी हानि करनेवाला होता है। इसका फल सन्तानको भी भोगना पड़ता है; अतः माता-पिता बननेवालोंको इधर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये।

पुत्र या कन्याकी उत्पत्तिका रहस्य।

रजस्वलात्वकी विषम रात्रियोंमें ऋतुका वेग बहुत रहता है और सम रात्रियोंमें कम। ऋतुका पहला दिन विषम होता है, इसमें ऋतुका वेग बहुत हो—यह स्वाभाविक ही है। दूसरा दिन सम होता है—इसमें रजका वेग अधिक होने पर भी अपेक्षाकृत कम होता है। फिर तीसरे विषम दिन रजका पुनः प्राबल्य होजाता है। इन तीन रात्रियोंमें तो गर्भाधानका सर्वथा निषेध है। फिर चतुर्थ—समरात्रिमें रजका वेग कम होता है। इस प्रकार विषम रात्रियोंमें रजका वेग अधिक और सम रात्रियोंमें कम होता है। सम रात्रिमें स्त्रीगमन करनेसे रजका वेग कम होनेके कारण शुक्र प्रबल बन जाता है; अतः ऋतुकी सम रात्रिमें गर्भ स्थापित होनेसे—'पुंमान् पुंसोऽधिके शुक्रे' (मनु० ३।४९) युग्मासु पुत्रा जायन्ते ......। तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्'॥ (३।४८) ('स्त्री-सहवासके समय यदि पुरुषका वीर्य रजकी अपेक्षा अधिक हुआ

तो उस समय स्थापित किये हुए गर्भसे पुत्रका जन्म होता है। छठी, आठवीं आदि युग्म या सम रात्रियोंमें ऋतुस्नाता पत्नीके साथ समागम करनेसे पुत्र पैदा होते हैं। इसलिए पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष ऋतुकाल आने पर युग्म रात्रियोंमें स्त्री-सहवास करे।') इस प्रकार पुत्र होता है। विषम रात्रियोंमें पूर्वक्रमवश रजका वेग अधिक होनेसे शुक्रकी कमी हो जानेके कारण लड़की उत्पन्न होती है। 'स्त्री भवत्यधिके (रजसि) स्त्रियाः' (मनु० ३।४९) (समागमकाल में पुरुषके वीर्यकी अपेक्षा यदि स्त्रीके रजकी अधिकता हो, तो कन्याका जन्म होता है।)

ऋतुकी रात्रियोंमें पहली चार तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ मनुके (३।४७) अनुसार निन्दित होती हैं, शेष ६, ८, १०, १२, १४, १६ रात्रियोंमें पुत्रार्थी तथा ५, ७, ९, १५ रात्रियोंमें कन्यार्थी स्त्री-गमन करे। उनमें भी पर्वकी रात्रियों—पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी तिथियोंमें भी गर्भाधान न करे (मनु० ४।१२८, ३।४५)। ऐसा करने पर गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचारी माना जाता है, जैसे कि मनुजीने कहा है—'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ (३।५०) ('छः निन्दनीय रात्रियोंमें और आठ अनिन्दनीय रात्रियोंमें भी जो स्त्री-सहवासका त्याग करता है और शेष दो ही रात्रियोंमें स्त्री-समागम करता है, वह किसी भी आश्रममें रहकर ब्रह्मचारी ही समझा जाता है।') दिन-रातमें कई वारकी विषयासक्तिसे पुरुष जहाँ अपनी स्त्रीको राजयक्ष्मा आदि बीमारियों तथा व्यभिचार-प्रवृत्तिमें

फँसाता है; वहाँ अपनेको भी। ऐसा करना अपने भावी आनन्दका समय न्यून करना है। अतः दम्पति उक्त शास्त्रीय वचनोंपर ध्यान दें।

(२) पुंसवन-संस्कारका रहस्य।

'तृतीये मासि पुंसवः' (व्यासस्मृति १।१६)।

गर्भाधानसे तीसरे महीनेमें पुंसवन-संस्कार होना चाहिये। इस संस्कारसे पुरुषका शरीर बनता है। 'पुमान् सूयते येन कर्मणा, तदिदं पुंसवनम्' जिस कर्मसे पुरुषका प्रसव (पुत्रका जन्म) हो, उस गर्भ-संस्कार-कर्मका नाम 'पुंसवन' है।

गर्भसंस्कारकर्म—'आश्वलायनगृह्यसूत्र'के (१।१३।१) सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार श्रीहरदत्ताचार्यने कहा है—'येन स गर्भः पुमान् भवति तत् पुंसवनम्।' जिससे वह गर्भ पुरुष होता है, वह पुंसवन कर्म है।

चार मासतक गर्भमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता है, अतः स्त्री-पुरुषके चिह्नकी उत्पत्तिसे पूर्व ही यह संस्कार किया जाता है। अथवा कई वैज्ञानिकोंके मतानुसार उस समय तक पुत्र-पुत्री दोनोंके चिह्न बनते हैं, फिर स्त्रीत्व अथवा पुंस्त्व, जिसको शक्ति प्राप्त होती है, उस चिह्नकी वृद्धि तथा दूसरे चिह्नका ऊपर-नीचेकी मांसोत्पत्तिसे आच्छादन तथा स्थगन हो जाता है। पुंस्त्वको शक्ति प्राप्त करानेकेलिए ही पुंसवन-संस्कारमें पहले समयमें ओषधि-विशेषको स्त्रीकी नासिकाके मार्गसे भीतर पहुँचाया जाता था। जैसा कि सुश्रुतसंहितामें लिखा है—'लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु

लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवीविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिघृत्य त्रीन् चतुरो वा बिन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।' (शारीरस्थान २।३४) ('जिसने गर्भ धारण कर लिया हो, उसकेलिए इन्हीं दिनोंमें लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवी और विश्वदेवा इनमेंसे किसी एक ओषधिको दूधके साथ खूब महीन पीसकर उसकी तीन या चार बूँदें उस स्त्रीकी दाहिनी नाकके छिद्रमें डाल दे। यदि उसे पुत्रकी इच्छा हो तभी ऐसा करे। स्त्रीको चाहिये कि वह उस औषधको थूके नहीं।')

इसी प्रकार चरकसंहिता (शारीरस्थान ८।३५-३६)में दाहिने नथुने द्वारा पीनेसे पुत्र-प्राप्ति और बायें द्वारा कन्या-प्राप्ति कही है। इससे योनि-दोष दूर होकर पुरुष-संतान उत्पन्न हुआ करती थी। आजकल डाक्टर लोग भी इन्हीं दिनोंमें स्त्रीको कोई ऐसी ओषधि खिलाते हैं और शर्त बाँधते हैं कि अवश्य बालक ही होगा।

बालकका महत्त्व सभी जानते-मानते हैं। वह हमारे वंश-कुलकी, हमारी सम्पत्ति तथा वेदादिकी सम्पत्तिकी वृद्धि करता है, हमारे पितरोंकी सद्गति तथा हमारे पितृ-ऋणका शोधन करता है, हमारा उत्तराधिकारी बनता है। इसीलिए वेदमें भी उस पुत्रके लिए ही प्रार्थना आई है; क्योंकि वेद अपना अधिकार पुरुषको ही देना चाहता है। इसलिए इस संस्कारका नाम भी पुंसवन रक्खा गया है। वेदमें कहा है—'पुमांसं पुत्रमाधेहि' (अथर्व० ६।१७।१०) 'पुमांसं पुत्रं जनय' (अ० सं० ३।२३।३) यहाँ पुत्रका 'पुमान्' यह विशेषण पुरुष-संतानको बता रहा है। अथर्ववेद—

गोपथ-ब्राह्मणमें कहा है—'पुमांसः श्मश्रुवन्तः, अश्मश्रुवः स्त्रियः' (१।३।७) 'जिनके दाढ़ी-मूँछ हों वे पुरुष हैं। जिन्हें दाढ़ी-मूँछ नहीं हैं वे स्त्रियाँ हैं।' यहां भविष्यमें होनेवाली दाढ़ी-मूँछको ध्यानमें रखकर पुरुष संतानका यह लक्षण दिया गया है।

'तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व' (अ० ३।२३।४) (उनके द्वारा तुम पुत्र प्राप्त करो।') 'आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्' (अ० ३।२३।२) ('तुम्हारी योनिमें पुरुष-गर्भका आगमन हो।) पुमान्का बलशाली अर्थ भी हो सकता है—वह भी अबला—संततिकी इष्टाभावताको ही द्योतित करता है।

'विन्दस्व पुत्रं नारि' 'दश अस्यां पुत्रान् आधेहि' (ऋ० सं० १०।८५।४५) 'कृपणं दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्रः' (ऐत० ब्रा० ७।१३) 'पुत्रं ब्राह्मणा इच्छध्वम्' 'स वै लोको वदावदः' (ऐ० ७।३।५) 'ऋणमस्मिन् सन्नमयति अमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्। (ऐ० ३।१) 'तौ एहि सम्भवाव, सह रेतो दधावहै, पुंसे पुत्राय वेत्तवै, (तै० ब्रा० ३।७।१।६) 'पुमान् गर्भस्तवोदरे' (गोभिलगृ० २।६।३) ('नारी! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो' 'इस स्त्रीके गर्भमें क्रमशः दस पुत्रोंका आधान करो' 'दुहिता कृपण है, 'पुत्र ही ज्योति है' 'ब्राह्मणो! पुत्रकी इच्छा करो' 'वही वदावद लोक है,' 'यदि पिता उत्पन्न हुए जीवित पुत्रका मुख देख ले, तो वह अपना पैतृक ऋण उतारकर उसीपर रख देता है और स्वयं अमृतत्वको प्राप्त होता है, 'अतः आओ हम दोनों समागम करें, पुरुष-पुत्रकी प्राप्तिकेलिए एक साथ रज-वीर्यका आधान करें' 'तुम्हारे उदरमें पुरुष-गर्भ है।)

वेद तो यहाँतक कहता है—'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' (अथर्व० ८।६।२५) अर्थात् हो रहा हुआ पुरुष स्त्री न बन जाय, जिसकी पुंसवनकी असफलतामें सम्भावना हो सकती है। 'आग्निवेश्यगृह्यसूत्र' (१।५।५) में भी कहा है—'पुमान् स्त्री जायतां गर्भो अन्तः' (स्त्री-गर्भ अन्दरसे पुरुष बन जाय।) 'पुमांसं गर्भमाधत्स्व, पुमांस्ते पुत्रो नारि ते पुमान् अनुजायताम्।' 'पुमान् अयं जनिष्यते' (गोभि० २।७।१५) 'पुरुष-गर्भको धारण करो। नारी! तुम्हारा पुत्र पुमान् (मर्द) हो। तुमसे बार-बार पुरुषका जन्म हो।' 'यह पुरुष जन्म लेगा।'

इसी पुत्रके उत्पादनार्थ अजीता ओषधिको नाकके द्वारा देते थे, जैसे कि आश्वलायनगृ० (१।१३।५) में कहा है। जिसका मूल वेदमें भी मिलता है—'तास्त्वा पुत्रविद्याय (पुत्रलाभाय) दैवीः प्रावन्तु (सहाया भवन्तु) ओषधयः' (अथर्व० ३।२३।६) 'पुत्रकी प्राप्तिकेलिए दिव्य ओषधियाँ तेरी सहायता करें।')

स्वामी दयानन्दजीकी 'संस्कारविधि' में भी कहा है—'पुंसवन-संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्यका लाभ होवे' (पृ० ४७) जब ओषधिविशेषसे गर्भाशयस्थित वीर्यको लाभ अर्थात् सहायता पहुँचेगी, तब वीर्यके प्राबल्यसे रजकी शक्ति कम होकर कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र ही उत्पन्न होगा। इसलिए उक्त 'संस्कारविधि'में—'पुमान् गर्भस्तवोदरे' 'पुमांसं पुत्रं विन्दस्व, ते पुमान् अनुजायताम्' (मं० ब्रा० १।४।८-६) ये मन्त्र पुंसवनमें आये हैं।

वैदेशिक भी पुत्रका गौरव मानते हैं। भारतीयोंका तो क्या कहना ? भारतीय विद्वान् उसे 'पुत्' नामक नरकसे बचानेवाला मानते हैं; क्योंकि वह मरणमें पिता-माताको पिण्डदान करके उनकी सद्गति कराता है। जैसे कि निरुक्तमें कहा है—'पुत्रः—पुरु त्रायते, निपरणाद् वा, पुन्नरकं ततस्त्रायते—इति वा' (२।११।१) यही बात अथर्ववेदके 'गोपथब्राह्मण'में भी कही गई है—'पुन्नाम नरकम् अनेकशततारम्, तस्मात् त्राति पुत्रः, तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्' (१।१।२) यही बात 'मनुस्मृति' (६।१३८)में भी कही गई है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीतुलसीराम-स्वामीजीने भी इस पद्यको प्रक्षिप्त नहीं माना। यही-का-यही पद्य 'बोधायनीय गृह्यपरिभाषासूत्र' (१।२।५), 'महाभारत' आदिपर्व (२३१।१४) तथा 'वाल्मीकिरामायण' (२।१०७।१२), 'वैखानसगृह्यसूत्र' (६।२) आदिमें भी कहा गया है। इससे इस संस्कारकी महत्ता सिद्ध होती है। इससे गर्भको शक्ति भी प्राप्त होती है।

यह संस्कार 'मनुस्मृति'में स्पष्ट तो नहीं है, पर उसको इष्ट है। आश्वलायनगृ० तथा पारस्करगृ० में आया है। वेदमें तो स्पष्ट ही है। इस संस्कारसे कन्याका अभाव इष्ट नहीं। 'दशपुत्रसमा कन्या' ('कन्या दस पुत्रोंके समान है') यह भी भारतीय नाद ही है। उसके दान देनेसे जो पुण्य होता है वह और कहाँ मिलेगा। पुत्र हमारे स्वार्थकी सिद्धि करता है, कन्या परार्थकी। पर प्रथम संतान अवश्य ही पुरुष हो—यह इस संस्कारका लक्ष्य है।

(३) सीमन्तोन्नयनसंस्कारका रहस्य।

'सीमन्तश्चाष्टमे मासि' (व्याससमृति (१।१७)

'सीमन्तोन्नयन-संस्कार आठवें मासमें होता है'। इस संस्कारमें सीमन्तका उन्नयन करके यह बताया जाता है कि अब स्त्री शृङ्गार न करे, पति-सहवास न करे; नहीं तो गर्भपतनकी आशङ्का रहती है तथा सन्तानके विचार गन्दे होते हैं। सीमन्त शब्दके आनेसे स्त्रियोंका केश रखना गर्भहिताधायक सिद्ध होता है। इससे संतानके मस्तिष्कपर प्रभाव पड़ता है। इसीसे कोई भी सधवा स्त्री केशोंको नहीं मुँडवाती। विधवाएँ इसीलिए केशोंको मुँडवाती हैं कि अब हमें सन्तान उत्पन्न नहीं करनी है। जैसे कि—संन्यासी पुरुष केशोंको मुँडवा देते हैं; स्त्रियोंका वैधव्य ही उनका संन्यास है। केशोंमें वल हुआ करता है। स्त्रीकी अपेक्षा अधिक स्थानोंमें केशवाला होनेसे ही पुरुष 'पुमान्' कहा जाता है। दाढ़ी-मूछोंवाला होनेसे ही पुरुष स्त्रीकी अपेक्षा वलवान् होता है। मूँछें पुंस्त्वका चिह्न होती हैं।

यह संस्कार छठे-आठवें मासमें करना पड़ता है। इससे देव-पूजाद्वारा गर्भकी रक्षा होती है। कइयोंका विचार है कि इससे सन्तानकी मानसिक शक्ति वढ़ती है; इसलिए इसे मनके देवता चन्द्रमाकी आरम्भिकस्थिति (शुक्लपक्ष)में किया जाता है। सिरमें विभक्त हुई पाँच सन्धियाँ सीमन्त होती हैं। 'पञ्च संधयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ताः; तत्र आघातेन उन्मादभयचेष्टानाशैर्मरणम् (सुश्रुत० शारीर० ६।८१) सीमन्तस्य उन्नयनम् उद्भावनम् इति सीमन्तोन्नयनम्।

इन सन्धियोंकी उन्नति वा प्रकाश होनेसे मस्तिष्क-शक्ति उन्नत होती है। इस समय गर्भ शिक्षण-योग्य होता है। इन्हीं दिनों गर्भस्थ प्रह्लादको नारदका उपदेश और अभिमन्युको चक्रव्यूह-प्रवेशका उपदेश मिला था—इसलिए दोनों इस विषयमें अप्रतिभट बने। अतः माता-पिता इन दिनोंमें अपनी मानसिक स्थितिको अच्छी रखें। शास्त्रविरुद्ध व्यवहार न रक्खें। जबसे गर्भमें स्पन्दन एवं अनुभूति प्रवृत्त हो जाते हैं, तबसे बच्चेके मनपर संस्कार प्रारम्भ होने लग जाते हैं और वे उसके समस्त जीवनके भावी निर्माण तथा विकासमें प्रभाव डालते हैं। यदि उस समय माता-पिता कुसंस्कारों तथा शास्त्रविरुद्ध व्यवहारोंको धारण करेंगे तो भीतरी बच्चेपर भी वैसा कुप्रभाव पड़ेगा। अच्छे संस्कारोंसे बच्चेके आगेके संस्कार भी उत्तम बनते हैं। 'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

यह संस्कार 'मनुस्मृति' में तो स्पष्ट नहीं; परन्तु पारस्कर, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें आया है।

(४) जातकर्मसंस्कार-रहस्य।

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥
(रघुवंश ३।१८)

(जैसे खानसे निकली हुई मणि शानपर चढ़ाकर संस्कृत कर देनेके बाद अधिक चमकने लगती है, उसी प्रकार जब तपोवनसे आकर तपस्वी पुरोहित वशिष्ठजीने सम्पूर्ण जातकर्मसंस्कार सम्पन्न

कर दिया, तब दिलीपकुमार रघु अपने स्वाभाविक तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा।) यहाँपर रघुके जातकर्मसंस्कारसे श्रीकालिदास ने रघुकी प्रकाशमानता बताई है।

'जाते जातक्रिया भवेत्' (व्यासस्मृति १।१७)

'बालकके जन्म लेनेपर जातकर्म-संस्कार होता है।' इस संस्कारसे लड़केको गर्भमें माताके रस पीनेका दोष हटता है। यह संस्कार पुत्रके जन्म-समयमें किया जाता है। इसमें सोनेकी शलाकासे बालककी जिह्वापर असम मधु तथा घृत घिसाकर चटाया जाता है। यह बच्चेकी आयु और मेधा बढ़ानेवाली रासायनिक ओषधि बन जाती है। सुवर्ण वातदोषको शान्त करता है, मूत्रको स्वच्छ करता है, रक्तकी ऊर्ध्वगतिके दोषको दूर करता है। वह विषनाशक, स्मृति तथा पवित्रताकारक होता है। छोटे शिशुकी जिह्वापर उस सुवर्णको घिसाकर किये स्पर्शसे ही उस सुवर्णका गुण परमाणु-रूपसे वा विद्युद्रूपसे उसके अन्दर पहुँच जाता है, जैसा कि थर्मामीटरको जीभपर रखनेसे भीतरी ऊष्मा व्यतिरेकसे उसमें प्राप्त हो जाती है। यहाँ जिह्वाके स्पर्शसे उसका प्रभाव अन्दर पड़ता है; घृत और मधुके परमाणुओंसे मिलकर अपूर्व प्रभावको उत्पन्न करता है।

मधु लालाका संचार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है। कफ-दोषको दूर करता है। यह रूपसुधारक, बलकारक, रक्त-संशोधक, त्रिदोषका शान्तिकर्ता होता है—(सुश्रुत० सूत्रस्थान ४५ अ०)। घृत वायु तथा पित्तको शान्त करता है; स्मृति, मेधा, कान्ति,

स्वर, लावण्य, ओज, तेज एवम् आयुको बढ़ाता है—'आयुर्वै घृतम्' (कृष्णयजुर्वेद तै० सं० २।३।२।२) विषैले परमाणुओंका नाशक भी होता है (सुश्रुत० सूत्र० ४५।१ घृतवर्ग)। प्रसवकी यन्त्रणासे सद्योजात शिशुकी रक्तगति ऊपरको हो जाती है, कफदोष बढ़ जाता है। उसकी आँतड़ियोंमें काले रंगका मल इकट्ठा हो जाता है, उसके न निकलनेमें बच्चेको अनेक प्रकारकी पीड़ाएं हो जाती हैं। जातकर्ममें की जाती हुई उक्त क्रिया और अभिमन्त्रणका प्रभाव इस समय जादूका काम करता है, शिशुका उपकार करता है, उसे जीवन-प्रदान करता है। जीवनकी बाधाओंको दूर करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कारोंकी क्रियाएं स्वयं ही लाभ पहुँचानेवाली होती हैं; पर जब साथ ही अभिमन्त्रण-क्रिया होती है तो उसका विशेष महत्त्व हो जाता है; उससे अभ्युदय होता है। महाभाष्यमें इस विषयमें प्रकाश डाला गया है—'अग्नौ कपालानि अधिश्रित्य अभिमन्त्रयते-'भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्' इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति, वेद-मन्त्रप्रयुक्तसंस्कारेण च धर्मनियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदय-कारि भवति।' (पस्पशाह्निक) 'आगपर कपालोंको रखकर अभि-मन्त्रित करते हैं। (मन्त्र पढ़ते हैं) कि—तुम सब भृगु और अङ्गिरा गोत्रवाले महर्षियोंके धर्मकी तपस्यासे तप जाओ। यद्यपि बिना मन्त्रके भी दाहक-अग्नि कपालोंको तपा दे सकती है तथापि वेद-मन्त्रप्रयुक्त संस्कारद्वारा उसमें धर्मका नियमन किया जाता है। इस प्रकार किया हुआ कर्म अभ्युदयकारक होता है।

(५) नामकरण-रहस्य

'एकादशेऽह्नि नाम' (व्यासस्मृति १।१७)

'ग्यारहवें दिन नामकरण संकार करे। इस संस्कारसे आयु एवं तेजकी वृद्धि एवं व्यवहारकी सिद्धि होती है। नामके विना भला संसारी व्यवहार कैसे चले ? पहलेकी दस रात्रियाँ अशौचके कारण छोड़ दी जाती हैं—

'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते।' (मनु० ५।५८) 'यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम्। (५।६१) (सूतकमें सभी भाई-बन्धु अशुद्ध होते हैं। जिस प्रकार सपिण्डोंपर यह मरणाशौच लागू होता है उसी प्रकार पूर्णरूपसे शुद्धि चाहनेवाले पुरुषोंकेलिए बालकके जन्म होनेपर भी सपिण्डोंको अशौच प्राप्त होता है।) इसीके साथ एक अन्य पद्य भी मिलता है—'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते। दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते'॥ ('जननाशौच और मरणाशौच दोनोंमें ही दस दिनों तक अशौचग्रस्त कुलका अन्न नहीं खाया जाता तथा दान, प्रतिग्रह, यज्ञ और स्वाध्याय भी बन्द रहते हैं।')

इस कारण ब्राह्मणका ग्यारहवें दिन नामकरण-संस्कार किया जाता है।

पारस्करसूत्र (१।१७।१)के हरिहरभाष्यमें लिखा है—'अथ दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणम्। ततश्च यस्य [वर्णस्य] यावन्ति दिनानि सूतकम्, तदन्तदिने सूतकोत्थापनमित्यर्थः। अपरदिने

च नामकरणम् ।'

('यहाँ 'दशम्याम्' यह पद अशौचके अन्तका सूचक है। अतः जिस वर्णकेलिए जितने दिन सूतक बताये गये हैं, उतने दिन पूरे होने पर सूतककी निवृत्ति होती है और दूसरे दिन बालकका नामकरण-संस्कार किया जाता है।')

मनुस्मृति (२।३०)के पद्यके भाष्यमें मेधातिथि भी व्याख्या करते हैं—'इह केचिद् दशमीग्रहणमशौचनिवृत्तिरिति उपलक्षणार्थं वर्णयन्ति, अतीतायामिति वा अध्याहारः। दशम्यामतीतायां ब्राह्मणस्य, द्वादश्यां क्षत्रियस्य, पञ्चदश्यां वैश्यस्येति। यदि तु ब्राह्मणभोजनं विहितं क्वचित्, तदा लक्षणा, अन्यथा जातकर्मवद् अशौचेऽपि करिष्यते।' (यहां कुछ लोग 'दशमी-पदका प्रयोग अशौचकी निवृत्ति सूचित करनेकेलिए है' यह कहकर उसे उपलक्षणार्थक बताते हैं। अथवा 'दशम्याम्' पदके आगे 'अतीतायाम्' पदका अध्याहार कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि दसवीं रात्रि व्यतीत होनेपर ब्राह्मण-बालकका, बारहवीं बीतनेपर क्षत्रिय बालकका और पन्द्रहवीं बीतने पर वैश्य-बालकका नामकरण-संस्कार करना चाहिये। यदि कहीं उस दिन ब्राह्मण-भोजनका विधान हो, तो इस प्रकार लक्षणाका आश्रय लेकर अर्थ करना चाहिये। अन्यथा जातकर्मसंस्कारकी भांति नामकरण भी अशौचमें भी किया जा सकेगा।)

यही श्रीकुल्लूकभट्टने भी कहा है—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।' इतिशङ्खवचनाद् दशमेऽहनि अतीते एकाद-

शाहे इति। 'अशौच बीतने पर नामकरण-संस्कार किया जाता है'—इस शङ्खस्मृतिके वचनके अनुसार दसवाँ दिन बीतने पर ग्यारहवें दिन उसकी विधि सूचित होती है। यही बात राघवानन्दने भी लिखी है—'दशम्यामिति पूर्वाशौचनिवृत्तिपरम्। 'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खोक्तेः'।

सुश्रुत-संहिता (शारीरस्थान १०।२४)में भी कहा है—'ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्याताम्, यद् अभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा।' (तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता माङ्गलिक आचार करके स्वस्तिवाचन कराकर अपनी रुचिके अनुसार बालकका नाम नियत करें अथवा नक्षत्रके अनुसार उसका नाम रक्खें।)

नामकरणका प्रभाव आगे बालक पर भी पड़ता है, इससे उसके व्यक्तित्वका प्रादुर्भाव होता है। उसका उस पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है; अतः उसका व्याकरण-सिद्ध शुद्ध एवं सुन्दर नाम रखना चाहिए। यही बात महाभाष्य प्रत्याहाराह्निक 'ऋलृक्' सूत्रके 'न्याय्यभावात् कल्पनं संज्ञादिषु'—इस वार्तिकमें सूचित की गई है। यदि शब्दोंके अर्थ न होते; तब तो कोई भी बात नहीं थी; जैसा-तैसा नाम रक्खा जा सकता था; पर शब्दोंके अर्थ होते हैं; नहीं तो, 'दुष्ट' कहनेपर हमें क्यों क्रोध चढ़ आता है; 'महोदय' कहनेपर हमें क्यों प्रसन्नता प्राप्त होती है? अतः स्पष्ट है कि नामका मनुष्यपर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है। ज्यौतिष-शास्त्रानुसार जो नाम आवे, उसे रखकर फिर प्रसिद्ध नाम

बालकका संस्कृत तथा सुन्दर रखना चाहिए, जिससे पुरुष नामके लजानेके डरसे दुष्कर्म न कर सके।

ज्यौतिषशास्त्रानुकूल नाम रखनेकी समूलकता

ज्यौतिषशास्त्रानुसार जो नाम रक्खा जाता है, उसे नक्षत्राश्रय कहते हैं। यह निर्मूल भी नहीं है, शास्त्रोंमें उसका वर्णन आता है। जैसे कि उपवेद-आयुर्वेद 'सुश्रुत-संहिता' शारीरस्थानमें—'ततो दशमेऽहनि मातापितरौ तु स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातामु, यद् अभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा।' (१०।२०) मानवगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'यशस्यं नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं च।' (१।१८।२) ('नाम ऐसा रखना चाहिए जो यशोवर्धक या यशका सूचक हो अथवा देवता या नक्षत्रके आश्रित हो।')

'चरकसंहिता'के जातिसूत्रके शारीरस्थानमें भी कहा है—'कुमारं प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति—इत्युक्त्वा कुमारस्य पिता नक्षत्रदेवतायुक्तं नाम कारयेत्। द्वे नामनी कारयेत् नाक्षत्रिकं नाम, आभिप्रायिकं च।' (८।४६) ('बालकको पूर्व या उत्तरकी ओर सिर करके सुलाकर देवताओं और ब्राह्मणोंको प्रणाम करे। फिर कुमारका पिता नक्षत्र-देवतायुक्त नाम रक्खे। दो नाम निश्चित करे—एक नक्षत्र-सम्बन्धी नाम हो और दूसरा अपनी अभिरुचिके अनुसार हो।')

इस प्रकार 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र'में भी कहा है—'नक्षत्रनाम च निर्दिशति तद् रहस्यं भवति।' (६।१५।२-३) 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र'में भी ऐसी ही बात कही गई है—'नामास्मै दधाति नक्षत्र-नामधेयेन'

(१।११।४)। गोभिल-गृह्यसूत्रमें भी यही बात है—'अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वा' (२।१०।२३) 'द्राह्यायणगृह्यसूत्र'में भी ऐसा ही कहा गया है—'देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वा अभिवादनीयं नाम ब्रूयात्।' (३।४।१२) 'वैखानस-गृह्यसूत्र'में भी यही कहा गया है-'द्वे नामनी तु, नक्षत्रनाम रहस्यम्।' (३।१६) 'काठकगृह्यसूत्र'में—'पुत्रे जाते नाम निधीयते' (३४।१) यहाँ उत्पन्नमात्रका नामकरण कहा है।

'वीरमित्रोदय' नामकरण-संस्कार २३६ पृष्ठमें कहा है—'ज्योतिर्विदस्तु जन्मनक्षत्रचरणलक्षितस्वरोदयाभिहितशतपदचक्रान्त-र्गताक्षरादिकमेव कार्यम्—इत्याहुः। तथा चात्र गृह्यपरिशिष्टे 'तदक्ष-रादिकं नाम यस्मिन् धिष्ण्ये तदक्षरमिति।' शतपदचक्रसारोद्धारो 'ज्यौतिषार्केऽभिहितः चू चे चो ला पदेष्वाद्ये—इत्यादिना'। (ज्यौतिषशास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि जन्म-नक्षत्रके चरणसे लक्षित एवं स्वरोदयसे प्रतिपादित जो शतपद-चक्रके अन्तर्गत अक्षर हो, उसीको आदिमें रखकर नाम नियत करना चाहिए। यही बात गृह्यपरिशिष्टमें कही गई है। जिस नक्षत्रमें जो अक्षर हो, उसीको आदिमें रखकर नाम निश्चित करना चाहिए। ज्यौतिषार्कमें शतपदचक्रसारोद्धारका इस प्रकार वर्णन आया है—आदिनक्षत्र अश्विनीके चारों चरणोंमें क्रमशः चू चे चो ला ये अक्षर हैं—इत्यादि।)

इससे स्पष्ट सिद्ध होगया कि बच्चेके जन्म होते ही नाक्षत्रिक नाम रक्खा जाता है। नक्षत्राश्रय नाममें दो प्रकार हैं—या तो

नक्षत्रके नामसे, अथवा उस नक्षत्रके देवताके नामसे नाम रक्खा जाय, अथवा नक्षत्रके पादोंके चार अक्षरोंमें ज्यौतिषगणितके अनुसार जन्म-समयके अनुकूल जो अक्षर आवे, उसे आदिमें रखकर नाम रक्खा जाय। नक्षत्रके नामसे ही पता चल जाता है कि यह पुरुष अमुक वर्षके अमुक मास, अमुक तिथि, अमुक वार तथा अमुक समयमें उत्पन्न हुआ है। जन्म-लग्नकुण्डली उसमें सहायक होती है। केवल ऐच्छिक नाम रखने पर यह सप्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह पुरुष अमुक दिन उत्पन्न हुआ। नामकरणके साथ नक्षत्रोंका सम्बन्ध होनेसे ही आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने गोभिलगृह्यसूत्रानुसार अपनी संस्कारविधिमें नामकरणसंस्कारमें नक्षत्र तथा उसके देवता, तिथि तथा उसके देवताके नामसे आहुति दिलवायी है। (पृष्ठ ६४)

नक्षत्र-नामसे ही वैद्यको भी लाभ पहुँचता है। वैद्य जब रोगी का जन्म-नक्षत्र जान जाता है, तब उसके सामने रोगीकी प्रकृति मूर्तिमती होकर उपस्थित हो जाती है। वह जानता है कि अमुक नक्षत्रमें उत्पन्न होनेसे सामान्यतया इस शिशुकी प्रकृति यह है। वह तदनुकूल ही चिकित्सा करता है।

उत्पत्तिवाले दिन—नामकरण

'शाङ्खायनगृह्यसूत्र'में जातकर्ममें कहा है—'नाम अस्य दधाति घोषवदादि अन्तरन्तःस्थं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा, अपि वा षडक्षरं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्।' (१।२४।२६७)

(पिता इस बालकका नाम रक्खे। उस नामका आदि अक्षर

घोष *प्रयत्नवाला हो। बीचमें अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्ण हों। नाम दो अक्षरका, चार अक्षरका, अथवा छः अक्षरका कृदन्त ही रक्खे, तद्धित नहीं)। यह कहकर वहां जातकर्ममें रक्खे हुए नामके लिए कहा गया है—'तद् (नाम) अस्य पिता माता च विद्याताम्।' (१।२४।२६८) (इसके उस नामको केवल पिता-माता ही जानें।)

'दशम्यां व्यावहारिकं ब्राह्मणजुष्टम्।' (१।२४।२६९) (दसवें दिन ऐसा व्यावहारिक नाम रक्खे, जिसे ब्राह्मणोंने अपनाया हो।) यह कहकर जन्म-नामको गुप्त रखना तथा दसवें दिनके नामको प्रसिद्ध करना कहा है। जैसे कि—'दशरात्रे चोत्थानम्, मातापितरौ शिरःस्नातौ, अहतवाससौ कुमारश्च।' (१।२६।२७८-२७९)

'नामधेयं प्रकाशं कृत्वा।' (२८४) (दस रातके बाद उत्थान होता है। माता-पिता सिरसे स्नान करके नूतन वस्त्र धारण करें। फिर कुमारको भी नहलाकर नूतन वस्त्र धारण कराया जाय।' तत्पश्चात् लोक-प्रसिद्ध नाम निश्चित करके)।

इस प्रकार 'वीरमित्रोदय' जातकर्म-संस्कार (१९५ पृष्ठ) में कहा है—(पारस्कर) 'जातस्य कुमारस्य अच्छिन्नायां नाड्यान् [illegible] गुह्यं नाम करोति।' 'गुह्यम्—मातापितृवेद्यम्।' (उत्पन्न हुए कुमारका नाल-छेदनके पहले ही गुप्त नाम रक्खे। गुप्तका तात्पर्य यह है कि वह नाम माता-पिताके सिवा और किसीको मालूम न हो। वहीं नामकरण (पृष्ठ २३१) में कहा है—'जन्माहे द्वादशाहे वा दशाहे वा

---

* 'ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य, र ल व ह' यह घोष अक्षर हैं।

विशेषतः। कुर्याद् वै नामकरणं कुमारस्येति वै श्रुतेः।' (जन्मके दिन' बारहवें दिन अथवा विशेषतः दसवें दिन कुमारका नामकरण करे। यह श्रुतिका विधान है।) इस 'ज्योतिर्वसिष्ठ' के वचनसे जन्मवाले दिन भी नामकरण कहा है। वहीं महेश्वरका—'कार्यं सूनोर्जननसमये जातकर्मार्थनाम।' यह वचन भी दिया है। वहीं आश्वलायन-सूत्र वृत्तिकारकी—'जातकर्मानन्तरमेव नामकरणं कार्यम्।' (जातकर्मके बाद ही नामकरण करना चाहिये।) इस अभिप्रायकी 'नाम चास्मै दद्युः' इस सूत्रकी व्याख्या बताई है कि—'नामकरणमाचार्येणानुक्तं जातकर्मानन्तरं कार्यमिति।'

(नामकरण आचार्यके द्वारा करनेका विधान न होनेसे जातकर्मके बाद उसे कर डालना चाहिये।) बृहदारण्यकोपनिषद्में भी भी कहा है—'जाते अग्निमुपसमाधाय' ... 'अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति, तद् अस्य गुह्यमेव नाम भवति।' (६।४।२४-२६) (पुत्रका जन्म होनेपर अग्निकी स्थापना करके' 'फिर उसका नाम नियत करे। तुम वेद हो। उसका यह नाम अत्यन्त ही गोपनीय होता है।)

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि—जन्मवाले दिन भी शिशुका नाम किया जाय, पर वह गुप्त रहे, वह नक्षत्राश्रय नाम हो। दूसरा ऐच्छिक नाम हो, पर हो शास्त्र-नियमानुकूल। (मनु० ३।९ पद्य) में कन्याका नाक्षत्रिक नाम निषिद्ध करनेसे ऐसे नामकी प्राचीनता सिद्ध होती है। नक्षत्रके चार पादोंके तत्समयागत नाम रखनेसे मनुप्रोक्त दोष नाममें न रह सकेगा। पूर्व प्रमाणोंमें यद्यपि

पिता द्वारा नामकरण कहा है तथापि पिताके ज्योतिषी वा वैयाकरण न होनेपर पितृप्रतिनिधि पुरोहित वा कोई विद्वान् ब्राह्मण भी कर सकता है। संस्कार भी तो वही कराता है।

नामगोपन-रहस्य

पहला नाम जातकर्मके समय किया जाता है—यह पूर्व कहा जा चुका है। उसे केवल माता-पिता जानें, अन्य न जानें। 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात्।' (कल्याण चाहनेवाला पुरुष अपने नाम, गुरुके नाम तथा अत्यन्त कृपण मनुष्यके नामका उच्चारण न करे।) इस स्मृति-वचनमें जो कि अपने नामके छिपानेका वर्णन आया है—वह उसके पूर्वके नामको समझना चाहिये। जैसे कि 'खादिरगृह्यसूत्र' में लिखा है—

'असौ इति नाम दध्यात, तद् गुह्यम।' (२।२।३२) इस पर श्रीरुद्रस्कन्द-टीकाकारने लिखा है—'वैदिककर्मार्थकं तत्। व्यावहारिकं तु अन्यदेव, गुह्यत्वोक्तेः। नामाऽपरिज्ञाने अभिचाराद्यसिद्धिः फलम्।'

(यह नाम वैदिककर्मकेलिए होता है। लोकव्यवहारकेलिए तो दूसरा ही नाम रखना चाहिये; क्योंकि उसे गुह्य कहा गया है। उस नामको जब दूसरे लोग नहीं जानेंगे तो उसके प्रति मारण-मोहन आदिका प्रयोग सफल नहीं होगा। यही उस नामको गोपनीय रखनेका फल है।)

इस प्रकार 'काठकगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'पुत्रे जाते नाम निधीयते।' (३४।१) (पुत्रका जन्म होनेपर उसका नाम रक्खा जाता

है।) यहां पर जातकर्ममें नाम रखना कहा है। देवपालने इस पर लिखा है—'पुत्रे जाते जातकर्म कृत्वा नाभिवर्धनादनन्तरं नाम धीयते।' नामकरणं हि 'एकादश्यां नाम कुर्वीत पुण्ये वाऽहनि' इति अशौचशुद्धौ स्मृतम्। अन्ये त्वाहुः—जाते सति एकादशीं तदनन्तरं वा सुलग्नं नामकर्मणि नातिक्रामेद् इत्येवंपरमेतद् इति।

(पुत्रका जन्म होनेपर जातकर्म करके नाभिवर्द्धनके पश्चात् नाम रक्खा जाता है। ग्यारहवें दिन अथवा किसी पवित्र दिन नामकरण करे। इसके अनुसार अशौचकी निवृत्ति होनेपर नामकरणकी विधि है, परन्तु दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि बालक उत्पन्न होनेपर नामकरणकेलिए ग्यारहवां दिन अथवा उसके बादका कोई उत्तम लग्न बीतने नहीं देना चाहिये। यही उपर्युक्त वाक्यका तात्पर्य है।'

'तदेव नाम धीयते।' (३६।३) इसका तात्पर्य बताते हुए देवपालने लिखा है—'अत्रानुवाके असौ इत्यस्य स्थाने तदेव नाम धीयते, यत्तु जातकर्मणि कृतं नान्यत्।'

(इस अनुवाकमें असौ (अमुक) के स्थानमें वही नाम रक्खा जाता है, जो जातकर्मके समय निश्चित किया गया है दूसरा नहीं।)

'अन्यदित्येके' (३६।४) इस सूत्रपर देवपालने लिखा है—'एके पुनराहुः—अन्यद् निधीयते। द्वे नाम्नी ब्राह्मणस्य कर्तव्ये। तत्र यद् रहस्यं जातकर्मण्युक्तं—'पुत्रे जाते नाम धीयते' इति। प्रयोजनम्-परैरभिचारे क्रियमाणे अनुच्चाराद् अप्रकटम्, प्रकटं तु एकादशादौ व्यावहारिकम्। तथा च श्रुतिः—'तस्माद् ब्राह्मणो

द्विनामा' इति (काठक २६।१)

(कुछ लोगोंका कहना है कि दूसरा नाम रक्खा जाता है। ब्राह्मण के दो नाम रखने चाहियें। इनमें 'पुत्रे जाते नाम धीयते'के अनुसार जातकर्मके समय जो नाम रक्खा गया है, वह गोपनीय है। उसे गोपनीय रखनेका प्रयोजन यह है कि शत्रुओंद्वारा मारण-मोहन आदिका प्रयोग किये जानेपर वह नाम अप्रकट होने से कोई हानि न होगी; क्योंकि उसका कोई उच्चारण नहीं करता। प्रकट नाम तो वही है जो ग्यारहवें-आदि दिनोंमें व्यवहारकेलिए रखा गया है। इसीलिए श्रुति कहती है, ब्राह्मण दो नामवाला होता है।)

इससे सूचित किया गया है कि जातकर्मके समयमें जो ज्योतिष आदिके अनुसार नाम आता है, उसे प्रसिद्ध नहीं करना चाहिये, इसलिए कि उस नामपर अभिचार-क्रिया कोई न कर सके, जिस का जन्म-नामसे ही विशेष सम्बन्ध हो सकता है। यह आचार (जन्मनामको प्रसिद्ध न करना) इतिहासमें मिलता भी है। पाणिनि, कात्यायन, वार्ष्यायणि, यास्क, औदुम्बरायण, गार्ग्य, शाकटायन आदि व्यावहारिक नाम हैं—यह पिताके नामसे रक्खे गये हैं; यह अपने नाम नहीं हैं; नहीं तो जब कि—'कृतं कुर्यान्न तद्धितम्' 'अवृद्धम्' इस प्रकार आदि-वृद्धिरहित तथा कृदन्तीय नाम रखना कहा है, तद्धितीयका निषेध किया है; तब ये तद्धितीय एवं आदि-वृद्धिसहित नाम क्यों रक्खे गये? स्पष्ट है कि—'आत्मनाम न गृह्णीयात्' इस स्मृति-वचनका ही अनुसरण किया गया है। इसीके अनुकरणमें अंग्रेजोंके तथा तदनुसारी हिन्दुस्थानियोंके नाम भी

एम. के. गान्धी, के. एल. मुंशी इत्यादि गुप्त नाम रखे जाते हैं। इसी नामकरणके दिन नामके साथ 'शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास' आदि पितृवर्णिक चिह्न रखकर उसकी जातिका निर्धार जन्मसे कर दिया जाता है। नामकरण कर देनेसे उस नामके साथ आत्मीयता, ममता तथा आकर्षण आदि उत्पन्न हो जाते हैं। शत्रुवाला नाम अपने लड़केका नहीं करना चाहिये।

(६) निष्क्रमणसंस्कार-रहस्य

'अर्कस्येक्षा मासि चतुर्थके'—(व्यास० १।१७) (चौथे मासमें सूर्यका दर्शन करावे।)

यह संस्कार बालक-जन्मके चतुर्थ मासमें किया जाता है। इसमें शिशुको सूर्य-दर्शन कराया जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि—तीन मासतक बच्चेको घरके अन्दर रखना चाहिये; उसे तबतक सूर्यप्रकाशदर्शन न कराना चाहिये। इसमें कारण यह है कि—पहले तीन मासतक बच्चेकी आंखें कोमलतावश कच्ची होती हैं। यदि शिशुको शीघ्र ही सूर्यप्रकाशमें लाया जायगा तो उसकी आंखों पर उसका दुष्प्रभाव पड़ेगा; भविष्यमें उसकी आँखोंकी शक्ति या तो मन्द रहेगी या उसका शीघ्र ही ह्रास होगा। इस कारण हमारे यहाँकी नारियाँ छोटे बच्चेको शीशा भी नहीं देखने देतीं। इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि शीशेकी चमक भी कच्ची आँखों को चौंधिया देती है जिससे उनकी हानिकी सम्भावना रहती है। तीन मासतक शिशुका शक्ति-सञ्चय हो जानेपर क्रम-क्रमसे घरके दीपककी ज्योति देखनेमें अभ्यस्त होकर तब उसकी आंखें बाह्य

प्रकाशमें गमनके योग्य होती हैं, तब वैधसंस्कार हो जानेपर सूर्यकी जीवनीशक्तिका तथा घरसे बाहरी शुद्ध वायुका भी बच्चेके अन्दर सञ्चार होता है, जिससे उसकी आयु और लक्ष्मीकी वृद्धि होती है। धीरे-धीरे बाहरी शीतोष्णके सहनयोग्य भी बनता है। घरमें रहनेकी कोमलता धीरे-धीरे हटकर हृष्ट-पुष्टताकी दिशामें प्रवृत्त होती है, सृष्टिके अवलोकनका शिक्षण भी प्राप्त होता है।

बिना संस्कारके इस लाभप्राप्तिके सम्भव होनेपर भी वेदमन्त्र-पाठादि-क्रियासे वैध-संस्कार होनेपर—'यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते' (यदि इन कर्मोंमें लोक ही प्रमाण है तो शास्त्रसे क्या किया जाता है?) इस प्रश्नमें—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति; तत्र [वेदमन्त्रप्रयोगसंस्कारे] धर्मनियमः क्रियते। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति।' (लोकसे प्रयोजनवश कार्यका आरम्भ होनेपर शास्त्रके द्वारा धर्मका नियम किया जाता है। यद्यपि बिना मन्त्रके भी दाहक अग्नि कपालोंको संतप्त कर ही देगी तथापि वहाँ वेदमन्त्र-प्रयोग-पूर्वक संस्कार करनेपर धर्मका नियम किया जाता है। इस प्रकार किया जानेवाला कर्म अभ्युदयकारक होता है।) पस्पशाह्निकके महाभाष्यके इस उत्तरके अनुसार शिशुका अभ्युदय प्रवृत्त होता है। इस प्रकार रात्रिमें शिशुको चन्द्रदर्शन कराया जाता है, जिससे वह चन्द्रमासे भी प्रकाश तथा आह्लाद प्राप्त करे। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें इसका वर्णन नहीं है।

बच्चोंके गलेमें रक्षापरिधान।

आजकल दान्त निकलनेके समय कष्ट न हो-इसलिए बिजली के बने यन्त्र पहराये जाते हैं; जहांपर व्यर्थ-व्यय अधिक होता है। यह कोई भिन्न वस्तु नहीं है; किन्तु प्राचीन रक्षा आदिका रूपान्तर ही है। यहांकी स्त्रियाँ कौड़ियाँ, शेर-रीछ आदिके नाखूनों को सोना-चांदी आदिमें मढ़वाकर बच्चोंको पहिनाती हैं। 'वचें' नामक ओषधि और पीली सरसों बच्चेके गलेमें पहराये जाते थे। गोरी सरसों आदिसे दान्त शीघ्र निकल आते थे 'वच'के धारण करनेसे बालक बुद्धिमान् होता था। परन्तु आश्चर्य है कि-नवीन सभ्यताको आश्रित करके हमने घरके विज्ञानको भुला दिया !

(७) अन्नप्राशनसंस्कारका महत्त्व

'षष्ठे मास्यन्नमश्नीयात्' (व्यासस्मृति १।१८) छठे महीनेमें बालकको अन्न खिलाना चाहिये।

यह संस्कार छठे मासमें किया जाता है। इससे माताके गर्भमें मलिनता-भक्षणका दोष नष्ट हो जाता है। अबतक शिशु माताके दुग्धरूप भोजनमें ही अपना भाग लेता था। माता जो कुछ खाती थी, उससे अपने शरीरको भी पालती थी, शिशुके शरीरका भी पोषण करती थी; पर उसे सदा परतन्त्र रखना उचित नहीं होता। धीरे-धीरे उसे अपने पैरोंपर भी तो उठाना है, स्वावलम्बी भी तो बनाना है, उसे शारीरिक स्वतन्त्रताका भी तो ग्रहण करना है। माताके स्तन्यका अपेक्षी होनेपर माताके अस्वस्थ रहनेपर वह भी अस्वस्थ बना रहता है। एतदर्थ प्रकृति उसके दाँत उत्पन्न करती

है। इससे वह प्रेरणा करती है कि अब इसकेलिए शनैःशनैः स्वतन्त्रतासे अन्नका अभ्यास अपेक्षित है। इस प्रकार उस शिशुकी क्रम-क्रमसे शारीरिक-स्वतन्त्रतार्थ 'अन्नप्राशन' संस्कार किया जाता है कि—यह केवल परावलम्बी न बना रहे। धीरे-धीरे स्वावलम्बी बन जाय। यही माताका भोजन लेनेवाला शिशु समयपर ऐसा स्वतन्त्र हो जाय कि स्वयं भी अपना भोजन जुटावे और समर्थ होकर फिर माता-पिताको भी स्वार्जित भोजन खिलावे—यह उदात्त भावना भी इस संस्कारमें निहित होती है। इस संस्कारसे धीरे-धीरे अन्नमें अभ्यस्त होकर शिशु क्रमशः स्तन्य (माताके दूध) को छोड़ देता है, जिससे माताकी निर्बलता तथा पीनेसे होनेवाली माता की पीड़ा हट जाती है। शास्त्रीय अन्न खानेसे अन्नसंकरता हट जाती है। इसमें बालकके भविष्य स्वभावकी परीक्षा भी हो जाती है। उसके आगे पुस्तक, शस्त्र, वस्त्र, खिलौना आदि रक्खे जाते हैं। वह जिस वस्तुको पहले उठावे, उसमें उसकी भविष्यकी वृत्ति अनुमित हो जाती है। अन्नप्राशनसे शिशुके मुखसे स्तन्यपानजन्य गन्ध भी क्रमशः दूर हो जाता है, आगे अन्न खानेका उसका अभ्यास बढ़ता है। तेजकी वृद्धिकेलिए उसे दधि-मधुसे मिला भोजन कराया जाता है।

सूचना—पृष्ठ २११ पं० १७ में 'बालकोंका भी अग्निसंस्कार' इसके आगे 'नहीं किया जाता। इस वचन में अन्त्येष्टिको भी अग्नि-संस्कार' यह छूटी हुई पंक्ति पढ़ें।

(८) चूडाकरण-रहस्य

'चूडाकर्म कुलोचितम्' (व्यास० १।१८)

यह संस्कार पहले वा तीसरे वर्ष अथवा कुलधर्मानुसार करना पड़ता है। माताके गर्भसे आये हुए बाल अशुद्ध होते हैं, इधर वे झड़ते रहते हैं, उनसे शिशुके तेजकी वृद्धि नहीं हो पाती। उन केशोंको मुँडवाकर शिशुकी शिखा रक्खी जाती है, जिससे वह कर्मके योग्य हो सके। शिखासे आयु एवं तेजकी वृद्धि होती है। इन्द्रशक्ति प्राप्त होती है। कम-से-कम एक वर्ष देरी इस कारण की जाती है कि उसके सिरकी कोमल त्वचा कुछ कठोर हो जाय, छुरके प्रयोगको सह सके।

दाँत निकलनेके समय बालकको अनेक प्रकारके सिरके रोग होते हैं। छठे माससे बच्चा दाँत निकालने लगता है, तीन वर्षमें जाकर दाँत प्रायः बन जाते हैं। तन्मूलक शिरोरोग वृद्धि न पावें, अतः उसका सावधानतासे मुण्डन करना पड़ता है। फिर सिरपर माखन-दही आदि लगानेसे वे शिरोरोग दूर हो जाते हैं। किसीका सिर पक गया हो, फोड़े-फुंसियाँ निकल आई हों तो सिरके बाल कटानेसे ही आराम आता है; क्योंकि—तब सुविधापूर्वक दवाईका लेप लग सकता है और लाभ पहुँचाता है। उस समय सिरमें उष्णता बढ़ जाती है। इधर बाल रहनेसे वह गरमी न निकल पानेसे ही वे शिरोरोग हो जाते हैं, साथ ही दस्त भी लग जाते हैं, जुएँ भी पड़ जाती हैं, आंखें भी आ जाती हैं। मुण्डन हो जानेसे, बाह्य वायुके लगनेसे तथा माखन लगा देनेसे, सिरके अन्दर ठंडक

पहुँच जानेसे उन रोगोंकी शङ्का नहीं रह जाती वा कम पड़ जाती है। सिर हल्का हो जाता है, बालकके चर्मसम्बन्धी तथा भीतरी सिरकी गरमीसे होनेवाले अन्य रोग हट जाते हैं।

इसके अतिरिक्त माताके गर्भसे आये हुए बाल बहुत कोमल होने से गिरते रहते हैं। मुण्डनके पश्चात् उगनेवाले बाल पुष्ट वादृढ होते हैं, पहलेकी तरह टूटते नहीं। खोपड़ी भी दृढ़ होजाती है। शिरोमुण्डन हो जानेसे खून भी सिरकी ओर ठीक गति करने लगता है, तथा सिरके सब स्थानोंमें बराबर पहुँचता है। 'सुश्रुतसंहिता' चिकित्सा-स्थान (२४।७१) में कहा है—'पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्। हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्'॥ (केश, नख और रोमका कटा देना पापकी शान्ति करनेवाला, हर्ष, हल्कापन और शोभाका देनेवाला तथा उत्साह बढ़ानेवाला है।)

'चरकसंहिता'के सूत्रस्थान (५।६) में भी केशकर्तन पौष्टिक तथा आयुष्यवर्धक एवं मलरूप-पाप-निवारक माना गया है। इससे बच्चोंके सिरमें ठंडक पहुँचकर रोगोत्पादक गरमी नष्ट होती है। इस कारण उसे चक्षूरोग भी नहीं होता। शिशुके प्रथम वर्षमें पहली दाढ़ें आती हैं, अन्तिम तीसरे वर्षमें अन्य दाढ़ें उगती हैं। इसी प्रथम वा तृतीय वर्षमें शिरोरोगोंकी, आँखें आनेकी विशेष आशङ्का रहती है। अतः वपन भी इन्हीं वर्षोंमें किया जाता है। साथ ही चूडा (शिखा) भी रक्खी जाती है। समन्त्रक चूडाकरणसे आयुर्वृद्धि, जठराग्निसंदीपन, बलवृद्धि तथा सौभाग्यबल होता है। यह हिन्दुत्वको बाह्यमें प्रकट करनेवाला विशेष संस्कार है,

क्योंकि इसीमें जातीय-चिह्न शिखा रक्खी जाती है। जैसे राजाका चिह्न ध्वजा होता है, वैसा यह भी हिन्दुत्वका ध्वज है। इस शिखाका महत्त्व पहले वर्णित किया जा चुका है।

(६) कर्णवेध-रहस्य

'कृतचूडस्य बालस्य कर्णवेधो विधीयते।' (व्यासस्मृति १।१८) जिसका चूडाकरण हो गया हो, उस बालकका कर्णवेध करना चाहिये।

शिखायुक्त पाँचवें वर्षके बालकका यह संस्कार किया जाता है। इसमें दोनों कानोंमें वेध करके उसकी नसको ठीक रखनेकेलिए उसमें सुवर्णका कुण्डल धारण किया जाता है। इससे शारीरिक रक्षा होती है। 'सुश्रुतसंहिता' सूत्रस्थानमें कहा है—

'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे, प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गल-स्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारमुपवेश्य...विध्येत्। पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः।' (१६।३)

(रक्षा और आभूषणकेलिए बालकके दोनों कान छेदे जाते हैं। छठे या सातवें महीनेमें शुक्लपक्षके अन्तर्गत उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त और नक्षत्रमें माङ्गलिक कृत्य एवं स्वस्तिवाचन करके कुमारको माताके अङ्कमें बिठाकर उसके दोनों कान छेदने चाहियें। यदि पुत्र हो तो पहले दाहिना कान छेदे और कन्याका पहले बायाँ कान छेदना चाहिये।)

सुवर्ण शिशुके शरीरसे स्पृष्ट रहे—इस कारण यह संस्कार

किया जाता है। सुवर्णस्पृष्ट शरीर कीटाणुओंके संक्रमण न होनेसे स्वस्थ तथा शतायु रहता है। जैसा कि वेदमें कहा है—'नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते' 'यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्।' (शौ० अथर्व सं० १।३५।२) 'जरामृत्युर्यो बिभर्ति।' (अथ०१६।२६।१) (जो दाहिने कानमें सुवर्ण धारण करता है, उसके तेजको राक्षस और पिशाच नहीं दबा सकते।)

यह संस्कार मनुस्मृति तथा गृह्यसूत्रोंमें नहीं आया; परन्तु 'सुश्रुतसंहिता' (सूत्रस्थान १६।३) तथा व्यासस्मृति (१।१८) में सूचित है। कात्यायनगृह्यसूत्रमें भी इसकी सत्ता सुनी जाती है। मनुजीको भी यह संस्कार—'यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले।' (४।३६) इस वचनमें कहे हुए सुवर्ण-कुण्डल-धारणसे इष्ट अवश्य प्रतीत होता है। कर्णवेध विशेष-रोगोंकी निवृत्तिके लिए भी है। सात प्रकारके अण्डवृद्धिके रोग हुआ करते हैं। उनमें सातवाँ भेद अन्त्रज अण्डवृद्धि (हर्निया) भी है। उसके उपशमनार्थ कर्णवेध-संस्कार भी उपाय है; क्योंकि कानकी नसका अण्डकोषकी नसके साथ सम्बन्ध हुआ करता है। 'सुश्रुतसंहिता' के चिकित्सितस्थानमें—'शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्। व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये'। (१६।२१) (गलेसे ऊपर, कानके निचले भागमें, सेवनी (सीवनके स्थान) को यत्नपूर्वक छोड़कर अथवा व्यत्यासपूर्वक (दाहिने ओरकी आँत बढ़ी हो तो बायें कान और बायें ओरकी बढ़ी हो तो दाहिने कानकी) नसको छेदे। इससे आँतकी वृद्धि दूर होती है।)

इस प्रकार कही हुई अन्त्रवृद्धिसे भावी रोगकी आशङ्काको हटानेकेलिए कर्णवेध हुआ करता है। इसलिए लघुशङ्का आदिके समय यज्ञोपवीत-सूत्रको कानपर लपेटा जाता है, वहाँ भी यही कारण है। उस समय मूत्रज अण्डवृद्धिकी आशङ्काके दूरीकरणार्थ वैसा किया जाता है।

इस समय कानोंकी त्वचा कोमल होनेसे तथा बच्चेके कुछ बलवाला होनेसे यह संस्कार करना ठीक भी है। आगे क्रम-क्रमसे लड़केकी कर्ण-त्वचा कड़ी होती जाती है; उस समय बालक कर्ण-वेधनमें बाधा उपस्थित करता है। इस कर्णवेध तथा उस स्थानमें सुवर्ण-धारण करनेसे बढ़नेकी आशङ्कावाला अण्डकोष वा नल प्रकृतिस्थ रहता है। अण्डकोषस्थित जल भी क्षीण हो जाता है। तन्मूलक पुरुषकी नपुंसकता तथा स्त्रीका वन्ध्यात्व भी दूर हो जाता है। कर्णेन्द्रियकी नसोंका सम्बन्ध वीर्यवाहिनी नसोंसे हुआ करता है; तब यह संस्कार अण्डवृद्धिसे अतिरिक्त पुंस्त्वनाशक रोगोंसे संरक्षण करनेवाला भी सिद्ध हुआ।

(१०) उपनयन-रहस्य

(क) विप्रो गर्भाष्टमे वर्षे क्षत्र एकादशे तथा।
द्वादशे वैश्यजातिस्तु व्रतोपनयमर्हति ॥ (व्यासस्मृति १।१६)

ब्राह्मण-बालक गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रिय-बालक ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य जातिका बालक बारहवें वर्षमें ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा एवं उपनयन-संस्कारका अधिकारी होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका यह संस्कार आठ, ग्यारह, बारह

वर्षोंमें किया जाता है। पहले जीव माता-पिताके गर्भमें शरीर-धारणार्थ आता है, फिर आचार्यके गर्भ (आचार्यकुल)में विद्या-शरीर-प्राप्त्यर्थ जाता है; अतः यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका एकजत्वसे द्विजत्व-सम्पादक है। यह संस्कार आचार्यकुलमें विद्याग्रहण करनेकेलिए अधिकार-पट्ट है। शूद्रको इसका अधिकार नहीं; क्योंकि उसकेलिए अन्य कठिन कार्य हैं—जिनसे वह संसारकी सेवा करता है। इधरके कठिन कार्योंमें भी प्रवृत्त होनेसे उसकी 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' की आशङ्का रहती है। देशकी भी महती हानि होती है।

उपनयनमें मौञ्जी भी धारण करनी पड़ती है। वह अण्डवृद्धि रोगकी आशङ्काको दूर करनेवाली भी होती है। उपनयन द्विजत्वका विशेष संस्कार है। इस संस्कारमें भिक्षा भी की जाती है; उसमें एक तो धनी-निर्धनकी समता, दूसरा देशका ऋण अपने ऊपर चढ़वाना लक्ष्य है, जिससे हम अपने आपको देशका ऋणी समझकर आगे देशका ऋण-संशोधन करनेके उपलक्ष्यमें देशकी सेवा कर सकें।

यह संस्कार भी लड़कियोंका नहीं होता। उनका पतिके पास वैध-नयनरूप विवाह ही द्विजत्व-सम्पादक उपनयन है। वैवाहिक वरदत्त उपवस्त्रको ही विवाहतक यज्ञोपवीतकी तरह लपेटना कन्याओंका उपनयनसूत्र-धारण होता है। वैवाहिक स्वयोग्य कई मन्त्रोंका वरके आश्रयसे (जैसे कि माणवक पहले आचार्यके आश्रयसे गायत्री-मन्त्रको बोलता है) बोलना ही उनका वेदारम्भ

(मनु० २।६५)। केशान्तमें शिखातिरिक्त केशोंका छेदन इष्ट है; शिखाका छेदन इष्ट नहीं। उसका श्रीमनुके मतमें उष्ण देश-कालसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं। 'केश' से 'शिखा' का ग्रहण भी नहीं होता; तभी—'केशा न शीर्षन् यशसे, श्रियै शिखा (यजु० १९।९२)।' इस मन्त्रमें केश और शिखाको पृथक्-पृथक् कहा है; और ब्राह्मणादिका १६–२२–२४ वर्षमें उष्णतासे कोई भी सम्बन्ध नहीं।

इस संस्कारको आश्वलायनगृह्यमें पृथक् नहीं माना गया। इसीको सूत्रग्रन्थोंमें 'गोदान' शब्दसे भी कहा है। 'रघुवंश' के ३।३३ पद्यकी व्याख्यामें श्रीमल्लिनाथने 'गोदान' का—'गावो-लोमानि, केशा दीयन्ते-खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या 'गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्म उच्यते।' यह अर्थ किया है। यह मध्यम शिरोमुण्डन है।

(१२) समावर्तन (स्नान) संस्कार

'समाप्य वेदान् वेदौ वा वेदं वा प्रसभं द्विजः।
स्नायीत गुर्वभ्यनुज्ञातः प्रवृत्तोदितदक्षिणः'॥

(व्यासस्मृति १।४२)

द्विज को चाहिये कि तीन, दो या एक वेदको पूर्णरूपसे समाप्त करके गुरु-दक्षिणा देकर उनसे आज्ञा ले व्रतान्त-स्नान (समावर्तन-संस्कार) करे।

इस संस्कारमें विद्या-समाप्ति होती है। २४ वें वर्षमें आचार्य-कुलमें विशेष स्नान भी करना होता है। ब्रह्मचर्यके चिह्न मेखला आदिका त्याग करना पड़ता है। जटा-लोम आदिका छेदन करके

गार्हस्थ्यके उपयुक्त चन्दन, पुष्पमाला, पगड़ी, भूषण, शीशा देखना सुरमा लगाना, छाता करना, जूता पहनना यह नियम आचार्यकी देख-रेखमें किये जाते हैं। फिर आचार्यको दक्षिणा देकर आचार्य-कुलको छोड़कर अपने घरमें आ जाना पड़ता है। ऐसा नियम ठीक भी था। विद्याकी प्राप्ति आचार्यकुलमें जैसी हो सकती है, वैसी अपने घरमें नहीं। घरमें कई विघ्न आते हैं। लड़का घरमें उतने नियम पालन भी नहीं कर सकता। पिता आदिका गुरु-इतना भय भी नहीं रहता। आचार्यकुलमें आचार्यके भयसे तथा अन्य साथियोंके देखनेसे नियमोंके अनुसरणमें प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विद्या एवं व्यायामके अतिरिक्त वहाँ पर कोई कार्य नहीं करना पड़ता। गुरु-शुश्रूषाके निमित्तसे वटु स्वकार्य-पटु भी हो जाता है। घरमें रहनेवाले लड़केकी भांति वह आलसी नहीं रहता। इसमें अन्तमें उपदेश दिया जाता है कि जो विद्या पढ़ी है, जो आचार-विचार सीखे हैं, जो ज्ञान लिया है, इनका 'अधीति-बोधाचरणप्रचारणैः' से जीवनमें उपयोग लो। उनके स्वयं उदाहरण बनो, दूसरोंमें उनका प्रचार करो। इस संस्कारमें ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति होती है।

(१३) विवाह तथा अग्न्याधानका रहस्य

'एवं स्नातकतां प्राप्तो द्वितीयाश्रमकाङ्क्षया। प्रतीक्षेत विवाहार्थ-मनिन्द्याऽन्वयसम्भवाम्' (व्यासस्मृति २।१)। 'अनन्यपूर्विकां लघ्वीं विख्यातदशपूरुषाम्' (३)।

इस प्रकार स्नातक होकर दूसरे आश्रम (गार्हस्थ्य) में प्रवेश

करनेकी इच्छासे विवाहकेलिए उच्चकुलकी कन्याको ग्रहण करे। वह कन्या किसी दूसरेको न तो दी गयी हो और न किसीकी पत्नी ही रह चुकी हो। अवस्थामें अपनेसे छोटी हो और उसकी ऊपरकी दस पीढ़ियोंमें सभी लोग अपने शुद्ध आचार-विचारकेलिए विख्यात रहे हों।

यह संस्कार विद्यासमाप्तिके बाद पितृऋणशोधनार्थ किया जाता है। इसमें विधिपूर्वक दारवहन—स्त्रीग्रहण किया जाता है। विवाह करके फिर विद्याग्रहण हो भी नहीं सकता। अतः विद्यार्थीको सदा विद्यास्नान समाप्त करके ही विवाह कराना चाहिये। इससे कामका केन्द्र उसकी पत्नी रहती है; अन्यत्र उसका दृक्पात वा गमन नहीं होता। काम एक स्वाभाविक वस्तु है, परमात्माकी सृष्टि बढ़ानेका एक साधन है। जो जितेन्द्रिय होकर रह सकते हैं, वे भले ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहें, पठन-पाठन-प्रचारण आदिके द्वारा लोकोपकारका कार्य करते रहें; पर अकेला पुरुष प्रसन्न नहीं रहता। 'तस्माद् एकाकी न रमते' (शत० १४।४।२।४)

संसारमें एक दूसरे साथीकी भी अवश्य आवश्यकता पड़ती है, जो कि हमारा शेष-पूरक हो। पुरुषका कार्य बाहर आने-जानेका रहता है; क्योंकि उसे वृत्ति भी तो करनी होती है और घरमें धर्म-कर्म भी करना होता है, अतः उसे गृहपत्नी भी तो चाहिये, जो उसका सर्वकर्मका निर्वाह कर सके, उसकी सेवा कर सके, जिससे वह अपने धर्म-कर्ममें निश्चिन्ततासे लगा रहे; और वृत्ति भी कर सके; और घरकी रक्षा भी हो सके, घरमें ताला बन्द न करना पड़े।

अतः विधिपूर्वक स्त्रीपरिग्रह भी आवश्यक ही है। विवाह विधि-पूर्वक स्त्रीको ग्रहण कर लेना—यह धर्मोद्देश्यसे होता है। ऐसे ही किसी स्त्रीको रख लेनेसे वह 'धर्मपत्नी' नहीं बन सकती; वह 'रखेली' कही जाती है; अतः विधिपूर्वक विवाह करनेसे ही 'धर्मपत्नीत्व' होता है और धर्मानुष्ठान भी पुरुषका पूर्ण होता है।

स्त्री स्वतन्त्र-वृत्ति न करती हुई भी जैसे पुरुषकी वृत्तिकी फल-भागिनी होती है, वैसे ही यज्ञादि-कर्म स्वतन्त्रतासे न करती हुई भी उस कार्यमें सहायता देने और साथ बैठनेसे उसके फलको प्राप्त कर लेती है। तभी तो कहा जाता है–'वसिष्ठस्य पत्नी–वसिष्ठकर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्री'। (वसिष्ठकी पत्नी अर्थात् वसिष्ठके किये हुए यज्ञके-फलको भोगनेवाली) इसीलिए वह विद्या प्राप्त नहीं करती; क्योंकि उसका काम सेवा करना है; सेवासे विद्यावाला मेवा उसे मिल ही जाया करता है। उसका पति ही विद्या पढ़ा होनेसे उसके विद्याकार्यका निर्वाहक हो जाता है। दाहिना हाथ लिखता है, बाँया नहीं। पर बाँया हाथ दाहिनेका सहायकमात्र होता है। न तो बलशाली होता है, न दाहिने हाथवाले सब विशिष्ट अनुष्ठानों तथा कर्मोंमें वह अधिकृत ही होता है। यदि स्त्री भी पुरुष-इतनी विद्या पढ़े, तो वह पुरुषकी सेवा ही न कर सके। साम्यवादमें सेवा नहीं हुआ करती। यदि उससे दोनों काम लिये जायँ, अपनी सेवा भी उससे पूरी करायें, विद्याकार्य भी उससे लें, तो यह उसपर अत्याचार होगा। देखिये, पुरुष ही विद्याकार्य करके फिर सेवा करने योग्य नहीं रहता, किन्तु अपनी सेवा कराने ही लगता है। उसे यज्ञकार्य

करना है, ग्रन्थ-प्रणयन करना है, उसे वृत्तिकेलिए जाना है, उसे सब वस्तुएँ प्रस्तुत चाहियें। पठिता स्त्री स्वाभाविकतावश अपने उसी विद्याकार्यमें संलग्न रहनेसे उस सेवामें सक्षम नहीं हो सकती।

'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व० १४।१।५२)। (यह मेरी पोष्या हो) इस वैवाहिक मन्त्रने उसे 'पोष्या' बताकर सिद्ध कर दिया है कि उसे स्वतन्त्र विद्याकार्य वा स्वतन्त्र वृत्तिकार्यकी कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, आचार-विचारकी शिक्षा उसकेलिए माता-पिता द्वारा आवश्यक है। पुरुष ही उसके योगक्षेमका निर्वाहक होता है। अस्तु।

विवाहसंस्कारका प्रयोजन—विवाह एक सांसारिक अव्यवस्था को दूर करनेवाला संस्कार है, इसीसे पुरुष सुसंस्कृत तथा सभ्य एवं धर्मात्मा बनता है। यदि विवाह-संस्कार न हो तो पुरुष पशुसे भी गया-बीता हो जाय। विवाहके अभावमें न तो पुरुषकी कोई पत्नी ही होती, न मां न बहन और न उसकी कोई लड़की-लड़का आदि सन्तान होती। विवाह-बन्धनके अभावमें पुरुष अपनी काम-वासनाको पूर्ण करनेकेलिए कुत्ते आदि पशुओंकी तरह स्त्रीमात्रके पीछे लगा रहता, बलात्कार करता, छीना-झपटी करता, लड़ता-झगड़ता, खून कर डालता, अपनी बुद्धिको दूसरेके विनाशमें लगाता और क्रोधके साम्राज्यको व्यापक बनाता। उससे उत्पन्न इन अवैध सन्तानोंकी कोई रक्षा न करता। उनको पशु-पक्षी खा जाते, जीवित रहते तो गली-गली ठोकरें खाते फिरते। न

उनका घर होता, न कोई उनका स्कूल-कॉलेज होता। विवाह-रहित राष्ट्र, धर्म, शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, कला, विज्ञानसे सर्वथा शून्य एक पशुराष्ट्र ही होता, परन्तु इसी विवाह-संस्कारने मनुष्यको व्यवस्थित किया, परिवार दिया, घर बसानेकी, शिक्षा पानेकी प्रेरणा दी। विवाहसे ही हमारा यह सुनहला संसार बस पाया।

मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है; ८४ लाख पशु-पक्षी आदियोंकी योनि भोगकर फिर मनुष्य-योनिमें आता है; वह पशुत्व-संस्कार भी इसमें बना रहता है। जब कभी उसे अवसर मिलता है, वह अपनी पशु-प्रकृतिको पूर्ण करनेमें नहीं चूकता। अपहरण, बलात्कार, धर्षण आदि उसी पशुभावके साक्षात् उदाहरण हैं। तब उसकी कामभावनाको एक स्त्री-पुरुषमें बांध देना और शास्त्रीय नियमों द्वारा उसे धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर ले जाना भी विवाह का प्रयोजन होता है।

इसके अतिरिक्त अपने शरीरमें उसकी जितनी मोह-ममता हो सकती है, उतनी अन्य किसी वस्तुमें नहीं। विवाहद्वारा उसका स्वार्थ या अपने शरीरका ममत्व अपने शरीरसे आगे निकलकर पत्नी, पुत्र, कन्या, सगे-सम्बन्धी आदि परिवारमें बंट जाता है। उस मनुष्यका स्वार्थपरक प्रेम पहले घरकी चहार-दीवारीसे प्रारम्भ होकर मोहल्ला, गली, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश और फिर क्रमशः समस्त विश्वमें व्याप्त हो जाता है। गृहस्थमें रहते हुए पति-पत्नीको एक दूसरेके हितकेलिए अपने स्वार्थका बलिदान, मनके प्रतिकूल व्यवहारमें सहिष्णुता और क्षमा, अत्यन्त

कष्टमें भी धैर्य आदि गुणोंका प्रयोग अनिवार्य होता है, उनका जीवन स्वतः ही सुनियन्त्रित हो जाता है। ये सब गुण क्रमशः विकसित होकर मनुष्यको सामाजिक-क्षेत्रमें विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। गृहस्थके इस महाविद्यालयमें त्याग-प्रेम आदिका पूर्ण अभ्यास कर जब पति-पत्नी उसी प्रेमभाव, त्यागभावका प्रयोग ईश्वरकी दिशाकी ओर प्रवृत्त कर देते हैं, तब वे ईश्वरके अत्यन्त निकट पहुंच जाते हैं। यही उनके शास्त्रानुसार जीवनका परम एवं चरम लक्ष्य हुआ करता है। इस प्रकार यह विवाह-संस्कार संसार को सुव्यवस्थित करनेका एक अचूक उपाय है।

कन्या का विवाह कब ?

शास्त्रकारोंने कन्याका विवाह ऋतुकालसे पूर्व कहा है। गुणवान् वरकी अप्राप्तिमें इससे देरी हो जाने पर भी दोष नहीं माना है; पर आजकलका युग २४ वर्षकी अवस्थामें कन्याका विवाह बताता है कि युवति कन्या ही अपने अनुकूल पतिको स्वयं जान सकेगी, पर ऐसा कथन अंग्रेजी राज्यका प्रसाद एवं सन्निपातका प्रलापमात्र है। दूसरेके स्वभाव और चरित्रका परीक्षण कोई सुगम कार्य नहीं। इसमें दूरदर्शी भी भटक जाते हैं। 'विष रस भरा कनक घट जैसे' कैसे तत्क्षण परीक्षित हो सकता है? २४ वर्षकी लड़कीकी तो बात ही नहीं कही जा सकती। उस अवस्थामें इन्द्रिय-वृत्ति प्रबल होती है; और अनुराग एकदम उन्मुख होता है। दूसरेकी प्रकृतिकी परीक्षामें जिस धैर्य, विवेक एवं अनुभवकी प्रयोजनीयता होती है, वे तब अकर्मण्य होते हैं। एक सुतीक्ष्ण

कटाक्ष, मृदु-मधुर मुस्कान तथा कुछ अङ्गलावण्यकी विचित्रता तब एकदम मनोदुर्ग पर अधिकार कर लेते हैं। स्वभाव-चरित्र आदिकी परीक्षाका अवसर भी तब नहीं मिलता। उस अवस्थामें कामभावके आधिक्य-वश सात्त्विक प्रेम-भावके चित्तसे हट जानेके कारण चित्तका मार्दव हट जाता है, और प्रकृति बहुत पुरुषोंके भावोंसे भावित होनेसे तब एकमें स्थिरता नहीं रह जाती। पितृ-गृहमें स्वतन्त्रता अधिक और लज्जाकी न्यूनता होनेसे अधिक आयुमें पति-वशित्व और लज्जाशीलता दुःशक होती है।

पुरुष होता है अङ्गी और स्त्री अङ्ग। अङ्गी मुख्य होता है, और अङ्ग गौण। अङ्गाङ्गिभावसे ही एकता होती है। दोनों ही अङ्ग रहें; या दोनों ही अङ्गी रहें; तो पार्थक्य ही रहेगा, ऐक्य नहीं। इस प्रकार दोनोंका साम्यवाद पार्थक्यकारक एवं विवाद-परिवर्धक होता है, अतः स्त्रीका अधिक आयुमें विवाह उसकी अङ्गता हटानेवाला होता है। जिस देशमें कन्याके अधिक वयमें विवाहका नियम होता है; वहां अङ्गाङ्गिभाव नहीं मिलता और वहीं विवाहोच्छेद-प्रथा भी होती है। यदि उस आयुमें स्वभावादिकी परीक्षा, तथा परस्पराभिलषितता-मूलक शान्ति सम्भव होती; तब इङ्गलैंड आदिमें ऐसा कैसे होता ? यहां भी 'शारदाविल' पास हो चुका है; अतः 'तलाकबिल' भी पास करना पड़ा है।

फलतः अन्धानुराग-प्रणोदित विवाहके बन्धनमें सत्य प्रेमकी उत्पत्तिकी सम्भावना अतिकठिन होती है। इस कारण साधारण-सी बातमें वह बन्धन स्वयं ही विच्छिन्न हो जाता है। अब उन्हीं

देशोंमें इसके परिणामसे तंग आकर लोग विवाह-प्रथाको ही बन्द करनेकेलिए तैयार हो गये हैं। यदि वहां अधिक-वयस्क, परस्परा-भिलषित विवाह सुखजनक सिद्ध होता; तब उस सुखके हटानेके लिए वहां वालोंका इतना यत्न वा आग्रह क्यों होता ? इस प्रकारके उपप्लव अधिक-वयस्क विवाहके ही फल हैं—इसमें न तो कोई अत्युक्ति है, न असत्य। यदि आजकलके शिक्षितम्मन्य यहां भी उस सरणिमें चलना चाहते हैं; तो उन्हें विवाहोच्छेद आदि कांटोंसे समाजके अङ्ग-भङ्गकेलिए भी सतत उद्यत रहना चाहिये।

इधर लड़कीकी पक्की आयुवाली हो जानेसे उसे अपने पीछे चलाना भी कठिन हो जाता है। पक्की शाखाको हम अपनी ओर मोड़ें, तो वह टूट जाती है, हमारी ओर नहीं मुड़ती। पर छोटी कोमल शाखाको अपनी ओर अनायास ही मोड़ लेते हैं। इस प्रकार पति छोटी आयुवाली अपनी पत्नीको अपने अनुकूल चला सकता है; २०-२४ वर्षवाली पत्नीको नहीं।

यदि दोनोंकी केवल स्वतन्त्रता वा परस्पराभिलषितता रखी जावे; तो कुरूप स्त्री-पुरुषोंकी क्या व्यवस्था बनेगी ? कुरूपा भी सुरूप को चाहेगी; कुरूप भी सुरूपाको चाहेगा। तब यदि माता-पिताके हाथमें यह काम न रखा जावे, तब क्या कुमार-कुमारियाँ आमरण ब्रह्मचर्य रखें ? क्योंकि कुरूपोंकी परस्पराभिलषितता कभी होगी ही नहीं। 'कन्या वरयते रूपम्' (शुक्रनीति ३।१६८) यदि वह किसी निर्धन वा अकुलीन सुरूप वरको वरण कर ले; तब रूपमात्रमें मस्त वह भविष्यत्-निर्वाहके विषयमें कैसे सोच

सकेगी ? इसलिए उसका भार पितापर ही ठीक है। कन्याके बाल्य वा यौवनमें अनुभव पिताके वार्धक्यके अनुभवसे न्यून ही होता है। इस कारण वहां पिताके परिपक्व अनुभवकी अतिशयित आवश्यकता होती है।

केवल स्वतन्त्रतामें लाये हुए कुमार युवक-युवति एकमात्र रूपके पिपासु होते हैं। शीतला आदि रोगके वश बादमें उनकी सुन्दरतामें थोड़ी भी हानि प्राप्त हो; तो उनका प्रेम विच्छिन्न हो जायगा। इस प्रकार तो बड़ी अव्यवस्था होगी। परस्पराभिलषितता भी ठीक तब होती है कि—पुरुष शीघ्रस्खलनादिदोषोंसे रहित हो, और स्त्री योनिरोगादिसे रहित हो। रूपमात्रसे यह नहीं जाना जा सकता। तब क्या उन्हें कौमार्यमें ही एकान्तसेवनका आदेश दिया जायगा ? वस्तुतः इस समय यदि धर्मबन्धन स्थापित न किया गया; विवाहमें केवल अभिलाषामात्र ही रख दी गई; तो कुछ समयके बाद उस अभिलाषाके दूर होनेपर क्योंकि—'नयेके नौ दिन' यह कथन प्रसिद्ध है; तो स्वयं ही विवाहविच्छेद हो जायगा। इससे वेश्याओंकी वृद्धि अनिवार्य होगी।

बद्ध समुद्र फिर भी मर्यादा नहीं तोड़ता; परन्तु बंधी हुई नदी तो बढ़कर अपनी मर्यादाको भी तोड़ देती है; और निकटवालेकी हानि भी कर देती है। इसी प्रकार यौवन तक अविवाहिता कुमारी भी बँधी हुई नदीकी भांति होती है। यदि नदीको बांधा न न जावे; उसका शनैः-शनैः उपयोग किया जावे; तब वह नदी स्वयं भी मर्यादामें रहती है; दूसरोंकी भी हानि नहीं करती। इस

प्रकार कुमारीका शास्त्रानुसार १२ वर्षमें विवाह कर दिया जावे; फिर ऋतुकाल प्राप्त होनेपर उसका ऋतुमात्रगमन हो; तब उच्च यौवनमें प्राप्त भी वह हानिकारक सिद्ध नहीं होती।

विवाह मुख्यतया धर्माचरणके उद्देश्यसे ही होता है, कामभोगार्थ मुख्यतया नहीं। तभी कहा जाता है; 'आवसथ्याधानं दारकाले' (पार० १।२।१) कामभोग तो अवान्तर उद्देश्य है। यदि कामभोग ही विवाहका साक्षात् उद्देश्य हो; तो सारी आयुकेलिए विवाह-बन्धन ही व्यर्थ है। उसके लिए तो काममात्रफला वेश्या ही ठीक रह सकती है। इससे स्पष्ट है कि विवाहका साक्षाद् उद्देश्य विशुद्ध दाम्पत्यके प्रेमद्वारा शास्त्रादिष्ट धर्मसाधन ही है। तभी पत्नीको 'धर्मपत्नी' कहा जाता है 'कामपत्नी' नहीं। फलतः ऋतुकालसे कुछ पूर्व ही शास्त्रानुसार कन्या-विवाह होनेपर और ऋतुकालमें ही उसका उपयोग होनेपर सभी प्रकारकी हानियोंसे सुरक्षा है। इस विषयपर भिन्न पुष्पमें प्रकाश डाला जायगा।

अब कई वैवाहिक रीतियोंका रहस्य भी बताया जाता है—

वैवाहिक रीति-विशेषोंका रहस्य।

सनातनधर्मी-विवाहोंमें कई देश वा कुलधर्मके अनुसार रस्में की जाती हैं, उनका श्रुति-स्मृतिमें उल्लेख न होनेसे अर्वाचीन लोग उस विवाहको ही अवैदिक वा अशास्त्रीय मानते हैं; परन्तु उन्हें जानना चाहिये कि—विवाह-संस्कार मुख्यतासे गृह्यसूत्रका विषय है; उस गृह्यसूत्रमें उन कुलधर्मोंके करनेकी अभ्यनुज्ञा दे दी गई है; तब उसमें अशास्त्रीयता कैसी?

आश्वलायनगृह्यसूत्र एक प्रसिद्ध सूत्र-ग्रन्थ है। स्वामी दयानन्दजीने अन्त्येष्टि कर्मकी रीतियाँ इसीसे ली हैं। उसी गृह्य-सूत्रमें विवाहकी देश वा ग्राम-सम्बन्धी एवं कुल-सम्बन्धी रस्मोंके लिए लिखा है—'अथ खलु उच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्मांश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्' (१।७।१) इसका गार्ग्यनारायणकी वृत्तिमें इस प्रकार विवरण किया गया है—"धर्मशब्दादेव द्वितीयानिर्देशे सति अन्वये सिद्धे 'तान्' इति वचनं 'कुलधर्मा अपि कार्या' इत्येवमर्थम्। तान्—तादृशानित्यर्थः। विवाहाधिकारे प्रचलत्यपि विवाहग्रहणं कृत्स्ने विवाहे यथा स्युरित्येवमर्थम्; इतरथा उपयमनकालाद् उत्तर-कालं विहितत्वाद् उपयमने न स्युः। उपयमनं नाम कन्यायाः स्वीकरणम्। प्रतीयात्—कुर्यात्।"

यहाँ यह बताया गया है, कि—कन्याके स्वीकरणसे लेकर विवाहकी समाप्ति तक ग्रामधर्म किये जा सकते हैं, केवल विवाहमें ही क्या, प्रत्युत सब अवसरोंमें अपने कुलधर्म-रीतियोंको करनेकी शास्त्रीय आज्ञा है; इसी कारण स्मृतिमें कहा गया है—'न यत्र विधयः साक्षाद् न निषेधः श्रुतौ स्मृतौ। देशाचार-कुलाचारैस्तत्र धर्मो निरूप्यते'। इसीलिए मनुस्मृतिमें 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (२।१२) यहाँ श्रुति तथा स्मृतिसे अतिरिक्त 'सदाचार'को भी—जो पिता-पितामहसे आई हुई कुलरीतियोंका बोधक है—धर्मके साक्षात् लक्षणोंमें माना गया है। तभी तो मनु जीने कहा है—

'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात् सतां

मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यते' (४।१७८) अर्थात्—जो बाप-दादे रीतियाँ करते आये हैं; उनके करते-आते रहनेसे कुछ हानि नहीं होती; क्योंकि—वे उनको तभी तो करते रहे कि—उनको उन रस्मोंसे कोई हानि नहीं पहुँची, किन्तु कुछ लाभ ही पहुँचा। तब यहाँ उन रस्मोंकी करणीयता बता देनेसे धर्मता सिद्ध होगई। इसी लिए मनुस्मृतिमें कुलधर्म भी माने गये हैं। इसीलिए कहा है—'देशधर्मान्, जातिधर्मान्, कुलधर्मांश्च शाश्वतान्। पाषण्डगण-धर्मांश्च शास्त्रेस्मिन् प्रोक्तवान् मनुः' (१।११८)। वृहत्पराशरस्मृतिमें भी कहा है—'कुलाचारोपि कर्तव्य इति शास्त्रविदो विदुः। देशाचारस्तथा धर्म इति प्राह पराशरः' (४।१६७) यहां पर कुलाचार तथा देशाचारको भी कर्तव्य एवं धर्म बताया गया है।

केवल इसी स्मृतिमें नहीं, किन्तु 'गौतमधर्मसूत्र'में भी कहा है—'देश-जाति-कुलधर्माश्च आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्' (११।१) अर्थात् उन देश, जाति वा कुलकी रस्मोंका वेदसे साक्षात् विरोध न हो; तो वे भी प्रमाण हैं; और कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार देशधर्म तथा कुलधर्मोंकी कर्त्तव्यता सिद्ध हो गई। इसीलिए आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें मुण्डन-संस्कारमें कुलकी रीतियोंका भी आदर किया है—'तृतीय-वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा' (१।१७।१) अर्थात्—लड़के का मुण्डन तीसरें वर्षमें करवाओ; अथवा जैसा आपके कुलका धर्म (रीति-रिवाज़) हो उसी समय कराओ।

आपस्तम्बगृह्यसूत्रमें भी कुलधर्मके अनुसरणार्थ कहा गया है—'यथर्षि शिखां निदधाति, यथां वा एषां कुलधर्मः स्यात्' (६।५।६-७,

७।२०।१६) यहां प्रवरानुसार शिखाएँ रखना कहा है; फिर कहा है—जैसा उनके कुलका धर्म हो; वैसा करें। भगवद्गीतामें भी कहा है—'उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन! नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम' (१।४४) यहां कुलधर्मोंके उल्लंघन करनेवालों को नरककी प्राप्ति कही गई है। 'दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकर-कारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः' (गीता १।४३) वहां भी जातिधर्म तथा कुलधर्मोंकी अवहेलना वर्णसंकरकारक बताई गई है। राजाओंको भी उन धर्मोंको नहीं हटवाना चाहिये। जैसे कि स्मृतिमें कहा है—'यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य-क्रमागतः। तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः'। यदि नया राज आते ही बलात् उन परम्परासे आये हुए देश आदिके धर्मों को हटवायेगा, वा कानूनका प्रयोग करेगा; तो उस राजाका राज्य भी चिरस्थायी नहीं हो सकता; क्योंकि इससे उन पुरुषोंकी भावनाको धक्का पहुँचता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (१७।३) यह श्रीभगवद्गीतामें कहा है कि सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है और पुरुष श्रद्धामय होता है; अतः जिसकी जिसमें जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वही बना रहता है। अतः उसे बलात् हटवाना आफत मोल लेना है।

इससे जो कि सनातनधर्मी विवाह-आदिके अवसर पर देश वा ग्राम एवं कुलकी रस्में किया करते हैं; उनमें अशास्त्रीयता वा आक्षेपार्हता नहीं हो सकती। उन रीति-विशेषोंकी भी यदि ऐति-हासिक विवेचना की जावे; तो पता लगेगा कि उनके शुरू करनेमें

एक विशेष उद्देश्य था, जैसे कि प्रत्येक कार्योंका होता है। मान लीजिये कि आपने एक दुर्गम अरण्यको पार करके किसी नियत स्थानमें पहुँचना है। उस वनमें कोई मार्ग नहीं दीखता। उस समय आप पूर्वके विद्वानोंके परामर्शसे निश्चित दिशामें चलकर उस स्थानको प्राप्त कर लेते हैं। आपके पदचिन्ह भूमिमें बन जायेंगे, लेकिन वे स्पष्ट नहीं होते। फिर आप तथा आपके दूसरे सम्बन्धी भी उस मार्ग पर चलकर उस नियत स्थानको पहुँच जाएँगे। तब वह पद्धति (पगडंडी) बन जायगी। तब वे पदचिन्ह स्पष्ट हो जाएँगे। दूसरोंको वे मार्ग-प्रदर्शन करके उन्हें भी उस नियत स्थान पर पहुँचा देंगे। फिर वही पगडंडी क्रमशः छोटी सड़क, फिर बड़ी सड़क बन जावेगी। फिर भविष्यत्‌की सन्ततियोंको भी उधर जानेमें सुविधा हो जायगी। यही रीति-विशेषोंका भी रहस्य हुआ करता है।

'महाजनो येन गतः स पन्थाः' (महाभारत वनपर्व ३१३।११७) 'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः' (मनु० ४।१७८) इन उक्तियोंका भी यही रहस्य है। ऋषि-मुनियोंने वेदसे वा अपने तपोबलसे कर्त्तव्य-पालनका या मुक्ति-प्राप्तिका जो कार्यक्रम नियत किया था; जनताने उसका अनुसरण करना शुरू किया। उसी कार्यक्रमका नाम 'रीति-रस्म' हो गया। लोग पूछते हैं कि—यजमान पूर्व दिशामें मुँह क्यों करे ? विवाहमें वधू सात पद ही क्यों चले ?' ऐसा कहते हुओंको पूछना चाहिये कि राजद्वारमें जाने पर इतनी दूरसे नमस्कार करनी चाहिये, इतनी बार नमस्कार करनी

चाहिये। राजद्वारकी पौशाक ऐसी होनी चाहिये। विश्वविद्यालयोंके चोगे नियत-प्रकारके होते हैं—इस प्रकारकी रीतियां आजतक भी प्रचलित हैं। वस्तुतः कारण यह है कि विशेष रस्में कुटुम्ब या समाजके संघटनार्थ भी हैं। वे जैसे ऐक्यके बाह्य साधन हैं वैसे ही अदृष्ट लाभोंकेलिए भी हैं। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'।

वे रीतियाँ धर्मकी बाहरी त्वचा होती हैं; धर्मकी रक्षा करनेवाली होती हैं। चावलोंके ऊपर धान्यकी त्वचा हुआ करती है; वह चावलोंकी रक्षार्थ हुआ करती है। उस त्वचाके बिना चावलोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा वृद्धि नहीं हो सकती। यही त्वचा चावलकी उन्नतिमें सहायता देती है। यदि यह त्वचा न होती, तो चावलकी रक्षा भी न होती। तो चावलकी त्वचाको निस्सार वा व्यर्थ बताना यह महामोह है। तब रस्में धर्मरूप चावलके रक्षण तथा प्रवर्धनके लिए त्वक् (छिलका) रूप हैं। चावलोंसे अलग की हुई त्वचा जैसे आपाततः निस्सार प्रतीत होती है; वैसे ही यह रीतियाँ भी धार्मिक दृष्टिकोणको छोड़कर आपाततः देखनेसे निस्सार-सी प्रतीत होती हैं; पर वस्तुतः ऐसे नहीं हैं। तब प्राच्योंसे नियमित, देशकालादिमें नियमित रीतिविशेषोंका अनुसरण धर्म तथा धार्मिक संघटनके प्रसारणार्थ अत्युपयुक्त साधन है; क्योंकि—अपने वर्गवाले जिस भी देशकालमें रहते हैं—वैसी ही रीतियोंका अनुसरण करते हैं—इससे उनके संघटनका भी प्रभाव दूसरों पर पड़ता है।

फलतः परम्परासे आई हुई कुल-रीतियोंका अनुसरण कोई आक्षेप्य बात नहीं। पुरुष बाहरी कामोंमें लगे हुए उन कुलरीतियों-

को भूल भी जाते हैं; पर घरकी स्त्रियाँ उन पारम्परिक रीतियोंको जान रखती हैं। इसलिए गृह्यसूत्रोंमें कहा है कि जिन रस्मोंको स्त्रियाँ कहें; वे भी कर लेनी चाहियें। जैसे कि-वैखानस-गृह्यसूत्रमें कहा है-'यत् स्त्रिय आहुः पारम्पर्यागतं शिष्टाचारम्, तत्तत् करोति' (३।२१)। आग्निवेश्यगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'यच्चात्र स्त्रिय आहुः, तत् कुर्वन्ति' (२।२।३, ३।५।४-८, ३।६।१-३)।

काठकगृह्यसूत्रमें भी कुलाचारोंकी कर्तव्यता कही है—'आचारिकाणि' (२५।७) यहाँ देवपालने टीका की है-'अस्मिन्नवसरे आचारिकाणि-आचारादागतानि देश-जाति-कुलधर्मतया प्रसिद्धानि कर्माणि कारयेत्'। वहीं पर ब्रह्मबलने भी यही कहा है—'अस्मिन् अवसरे देश-जाति-कुलोचितानाम् आचारिकाणां मङ्गल्यानां कर्मणां कालः'। वहीं आदित्यशरणने भी लिखा है—'अस्मिन् अवसरे आचारिकाणि कर्माणि कुर्यात् देश-जाति-कुलव्यवस्थया स्थितानि। अशास्त्रार्थमिति न प्रतिबध्नीयात्' अर्थात्—यह रस्में अशास्त्रीय हैं—यह कहकर उनके करनेमें प्रतिबन्ध न डाले।

यह हम थोड़ी-सी वैवाहिक-रीतियोंपर कुछ प्रकाश डालते हैं; शेष अपनी कुलरीतियोंका रहस्य स्वयं समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

संस्कारका महत्त्व

संस्करण-संशोधनका नाम संस्कार होता है। अपने शरीर पर की जानेवाली क्रियाओंसे जो एक अतिशय हो जाता है, यही संस्कार हो जाता है। पूर्व विद्यमान पदार्थोंके दोषोंको हटाकर

गुणाधान करनेसे उनको ठीक-ठीक कर देनेके कारण संस्कार आवश्यक हैं। असंस्कृत हुआ-हुआ सोना कभी कामिनियोंके कमनीय कण्ठमें, और कामुकोंके कमनीय करमें कान्तिको नहीं दिया करता, जब तक सुवर्णको अग्निमें शुद्ध न किया जावे और उसके कर्षण-घर्षण आदि संस्कार न हों। जैसे यहाँ पर संस्कारकी आवश्यकता है, वैसे ही मानवको मानव एवं चारु बनानेकेलिए भी संस्कार आवश्यक हैं। यह सब विचारकर परम अनुकम्पायुक्त पारस्कर आदि आचार्योंने स्थूल-बुद्धि पुरुषोंके उपकारार्थ संस्कारोंकी प्रक्रिया बनानेवाले ग्रन्थोंको बनाया था। उनमें कई संस्कार दोष हटानेवाले हैं, और दूसरे गुण डालने वाले हैं। उनमें विवाह-संस्कार प्रधान है; क्योंकि—उसे सभी करते हैं; और दूसरे संस्कारोंका, वर्णोंका तथा आश्रमोंका बल्कि समस्त सृष्टिका मूल है। दूसरे संस्कारोंमें एक ही संस्कृत होता है, परन्तु इस विवाहमें दो व्यक्ति संस्कृत होते हैं—इसलिए भी प्रधान है।

हमारे यहां वैध वैदिक संस्कारसे स्त्री-पुरुषका जोड़ा पक्का हो जाता है; पर विदेशों वा भिन्न-सम्प्रदायोंमें केवल कामुकता होनेसे वहांका जोड़ा कच्चा रह जानेसे विवाहोच्छेद आदि करना पड़ जाता है; जिससे उनका विवाह असफल हो जाता है। हमारे गृहसूत्रोक्त संस्कार दम्पतिके आत्मा, मन, प्राण, शरीर—जिसमें अस्थि, त्वचा आदि आ जाते हैं, सबका एकीकरण हो जाता है, बल्कि उसका दूसरे जन्म तक सम्बन्ध भी रहता है—'सती ह्न योषित् प्रकृतिश्च निश्चला, पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि,'

(शिशुपालवध १ सर्ग) पर दूसरे सम्प्रदाय चाहे एक-दूसरेको देख-दिखलाकर कार्य करते हैं, तब भी साधारण ही कारणोंमें उनका विवाह विच्छिन्न हो जाता है। यह है हमारे शास्त्रीय संस्कारका महत्त्व।

वाग्दान

जैसे प्रस्तावकी पहले-पहले भूमिका प्रारम्भ होती है; जैसे अनुमान करनेकेलिए पांच अवयवोंमें पहले प्रतिज्ञाकी आवश्यकता होती है; वैसे ही विवाहका आरम्भ 'वाग्दान'से होता है। मनुस्मृतिमें लिखा है—'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (५।१५२) अर्थात् जब लड़कीका, किसी कुल-शीलवाले अपनेसे देखे-भाले हुए लड़केको उसके पिता आदि सम्बन्धियोंकी उपस्थितिमें वाणी द्वारा दान कर दिया जाता हैं; यह बात लड़कीको भी पता लग जाती है; उस दिनसे वह उस पितृ-प्रदत्त पुरुषको अपना पति मान लेती है। उस दिनसे माता-पिता आदि उस वरकी प्रशंसा आदि करते रहते हैं—जिससे उस लड़कीका उस लड़केके प्रति आकर्षण हो जाता है। गणेशपूजा आदि तथा फलप्रदान, मिष्टान्नपान आदि द्वारा परस्पर दोनों वर-वधू पक्षवालोंका पारस्परिक विश्वास एवं प्रेम तथा एक-दूसरेसे सुख-दुःखमें सहानुभूति उपस्थित हो जाती है। और दोनों पक्ष विवाहकी तैयारी भी प्रारम्भ कर देते हैं।

वैवाहिक कङ्कण

कङ्कण बन्धनका यह तात्पर्य होता है कि मैं इस गृहस्थ-आश्रममें बद्ध होगया वा होगई हूँ। उसमें तीन गांठोंका यह

निष्कर्ष है कि—मैं ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋणसे बंध गया हूं। अब इन्हें उतारूँगा। यदि पांच गांठें हों, तो देशऋण तथा जातिऋण भी साथ समझ लेने चाहियें। कई उस कङ्कणमें मणिस्थानापन्न मोती भी बांधे जाते हैं, उनका भाव है—शरीरसे उनका स्पर्श होता रहे। वे स्पर्शसे विशेष लाभ पहुँचाते हैं। अथर्ववेदसंहितामें मणियोंका प्रभाव बहुत वर्णित किया गया है। तब परम्परासे लोगोंको पता होता है कि—अमुक मोती लाभदायक है; उसे भी कङ्कणके साथ बांधा जाता है।

देवाह्वान, नवग्रही, तेल आदि :—

विवाहमें देवताओंकी कृपा अपेक्षित होती है, अतः गणपति-पूजा-पूर्वक सब देवताओंका आह्वान तथा पूजा की जाती है। स्त्रियाँ घड़ा भर लाती हैं। कुम्भस्थापन होता है। फिर ग्रहोंसे सम्बन्ध होनेसे नवग्रहोंकी पूजा की जाती है; उन्हें पूड़ी आदिकी बलि दी जाती है—इसमें नौ ब्राह्मणोंको जिमाया जाता है। जितने दान दिये जाते हैं; दानका अधिकारी पुरोहित ब्राह्मण माना गया है; अतः देवसम्बन्धी भोजन भी उसे कराया जाता है। मनुस्मृतिमें देवकार्यमें तथा पितृकार्यमें ब्राह्मणको ही भोजन कराना लिखा है—'तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः' (३।१२४) 'द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीन् एकैकमुभयत्र वा। भोजयेत्' (३।१२५) पारस्कर-गृह्यसूत्रमें प्रत्येक संस्कारादि-कर्ममें 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' कहकर ब्राह्मणका विधान कहा है। अतः इसमें कोई सन्देहका अवकाश नहीं।

फिर सुगन्धित तैल लड़की-लड़केके सिरपर लगाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि—ब्रह्मचर्यमें उत्तेजक होनेसे सुगन्धित तैलोंके प्रयोगका निषेध था, पर अब ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त होनेसे गृहस्थावस्थामें तो इसका सेवन करना ही चाहिये, जिससे चित्त प्रसन्न हो; और उद्दीपन भी होवे। लड़कीको सौभाग्यवती स्त्रियाँ तेल लगाती हैं, जिससे यह भी सौभाग्यवती रहे।

मुकुट, घुड़चढ़ी

फिर वरको मुकुट पहिराया जाता है। कारण यह है—उस समय वरको राजा जैसा बनाया जाता है। इसीलिए उसे म्यानमें एक तलवारके स्थानापन्न छुरी रखनी पड़ती है। इसीलिए ही घोड़ी पर चढ़ना पड़ता है। साथके लोग सैनिकों-जैसे होते हैं। घोड़े पर न चढ़कर घोड़ी पर चढ़नेके रहस्य भी कई हैं। एक तो यह कि—घोड़ा बहुत चंचल होता है; घोड़ी अपेक्षाकृत शान्त होती है। इससे उससे गिरनेकी आशंका नहीं रहती। दूसरा भी रहस्य स्वयं जाना जा सकता है कि उसका काम घोड़ेपर सवार होना नहीं, किन्तु घोड़ीपर सवार होना है और उस घोड़ीको अपने कण्ट्रोलमें रखना है। राजा जैसा होनेसे बाजे-गाजे भी खूब बजते हैं। मार्गमें शमीवृक्षका पूजन करके वर उस छुरीसे शमीके वृक्षके पत्ते उतारता है। उस शमीकी परिक्रमा करता है। यह शमीके पत्र फिर लाजाहोममें काम आते हैं। शमी न हो तो किसी देवमन्दिरमें जाता है; देवको नमस्कार करता है, दक्षिणा चढ़ाता है। पीछेसे बहन वरके वस्त्रोंपर केसर डालती आती है। अन्य सम्बन्धिनियाँ

माङ्गलिक भजन गाती आती हैं। पुरोहित घीका चौमुखा दीपक थालीमें रखकर चलता है। एक तो प्रयोजन पूजाका होता है। दूसरा घोड़ीपर चढ़े हुए इसी कारण ऊँचे हुए-हुए वरको घृतके परमाणु प्राप्त होवें। यदि कुत्सित वायु हो तो उसका ज्ञान हो जाय; इससे घृतका दीपक बुझ जाता है। बाज़ारोंमें वरको घुमाया जाता है— जिससे उसे उधरका मार्ग ज्ञात हो जावे।

द्वाराचार, स्वागत, वर-मानक्रिया, गोत्रोच्चार, मुट्ठी खुलवाना आदि

कन्यागृहके द्वारपर वरको घोड़ीसे उतारकर उसका तथा उसके पिता आदिका स्वागत-सत्कार होता है। देवपूजा कराई जाती है। वरकी मानक्रिया (नाप) होती है। कन्या-पक्षवाले वरके आनेपर उसका मान (नाप) उसकी परीक्षार्थ करते हैं। एक दृढ सूत्रको लेकर उसका एक अग्रभाग उसके दक्षिण-स्तन पर रखना पड़ता है। शेष सूत्र ग्रीवासे लाकर वाम-स्तन पर दृढ़ खैंचकर रखना पड़ता है। इससे वक्षःस्थलकी चौड़ाई नापी जाती है। इस प्रकार सिरके पिछले भागसे लेकर माथे तक नापना पड़ता है। यदि वह सूत्र कम हो; तो वरको ब्रह्मचारी समझो कि—उसने ब्रह्मचर्यका अव-लम्बन ठीक-ठीक किया है। यदि वह सूत्र बढ़ जाय; तो वरका ब्रह्मचर्य स्खलित हो चुका है—यह ज्ञान हो जाता है।

फिर तीन पीढ़ियोंतक दोनों पक्षोंका गोत्रोच्चार पढ़ना पड़ता है, जिससे तीन पीढ़ियोंके नामका पता लग जावे, जिनका आगे पितृ-कार्य-आदिमें उपयोग होता है।

फिर वरको अन्दर ले जाते हैं। वरका संरक्षक (आनर, संभाला) उसका बहनोई साथ होता है। वह उसका सचिव-स्थानीय वा अङ्गरक्षक-स्थानीय होता है। वह द्वारपर बंधी हुई एक रस्सीको वरकी छुरी लेकर उसे काटता है। कभी-कभी उसमें लोहेकी तार जड़ दी जाती है। उसे भी यथाकथंचित् तोड़ना पड़ता है। तभी अन्दर जानेका अधिकार होता है।

फिर द्वारपर कन्या ठहरी हुई होती है। उसके हाथमें गुड़ होता है, और मुट्ठी बंधी हुई होती है। वरको उसे एक हाथसे खोलना पड़ता है। यदि उसे खोल लिया गया; तो वर शक्तिशाली माना जाता है—नहीं तो उसपर उपहास होता है कि—तुम नपुंसक हो, वा निर्बल हो। स्त्री तुमसे ज़बर्दस्त है।

फिर भीतर कई रस्में होती हैं यह सब वरकी परीक्षाएं होती हैं; कुछ रस्में उसे कुछ गार्हस्थ्य-सम्बन्धी बातें सिखलाने वाली होती हैं। फिर उषाकालमें या विशेष-लग्नमें विवाहसंस्कार प्रारम्भ हो जाता है।

गजदन्त-धारण

सबसे पूर्व कन्याके नाना वा मामाकी ओरसे लड़कीको सौभाग्य-प्रतिष्ठार्थ गजदन्तकी चार और तीन कुल सात चूड़ियां पहराई जाती हैं। वैद्य लोग स्त्रीसम्बन्धी रोगमें गजदन्तके चूर्णका प्रयोग करवाते हैं। वन्ध्यात्वदोषके दूरीकरणार्थ गजदन्तको अत्युत्तम माना जाता है। यूनानी हकीम भी गजदन्तके चूर्णको ऋतु-संशोधक और उत्तमलाभप्रद मानते हैं। जो फल इसके खानेमें होता है,

वही फल उसका शरीरके साथ निरन्तर स्पर्शमें भी होता है। जैसे कि—मरहम, लेप, मालिश, इन्जैक्शन आदिके द्वारा भी विविध ओषधियाँ भीतर प्रविष्ट कराई जाती हैं। भावी वन्ध्यात्व आदि रोगोंकी निवृत्त्यर्थ गजदन्तका खण्ड आरम्भसे ही धारण किया हुआ अधिक-फलप्रद होता है।

फिर वर और कन्याका पिता ग्रह-देवादिपूजन करता है। उस के बाद वरका पाद्यादिद्वारा पूजन होता है।

वैवाहिक-विधियोंका रहस्य

पाद्यमधुपर्कादि—

विवाहके आरम्भमें पाद्यादि देना तो वरका प्राचीन कालका सत्कार है; मधुपर्क अर्पण करना जहां सत्कार है, वहाँ उसके द्वारा वरको यह भी सूचित किया जाता है कि गृहस्थाश्रममें तुम दधि-मधु-नवनीतका उपयोग किया करो। इसीसे वीर्यप्राप्ति होगी—यही तुम्हारा वाजीकरण है।

वस्त्रप्रदानादि

फिर वर कन्याको वस्त्र देकर तथा स्वयं वस्त्र पहनकर यह सिद्ध करता है कि मैं तुम्हारे तथा अपने पालनमें समर्थ हूँ—यह देखकर पिता अपनी कन्याको उसे दान कर देता है। पहले कन्यादानका संकल्प कराके, फिर कन्याको वस्त्र देना अयुक्त तथा स्वार्थपूर्ण है। पिता देखेगा कि—यह कन्याका वस्त्रादिद्वारा पोषण कर सकता है तभी तो वह कन्या दे देनेका संकल्प करेगा। कन्यादानके बाद फिर उनको परस्पर-समीक्षणका अवसर देना भी ठीक ही है।

कन्यादान

कन्यादानमें वरके हाथपर वधूका हाथ रखकर फिर उसपर शङ्खसे संकल्पकेलिए जल डाला जाता है तथा अग्निको समक्ष रक्खा जाता है। हाथके सम्बन्धद्वारा दोनोंका विद्युत्प्रवाह चलता है और जल विद्युत्का संचालक होता है। इससे पति-पत्नीकी प्रेमधाराका एक-दूसरेमें प्रवेश और प्रेमकी विद्युत्-शक्तिके दृढ होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। किसी वस्तुको दृढ करनेकेलिए जल और अग्निकी सहायता ली जाती है। मिट्टीका घड़ा तभी दृढ होता है, जब मिट्टीको भिगोकर पहले घड़ेका आकार दिया जाय; फिर कच्चे घड़ेको अग्निमें तपाकर दृढ कर दिया जाय। दो भिन्न वस्तुओंका सम्बन्ध मिलाना और उस सम्बन्धको दृढ तथा स्थायी बनाना जल और अग्निकी सहायतासे उत्तम-रूपसे होता है। इस प्रकार विवाहमें पति-पत्नीके सम्बन्धको जलद्वारा स्थिर किया जाता है, उसे दृढ तथा जन्म-जन्मान्तरतक स्थायी बनानेके लिए अग्निका साक्षीरूपसे आश्रय लिया जाता है।

अग्निकी साक्षी

अग्निकी साक्षीमें कन्याका देना, फिर वर-वधूका अग्नि-परिक्रमा करना इसमें यह रहस्य है कि—कौमार्यमें कन्याके सोम, गन्धर्व, अग्नि—ये तीन क्रमशः पति (पालक) होते हैं। एक-एक वर्ष वे अपना आधिपत्य रखकर फिर बादवालेको सौंप देते हैं। कौमार्यमें अन्तिम पति अग्निदेव होते हैं। उनको स्थापित करके यह भाव प्रकाशित किया जा रहा है कि वही अग्नि अपनी आश्रित

कुमारीको मानव-वरको दे रहा है। जैसा कि—'तृतीयो अग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (ऋ० १०।८५।४०)। (तुम्हारा तीसरा पति (पालक) अग्नि-देव है और यह मनुष्यज मैं तुम्हारा चौथा पति हूँ।) 'रयिं च पुत्रांश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ० सं० १०।८५।४१)। (अग्निदेव इस कन्याको मुझे पत्नीरूपमें प्रदान करते हैं साथ धन और पुत्र भी) यह मन्त्र बता रहा है। इसीलिए वह पुरुष स्त्रीके रखने (संन्याससे पूर्व) तक सस्त्रीक अग्निकी हवि आदिसे पूजा करता है।

ऋतुकालसे पूर्व विवाह

अग्नि कन्याके भीतरके ऋतुधर्मका स्वामी होता है। जबतक आर्तव कन्याके अन्दर है, तबतक उसमें आधिपत्य भी अग्निका होता है। जब आर्तवका सम्बन्ध भीतरसे बाहरको होना चाहता है, उस समय उसे वर मिलना चाहिये—यही अग्निदेवका मानव-वरको सौंपनेका रहस्य है। इससे कन्याका विवाह देशकालानुसार ऋतु-दर्शनके कुछ पूर्व कर्तव्य है। जिस उष्ण देशमें कन्याका ऋतु-प्राकट्य ६-१० वर्षकी अवस्थामें होता है वहाँ उसका विवाह भी ८ वर्षकी अवस्थामें करना चाहिये। जहाँपर ऋतुप्राकट्य १३वें या १४वें वर्षमें होता है, वहाँ कन्याका विवाह भी १२-१३ वर्षकी ही अवस्थामें करना चाहिये। जिस शीत-देशमें ऋतु-दर्शन १६-१७ वर्षकी अवस्थामें होता है, वहाँ कन्याका विवाह भी १५ वें, १६ वें वर्षमें ही कर्तव्य है। उसका विवाह-संस्कार एवं दान उसकी शुद्ध अवस्थामें हो जाय—यही ऋतुकालसे पूर्व कन्या-विवाहका तात्पर्य

है, क्योंकि विवाहमें कन्या-दान कर्तव्य होता है और दान शुद्ध वस्तुका ही होता है। ऋतुकालके पूर्वका समय कुमारावस्था ही कन्यादानका उचित काल है। लड़कीको ऋतुमती पतिके घर ही होना चाहिये। ऋतुस्नानके समय उसे पुरुष अपेक्षित होता है। जैसे कि—'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४,१।१२४।७)

'मलवद्वासाः' (मलिन वस्त्रवाली) के 'प्रतिद्वन्द्वी' 'सुवासाः' पदद्वारा ऋतुस्नानको बताकर ऋतुस्नाताकी 'पत्ये उशती' इन पदों-द्वारा पतिविषयक कामना बताई गई है।

'महाभाष्य' पस्पशाह्निकके उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने इस मन्त्रके अर्थमें लिखा है—'जाया सुवासाः—निर्णिक्तवासा नीरजस्का ऋतुकालेषु विवृतसर्वाङ्गावयवा भूत्वा उशती—कामयमाना भर्त्रे प्रेम्णा दर्शयति आत्मानम्। तदा हि अतितमां स्त्री पुरुषं प्रार्थयते'। ('सुवासा—धुले हुए वस्त्रवाली पत्नी रज निवृत्त होनेपर ऋतुकालमें शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको निरावृत करके प्रेमपूर्वक पतिकी कामना करती हुई अपने आपको उसके सामने प्रस्तुत कर देती है; क्योंकि उस समय स्त्रीको पुरुषकी अत्यधिक अभिलाषा होती है।')

इसी प्रकारके मन्त्रपर श्रीसायणने लिखा है—'पत्ये उशती—कामयमाना सुवासाः—पूर्वं रजोदर्शनसमये मलिनवस्त्रा सती स्नाना-नन्तरं शोभनवस्त्राभरणादिना शोभमाना विशेषेण पतिभोगाय कांक्षन्ती तेन सह संक्रीडते।'

पतिकी प्रथम ऋतुकालमें उपस्थिति तभी हो सकती है जब

ऋतुप्राकट्यसे कुछ पूर्व विवाह सम्पन्न हो जाय। ऋतु पुष्प कहलाता है; उसका प्रादुर्भाव करके प्रकृति इंगित करती है कि अब पुत्ररूप फल प्राप्त होना चाहिये। तभी 'कृष्णयजुर्वेद'की 'तैत्तिरीयसंहिता'में आया है—'स (इन्द्रः) स्त्रीषथ्ं सादमुपासीदद् अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृह्णीतेति। ता अब्रुवन्—'वरं वृणामहै, ऋत्वियात् प्रजां विन्दामहै, काममाविजनितोः सम्भवाम।'(२।५।१।५)

('वे इन्द्र स्त्रियोंके पास गये और बोले 'तुम इस ब्रह्महत्याका तीसरा भाग ग्रहण कर लो।'. वे बोलीं—'हम इसकेलिए वर लेंगी। ऋतुदर्शनके पश्चात् हम संतान प्राप्त करें। हमें इच्छानुसार काम-भोग प्राप्त हों।) ऋतुदर्शनके बाद लड़कीमें कामसंचार प्रारम्भ हो जाता है—यह हम सप्रमाण निरूपित कर चुके हैं। तब उसकी मनोवृत्ति चञ्चल हो उठती है। उस समय उनकी मानसिक प्रवृत्तियोंका एक केन्द्र हो जाय; जिससे वे एकमें स्थिर हो जाएं; इससे ऋतुकालसे कुछ पूर्व ही उसका विवाह कर देनेकी आज्ञा है, तभी उसका चित्त स्थिर रहता है। बहुत देरके बाद पति मिलनेपर उसकी मानसिक पृष्ठभूमि प्रायः मलिन हो चुकती है। उसपर कई चित्र बन और बिगड़ चुकते हैं। उसी दशामें यदि वह अपने मार्गसे च्युत हो गई; तो उसका सारे जन्ममें सुधार होना असम्भव हो जाता है, और उस समय वह नवीन शाखा होनेसे पतिके अनुकूल मोड़ी जा सकती है। बड़ी आयुमें वह पक्की शाखा हो जानेसे टूट सकती है, पर अपनी ओर मोड़ी नहीं जा सकती; अतः ऋतुदर्शनसे पूर्व ही कन्याका विवाह

लाभप्रद है।

फलतः विवाह ऋतुप्राकट्यसे कुछ पूर्व तथा ऋतुदान ऋतु-स्नानके पश्चात् करना चाहिये, पर गुणवान् वरके अन्वेषणमें यदि कन्या ऋतुमती भी हो जाय तो मनुजी दोष नहीं मानते। जैसे कि—'काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्। (९।८९) (कन्या ऋतुमती हो जानेपर भी भले ही घरमें आजीवन कुमारी रह जाय; परन्तु उसे कभी गुणहीन (अयोग्य) वरके साथ नहीं व्याहना चाहिये।) पर गुणवान् वरकी प्राप्तिमें ऋतुकालसे पूर्व ही उसका विवाह उचित है।

चार परिक्रमा—उसी कन्याके अन्तिम अधिपति अग्निकी साक्षीमें कन्या लेकर फिर वरको हवनद्वारा अग्निकी पूजा करनी पड़ती है, फिर दोनोंको अग्निकी प्रदक्षिणा करनी पड़ती है। पहली तीन परिक्रमाओंमें स्त्री आगे होती है, पहले बैठनेके समय भी स्त्री पुरुषके दाहिने होती है—इसका रहस्य यह है कि—उस समयतक पुरुषका उसपर पूरा आधिपत्य नहीं होता। इसी अवसरमें कन्या अपने कन्यात्वको समाप्त करनेकेलिए पतिकी सहायतासे लाजाहोम करती है। चतुर्थ परिक्रमामें कन्या अवशिष्ट लाजोंका होम करके अपने कन्यात्वको समाप्त कर देती है, तब वह पतिकी भार्या—पोष्या हो जाती है, अतः चौथी परिक्रमामें वह पतिके पीछे चलती है।

चार परिक्रमाओंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग भी

तात्पर्यके विषय हो सकते हैं। सो पहलेके तीन वर्गोंमें स्त्री पुरुषसे आगे ही रहती है। धर्मके कार्यमें भी स्त्री पुरुषसे आगे ही रहती है—बढ़ी रहती है। अर्थ—धनके कार्यमें भी। तभी श्रीमनुजीने स्त्रीकेलिए कहा है—'अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्' (६।११) (स्त्रीको धनके संग्रह और व्ययके कार्यमें नियुक्त करे।)

पति यदि संगृहीत धन स्त्रीके हाथमें दे, तो वह उसका उपयुक्त बैंक सिद्ध हो सकती है। इससे आपत्तिकालमें पुरुषको अर्थकष्टका मुख नहीं देखना पड़ता। काममें तो स्त्री अगुआ होती ही है। चतुर्थ परिक्रमा मोक्षकी होती है। मोक्षमें स्त्री मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकती; अत; चतुर्थ परिक्रमामें स्त्रीको आगे न रखकर पुरुषको ही आगे रक्खा जाता है।

चौथी परिक्रमाके बाद वाँएँ ओर बैठाना—स्त्रीका वाम ओर बैठाना प्राचीनकालसे चालू हुई-हुई प्रथा है। उसमें कारण है कि स्त्री कोमलाङ्गी होती है; उसे दृढाङ्ग पुरुषकी रक्षाकी अपेक्षा होती है। इसी भावके द्योतक होते हैं पति-पत्नी शब्द। पति रक्षक है, पातीति पतिः। पत्नी रक्षणीय है। जैसा कि वेद कहता है—'ममेयमस्तु पोष्या' (अ० १४।१।५२)। शरीरके अन्दर कोमलतम एवं प्रेमका आधार अङ्ग हृदय होता है। उसे परमात्माने बाईं ओर रखा है; अतएव जब स्त्री पूर्ण पत्नी नहीं बनी तब वह भार्या (भर्तव्या) भी नहीं थी। इसलिए प्रेमका आधार और हमारा अभिन्न हृदय भी नहीं थी, और उसके परिवर्तनकी भी आशंका थी; अतः उसे पहले दाहिनी ओर बैठाया गया। जब उसमें पुरुषका

अधिकार हो गया तो चौथी परिक्रमामें उसे वरने जो उससे आगे चल रही थी अपने पीछे किया; फिर चौथी परिक्रमाके बाद वा सप्तपदी हो चुकने पर अपने हृदयकी भांति उसे बाईं ओर बैठा दिया जाता है। वह पत्नी भी हृदयकी भांति कोमल है, अतः प्रेम का आधार भी बन गई। कहीं कन्यादानादिके अवसर पर सुविधा केलिए कन्यादाताका अपनी पत्नीको दाहिने बैठाना अपवाद है। उत्सर्ग यही है कि उसे बाएँ ओर बैठाया जाय। अतएव स्त्रीका नाम 'वामाङ्गी' प्रसिद्ध है।

लाजाहोम का रहस्य

शमीसे मिश्रित लाजाओंका अग्निमें हवन करनेसे जो परमाणु सूक्ष्म होकर निकलते है, वे विवाहित वर-वधूकेलिए लाभप्रद होते हैं। वधूके तथा वरके भीतरी दोषोंको दूर करनेवाले होते हैं। उसीमें कन्या 'आयुष्मानस्तु मे पतिः, एधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा' यह आकांक्षा करती है। वधू अपने भ्रातासे वे लाजा लेती है, पति अपने सहारेसे उसे डलवाता है; उसका यह तात्पर्य है कि दोनों मिलकर यज्ञकर्म किया करें। मन्त्रपाठ वर करता है; कभी कोई स्त्रीका मन्त्र-विशेष आ जावे तो उसके प्रातिनिध्यसे भी मन्त्र-पाठ कर लेता है। क्योंकि स्त्रीमें पूर्ण धातु तथा पूर्ण स्वर न होनेसे वह स्वर-वर्ण आदिके पूर्ण उच्चारणमें समर्थ नहीं होती, अतः वरका आश्रय उसे सदा अपेक्षित रहता ही है। अतः उसका स्वतन्त्रतासे यज्ञकर्ममें अधिकार नहीं रहता। 'वसिष्ठस्य पत्नी' में वसिष्ठकी पत्नीको वसिष्ठकर्तृक यज्ञकी फलभोक्त्री माना जाता है।

तब यज्ञ पति करता है, फल पत्नीको भी मिल जाता है; तभी तो दोनोंके वस्त्रको ग्रन्थिबद्ध करना होता है, हाथ उसमें स्त्रीका भी होता ही है।

भाई द्वारा लाजाएँ इसलिए दिलवाई जाती हैं कि यह कन्या अभ्रातृका तो नहीं; कि कहीं इसे 'पुत्रिका-धर्म' न करना पड़े, अर्थात् इसकी सन्तानका मैं मालिक न बनकर इस लड़कीका पिता ही कहीं मेरी सन्तानका मालिक बने। इसलिए मन्वादि धर्मशास्त्रों तथा वेदादिमें अभ्रातृका कन्याके विवाहका निषेध आया है।

लाजाहोममें कन्या यह भी सूचित करती है कि—स्वामीजी! आपका वंश शमीकी भांति कैसा ही हरा-भरा क्यों न हो; परन्तु मेरे अनादरसे आपकी दशा खीलोंकी तरह होगी। जैसे खीलोंका अंकुर नहीं होता; वैसे आप भी सन्तानरूप अंकुरको प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इससे यह प्रतीत हो रहा है कि—लाजा धान्यरूपा होती है। त्वक् तथा तण्डुलका उसमें पहले संयोग होता है। जब तक तो इनका संयोग है; तब तक दोनोंकी रक्षा है और तण्डुलमें उत्पादक शक्ति भी है। वधू कहती है—मैं त्वक् हूँ, आप तण्डुल हैं। यदि आप त्वग्रूप मुझसे कवचित रहेंगे; तब आपमें उत्पादनशक्ति भी रहेगी। मुझसे विरहित तण्डुलरूप आप उत्पादनशक्तिसे रहित रहेंगे। अकेले तण्डुलको अग्निमें डाला जाता है, वह अग्निमें जलता है और उसकी लाजा बन जाती है; अतः आप भी मुझसे विरहित होकर विरहाग्निमें जलते रहोगे।

लाजाहोम करके स्त्री यह भी सूचित करती है कि यह लाजा पहले

छिलकेसे आवृत थी, इस प्रकार मैं भी पितृगृहमें कन्यात्वसे आवृत थी। जब मैं बढ़ी तो मेरा उस छिलकेमें समाना कठिन हो गया। फिर अग्निका सम्पर्क पाकर इस धान्यका छिलका जल गया और वह खिल गई; इसी प्रकार अग्निस्वरूप आप (पति) का सम्पर्क पाकर मेरा कन्यात्व एवं पितृसम्बन्ध समाप्त हो गया है। उस बन्धनसे मुक्त होकर और आपको पाकर मैं भी विकसित हो चुकी हूँ। अब जैसे चावलका रक्षक छिलका न रहा; इस प्रकार मुक्त कन्यापर भी पिताका कोई आधिपत्य न रहा। कन्या इससे यह भी सूचित कर रही है कि त्वक्से रहित धान्य-कणिका जिस प्रकार उत्पादनशक्तिसे रहित होती है, त्वक्-सहित ही वह अनेक धान्य उत्पन्न करती है; वैसे मैं और आप भिन्न-भिन्न रहकर वन्ध्य ही रहेंगे और त्वक्से रहित उस धानको अग्निमें डाल दिया जाता है, अतः आपका और मेरा आपसमें एकीभाव होनेसे ही आपका वंश बढ़ेगा और मैं भी सुरक्षित रहूँगी।

अश्मारोहण—वधूको जो कि पत्थर पर चढ़ाया जाता है; उससे उसको सङ्केतित किया जाता है कि जैसे पत्थर दृढ होता है, वैसे तुम भी दृढ रहना, परपुरुषपर अनुरक्त न रहना; आपत्ति-कालमें भी विचलित न होकर अपने पातिव्रत्य धर्मकी रक्षा करना।

साङ्गुष्ठ-हस्तग्रहण—इसका प्रयोजन यह है कि—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्' इत्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयाद् यदि कामयीत पुमांस एव मे पुत्रा जायेरन्' (१।७।३) 'अंगुलीरेव स्त्रीकामः' (१।७।४) 'रोमान्ते हस्तं सांगुष्ठमुभयकामः' (१।७।५)। आश्वलायन-गृह्यसूत्रके

इस वचनमें विवाहमें पाणिग्रहणके समय बताया गया है कि यदि पुरुष चाहता है कि मेरे लड़के हों; तो वधूके हाथमें केवल अंगुष्ठ को पकड़े। 'अंगुष्ठ' शब्द पुंलिङ्ग है; अतः उससे पुत्रका सम्बन्ध स्पष्ट है। यदि पुरुष चाहता है कि मेरे लड़कियां उत्पन्न हों; तो वह पाणिग्रहण करते समय वधूकी अंगुलियां पकड़े। 'अंगुलि' शब्द 'स्त्रीलिङ्ग' है; अतः उससे कन्योत्पत्तिका सम्बन्ध स्पष्ट है। फिर लिखा है कि यदि दोनों—पुत्र-पुत्रीकी उत्पत्ति चाहे; तो अंगुष्ठसहित हस्तांगुलियोंको पकड़े; तो दोनोंके उभयलिङ्ग होनेसे पुत्र-पुत्री दोनोंकी उत्पत्ति स्पष्ट है।

महाभाष्यकारने श्लोकोंकी अप्रमाणता पर कहा है कि 'उन्मत्तगीत' श्लोक, सूत्र आदि प्रमाण नहीं होते; इसका भाव यह हुआ कि अनुन्मत्तगीत अर्थात् सावधान होकर कहे हुए श्लोक-सूत्रादि प्रमाण होते हैं। यदि विचित्र बात केवल एक व्यक्ति कहे; तो उसके वचनके अप्रामाण्यकी शंका हो सकती है; पर अन्योंकी भी जब उसमें सम्मति वा साक्षी मिल जावे तो 'सौ सयाने एकमत' यह कहावत चरितार्थ हो जाती है। जैसे कि भगवद्गीतामें कहा है—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (२।४१) अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक हुआ करती है और अनिश्चयात्मक बुद्धियां अनेक एवं परस्पर-विप्रतिपन्न हुआ करती है।

अब इसमें अन्य आचार्योंको सम्मति भी देखनी चाहिये। हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रमें भी पूर्व जैसी ही बात लिखी है—'यदि

कामयेत पुं॑ सो जनयेयम् इति, अंगुष्ठं गृह्णीयात्। यदि कामयेत स्त्रीः इति, अंगुलीः। यदि कामयेत उभयं जनयेयम् इति, अभीव लोमानि अंगुष्ठं॑ सहांगुलिभिर्गृह्णीयात्' (१६।६।२०)। इस साक्षीसे पूर्वोक्त बात यथार्थ सिद्ध हो गई।

इस प्रकार आपस्तम्बगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'यदि कामयेत स्त्रीरेव जनयेयम्-इति अंगुलीरेव गृह्णीयात् (२।४।१२)। यदि कामयेत पुंस एव जनयेयम् इति अंगुष्ठमेव' (२।४।१३)। आर्यसमाजियोंकी संस्कार-विधिके १५२ पृष्ठमें भी वधूका अंगूठा पकड़वाया जाता है, मालूम नहीं कि वे इसमें क्या प्रयोजन मानते हैं?

दृढपुरुष-स्थापन और हवन

वैवाहिक होमसे पूर्व वर-कन्याके पीछे एक दृढ-पुरुषको ठहराना पड़ता है; उसके साथमें जलका कुम्भ भी होता है उसे चुप होकर अभिषेक तक ठहरना पड़ता है। कुम्भ वा लोटेको वह ऊपर उठाकर ठहरे, ऐसा नियम है। उसमें एक रहस्य यह है कि—होमके घृत, तथा घृताक्त हविके परमाणु ऊपर जाते हैं; उन्हें हाथके कुम्भका जल अपनेमें आकृष्ट करता है। वे मन्त्र-संस्कृत हविके परमाणु कितने शुद्ध एवं लाभप्रद हो सकते हैं, यह हम आगे यज्ञ-रहस्यमें लिखेंगे। होम समाप्त होने पर उस दृढ-पुरुषसे वह कुम्भ लेकर वर उसमें पड़ी हुई कुशा वा आमके पत्तेसे अपने पर तथा अपनी वधू पर 'आपो हि ष्ठा' आदि मन्त्रोंसे अभिषेक करता है। उससे उसका तथा उसकी वधूका अतिशयित लाभ होता है।

दूसरा लौकिक लाभ वह भी है कि कभी हवनके समय उठा हुआ अग्निकण अतर्कित वर-वधूके वस्त्र पर लग जाए. तो उस समय जलकी आवश्यकता पड़ेगी ही। 'संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः' उस समय पानी मंगानेकी शीघ्रतामें कुछ सूझता नहीं; अतः पहलेसे उसका प्रबन्ध भी रखना ही चाहिये। इसीलिए दृढ-पुरुषको चुपचाप ठहरना पड़ता है कि उसका ध्यान दूसरी ओर न बँटे, केवल वर-वधूका तथा अग्निका ध्यान रखे। इसी कारण वर-वधूके पीछे उसे ठहराना संगत भी हो जाता है; पर यह ध्यान रहे कि यह अवान्तर-प्रयोजन है; मुख्य प्रयोजन तो पूर्व कहा ही जा चुका है।

ग्रन्थिबन्धन—परिक्रमाके समय ग्रन्थिबन्धनका रहस्य यह है कि हम दोनों पहले अलग-अलग थे; अब हम एक बन्धनमें बद्ध हुए हैं, इसलिए मिलकर सब कार्य करेंगे। वही गांठका कपड़ा इस समय से लेकर वरके घरमें पहुँचने तक दोनोंमें बँधा होता है; इससे लौकिक लाभ यह भी होता है कि स्त्रीका पतिसे पार्थक्य आशङ्कित नहीं होता। ऐसा न होनेसे एक बार रेलगाड़ीसे उतरती हुई दो बारातों की दो नववधुएँ घूँघट होनेसे बदल गईं, एककी वधू दूसरेके साथ चली गई, क्योंकि इस अवसर पर वधुओंके वस्त्र प्रायः एक-से होते हैं।

अन्तर-पट विधान

'परं मृत्यो' इत्यादि मन्त्रसे आहुतिके समयमें जो वर-वधूके मध्यमें वा आगे वस्त्रका आवरण दिया जाता है उसका अभिप्राय

यह है कि वह आहुति मृत्युको दी जाती है। मेरी वधू अकालमें अपनी वा मेरी मृत्युको आगे न देखे। इसी कारण अन्तर-पट दिया जाता है।

फिर सप्तपदी करके पतिकी प्रिया बनकर—पतिका हृदय बनकर वह उसके वामाङ्गमें हो जाती है। पुरुषका हृदय उसका प्रिय तथा वाम अङ्गमें हुआ करता है—ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं।

<u>सप्तपदी</u>—सप्तपदीमें पति अपनी पत्नीको अपने पीछे सात पग चलवाता है। सतां साप्तपदं सख्यम्' इस शास्त्रोक्तिसे सात पग इकट्ठा चलनेपर सत्पुरुषोंमें मैत्री मानी जाती है। सप्तपदीमें सात बातें बताई गई हैं। इससे लोक-व्यवहारकी तथा दाम्पत्यकी पूर्णता होती है। इसमें पहली वस्तु है अन्न। धनके बिना जीवन चल जाता है, पर अन्नके बिना नहीं चलता। पश्चिमी बंगालमें जब अकाल पड़ा था—और बहुत भारी रकम खर्च करके भी अन्न नहीं मिलता था—उसमें जनता की कितनी दुर्दशा हुई थी। वेश्याओंको अपनी लड़कियां देकर उनसे अन्न लिया जाता था। अतः सप्तपदीमें पहले 'एकमिषे'में अन्नके संरक्षणार्थ स्त्रीकी प्राप्ति कही गई। दूसरेमें ऊर्ज् (शारीरिक-बल) मांगा गया। बलवीर्य-सम्पन्न व्यक्ति ही दाम्पत्यका निर्वाह कर सकते हैं। अपनेसे छोटी आयुकी स्त्री भी बलवर्धक मानी गई है। तीसरेमें रायस्पोष (धन-वस्त्र) मांगा गया। धन-वस्त्रादिके बिना गृहस्थ-जीवन सर्वथा नीरस और उद्वेगप्रद रहता है। अतः इसमें धन-वस्त्र प्रार्थित किया गया। चौथेमें मयोभुव (सुख) मांगा गया। सुख ही गृहस्थका प्राण है; यदि

उसमें सुख नहीं मिला; तो गृहस्थाश्रम निष्प्राण है—मुर्दा है। पांचवेंमें पशु (गाय आदि) मांगे गये। गृहस्थावस्थामें दूध-घी आदिके लिए गौ आवश्यक है ही। तभी गृहस्थी ठीक चल सकेगी। उसके दही आदि भी वहुत लाभप्रद हैं। उसकी देखरेख भी स्त्री ही ठीक कर सकती है। छठेमें ऋतुओंका सुख मांगा गया। शीतकाल एवं उष्णकालका सुख स्त्रीके द्वारा ही प्राप्त होता है। सातवेंमें पत्नीका सखित्व, अपना अनुव्रत-अनुसरण होना मांगा गया। वही अबसे आवश्यक है; अतः इसे उत्तरपक्षमें रखा गया। इन सातों साधनोंसे मिला हुआ ही पुरुष पूर्ण-गृहस्थ होता है—यह इससे सूचित किया गया है। पतिके वामाङ्गमें आकर इस प्रकार पत्नी उसकी पोष्या बनी एवं उसकी अधीनता स्वीकार की।

<u>ध्रुवदर्शन; सूर्यदर्शन आदि</u>—सूर्यका दर्शन वधूको इसलिए कराया जाता है कि वह भी सूर्यसे शक्ति प्राप्त करके १०० वर्ष तक जिये, क्योंकि सूर्य स्थावर-जङ्गमका आत्मा है। रात्रिको वा उस समय उसे जो ध्रुवदर्शन कराया जाता है उसमें रहस्य यह है कि उसे ध्रुवकी भांति स्थिरताका संकेत दिया जाता है। अन्य तारे सारी रातभर पूर्वसे पश्चिममें जाते हुए दीखते हैं; पश्चिममें जाकर अस्त हो जाते हैं; पर ध्रुव अपने ही स्थान पर उत्तरमें ठहरा रहता है; जरा भी नहीं विचलित होता है। यही बात स्त्रीको समझाई जाती है। तलाक देनेवाली, एक पतिको छोड़कर इतस्ततः गतागत करनेवाली चंचल-स्त्रियोंको इस ध्रुवसे शिक्षा लेनी

चाहिये कि वे अपने विवाहित उसी पतिमें अविचलित भावसे रहें। जहाज चलानेवाले भी ध्रुवके आश्रयसे ही अपने गन्तव्य वा लक्ष्य स्थलको प्राप्त होते हैं, मार्गभ्रष्ट नहीं होते। वैसे स्त्री भी ध्रुवको देखकर अपने एकपति-व्रतको स्वीकार करके मार्गसे भ्रष्ट न होवे, यही स्त्रीको ध्रुवदर्शन करानेका रहस्य है।

आगे सिन्दूरदान आदिसे स्त्रीका सौभाग्यवती होना बताया गया है। विधवाके माथेमें दुर्भगतावश सिन्दूरकी बिन्दी नहीं होती।

विवाह-संस्कार ही कन्याका उपनयनस्थानीय संस्कार है। इसमें पति उसका आचार्यस्थानीय होता है। पतिकुल उसका आचार्यकुल होता है, पतिकुलवास एवं पतिसेवा उसका आचार्य-कुलवासके साथ आचार्य-सेवन होता है। घरका काम-काज, पतिके यज्ञमें सहायता करना, उसमें उसके साथ बैठना—यही उसका अग्निहोत्र होता है। इस प्रकार विवाह ही उसका द्विजत्व-सम्पादक संस्कार है। इसी कारण जैसे आचार्य उपनयनमें शिष्यको सूर्य-दर्शन कराता है,—'मम व्रते ते हृदयं दधामि' ('मेरा जो व्रत है, उसमें तुम्हारे हृदयको लगाता हूँ।')—आदि मन्त्र पढ़कर शिष्यका हृदय-स्पर्श करता है, वैसे ही पति पत्नीका उसी मन्त्रसे हृदयालम्भनादि करता है। यह गृह्यसूत्रादिमें स्पष्ट है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रमें उपनयनमें आचार्य ब्रह्मचारीको—'या अकृन्तन्...आयुष्मन् इदं परिधत्स्व वासः' 'जरां गच्छ परिधत्स्व वासः' ('जिन्होंने काता'''आयुष्मन्! यह वस्त्र पहन लो।' 'यह वस्त्र धारण करो एवं वृद्धावस्थातक पहुँचो।')—

इत्यादि द्वारा वस्त्र-प्रदान करता है, वैसे ही विवाहमें भी वर उक्त मन्त्रसे वधूको वस्त्र-प्रदान करता है। उपनयनमें वहीं आचार्यद्वारा ब्रह्मचारीका सांगुष्ठ दक्षिणहस्त ग्रहण किया जाता है, वैसे विवाहमें वर भी पत्नीका सांगुष्ठ पाणिग्रहण करता है इत्यादि। अतः विवाह ही कन्याका द्विजत्व-सम्पादक उपनयनरूप है, इससे अलग कन्याका उपनयन-संस्कार नहीं होता।

यह दारपरिग्रह करना ही गृहाश्रम-संस्कार है, उसी विवाहाग्निको विधिपूर्वक कन्याके गृहसे मण्डपसे लाकर उस अग्निको पति अपने जीवनतक अपने घरमें रखता है। उसीमें अपने पञ्चमहायज्ञ आदि स्मार्तकर्म करता है, इसीको आवसथ्याधान वा स्मार्ताग्निपरिग्रह वा गृह्याग्नि, औपासनाग्नि वा वैवाहिकाग्नि कहा जाता है। इसीमें वैश्वदेव, नैत्यिक-होम आदि करना पड़ता है। पत्नीकी सहायतासे तथा उसको अपने साथ बैठाकर यह सब कर्तव्य करना पड़ता है। पत्नीको भी अभिन्न एवं सहायक होनेसे इसका फल मिलता है। पत्नीको सदा उस अग्निकी रक्षा करनी पड़ती है कि वह अग्नि बुझे नहीं, उसी अग्निसे पाक-क्रिया भी करनी पड़ती है। जैसे कि मनुस्मृतिमें कहा है—'वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि। पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही। (३।६७) ('गृहस्थ वैवाहिक अग्निमें विधिपूर्वक गृह्य-कर्म— अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञका अनुष्ठान और प्रतिदिनकी रसोई करे।') 'वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्। आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्। (३।८४) 'ब्राह्मण वैवाहिक अग्निमें

विधिपूर्वक तैयार किये हुए विश्वेदेवसम्बन्धी अन्नका इन देवताओं-केलिए प्रतिदिन होम करे।'

इसी अग्निमें पञ्चादिकर्म भी करने पड़ते हैं। इसीका दूसरा अङ्ग त्रेताग्निसंग्रह वा श्रौताधान वा वैज्ञानिक कर्म आदि हैं। इसमें दर्श, पौर्णमास आदि वैदिक-यज्ञ करने पड़ते हैं। पत्नीको यज्ञशालासे भिन्न देशान्तरमें जानेका निषेध है; तभी उसका 'गृहपत्नी' नाम सार्थक है। इस कार्यमें त्रुटि न पड़े, इसलिए यहाँपर बहुपत्नीविवाह भी संकेतित होता है; क्योंकि एक ही पत्नीके होनेपर उसके भिन्न स्थानमें जानेपर विवाहाग्नि नष्ट हो जाती है। फिर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनराधान करना पड़ता है; अथवा उसी एक पत्नीके रजस्वला होनेपर यज्ञमें उपस्थिति सम्भव न होनेसे यज्ञ अपत्नीक होनेके कारण अप्रशस्त हो जाता है; उस समय अन्य पत्नी उसका कार्यनिर्वाह कर देती है। यदि एक-पत्नीव्रत ही इष्ट हो तो सुवर्णमय सीता की तरह कुशकी स्त्री, वा स्त्रीका ग्रन्थिबन्धनवाला वस्त्र ही उसका प्रतिनिधि मान लेना पड़ता है। पर उस पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर उसी अग्निसे उसका दाह करके वह अग्नि समाप्त कर दी जाती है, फिर अन्य अग्निके आधानकरणार्थ अन्य विवाह करना पड़ता है। यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो उस अग्निसे पतिका संस्कार कर दिया जाता है। पत्नीका स्वतन्त्र अग्न्याधान न होनेसे वह न फिर नूतन अग्न्याधान कर सकती है, न विवाह। वह वैधव्य उसका संन्यास-स्थानीय होता है। संन्यासी भी अनग्नि (अग्नि-रहित) होता है।

यदि पति अपनी पत्नीकी मृत्यु हो जाने पर अन्य आधान तथा अन्य विवाह न करना चाहे तो वह गृहस्थ-आश्रममें रह नहीं सकता। अग्नि न होनेसे वानप्रस्थमें भी नहीं रह सकता। उसे संन्यासमें चला जाना चाहिये। नहीं तो—'एवं-वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्। दाहयेदग्निहोत्रेण (श्रौतस्मार्ताग्निभिः) यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्। भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि। पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च। (मनु० ५।१६७-१६८) ("धर्मज्ञ द्विज ऐसे आचारवाली अपनी सजातीय पत्नीकी अपनेसे पहले मृत्यु होनेपर अग्निहोत्रकी अग्नि तथा यज्ञपात्रोंद्वारा उसका दाह-संस्कार करे। पहले मरी हुई पत्नीको अन्त्येष्टिकर्मके समय आग देकर गृहस्थ मनुष्य पुनः पत्नी-परिग्रह और अग्निस्थापन करे।' इस प्रकार पुनर्विवाह कर यज्ञादि धर्म-कर्ममें संलग्न रहे, केवल कामसे नहीं।

इस प्रकार अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य करते रहनेसे—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु० २।२८) ("पञ्च महा-यज्ञों तथा ज्योतिष्टोमादि-यज्ञों द्वारा यह शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है।') ब्राह्मी गति (मुक्ति) प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यज्ञोंसे वृष्टि आदि होनेपर अन्नकी समृद्धि होनेसे देशका तथा अपना उपकार होजाता है। अङ्गरूप देवपूजासे अङ्गी महान् देवकी पूजा भी हो जाती है। गृहाश्रम २५ वर्षसे लेकर ५० वर्ष तक अवलम्बन करना पड़ता है। ब्रह्मचर्यमें संहिताओंका अध्ययन करना पड़ता है; आचार्यकी अग्निमें केवल समिदाधान करना पड़ता है, गृहस्थ

में वेदके ब्राह्मण-भागका अभ्यास तथा तत्प्रोक्त अनुष्ठान, संहिताहोम आदि करना पड़ता है। इसमें यथासमय पूर्वोक्त गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कार द्वारा सन्तानकी प्राप्ति करके उनका पालन-पोषण, लड़केका यथासमय आचार्य-कुलमें प्रेषण तथा लड़कियोंका रजःकालसे पूर्वतक पोषण, संरक्षण, गृहकार्यशिक्षण तथा यथासमय उनका विवाह कर देना पड़ता है। यहाँ तक १६ संस्कारोंकी विधि पं० श्रीभीमसेनजी-इटावाप्रणीत 'षोडश-संस्कार-विधि'में देख लेनी चाहिये।

असवर्णाविवाह निषेध—सवर्णाविवाहकी व्यवस्थाके प्रश्नको आजके आलोचक वेदशास्त्रोंके प्रमाणोंसे नहीं मानते; वैज्ञानिक अन्वेषणाओं अनुसन्धानोंसे कदाचित् मान जायँ। उसमें असवर्णाविवाहके निषेधके विषयमें वेदादि-शास्त्रोंके प्रमाणोंसे उपनिबद्ध निबन्ध अन्य पुष्पोंमें प्रकाशित होगा। यहांपर उसके विषयमें विज्ञानके नवीनानुसन्धानको रखते हैं।

शिकागो नगरके डाक्टर इब्राहीम जगत्के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। अमेरिकाके 'न्यूसाइन्स भूफिटिङ्ग' नामक पत्रमें उनके लेख प्रकाशित हुआ करते हैं। उन्होंने सवर्णा-असवर्णाविवाहकी व्यवस्थाके विषयमें पर्याप्त विचार किया। २५ साल प्राणियोंकी रक्तपरीक्षाके बाद उन्होंने अद्भुत बातोंके ज्ञापक यन्त्र बनाये। रक्तकी प्रथम परीक्षासे उन्होंने अनुसन्धान किया कि—काम, क्रोध, लोभ, मोहकी अवस्थामें भी इनका परिवर्तन हो जाता है। उससे मनुष्यका विषयीपन, क्रोधीपन, अथवा ईर्ष्या-द्वेष पहिचाना जाता

है। कभी किसीके रुधिरमें लवणका परिमाण अधिक होता है; किसीके रक्तमें कम। इससे मानुषिक प्रेमकी परीक्षा ठीक-ठीक हो सकती है।

दूसरी परीक्षा रक्तके मिश्रणसे होती है। उक्त वैज्ञानिकने 'आसीलोखोट' नामक यन्त्रका आविष्कार किया है। अमेरिकाके न्यायालय इस यन्त्रका प्रयोग करते हैं। इस यन्त्रसे जाना जा सकता है कि अमुक पुरुष अपने पिताकी सन्तान है, या नहीं ? अथवा उसकी माताके व्यभिचारसे उसके रक्तमें संकर है क्या ? अर्थात् यह परीक्षा हो सकती है कि अमुक स्त्री सती है या व्यभिचारिणी ?

दूसरा यन्त्र है सीतापरीक्षा। विवाहसे पहले इस यन्त्रकी परीक्षा होती है। इस यन्त्रमें दो विभाग हैं; वे सदा कांपते रहते हैं। उनमेंसे एकमें पुरुषका रक्त, और दूसरेमें स्त्रीका रक्त रखकर परीक्षा की जाती है। रक्तवाले दोनों भाग जब आपसमें मिलते हैं; तो उसमें तीन प्रकारके परिणामका पता चलता है। (१) जब निकटतम सम्बन्धी स्त्री-पुरुषोंके रक्तको इसमें रखा जाता है; तो उनके मिश्रणके बाद उन रक्तोंका स्पन्दन शान्त हो जाता है। (२) सर्वथा असम्बद्ध स्त्री-पुरुषोंका रक्त जब रखा जाता है; तब उनकी गति तीव्र हो जाती है। (३) यदि समान जातिवाले स्त्री-पुरुष हों; परन्तु निकट-सम्बन्धी न हों; तो उनके रक्त-संयोग होने पर कांपते हुए वे विभाग जब मिलते हैं; तो दोनोंकी गति पूर्ववत् चालू रहती है, कुछ भी उनमें परिवर्तन नहीं होता।

इन परिणामोंका अभिप्राय डाक्टर महाशय यह बताते हैं कि जहां निकट-सम्बन्धमें विवाह हो; वहां पुत्र अथवा पौत्र, अथवा प्रपौत्रको भयानक रोग हो जायेंगे। दो-तीन पीढ़ियोंके बाद उस वंशका उच्छेद हो जावेगा। (हमारे पूर्वजोंने भी इसीलिए प्राचीन-कालसे इसका निषेध कर रखा था—'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने' (मनु० ३।५) यहां माताकी छः-सात पीढ़ियां, तथा पिताके गोत्रवाली लड़कीके साथ विवाह निषिद्ध किया है। जहां सर्वथा भिन्न वर्णके स्त्री-पुरुषोंका विवाह होगा; वहां कुछ समयके बाद रक्त अपवित्र-विकृत हो जायगा। माता-पितामें जो नीच होगा, उसके कारणसे सन्तान नीच होगी। सन्तानमें उससे भी अधिक दोष होंगे। (इसीलिए कदाचित् स्मृतियोंमें वैसी सन्ततियोंका बहिष्कार प्रायः देखा गया है)। उक्त डाक्टरने इन बातोंसे यह सिद्धान्त प्राप्त किया था कि विवाहार्थ समान जातिवाले स्त्री-पुरुष होवें; पर वे निकट-सम्बन्धके न हों, वही उचित विवाह है। परन्तु हमारे धर्मशास्त्रोंने तो लाखों वर्षोंसे पहले ही सपिण्ड-सगोत्र-विवाहका निषेध कर रखा है।

(१४) वानप्रस्थ वा वनवासका रहस्य

गृहाश्रमके बाद ५१ वर्षसे ७५ वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम-संस्कार करना पड़ता है। इसमें घरका भार आचार्य-कुलसे लौटे हुए प्रथम पुत्र पर डालकर पत्नीके साथ अपनी गृह्य-अग्निको लेकर वनमें निवास करना पड़ता है, जिससे संन्यासकी योग्यता प्राप्त हो सके। यह एक शान्त-जीवन होता है। इसमें शहरसे दूर रहकर

परलोक-लाभार्थ धर्म-कर्ममें संलग्न रहे। घरकी चिन्ता तथा गृहस्थके धन्धोंसे मुक्त हो जाय। इसमें मुख्यतया आरण्यकोंका स्वाध्याय करना पड़ता है, तपस्या तथा विविध व्रत आदि करने पड़ते हैं। संसारसे सम्बन्ध धीरे-धीरे हटाकर मुनिवृत्ति अवलम्बन करनी पड़ती है। यज्ञ यहाँ भी करने चाहिएँ। यहाँ मुख्यतया निष्काम कर्म करने पड़ते हैं। पचास वर्ष तक पूर्ण अनुभव हो जानेसे मुनि लोग धर्म-प्रचारार्थ इन पच्चीस वर्षोंमें ५१से ७५ तक वेदार्थ-व्याख्यानरूप ग्रन्थरचना भी करते थे, समाधिसे प्राप्त ज्ञान उनका सहायक होता था। उनको अन्नादिसे उदर-पूर्तिकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी; देश उनको इस चिन्तासे मुक्त कर देता था। तब वे नये-नये अनुसंधान तथा आविष्कार करके लोक-हिताधायक नियमोंका प्रचार करके उनको ग्रन्थ-बद्ध करते थे। नास्तिक वा सनातनधर्म-द्वेषी लोगोंके तर्कोंका प्रत्युत्तर दार्शनिक-ग्रन्थ रूपमें निबद्ध कर देते थे। यही वानप्रस्थाश्रमका रहस्य है।

(१५) परिव्रज्या वा संन्यासका रहस्य।

इसमें पूर्व सर्व कर्मोंका संन्यास (त्याग) करना पड़ता है। इसमें अग्निका भी त्याग करना पड़ता है, अग्नि लिवानेवाली स्त्रीको भी छोड़ना पड़ता है; क्योंकि स्त्री धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका साधन है, चतुर्थ मोक्षका नहीं। मोक्ष-पथमें तो वह—'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ'—('संसार-सागरमें डूबनेवालोंकेलिए यह स्त्री गलेमें बाँधी हुई शिलाके समान है। रोड़ा-रूप है।') उसे अपने पुत्रोंके सहारे छोड़

दिया जाता है। इसमें पुत्रादि-सबसे अपना सम्बन्ध सर्वथा छोड़कर सदाचारी, दम्भरहित, निश्चल होकर मुमुक्षुत्वका अवलम्बन करना पड़ता है। साथ ही ग्राम-ग्राममें घूमकर उपदेश आदिसे जनोपकार भी किया जाता है; वह सांसारिक अव्यवस्था तथा अज्ञानको दूर करता है। संन्यासी पुरुष चलता-फिरता पुस्तकालय, चलता-फिरता ज्ञान होता है। सब सन्देहोंका निराकर्ता होता है। तब उसका भोजन-निर्वाह भी देशको ही करना पड़ता है। यह सदा देशमें शान्ति-व्यवस्था भी करता है, जनहिताधायक सब कार्य करता है।

इस आश्रममें ज्ञानका संचय करना पड़ता है। इसमें वित्तैषणा, लोकैषणा (यश), पुत्रैषणा आदि सभी एषणाओंका त्याग करना पड़ता है। इसमें तन, मन, धन अपने नहीं रहते। धनका तो वानप्रस्थके आश्रयण करते ही त्याग कर दिया जाता है; अब तन तथा मनको भी जनताकी भलाईमें लगा दिया जाता है। इसमें गेरुए रंगके वस्त्र पहनने पड़ते हैं। गेरू रंग नेत्रहितकारी; दाह, पित्त, कफ, रुधिरविकार, ज्वर, विष, विस्फोटक, अर्श, रक्त, पित्तको हरनेवाला होता है। रक्तसंशोधक होनेसे त्वग्-रोग नहीं होते।

इसमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तक सीमित शिखा तथा यज्ञोपवीत-सूत्र तथा यज्ञोंका भी त्याग करना पड़ता है। ७६ वर्षसे लेकर शेष जीवन तक इस संन्यासाश्रमको ही अवलम्बन करना पड़ता है। वानप्रस्थाश्रम तक पुरुषका स्त्री तथा परिवारसे कुछ

सम्बन्ध बना रहता है। 'यह मेरा है' 'यह तेरा है' ऐसा व्यवहार कुछ रहा करता है; परन्तु संन्यासमें 'तेरा-मेरा'-भाव तनिक भी शेष नहीं रहता। यहाँ तो संसारसे पूर्ण वैराग्य करना पड़ता है। किसीकेलिए मोह, शोक नहीं करना पड़ता। निःस्वार्थता, निष्कामता रखनी पड़ती है। इसमें तो न कोई लड़का है न लड़की; न स्त्री; न भाई; न जमाई, न बहिन; न मित्र, न शत्रु, न अपना, न पराया। यहाँ तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' करके उदारभाव अवलम्बन करना पड़ता है। संकुचितभाव न रहनेसे उसे मृत्यु-समय कोई चिन्ता नहीं होती। क्रमप्राप्त संहिताओंके ज्ञानकाण्डीय चार-सहस्र मन्त्रों एवं उपनिषदोंका इसमें मनन करके ज्ञानसंचय करना पड़ता है। इसमें भिक्षासे अपना निर्वाह किया जाता है। अधिक दिनों तक एक स्थानमें स्थिति नहीं की जाती।

मृत्यु हो जाने पर—अग्नि-त्याग हो जाने पर संन्यासीका दाह भी नहीं होता, किन्तु भूमिखनन वा जलप्रवाह ही हुआ करता है। कई विद्वान् ऐसा व्यवहार परमहंसकोटिवाले संन्यासियोंका ही मानते हैं; आदिम कोटिवाले संन्यासियोंका वे यज्ञ-त्याग वा अनग्नित्व स्वीकार नहीं करते; किन्तु उनका निष्काम-यज्ञ स्वीकार करते हैं और उसी यज्ञाग्निसे उसका दाह मानते हैं। संन्यासमें ब्राह्मणोंका अधिकार होता है, कइयोंके मतमें समस्त द्विजोंका; पर शूद्र इसका सर्वथा अधिकारी नहीं। स्त्री भी नहीं। पर स्त्री-शूद्रोंका त्यागवृत्ति रूप अवैध-संन्यास कहीं-कहीं 'संन्यास' शब्दसे वर्णित मिल जाता है।

यद्यपि 'कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इत्यादि वचनोंसे कई हानियोंका विचार करके संन्यासको कलिवर्जित किया गया है तथापि—'यावद् वर्णविभागोऽस्ति यावद् वेदः प्रवर्तते। संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे।' (कलिमें जब तक वर्णोंका विभाग है और जब तक वेदकी प्रवृत्ति है, तब तक कलियुगमें अग्निहोत्र और संन्यास अपने अधिकारके अनुसार करे। इस पूर्ववचनके अपवादभूत देवल-वचनसे वह भी अपवाद-रूपसे कर्तव्य है।

(१६) पितृमेध वा अन्त्यकर्म

यह संस्कार पितृमेध, अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि वा श्मशान आदि नामसे प्रसिद्ध है। आश्वलायन गृह्यसूत्रादिमें इसका वर्णन है। कई गृह्यसूत्रोंमें इसका वर्णन नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि—पहले गृह्यसूत्रोंके 'पितृमेधसूत्र' पृथक् बने होते थे। जिनको संन्यास का अधिकार नहीं होता अथवा जिन्होंने कलियुगमें संन्यासका निषेध होनेसे वा अब्राह्मणताके कारण संन्यासमें अधिकार न होने से वा ब्राह्मण होने पर भी अपनी वैसी योग्यता न देखकर संन्यासको स्वीकार नहीं किया, उनकी मृत्युमें अपनी गृह्याग्निसे दाह होता है। उस पुरुषके पुत्र, सम्बन्धी आदि उसकी गृह्याग्निको उसके यज्ञपात्रसहित श्मशानमें लाकर उसमें गृह्यसूत्रोक्त विधिसे अन्त्येष्टिकी आहुतियां देकर उसके उन सभी यज्ञपात्रोंको आश्वलायन आदिके अनुसार मृतकके अङ्गोंपर रखकर फिर उस अग्निसे मृतकका दाहमात्र कर देते हैं।

फिर उसकी उदकक्रिया—तर्पण आदि करके यथासमय

शास्त्रानुसार अस्थिसंचयन, नित्यक्रिया, दशगात्रादि-कर्म, एकोद्दिष्ट, सपिण्डन, धर्मशान्ति तथा श्राद्धादि पितृकर्म मृतकके आत्माकी सद्गतिकेलिए करने पड़ते हैं। ब्राह्मणोंको यह क्रिया ११ वें १२वें दिन तथा शुद्धि बारहवें दिन करनी चाहिये। स्त्रीकेलिए यज्ञोपवीत विधान न होनेपर भी—'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते' (मनु० २।१७१) इस वचनके अनुसार मृतक-कर्म-सम्बन्धी मन्त्रोंका उच्चारण निषिद्ध नहीं है, अतः पुत्रादि न होने पर स्त्री भी पतिकी अन्त्येष्टि कर सकती है। उक्त पद्यका अर्थ आर्यसमाजके विद्वान् श्रीतुलसीराम-स्वामीजीने यही किया है—'उसकी मौञ्जीबन्धनसे पूर्व कोई श्रौतस्मार्त आदि क्रिया ठीक नहीं है। मौञ्जीबन्धन (उपनयन) से पूर्व वेदका उच्चारण न करावे, परन्तु मृतक-संस्कारमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण वर्जित नहीं है।' इधर विवाहिता होनेसे तथा द्विज-वंशीया होनेसे द्विजा होनेके कारण पतिसद्गतिकारक स्वनियमित कर्मविशेष वह पुरोहितादिकी सहायतासे कर सकती है। अस्तु।

क्षत्रियोंको पितृसंस्कारसम्बन्धी सपिण्डनादि कर्म १२ वें १३ वें दिन तथा शुद्धि १३ वें दिन करनी चाहिये। वैश्यको उक्त कर्म १४ वें १५ वें दिन और शुद्धि भी १५ वें दिन करनी चाहिये। कहीं-कहीं सभी द्विजोंकेलिए १२ वें दिनकी प्रथा है।

यह पितृमेध-संस्कार भी आवश्यक है। पुरुषका आदिम संस्कार होता है 'जातकर्म'; यह उसके जन्मके समय किया जाता है। जन्मकी समाप्ति मरणमें होती है; तब मृतक-संस्कार भी

आवश्यक है। जैसे प्रस्तावमें उपक्रम, फिर मध्य, अन्तमें उपसंहार भी अनिवार्य हुआ करता है; तभी उसकी पूर्णता मानी जाती है; वैसे ही संस्कारोंमें यदि आदिम 'जातकर्म' है, तब संस्कारोंमें अन्तिम 'मृतककर्म' या 'अन्त्यकर्म' ही स्वाभाविक है। अतः यह संस्कार प्रयोजनीय है, पर मृतकके अङ्गों पर हवन कर्तव्य नहीं। किन्तु उस मृतककी वैवाहिक अग्निमें अन्त्येष्टि करके उसी अग्नि से मृतकका दाह कर लेना चाहिये। 'दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्' (५।१६७)।

इस मनुपद्यसे मृतकपर 'अग्निहोत्र' शब्दसे 'हवन' इष्ट नहीं, यहां पर 'अग्निहोत्र' का अर्थ 'अग्निहोत्र' की अग्नि ही है, हवन करना नहीं; जैसे कि श्रीकुल्लूकभट्टादिने भी लिखा है—'अग्निहोत्रेण श्रौतस्मार्ताऽग्निभिः।' इसी कारण अग्रिम पद्यमें—'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि' (५।१६८)। यहां मृतकको अन्त्यकर्ममें अग्नि देना कहा है, हवन करना नहीं। 'अग्निहोत्र' शब्द यहां 'अग्निवाचक' है, इसमें प्रमाण—'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्' (मनु० ६।४) यह पद्य है। यहां पर वानप्रस्थाश्रममें अग्निहोत्र अर्थात् अग्निहोत्रकी अग्नि ही ले जाना इष्ट है, हवन नहीं। हवन कैसे ले जाया जा सकता है? अतः इसका श्रीकुल्लूकभट्टादिने 'श्रौताग्निम् आवसथ्याग्निम्' यही अर्थ किया है। यही मृतकका जीवनावस्थामें रक्खी हुई यज्ञाग्निसे दाह ही पितृ-(मृत)-मेध हुआ करता है। यहाँ पर वह मृतक ही उस अग्निकी आहुति बनता है; मृतक पर आहुति नहीं करनी पड़ती।

इस प्रकार वैध संस्कारसे मृतकके आत्माकी परलोकमें सद्गति हुआ करती है।

संन्यासीकी वैवाहिक अग्नि तो होती नहीं; अतः उसका उससे संस्कार भी नहीं होता; तब उसकी भूमिमें समाधि वा जलसमाधि ही उसका पितृमेध हुआ करता है। पहलेसे ही उसके जीवन्मुक्त होनेसे उसका सद्गतिदायक पितृकर्म कर्तव्य नहीं रहता; पितृकोटि से ऊँची गति प्राप्त करनेके कारण उसके सपिण्डनादि भी नहीं करने पड़ते। शेष रही विधवा-स्त्री, यद्यपि उसकी स्वतन्त्र अग्नि तो होती नहीं, पर मृतक पतिका पतित्व तो उसमें—'प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि, अस्थिभिरस्थीनि, मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचम्' (पारस्करगृह्य० १।११।५)—अस्थि-त्वचाकी स्थिति तक रहता ही है। इसीसे वह द्विज भी रहती है; अतः मृत्यु होनेपर उसका भी अग्निसंस्कार कर्तव्य हो जाता है। उसके पतिकी अन्तर्हित अग्निको पुनः प्रकट करके उसका दाह-संस्कार ठीक ही है।

शेष रहे शूद्र, उनके कई अमन्त्रक संस्कार माने जाते हैं; अतः यहाँ उनका अमन्त्रक दाहमात्र हो जाना चाहिए। शेष रहे चातुर्वर्ण्यसे भिन्न अन्त्यज तथा अवर्ण आदि; तथा दो वर्षसे कमके बच्चे आदि; सो उनके असंस्कृत वा संस्कारानर्ह होनेसे भूमिखनन वा जलप्रवाह ही शास्त्रसम्मत तथा युक्तिसङ्गत है—'नास्य कार्यो-ऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।' (मनु० ५।६६) इनका अग्नि-दाह-संस्कार या जलाञ्जलिदान न करे।

परन्तु आजकल हिन्दु-मुसलमानका प्रश्न सामने होनेसे अब

हिन्दुत्वका चिह्न शिखा और दाह मान लिया गया है; अतः अन्त्यजों आदिका भी असंस्कृत अग्निसे दाहमात्र ही कर देना पड़ता है, अन्य कोई क्रिया नहीं। एक तो अग्निदाहसे रोगोंके फैलनेका डर नहीं रहता, दूसरा पृथिवी नहीं रुकती; हजारों मुर्दे एक स्थान पर जल जाते हैं, कृषि-कर्म तथा नगरोंकी आबादीको कोई बाधा नहीं पड़ती। श्मशानको शहरसे बाहर ही होना चाहिए, जिससे कि मुर्देके परमाणु हानि न पहुँचायें।

'भस्मान्तꣳ शरीरम्' (यजुः ४०।१५) शरीरकी भस्मान्त गति कही गई है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें शवके बाल काट देना भी लिखा है। इसका यह भाव हो सकता है कि बालोंके जलनेसे अशुद्ध वायु फैलती है। उन बालोंको काटकर श्मशानमें वहीं दबा देना पड़ता है। मृतकके पुत्रादिका मुण्डन क्रियामें अधिकारार्थ है, क्योंकि क्रियामें बाल अशुद्ध (अमेध्य) माने जाते हैं; इसके अतिरिक्त उस समय ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है। अतः उस समय बालोंका मुण्डन ठीक ही है, इसीलिए यज्ञोपवीतके समय भी ब्रह्मचर्यके आश्रयणीय होनेसे उसमें भी मुण्डन कराना पड़ता है। तीर्थमें भी इसीलिए मुण्डन कराना पड़ता है। विधवाको भी एतदर्थ ही मुण्डित-सिर रहना पड़ता है। आर्यसमाजके म० म० पं० आर्यमुनिजीने यागमें सिरके बाल मुडानेका समर्थन करनेकेलिए अपने मीमांसार्यभाष्य (३।८।४)में—'मृता वा एषा त्वग् अमेध्या यत् केशश्मश्रु, मृतामेव त्वचममेध्यामपहत्य यज्ञियो भूत्वा मेधमुपैति।' ('निश्चय ही यह मरी हुई और अपवित्र त्वचा है

जोकि सिर और दाढ़ी-मूँछके वालोंके रूपमें है। उस मरी हुई एवं अपवित्र त्वचाको काटकर यज्ञानुष्ठानके योग्य होकर मनुष्य यज्ञको प्राप्त होता है।') 'यह श्रुति उद्धृत की है—जिससे उक्त बातकी पुष्टि होती है। इस प्रकार (४।३।१) मीमांसासूत्रमें—

'केशश्मश्रू वपते, दतो धावते'''मृता वै एषा त्वग्, अमेध्यं वा अस्य एतद् आत्मनि शमलम्, तदेव उपहते। मेध्य एव मेधमेव-मुपैति।' ('केश और दाढ़ी-मूँछके बाल कटाता है, दाँत धोता है, यह मरी हुई त्वचा है। यह बाल अपने शरीरमें अपवित्र मल है। उसके कट जाने पर पवित्र होकर ही मनुष्य यज्ञको प्राप्त होता है।') इस शावरभाष्यमें भी यह स्पष्ट किया है। उक्त श्रुति तैत्तिरीयसंहिता (१।१।२)में आती है। यह और्ध्वदैहिक क्रियाके समयमें मेध्यतार्थ मृतकके उत्तराधिकारीके शिरोमुण्डनका रहस्य है। यह मुण्डन निर्मूल भी नहीं है। बोधायनीय पितृमेधसूत्रमें है कहा—

'एतस्मिन् काले अस्य [प्रेतस्य] अमात्याः [सहचारिणः पुत्रादयः] केशश्मश्रूणि वापयन्ते (मुण्डयन्ति), ये संनिधाने भवन्ति।' (१।१२।७) ('इस समय इस मृतकके अमात्य सहचारी पुत्र आदि, जो उसके निकट होते हैं, सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ मुँड़वाते हैं।')

इसी प्रकार 'आग्निवेश्यगृह्यसूत्र' (३।६।२)में भी कहा है—'श्रुतवता तु वप्तव्यमेव असंनिधानेऽपि' (बोधा० पितृ० १।१२।८) ('जिसने पितादिकी मृत्युका समाचार सुन लिया हो, उसे दूर होने

पर भी मुण्डन करवाना ही चाहिए।') पितृमेधशेषसूत्रमें भी कहा है—'पुत्रस्तु अकृतचौलोऽपि मातरं पितरं वा दग्ध्वा चौलवत् तूष्णीं वपनम्' (१।१०) ('पुत्रका चूड़ाकरण-संस्कार न हुआ हो तो भी माता अथवा पिताका दाह करके चूडाकरण-संस्कारकी ही भांति विना मन्त्रके सिरका बाल मुंडा दे।') 'नास्य केशान् प्रवपन्ति (मुण्डयन्ति) नोरसि ताडमाघ्नते।' (१६।३२।१) ('उसकेलिए केश नहीं कटवाते और छाती भी नहीं पीटते।') अथर्ववेदसंहिताके इस मन्त्रके अनुसार पिता आदिकी मृत्यु होने पर छाती पीटना और केशोंका मुण्डन कराना सूचित होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्रके 'घ' पुस्तकमें भी कहा है—

'ब्राह्मणश्च एतस्मिन् काले [मरणे] अमात्यान् केशश्मश्रूणि वा वापयते।' (२।१५।११) ('ब्राह्मण इस अवसर पर मृतकके पुत्र आदिका मुण्डन करवाता है।') 'प्रयागे तीर्थयात्रायां मातापितृ-वियोगतः। कचानां वपनं कुर्यात्...।' ('तीर्थयात्राके प्रसंगसे यदि माता-पिताकी प्रयागमें मृत्यु हो जाय तो पुत्र अपने केशोंका मुण्डन करवा दे।') इस भविष्यपुराणके वचनसे भी माता-पिताके मरणमें मुण्डन सूचित होता है।

जीवितको सोनेके समय सिर दक्षिणमें और पैर उत्तरमें करने पड़ते हैं। पर मृतकके सिरको उत्तरमें और पैरोंको दक्षिणमें करना पड़ता है। इसका भाव यह है कि उत्तरी ध्रुवमें विद्युत्-पुञ्ज रहता है; उत्तरकी ओर सिर रखनेसे वह विद्युत्-पुञ्ज शरीरकी विद्युत्को खींच लेता है, तब मृतकके शरीरका भी विद्युत्-पुञ्ज

उधर खिंच जाता है। पर यदि जीवितका विद्युत्-पुञ्ज उत्तरमें सिर रखनेसे खिंचता जावे, तो वह निर्बलताको प्राप्त होकर वृद्धावस्थामें विकृत-मस्तिष्क होकर पागल हो जाता है।

इस प्रकार यह सोलह संस्कार विवृत कर दिये गये हैं। जो महोदय अन्त्येष्टिको संस्कारोंमें परिगणित नहीं करते, वे उपनयन और वेदारम्भको पृथक्-पृथक् संस्कार गिन लेते हैं। तब भी संस्कारोंकी १६ संख्या पूर्ण हो जाती है। जो केशान्तको भी पृथक् संस्कार नहीं गिनते, वे विवाह और श्रौतस्मार्ताग्निपरिग्रहको पृथक्-पृथक् संस्कार गिन लेते हैं, तब भी संस्कारोंकी १६ संख्या पूर्ण हो जाती है। हमने उपनयन और वेदारम्भके परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध होनेसे इसी प्रकार विवाह और अग्निपरिग्रहके भी अनिवार्य सम्बन्ध होनेसे इनको भिन्न-भिन्न संस्कार न मानकर एक-एक ही संस्कार माना है। श्रीमनुजीके आशयसे हमने वानप्रस्थ, संन्यास तथा पितृकर्म—इनको भी संस्कारोंमें रक्खा है। इस विषयमें उपपत्तियाँ भी दी हैं।

यह संस्कार जहाँ शास्त्रीय हैं, वहाँ रहस्यपूर्ण भी हैं। सनातनधर्मके स्तम्भ हैं। हिंदुके हिन्दुत्वको स्थिर कर देनेवाले हैं। खेद है—आजकल विवाहके अतिरिक्त कोई संस्कार भी यथाविधि सम्पन्न नहीं होता, तब हिन्दुओंमें हिन्दुत्वकी निष्ठा भी भला कैसे रहे? प्रसिद्ध है—'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।' नये पात्रपर (नूतन बालकके मनपर) पड़ा हुआ संस्कार कभी बदल नहीं सकता।

जब नये पात्रपर लगा संस्कार भी अन्यथाभावको प्राप्त नहीं करता, तब विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणादिक्रिया-द्वारा हुआ गर्भका एवं नवीन-पात्र बालकका संस्कार भला अन्यथाभावको कैसे प्राप्त हो सकता है? वेदमन्त्रोंका शब्दमें ही विशेष गौरव माना जाता है। अर्थमें लौकिक गौरव भले ही हो; पर अलौकिक गौरव शब्दमें ही होता है। इसलिए वेदमन्त्रोंके अनुवादद्वारा संस्कार-कार्य न कराकर अधिकारियोंके वेदमन्त्रोंके शब्दोच्चारणद्वारा ही संस्कार-कर्म होते हैं। इन सस्वर पठित मन्त्रोंका संस्कार उस नवपात्र पर पड़ता है, इससे वह अपने धर्ममें स्थिर रहता है, विधर्मियोंमें सम्मिलित होकर उनकी संख्या बढ़ानेवाला नहीं होता। अपने धर्ममें निष्ठावान् रहता है, उसें कुतर्क उससे च्युत नहीं कर सकते। अतः हिंदुओंका कर्तव्य है कि वे यथाधिकार इन संस्कारोंको सम्पन्न करें और उनके रहस्योंका प्रचार एवं प्रसार करके ऐहिक-यश तथा पारलौकिक-पुण्यके भागी बनें।

सोलह संस्कारोंके विज्ञानका संक्षिप्त वर्णन हम कर चुके; अब हिन्दुधर्मके आचार-विचारोंका जो प्रातःसे लेकर रात्रि तक प्रतिदिन अवलम्बित किये जाते हैं, वा कहे जाते हैं;—उनका संक्षिप्त वर्णन एवं उनका वैज्ञानिक रहस्य 'आलोक' पाठकोंकी सेवामें उपहृत किया जाता है; आशा है—वे मनोयोगसे इधर दृक्पात करेंगे।

(८) हिन्दुधर्मके आचार-विचारोंका वैज्ञानिक रहस्य।

'मनुस्मृति'में असामयिक मृत्युके कारणोंमें 'आचारस्य च वर्जनात्' (५।४) आचारका छोड़ना भी एक कारण गिना गया है; तब हम लोगोंके अल्पायुष्ट्वमें एक कारण अपने आचार-विचारोंका छोड़ देना भी है। इस अर्थापत्तिसे सिद्ध होता है कि आचारका पालन एवम् आचार-शुद्धि रखनेसे पुरुषकी पूर्णायु होती है। जैसे कि—आयुर्वेदके कई नियमोंके अतिक्रमणसे पुरुष उसी दिन मर नहीं जाता; किन्तु उससे होनेवाली वह हानि उसके अन्दर संचित हो जाती है, क्रमशः निर्वलता बढ़ने पर वह सब हानियाँ संचित होकर रोगको प्रकट करके नियमातिक्रमणकर्ताको खाट पर सुला देती हैं; वैसे ही धार्मिक नियमोंका अतिक्रमण करनेसे भी पूर्ण आयुमें उतनी न्यूनता पड़ जाती है, पुरुष उससे अल्पायु हो जाता है। इससे आचारोंका अदृष्टमें जहाँ पारलौकिक फल-लाभ है, वहाँ दृष्टमें ऐहिक फलका लाभ भी हुआ करता है। अदृष्टफलका प्रतिपादन अध्यात्मविद्याके अधीन है। अध्यात्मविद्या हीं प्राकृतिक अथवा शास्त्रीय नियमोंका निदान बताती है कि—ऐसा 'क्यों' है? फिर विज्ञान उन प्राकृतिक वा शास्त्रीय नियमोंका यह 'कैसे' है—यह प्रयोजन बताता है।

आचारोंका आयु-जनक होनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध स्वतः-सिद्ध है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'के अनुसार धर्मके आदिम साधन शरीर के रक्षक होनेसे मनुस्मृतिमें 'आचारः परमो धर्मः'

(१।१०८) आचारको-परम धर्म कहा है। 'आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेद-फलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्' (१।१०९) यहाँ पर आचारसे हीनके वेद-ज्ञानकी भी निष्फलता बताकर आचारका माहात्म्य कहा गया है। हिन्दुधर्म सनातनधर्मने जो आचार नियमित किये हैं, आजकी जनता उसमें 'क्यों' और 'कैसे' जानना चाहती है। हम इसमें प्राचीन एवम् अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंको आधारीभूत करके उन आचारोंके रहस्य बतावेंगे। इन पर चलनेसे जनताको ठोकरें न लगेंगी और लक्ष्य अनायास प्राप्त हो जाएगा। इतना याद रखना चाहिये कि—इन आचारोंका भी अदृष्टमें ही लाभ है; अतः यह नित्यकर्म हैं; हाँ, इनके दृष्टफल भी दीखते हैं; अतः हम उनका निरूपण करते हैं; पर मुख्य उद्देश्य इनका भी अदृष्टमें धर्मसंचय करना ही है। अतः जो उन दृष्ट प्रयोजनोंको न भी चाहता हो; उसे भी इन आचारोंको छोड़ नहीं देना चाहिए, किन्तु यह हमारे आभ्युदयिक तथा निःश्रेयसधर्मके मूलभूत होनेसे इन आचारोंका पालन नित्यकर्मरूपसे अवश्य ही करना चाहिए।

आज सनातनधर्मके प्रत्येक आचारपर समालोचनाका कोलाहल सुन पड़ता है। आज शिखा रखना शिरमें भार रखना माना जाता है। यज्ञोपवीतका प्रयोजन पूछा जाता है। लंगोट वा लांगका बांधना क्यों? विवाह अपने निकट-सम्बन्धियोंमें ही क्यों न हो? शूद्र ब्राह्मणोंके साथ और ब्राह्मण शूद्रोंके साथ विवाह क्यों न करें; दोनोंके ही दो हाथ और एक सिर हैं। प्रातः उठनेमें

नींदके हटनेसे स्वास्थ्य बिगड़नेकी आशंका रहती है। सर्दीमें प्रातः स्नान करना निमोनियाको न्योता देना है। सन्ध्या करना परमात्माकी चापलूसी करना है; क्या परमात्मा टोडी-बच्चा है? जप करनेसे क्या लाभ है? ऊँचे स्वरसे मन्त्रोच्चारणसे मेंडकोंकी तरह टर्र-टर्र क्यों किया जाता है? बाहर अपनी भक्तिका परिचय देना एक पाखण्ड है। क्या ईश्वरकी भक्ति मनमें नहीं हो सकती? व्यर्थ कण्ठको दुखाना क्यों? सूर्य-चन्द्रके ग्रहणमें अनशन क्यों किया जाता है? उत्तरकी ओर वा पश्चिमकी ओर मुख करके क्यों न सोया जावे? घरमें तुलसी-वृक्षका पूजन जडकी पूजा है। पीपलकी पूजा क्यों? शंखकी ध्वनि क्या हड्डीको छूना नहीं? खड़ाऊँ पहननेसे क्या लाभ? गायका दूध छानकर क्यों पीया जाता है? कुशासन वा मृगचर्म एवं व्याघ्रचर्मका आसन क्यों? रातमें सिरहाने जल क्यों रखा जाता है? बच्चोंके गलेमें रक्षा पहराने से क्या लाभ है? कुओंपर घीके दीपकको क्यों जलाना? यज्ञ-हवन करके मनुष्यका अन्न तथा घृत क्यों आगमें झोंका जाता है? पृथिवीपर लात मारनेका क्यों निषेध है? भोजनसे पहले ग्रास रखना वा अग्निमें डालना, वा काकबलि क्यों? शास्त्रोक्त दिनचर्या तथा रात्रिचर्या किस तात्पर्यको रखती है—एतदादि बहुतसे प्रश्न आज पूछे जाते हैं। प्रष्टा लोग इनके ऐहिक लाभ भी पूछना चाहते हैं। यद्यपि सनातनधर्ममें एतदादि नियम, व्रत एवं पर्व साक्षात् अदृष्ट-फलक तथा धर्मार्थ ही माने जाते हैं; तथापि उनके अवान्तर प्रयोजन रूप ऐहिक लाभ भी होते हैं; उनसे आत्मिक-शक्ति तथा

मानसिक-शक्ति एवं शारीरिक-शक्ति भी प्राप्त होती है।

संसारमें जैसे-जैसे विज्ञान-शक्तिकी वृद्धि होगी; वैसे-वैसे ही सनातनधर्मके सिद्धान्तों, नियमों, तथा व्रत-पर्वों आदिका महत्त्व भी बढ़ता चला जावेगा। वर्तमान शङ्काकर्ताओंका भी इनके विज्ञानके जाननेमें तात्पर्य हुआ करता है; अतः हम भी एतद्विषयक विज्ञानको इतस्ततः संकलित करके अपनी शैलीसे लिखेंगे।

पहले यह जानना चाहिए कि—प्राचीनकालमें भी विद्युद्-विज्ञान तथा योग-विज्ञानकी विशिष्ट उन्नति थी। महाबली रावणने दुर्जयशक्तिके द्वारा लक्ष्मणको निस्पन्द कर दिया था। यह प्राचीन-कालमें तडिद्-विज्ञानकी उन्नतिका प्रमाण है। बाणोंमें विद्युत्शक्ति डालनेकी क्रियाको आजके पाश्चात्य आविष्कारक भी अभी आविष्कृत नहीं कर सके। नागपाशशक्ति, सम्मोहनास्त्र आदि अद्भुतशक्तिसे मिले हुए अस्त्र भी जो पुराकालमें थे; उनमें तडिद्-विज्ञानकी उन्नति स्पष्ट अनुमित हो रही है। देवमन्दिरके ऊपर अष्टधातुके चक्रकी, अथवा त्रिशूल आदिके जोड़नेकी जो विधि आज भी प्रचलित है; यह भी विद्युद्-विज्ञानकी उन्नतिका चिह्न है; क्योंकि आजके विज्ञानकी दृष्टिसे भी यह प्रमाणित हो गया है कि—अष्टधातुका चक्र बिजलीके पतनको हटाता है। इसलिए देवमन्दिरके ऊपर उसे स्थापित किया जाता है।

इस प्रकार उत्तराभिमुख सिर न करके सोना, नये कच्चे फलकी ओर अंगुलि तक न उठाना, निम्नजातिसे छुए हुए अन्नको न खाना, चैलाजिन-कुश-कम्बलके आसनपर बैठकर उपासना

करना; सौभाग्यवती स्त्रियोंको सुवर्णके भूषणोंकी आज्ञा देना, विधवाको न देना—एतदादिक प्राचीन नियम प्राचीन युगमें विज्ञानकी उन्नतिको परिचायित करते हैं। आजके विज्ञानने भी प्रमाणित कर दिया है; कि—उत्तरकी ओर सिरकरके सोनेसे दुःस्वप्नोंकी सम्भावना होती है; क्योंकि—पृथिवीका स्वाभाविक विद्यु त्-प्रवाह दक्षिणसे उत्तराभिमुख चलता है, इस कारण वैसे सोनेसे रक्तकी गति पांवसे मस्तककी ओर अधिक रूपसे हो सकती है। इस प्रकार कच्चे फलकी ओर अंगुलि उठानेसे वह हमारी शारीरिक विद्यु त् द्वारा दूषित हो जाता है। इस प्रकार शूद्रमें तमोगुणकी अधिकतासे उससे छुआ-हुआ अन्न भी उसकी दूषित विद्युत् द्वारा दुष्ट होनेसे, श्रेष्ठ विद्यु त् वाले ब्राह्मणके शरीरमें अहितकारक सिद्ध होता है। पृथिवी सदा जीव-शरीरान्तर्गत विद्यु त्को आकर्षित करती रहती है।

उपासनाके समय मनुष्यके शरीरमें सात्त्विक विद्युद्-वृद्धि होती है, पर पृथिवी पर बैठकर उपासना करनेसे उस विद्युत्संग्रह की पृथिवी द्वारा नष्ट होनेकी आशंका रहती है; किन्तु चैलाजिन कुश-कम्बल तथा लकड़ीके फट्टे के व्यवधानसे पुरुषकी विद्यु त्-शक्तिको पृथिवी नहीं ले सकती, अतः वैसे आसन पर बैठकर सात्त्विक विद्युत् क्षीण नहीं होती।

सुवर्ण आदि धातुएँ विद्युत बढ़ानेवाली होती हैं। विद्युत-शक्ति के बढ़नेसे शारीरिक-इन्द्रियोंमें विशिष्ट स्फूर्ति हो जाती है। इन्द्रियोंमें विशिष्ट-स्फूर्ति होनेसे; तथा सुवर्णमें कीटाणुनाशिनी

शक्ति होनेसे स्त्रियाँ सुख-प्रसव करके सुसन्ततियोंको उत्पन्न कर सकती हैं। इसीलिए प्राचीन ऋषि-मुनियोंने स्त्रियोंको धातुरत्नादि-मय अलङ्कारोंको धारण करनेका आदेश दिया था। पर विधवा स्त्रियोंको उन्होंने वैसी आज्ञा नहीं दी। विद्युद्-विज्ञानपूर्ण इन आचारोंको सुनकर साधारण बुद्धिवाले भी व्यक्ति जान सकते हैं कि—प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस सूक्ष्म विज्ञानको कितनी उन्नत अवस्था तक पहुँचाया था। तब उन्हीं मुनियोंके बनाये प्राचीन सिद्धान्तोंमें उन मुनियोंने विविध विज्ञानोंको नहीं रखा था—ऐसा कहनेका कौन साहस कर सकता है? इस कारण इस विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक'के इस पञ्चम-पुष्पमें उन रहस्योंका वर्णन अनुचित नहीं होगा—यह सोचकर उसमें विज्ञानका यथाशक्ति विवरण किया जायगा।

तथापि यह याद रखनेकी बात है कि—पहले समयमें प्रायः इनके प्रयोजन वा लाभ नहीं बताये जाते थे; उसमें यह कारण है कि—पहले इन नियमोंमें धर्म जानकर इनका आचरण किया जाता था; तब वे उन लाभोंको भी प्राप्त कर लेते थे; पर आजकल पहले उनके लाभोंको पूछते हैं। फिर उन लाभोंको सुनते वा जानते हुए भी लोग उन नियमोंका उपयोग नहीं करते। जैसे—शंख आदि, तथा शिखा आदिके लाभोंको जानते हुए भी, सुनते हुए भी वे उनका उपयोग नहीं करते। उसमें धार्मिक अनिवार्यता न देखकर उसमें उपेक्षा कर जाते हैं। परिणामस्वरूप वे उन लाभोंसे भी वञ्चित रह जाते हैं। तब हमारे पूर्वजोंका इन

आचरणोंकेलिए धार्मिक विभीषिका रखना कुछ अनुचित नहीं था। तथापि आजके समयकी जिज्ञासाके अनुसार धार्मिक नियमोंके लाभ भी दिखलाए जाते हैं; नहीं तो आजकलके कई व्यक्ति उन नियमोंको 'ढकोसला' बतानेकेलिए भी तैयार हो जाते हैं। उनकी सार्थकताके प्रदर्शनार्थ कई नियमोंके स्थूल लाभ दिखलाए जाते हैं। तथापि यहाँ लाभोंकी इयत्ता नहीं समझ लेनी चाहिए कि इतने ही लाभ हैं; अन्य नहीं। किन्तु जो लाभ हम बताने जा रहे हैं—वे दिङ्मात्र ही हैं—इससे अधिक भी लाभ हैं। हम इन प्रष्टव्य प्रश्नोंको अपने क्रमसे रखकर उन पर वैज्ञानिक रहस्य विवृत करेंगे; आशा है—'आलोक'के दर्शक-पाठक इधर अवहित होकर हमारे परिश्रमको सफल करेंगे।

(१) ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका विज्ञान

'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ (मनु० ४।९२)

हिन्दुधर्ममें ब्राह्ममुहूर्तमें (प्रातः ४ बजे) उठनेकी आज्ञा है। इस समयका वातावरण सात्त्विक, शान्त, जीवनप्रद और स्वास्थ्य-प्रदायक होता है। इसी समय वृक्ष अशुद्ध वायुको आत्मसात् कर लेते हैं और शुद्ध वायु (आक्सिजन गैस) हमें देते हैं। कमल आदि इसी समय खिलते हैं। नदी आदिका जल सम्पूर्ण रात्रिके, तारामण्डलके, एवं चन्द्रमाके अमृतसने प्रभावको आत्मसात् करके इसी समय उसे व्यक्त करता है। इसके संसर्गसे ही सुरभित, और उदय होनेवाले दिनकरके निर्मल किरणोंके प्रभावसे पवित्र हुई-हुई

वायु हमारा आत्मिक एवं मानसिक कल्याण करती है। सूर्य ही समस्त क्रियाओं तथा विद्युत्शक्ति, प्राणशक्ति आदि समस्त शक्तियों का आकर होता है। सभी धातुएँ, सभी जीव, सब मनुष्य इसीकी शक्तिका अवलम्बन लेते हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें जागने पर हमारी साधारण शक्ति सूर्यकी शक्तिके अवलम्बसे बहुत सबल हो उठती है। उसके प्रभावसे हमारे मन और बुद्धि आलोकित हो उठते हैं। रात्रिमूलक-तमोगुण और तमोमूलक-जड़ता हट जाती है। यदि इस सुन्दर समयमें भी हम निद्रादेवी वा दूसरी देवीमें आसक्त रहे; तब हम अपनी आयुको स्वयं घटानेवाले सिद्ध हो सकते हैं; क्योंकि निद्रामें तन्मूलक दौर्बल्यवश वह वायु हमें लाभके बदले हानि भी पहुँचा सकती है, 'देवो दुर्बल-घातकः'। वैसा करने पर हमारा आलस्य बढ़ जाता है, स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। उस समय उठ बैठनेसे निद्रामूलक दुर्बलता नष्ट होकर हममें बल उत्पन्न होता है। तब वही वायु हमें लाभदायक सिद्ध होता है—'सभी सहायक सबलके'। ब्राह्ममुहूर्तमें उठानेकी प्रकृतिकी 'टाइमपीस-घड़ी' मुर्गा हुआ करता है।

इस समय सम्पूर्ण दिनकी थकावट और चिन्ता आदि रात्रिके सोनेसे दूर होकर हमारा मस्तिष्क शुद्ध तथा शान्त एवं नवशक्ति-युक्त हो जाता है, और मुखकी कान्ति एवं रक्तिमा चमक जाती है। मन प्रफुल्ल हो उठता है, शरीर नीरोग रहता है। यही समय शुद्ध मेधाका होता है। इसी समय मनः-प्रसत्ति होनेसे प्रतिभाका उदय होता है। उत्तम ग्रन्थकार इसी समय ग्रन्थ लिख रहे होते हैं।

चित्त सात्त्विक होनेसे पुण्य-कार्यमें प्रवृत्त होता है। सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक ग्रन्थोंका निर्माण भी इसी समय सम्भव होता है। शरीरमें भी इसी समय सब आलस्यादि हटकर स्फूर्ति उत्पन्न होती है। इस कालको उत्कृष्ट कार्योंमें प्रयुक्त करना अपनी आयुर्वृद्धि, आत्मिक-बल तथा मनोबल एवं शारीरिक और चारित्रिक-बलको निमन्त्रण देना है।

जैसे कल्पका आरम्भ ब्रह्माके दिनका आरम्भ होता है, उसी समय ब्रह्माका दीर्घनिद्रामें विश्रान्त हुई-हुई सृष्टिके निर्माण एवं उत्थानका काल होता है; ज्ञानरूप वेदका प्राकट्यकाल भी वही होता है, उत्तम ज्ञानवाली एवं शुद्ध-मेधावती ऋषि-सृष्टि भी तभी होती है, सत्त्वयुग वा सत्ययुग भी तभी होता है; धार्मिक प्रजा भी उसी आरम्भिक कालमें होती है, यह काल भी वैसा ही होता है। उसी ब्राह्मदिनका संक्षिप्त संस्करण यह 'ब्राह्ममुहूर्त' होता है। यह भी सत्सृष्टि-निर्माणका प्रतिनिधि होनेसे सृष्टिका सचमुच निर्माण ही करता है। अपने निर्माण-कार्यमें इस ब्राह्ममुहूर्तका उपयोग लेना हमारा एक आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इसके उपयोगसे हमें ऐहलौकिक-अभ्युदय एवं पारलौकिक-निःश्रेयस प्राप्त होकर सर्वाङ्गीण धर्मलाभ सम्भव हो जाता है।

ढाई घड़ीका एक घंटा होता है। रातकी अन्तिम चार घड़ियोंमें पहलेकी दो घड़ियां ब्राह्ममुहूर्त नामसे और अन्तिम दो घड़ियाँ रौद्रमुहूर्त नामसे कही जाती हैं। इनमें ब्राह्ममुहूर्तमें ही शय्या-त्याग कहा गया है। उसमें रहस्य यही है कि उस समय हमारी

बुद्धिका प्रेरक सूर्य भगवान् अपनी सात्त्विक ज्योतिः और शक्तिका भूलोकमें संचार एवं प्रसार करता है। चन्द्र और नक्षत्रोंकी किरणोंके सहचारी अमृतको इसी समय ही लेकर शीतल, मन्द और सुगन्धित समीर चला करती है; जो सर्वाङ्गीण-लाभप्रद होती है। रात्रिमें तमोवृद्धि होनेसे उस अमृतका प्रभाव नहीं पड़ सकता। उषःकालमें सात्त्विक ज्योतिःपुञ्ज निकट होनेसे उसीको वह प्रातःकालकी वायु ग्रहण कर लेती है। इसी बातको जानकर आजकलके लोग प्रातः नगरसे बाहर भ्रमणार्थ जाते हैं। पर यदि धार्मिक रीतिसे वे कर्तव्य करते चलें; तो नास्तिकता की समाप्ति होकर आस्तिकता बढ़ जाय।

(२) प्रातःस्मरण पद्य

'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम' (ऋ० ७।४१।१) 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद !' इस समयमें किया हुआ गान भी अपने तथा दूसरोंके आकर्षणका साधन होता है; जब उसमें भी भगवद्भक्ति ओत-प्रोत हो; तो फिर तो क्या कहना ? यह 'सोना और सुगन्ध' हो जाया करता है। इसलिए प्रातः भगवान्‌को आकृष्ट करनेके लिए, तथा स्वयं भी तन्मयीभावार्थ कई राग वा भजन गाये जाते हैं, जिससे हमारा भावी दैनिक कार्यक्रम भी सुन्दर और निष्पाप बने। पर हमारी लौकिक भाषा अपभ्रंश भाषा होनेसे भगवान्‌के उतने निकट नहीं पहुँच पाती। देवभाषा देवोंसे प्राप्त हुई एक भाषा है, इससे हम देवों तथा देवाधिपति

भगवान्के निकट उन शब्दोंको शीघ्र पहुँचा सकते हैं। यद्यपि वैदिक-शब्द तो उससे भी बहुत निकटताकारक हैं; पर उस समय हम अस्नात होनेसे उनमें अधिकृत नहीं। उनका तो स्नानोत्तर सन्ध्या आदिमें उपयोग करना पड़ता है। अतः शयनसे उठते ही संस्कृत पद्योंकी आवश्यकता पड़ती है। पद्यकी रचना लययुक्त होनेसे तन्मयतामें विशेष साधन बन जाती है। इनमें कई इस प्रकारके भी पद्य होते हैं, जो भगवान्के ध्यानके साथ ही हमें धर्म तथा अपने देशके आन्तरिक परिचय करानेवाले भी होते हैं। इससे हम उस अपने देश तथा अपने धर्मको छोड़ने वा उससे द्रोह करनेका कभी स्वप्न भी नहीं देख पाते। अपने जीवनदाता एवं त्राणकर्ता उस प्रभुको तथा पूर्वोल्लिखित वेदमन्त्रोंमें कहे हुए देवोंको उस सात्त्विक समयमें स्मरण करना हमें भविष्यत्में भी असन्मार्गमें जाने नहीं देता। प्रातः स्मरणके कुछ पद्य हम लिख देते हैं—

'वामाङ्गीकृतवामाङ्गि कुण्डलीकृतकुण्डलि। आविरस्तु पुरोवस्तु भूतिभूत्यम्बराम्बरम् ॥१॥ अगजाननपद्मार्कं गजानन-महर्निशम्। अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥२॥ वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते, दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते। पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते, म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥३॥ सूर्यः शौर्यमथेन्दुरुच्चपदवीं सन्मङ्गलं मङ्गलः, सद्बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुतां शुक्रः श्रियं शं शनिः। राहुर्बाहुबलं करोतु विपुलं केतुः कुलस्योन्नतिं, नित्यं प्रीति-

करा भवन्तु किल नः सर्वे प्रसन्ना ग्रहाः ॥४॥ शारदा शारदाम्भोज-वदना वदनाम्बुजे। सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥५॥ प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमङ्गलप्रदा ॥६॥ कृष्ण ! त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः। प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥७॥ भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च, मनुः पुलस्त्यः पुलहश्च गौतमः। रैभ्यो मरीचिश्च्यवनश्च दक्षः कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥८॥ प्रह्लाद-नारदपराशरपुण्डरीक - व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि ॥९॥ अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥१०॥

(३) प्रातः हस्तदर्शनका विज्ञान।

प्रातः हाथका दर्शन शुभ हुआ करता है। कहा भी है—'कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती। करपृष्ठे च गोविन्दः प्रभाते कर-दर्शनम्'। इस पद्यमें हाथके अग्रभागमें लक्ष्मीका, मध्यभागमें सरस्वतीका और पृष्ठभागमें गोविन्दका निवास कहा है। यह केवल 'कथनमात्र' नहीं; किन्तु ठीक भी है। हाथका महत्त्व किससे छिपा है ? इसी हाथसे हम लक्ष्मी कमाते हैं; तब 'कराग्रे वसते लक्ष्मीः' ठीक ही हुआ। इसी हाथसे लिखना-पढ़ना सीखकर हम सरस्वतीदेवीको प्राप्त करते हैं; तब 'करमध्ये सरस्वती' भी कहना ठीक हुआ। इसी हाथसे हम मालाकी मणियां घुमाकर

भगवान् का स्मरण तथा जप करके गोविन्द को प्राप्त करते हैं। तब 'करपृष्ठे च गोविन्दः' कहना भी ठीक हुआ।

संसारके सर्वस्व लक्ष्मी, सरस्वती और गोविन्द जब हाथमें आ गये; तो हाथमें बड़ी शक्ति सिद्ध हुई। संसारमें यही तो वस्तुएँ अपेक्षित हैं, और चाहिये क्या? ऐसी शक्तिको धारण करनेवाले, हमारी संसार-यात्राके एकमात्र अवलम्ब एवं लक्ष्मी आदिके प्रतिनिधि हाथका प्रातःकाल दर्शन शुभकारक ही सिद्ध हुआ; क्योंकि इसी हाथसे ही तो हमने सभी कार्य करने हैं।

केवल पुराण ही हाथकी महत्ता बताते हों; ऐसा भी नहीं है। वेद भी उस हाथकी महत्ता इससे भी बढ़कर बताते हैं। देखिये—'अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः' (ऋ० १०।६०।१२) इस मन्त्रका देवता भी 'हस्त' है। इसमें हाथको भगवान् और अतिशयितसामर्थ्ययुक्त और सब रोगोंका भेषजभूत (दवाईरूप) साधन-सम्पन्न स्वीकृत किया है। जो जितनी अधिक शक्तिवाला होगा; उसके हाथमें शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। इसलिए हम जिनकी वन्दना करके उनका आशीर्वाद चाहते हैं; वे भी अपने हाथसे ही हमारे सिरको स्पर्श करके आशीः देते हैं। मैस्मरेजम तथा हिप्नोटिज्मके अभिज्ञ अपने हाथमें शक्ति सम्भृत करके उससे अपने समक्षस्थित पुरुषको जैसा चाहे—नाच नचाते हैं, उठाते हैं—बैठाते हैं। यहाँ तक कि बेहोश भी कर देते हैं। कई योगविद्याविशारद इसी हाथके स्पर्शसे विविध रोगियोंके रोगोंको दूर कर देते हैं। कई अधिक शक्तिवाले महात्मा

तो मरे हुए को अपने हाथके स्पर्शसे जिला देते हैं। हाथमें शक्ति होनेसे ही विवाहमें दूसरेकी लड़कीके हाथको पुरुषके हाथमें दिलवाकर (पाणिग्रहण कर) उसे उसकी पत्नी बनवा देते हैं। हाथमें प्रेमकी भी स्थिति होनेसे मित्र मित्रोंके हाथका स्पर्श करते हैं। हाथमें अमृतके भी स्थित होनेसे गुरुओं द्वारा शिष्यको हाथसे मारने पर भी 'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः' यह कथन प्रसिद्ध है। इससे हाथमें हानिजनक शत्रुओंकेलिए विष भी सन्निहित है—यह भी प्रतीत होता है। इस प्रकारके हमारे अवलम्बभूत, यजुर्वेद (बृहदारण्यकोपनिषद्)के 'सर्वेषां कर्मणाम्ँ हस्तौ एकायनम्' (२।४।११) इन शब्दोंमें सब कर्मोंके मूल-जिसके न होनेसे हम 'निहत्थे' कहे जाते हैं—सारी रात्रिके ग्रहनक्षत्रादि के प्रभावसे तथा प्रातःकालिक वायुसे पवित्र उस हाथके दर्शनसे हमारा शुभ होना सोपपत्तिक ही है।

(४) प्रातः भूमिवन्दन, उस पर उठते ही पांव न रखना।

प्रातः उठते ही अपनी आश्रयभूत भारतभूमिकी वन्दना करनी श्रेयस्कर हुआ करती है। तभी कहा है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। जन्मभूमिको स्वर्गसे भी बढ़कर माना गया है। इसीलिए वेदने भी उसे नमस्कार करनेका आदेश दिया है— 'शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता। तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः' (अथर्व० १२।१।२६)। 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै' (यजु० ९।२२) यहाँ पर दो बार पृथिवी माताकी वन्दना करके वेदने अपने भक्तोंको उसकी पूजाका आदेश दे दिया

है। इसीलिए वेदानुसारी पुराणोंने भी 'समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डिते! विष्णु-पत्नि! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे' उसे नमस्कार करके उस पर पांव रखनेकी क्षमा चाही है। इससे हम भारत-भूमिके भक्त भी बने रहेंगे, विलायती भूमियोंके प्रेमी न बनेंगे।

उठते ही पृथिवीपर एकदम पाँव रखना लौकिक दृष्टिसे भी ठीक नहीं, क्योंकि—सारी रात हम खाट पर सोते हैं; उसमें भी शीतकालमें रजाईसे अपने आपको ढककर सोते हैं। इस कारण निद्राके सबबसे हमारे अन्दर उष्णता पर्याप्त होती है, विशेषकर पैरोंमें; क्योंकि—तब पांव प्रायः ढके रहते हैं; उस समय ठण्डे परमाणुओंसे युक्त भूमिमें एकदम ही पाँव रखना ठीक नहीं; क्योंकि—गर्मी-सर्दी पांवके ही द्वारा हमारे शरीरमें तत्क्षण संक्रांत होती है। अतः कुछ देर तक खाट पर बैठकर निद्रा पूर्णतया दूर करके जब अधिक ऊष्मा हटकर उसका समीभाव हो जाता है, तब पांवका भूमि पर रखना ठीक होता है।

इसके अतिरिक्त भारतभूमि हमारी माता है, हम उसके पुत्र हैं, जैसे कि अथर्ववेदसंहितामें कहा है—'माता भूमिः, पुत्रो अहं पृथिव्याः' (१२।१।१२) और भूमि देवतारूप भी है। अतः उस पर पांव रखना उचित नहीं दीखता; पर अनिवार्य होनेसे कुछ समय तक उससे पादस्पर्शकेलिए क्षमा मांगना उचित भी है। 'हम जड़ पृथिवीसे प्रार्थना क्यों करें; तब हमें मूर्तिपूजक बनना पड़ेगा' ऐसा सोचना अपने आपको वेदानभिज्ञ सिद्ध करना है। अथर्व०

के १२वें काण्डका प्रथमसूक्त ही उसमें पृथिवीसूक्त है; उसमें पृथिवीसे विविध प्रार्थनाएँ की गई हैं। पृथिव्यभिमानी देवता चेतन हुआ करती है; पृथिवीसे प्रार्थना करना उसी चेतन-देवतासे प्रार्थना करना है। मूर्ति-पूजक होना भी कुछ बुरा नहीं; क्योंकि—वेदका उस पक्ष पर अनुग्रह है—इस बातको जाननेकेलिए 'श्रीसनातन-धर्मालोक' चतुर्थ-पुष्पमें 'मूर्तिपूजा-रहस्य' विषय देखें। अस्तु

क्षमा प्रार्थना करने तक हमारी निद्रा बहुत-कुछ दूर हो जाती है; तब तक शयनकालीन शारीरिक ऊष्मा भी यथावस्थित हो जाती है। तब शौचार्थ बाहर जाकर शुद्ध वायुका सेवन करके प्रातः-कालीन शुद्ध वायुसे पवित्र तुषारयुक्त तृणप्रदेशपर, बिना जूता पहने घूमना आंखोंकेलिए लाभकर हो जाता है, क्योंकि पांवकी निचली नसोंका आंखकी ज्योतिसे विशेष सम्बन्ध होता है। ऐसा करनेसे पीलिया (पाण्डु) रोग भी नहीं होता। पर भूमिमें लात मारना ठीक नहीं; क्योंकि—पांवके तलवोंमें चोट लगनेसे अपनी ही भीतरी हानि होती है। इसलिए भूमिपर पांवकी ठोकर मारना पापजनक माना गया है।

आरम्भमें हमने जो पृथिवीसे क्षमा-प्रार्थना करनेवाला पौराणिक पद्य लिखा है कि—'समुद्र-वसने देवि! पर्वतस्तनमण्डिते! विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं' यह पुराणका होनेसे उपहास-योग्य भी नहीं माना जा सकता। इसमें भारतभूमिकी रक्षाकेलिए तरीकेसे प्रेरित किया जा रहा है।

इसमें भारतभूमिका वसन (वस्त्र) समुद्रको बताया गया है;

अर्थात् यदि भारतीयोंने समुद्रको अपने आधिपत्यमें न रखा; तो वह भारतमाताको वस्त्रविहीन-नंगा करवा बैठेंगे। यही अब आप देख रहे हैं कि कराचीका समुद्र हमारे हाथमें नहीं है; आज वहां पाकिस्तानका आधिपत्य है; इससे भारतमाताका एकदेश नङ्गा हो रहा है यह स्वयं अनुभवकी बात है। अतः भारतीयताके प्रेमियोंको संघटन करके उस भागपर इस तरीकेसे आधिपत्य कर लेना चाहिये; जिससे हमारी भारतमाताकी नग्नता दूर हो। हमारा 'हिन्दु' नाम भी इसी 'सिन्धु' के कारण हुआ था। इस बातको जाननेके लिये 'श्रीसनातनधर्मलोक' चतुर्थ-पुष्पको मँगाकर उसमें 'हिन्दुशब्द की वैदिकता' देखें।

फिर इस भारतमाताके स्तन पर्वत बताये हैं। माताके स्तन जैसे बालकको दूध देते हैं; वैसे ही हिमालयादि पर्वत भी हमें वर्षा आदि ऋतुएँ, गङ्गा आदि नदियां दे रहे हैं। यदि यह पर्वत भी अभारतीयोंके हाथमें पड़ गये; तो यह अपनी माताका दूसरोंसे कुचग्रहण होना होगा, क्या ऐसी बात सह्य होगी?

'विष्णुपत्नी' कहनेसे इस पृथिवीके पति विष्णु भगवान् बताये गये हैं, इससे भारतमाताका सौभाग्यवती होना और हमारा सपितृक होना भी सिद्ध है। इससे भारतीयको नास्तिकताका अवलम्बन न करना चाहिये, किन्तु विष्णु-भगवान्का भक्त भी रहना चाहिये; तभी भारतीयता सम्पन्न होगी, यह सूचित हो रहा है। फलतः भूमिपर पांव रखनेके समय हमें उससे क्षमा-प्रार्थना सोपपत्तिक है; तभी हम भारतभक्त बन सकते हैं।

(५) प्रातः मलमूत्रका त्याग और उसके नियम।

(क) सब रोगोंका मूल मल हुआ करता है; और इसके विसर्जनका, युक्त समय प्रातःकाल है। उस समय मलमूत्र-त्यागसे शरीर स्वस्थ रहता है। यदि प्रातः पहले यही कार्य न करके पुरुष अन्य कार्यमें लग जाय; तब उस समय मल-अवतरणकी प्रकृति भी धीरे-धीरे हट जाती है, और मलका दूषित रस रक्तमें मिलकर मलको कठोर कर देता है, जिससे सब रोगोंकी जननी बद्धकोष्ठता (कब्ज़) उत्पन्न हो जाती है। मलका दूषित रस रक्तमें मिलने पर रक्तविकार भी हो जाते हैं। रक्तदोष हो जाने पर खुजली, फोड़े आदि हो जाते हैं। शरीर और मुखमें दुर्गन्ध रह जाती है। प्रातः भी यदि हम मल-विसर्जन नहीं करते, तो वह मल भीतर पड़ा रहता है; फिर हम स्नान करने पर भी अशुद्ध रहते हैं। उस अशुद्धावस्थामें सन्ध्यावन्दन आदि ठीक नहीं जंचता। उसके बाद भोजनका क्रम आता है, पेट खाली न होनेसे किया गया वह भोजन रोगोंकी उत्पत्तिका कारण बन जाता है, अतः प्रातः मलमूत्रका त्याग बहुत ठीक होता है। उस समय वेग न होने पर भी जानेसे फिर मल-त्यागकी उस समय प्रकृति बन जाती है।

(ख) मल-त्यागके समय सिर आवृत (ढका हुआ) रहना चाहिये। उस समय बोलना और थूकना भी ठीक नहीं; क्योंकि मलके परमाणु मुख-द्वारा भीतर जाकर हानि पहुँचाते हैं। उस समय खाते रहना, वा मुख चलाते रहना भी अच्छा नहीं; क्योंकि वैसा करनेसे पूर्वोक्त हानिके अतिरिक्त शरीरके ऊपरकी स्नायुओंको

कार्य करना पड़ जाता है। तब निचले भागकी स्नायु वा पेशियां मलको बाहर करनेमें पूर्णरूपेण सक्षम नहीं हो सकतीं, और कोष्ठकी विशुद्धि न होनेसे वह कोष्ठबद्धता और भीतरी गन्दी वायुका विपाक्त धुआं मस्तिष्कमें पहुँचनेसे वे कई प्रकारके रोगोंको उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसीलिए वैद्य एवं डाक्टर लोग रोगीसे पहले टट्टी-पेशाबके लिए ही पूछते हैं। मन परमाणुरूप होनेसे एक ही इन्द्रियसे लगता है। यदि गुदके कार्यमें संलग्न होनेपर उसे अन्य ऊपरके कार्यमें खींचा जायगा; तो गुदकी पूर्ण शुद्धि न होनेसे वही दोष उपस्थित होंगे। अपने मल-मूत्रको उस समय आंख जमाकर देखना भी ठीक नहीं; क्योंकि वे दूषित परमाणु मुख, नाक वा आंखमें आ जाते हैं। आंखोंके अग्रभागमें सूजन-सी हो जाती है, जिसे 'अंजिनियारी' कहते हैं। जिन वस्त्रोंको पहरकर शौचालय जावे; उसे पहर कर भोजनादि भी न करे।

(ग) वायु, अग्नि, सूर्य और पूज्यके सामने शौच भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे एक तो इन पूज्योंकी अवहेलना है। दूसरा स्वयं भी इनके सामने ठहरनेसे कुछ संकोच होता ही है। उस समयकी संकोचावस्था मलकी विशुद्धि पूर्णरूपसे नहीं होने देती। इसके अतिरिक्त सामनेकी वायु मूत्रकी बूंदें जहां हमारे ऊपर डलवाएगी; वहां हमारे मलका दुर्गन्ध भी हमारी नाकमें पहुँचकर हमें हानि पहुँचावेगा। अग्नि, जल और सूर्य आदिके सामने मल-त्याग करनेसे शरीरके ऊपरकी स्नायुएँ स्वयं ही कार्य प्रारम्भ कर देती हैं; क्योंकि अत्यन्त उज्ज्वल और चंचल और

ऊष्मावाली वस्तुओंके सामने होनेपर ऊपरकी स्नायुएँ स्वयं ही उद्दीप्त हो जाती हैं और कार्य करना शुरू कर देती हैं। जब शरीरके ऊपरी भागकी स्नायुओंमें क्रिया प्रारम्भ हो जावे; तो निचले भागकी पेशियां अपने कार्यको ठीक नहीं कर पाती। तब कोष्ठविशुद्धिमें बाधा आ पड़नेसे रोगोंका होना स्वाभाविक हो उठता है। सूर्य और अग्निके सामने मलत्याग करने पर हमारे तेज वा शक्तिकी क्षीणतासे मल ठीक नहीं उतरता; अतः शास्त्रोंमें वैसा करना निषिद्ध किया गया है। शास्त्र जो बात कहते हैं उसमें कोई हमारा हित ही अन्तर्निहित होता है, चाहे उसे हम न भी जान सकें, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिये।

(घ) टट्टी-पेशाब खड़े होकर भी नहीं करना चाहिये। खड़े होकर पेशाब करनेवाले ब्राह्मणको भी 'अब्राह्मणोयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति' (महाभाष्य, नञ्सूत्र) इस प्रकार निन्दार्थवादसे 'अब्राह्मण' कहा जाता था। उसका तात्पर्य उसकी निन्दामें है कि—ऐसा नहीं करना चाहिये। बैठकर मूत्र तथा मल विधिसे उतरते हैं; खड़े होकर करनेसे एक तो छींटे अपने पर पड़ते हैं, दूसरा जोर लगाना पड़ता है, जिससे नसोंमें हानि पहुँचती है, तीसरा गली आदिमें शिश्न पकड़कर एक दीवारपर पेशाब करना असभ्यता भी है। यह पशु-व्यवहार है; जैसे कि—कुत्ते आदि किया करते हैं। ऐसा व्यवहार पतलून पहनने वालोंने जारी किया है; क्योंकि वे नीचे बैठ नहीं सकते। पर उनकी देखादेखी पजामे वा धोती पहननेवाले भी ऐसा करने लग गए हैं—इसीका नाम 'अन्धपरम्परा' होता है;

यह अंग्रेजी प्रसाद है। अब जिस प्रकार हमने अंग्रेजोंको समुद्र पार भेज दिया है; अब उनकी रीतियोंको भी समुद्र-पार ही भेजना चाहिये। वही प्राचीन धोती आदिका वेष, तथा नीचे टिककर टट्टी पेशाब आदि करना चाहिये। वैसा करनेसे नसोंमें बहुत जोर नहीं लगाना पड़ता। असभ्यता भी नहीं होती। छींटे आदि भी अपने कपड़ोंपर नहीं पड़ते। इन्हें देखकर अपटुडेट लड़कियोंका भी खड़े होकर ऐसा व्यवहार करना सुना गया है—यह और भी बुरा है। इससे अपने कपड़ेकी अपवित्रता होती है अतः यह ठीक नहीं।

(ङ) ग्रामसे बाहर ही यथासम्भव मलमूत्र-त्याग होना चाहिये। ऐसा होनेपर उस देशमें रोग बहुलतासे नहीं हो पाते। जैसे श्मशानस्थान दुर्गन्धित परमाणुयुक्त होनेसे उस देशके लाभार्थ उस नगरसे बाहर रखा जाता है; वैसे ही मलस्थान भी बाहर ही होना उचित है; क्योंकि—एक संकुचित स्थान होनेसे उसके दुर्गन्धका प्रभाव हम पर पड़ सकता है; पर बाहर खुले स्थान होनेसे उसका प्रभाव किसी पर नहीं पड़ता। पर शहरमें ऐसा न होनेसे कई प्रकारके रोग घेरे रहते हैं; जिससे डाक्टरोंकी दुकानोंको भी बढ़नेका अवसर प्राप्त हो जाता है। ग्रामवालोंका स्वास्थ्य नगरवालोंकी अपेक्षा इसीलिए अच्छा हुआ करता है, क्योंकि गांवके बाहर शोचार्थ जानेसे प्रातःकालकी विशुद्ध वायुका सेवन भी अनायास हो जाता है। घरमें बैठनेसे बढ़ी हुई आलस्यकी प्रवृत्ति हटकर जीवन पुरुषार्थमय भी हो जाता है। सर्दी-गर्मी से डर भी हट जाता है। इसके

अतिरिक्त नंगे पैरोंसे तुषार-(ओस) क्लिन्न शाद्वल (तृणयुक्त-प्रदेश) पर घूमनेसे स्वास्थ्य बढ़ता है और नेत्ररोग हटते हैं, जिससे बाल्यकालमें चश्मे लगानेकी आवश्यकता नहीं रह पाती।

(६) लघुशंका आदिके अन्य-नियम।

लघुशंकाके बाद मूत्रयन्त्रको ताजे ठंडे जलसे धोना चाहिये, क्योंकि-मूत्र पित्त-प्रधान होता है। उसमें विषाक्त पदार्थ भी होते हैं। तब शाटिका आदिमें मूत्रांश लगनेसे जहां अशुद्धि रहती है, वहां कई प्रकारके रोगोंकी सम्भावना भी रहती है; अतः मूत्र-यन्त्रका यथासम्भव प्रक्षालन उपयोगी है। उपस्थेन्द्रियके अग्र-भागमें कई ऐसी सूक्ष्म स्नायुएं होती हैं; जो थोड़ी भी उत्तेजना प्राप्त करके उत्तेजित हो उठती हैं। मूत्रोत्सर्गके समय उष्ण एवं दूषित मूत्रांशोंके स्पर्शसे उन स्नायुओंमें उत्तेजना प्राप्त हो जाती है। जलद्वारा प्रक्षालनसे वह आशंका नहीं रहती।

मुसलमान लघुशंका करके मूत्रांशके प्रस्रवणकी आशंकाके समय तक तत्काल उठाये हुए ढेले आदिके द्वारा शुद्धिमें लगे होते हैं। यह असभ्यता दीखती हुई भी बहुत कुछ अंशमें ठीक है। हमारे पूर्वज भी उस समय उपस्थको भित्तिस्पर्श-द्वारा शुद्ध करते थे। पर इन व्यवहारोंसे भी कुछ हानिकी आशंका रहती है; क्योंकि—गर्मीमें उस दीवारके वा तत्काल उठाये हुए ढेलेके उष्ण होनेसे, तथा शीतकालमें उन दोनोंके बहुत ठंडे होनेसे उनके स्पर्शसे उपस्थके द्वारा वह सर्दी-गर्मी अन्दर प्रविष्ट होकर उपस्थको हानि पहुँचा सकती है। अतः ताजे जलके द्वारा उपस्थ-शुद्धि ही

ठीक है।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि विद्यालयोंमें वा घरोंमें, वा अन्य स्थानोंमें एक ही स्थानमें बहुत लोग लघुशंका करते हैं; वह ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा करनेसे दूसरोंके रोग-परमाणु इन्द्रिय द्वारा हमारे अन्दर संक्रान्त हो जाते हैं। जहां घोड़े आदि पशुओंका, विशेष करके गधेका पेशाब हुआ-हुआ हो; वहां तो पुरुष कभी भी लघुशंका न करे; इससे आतशक आदि बीमारियां हो जाती हैं। जहां पेशाबका एक ही स्थान हो; तो वहां फिनैल, अथवा पानी डाल देना चाहिये। देहली आदि नगरोंमें लघुशंकाके स्थानोंमें प्रत्येक मिनटमें जल-यन्त्र द्वारा जल गिरकर स्वयं ही मूत्रस्थानकी शुद्धि होती रहती है, यह अच्छा प्रकार है। इससे एक-दूसरेके रोगके बीजोंके संक्रमणकी आशंका नहीं रहती। उपदंश आदि रोग पितृपरम्परासे प्राप्त होते हैं। उस रोगवाले जहाँ लघुशंका करें; वहाँ पर लघुशंका करनेवालोंको वह रोग हो जाया करता है। अतः सबसे अच्छा उपाय है कि लघुशंकाकर्ता साथ जल ले जानेका अभ्यास करें।

(७) मट्टीसे हाथोंकी शुद्धिका विज्ञान।

पुरीषालयसे आकर प्रक्षालन आदि ताजे पानीसे करके हाथों की जल और मट्टी से शुद्धि करनी पड़ती है—ऐसा हिन्दुओंका व्यवहार है। उसमें पहिले दाहिने और फिर बाएं हाथकी शुद्धि पृथक्-पृथक् करके फिर दोनोंकी इकट्ठी शुद्धि करनी पड़ती है। बाएँ हाथकी शुद्धि दाहिनेकी अपेक्षा अधिक करनी पड़ती है; क्योंकि उससे अपानका स्पर्श करना पड़ता है। यदि दाहिने

हाथकी शुद्धि आपने दो वार की है, तो बाएँकी पांच वार करें। फिर दोनोंकी इकट्ठी सात वार करें। पर हिन्दुधर्मको सभी रीतियोंको घृणा-दृष्टिसे देखनेवाले आजके सुधारक मट्टीकी अपेक्षा अधिक-मूल्यलभ्य 'सावुनों'को लेकर उन्हींसे हस्तशुद्धि करते हैं; पर वे नहीं जानते कि सावुनसे मलके परमाणु नष्ट नहीं होते। मलके परमाणुओंको सर्वथा नष्ट करनेकी शक्ति मट्टीमें ही है। इसीलिए हमारे प्राचीन महानुभाव कहा करते थे कि—'नगरके बाहर शौचार्थ जाओ; और वहां गढ़ा करके मल-त्याग करो; और फिर उसे मट्टीसे ढक दो।' इसमें कारण यही था कि मट्टी से मलके परमाणु सर्वथा दूर हो जाते हैं। सावुनमें चिकनाहट होनेसे वे मलके चिकनाहटसे मिले परमाणुओंको सजातीयतावश दूर नहीं कर सकते। वल्कि उसमें मलके परमाणु बने रहते हैं। और फिर उसी सावुनको मल-त्यागके बाद अपने अन्य व्यक्ति भी उपयोगमें लाते हैं। इस प्रकार उसमें मलके परमाणु बढ़ते ही रहते हैं। सावुन एक ऐसा पदार्थ है कि—उसका एक ही पुरुष उपयोग ले। नहीं तो उसमें एक-दूसरेके परमाणु इकट्ठे होकर एक-दूसरेमें संक्रान्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सावुनके खरीदनेमें खर्च भी बहुत होता है। इस कारण इस अवसर पर बहुत सस्ती, मट्टीका उपयोग ही सर्वथा लाभकारी है, विज्ञान-पूर्ण है, 'कम खर्च बालानशीन' इस लोकोक्तिका चरितार्थ करनेवाला है।

८. (क) कहां-कहां लघुशंका आदि न करे ?

मनुस्मृतिमें कहा है—'न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे। न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्ण* देवायतने न वल्मीके कदाचन' (४।४५-४६) न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके' (४।४७) वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यँस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम्' (४।४८) रास्तेमें, राखमें, गोशालामें, जुते खेतमें, जलमें, चितामें, पर्वतमें, पुराने देवमन्दिरमें, बिलमें, जीवोंसे युक्त गढ़ोंमें टट्टी-पेशाब न करे। खड़े होकर, चलते हुए, नदी-किनारे, वायु, अग्नि और ब्राह्मणके सामने तथा सूर्य और गायके सामने टट्टी-पेशाब न करे। इनमें सूर्य आदिके सामने तथा खड़े होकर पेशाब न करनेके विषयमें हम पहले लिख चुके हैं।

जनसाधारणके रास्तेमें मलमूत्रका विसर्जन, मलमूत्रके परमाणुओंको फैलाना तथा दूसरोंके रास्तेमें रुकावट डालना है। भस्म, पात्रोंके पवित्र करनेके काम आती है; उसमें मलमूत्रका करना उचित नहीं; और इधर वह भस्म फैल भी जाती है। गोशालामें गौओंका बैठनेका स्थान होनेसे वहाँ मलमूत्र करनेसे वे परमाणु उनको चिपटेंगे; वा गायकी प्रकृति उसे खाने वा चाटनेकी बनेगी, जिससे उसके दुग्धपर उसका प्रभाव पड़ेगा, वही दुग्ध जनताको पीना पड़ेगा—यह उचित नहीं। कर्षित हुए खेतमें करनेसे

---

* मनुस्मृति सृष्टिकी आदिमें बनी मानी जाती है, तब मनुमें वर्णित 'देवमन्दिर' भी सृष्टिकी आदिमें सिद्ध हुए।'

उसका खेती पर प्रभाव पड़ेगा। गायके गोबरका खाद तो लाभप्रद है; पुरुषका मलमूत्र बहुत गन्दे परमाणुओं वाला होनेसे हानिजनक होता है। चितामें करनेसे उससे उठे हुए शवके परमाणु हमें हानि पहुँचावेंगे। पर्वतमें करनेसे उसके छींटे नीचे जाते हुओं पर पड़ सकते हैं। पुराना भी मन्दिर अन्ततः देवस्थान है; वहाँ करने पर देवका अपमान है। बिलमें करने पर उसमें रहनेवाला जीव मूत्रकी उष्णतासे झट बाहर आ सकता है, वह हमें काट सकता है; या हम डर जावें; तो मूत्रके वेगमें एकदम अवरोध पड़नेसे हमारी हानि सम्भव है। चलते हुए पेशाबका छिड़काव करना असभ्यता तथा अपनेको अपवित्र करना है। नदीके किनारे पर भी ठीक नहीं; वहाँ लोगोंने अपने कपड़े रखने होते हैं; बैठना होता है और नदीके देवता वेद-वर्णित वरुणका अपमान भी है। इत्यादि बातें सभ्यताके नातेसे वर्जित की गई हैं। अन्य भी हानियाँ सोचने पर प्रतीत हो सकती हैं।

८. (ख) मलमूत्र त्यागके बादके नियम।

मल-त्यागके बाद गुदा आदिकी जलसे शुद्धि करके फिर मिट्टीसे हाथोंकी शुद्धि करके पाँवोंकी भी घुटने तक शुद्धि करनी चाहिये; उन्हें जलसे धोना चाहिये; क्योंकि उस समय यह भाग अनावृत होनेसे मलमूत्रादिके परमाणुओंसे युक्त होनेसे शोधनीय हो जाता है। इससे जहां पाँवोंकी शुद्धि होती है; वहाँ शरीर भी स्निग्ध तथा स्वस्थ रहता है।

(६) कुल्ला करना तथा मुँह धोना।

मल-त्यागके बाद अन्य शुद्धि करके फिर गण्डूष (कुल्ला) करनेका विधान भी आया है, यह भी रहस्यपूर्ण है। हम किसी गलीमें जारहे हैं; और वहाँ मल-पात्र पड़ा हुआ है—वा पेशाबका स्थान है। हम उस स्थलसे जाते हुए एक तो मुँह और नाक बन्द कर लेते हैं, और उस स्थानको पार करके मुँहसे थूक गिरा देते हैं। उसमें कारण क्या है? यही कि तब हमारे मुखमें दुर्गन्धके परमाणु आ जाते हैं। वे भीतर न चले जावें; अतः उन्हें निकालने केलिए थूका जाता है। उस स्थलको पार करना तो थोड़ेसे समयका है; पर पुरीषालयमें अथवा पुरीष करनेकेलिए किसी खुले स्थानपर कुछ काल तक रहना पड़ता है। तब मुखमें गये हुए गन्दे परमाणुओंको हटानेकेलिए साधारण थूकसे काम नहीं चलता; तब बारह बार कुल्ला किया जाता है, जिससे पूर्ण शुद्धि हो जाय। मुनियोंने उसका परिमाण जो बनाया; वह इसीलिए कि इतनी संख्या तक करनेसे वे परमाणु पूर्णरूपसे निकल जाते हैं। मूत्रोत्सर्गके समय मलकी अपेक्षा परमाणुओंकी शक्ति न्यून होनेसे चार बार कुल्ला करना पर्याप्त होजाता है। इसीलिए आश्वलायनका यह प्रमाण मिलता है—'कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् पुरीषोत्सर्जने ततः। मूत्रोत्सर्गे तु चतुरो भोजनान्ते तु षोडश। भक्ष्यभोज्यावसाने तु गण्डूषाष्टकमाचरेत्'। भोजनके समय १६ कुल्ला करनेका लाभ दन्तस्थित उच्छिष्टको सर्वथा बाहर निकालनेकेलिए है; नहीं तो दांतोंमें उच्छिष्ट रह जानेसे दांत शीघ्र टूट जाते हैं।

अस्तु; कुल्ला करनेके बाद मुँह तथा आंखें भी धोनी चाहियें। वहाँ भी मल आदिके परमाणुओंको दूर करना लक्ष्य होता है; नहीं तो शुद्धि न करनेसे आँखोंकी हानि होती है। मुँहमें पानी भरकर तब शुद्ध शीतल जलसे मुँह और आँख धोने चाहियें। इससे आँखोंकी नसें अधिक तेजस्वी हो जाती हैं और नेत्र शीघ्र विकृत नहीं होते। मुँह धोना दिनमें तीन-चार बार होना चाहिए अपने कार्यसे आकर फिर भी मुँह शीतल जलसे धोना चाहिए। इससे आँखोंकी ज्योति बढ़ती है। प्रातः मुख धोनेसे रातकी उत्पन्न मैल आँखोंसे हटती है।

(१०) दातन वा मंजनका प्रयोग।

रातको जब हम सोते हैं; तो भोजन करके सोते हैं; सोते हुए ही उस भोजनकी पाकक्रिया होती रहती है। फिर गन्दे श्वास-प्रश्वास निकला करते हैं; उसका मुंहके भीतर, जीभ तथा दांतों पर भी प्रभाव पड़ता है। उस समयकी थूक विषाक्त होती है। उसका प्रमाण यही है कि—यदि हम उस थूकको अपने फोड़ेमें लगाएँ; तो वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः उस समय दांतोंकी तथा मुखके भीतरी भाग-जिह्वा आदिकी शुद्धि अपेक्षित होती ही है। यदि ऐसा न किया जावे; तो दांत पीले बने रहते हैं, और वह मैल भोजन खानेके समय अन्दर जाकर हानि पहुंचाता है।

दांतोंका महत्त्व सभी जानते हैं। दांतोंके स्वास्थ्यपर शारीरिक स्वास्थ्य निर्भर है। डाक्टर लोग कई युवकोंके दांत इसलिए निकलवा देते हैं कि—यदि ऐसा न किया गया; तो उसको राज-

यक्ष्मा होनेका डर सम्भव है। उन दांतोंकी शुद्ध्यर्थ दन्तधावनकाष्ठ आवश्यक है। इससे 'कम खर्च वाला नशीन' कहावत चरितार्थ हो जाती है। नीम आदिका दातन करनेसे उसका कटुत्व जहाँ दांतोंके कीड़ेको नष्ट करता है; वहाँ उदर-रोगोंको भी दूर करता है। प्राचीन लोग दन्तशुद्धिकेलिए सद्यः काटे हुए विशेष-विशेष काष्ठको उपयुक्त करनेका आदेश देते हैं। इससे जहां दांतोंको चबानेका बहुत बल नहीं लगाना पड़ता; वहाँ दांतोंका मल भी शीघ्र दूर हो जाता है, और उसका कषाय-भाग भीतर प्राप्त होकर भीतरी मलको भी दूर कर दिया करता है। उन विशेष वृक्षोंका गुण उसके काष्ठमें होनेसे हमें लाभ पहुँचता है। उससे जीभकी भी शुद्धि हो जाती है। जीभकी शुद्धि भी आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त दन्तधावन-काष्ठमें व्यय भी थोड़ा पड़ता है। पर आजके महाशय बहुमूल्यलभ्य विलायती पेस्टोंको लेकर ब्रुशसे दांतोंकी शुद्धि करते हैं। एक तो उसमें खर्च बढ़ता है। दूसरा उस ब्रुशमें दन्तमलके कीटाणु रह जाते हैं। तीसरा उस ब्रुशके बाल किसी प्राणीके ही तो होते हैं; उन्हें मुंहमें डालना उचित प्रतीत नहीं होता; और वह विलायती ओषधि अपवित्र भी हो सकती है; उसे मुंहमें डालनेसे धर्महानि भी स्पष्ट है। अतः प्राचीन रीतिका आश्रयण ही सभी सुविधा और लाभोंको पहुँचाता है। उनमें शास्त्रका अनुसरण होता है, इससे हममें भारतीयता रहती है; हम विलायतकी ओर नहीं खिंचते; और अपने धर्ममें निष्ठा रहनेसे दूसरोंके धर्मको घृणित समझकर उसमें हमारे

प्रविष्ट होनेकी शंका नहीं रहती। अस्तु

यदि दन्तधावनका समय न हो, क्योंकि—आजकलके देश-कालमें इतने कार्य बढ़ गये हैं कि—समयकी भी न्यूनता हो गई है; तब विशुद्ध मंजनका उपयोग कर लेना चाहिए। 'आंखोंमें अंजन, दांतोंमें मंजन' यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है। उसमें भी यदि सुविधा न हो; तो नमक और तेलसे दांतोंका घर्षण कर लेना चाहिए, इससे दांत दृढ हो जाते हैं; शीघ्र गिरते नहीं। दांतोंमें छिद्र भी नहीं होते, उनमें दुर्गन्ध भी नहीं रहता।

(११) तैल-नियमका विज्ञान।

इसके बाद स्नानका क्रम आता है। उससे पूर्व तेल लगाना पड़ता है। शीतकालमें शरीरपर एकदम जल डालना हानिकारक हो सकता है; अतः पहले तेल लगा लेनेसे उसकी चिकनाहटके कारण जलका हानिकारक प्रभाव नहीं हो पाता। तेल शरीरमें बल भी देता है। इससे शरीरकी रुखाई भी दूर रहती है; मुख भी स्निग्ध रहता है। अङ्गोंमें लगाया हुआ तेल रोमकूपोंके द्वारा भीतर घुसकर लाभ पहुँचाता है। तेलका प्रयोग न करनेपर शरीरकी रूक्षता बढ़ जानेसे खुजली बढ़ती है, और शरीरसे मट्टी निकलती हुई प्रतीत होती है। बहुतसे जल शरीरमें खुश्की बढ़ाते हैं; उस दोषके दूरीकरणार्थ तेलका प्रयोग आवश्यक है। सिरमें तेल डालनेसे सिरके रोग नहीं होते, और मस्तिष्क बलवान् होता है। मुंहमें तेल लगानेसे मुखकी त्वचापर शीत-उष्णका प्रभाव नहीं पड़ता; आंखोंकी ज्योति तीव्र रहती है। कानोंमें तेल डालनेसे

वहांकी नसें बलको प्राप्त होकर नेत्रोंकी ज्योतिको बढ़ाती हैं; कोई भी नेत्र-रोग नहीं हो पाता; गर्मीमें आंखें आती नहीं। उनमें लालिमा नहीं रहती। पेटमें तेलकी मालिश करनेसे उदरकी वृद्धि नहीं होती, अपान-वायु आदि निकलते रहनेसे शरीर स्वच्छ एवं स्वस्थ रहता है। पांवोंमें तेल लगानेपर जूतेसे पैदा हुई पांवोंकी कठोरता तथा ठोकर लगनेसे प्राप्त हुई वेदना दूर हो जाती है। पांवोंके तलवेमें तेल लगानेसे आंखोंकी ज्योति भी बढ़ती है। तैलमर्दन इन्जैक्शनकी भांति शीघ्र लाभ देनेवाला सिद्ध होता है।

तेलोंमें सरसोंका तेल प्रायः प्रयुक्त किया जाता है। तिलके तेलकी मालिश करके सद्यः स्नान करनेसे वातकी व्याधि उठ खड़ी होती है। पर सरसोंके तेलके प्रयोगमें ऐसी आशंका नहीं रहती। उससे खुजली और दाद आदि त्वचाके रोग भी शान्त हो जाते हैं। उसकी मालिशसे रक्तकी गति भी बढ़ती है। बालोंके काला रखनेकेलिए तथा मस्तिष्कके लाभार्थ आंवलेका तेल बहुत हितकारी होता है; पर वह मैशीनी नहीं होना चाहिये; क्योंकि—मैशीनी तेल बालोंको शीघ्र सफेद कर दिया करते हैं, उनमें मट्टीके तेलकी पुट भी होती है। तेल लगाकर स्नान करनेसे शीत भी नहीं लगता, वातदोष भी शान्त रहता है।

विशेष वारोंमें जो कि शास्त्रोंमें तेल लगानेका निषेध मिलता है, उसमें भी रहस्यपूर्णता होती है। उसमें निषेधका कारण उस वारके स्वामी ग्रहकी प्रकृतिका विचार होता है। प्रातःकाल उस वारके ग्रहका प्रभाव रहता है। यदि उष्ण प्रकृतिवाले ग्रहका

वार है; तो उसका शरीरमें पूर्वसे ही प्रभाव होनेसे भीतरी ऊष्माकेलिए किया हुआ तैल प्रयोग हानि-जनक ही होगा। तथापि यदि उसका प्रयोग आवश्यक हो; तो उस समय हमारे दूरदर्शी मुनियों ने पुष्प, दूर्वा आदिके प्रयोगसे उस प्रभावका दूर होना बताया है। वैज्ञानिक हमारे पूर्वजोंने अपने तपोवलमूलक अनुभवों से प्रत्येक वस्तुका विश्लेषण करके उसकी प्रकृतिका परिचय प्राप्त कर लिया था, और उसे अपनी स्मृतियोंमें लेखारूढ कर डाला था; अतः इसमें वैज्ञानिकता ही है। उसमें उपहास करना अपनी बुद्धिका आपातदर्शित्व प्रकाशित करना है।

वे श्लोक संग्रहग्रन्थोंमें इस प्रकार प्रसिद्ध हैं—'तैलाभ्यंगे रवौ तापः, सोमे शोभा, कुजे मृतिः। बुधे धनं, गुरौ हानिः, शुक्रे दुःखं, शनौ सुखम्' रविवार तेल-मालिश करने पर ताप होता है। रवि भी उष्ण है, तेल-मालिश भी; उसका परिणाम ताप स्वाभाविक है। सोम (चन्द्र) स्वयं शोभित होता है; अतः उस दिन तैलमर्दनमें भी शोभा बताई गई है। भौम ग्रह अग्निरूप है; और क्रूर है; अतः रक्त भी है। इधर उसकी ऊष्मा, इधर तैलमर्दनकी ऊष्मा; यह दोनों मिलकर मृति (मृत्यु)का कारण बन सकती हैं। मृत्यु आठ प्रकारकी होती हैं; उसमें कष्ट भी एक मृत्यु है। बुध बुद्धि देकर धन-प्राप्तिमें सहायक होता है; तब उस दिनकी तैल-मालिश होनेसे पुरुष पुरुषार्थी होकर धनप्राप्ति कर सकता है। अथवा बुधको अग्नि-स्वरूप माना गया है; अतः उसका मन्त्र भी अग्नि-देवतावाला प्रसिद्ध है। अग्नि सुवर्णका उत्पादक है, जैसा कि मनुस्मृतिमें भी

कहा है-'अपामग्नेश्च संयोगाद् हैमं रौप्यं च निर्बभौ' (५।११३) इधर चन्द्रमाका पुत्र होनेसे चन्द्रमाके जलकी शीतलतासे भी युक्त है अतः सौम्य-ग्रह प्रसिद्ध है। तब वह धनोत्पादक हो-इसमें कुछ भी असम्भव नहीं। बृहस्पति विद्याका ग्रह है; इस दिन भी यदि तेल-मालिशमें लगे रहे; तो हानि स्वतः होगी ही। शुक्रमें तैलमर्दनमें शुक्रमें उष्णता पहुँचनेसे दुःख पहुँचेगा ही। शनि तेलका प्यासा ग्रह है; इसीलिए शनिग्रह की मूर्ति पर भी तेल डालते हैं। तब शनिके दिन उसका प्रिय तेल लगाने पर वह भी सुख ही देगा, क्योंकि शनिमें शीतलता भी होती है, तभी वह 'मन्द' होता है।

पर हानि पहुँचाने वाले वारोंके दिन भी यदि तैलमर्दन आवश्यक हो; तो—'अर्के पुष्पं, गुरौ दूर्वा, भूमिपुत्रे रजस्तथा। भार्गवे गोमयं दद्यात् तैलाभ्यङ्गो न दूषितः'। रविवारको तेलमें पुष्प डाल दें; वह उसकी शीतलता कर देगा; ताप नहीं होगा। भौमवार धूलि, बृहस्पतिमें दूर्वा और शुक्रमें गोमय डालनेसे फिर सम्भावित हानि नहीं होती। यह भी याद रखनेकी बात है कि यह फल सूक्ष्म होते हैं; यह स्थूलरूपसे नहीं प्रतीत होते। अतः उनमें अश्रद्ध न होकर मुनियोंकी बात मान लेनेसे शुभ ही उदर्क होता है। स्नानसे पूर्व तैलके लगानेके समय कानमें तेलको भी डालना कुछ देर तक कानमें लिए रहना और फिर उसे निकाल देना शरीरकेलिए बहुत लाभप्रद है। इससे आँखोंकी ज्योति बढ़ती है। कर्णशूल नहीं होता। कानमें तेल डालना ऐसा है-जैसा कि मशीनके पुर्जोंमें तेल डालना।

(१२) प्रातः-स्नानका विज्ञान ।

'गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वर-वर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च, श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः' ।

स्नानसे शरीरकी शुद्धि होती है—'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति' (मनु० ५।१०६) जलके शरीरपर डालने पर भीतर ऊष्माका उद्वसन होता है; इससे भीतरके वा बाहरके हानिजनक कीटाणु दग्ध हो जाते हैं। इसीसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभ-हीनता, दुःस्वप्ननाश, तप, मेधा इन दस गुणोंका लाभ होता है, इसीसे शरीरकी भी कुछ पुष्टि होती रहती है। मन प्रसन्न होता है। स्नानसे शीतकालमें शीत और उष्णकालमें उष्णता दूर होती है। शीतकालमें स्नान न किया जावे; तो सारा दिन सर्दी लगती रहती है। स्नानसे ऊष्मा उत्पन्न होकर उस शीतको शान्त कर देती है। रक्तमें प्रगति होती है। पूर्वोक्त दस गुणोंकी प्राप्तिमें सूर्य-चन्द्रमा भी कारण होते हैं। सारी रात जल चन्द्रमाके अमृतसे सिक्त होता रहता है। सूर्योदयके बाद वह अमृत सूर्यसे खींच लिया जाता है। अतः सूर्योदयसे पूर्व और प्रातः चार बजेके बाद स्नान करने पर उस अमृतका लाभ होता है। इसके अतिरिक्त सूर्योदयसे पूर्व शीतकालमें बर्फ जमी हुई होती है, उस समय स्नानसे शीत नहीं लगता। सूर्योदयमें जमी हुई बर्फ पिघलती है; अतः उस समय शीत खूब लगता है।

सारा दिन सूर्यरश्मिके द्वारा जो शक्ति जलमें प्रविष्ट होती है; वह भी रात्रिकी शीतलताके कारण जलके भीतर ही रहा करती है,

और उसमें चन्द्रमाका अमृत भी बढ़ता रहता है। यह दोनों ही सूर्योदयसे पूर्व स्नानमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रोम-कूपोंसे भीतरी मल स्वेद-रूपमें निकलता रहता है। वह सूख जानेपर शरीरको मैला कर दिया करता है और वह मैल रोम-छिद्रोंको ढक दिया करता है, जिससे भीतरी मल भीतर ही रह जाता है। फिर बाहरी शुद्ध-वायु उन छिद्रों द्वारा भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा होनेसे जहाँ शरीर मैला रहता है; वहाँ भीतरी मलके गन्धसे रोगी भी हो जाता है। जैसे नालीका गन्दा पानी बाहर न निकाला जाए, और उसमें शुद्ध पानी न सींचा जावे; तो उस मलसे उत्पन्न कीटाणु जनताको रुग्ण कर दिया करते हैं; वैसे यहाँ पर भी समझा जा सकता है। नित्य स्नान न करनेवाला जब कभी शीतमें स्नान करता है; तब उसे जल हानि भी पहुँचा सकता है।

वैसे स्नान न करनेकी प्रकृतिवाले पुरुषके पास दुर्गन्धवश कोई बैठ भी नहीं सकता। स्नानसे अङ्ग शुद्ध हो जाते हैं; जैसा कि पहले मनु-वचनसे हम कह चुके हैं। 'शीतकालमें तो शरीरसे पसीना नहीं निकलता; अतः तब स्नान आवश्यक नहीं' यह भी नहीं सोचना चाहिए। शीतकालमें भी सूक्ष्म आभ्यन्तरिक दूषित वाष्पका उद्गम होता ही रहता है। इसके अतिरिक्त जैसे भोजनके समय भीतर ऊष्मा और शोष होनेपर पानीकी अपेक्षा रहती है, इसी कारण प्यास लगती है, वैसे ही शयनादिसे उत्पन्न ऊष्मा भी बाह्य जलकी अपेक्षा करती है। और फिर पाञ्चभौतिक शरीर बाह्य जल आदि सजातीय भूतकी प्राप्तिसे आप्यायित हो जाता है; इस

कारण प्रातःस्नान शरीरके आप्यायनकेलिए अनिवार्य ही है। इसलिए भोजन भी स्नानके बाद ही किया जाता है। पहले कर लेनेपर एक भोजनकी गर्मी, दूसरी शयनकी गर्मी; इससे शरीर हानिको प्राप्त करता है।

स्नान आरम्भ करता हुआ भारतीय पुरुष 'गंगे! च यमुने! चैव गोदावरि! सरस्वति! नर्मदे! सिन्धु कावेरि! जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु' इस मन्त्रको पढ़ता है, यह प्रातः भूगोलका पढ़ना कैसा? यह और कुछ नहीं; यहाँ उसको भारतकी अखण्डता स्मरण करवाई गई है कि-भारतको खण्ड-खण्ड न होने देना। उस जलमें वह पूर्वी-भारतकी नदी-गङ्गा, यमुना, सरस्वतीको, मध्यभारतकी नदी नर्मदाको, पश्चिमोत्तर-भारतकी नदी सिन्धुको; दक्षिण-भारतकी नदी कावेरीको याद करता हुआ यह प्रकट कर रहा होता है कि-मैं इस सम्पूर्ण राष्ट्ररूप जलसे स्नान कर रहा हूँ। मेरा यह ग्राम जन्मभूमि नहीं; किन्तु गङ्गासे लेकर गोदावरी तक; सिन्धुसे लेकर कावेरी तक विस्तीर्ण भूभागका मैं अङ्ग हूँ। इससे उसे भारतका भक्त बनाया जा रहा है। अब इसमें सिन्धु नदी हमारे हाथसे निकल गई है; उसको हमने फिर लाना है-यह भाव इसमें निकल रहा है। अस्तु, स्नान करनेसे पूर्व सिरको तथा अङ्गोंको जलसे स्पृष्ट कर लेना चाहिए, पीछे सिर पर जल-प्रवाह डालें। बिना सिर आदिको थोड़ा जल लगाये एकदम सिर पर जलप्रवाह डालना हानिकारक है। यह न भूलें।

(१३) तीर्थस्थानका विज्ञान

तीर्थ धर्मभूमि हुआ करते हैं। इनमें ऋषि-मुनियोंने विविध यज्ञ किये, तथा अनेक प्रकारकी तपस्याएँ की हैं। विष्णु-भगवान्के अवतारोंने उन्हें पवित्र किया। जैसे सूर्यकान्तमणिके द्वारा सूर्यकी आकाशस्थ किरणें इकट्ठी होकर अग्नि बन जाती हैं; वैसे ही भगवान्की सर्वव्यापक शक्ति इन पवित्र स्थानोंमें सञ्चित होकर प्रकट होती है; और वह तीर्थ-नदी अपना सेवन वा स्नान करनेवालोंके शरीर-मन बुद्धियोंको कल्याण देनेवाली होती है।

सूर्यमें उसकी शक्तिसे जल पवित्र रहता है, और सूर्य-द्वारा ही वृष्टि हुआ करती है—यह सुप्रसिद्ध है, और वह वृष्टि प्रायः पर्वतोंमें होती है; क्योंकि वे ऊँचे होते हैं, बादल भी ऊँचे स्थान रहते हैं, और बरसते हैं। इसके अतिरिक्त ऊँचे पर्वतोंमें शुद्ध एवं लाभदायक ओषधियां भी रहती हैं; और वह जल-प्रवाह उनसे संगत होकर निरन्तर नीचे बहता है। इकट्ठा हुआ-हुआ वह गङ्गा आदि महानदियोंके रूपसे हमारे भारतवर्षमें आता है।

हमारे प्राचीन मुनियोंने उन-उन नदियोंके जलका विश्लेषण करके उन-उनके पुण्यविशेषको अनुभूत करके ही शास्त्रोंमें उन्हें 'तीर्थ' नाम दिया; और उनकी प्रशंसा की। गङ्गाजलकी विशेषता इसीलिए ही तो होती है कि वह सूखता नहीं और विकृत नहीं होता। यही विशेषता शरीरको लाभदायक सिद्ध होनेसे स्वयं पुण्य-संचयका कारण बनेगी। इस प्रकार उन मुनियोंने उनके पुण्यप्रदातृत्वमें तारतम्य भी रखा है। उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे पुण्यके साथ

ऐहिक लाभोंका सम्भव भी होता है। और फिर उन महानदियोंमें अनावृत होनेके कारण सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंकी पुनीत रश्मियां भी स्पष्ट अपना प्रभाव डालती हैं; तब उन तीर्थरूप नदियोंमें आवृत कूपादि-जलकी अपेक्षा अधिक पवित्रता स्वतः सिद्ध है। इस कारण ही हमारे प्राचीन-मुनि तीर्थस्नानकी अधिक प्रशंसा करते थे। विशेषतया विशेष पर्वोंमें तो तीर्थस्नान करना ही चाहिये। वहां प्रातः जाना पड़ता है, तब प्रातःकालका भ्रमण भी साथ हो जानेसे स्वास्थ्य बहुत सुन्दर हो जाता है।

(१४) प्रातः ब्राह्मणका दर्शन अशुभ और चाण्डालका दर्शन शुभ क्यों ?

प्रातःकाल होता है ब्राह्मणका सन्ध्योपासन, जप, तप आदिक काल। साढ़े चार बजे मलत्यागोत्तर स्नान करके उसे सूर्योदय तक सन्ध्या आदिकेलिए बैठ जाना पड़ता है। उस समय उसका बाहर गमन हो ही कैसे सकता है? तब घरसे बाहर तिलकशून्य उसके दर्शन होनेपर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उसने आवश्यक सन्ध्योपासन, जप आदि कर्म पूर्ण नहीं किया। अतएव तब उसके दर्शनसे, व्यवहारकेलिए दूकान पर जाते हुए बनिये 'इस ब्राह्मणकी भांति हमारा काम भी पूर्ण नहीं होगा; और हमें भी आज कुछ फल न मिलेगा' यह सोचकर उसका दर्शन अशुभ मानते हैं। पर यदि तिलकधारी ब्राह्मण उस समय उन्हें मिले; तब वे उसे अशुभ नहीं मानते; क्योंकि तिलक उसका इस बातका चिन्ह है कि यह अपनी उपासनाको पूर्ण करके बाहर आया है।

चाण्डाल (भंगी) का दर्शन इसलिए श्रेष्ठ माना जाता है कि वह अन्त्यज उस समय अपने कार्य झाड़ने-बुहारने आदिमें लगा हुआ होता है। अपने कार्यको समाप्त करके बल्कि पुरीषके पात्रको अपने सिरपर उठाकर आता हुआ वह शुभ समझा जाता है। वह रहस्य यह है कि जिस प्रकार वह अपने कार्यको पूरा करके लौट रहा है, इस प्रकार हम भी अपने कार्यको पूरा करके और धनको सञ्चित करके वापिस लौटेंगे, इस प्रकार उनके मन की प्रसन्नतासे शुभ होना स्वाभाविक है।

(१५) स्नानादिके बाद व्यायाम

स्नान-सन्ध्याके बाद व्यायाम भी लाभजनक है। स्नानसे पहले व्यायाम करने पर उस समय बहुत देर विश्राम करना पड़ता है; पर स्नान-सन्ध्याके बाद विश्रामकी आवश्यकता नहीं होती। व्यायामसे शरीर विभक्त एवं सुदृढ-अवयवों वाला हो जाता है। चर्बी कम हो जाती है। शरीर फुर्तीला हो जाता है। परन्तु व्यायाम भी लघु होना चाहिये। व्यायामके करनेपर अन्नके परिपाकवश पुरुष कभी भी बीमार नहीं होता; यह अनुभवसाक्षिक बात है, इसमें अर्थवाद नहीं है; क्योंकि व्यायाम प्रातःकालीन शुद्ध वायुमें होनेपर फेफड़े शुद्ध हो जाते हैं। तिल्ली और जिगर समतामें रहनेसे उनकी वृद्धिस्वरूप होनेवाले रोगोंकी आशङ्का नहीं रह पाती। शरीर स्वस्थ होनेपर सारे पुण्यकार्य होते हैं; अतः व्यायाम का उपयोग भी धर्मजनक ही है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'।

(१६) खड़ाऊँ पहननेका विज्ञान

खड़ाऊँ पहिनना भी हिन्दुधर्ममें महत्त्वपूर्ण माना जाता है; विशेष करके ब्रह्मचारीगण पहिले इन्हें पहरा करते थे। इसमें भी विज्ञानशून्यता नहीं है। हमारे पूर्वज जिस-जिस वस्तुकी प्रशंसा करते थे, और उनका प्रयोग करते थे; उस-उसमें उन्होंने निगूढ विज्ञान सोचा था। बाहर वे उस विज्ञानको इसलिए प्रकट नहीं करते थे कि ऐसा होनेसे उस नियमका महत्त्व हट जाता है। परन्तु आजका समय उन नियमोंका रहस्य जानना चाहता है। इससे विवशतासे हमें भी उसे बताना पड़ता है। नहीं तो यह समय तो उन नियमोंको व्यर्थ और उनके नियामकोंको मूर्ख मानने को भी तैयार हो जाता है।

खड़ाऊँ इसलिए रखे जाते थे कि—अहिंसाप्रिय हमारे प्राचीन जानते थे कि—अधिकाँश गाय आदिका वध जूतोंके कारण भी हुआ करता है; जो आज़कल प्रत्यक्ष है। और फिर लोग कोमल चमड़ा चाहते हैं कि—पाँव नर्म रहें। इसी कारण जीवित पशुओंकी दुर्दशा करके, उन्हें हण्टर मारकर—भगाकर फिर हिंसा की जाती है, जिससे उनका चमड़ा फूल जाए और नर्म हो जाय। इस हिंसा को दूर करनेकेलिए पूर्वजोंने खड़ाऊँ नियमित किये थे। मृतकके चर्मके स्पर्शसे शरीर भी अशुद्ध रहता है— यह वे जानते थे।

वे यह भी जानते थे कि—खड़ाऊँपर ठहरे हुए पुरुषके ऊपर बिजली नहीं गिरती। जूता पहरे हुए पुरुष यदि प्रमादसे बिजलीको छुए; तो बिजली उसमें संक्रान्त होकर उसे मार देती है;

परन्तु खड़ाऊं पहिरे हुए पर उसका उतना प्रभाव नहीं होता। स्नान करके उसे पहिरने वालेके शरीरमें पृथिवीकी विजली भी संक्रान्त नहीं होती; इससे शरीर स्वस्थ रहता है।

इसके अतिरिक्त खड़ाऊंकी कीलसे पांवके अंगूठेकी नस दबी रहती है; इससे ब्रह्मचारीको कामोत्तेजना नहीं रहती; परन्तु जूता पहरनेसे पांवके अंगूठे वा पृष्ठकी जो नस दबती है; वह काम बढ़ाती है। स्त्रियोंमें कामशक्ति प्रबल होती है पुरुषकी अपेक्षा; अतः स्त्रियाँ जूता पहनकर प्रतिपल कामातुर होकर उन्मार्गगामिनी न हों; एतदर्थ प्राचीन लोग उनका जूता पहनना अच्छा नहीं समझते थे; और उनके पांवके अंगूठेमें चांदीकी आंटी और पांवोंमें चांदीकी कड़ियां पहनाते थे; जिससे उनकी काम-जनक नस दबी रहे।

(१७) सन्ध्या एवं मूर्तिपूजार्थ प्रातः पुष्प-चयनका विज्ञान।

सन्ध्या कालमें देवपूजनार्थ प्रातः फूल चुने जाते हैं; इससे जहां देवताओंकी वैध पूजा होती है; वहां हमारा लाभ भी हो जाता है। उसमें विज्ञान यह है कि हमें फूल चुनने बगीचीमें जाना पड़ता है, वहीं तुलसीपत्र तथा दूर्वा आदि भी हम लेते हैं। सारी रात्रि चन्द्रके अमृत तथा तारोंकी किरणों एवं प्रातःकालकी शुद्ध वायु पाकर पुष्प आदि अमृतमय हो जाते हैं; अतः उनके स्पर्शसे शरीरको स्वास्थ्य तथा मनको शक्तिका लाभ हो जाता है; और फिर प्रातःकालकी हरियाली नेत्रोंको विकसित कर देती है, दृष्टि तीव्र रहती है। तुलसी, दूर्वा, बिल्व आदिके पत्तोंमें मलेरिया आदि रोगोंके दूर करनेमें अद्भुत क्षमता होती है; अतः प्रातः पुष्पोंका

चयन बहुत लाभ-प्रद है।

(१८) विविध आसनोंका विज्ञान।

सन्ध्योपासनाके समय विविध आसनोंपर बैठना पड़ता है। भगवान्‌ने गीतामें आसन कहा है—'चैलाजिनकुशोत्तरम्' (६।११) नीचे चैल-अर्थात् रेशमी वस्त्र बिछावे; उसके ऊपर अजिन-मृगचर्म बिछावे; और ऊपर कुशासन बिछावे। व्याघ्रासन भी बिछाया जाता है। कुशासन तथा रेशमी आसनपर बैठनेसे विद्युत्‌का प्रभाव नहीं पड़ता। अब भी विद्युत्प्रवाहके प्रभावको रोकनेकेलिए बिजली की घरमें स्थित तारको रेशमकी तन्तुओंसे ढकना पड़ता है। राखी बान्धनेके समय भी रेशमसे बनाये हुए रक्षा-सूत्रका हाथोंमें बांधना भी इसीलिए है। रेशम पवित्र भी इसीलिए माना जाता है कि उसके वस्त्र पहिरनेसे दूसरेकी विद्युत् हममें संक्रान्त नहीं होती। जो छुवाछूतके विचार वाले सर्वसाधारणका स्पर्श अपने साथ नहीं होने देना चाहते कि दूसरेसे अपना स्पर्श न हो जाय; और दूसरे को उससे रोकनेमें उसका चित्त भी नहीं दुखाया चाहते अथवा जहां सर्वसाधारणका अपनेसे स्पर्श अनिवार्य देखते हैं; वे समझदार लोग रेशमी तथा शीतकालमें ऊनी-वस्त्र धारण कर लिया करते हैं। इससे उनकी भी इष्टसिद्धि हो जाती है, दूसरेका चित्त भी नहीं दुखता। प्राचीन वैद्य लोगोंके पास जब भंगी भी अपनी नाड़ी दिखाने आया करते थे; तब वे उन्हें निषेध नहीं कर देते थे, किन्तु रेशमी दस्तानेको पहिनकर उनकी नाड़ी देख दिया करते थे, रेशमकी मंहगाईका कारण भी यही है। अस्तु। नीचे रेशमी

आसन बिछानेसे उपासनाके समय पार्थिव विद्युत् हमारे शरीरमें संक्रान्त नहीं हो सकती, इसीलिए हमारे ध्यानमें विघ्न भी नहीं पड़ सकता।

मृगचर्म तथा व्याघ्रचर्म पर स्थिति भी शुद्धि देने वाली है। मृगचर्म पर बैठनेसे उसकी शीतलतावश कामोत्तेजना नहीं होती, जो ध्यानमें विघ्नकारिणी होती है और भगन्दर आदि रोग नहीं होते। यदि हों; तो नष्ट हो जाते हैं। मृगोंमें जो तेज होता है, जिससे वे पवित्र माने जाते थे, और मुनियोंके आश्रमोंमें रहते थे; मृगचर्म पर बैठनेसे वही तेज उस पर बैठनेवाले ब्रह्मचारी आदिको प्राप्त होता है। मृगचर्म इतना शीतल होता है, और कामोत्तेजनाको इतना दबाता है कि—हमें नपुंसकता भी शीघ्र प्राप्त हो सकती है। ब्रह्मचारियोंकेलिए, वानप्रस्थी वा संन्यासियों-केलिए केवल मृगचर्म पर स्थिति भी लाभदायिनी होती है; पर गृहस्थोंकेलिए, तथा ब्रह्मचारी जिन्होंने आगे गार्हस्थ्य लेना है; केवल मृगचर्म पर स्थिति भी ठीक नहीं, अतः उसके ऊपर उन्हें कुशासन वा रेशमी आसन रख देना पड़ता है। उससे उत्तेजना तो दूर रहती है; पर नपुंसकता नहीं आती।

व्याघ्रचर्म पर सर्प-वृश्चिक आदि विषयुक्त प्राणी नहीं चढ़ते; इसलिए व्याघ्रचर्म पर बैठकर ध्यान करनेसे निश्चिन्तता रहती है।

(१६) कुशासन का वैदिक विज्ञान।

सनातनधर्मके प्रत्येक कर्मोंमें कुशका उपयोग दीखता है; परन्तु अर्वाचीन लोगोंकी इधर आस्था नहीं दीखती; अतः वे उसका

उपयोग नहीं करते। कुशोपयोग शास्त्रीय ही है। महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने श्रीपाणिनिमुनिकी अष्टाध्यायी-निर्माणके समयमें भी उनका, हाथोंमें कुशके पवित्रे पहिनना दिखलाया है। देखिये—'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचौ अवकाशे, प्राङ्मुख उपविश्य, महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनापि अनर्थकेन भवितुम्; किं पुनरियता सूत्रेण' (महाभाष्य १।१।१ सूत्र तृतीय आह्निक) यहां श्रीपाणिनिका पूर्वमुख होने तथा दर्भसे पवित्र हाथवाला होनेसे उनके सूत्र-प्रणयनकर्मकी सफलता तथा निरर्थकताका अभाव दिखलाया है। तभी तो पारस्कर आदि गृह्यसूत्रोंमें यज्ञ आदिके समय कुशकण्डिका प्रसिद्ध है। वेदमें भी उसका वर्णन दीखता है—

'दर्भो य उग्र ओषधिः, तं ते बध्नामि आयुषे' (१९।३२।१) अथर्ववेदके इस मन्त्रमें दर्भके धारणसे ओषधि-जैसा प्रभाव तथा आयुकी वृद्धि सूचित की गई है। उसमें रहस्य यह है कि—कुशसे भूतप्रेत आदि की बाधा दूर होती है—यह आयुर्वेदकी संहिताओंमें स्पष्ट है। इसलिए श्रीवाल्मीकिमुनिने कुशोंसे लवकुशकी उत्पत्तिके समय रक्षा की थी। जैसे कि रामायणमें—'कुशमुष्टिमुपादाय लवं चैव स तु द्विजः। वाल्मीकिः प्रददौ ताभ्यां रक्षां भूतविनाशिनीम्' (७।६६।७) यहाँ पूरे कुशसे श्रीरामके बड़े लड़केकी रक्षा की गई; इसीलिए उसका नाम भी कुश रखा गया। छोटेकी रक्षा कुशके लव (अंश) से की गई, इसलिए उसका नाम ही 'लव' होगया; और दोनोंकी आयु भी बड़ी होगई।

'त्वं भूमिमत्येषि ओजसा, त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे। त्वां पवित्रमृषयो भरन्त त्वं पुनीहि दुरितानि अस्मत्' (अथर्व० १६।३३।३) इस मन्त्रमें कुशकी लोकोत्तर-शक्ति, पवित्र करनेकी योग्यता और पापको दूर कर देनेकी क्षमता बताई है; और उसका यज्ञकी वेदीमें उपयोग भी बताया है, 'स्तृणीत बर्हिः' (१।१३।५) इस मन्त्रमें भी यही बताया है; तब यज्ञोंमें गृह्यसूत्रप्रोक्त कुशकण्डिकाकी वैदिकता भी सिद्ध हुई; वेदका विषय यज्ञ भी सिद्ध हुआ। इसी कारण 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०।२५) इस यज्ञस्वरूप जप वा ध्यानादिके अवसर पर भगवान्‌ने 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' (६।११) कुश वा उसका आसन सबसे ऊपर रखवाया है। 'भूमिमत्येषि ओजसा' (अथर्व० १६।३३।३) इस पूर्वोक्त मन्त्रके अंशसे कुशोंकी भूमिकी विद्युत्के निरोधमें क्षमता संकेतित की गई है। तभी तो ध्यानके समय भूमिकी विद्युत्से विघ्न न हो, अतः भूमिपर रखे हुए आसनपर भगवान्‌ने कुशका निवेश भी आवश्यक माना है। इसी कारण पिण्डपितृयज्ञमें पिण्डोंके नीचे भी कुश रखे जाते हैं।

कुशोंका महत्त्व और भी देखिये—'त्वामाहुर्देव वर्म ! त्वां दर्भ ! ब्रह्मणस्पतिम्। त्वामिन्द्रस्य आहुर्वर्म, त्वं राष्ट्राणि रक्षसि' (अथर्व० १६।३०।३) इस मन्त्रमें कुशोंको देवताओंका कवचरूप माना गया है; तब उनकी भूत-प्रेतोंकी बाधाको दूर करनेमें क्षमता भी सिद्ध होगई। कई व्यक्ति भूतप्रेतोंको कीटाणुरूपमें मानते हैं; तब इनकी कीटाणुओंको दूर करनेकी शक्ति भी सिद्ध होगई। ब्राह्मण-भागात्मक वेद-शतपथ (वाजसनेयक)में भी कहा है—'या वै वृत्राद्

बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायन्, ते दर्भा अभवन् [यहाँ दर्भोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है] यद् दृभन्त्य उदायन्, तस्माद् दर्भाः। ता ह एताः शुद्धा मेधा आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद् दर्भा, यदु दर्भाः, तेन ओषधयः' (७।२।३।८) यहां पर पापों तथा रोगोंकी दूर करनेकी शक्ति दर्भमें कहकर उन्हें ओषधिस्वरूप बताया गया है।

दर्भ (कुश)के धारणसे पवित्रता भी बताई गई हैं। जैसे कि 'अमेध्यो वै पुरुषो यद् अनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः [यहाँ मनुष्यको असत्यभाषी होनेसे भीतरसे अपवित्र बताया गया है। उसकी भी पवित्रता कुशोंसे बताते हैं—] मेध्या वै दर्भाः, मेध्यो भूत्वा दीक्षै इति। पवित्रं वै दर्भाः। पवित्रपूतो दीक्षै इति। तस्माद् एनं दर्भ-पवित्रेण पावयति' (शतपथ ३।१।३।१८) यहांपर यज्ञकी दीक्षामें कुशोंका पवित्रा (अंगूठी) पहिनना कहा है।

कुशमें एतदादिक विज्ञान भरे होनेसे ही सनातन-हिन्दुधर्मके प्रत्येक कर्मोंमें—चाहे मृतककर्म हो, चाहे विवाहादि शुभ कर्म हों—कुशोंका उपयोग आदिष्ट किया गया है। वेदमें अन्य भी इसके लिए कहा है—'स नोऽयं दर्भः परिपातु विश्वतो देवो मणिरायुषा संसृजाति नः' (अथर्व० १९।३३।३) 'दर्भो य उग्र ओषधिः तं ते बध्नामि आयुषे' (अ० १९।२८।१) इसमें कुशको आयु देनेवाला कहा गया है—उसमें कारण शरीरको दूषित करनेवाले कीटाणुओंका दूर करना ही है। इसी कारण सूर्य-चन्द्र आदिके ग्रहणके अवसर पर जब कीटाणुओंका प्राबल्य हो जाता है—उनके

उपशमनार्थ कीटाणुओंको दूर करनेकेलिए कुशका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार कुशोंका उपयोग जहां शास्त्रीय सिद्ध हुआ; वहां विज्ञानपूर्ण भी सिद्ध हुआ; कुशासनमें भी प्रायः वे ही लाभ सिद्ध हुए; इसलिए कुशासन अदृष्टमें पुण्यदायक होता हुआ दृष्टमें भी लाभदायक सिद्ध हुआ।

(२०) मृगचर्मासनका वैज्ञानिक रहस्य।

ध्यानमें भगवान्के वाक्यमें 'अजिन'—मृगचर्मका उपयोग भी आया है। इसे भी शास्त्रकारोंने परम पवित्र माना था। यज्ञोपवीत के समय ब्राह्मण-ब्रह्मचारीको मृगचर्म ओढनेके लिए कहा गया है। तपोवनोंमें मृगोंका रहना भी उनकी पवित्रता सूचित करता है. इसी प्रकार मृगचर्मासनका भी बहुत महत्त्व आया है। हमारे हिन्दुधर्ममें जिस भी पदार्थकी बहुत प्रशंसा आई है; विचारने वा अनुसन्धान करनेसे उसमें रहस्यपूर्णता प्रतीत होती है। जो जीवितमें गुण होता है उसके चर्ममें भी वह गुण देखा गया है। कहते हैं कि एक स्थानमें एक ढोलक थी बकरीके चमड़ेकी; दूसरी थी शेरके चमड़ेकी। जब शेरके चमड़ेवाली ढोलक पर थाप दी जाती थी, तो बकरीके चमड़ेवाले तबलेका स्वर गिर जाता था; उसे बांटोंकी मारसे फिर ठीक करना पड़ जाता था। इसमें कारण क्या ? वह यही कि शेरकी खालका भी प्रभाव बकरीकी खालपर मृतकावस्थामें भी हुआ।

वर्तमानकालके नवयुवक नवीन-विज्ञानके चमत्कारसे चकाचौंध आँखोंवाले होकर ऋषि-मुनियोंको उससे अनभिज्ञ जानकर उनसे

नियमित व्यवहारोंको अज्ञान मानकर, उनके प्रवर्तकोंको डैमफूल, वा पोप कहनेमें नहीं सकुचाते; पर उनकी आंखें तब खुलती हैं; जब उन्हीं व्यवहारों वा नियमोंको वर्तमान विज्ञानसे भी अनुमोदित देखते हैं। इसका उदाहरण भी देख लीजिये।

सनातनधर्मी हिन्दु प्रातः दातुन किया करते थे; पर यह अर्वाचीन उन पर हँसते थे कि मुँहमें लकड़ी चबाते रहते हैं, उसका उपयोग नहीं करते थे। पर आजके विज्ञानने सिद्ध कर दिया कि अधिकांश बीमारियाँ दाँतोंकी मलिनता रहनेसे हुआ करती हैं। एक तो मैल भीतर रह जानेसे दाँत गिरते जल्दी हैं, दाँतोंकी शिथिलतासे दृष्टि भी क्षीण होती है, अजीर्ण (बदहज़मी) भी जल्दी होती है, बाल भी जल्दी सफेद हो जाते हैं, बुढ़ापा भी जल्दी आ जाता है, मुँहसे दुर्गन्ध अलग फैलता है। अतः जीवन के आनन्दकेलिए जैसे शुद्ध जल तथा शुद्ध वायुकी, तथा शुद्ध भोजनकी प्रयोजनीयता है, वैसे ही दन्त-शुद्धिकी भी आवश्यकता है। दातुनसे दाँत दृढ हो जाते हैं, पाचनशक्ति अच्छी रहती है। दृष्टि तीव्र हो जाती है, आँखोंमें रोग नहीं होता, जुकाम नहीं होता। यह जब नवयुवकोंने सुना; तब उन्होंने भी दन्तधावन शुरू किया; पर वह भी प्राचीन-प्रणालीसे नहीं; किन्तु अर्वाचीन-प्रणालीसे। वे सुअर आदिके बालोंसे बने हुए ब्रुशोंसे अशुद्ध अंग्रेजी दवाइयाँ दाँतोंकी शुद्ध्यर्थ सेवन करते हैं। फिर भी वे प्राचीनोंका विज्ञान-प्रेम नहीं पहचान सकते। प्राचीन महानुभाव दन्तधावनार्थ विविध वृक्षोंके काष्ठका उपयोग करते थे, जिनमें विविध लाभ थे। जहाँ

पर कौडियोंके व्ययसे सुलभता थी। अपना धन अपने ही देशमें रहे—यह अर्वाचीन लोग प्राचीनतामें नहीं विचारते।

इस प्रकार जिस मृग-चर्मके आसनका यज्ञोपवीतके आरम्भमें पूर्वजोंने आदेश दिया था; उसमें अर्वाचीनोंने यह आक्षेप किया कि—सनातनधर्मी तो चमड़ेको अशुद्ध मानते हैं; तब मृग-चर्मका आदेश क्यों देते हैं? पर दयनीय-बुद्धिवाले वे प्राचीनोंके अभिप्रायोंको नहीं समझ पाते। अरे भाई! हमारे प्राचीनोंने विज्ञानको जान रखा था। वे पशुको अशुद्धोंमें गिनते हैं; पर उन्होंने गायको शुद्ध माना; लेकिन उसके मुखको अशुद्ध माना। वे मूत्रको अशुद्ध मानते हैं; पर गोमूत्रको उन्होंने शुद्ध माना। विष्ठाको वे अशुद्ध मानते थे; पर गोबरको उन्होंने शुद्ध माना। सामान्य-शास्त्रके अपवाद भी अवश्य हुआ करते हैं। इसीसे प्राचीनोंने चर्मको अशुद्ध मानते हुए भी मृग-व्याघ्रादि चर्मको शुद्ध माना; और उनका उपयोग आदिष्ट किया। क्योंकि अनुसंधानसे उन्हें उसमें पवित्र विद्युत्-शक्ति प्राप्त हुई, और इस प्रकारकी प्रभा उसमें उनको प्राप्त हुई, जिससे विशेषतया योगी एवं ब्रह्मचारी लाभको प्राप्त करते हैं। कीड़ा अशुद्ध था; पर उससे निकले रेशमको उन्होंने पवित्र कहा। उच्छिष्टको वे अपवित्र कहते हैं; पर बछड़ेके पीनेसे निकले हुए उच्छिष्ट भी गोदुग्धको उन्होंने पवित्र माना। वमन (उल्टी)को अपवित्र कहते हुए भी शहदको उन्होंने पवित्र माना। कौए की वींटको अपवित्र मानते हुए भी उन्होंने तदुत्पन्न पीपल और वट वृक्षको पवित्र माना। वीर्यको मल मानते हुए भी तदुत्पन्न पुत्रको

उन्होंने अपने हृदयका आधार माना। यह क्यों ? इसमें हमारे पूर्वजोंके विज्ञानका ज्ञान ही कारण है।

अब मृग-चर्मकी भी सुनिये। एक आयुर्वेद विद्वान्का मित्र भगन्दर रोगसे ग्रस्त था। पर्याप्त परिश्रम करने पर भी वह स्वस्थ न हो सका। अंग्रेजी चिकित्सामें प्रवीण डाक्टर भी उसे ठीक नहीं कर सके। यदि भगन्दर दवता था; तो ववासीर हो जाती। वह ठीक हो जाती; तो रोगकी कोई अन्य शाखा निकल आती। रोग क्रमशः भयङ्कर होता हुआ चला जा रहा था। तब उस आयुर्वेद-विद्वान्ने उसे मृग-चर्मके आसनके तथा रवितापडवरस और सौभाग्यादि-मरहमके उपयोगार्थ कहा। ऐसा करने पर उस फोड़ेसे पीप निकलना तीसरे दिन ही बन्द होगया। उस गाँठरूप व्रणका स्थान भी एक सप्ताहमें स्वाभाविक रूपमें परिणत होगया। उक्त चिकित्साके अपूर्व प्रभावको देखकर डाक्टर भी चकित होगये।

इस प्रकार उसी वैद्यके पास एक भयानक बवासीरका रोगी आया। उसे भी उसने मृगचर्मासनका उपयोग लेनेको कहा। उसका भी वह रोग हट गया। एक वर्ष ऐसा करनेसे दोनों ही रोगी पूर्ण स्वस्थ हो गये। तब उस वैद्यने मृगचर्मके गुणोंके अनुसन्धानार्थ प्रयत्न किया। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंसे भी उसने विचारविनिमय किया। पर वे उसका कारण न जान सके। तब उसी वैद्यने उपवेदस्वरूप आयुर्वेदके सुश्रुतसंहिता आदि ग्रन्थोंके अनुशीलनसे आशारूप-अरुणकी कतिपय किरणें देखीं। उसने विचारा कि—जिस प्रकार वृक्षोंके जो गुण कहे गये हैं; वे उसकी

त्वचामें भी माने जाते हैं; वैसे मृग-मांसके जो गुण सुश्रुतादिमें कहे गये हैं, वे उसकी त्वचा (चर्म)में भी मिलने सम्भव हैं। भेद केवल बाहर-भीतरका ठहरता है, जो सूक्ष्म-बुद्धिसे विचारनेपर हट जाता है। भगवान् धन्वन्तरिने जाङ्गल मृगके वर्णनावसरमें कहा है—'जाङ्गला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तापहाः, तीक्ष्णाः, हृद्याः, वस्तिशोधनाश्च'। (सुश्रुत० सूत्रस्थान ४६ अ०) इस प्रकार मृग कषाय और मधुर-गुणविशिष्ट होनेसे वात और पित्तको नष्ट करके रक्तविकारको दूर कर दिया करते हैं। भगन्दर और खूनी बवासीरमें वात-पित्तके द्वारा रक्तमें दबाव अवश्य पड़ता है। जैसा कि कहा है—'वाताद् ऋते नास्ति रुजा, न पाकः पित्ताद् ऋते'। सम्भवतः इसीसे ही मृगचर्मके निरन्तर सेवनसे उक्त रोग नष्ट हो गये। यह मृगचर्म भी स्वतः मरे हुए मृगोंका होना चाहिए, वध किए हुए मृगोंका नहीं। एक तो उसमें हिंसा-दोष उपस्थित होता है; दूसरा मारनेके समय जो उनकी दयनीय-दशा होती है; वे गुण उसके भीतरसे भी नष्ट हो जाते हैं, बाहर क्या रहेंगे? अतः उसका मांस भी उपयोग-योग्य नहीं। अस्तु

विज्ञानका परिशीलन भी उक्त विषयमें सहायता देता है कि मृगचर्ममें भी विशेष विद्युत्की तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनका प्रभाव जीवित प्राणियोंके स्नायुमण्डलपर अद्भुत होता है। प्रकृत विषयमें तरङ्गोंके संक्रमणका वास्तविक मार्ग गुदाके विवरमें स्थित स्नायुमण्डल ही है। उस स्नायुमण्डलका प्रधान-केन्द्र नाभिमण्डल है। यहींसे विभिन्न प्रान्तोंकेलिए आवश्यक सामग्री जाती है।

नाभिसे ही सम्बद्ध महाप्रचीरानामकी नाडी है, जो अर्श (ववासीर) का अधिष्ठान कही जाती है। यहीं पित्त धारण करनेवाली ग्रहणी कला विद्यमान होती है, जो अग्निका अधिष्ठान है। कुण्डलिनी-चक्र भी यही है, जिससे योगाभ्यासी मनका निग्रह करते हैं। अर्शकी भांति भगन्दरमें भी कई कारणोंकी समता मिलती है। इस कारण मृगचर्मोत्पन्न विद्यु तकी तरंगें उक्त रोगोंको नष्ट करनेमें समर्थ होती हैं। अन्य रोगोंमें भी इस प्रकार मृगचर्मासनकी सफलताकी आशा है। इसीलिए भगवान् नन्दनन्दनने 'चैलाजिन-कुशोत्तरम्' (गीता ६।११)में आसनमें 'अजिन' (मृगचर्म)का भी ग्रहण किया। वेदमें भी 'परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च। सर्वे देवा अतित्रसन्' (अथर्व० ५।२१।७) इस मन्त्रमें नगाड़ेके शब्द तथा मृगचर्मसे शत्रुओंका देवताओं द्वारा डराना कहा है। सो यहां शत्रु यही रोग इष्ट हो सकते हैं, जिनसे हमारा सतत युद्ध जारी रहता है, नगाड़ेके शब्दसे भी कई रोग-कीटाणुओंका नाश होता है—वह भी इससे सूचित होता है; इसीलिए जो कि—देवमन्दिरोंमें मृगचर्मका आसन तथा नगाड़ा भी रखा जाता है—उसमें बहुत लोगोंका सम्मर्द होनेसे जो कि—रोग-कीटाणुओंका आक्रमण आशङ्कित होता है-उनका दूर हो जाना इन मृगचर्म तथा नगाड़ेके शब्दसे इस मन्त्र द्वारा सूचित हो रहा है। हमारे पूर्वज बहुत दूरदर्शी थे; विचारनेपर हमें उनकी दूरदर्शिता समय-समयपर मिलेगी। अथर्ववेदसंहिता आयुर्वेदका मूल माना जाता है। तब इस अथर्ववेदके सूक्तमें जो युद्धदुन्दुभि वर्णित की गई है, बहुत

सम्भव है यह रोगके विरुद्ध ही युद्धकी विजय-दुन्दुभि हो, अस्तु।

यद्यपि प्राचीन ऋषि-मुनियोंने एतदादि विज्ञान अपने मुखसे नहीं कहे; तथापि उन्होंने इस विषयमें एतदादिक ही विज्ञान अपने हृदयमें निहित किया था—यह उनके उक्त पदार्थोंकेलिए बहुत बल देनेसे स्फुट हो रहा है। यह हमने बहुत बार कहा है, और यह ठीक भी है कि—उनकी एकदादिक विधियोंका साक्षात् उद्देश्य तो आमुष्मिक फल ही था; परन्तु वे ही विधियाँ ऐहिक फलको भी रखती हैं, जिससे हमारा शरीर शुद्ध और स्वस्थ रहे। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। इसी शरीरके द्वारा ही तो कर्म करनेसे पारलौकिक फल मिल सकता है; तब पारलौकिक भी विधियां ऐहलौकिक भी स्वतः सिद्ध हुईं। तब जो यज्ञोपवीतकालसे ही मृगचर्मका धारण ब्रह्मचारीको आदिष्ट किया है; सो ब्रह्मचर्यकालसे ही उसका उपक्रम मृगवाली सात्त्विकता लाने एवं हमें जर्जर कर डालनेवाली भावी व्याधियोंके निवारणार्थ ही था, जिससे 'न रहे बांस न बजे बांसुरी' रोगोंकी आशङ्काका बीज ही नष्ट हो जावे। यह यहाँ स्पष्ट हो रहा है।

(२१) देवकार्य पूर्वाभिमुख।

स्नानादि करके फिर सन्ध्योपासनादिका क्रम होता है; यह आवश्यक है। जिस परमात्माने हमें संसारमें भेजा, जिसकी शक्ति रूप देवताओंने हमारी सत्ताको स्थिर किया, हमारा संरक्षण किया; यदि हम उन देवताओं तथा देवदेवके लिए पन्द्रह-बीस मिनट समय निकालकर उनकी उपासना करके दूसरे रूपमें उनकी

कृतज्ञता स्वीकार नहीं करते; तो हमसे बढ़कर दूसरा कृतघ्न कौन हो सकता है; आगे भी हमें उन्हींसे अपने मनोरथोंको प्राप्त करना है, उन्हींके आश्रयसे सांसारिक कार्य-निर्वाह करना है; अतः सन्ध्योपासन हमारा आवश्यक कर्म वा नित्यकर्म ठहरता है—इस को छोड़नेसे हम कृतघ्न एवं शूद्रवत् हो जाते हैं। अतः इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यह देवकार्य है।

देवकार्य पूर्व दिशा वा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके किये जाते हैं। 'प्राची हि देवानां दिक्' (शतपथ० १।७।१।१२) यहां देवताओंकी दिशा पूर्व कही गई है। देवताओंके राजा इन्द्रकी दिशा भी पूर्व मानी गई है। जैसे कि अथर्ववेद-संहितामें कहा है—'प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजा' (६।९८।३)। 'इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्' (अथर्व० ६।१२।२२)। देवताओंकी दिशा पूर्व है—यह प्रत्यक्ष भी है, देवतारूप जितने ग्रह-नक्षत्र हैं; वह पश्चिमसे पूर्वकी ओर जा रहे हैं; इससे स्पष्ट है कि—वही उनकी दिशा है। स्थावर-जङ्गमके आत्मा सूर्य आदिका उदय भी तो पूर्व दिशामें ही दीखता है। पश्चिम अस्तकी दिशा है। सूर्यके साथ सन्ध्याका सम्बन्ध होनेसे सायं-सन्ध्या पश्चिमाभिमुख भी होती है; शेष सब देवकर्म पूर्वाभिमुख ही होते हैं। इससे भारतीयोंको यह भी संकेत हो रहा है कि—तुम भी पूर्वके भक्त बनो; तुम्हारा भी उदय होगा। यदि पश्चिमके भक्त बने; तो तुम्हारी भारतीयता का भी अस्त होगा। पूर्व-दिशासे ही प्राणशक्तिका अभ्युदय होता है। पूर्व-दिशा तेजस्विनी दिशा होनेसे हमारी भी तेजस्विता का कारण बनती है। उत्तर दिशा

भी देवताओंकी दिशा मानी गई है। उत्तरायण होनेपर सूर्यका इधर ही झुकाव होता है। देवयान भी इधर ही माना गया है। उत्तरायण ही देवताओंका दिन होता है। देवाधिदेव महादेवकी ईशानकोण भी पूर्व और उत्तर दोनोंसे ही मेल खाती है। अतः देवकार्य पूर्वोत्तर ओर अभिमुख होकर करना निराधार नहीं।

(२२) चन्दन-तिलक धारण-विज्ञान।

स्नानके बाद सन्ध्याके अवसरमें अपने देवको चन्दन चढ़ाकर स्वयं माथेमें चन्दनका तिलक लगाना भी प्राचीन रीति है। जैसे कि आपस्तम्बगृह्यसूत्रमें कहा है—'चन्दनेन उत्तरैर्देवताभ्यः प्रदाय, उत्तरया अनुलिप्य' (५।१२।१८)। मीमांसादर्शनके शावर-भाष्यमें भी कहा है—'देवाय धूपो देयः, पुष्पाणि अवकरितव्यानि, चन्दनेन अनुलेप्तव्यः, उपहारोस्मै उपहर्तव्यः, एवं कृते देवस्तुष्यति' (५।१।४) यहां देवताको चन्दन चढ़ानेसे देवताकी प्रसन्नता बताई गई है। अस्तु।

चन्दन लगाना जहां पुण्यकार्य है, वहां लाभ-दायक भी। इससे दुर्गन्ध आदि दूर होती है। जो कि आजकलके व्यक्ति पुण्य नहीं मानते; उसमें उनके मस्तिष्ककी निर्बलता ही कारण है। यदि वे मस्तकमें चन्दन लगावें; तो उनका मस्तिष्क भी बलवान् बने। बात यह है कि—मस्तकमें ऊष्माकी स्थिति होनेसे ही मस्तिष्कमें विकृति उत्पन्न होती है, और मस्तिष्ककी विकृतिसे ही दुष्कर्म होते हैं। मस्तकमें चन्दन लगानेसे उसमें ठण्डक रहती है, जिससे मस्तिष्क प्रकृतिस्थ (स्वस्थ) रहता है। मस्तिष्कके स्वास्थ्यमें सुकर्म होते हैं;

अतः चन्दन लगानेमें पुण्य स्पष्ट ही है।

'दुर्गन्धादिके दूर करनेके प्रयोजन वाले चन्दनानुलेपनका धर्मसे सम्बन्ध कैसा ?' प्रतिपक्षियोंको अपने इस प्रश्नका उत्तर अपने हवन-द्वारा जान लेना चाहिए। जैसे वे भी दुर्गन्धादि दूर करना ही हवनका प्रयोजन मानते हैं; तथापि जैसे उसे धर्म-कर्म कहते हैं, वैसे यहां भी समझ लेना चाहिए। वहाँ सारे देशका उपकार माना जाता है, यहाँ प्रत्येक व्यक्तिका होकर क्रमशः समाज का, इस प्रकार समूचे देशका उपकार हो जाता है।

'अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परन्तपम्' (वाल्मीकि० २।१६।६) यहाँ भगवान् रामका चन्दनानुलेपन स्पष्ट है। श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे; अतः चन्दनका लगाना भी प्राचीन मर्यादा हुई। चन्दनके गुण राजनिघण्टुमें कहे गये हैं; तब उसके अनुलेपन करनेवालेको भी वे ही गुण प्राप्त होंगे। तब जहाँ चन्दनानुलेपन की प्राचीनता सिद्ध हुई; वहां वैज्ञानिकता भी। वैज्ञानिकता यह है—नासिकामें दो बिजुलियाँ रहती हैं, एक नैगिटिव, दूसरी पाज़िटिव। एक ठण्डी होती है, दूसरी गर्म। ये दोनों यहांसे मस्तक तक दो नसोंके रूपमें प्राप्त हैं। जब विद्युत्-प्रवाह प्रवाहित होता है; तब उसमें ऊष्मा बढ़ती है। उसमें ठंडक रखनेकेलिए मस्तकके ठीक मध्यमें चन्दनतिलक लगानेका विधान है; नहीं तो विद्युत्-प्रवाहसे ऊष्मा बढ़ जानेपर मस्तिष्कमें भी ऊष्मा जा पहुँचनेसे या पाप-सम्भावना होती है—या मस्तिष्ककी नस ही टूट ज़ाती है, जिससे जीवन की भी समाप्ति हो जाती है। चन्दना-

नुलेपन उस आशंकाको दूर करता है, इसके कारण अकालमृत्युकी सम्भावना नहीं रहती। अविश्वासियोंको इस विषयमें अविश्वास दूर करके इस वैदिक आदेशका अनुसरण करना चाहिए—'ओषधयः शान्तिः (यजु० ३६।१७)।

(२३) भस्मतिलक-विज्ञान।

हिन्दुधर्ममें बहुतसे व्यक्ति माथेपर भस्म-धारण भी करते हैं, यह भी महत्त्वपूर्ण नियम है। परन्तु आजके नवशिक्षित इससे भी घृणा करते हैं; पर यह ठीक नहीं। नवशिक्षितोंके दादागुरु स्वामी दयानन्दजी भी चन्दन लगाया करते थे; यथासमय भस्म भी—यह उनके जीवनचरित्रमें स्पष्ट है। तब दूसरों पर आक्षेप कैसा? वस्तुतः भस्मधारण भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुओंके आराध्यदेव महादेव भी भस्म लगाया करते हैं; साधु एवं योगी भी भस्म लगाते हैं। भस्मधारणसे तेजकी रक्षा रहती है। उससे शीत नहीं लगता, तभी तो साधु सब अङ्गोंमें भस्म लगाकर शीतकालकी रात्रियोंको बिता दिया करते हैं, सन्धुक्षित की हुई अग्नि भस्ममें जितना अपना तेज स्थापित कर सकती है; उतना बाहर नहीं। बाहर जल्दी समाप्त हो जाती है।

कइयोंकी आशङ्का होती है कि—'भस्म लगानेसे रोमकूप बन्द हो जाएंगे; उस दशामें 'कार्बोनिक गैस (विषाक्त वायु) भीतर से बाहर न जा सकेगा; और ऑक्सिजन गैस (प्राणप्रद वायु) बाहरसे भीतर न जा सकेगी। तब भस्म लगानेवाला बीमार पड़ जाएगा'। पर यह आशङ्का व्यर्थ है। भस्म स्वयं ऑक्सिजन वायुको खींचकर

भीतर प्राप्त कराती है; और भीतरी दूषित विकारोंको बाहर कर देती है।

बाहर संधुक्षित हो रही हुई ईन्धन लोगोंकी आँखोंको दुखाती है, परन्तु राखमें गाड़ी हुई वह आँखोंको नहीं दुखाती। जब उसके ऊपर घाम पड़ती है; तब जल-तरङ्गकी भांति ज्योति नीचे-ऊपर यातायात करती है; इस प्रकार भस्म लगानेवालेके भी विकारी द्रव्य बाहर निकल जाते हैं; परन्तु प्राणरक्षक तेज नष्ट नहीं होता।

भस्ममें पोटास, सोडा, चूना, मैगनेशिया, लोहभस्म, एल्यूमिना, सिलकनभस्म आदि अनेक गुणकारी पदार्थ मिले हुए होते हैं। इसलिए भस्म तेजकी रक्षा करती है, रोम कूपोंको खोलती है, दुर्गन्ध वा मलको नष्ट करती है, खराब वायुको बाहिर निकालती है, शुद्ध वायुको अन्दर लाती है, जठराग्नि (भूख) को बढ़ाती है, त्वचाको स्वच्छ करती है, व्रण वा ज़ख्मको शुद्ध करती है, विष हटाती है, कृमियोंको दूर करती है; ज्वर, सर्दी, वातपित्त, शूल, रक्तविकार, बीमारी, प्लेगरोग, त्वचारोग और उदर रोगोंको दूर करती है।

जठराग्निको पोषण करनेका प्रमाण यह है कि—जैसे भस्ममें गाड़ी हुई अग्नि परिपुष्ट होती है; बाहर वाली अग्नि वैसे नहीं; वैसे ही जठराग्नि भी भस्मयोजनसे बढ़ती है। दुर्गन्ध दूर करना यह भस्मका स्वाभाविक गुण है। विकृत जलमें भस्मके डालनेसे उसका दुर्गन्ध दूर होता है। भस्मसे बिच्छूका विष भी दूर होता है। भस्मसे आयु भी बढ़ती है; उसका कारण यह है कि–हमारी

आयु हमारे तेज पर आश्रित है। जब तक तेज सुरक्षित है; तब तक तेज बढ़ता है। भस्म तेजको स्थिर करती है; अतः उससे आयु बढ़ती है; इसीलिए 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' (यजुः ३।६२) इस मन्त्रसे जो यज्ञकी भस्म माथा, ग्रीवा, और हृदयमें लगाते हैं; उसमें बड़ी आयु दिखलाई गई है।

फलतः संसारमें कोई भी ऐसा रोग नहीं है, जिसे भस्म, भस्म न करती हो। इसीलिए आयुर्वेदमें भस्मकी महिमा अधिकतासे मिलती है। वैद्य सुवर्णादि-धातुओंका संशोधन कर उसकी भस्म बनाकर रख लेते हैं; जिनसे वे भयङ्कर रोगोंको दूर करते हैं। सुवर्ण, पारदादिकी भस्ममें जैसे वे-वे गुण होते हैं; वैसे ही गोबरकी भस्ममें भी गोबरके गुण रहा करते हैं। गोबरके गुण आगे कहे जावेंगे।

इस प्रकार होलीकी भस्ममें उसकी विशेषतावश विशेष गुण होते हैं। बच्चोंकी आँखों पर उसे बाँधनेसे गर्मीके समय आई हुई आँखोंकी लालिमा शान्त हो जाती है। बच्चोंके गलेमें भी उसे यन्त्र (तावीज)की भांति बाँधा जाता है; जिससे उसकी भूत-प्रेतादिसे रक्षा होती है। भूत-प्रेत आदि योनियाँ भी हैं; इसका निरूपण 'श्रीसनातनधर्मालोक'के किसी अन्य पुष्पमें होगा; वेद और उपवेदसे उनकी सिद्धि की जाएगी। यज्ञकी भस्म तो अभि-मन्त्रित होनेसे और चरुका परिणाम होनेसे अधिक लाभ-प्रद होती है। इसीलिए 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इस मन्त्रके द्वारा उसे ललाट, ग्रीवा, स्कन्ध तथा हृदयादिमें जोड़ना गृह्यसूत्रोंमें कहा है। जिस प्रकार सोने, चाँदी, हीरा, मोती आदिकी भस्म अनेक रोगों

को दूर करनेमें समर्थ होती है; वैसे ही यज्ञ-भस्म भी किसी बढ़ियासे बढ़िया ओषधिकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसके उपयोगसे जहाँ अनेक शारीरिक रोग दूर होते हैं; वहाँ उन्माद, बुद्धिमन्दता, उत्तेजना, आवेश आदि मानसिक रोगोंका भी निवारण होता है। मस्तक पर यज्ञभस्मका तिलक लगानेसे आज्ञाचक्र, सहस्र-दल-कमल, ब्रह्मरन्ध्र आदि अनेकों सूक्ष्म आध्यात्मिक केन्द्रोंका विकाश होता है। हृदय पर लगानेसे सूर्य-चक्र जागरित होता है। अन्तःकरण-चतुष्टयमें तामस तत्त्व घटकर सात्त्विक तत्त्व बढ़ जाते हैं। यज्ञकी अग्नि घी पीकर बलवान् हो जाती है; उसकी भस्ममें भी वही गुण होता है। तब उसकी भस्मका तिलक लगाना कोई उपहासकी बात नहीं। कई योगियोंका चिताभस्म लगाना—इस बातके स्मरणार्थ है कि—कभी हम भी इसी प्रकार जलेंगे; अतएव इस संसारकेलिए किसी दूसरेकी हानि न करें; असत्कर्म न करें—इत्यादि। इस प्रकार भस्मका धारण भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(२४) मूर्तिपूजा-विज्ञान

सन्ध्योपासनाके समय देवमूर्ति-द्वारा देवकी पूजा भी की जाती है; पर अर्वाचीन लोग मूर्तिको जड़ मानकर उसकी पूजा से घृणा करते हैं; पर उन्हें जानना चाहिये कि—जड़ ही जड़ (मूल)-सबका आधार हुआ करती है। जड़-सेवाके बिना किसीका भी कार्य नहीं चलता। दूसरेके आत्माकी प्रसन्नतार्थ उसके आधारभूत जड़-शरीर वा उसके अङ्गोंकी सेवा करनी पड़ती है। परमात्माकी उपासनार्थ भी उसके आश्रय-स्वरूप जड़-प्रकृतिकी पूजा करनी पड़ती है। वायु

लोकदृष्टिमें जड़ है, पर क्या उसकी सेवाके विना कोई भी प्राणी जी सकता है ? जड़-अग्निकी सेवाके विना क्या आप कोई कार्य कर सकते हैं ? क्या अपना पेट भी पाल सकते हैं ? जड़-जलके सेवनके विना क्या कोई रह सकता है ? धन भी जड़ है, उसकी उपासनाके विना भी कोई पुरुष सांसारिक निर्वाह कर सकता है क्या ? जड़-प्रकाशकी उपासना करके आप कितने लाभ उठाते हैं।

इस प्रकार जब आप सर्वत्र जड़ोपासना ही कर रहे हैं; तब आप मूर्तिपूजासे क्यों घबड़ाते हैं ? उसमें तो आप जड़के द्वारा अणु-अणुमें व्यापक चेतन (सच्चिदानन्द)की पूजाको कर रहे होते हैं। आपका शरीर जड़ है; क्या उसके बिना भी आप कोई उपासना कर सकते हैं ? शब्द भी जड़ है; उसकी उपासनासे तो सारा संसार लाभ प्राप्त कर रहा है, निश्चित वृत्त जान रहा है।

आप जिस बुद्धि वा जिस मनको आधारीभूत करके परमात्मा का ध्यान कर रहे होते हैं; क्या वे भी जड़ नहीं हैं ? आप (आक्षेप्ता) भी तो मानते हैं कि—परमात्मा भी जड-प्रकृतिके बिना कुछ भी नहीं कर सकता, सृष्टि भी नहीं कर सकता। तब सिद्ध हुआ कि—जड और चेतनका परस्पर सम्बन्ध है। तब परमात्मा भी किसी मूर्तिके बिना उपास्य कैसे हो सकता है ?

बिजुली तबतक प्रकट नहीं हो सकती, जबतक उसके साथ प्रकट करनेवाला केन्द्र-काचका लट्टू न लगाया जावे, वा बिजलीका पंखा उसका आधार न हो। इस प्रकार ईश्वर भी केन्द्रसे प्रकट होता है, जैसे गायका दूध गायके स्तनको द्वारीकृत करके प्रकट

होता है, यद्यपि वह दूध उसके सारे अङ्गोंमें व्याप्त होता है। दूध वा माखन गायसे चाहे अभिन्न हैं; लेकिन गायकी पुष्ट्यर्थ उन्हें गायसे भिन्न किसी पात्रमें दुहकर वा मथकर उसे गायको खिलाने पर ही गायकी पुष्टि हुआ करती है, वैसे ही परमात्मा हममें सर्व-व्यापक होनेपर भी उसे किसी मूर्तिमें प्रतिष्ठित करके उसकी उपासना ही हमें लाभप्रद हो सकती है। मूर्तिपूजाके पूर्ण-रहस्य-ज्ञानार्थ पाठकोंको 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका चतुर्थ पुष्प हमसे मंगाना चाहिये।

(२५) चरणामृतका विज्ञान।

मूर्तिपूजामें चरणामृत भी हुआ करता है। शालग्राम-मूर्तिमें सुवर्णका अंश रहता है। कसौटीके पत्थरमें भी सुवर्णत्व होनेसे सुवर्णकी चमकीली रेखा खिंचती है। सुवर्णसे वेद १०० वर्षकी आयु मानता है। उस शालग्रामके साथ गङ्गाजल भी होता है, तुलसीपत्र भी। इस प्रकारका चरणामृत 'अकालमृत्युहरण' हो यह स्वाभाविक है। इसकी स्पष्टता आगे होगी।

(२६) मार्जन-विज्ञान।

अब सन्ध्याके अङ्गोंपर विचार किया जाता है। उसमें पहले मन्त्रद्वारा मार्जन करना पड़ता है। मार्जनमें शोधनकी अद्भुत क्षमता है। जब कारण-विशेषसे या रोगादिसे स्नान नहीं किया जा सकता; वहाँ स्नानका प्रतिनिधिभूत मार्जन प्रयुक्त किया जाता है। मार्जनसे शरीर-गत सूक्ष्मदोष हट जाते हैं। प्रायः दोष तेज, रक्त तथा शुक्रमें रहा करते हैं। इन तीन प्रकारके दोषोंकी निवृत्त्यर्थ

कुशोंका, अपामार्ग तथा दूर्वाका मार्जन उपयुक्त किया जाता है। कुशसे तेजगत दोष, अपामार्गसे विशेषरूपसे रक्तगत दोष, और दूर्वासे शुक्रगत दोष दूर किये जाते हैं।

कुशोंमें विसर्पदाह, रक्त-मूत्राशय और नेत्र रोगोंको शान्त करनेमें क्षमता है, और दूर्वामें रक्तपित्त, कफ, दाह, पिपासा और क्षयको दूर करनेकी योग्यता है, अपामार्गमें कफ, वायु, दाह, अर्श, कण्डू, जठररोग और रक्तपित्त एवं विषदोषको दूर करनेकी शक्ति है।

इनसे मार्जनके द्वारा जब स्नान कर चुके हुए भी पुरुषके शुष्क शरीर पर शुद्ध, एवं अभिमन्त्रित जलकी बूंदें पड़ती हैं; तब आकर्षणशक्तिके प्रभावसे अशुद्ध ऊष्मा बाहर निकल जाती है; बाहरी शुद्ध वायु और सूर्यकी किरणें भीतर जाकर अवशिष्ट अशुद्ध-परमाणुओं को भी निकाल देते हैं। शीतकालमें तो स्नान एवं मार्जनसे अशुद्ध ऊष्मा वा भाफका बाहर निकलना प्रत्यक्ष ही होता है; परन्तु ग्रीष्मकालमें वायुमण्डलकी रूक्षता तथा उष्णतासे वह भाप अति-सूक्ष्मरूप होकर उड़ जाती है; इसी कारण अदृश्य होती है।

गर्मीकी ऋतुमें किसीकी आंखें आई हुई हों; अर्थात् दाहयुक्त हों; उसपर कुशाद्वारा दिनमें दो बार जलद्वारा मार्जन करनेसे नेत्रदाह शान्त हो जाता है। यदि किसीको बिच्छूने काटा हो; तब वह स्नान करके श्रद्धासे अपामार्ग (विशेष बूटी) द्वारा अपने पर मार्जन करवा ले, तब बिच्छूका विष भी दूर हो जाता है। इस प्रकार दूर्वा-द्वारा मार्जनसे दाह वा व्याकुलता नष्ट हो जाती है। आर्यसमाज-

प्रवर्तक स्वा० श्रीदयानन्दजीने मार्जनके विषयमें अपना नव्य—अनुभूत वैज्ञानिक (?) आविष्कार भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश'में प्रकाशित किया है कि—मार्जनद्वारा सन्ध्यामें आती हुई नींद दूर हो जाती है। यह भी वैज्ञानिकतामें एक नई कड़ी जुड़ गई है।

(२७) अभिषेक।

अभिमन्त्रित जलसे भरे घड़ेके जलसे मस्तकको सींचनेका नाम अभिषेक हुआ करता है। यज्ञके बाद यजमानका अभिषेक होता है। साधारण रीतिसे भी शिरपर जल डालनेसे महान् लाभ होता है, तब यदि अभिमन्त्रित जलको विधिसे डाला जावे; तो उसके लाभके विषयमें क्या कहना? आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीके गुरु स्वामी विरजानन्दजीके जीवनकी एक घटना है कि एकबार उन्होंने भ्रमसे संखिया अधिक मात्रामें खा ली। पता लगनेपर उन्होंने जलसे भरे घड़ोंका जल अपने सिरपर डलवाना शुरू किया। सायंकाल तक विषका प्रकोप सर्वथा शान्त हो गया। यह है अभिषेकका महत्त्व।

(२८) आचमन-विज्ञान।

सन्ध्यामें मार्जनके बाद संकल्प करना पड़ता है। संकल्पसे सृष्टिके समयका ज्ञान, अपने धर्मकी प्राचीनता, तथा वर्तमान देशी तिथि-वार आदिके ज्ञानमें प्रवृत्ति बनी रहती है। इस पर 'विविध-पर्वविज्ञान'में 'संवत्सरका आरम्भ'में लिखा जायगा; यदि इस पुष्पमें स्थान निकल सका। फिर आसनशुद्धि एवं भूशुद्धि

अभिमन्त्रित-जलद्वारा करके—जिससे आसनके नीचे ठहरे कीटाणु दूर हो जावें, क्योंकि पृथिवीपर जल डालनेसे पृथिवीकी ऊष्माका उद्गमन होनेसे कीटाणु दूर हो जाते हैं; फिर मन्त्र द्वारा आचमन किया जाता है। उसके फलके विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें आया है—'अमेध्यो वै पुरुषो यद् अनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। [मनुष्य असत्य बोलनेसे भीतरसे अशुद्ध है] मेध्या वै आपः, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वै आपः। तस्माद् वै अप उपस्पृशति, [जल पवित्र होता है, आचमनसे पुरुष पवित्र हो जाता है] (१।१।१।१) इस प्रकार द्राह्यायणगृह्यसूत्रमें भी आया है—'प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति' (१।१।१२) इससे आचमन हमारी पवित्रता करनेवाला सिद्ध हुआ।

यज्ञमें संस्कृतभाषाके अतिरिक्त हिन्दीभाषा बोलनेका निषेध है। जब जप आदि यज्ञों में निरत ब्राह्मणोंको अनिवार्यतावश हिन्दीमें बात करनी पड़ती है; तो यह यज्ञमें विघ्न हो सकता है, क्योंकि अपभाषणसे यज्ञमें अपवित्रतावश पराजय हो जाता है। महाभाष्यमें लिखा है—'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः' दैत्य लोग यज्ञमें अशुद्ध बोल बैठनेसे हर गये। तब हिन्दीभाषा भी संस्कृतसे अपभ्रष्ट होनेसे यज्ञमें विघ्नका कारण बन सकती हैं; अतः यज्ञमें असंस्कृत वाणी कभी न बोले; पर अनिवार्यतावश बोलनी पड़े; तो वहां अशुद्धता हो जाती है। अशुद्धि-निवारणका उपाय मुनियोंने बताया है कि उस समय आचमन कर ले। आचमनका अभिमन्त्रित जल भीतर पहुँचकर

ऊष्मा उत्पन्न करके उन अशुद्ध परमाणुओंको जला डालता है; तब पवित्रता स्वतः हो जाती है। यह आचमनमें विज्ञान है।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने आचमनमें विज्ञान (?) यह बताया है कि सन्ध्या समय जो गलेमें कफ आ जावे; तो उसे आचमनसे फिर भीतर डाल लो, शुद्धि हो जावेगी। पर यह बात उचित नहीं दीखती। उस कफको बाहर निकाल देनेसे ही शुद्धि होती है, भीतर डाल देनेसे तो अशुद्धि ही होगी। और फिर कफावसिक्तत्व होनेपर तो शास्त्रोंमें आचमन का निषेध आया है—'कासससिक्तो नाचामेत्' (गोभिलगृह्यसूत्र १।२।२५)।

'त्रिः पिबेद् अपो गोकर्णवद् हस्तेन, त्रिराचामेद्' (४।७।३) यह बोधायनगृह्यशेषसूत्रमें आचमनकी विधि आई है कि हाथको गायके कानकी तरह करके तीन-चार जल पीवे, यही आचमन है। मनुजी ने आचमनके कई भेद लिखे हैं। वे कहते हैं कि—ब्राह्म-तीर्थसे आचमन करे, वा प्राजापत्य वा देवतीर्थसे, परन्तु पित्र्यतीर्थ से आचमन न करे (२।५८)। पित्र्यतीर्थसे पितरोंका तर्पण करना पड़ता है; पर आचमन देवकार्य है; अतः पित्र्यतीर्थसे आचमन करनेका निषेध है, अंगुष्ठमूलके नीचे ब्राह्मतीर्थ माना गया है, कनिष्ठा अंगुलिके नीचे प्राजापत्य तीर्थ, अंगुलिके अग्रभागमें देवतीर्थ, अंगुष्ठ और तर्जनीके मध्यमें पित्र्यतीर्थ माना गया है (मनु० २।५६)।

तीन बार आचमनका फल यह कहा है—'प्रथमं यत् पिबति,

तेन ऋग्वेदं प्रीणाति। यद् द्वितीयं तेन यजुर्वेदं प्रीणाति, यत् तृतीयं तेन सामवेदं प्रीणाति' (बोधायनीयगृह्यशेषसूत्र ४।७।४) यहां तीन आचमनोंसे तीनों वेदोंकी प्रसन्नता कही है। इसीमें अन्यत्र कहा है—'अथ अप आचम्य बाह्याभ्यन्तरतः पूतो मेध्यो यज्ञियो भूत्वा' (१।३।६) यहां आचमनका फल बाहर-भीतरकी पवित्रता कही है। मनुजीने भी लिखा है—'हृद्गाभिस्तु पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः। वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः' (२।६२) यहां भी आचमनका फल शुद्धि कही है। यहां जो प्रतिवर्णमें आचमनके जलके परिमाणमें न्यूनाधिकता कही है कि ब्राह्मण आचमनका इतना जल ले कि वह हृदय तक पहुँचे, क्षत्रियका कण्ठतक पहुँचे इत्यादि; उसका कारण यह है कि जिस वर्णको अधिक शुद्धि अपेक्षित है; उसके जलका परिमाण भी अधिक कहा है। जिस वर्णको बहुत अधिक शुद्धिकी आवश्यकता नहीं होती; उसकेलिए न्यून जलका उपयोग कहा है। इसमें कफकी निवृत्ति प्रयोजन बतानेवाले स्वामी दयानन्दजी से प्रष्टव्य है कि सन्ध्या आदिके समय क्या ब्राह्मण-क्षत्रियादिके कफमें भी तारतम्य होता है? यदि ऐसा है तब तो जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई; क्योंकि कफका तारतम्य जन्ममूलक हुआ करता है। नहीं तो 'सन्ध्या-समय कफमें भी तारतम्य होता है' इसमें क्या युक्ति हो सकती है? यदि प्रतिवर्णमें कफ-तारतम्य नहीं होता, तो मनुजीने वर्णोंका आचमनके जलका भेद कैसे कहा? तब स्वामी दयानन्दसे प्रोक्त गलेमें ठहरे कफका निवर्तन असङ्गत ही है; उसका तो बाहर

निकालना ही ठीक है न कि जल-द्वारा उसको भीतर भेजना।

(२६) शिखाबन्धनका विज्ञान।

इसका रहस्य हम शिखारहस्यमें लिख चुके हैं।

(देखिये पृ० १०५-१०६)

(३०) प्राणायाम वा समाधिका विज्ञान।

सन्ध्यामें आचमनके बाद गायत्रीमन्त्र पढ़कर जल द्वारा अपना वेष्टन किया जाता है। इससे अपनी कीटाणुओंसे रक्षा होती है। क्योंकि वे जलकण जो भूमिपर चारों ओर पड़ते हैं, भूमिमें ऊष्मा होनेसे जल पड़नेसे उस ऊष्मामें उद्गमन होनेसे बाष्प उत्पन्न होती है; वह बाष्प कीटाणुओंको दूर कर दिया करती है। फिर प्राणायामका क्रम होता है।

हिन्दुधर्ममें प्राणायाम वा समाधिके बहुत माहात्म्य सुने जाते हैं। कई लोग उन्हें अर्थवादमात्र मानते हैं; पर ऐसा नहीं है। उसमें यथार्थता है, अर्थवाद वा असत्यता उसमें नहीं। प्रत्येक द्विजाति सन्ध्याकालमें प्राणायाम करता है। प्राणायाम-द्वारा अशुद्ध विकारोंको बाहर निकालकर शुद्ध वायु अन्दर घुसाई जाती है। इससे आयु तथा तेज बढ़ता है। जलसे भी वायु सूक्ष्म होती है। शारीरिक बाह्य-अवयवोंकी शुद्धि जल और मट्टीके द्वारा होती है। परन्तु शरीरके अन्तःस्थित सूक्ष्म-अवयवों तक जल नहीं जा सकता; अतः वही शुद्धि बाहरी आक्सिजन गैससे की जाती है। अतः इससे आयु बढ़ती है। वही प्राणायाम बढ़कर समाधि रूपमें आ जाता है।

वैज्ञानिकोंका कथन है कि—जो कि-हम नींद प्राप्त करते हैं; उसका कारण यह है कि हमारी भीतरी वायु दूषित हो जाती है। उस समय हमारी जम्भाइयाँ शुरू हो जाती हैं, जिससे बाहरी शुद्ध वायु-आक्सिजन हमारे भीतर आवे, परन्तु रात्रि आदिके कारण तमोगुणकी बहुलतासे प्रचुर-परिमाणमें शुद्ध वायु प्राप्त न होनेसे भीतरी वायु बहुत दूषित हो जाती है, जिससे हम मूर्च्छितसे हो जाते हैं, इसीकी परिभाषा 'निद्रा' कही जाती है। यही मूर्च्छा बढ़कर महानिद्रा हो जाती है, जिसकी परिभाषा 'मृत्यु' हुआ करती है।

प्रातःकाल प्राप्त होनेपर सत्त्वगुणकी प्रवृद्धि होनेसे क्रमशः शुद्ध वायुके नासिका-द्वारा भीतर प्राप्त होनेपर वह मूर्च्छा क्रम-क्रमसे हट जाती है, जिसकी परिभाषा 'जागरण' कहा जाता है। आक्सिजन गैसके टोप वैज्ञानिक लोग बना चुके हैं; इन्हें सिरपर, मुँहपर निरन्तर पहरनेसे युद्धोंमें विषाक्त गैसोंसे रक्षा होती है; क्योंकि उन टोपियोंमें आक्सिज़न-गैस भरी रहती है; जिससे भीतर शुद्ध-वायुका प्रवेश रहनेसे उन विषाक्त गैसोंसे होनेवाली मूर्च्छा नहीं होती।

अब वैज्ञानिकोंका विचार है कि इन आक्सिन-टोपियोंमें हम और उन्नति करें। इनके निरन्तर पहिननेसे हमारे अन्दर भी निरन्तर शुद्ध वायु रहेगी, जिससे हम न तन्द्राको प्राप्त करेंगे; न जम्भाइयाँ आवेंगी, न हमें मूर्च्छारूप नींद आवेगी। इसी प्रकार हमें महानिद्रा (मृत्यु) भी नहीं आवेगी। हम थकेंगे भी नहीं; हम

अमर बन जावेंगे।

परन्तु यन्त्रोंकी परतन्त्रता भी ठीक नहीं होती। एक तो उनमें परतन्त्रता है, और उन यन्त्रोंमें बहुत भारी मूल्य लगेगा; और वह रुपया विदेशोंमें जाएगा। और वे यन्त्र प्रचुर-मात्रामें मिल भी न सकेंगे; जिससे सर्वसाधारण उन्हें खरीद सकें। इसी कारण हमारे प्राचीन महानुभावोंकी आधिभौतिक यन्त्रोंमें कभी भी आस्था नहीं रही। वे 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' 'पारतन्त्र्यं महद् दुःखं स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्' इत्यादि बातोंको विचार कर आध्यात्मिक तथा स्वतन्त्र-यन्त्र बनाते थे। उसमें कुछ खर्च भी नहीं होता था, नास्तिकता भी नहीं बढ़ती थी; पारस्परिक होड़ भी नहीं बढ़ती थी-जिससे महायुद्ध शुरू हो जाते हैं। वे स्वतन्त्र यन्त्र हैं—प्राणायाम एवं समाधि। पवित्र देश-कालमें प्राणायाम एवं समाधि जोड़नेसे और क्रम-क्रमसे समाधिके कालकी वृद्धि करनेसे बाहरसे भीतर प्रचुर-मात्रामें आक्सिजन-गैस भरती रहती है; और भीतरकी खराब गैस बाहर निकलती रहती है। फिर साथ हो ब्रह्मचर्य और योगका अवलम्बन, इससे पुरुषकी आयु बढ़ती है और अमरता भी प्राप्त हो जाती है। तभी तो श्रीमनुजीने कहा है—'ऋषयो दीर्घ-सन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (४।९४) अर्थात् लम्बी सन्ध्या करनेसे जिसमें प्राणायाम आदि अङ्ग आजाते हैं—ऋषियोंने बड़ी लम्बी आयु प्राप्त की।

अब इस विषयमें भी वैज्ञानिक सहमत होगये हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य-शरीरके कार्य कुछ शताब्दियों तक रोककर वे फिर

चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार जब तक पुरुष समाधिकेलिए अपना उपराम करेगा, उस समयकी गणना उसकी शारीरिक आयुके साथ नहीं होगी। यदि कोई शतवर्षजीवी पुरुष अब युवक है, पच्चीस वर्षकी आयुमें उसने प्राणायाम वा समाधि शुरू की; पाँच वर्ष वा दस वर्षके बाद वह समाधिसे उठा; तब उसके अङ्ग २५ वर्षकी अवस्थावाले ही रहेंगे। वे समाधिके दस वर्ष तो सूदकी तरह उसे स्वयं मिलेंगे। तब समाधिसे उठकर वह अवशिष्ट ७५ वर्ष जीवित रहेगा।

इसका उदाहरण भी लीजिये—घड़ी बनानेवाले घड़ीकी आयु (गारण्टी) पाँच वा दस साल आदिकी देते हैं। उसकी वह गारण्टी चलानेके समयसे ही प्रारम्भ होगी। जितने समय तक वह घड़ी, घड़ीके कार्यालयमें बिना चले रहेगी, वे वर्ष उसकी आयुमें नहीं गिने जाते। उस घड़ीको चलाकर उसे फिर तीन वर्ष तक स्थगित कर दिया जावे; तब फिर उसके चलानेपर अवशिष्ट दश वर्ष तक वह जीवन प्राप्त करेगी। परन्तु उस स्थानमें यदि उस घड़ीमें मैल न घुसेगी; तभी उसकी अपेक्षित आयु होगी। यदि उसमें मैल प्रवेश कर जाए; तब उसकी आयु उतनी न हो सकेगी।

इस प्रकार शरीरके कार्य-त्याग करनेपर भी उसमें मलसंक्रम हो सकता है; जिससे उसकी आयुमें कमी पड़ सकती है। इसलिए शास्त्रकारोंने उसमें प्राणायाम वा समाधिरूप उपाय कहा है, जिससे शरीरकी शुद्धि होती रहे। इसी प्राणायाम एवं समाधिसे योगी लोग अपनी आयु लम्बी कर लेते थे। इसके अतिरिक्त ब्रह्ममें अवस्थान

होनेसे उसके सम्बन्धसे ब्रह्मकी शक्ति भी शरीरके अन्दर प्राप्त होती रहती है।

प्राणायाम करनेपर शारीरिक भीतरी अवयवोंमें वायुके पर्याप्त भर जानेसे वक्षःस्थल विशाल और कठोर हो जाता है। प्रो० राममूर्ति अपनी छाती पर हाथी चढ़वा लिया करते थे। यह प्राणायामकी महिमा है। मोटर वा बाई-साइकलके पहियोंमें वायुके भरनेसे उस पर बहुत पुरुष बैठ सकते हैं, और मोटर वा साइकल शीघ्र चल पड़ता है। इस प्रकार प्राणायाम करनेपर छातीमें अद्भुत शक्ति हो जाती है; तब उसपर हाथीका चढ़ाना भी कठिन नहीं रहता। प्राणायामसे आयुके बढ़नेका प्रकार कहा ही जा चुका है; क्योंकि—प्रत्येक पुरुषका श्वास-परिमाण नियत हुआ करता है। जब श्वासोंकी समाप्ति हो जाती है; तो मृत्यु हो जाती है। इस कारण योगी लोग न्यून श्वास लेते हैं; प्राणोंको रोकते हैं, और उनकी आयु उनकी इच्छानुकूल बढ़ती है।

मैथुन और कुश्ती आदिमें लोगोंके श्वास साधारणतः अधिक खर्च होते हैं; इसलिए बहुत सांस लेनेवाले थोड़ी आयु पाते हैं। व्यायाममें भी यद्यपि श्वासोंका बहुत खर्च होता है, तथापि वह व्यायाम हमारे शरीरको सम-विभक्तावयव कर देता है। इसलिए लाभदायक होनेसे उसे छोड़ना नहीं पड़ता। परन्तु व्यायाम भी अल्पमात्रामें करना चाहिये। उसमें श्वासोंको मुखसे न निकालकर धीरे-धीरे नाक द्वारा निकालना चाहिये। ऐसा होनेपर उसमें भी प्राणायाम-सदृश लाभ हुआ करता है।

प्राणायाममें पहले मन्त्र द्वारा दाहिनी नाकको बन्द करके बाहरी शुद्ध वायु खींचनी पड़ती है; फिर बाईं ओर दाहिनी नाककी वायुको रोककर उसके बाद दाहिनी नाकके पुटको खोलकर भीतरी अशुद्ध वायुको धीरे-धीरे बाहिर निकालना पड़ता है। धीरे-धीरे प्राणायामका समय बढ़ानेपर क्रमशः उसकी परिपक्वतामें उक्त लाभ हुआ करते हैं। इससे फुप्फुसोंकी पूर्ण शुद्धि होती है। फुप्फुस-कोषोंमें वायु कुछ अंशमें सदा भरी रहती है। जीवितावस्थामें कभी भी वे बिल्कुल खाली नहीं होते। उनमें प्राणायामसे नयी शुद्ध वायु प्रवेश करती है, पहलेकी दूषित वायु बाहर निकल जाती है। फेफड़ोंके शुद्ध रहनेसे राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं होते।

(३१) सूर्यको अर्घ्य और उसका उपस्थान।

प्राणायामके बाद मन्त्र-द्वारा आचमन-मार्जनादि करके सौत्रामणी-स्नान, अश्वमेध-स्नान करके फिर आचमन करना पड़ता है, उसके बाद सूर्योपस्थानका क्रम होता है। सूर्योपस्थानके समय सूर्यको गायत्री मन्त्र बोलकर जलकी अञ्जलि दी जाती है। सूर्य ही हमारी आँख है। सूर्यमें सातों रङ्ग हैं। जिसमें सूर्यकी सातों किरणें प्राप्त होकर नहीं लौटतीं; वह काला रङ्ग होता है। जहांसे उसकी सारी किरणें लौट आती हैं, वह सुफेद रङ्ग होता है; तब जिस रङ्गकी किरणें हमारे शरीर वा आँखोंमें न्यून होती हैं, सूर्यके सामने जल डालनेसे वे ही उपयुक्त किरणें हमारे शरीर वा आंखमें प्राप्त हो जाती हैं, वह न्यूनता पूर्ण हो जाती है। सूर्यकी किरणें

जल पर शीघ्र प्रभाव दिखलाती हैं—इसीलिए अभिमन्त्रित जलका अर्घ्य दिया जाता है।

हमारे स्वास्थ्यका सम्बन्ध सूर्यसे है, सूर्य हमारा हस्पताल है, हमारी उससे चिकित्सा होती है, सूर्यमें प्रसन्नता-अप्रसन्नताके परमाणु भी हैं; अतः हमारी सन्ध्याका सूर्यसे सम्बन्ध रखा गया है। मुख्य सन्ध्या है सावित्री-जपन, पहले तो उसके अङ्ग होते हैं। सावित्री-सविताकी ऋचाका ही नाम है; और सवितासे सूर्य तथा सूर्यमण्डलाभिमानी देव इष्ट होता है। यह हम 'गायत्री-मन्त्रकी महत्ता' विषयमें बता चुके हैं। जब हमने सविताका ध्यान करना है, तो अर्घ्य और उपस्थान भी तो उसीका करना चाहिए; सो वैसे किया जाता है। 'उद्वयं' आदि चार मन्त्रोंसे सूर्यो-पस्थानमें सूर्यसे प्रार्थना की जाती है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजु० ७।४२) इस मन्त्रमें सूर्यको स्थावर-जङ्गम पदार्थोंका आत्मा माना गया है। इसीलिए 'जीवेम शरदः शतम्' (यजु० ३६।२४) इत्यादि मन्त्रसे सौ वर्ष जीनेकी, शतवर्ष बोलने-सुननेकी तथा अदीनता आदिकी प्रार्थना भी उसी सूर्यसे की जाती है—उसमें रहस्य यह है कि जो ऊष्मा हमारे जीवनको धारण करती है; वह हमें सूर्यसे प्राप्त होती है। यदि ऊष्मा हमारे अन्दर सुरक्षित रह जावे तो हम कमसे-कम चार सौ वर्ष तक जी सकते हैं, यह एक अमरिकाके वैज्ञानिकका कथन हालमें ही आया है। वह ऊष्मा सूर्यसे हमें प्राप्त होती है। सूर्यके न होनेसे ही प्रलयमें ऊष्माके न रहनेसे सभी स्थावर-जङ्गम नष्ट हो जाते हैं, तभी वेदमें सूर्यको

स्थावर-जङ्गमका आत्मा (ऋ० १।११५।१) माना गया है। आत्माके न होनेसे तो मृत्यु होती है। अतः सनातनधर्मकी सन्ध्यामें सूर्यकी आराधना बताई गई है, इसीलिए मनुस्मृतिमें 'ऋषयो दीर्घसन्ध्य-त्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च' (४।९४) सन्ध्यासे दीर्घ-आयु तथा बुद्धि-प्राप्ति बताई है। जो सन्ध्यामें सूर्यके सम्बन्धको जड़-पूजा समझते हैं उन्हें अपनी भूल ठीक कर लेनी चाहिए। जप भी बुद्धि-प्राप्त्यर्थ उसी (सूर्य)का करना पड़ता है, सूर्यका ही बुद्धिसे सम्बन्ध होता है यह हम पूर्व 'गायत्रीमन्त्रकी महत्ताका रहस्य'में बता चुके हैं। अस्तु

सूर्यको गायत्री-मन्त्रसे अर्घ्य (जलांजलि) देनेसे मन्देह-नामक दैत्योंका जो सूक्ष्म-कीटाणुस्वरूप हैं (जो कि तमः और प्रकाशके मिश्रणसे स्वयं प्रकट हो जाते हैं, जिनकी लोगोंको दष्ट करनेकी मन्द ईहा (चेष्टा) होनेसे वे मन्देह-नामसे कहे जाते हैं), नाश भी बताया गया है। जैसे कि वेदमें कहा है—'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्रिया अभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षि-पन्ति; ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षा ᳬसि मन्देहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति' (कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यक २।२।२) सूर्यका उपस्थान करनेसे हमारा सूर्यस्नान भी हो जाता है। सूर्यस्नानके लाभ जग-त्प्रसिद्ध हैं; उसीसे टाईफाईड तथा राजयक्ष्माके कीटाणु दूर हो जाते हैं।

(३२) जप-पाठविज्ञान

सूर्योपस्थान करके फिर गायत्री-मन्त्रके जपका क्रम होता है।

पहले उस सविताकी शक्तिका देवीरूपमें ध्यान एवम् उसका उपस्थान करके जप प्रारम्भ किया जाता है। इस विषयमें पाठक सदा याद रखें कि प्रत्येक विशिष्ट-शब्द अपनी एक विशेषता रखता है। इसीलिए वेदके शब्दोंकी विशिष्टताके कारण वेदके शब्दोंकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन नहीं किया जाता, क्योंकि उनका उसी आनुपूर्वीसे पढ़नेमें लाभ-विशेष होता है। उसी आनुपूर्वीका मेघों पर भी प्रभाव पड़ता है, वृष्टि हो जाती है। सूर्यादि-देवोंपर भी प्रभाव पड़ता है, जिससे वे प्रसन्न होकर हमारी इष्टपूर्ति करते हैं।

फ्रांस देशकी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला मैडम फिनेलाङ्ग है, उसने शब्दके विषयमें पर्याप्त अनुभव किये हैं। एक दिन विशेष अनुभवकेलिए उसने बिजलीके तारोंको एक स्थानमें जोड़ा। साथ ही एक चाकका टुकड़ा भी बाँध दिया, और काला बोर्ड भी रख दिया। निकटमें ही वह एक कुर्सीपर बैठकर गाने लगी। कुछ समयके बाद मुखको ऊँचा करके उसने देखा और हैरान होगई। उस बोर्ड पर कई रेखायें खिंचीं थीं; उसने बोर्डको साफ कर दिया।

फिर वह अपने प्रेमीके विषयमें गाने लगी। साथ ही उसने देखा कि उस स्वरसे बिजलीके तारोंमें कम्पन हो रहा है; और उस बोर्ड पर आकृति बन रही है। यह जानकर वह प्रसन्न हुई कि शब्दोंका आभ्यन्तरिक भावोंसे गम्भीर सम्बन्ध है। यह प्रत्यक्ष है कि-मृग आदि पशु तथा सर्प भी गाने वा वंशीध्वनिमें मस्त होकर झूमते हैं। युद्धमें विशिष्ट गानसे अश्वोंमें आवेश आ जाता है। वे कूदते हुए युद्धमें अग्रसर होते हैं। अस्तु।

जब उस महिलाने गानेसे आकृतियाँ बनती हुई देखीं; तब उसने भिन्न-भिन्न गानोंका प्रभाव जाननेकेलिए यत्न किया। वह रोमनकैथलिक-गिरजागृहमें प्रार्थनाकेलिए गई। यहाँ भी उसने बिजलीका वह यन्त्र लगाया। जब प्रार्थना समाप्त होगई; तब बोर्ड पर एक स्त्री तथा एक लड़केकी आकृति बन गई। इन आकृतियोंका सम्बन्ध ईसा तथा उसकी माँ मरियमसे था।

फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई। पैरिसके एक महाविद्यालयमें एक बङ्गाली विद्यार्थी पढ़ता था। उसने उसे कोई धार्मिक गाना गानेकेलिए कहा। वह विद्यार्थी नये वायुमण्डलमें पला होनेसे धार्मिक गानोंसे अनभिज्ञ था। हाँ, बाल्यावस्थामें पिताने उसे भैरवाष्टक सिखाया था। जब उसने वह स्तोत्र ऊँचे स्वरसे सुनाया तब उस काले बोर्डमें भैरवकी मूर्ति बन गई। इन बातोंसे स्पष्ट है कि जपमें तथा उच्चस्वरसे पाठमें कितनी शक्ति है। इसी सिद्धान्तसे ग्रामोफोन-यन्त्रका आविष्कार हुआ। इसलिए मन्त्रोंकी आनुपूर्वी नियत हुआ करती है; विशेष-रूपसे वेदमन्त्रोंकी।

वेदका महत्त्व जगत्में अविदित नहीं है। इस वेदके ही मन्त्रोंसे संस्कृत हुई अन्यकी कन्या हमारी पत्नी बन जाती है। वेदके अक्षर-अक्षरमें विशेषता होती है। इसीलिए वेदको नियतानुपूर्वी वाला तथा नियतपदप्रयोगपरिपाटी वाला माना गया है; क्योंकि वह मन्त्रोंका एक कोष है। लोकमें तो 'आहर पात्रम्, पात्रम् आहर; इस आगे-पीछे कहनेमें स्वातन्त्र्य होता है; पर 'अग्न ! आयाहि वीतये' (साम० सं० १।१।१) आदि मन्त्रोंमें 'विभावसो !

आगच्छ भक्षणाय' ऐसा नहीं कहा जा सकता। अथवा कहा भी जावे; तो फिर वह मन्त्र नहीं रहता, वह मान्त्रिक-शक्ति भी फिर उसमें नहीं रह जाती; क्योंकि फिर वह मन्त्र ईश्वरीय न होकर मानुषी हो जाता है। इसी विशेषतासे वेद सत्य-विद्याके निधान तथा सत्य माने जाते हैं—यह हिन्दुओंका चिरन्तन विश्वास है।

तभी कुमारिलभट्ट सौगतों (बौद्धों)को जीतनेकेलिए उनके रहस्यको जाननेके इच्छुक होकर उनके मध्यमें जब गुप्तरूपमें प्रविष्ट होगये; तब बौद्धोंके द्वारा वेद-निन्दा सुनकर कुमारिलभट्टकी आँखोंसे आँसू गिर पड़े। इसी कारण 'शङ्कर-दिग्विजय'में कहा गया है—'अदूदुषद् वैदिकमेव मार्गं तथागतो जातु कुशाग्रबुद्धिः। तदाऽपतन्मे सहसाऽश्रुबिन्दुः तच्चाविदुः पार्श्वनिवासिनोऽन्ये' (७।९४-९५) यह देखकर बौद्धोंने अनुमान कर लिया कि—यह वैदिक-धर्मी है। उन्होंने सोचा कि—'विपक्षपाठी बलवान् द्विजातिः, प्रत्याददद् दर्शनमस्मदीयम्। उच्चाटनीयः कथमप्युपायैर्नैतादृशः स्थापयितुं हि योग्यः' (७।९६) 'यह हमारे रहस्यको जानकर हमें हानि पहुँचावेगा; अतः इसे मार देना चाहिये।' यह सोचकर उन अहिंसकों (?) ने उन्हें ऊंचे महलपर ले जाकर उसे धक्का देकर नीचे फेंक दिया कि—मर जावेगा। 'सम्मन्त्र्य चेत्थं कृतनिश्चयास्ते, ये चापरेऽहिंसनवादशीलाः। न्यपातयन् उच्चतरात् प्रमत्तं मामभ्रसौधाद् विनिपातभीरुम्' (७।९७)

तब कुमारिलभट्टने गिरते हुए कहा कि—यदि वेद सच्चे हैं; तो मैं गिरकर भी न मरूँ—'पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं, यदि

प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति। जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले, मज्जीवने तच्छ्रुतिमानतागतिः' (७।९८) यहाँ एक ब्राह्मणका वेदमें कैसा विश्वास बताया गया है? इससे वेदोंकी सत्यता सिद्ध हो रही है। कुमारिलभट्ट गिरे; वे मरे नहीं; किन्तु उनकी एक आँख फूट गई। उन्होंने सोचा कि-मैंने इस अपने वाक्यमें कि-'यदि वेद सच्चे हैं' 'यदि' शब्दका प्रयोग किया; इसी सन्देहके कारण मुझे यह हानि पहुँची—'यदीह सन्देहपदप्रयोगाद् व्याजेन [बौद्ध] शास्त्र-श्रवणाच्च हेतोः। ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत् तदेकचक्षुर्विधिकल्पना सा' (७।९९) यदि मैं वेदकी सत्यताके विषयमें सन्देहापादक 'यदि' शब्दका प्रयोग न करता; तो ऊंचेसे गिराये जानेपर मेरी एक आंख भी न फूटती।

पाठकगण! देखिये वेदकी कैसी सत्यता है? और वेदके विश्वासकी कैसी महिमा है? इस प्रकार जब वेदके प्रामाण्यके विश्वासमात्रसे इस प्रकारका फल है; तब वेदमन्त्रोंके अधिकारी द्वारा शुद्ध एवं वैध जपन करनेपर हमें फल क्यों न मिलेगा? तभी तो वेदमन्त्रोंसे हुआ-हुआ दूसरेकी कन्याका सम्बन्ध पतिसे अविच्छिन्न होता है कि पतिके मरनेपर भी स्त्री उस सम्बन्धको विच्छेद्य नहीं मानती, बल्कि परलोक तकमें भी उससे अपना सम्बन्ध मानती है। उसी वेदमें यदि विविध-मनोरथपूरक मन्त्र दीखें; तो उनका भी महत्त्व अवश्य ही होगा। परन्तु उसमें हार्दिक अतिशयित श्रद्धा तथा विश्वास चाहिये। फल तभी प्राप्त होता है।

वेदमन्त्रोंके स्वर-सहित उच्चारण द्वारा भौतिक तत्त्वों एवं भौतिक

जगत् पर एवं जिस मन्त्रका जो देवता है उन मन्त्रों द्वारा उस-उस देवतापर प्रभाव डाला जा सकता है, या उसको वशीभूत किया जा सकता है। वेदमन्त्रोंके शुद्ध, स्वरसहित उच्चारण एवं उनकी क्रियाओंद्वारा अग्नि, जल, वायु, मेघ, विद्युत् आदि तत्त्व एवं शक्तियोंसे विविध उपयोग मन्त्रशक्ति द्वारा लिया जा सकता है। वैदिक कर्मकाण्ड इसी विज्ञानसे ओतप्रोत है। प्राचीनकालमें दिव्य-द्रष्टा महर्षि एक-एक मन्त्रके ही रहस्य एवं विज्ञानके अन्वेषणमें अपना सुदीर्घ-ब्रह्मचर्यमय जीवन इसकेलिए अर्पित कर देते थे।

वेदमन्त्रोंमें प्रयुक्त उदात्तादि स्वर तथा षड्जादि स्वर एवं उनका छन्दोमय-रूप विशेष-सामर्थ्यमय है। स्वरोंमें पर्याप्त सामर्थ्य है। संगीत-शास्त्रमें दीपक-राग द्वारा दीपकोंका जलना, मल्हार रागद्वारा वर्षाका होना इत्यादि बातें भारतके कोने-कोनेमें सदियोंसे आबाल-वृद्धविश्रुत हैं। अभी वैज्ञानिकोंने परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि तीव्र स्वरोंके भोंपू जिनकी फ्रीक्वेन्सी ३००० से लगाकर ३४००० साइकल प्रति-सेकन्ड हो; तो उसके द्वारा उत्पादित ध्वनि-तरंगोंके बीच काफीकी एक बड़ी केटली रखनेसे वह काफी उबल-जाती है और यदि उनकी गति और बढ़ा दी जावे तो छोटे छोटे सिक्के हवामें भी तैराये जा सकते हैं। अतः वर्तमान विज्ञानने जो शक्ति स्वरोंमें या ध्वनिमें ज्ञात की है उससे हमें अपनी प्राचीन स्वर-विद्याकी उपेक्षा न करते हुए उसके अनुसन्धानमें और अग्रसर होना चाहिये।

'छन्दांसि छादनात्' की व्युत्पत्तिसे छन्दोंका प्रसारण-कर्म एवं

आच्छादन-कर्म प्रकट होता है। पिंगलशास्त्रमें छन्दोंका नियत मात्रा वा वर्णोंमें छादन-कर्म बताया है। संगीतशास्त्रमें उन्हीं छन्दोंका नियतकालमें छादन-कर्म होता है और वेदमन्त्रोंका यथाविधि उच्चारण द्वारा छन्दोंका छादन कर्म ब्रह्माण्ड पर होता है।

'गायत्रेण त्वा छंदसा परिगृह्णामि, जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, त्रैष्टुभेन त्वां छंदसा परिगृह्णामि,' (यजु० १।२७) 'गायत्रेण त्वा छंदसा मंथामि, त्रैष्टुभेन त्वा छंदसा मंथामि,' एवं 'रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयंतु, आदित्यास्त्वा जागतेन च्छंदसा भक्षयन्तु, वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु' इत्यादि मन्त्र-वाक्य छन्दोंकी उक्त व्युत्पत्तिको सार्थक करते हैं।

जब छन्दोंका-छादन कर्म अथवा प्रसारण कर्म अथवा उनके द्वारा इष्टकी प्राप्ति उक्त प्रमाणसे प्रतीत होने लगती है तो यह बात स्वभावतः ज्ञात होने लगती है कि उन छन्दोंका ग्रहण या उनका लाभ दूर-देशस्थ व्यक्ति देश या स्थान आदिको भी प्राप्त हो सकता है; यदि किसी एक स्थानसे उपयुक्त साधनों द्वारा छन्दोंका प्रसारण किया जावे।

अथवा यह भी समझ सकते हैं कि छान्दस क्रिया वह है जिसके द्वारा याज्ञिक द्रव्य एवं वाक्को अथवा विचारोंको इस विश्वमें यथास्थान पहुँचाते थे। इस छान्दस क्रियाकी क्रमानुसार शक्ति या स्थानान्तरेण सामर्थ्य छन्दोंके पृथक्-पृथक् वर्गीकरणद्वारा नियत की गई ज्ञात होती है। वैदिक विविध छन्दोंके इस छान्दस विज्ञान एवं उनके सामर्थ्यको ज्ञात करके जनताके सम्मुख रखनेके

लिए समय एवं परीक्षण की सुविधाकी अपेक्षा है।

आजकल विविध-मन्त्रोंके ज्ञाता मिलते हैं; वे उन-उन कर्मोंमें सफल होते हुए देखे भी गये हैं; उसमें कारण श्रद्धा और विश्वास भी है। जिस सत्य भी विषयमें हमारा श्रद्धा एवं विश्वास नहीं; उसका फल प्राप्त होता नहीं दीखता। जब असंस्कृत भी मन्त्रोंमें श्रद्धा-विश्वाससे सफलता दीखती है; तब वैदिक-मन्त्रोंमें भी पूर्ण श्रद्धा करके विधिसे उनका उपयोग किया जावे, जप किया जाय, तब उसमें फल अवश्य ही प्राप्त होगा। अतः मन्त्रशक्तिमें भी विश्वास रखना चाहिये। इसी कारण योगदर्शनमें कहा है—'जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः सिद्धयः' (४।१) अर्थात् कई सिद्धियां जन्मसे हुआ करती हैं, जैसे भैंसके बच्चेका पैदा होते ही जलमें तैरने लग जाना आदि। देवताओंका जन्मसे ही विद्वान् तथा अणिमा आदि सिद्धियोंसे युक्त हो जाना, पक्षियोंका जन्मसे ही आकाशमें उड़ना। कई सिद्धियां अजरामरता आदि रसायनादि ओषधियोंसे प्राप्त हो जाती हैं। पारे आदि रसोंके द्वारा वायुयान बना लेना, वा स्वयं आकाशमें उड़ जाना। यह सिद्धि प्रायः असुरोंमें थी। कई सिद्धियां मन्त्रोंसे होती हैं; कई तपस्याओंसे, कई समाधिसे। योगियोंको आकाशगमनादि सिद्धि समाधिसे प्राप्त होती है। अन्य सिद्धि है मन्त्रसिद्धि।

मन्त्र शब्दात्मक होता है। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होती है। वैर, प्रेम, क्रोध, शान्ति, कार्यसिद्धि तथा विविध क्रान्तियां जो नैत्यिक व्यवहारमें दीखती हैं, यह सब शब्दशक्तिसे ही हुआ

करती हैं। शब्दोंके क्रमविशेषसे ही सङ्गीत बन जाता है, जिससे पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं। इससे शब्दकी अचिन्त्य शक्तिमें किसीका भी विरोध नहीं हो सकता। मन्त्र-शास्त्र भी शब्दक्रम पर ही निर्भर है। कई क्रियाओंका मन्त्रसे विधान होनेसे विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है। उन्हीं मन्त्रोंका संग्रह मन्त्रभाग-वेद प्रसिद्ध है। उपवेद-आयुर्वेदमें भी मन्त्र होते हैं; इस प्रकार तन्त्र-शास्त्रमें भी। मन्त्रशक्तिसे ही ब्राह्मण वृष्टि करवाने वा रोकनेमें समर्थ होते हैं—यह प्रसिद्ध ही है। इस विषयमें हम कलकत्ताके 'विश्वमित्र' (मासिक-पत्र) में प्रकाशित आर्यसमाजी श्रीसन्तराम बी. ए. के 'रहस्यमय भारत' लेखका एक अंश उद्धृत करते हैं—

"मन्त्रबलसे वर्षा बन्द"...इसी प्रकार हालमें 'एस्ट्रालोजिकल मेगज़ीनमें' एक लेख छपा है। उसमें लिखा है—लामा लोग मन्त्र-बलसे ओले बरसा सकते हैं; और वर्षा बन्द कर सकते हैं। इस सचाईका अब स्पष्ट-रूपसे प्रदर्शन किया जा सकता है, जो लोग आध्यात्मिक अनुभवोंको समझ नहीं सकते; वे केवल इनको विश्रृङ्खलित-बुद्धि लोगोंकी साक्षियां कहकर बहुधा हँसा करते हैं, परन्तु इस प्रकारके मनोभावके मूलमें है अविद्या, और आजकल के शिक्षणालयोंमें दी जानेवाली एकपक्षीय शिक्षा। उसी पत्रिकामें फिर लिखा है—'वर्षाको बन्द करनेकेलिए एक तुरही ली जाती है। इसके बाहरकी ओर सांकेतिक चिह्न बड़े सुन्दर ढङ्गसे खुदे होते हैं, और उसके भीतर सुवर्ण आदि अनेक धातुओंके टुकड़े कुछ गोरी सरसोंके दानोंके साथ इकट्ठे रखे होते हैं।

जिस समय तूफानका प्रकोप हो रहा हो, लामा उस तुरहीको हाथमें पकड़े हुए मन्त्र पढ़ता है। उसके मन्त्रपाठसे बड़े-बड़े ओले टूटकर बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं; और फसलको हानि नहीं पहुँचाते। इसका पूरा-पूरा वर्णन 'अलाइस इलेजवेथ ड्राकोट्स' लिखित 'वाइस आफ मिस्टिक इण्डिया' में मिलता है। लामाओंकी दूसरी रीति यह है कि ओले गिरनेकी ऋतुमें लामा लोग वाटिकाओं की सीमापर रक्षाप्रद प्रार्थना-पताका लगा देते हैं। जब बादलकी गरज और ओलोंके तूफान गिर रहे होते हैं; लामा अपनी धर्म-पुस्तक लेकर उसमें एक प्राचीन संस्कृत-मन्त्र पढ़ता है। इस मन्त्रका पाठ बड़ी भारी तैयारी, उपासना, उपवास और चिन्तनके अनन्तर ही किया जा सकता है। ओले गिरनेसे पहले जो मेघ-नाद होता है, पहले उसे बन्द करना होता है। इसकेलिए एक विशेष मन्त्र है। फिर जब सचमुच ओले गिरने लगते हैं; तो लामा हाथमें तुरही लिए खेतमें जाता है, और जिस दिशासे ओले आ रहे होते हैं; उधर पीली सरसोंके दाने छिड़ककर वह मन्त्र पढ़ता है, उससे ओलोंका बरसना बन्द कर देता है।

लोगोंका विश्वास है, और यह विश्वास कुछ झूठा भी नहीं कि मन्त्रके बलसे बड़ेसे बड़े ओले भी टुकड़े-टुकड़े होकर परमाणुके बराबर छोटे हो जाते हैं। इसकी व्याख्या सरल है। मन्त्रोच्चारण से वायुमण्डलमें जो कम्पन उत्पन्न होता है, वह ओलेपर बिजलीके आघातके सदृश कार्य करता है। इस प्रकार मनुष्यके मुखसे निकले हुए शब्दका प्राकृतिक तत्त्वोंपर प्रभुत्व सिद्ध होता है'। अलाइस

इलिजवथ यों लिखती हैं—'श्रीमान् महाराजा साहबने वर्षामें हमें लामानाच देखनेकेलिए बुलाया। यह नाच साधारणतः खुले मैदानमें होते हैं। मैंने महाराजासे पूछा कि—लामाओंके पहिने हुए सुन्दर वस्त्र वर्षामें खराब न हो जाएंगे? परन्तु उन्होंने इस ढंगसे उत्तर दिया, मानो ऐसी आश्चर्यजनक बातें बिल्कुल साधारण हों। 'मेरा ख्याल नहीं कि उनके कपड़े खराब होंगे; क्योंकि मेरे लामा मन्त्र पढ़कर वर्षाको रोक सकते हैं।' यह बात स्वयं मुझे भी मालूम थी। लामा-नाचके दिन मूसलाधार पानी बरस रहा था। हम वाटरप्रूफ और छातोंसे सुसज्जित होकर घरसे चले। परन्तु जब हम राजभवनके आँगनमें पहुँचे, जहां नाच आरम्भ होनेको था; तो वर्षाकी एक बूँद नहीं गिर रही थी। किसी रहस्यमय रीतिसे ये लोग आँधी-पानीको अपने वशमें करनेकी क्षमता रखते हैं' (ट्रिब्यून २० जनवरी १९४१)

पाठकोंने मन्त्रशक्ति देख ली। इस प्रकार मन्त्रोंके साथ विशेष बीजमन्त्रोंको भी मिलाकर उनमें विशेष-शक्ति प्रादुर्भूत की जा सकती है। इस विषयमें १९२४ अप्रैल मासमें प्रकाशित 'फिजिकल कल्चर' नामक अमेरिकी मासिक-पत्रमें 'लेसर लेजारियो' नामक आष्ट्रियन-शास्त्रज्ञका एक लेख प्रकाशित हुआ था; उसमें उसने स्पष्ट किया है कि—'ह्रां ह्रीं क्लीं' इत्यादि एकाक्षर मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे क्या लाभ होता है। बीजाक्षरोंके उच्चारणसे उसका प्रभावशाली कार्य शरीरके भीतरी भागमें होता है—इस बातको देखनेकेलिए औंधनरेश श्रीभवानदेव पन्तसे बनाई 'सूर्य-नमस्कार'

नामक अंग्रेजी पुस्तक देखनी चाहिए। उसके अष्टम अध्यायमें उस विषयमें स्पष्टता की गई है।

फलतः वेदमन्त्रोंमें भी विशेष-शक्ति हुआ करती है। जपनादिमें यदि उसकी स्वर-वर्ण आदिकी आनुपूर्वीका भङ्ग कर दिया जावे; तो उसके फलमें भी भङ्ग होता है; इसलिए प्रसिद्ध है—'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' यद्यपि जपमें मन्त्रोच्चारण एवं शब्दका ही महत्त्व है; तथापि अर्थज्ञानसहित जपन करनेसे उसका विशेष फल होता है। जप करनेवालोंका भी कभी पतन नहीं हुआ करता। जैसा कि मनुस्मृतिमें कहा है—'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते' (४।१४६)।

'जप' धातुके दो अर्थ होते हैं, एक 'जप व्यक्तायां वाचि' स्पष्ट बोलना, दूसरा 'जप मानसे च' मनमें उसे कहना। अब प्रश्न है कि स्पष्ट बोलनेसे तो मन्त्रकी ध्वनिका प्रभाव माना जा सकता है, पर मन्त्रके मानस-जपका क्या प्रभाव पड़ सकता है? इसपर यह जानना चाहिए कि स्पष्ट बोलनेसे वह वाणी स्थूलतामें होती है; और उसका प्रभाव भी सीमित स्थलमें होता है; पर मनके द्वारा मन्त्रके उच्चारणसे वह वाक् सूक्ष्म हो जाती है। परा पश्यन्ती मध्यमा—यह तीन वाक् भी सूक्ष्म होती हैं; उनके समयमें नाभि-प्रदेश आदिमें प्रयत्न होता है, उससे विद्युत् प्रकट होती है; उसका प्रभाव अपेक्षित स्थल पर स्थूल वाक्की अपेक्षा अधिक पड़ता है। सूक्ष्मकी शक्ति

स्थूलकी अपेक्षा अधिक होती है। मन्त्रमें 'मत्रि गुप्तभाषणे' धातु है; मन्त्रका मन्त्रत्व इसी गुप्त-भाषण—मानस जपनसे होता है। उसका प्रभाव भी बहुत पड़ता है। प्रलयमें वेद-शब्द भी सूक्ष्म-रूपमें मन्त्रात्मक ही तो थे पर उनका प्रभाव समाधिस्थ ऋषियों पर भी पड़ा। फलतः मानस-जपका प्रभाव सारे आकाशमें व्याप्त हो जाता है। अपेक्षित स्थलपर तो पड़ता ही है।

(३३) मालाकी मणियोंकी १०८ संख्याका विज्ञान

जपनकेलिए संख्या १०८ होती है, तदर्थ मालाकी आवश्यकता होती है। बिना संख्याके जप करना ठीक नहीं। बृहत्पराशरस्मृतिमें कहा है—'अप्समीपे जपं कुर्यात् ससंख्यं तद् भवेद् यथा' (४।४०) असंख्यमासुरं यस्मात् तस्मात् तद् गणयेद् ध्रुवम्'। अब वहाँ जपमालाके विषयमें कहा है—'स्फाटिकेन्द्राक्ष-रुद्राक्षैः पुत्रजीव-समुद्भवैः। अक्षमाला प्रकर्तव्या प्रशस्ता चोत्तरोत्तरा। अभावे त्वक्ष-मालायाः कुशग्रन्थ्याथ पाणिना। यथाकथञ्चिद् गणयेत् ससंख्यं तद् भवेद् यथा' (४।४१-४२) यहां रुद्राक्षकी मालाको अन्य मालाओं से श्रेष्ठ माना गया है; उसमें कीटाणुनाशिनी शक्ति भी हुआ करती है। तुलसीकी भी सात्त्विक विद्युत्प्रदान-शक्ति विज्ञान-सम्मत होनेसे जपमें तुलसीकी मालाका उपयोग भी हो सकता है। गलेमें भी तुलसी आदिकी कण्ठी पहननेका यही लाभ हो जाता है। मौन रूपसे जप करनेसे गलेकी नसोंपर जोर पड़नेसे गलेमें गण्डमाला आदि रोगोंकी आशंका बनी रहती है; तब गलेमें उक्त कण्ठी पड़ी रहनेसे, गलेसे उसका स्पर्श होते रहनेसे उक्त रोगोंकी आशङ्का

नहीं रह जाती। मालामें तर्जनी-अंगुलि नहीं लगाई जाती—यह ध्यान रखनेकी बात है; क्योंकि तर्जनी-अंगुली दूसरोंको डाँटनेवाली, मारने आदिका भय देनेवाली होनेसे पापयुक्त एवं निकृष्ट होती है; और जपमें चाहिए पवित्रता; अतः तर्जनी-अंगुलीका मालासे स्पर्श नहीं कराया जाता।

अब मालाके मणियोंकी १०८ संख्याके विषयमें जानना चाहिए। हमारे प्रत्येक पलमें ६ श्वास निकलते हैं। ढाई पल वा एक मिनटमें १५ श्वास निकलते हैं। एक घण्टेमें ९०० श्वास हो जाते हैं। १२ घण्टोंमें १०,८०० श्वास हो जाते हैं। दिन-रातके २४ घण्टोंमें हमारे २१,६०० श्वास होते हैं। इसलिए 'योगचूडामणि' उपनिषद्में कहा है—'षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः। एतत्-संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा' (३२)।

इन अहोरात्रके श्वासोंमें आधा भाग यदि सोना, भोजन तथा अन्य सांसारिक कार्योंके लिए रख दिया जाय, अवशिष्ट आधा समय परमार्थ-साधनाका स्थिर किया जाय तो दिनभागके १०८०० श्वासोंमें हमें इष्टदेवको भी इतने बार स्मरण करना चाहिए। परन्तु लोकयात्रामें इतना सम्भव नहीं हो सकता, तब १०८,०० संख्याके पिछले दो शून्योंको हटाकर १०८ वार इष्टदेवका जप किया जाता है। यद्यपि दिन कभी १०॥ घण्टोंका, कभी १३॥ घण्टोंका भी हो जाता है; तथापि उसका मध्यभाग १२ घण्टोंका है। रात विश्रामकेलिए होती है, उसमें तम तथा तमोगुणका वाहुल्य होता है; अतः इष्टदेवके स्मरणके लिए दिनके घण्टे ही

ठीक माने जाते हैं। दिनके श्वास १०८०० माने गये हैं। उनकी पूर्तिकेलिए १०८ मनकोंवाली माला ही उपाय है।

'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः' (मनु० २।८७) 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' (गीता १०।२५) 'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशु स्यात् शतगुणः, साहस्रोमानसः स्मृतः' (मनु. २।८५) यह जपकी महिमा बताई गई है। इसमें उपांशु (धीमें-धीमें) जप करनेका सौ-गुणा फल बताया गया है। मालाकी मणियां १०८ होती हैं; उसके द्वारा उपांशु-मन्त्र जपनेसे सौ-गुना फल होगा। तब १०८×१००=१०८०० यह पूर्वोक्त दिनके श्वासोंकी संख्या पूर्ण हो जाती है। इसी कारण मालाकी मणियोंकी संख्या १०८ रखना निराधार नहीं।

यह भी जानना चाहिये कि—मायाका अङ्क आठ माना गया है और ब्रह्मका ९। इसपर गो० तुलसीदासने 'मानस'में लिखा है- मायामें परिवर्तन न्यूनता वा परिवर्धन होता है, ब्रह्ममें नहीं। ब्रह्मका अङ्क ९ होता है, ९में परिवर्तन नहीं होता। देखिये— ९×१=९। ९×२=१८। ९×३=२७। यहाँ १८ में १+८ के, और २७ में २+७ के जोड़नेसे ९ ही होता है। इस प्रकारके ९ के अग्रिम पहाड़ेमें भी स्वयं जाना जा सकता है। अब आठके पहाड़ेमें न्यूनाधिकता देखिये। ८×१=८, ८×२=१६ (१+६=७)। ८×३=२४ (२+४=६) इस प्रकार उत्तरोत्तर न्यूनता होती गई है। ८×५=४० (४+०=४) यहाँ ४ ही बचा है। ८×६=४८ (४+८=१२, १+२=३) यहाँ ३ ही बचा है। ८×७=५६ (५+६

=११, १+१=२) यहाँ दो ही बचा है ! ८×८=६४ (६+४=१०, १+०=१) यहाँ एक ब्रह्म ही अवशिष्ट हुआ। ब्रह्मके अङ्क ९ में तो विकार नहीं होता ८×९=७२ (७+२=९) यह यहाँ प्रत्यक्ष है।

हिन्दुजाति प्रारम्भसे ही सूर्यकी भक्त है; इसलिए उसकी सन्ध्यामें सूर्यको अर्घ्य दिया जाता है, सूर्यका ही उपस्थान किया जाता है। सूर्यके ही मन्त्र सावित्री-ऋचाका जपन होता है। उस सूर्यके १२ भेद होते हैं; उनमें १२वां भेद है विष्णु। इधर सूर्यकी १२ राशियां होती हैं। वह सूर्य ब्रह्मरूप होता है—जैसे कि यजुर्वेदसंहितामें कहा है—'तदेवाग्निः, तदादित्यः, तद् वायुः, तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म' (वा० सं० ३२।१)। ब्रह्मका अङ्क ९ बताया जा चुका है। तब १२ अङ्कवाले सूर्यका ९ अङ्कवाले ब्रह्मके साथ गुणन करनेसे १०८ संख्या होती है। तब सूर्यात्मक विष्णुका जप भी १०८ वार ठीक है। जपमें साधन होती है माला; तब मालाकी मणियाँ भी १०८ ठीक हैं। १०८ अङ्कमें १+८ मिलकर ९ अङ्क हो जाता है। ९ अङ्क ब्रह्मका प्रतीक है—यह कहा ही जा चुका है। इसलिए ब्रह्मवित्-संन्यासियोंके नामके साथ भी 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मके प्रतिनिधि 'श्री १०८' के लिखनेकी शैली चली आती है।

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म' अक्षरोंके अनुसार भी १०८ संख्याका होता है। 'क' से लेकर 'म' तक २५ अक्षर हैं, ४ य, र, ल, व, हैं और ४ श, ष, स, ह। इस प्रकार व्यंजन ३३ हुए। स्वर 'अ' से 'अः' तक १६ हैं। उनका क्रम अ १, आ २, इ ३, ई ४, उ ५,

ऊ ६, ए ७, ऐ ८, ओ ६, औ १०, ऋ ११, ॠ १२, लृ १३, लॄ (प्लुत) १४, अं १५, अः १६। ए, ऐ और ओ औ का इ-उके साथ सम्बन्ध होनेसे ही उनका इनके आगे क्रम रखा गया है। प्रसिद्ध क्रम यह है अ १, आ २, इ ३, ई ४, उ ५, ऊ ६, ऋ ७, ॠ ८, लृ ६, लॄ १०, ए ११, ऐ १२, ओ १३, औ १४, अं १५, अः १६।

'ब्रह्म' शब्दमें 'ब, र, ह, म, यह वर्ण हैं। उसमें 'ब' २३ संख्याका है, 'र' है २७ संख्याका। 'ह' की संख्या है ३३, 'म' की संख्या २५ है। 'अ' सर्वत्र व्यापक होनेसे पृथक् नहीं गिना जाता। २३+२७+३३+२५ संख्या जोड़नेसे १०८ संख्या होती है। तब ब्रह्मके प्रतिपादक सूर्यका भी १०८ बार जप ठीक है। 'संसार' शब्दमें 'स–अं–स–आ–र' वह वर्ण हैं। इनमें स ३२, अं १५, स ३२, आ २, र २७ यह वर्ण मिलकर १०८ संख्या होती है। तब १०८ संख्यावाले संसार (जन्म)के हटानेकेलिए, मुक्तिप्राप्त्यर्थ १०८ संख्यावाले ब्रह्मका जप ठीक ही है।

'सीताराम' भी ब्रह्म हैं। इसमें स ३२, ई ४, त १६, आ २, र २७, आ-२, म २५ इस संख्यावाले हैं; इन अङ्कोंके भी जोड़नेपर १०८ संख्या बनती है। इस प्रकार 'रामकृष्ण' भी ब्रह्म हैं। इनकी संख्या भी देखिये—र २७, आ २, म २५, क १, ऋ ७, (प्रसिद्ध क्रमसे), ष ३१, ण १५। इनके जोड़नेपर भी १०८ होता है। इस प्रकार 'राधाकृष्ण' भी ब्रह्म हैं। र २७, आ २, ध १६, आ २, क १, ऋ ११ (पहले कहे हुए विशेष क्रमसे) ष् ३१, ण १५।

यहाँ भी १०८ संख्या बनती है। इस प्रकार 'कैलाशनाथ' भी ब्रह्म है। इनकी संख्या भी देखिये—'क १, ऐ ८ (पूर्व कहे हुए विशेष क्रमसे), ल २८, आ २, श ३०, न २०, आ २, थ १७। इनका भी जोड़ १०८ होता है। इनका भी जप होता है।

इस प्रकार मालाकी मणियोंकी १०८ संख्याका ब्रह्मसे सम्बन्ध सिद्ध हुआ। १०८ अङ्क १+८=९ जोड़कर ९ होता है—यह हम पहले कह ही चुके हैं। इस १०८, १८, ९ संख्याका ब्रह्मसे सम्बन्ध होनेसे अक्षय होनेके कारण हमारे पूर्वजोंने भी ग्रन्थ-प्रणयनमें इसका ध्यान रखा। जैसे कि—श्रीवेदव्यासने पुराण भी लिखे १८, उपपुराण भी १८, और औपपुराण भी १८। महाभारतके पर्व भी १८। महाभारतकी अक्षौहिणीकी संख्या भी १८। गीतामें ब्रह्म-श्रीकृष्णके उपदेश भी १८ अध्यायोंमें संगृहीत हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके श्लोक भी १८ हजार हैं। गोस्वामी तुलसीदासने श्रीरामकी सेनामें वन्दर भी १८ पद्म बताये हैं।

१८ का योग १+८=९ है। यह ब्रह्मरूप है—यह कह ही चुके हैं। युगोंकी संख्या भी ऐसी ही है। सत्ययुगके वर्ष १७,२८,००० हैं। १+७+२+८ के योगमें १८, और १+८ के योगमें ९ संख्या बनती है। त्रेतायुगकी वर्ष संख्या १२,९६,००० है। इनका जोड़ भी १+२+९+६=१८, १+८=९ है। द्वापरयुगकी वर्षसंख्या ८,६४,००० है। इनके जोड़में भी ८+६+४=१८, १+८=९ संख्या ही निकलती है। कलियुगकी वर्षसंख्या ४,३२,००० है। इनका जोड़ भी ४+३+२=९ ही होता है। चार

युगोंका जोड़ ४३,२०,००० है, यहां भी ६ अङ्क ही बनता है। इकहत्तर चतुर्युगोंका १ मन्वन्तर होता है, उसके ३०,६७,२०,००० वर्ष होते हैं; इनका भी जोड़ ३+६+७+२=१८, १+८=६ ही होता है। १४ मन्वन्तरोंका १ कल्प होता है; उसके वर्ष ४,२६,४०,८०,००० होते हैं; इनका जोड़ ४+२+६+४+८=२७, २+७=६ है। इनमें १५ सन्धियां जोड़नी पड़ती हैं; जिनके वर्ष २,५६,२०,००० होते हैं, इनका भी जोड़ २+५+६+२=१८, १+८=६ होता है। सारे कल्पके वर्ष ४,३२,००,००,००० होते हैं। इनका भी जोड़ ६ अङ्क बनता है। यह ब्रह्माका दिन है, उतनी ही उसकी रात होती है। इस प्रकार ब्रह्माके दिन-रातका जोड़ ८,६४,००,००,००० है। यहां भी वही ६ जोड़ होता है। ब्रह्माका १ मास २,५६,२०,००,००,००० मानुषी, वर्षोंका होता है। एक वर्ष उसका होता है—३१,१०,४०,००,००,००० वर्षोंका। ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु होती है; उसके वर्ष ३१,१०,४०,००,००,००,००० यह हैं। इन सबका जोड़ ६ होता है। ६ अङ्क ब्रह्मका प्रतीक है—यह कहा ही जा चुका है।

यह नौ का अङ्क अक्षय होता है, इसलिए सत्ययुगका आरम्भ भी अक्षयनवमीसे माना जाता है। आज भी कार्तिक शुक्ला नवमी को अक्षयनवमी कहते हैं। इस ६ के ब्रह्मके अङ्क होनेसे महत्ताके कारण नवदुर्गा होती हैं। नवार्णमन्त्रके वर्ण भी नौ, ग्रह भी ६, नक्षत्र भी २७ (२+७=६) नौगुणे हैं। नौ अङ्क होनेसे ही 'न क्षरतीति नक्षत्रम्' इस निर्वचनसे नक्षत्र अक्षय होता है। राशियों

के पादोंके अक्षर भी ६ हैं। तीन व्याहृतियोंके साथ गायत्रीमन्त्रके अक्षर भी २७ (२+७=६) हैं; इसलिए उसका जपन १०८ भी १+८=६ होकर अक्षयफल वाला होता है।

महाभारत-युद्धमें भी मरनेसे बचे भी थे नौ। पांच पाण्डव, श्रीकृष्ण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा। हमारे शरीरमें छिद्र भी ६ हैं। अङ्क भी ६ होते हैं। इस प्रकार नौसे गुणे हुए बहुत अङ्कोंका योग भी ६ हुआ करता है। जैसे १०८×६=६७२ (६+७+२,=१८, १+८=६)। १६४८×६=१७५३२ (१+७+५+३+२=१८, १+८=६)। १६५६×६=१७६०४=(१+७+६+४=१८, १+८=६) इत्यादि। इस प्रकार अङ्कोंके गुणनफलकी शुद्धता देखनी हो; तब भी 'नौ-कटी'की कल्पनासे नौ अङ्कको कम करना पड़ता है। इस प्रकार सारा संसार भी ६ अङ्कमें विभक्त होनेसे ब्रह्म ही सिद्ध हुआ।

इस प्रकार नक्षत्र २७ होते हैं; प्रत्येक नक्षत्रके 'चू चे चो ला अश्विनी' इत्यादिरूप से चार पाद होते हैं। उनका भी गुणनफल १०८ होता है। इस प्रकार नक्षत्रोंकी मालाके १०८ संख्यावाला होनेसे जपमालाकी मणियोंकी संख्या भी १०८ है। नक्षत्रमालाका जहां दोनों ओरसे सम्मेलन होता है; वह सुमेरु-पर्वत होता है। इस प्रकार जपमालाका भी संयोजन-स्थान 'सुमेरु' है—इस प्रकार मालाके मणियोंकी १०८ संख्या सोपपत्तिक सिद्ध हुई। सुमेरुको लांघना नहीं पड़ता; इस प्रकार ६ अङ्क तथा उसके प्रतिनिधि ब्रह्म को भी लांघना ठीक नहीं होता। ठीक नहीं होता क्या, लांघा नहीं

जा सकता। सुमेरु-पहाड़का भी कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।

अन्य उपपत्ति।

मालाके मणियोंकी १०८ संख्यामें एक उपपत्ति अन्य भी दी जाती है। 'आलोक'—पाठक उसका भी सावधानतासे मनन करें। भगवान् कृष्णने कहा है—'वेदा ब्रह्मात्मविषयाः त्रिकाण्डविषया इमे। परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्' (भागवत ११।२१।३५) अर्थात् वेदोंके कर्म, उपासना, एवं ज्ञान तीन काण्ड ब्रह्म और आत्माकी अद्वैतता बतानेवाले हैं। ऋषि लोग सब बातोंको परोक्षतासे कहते हैं, मुझे भी परोक्ष-कथन ही प्रिय है। इसीलिए देवताओंकेलिए भी कहा है—'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षविद्विषः (गोपथ १।१।१)। सो सृष्टिकी उत्पत्ति-प्रलयको परोक्षतासे १०८ रूपमें कहा गया है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७।६) समस्त जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलय मैं ही हूँ। और फिर कहा है—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (७।७) यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परमेश्वरमें ऐसे पिरोया हुआ है जैसे सूत्रमें मणियां। यहां मालाका स्वरूप बता दिया गया। अर्थात् दोनों (परा, अपरा) प्रकृतिरूप मणियां परमेश्वररूप-सूत्रसे गुथी हुई हैं—वही मणिमालाका सूत्र है।

भगवान्ने जगदुत्पत्तिरूप अपरा प्रकृतिका वर्णन आठ भेदोंसे किया है—'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (गीता ७।४) यहां मनसे अहङ्कारका,

बुद्धिसे महत्तत्त्वका और अहङ्कारसे अव्यक्तका तात्पर्य है। दूसरी प्रकृति अपरा है—'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्। (७।५)। परा-प्रकृतिके जो आठ भेद बताये गये हैं; इन्हें अन्तसे आदि तक विपरीत-क्रमसे गिनना चाहिये; क्योंकि—सृष्टिक्रम इसी प्रकारका होता है, इनके गुण भिन्न-भिन्न संख्याके होते हैं।

प्रकृतियोंको पैदा करनेवाला मूल है ब्रह्म, वह है एक एवं सत्। उससे उत्पन्न अहंकार (अव्यक्त-प्रकृति) दूसरी संख्यामें है, उसके दो गुण होते हैं—एक ब्रह्मका, एक उसका अपना, आवरण। उससे उत्पन्न बुद्धि (महान्) तीसरी और तीन गुण-वाली होती है। पहलेवाले दो गुण, तीसरा उसका अपना, विक्षेप। मन (अहंकार) ब्रह्मका चौथा विकार है; उसके चार गुण हैं; तीन पहलेके, चौथा उसका अपना, मल। पांचवां विकार ख (आकाश) ५ गुणोंवाला, चार पूर्वके गुण, एक उसका अपना। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। छठा विकार वायु है, उसके ६ गुण हैं। सातवां विकार अनल (तेज) है, उसके ७ गुण हैं। आठवाँ विकार, आपः (जल) है, उसके ८ गुण हैं। नौवां विकार भूमि है, उसके ९ गुण हैं। यही बात मनुजीने भी कही है—परला-परला अपनेसे पूर्वके गुणको भी लेता जाता है, जो जितनी संख्यावाला है, वह उतने ही गुणोंवाला हो जाता है—'आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः-परः। यो-यो यावतिथश्चैषां स-स तावद्गुणः स्मृतः। (१।२०) इस अष्टधा प्रकृतिसे ही समस्त ब्रह्माण्ड एवं

शरीरोंकी सृष्टि होती है। यह संसार-बन्धनरूप अपरा प्रकृति है। इसमें ब्रह्मके एक भेदको तो गिनना नहीं है; वह तो मालामें सुमेरुस्थानीय है; उसे गिना नहीं जाता। शेष अष्टधा अपरा प्रकृतिके २+३+४+५+६+७+८+९= कुल ४४ भेद हुए।

ब्रह्मकी परा-प्रकृति जीवरूपा कही गई है; वह जीव अपरा प्रकृतिसे निर्मित सम्पूर्ण अपरा-प्रकृतिरूप ९ गुणोंवाले जगत्को धारण कर लेता है; अतः दसवां होनेसे १० गुण वाला होता है। नौ पहलेके गुण, १०वां उसका अपना। पहले वे ४४ गुण थे; अब १० यह होगए। यह ५४ संख्या होगई। यह ५४ मणियोंकी आधी माला तो तैयार होगई। यह आधी संख्या केवल उत्पत्तिकी है। उत्पत्तिसे विपरीत प्रलय होता है; उसकी भी संख्या ५४ होगी। इस प्रकार १०८ मणियोंकी माला हो जाती है। बिना दोनों उत्पत्ति-प्रलयके केवल एकका वर्णन व्यर्थ हो जाता है। तभी तो कहा है—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७।६)। 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (७।७) यह मालाकी उपमा भी बता दी गई।

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय' (७।७) यहां बताया गया है कि मुझ परमेश्वरसे अतिरिक्त जगत्का कारण अन्य कुछ नहीं। यही एक मालाका सुमेरु हुआ। प्रलयोत्पत्तिका वर्णन केवल व्यावहारिक है; सुमेरु जीव-ब्रह्मकी एकता बताता है। ब्रह्ममें और जीवमें अन्तर यही है कि ब्रह्मकी संख्या १ है, और जीवकी १०। यहाँ १०में शून्य मायाका प्रतीक है। जब तक वह जीवके साथ है;

तब तक जीव बन्धनमें है; जब उस मायारूप शून्यको-जो असत् है—जीवने त्याग दिया; तब वह भी एक हो जानेसे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' ब्रह्म बन जाता है। 'वासुदेवःसर्वमिति' (गीता ७।१९)

मालाका भी यही उद्देश्य है कि—जीव जब तक १०८ मणियोंका विचार नहीं करता, और कारणस्वरूप सुमेरु (ब्रह्म) तक नहीं पहुँचता; तब तक इस १०८में घूमता रहता है। जब सुमेरुरूप अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है; तब १०८से निवृत्त हो जाता है, माला समाप्त हो जाती है। सुमेरुको फिर लांघा नहीं जाता। जो तात्पर्य प्रलय-उत्पत्तिका है; वही १०८ संख्याकी मालाके जपका भी है। जिस प्रकार जीव ब्रह्म हो जानेपर उत्पत्ति-प्रलयसे निवृत्त हो जाता है; उसी प्रकार ब्रह्म-स्थानीय सुमेरु प्राप्त होनेपर मालाकी आवृत्तिसे भी निवृत्त हो जाता है। जब तक वह ब्रह्मभाव प्राप्त न हो; तब तक १०८ मणियोंकी मालाकी आवृत्ति होती ही रहेगी। जब पुरुष मालाके समाप्त होने पर भी जप करता रहता है; तब सुमेरुको लांघा नहीं जाता; किन्तु उसे उलटकर फिर शुरूसे वह १०८का चक्र जारी कर देता है।

यह जगत् परमेश्वरसे ही उत्पन्न, परमेश्वरमें ही स्थित और परमेश्वरमें ही विलीन होता है—यही भाव मालाका सूत्र प्रदर्शित करता है। सूत्रके दोनों सिरे सुमेरुमें ही स्थित होते हैं; और सूत्रमें सब मणियां स्थित हैं। इस प्रकार १०८की उपाधिवाला होनेसे जीवके नामके पूर्व १०८ लिखा जाता है। यह १०८ संख्याका शास्त्रीय अन्य रहस्य है।

(३४) मन्त्र-सिद्धिका सूक्ष्म-विज्ञान ।

मन्त्र-शक्तिपर कुछ प्रकाश पूर्व डाला जा चुका है। कुछ यहाँ भी लिखा जाता है। योगदर्शनमें कहा है—'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (४।१) यहाँ पर मन्त्र, तप तथा समाधि द्वारा सिद्धि कही गई है। आजकलके व्यक्ति मन्त्र-सिद्धिपर विश्वास नहीं करते। उसे वे प्रकृति-नियमसे विरुद्ध मानते हैं, परन्तु मानुष-ज्ञान अत्यन्त सीमित होता है। उनके पास प्रकृति-नियमोंकी पूर्ण सूची नहीं है। लोहा पानीमें डूबता है—यह प्राकृतिक नियम है; पर अन्य प्राकृतिक नियमोंके आश्रयसे लोहेका भारी जहाज पानी पर तैरता है। क्या साधारण लोग उन नियमोंको जानते हैं, जिनके अनुसार वायुयान उड़ता है? बिना ही तारके देश-विदेशों के साथ संवाद होता है। इस जगत्में निरन्तर शक्तिका संघर्ष होता रहता है। कभी एक शक्ति, कभी दूसरी शक्ति दबती रहती है। जिसे जितनी शक्तियोंका तथा उसके प्रचालनका जितना ज्ञान है, उसमें उतनी ही सिद्धि है। जब तक हम निश्चयपूर्वक न कह सकें कि इस शक्तिके आगे किसी शक्तिका अस्तित्व नहीं है; तब तक यह कहना कि—अमुक सिद्धि असम्भव है—यह ठीक नहीं।

दर्शन-शास्त्रोंके अनुसार मनुष्यका प्रकृति-संयुक्त आत्मा अनन्त-शक्तियोंका भण्डार है। ज्यों-ज्यों चित्तको अन्तर्मुख किया जावे, त्यों-त्यों शक्तियोंका आविर्भाव होता है। योगदर्शनके शब्दोंमें वह पुरुष पूर्ण-योगी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हो जाता है; पर उसे सृष्टि-विरुद्ध कार्य करना नहीं चाहिये, यद्यपि वह कर सकता है।

वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानसे चित्तके चार स्तर जाने गये हैं। सबसे ऊपर तथा सबसे नीचे स्तर वह है, जिसका धर्म चेतना वा विज्ञान है। यही संवेदनाओंका आलय है। इससे नीचे गम्भीर स्तर वह है जिसे 'उपचेतन' शब्दसे कह सकते हैं। यह स्मृतियोंका आलय है। तीसरा स्तर वह है—जिसे 'उपाऽचेतन' शब्दसे कहा जा सकता है। यह हमारे संस्कार, स्मृति, इच्छा और विचारोंका आलय है। सबसे नीचेका स्तर 'अचेतन' शब्दसे कहा जाता है। यह मनुष्यकी सब शक्तियोंका आश्रय है, और पूर्व-जन्मके संस्कारोंका आश्रय होता है। इस स्तरके अध्ययनसे मनुष्य-शक्तियोंका वास्तविक ज्ञान होता है।

आजके मनोवेत्ता मानते हैं कि—दो प्रकारके मनुष्य होते हैं। पहले वे हैं—जिनकी वृत्ति बहिर्मुखी रहती है। वे चित्तको व्यावहारिक जगत्की ग्रन्थियोंके उद्घाटनका साधन मानते हैं। दूसरे व्यक्ति व्यावहारिक जगत्से दूर रहते हैं, इनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है; वैसे लोग प्रयत्नसे चित्तके 'अचेतन' स्तर तक पहुँच सकते हैं। वे उसमें प्रविष्ट होकर जिस-किसी भी विषयमें अपने आत्माको जोड़ते हैं; चित्तकी एकाग्रतासे उसमें उनका अद्भुत प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार वह अननुभूत भी ऐन्द्रियिक अनुभवोंको प्राप्त होता है, अर्थात् अतीन्द्रिय-ज्ञानको धारण करता है। इस प्रकार वह क्रमशः सिद्ध एवं महासिद्ध हो सकता है।

अब कर्मकी सिद्धिके सम्भव पर विचार करना चाहिए। जब कि ज्ञान होता है, तब कर्म भी उसके साथ होता है। जिन्हें

किसी शक्ति-विशेषका ज्ञान है, वे उसका उपयोग भी कर सकते हैं। शक्तिके उपयोगका नाम ही कर्म है। जिसे जितना अधिक ज्ञान है, वह उतने ही अल्प-साधनोंसे अपना काम पूरा कर सकता है। उसे काममें वह उद्विग्नता नहीं होती; जो एक अल्पज्ञके कार्यमें होती है। इस प्रकार जो सर्वज्ञ है, वह सर्व-कर्ता भी हो सकता है। उसे ही 'सिद्ध' कहा जाता है।

क्रिश्चियन वैज्ञानिक रोगीकी शय्याके पास कुछ पाठ किया करते हैं। उससे वे बिना ही औषधिके प्रयोगके उसको स्वस्थ कर देते हैं। यह भी एक मान्त्रिक-सिद्धि हुआ करती है। प्रत्येक मन्त्र कई नियत-ध्वनियोंका समूह होता है। मन्त्रमें अर्थकी विशेष आवश्यकता नहीं हुआ करती है। नहीं तो मन्त्रकी अपेक्षित-शक्ति नष्ट हो जाती है; क्योंकि—अर्थके ध्यानमें रहनेसे शब्दके यथावत् उच्चारणमें अपेक्षित बल नहीं रह जाता। इसलिए उसमें शब्दको स्वरवर्णादिदोषरहित शुद्ध बोलनेकी आवश्यकता रहा करती है। इसीलिए ही महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें कहा है—'याज्ञे कर्मणि [प्रयोग-] नियमः' अर्थात् यज्ञकर्ममें अर्थज्ञानका नियम नहीं होता, किन्तु उस शब्दके प्रयोगमात्रका नियम होता है। विवाह-संस्कारके मन्त्रोंके शब्दोंसे कन्या संस्कृत होती है, परन्तु मन्त्रोंके अनुवादमें वह शक्ति कैसे हो सकती है?

वेद मन्त्रोंके संग्रह हैं। मन्त्र निरुक्तमें नियत आनुपूर्वीवाले तथा नियतपदप्रयोगपरिपाटी वाले कहे गये हैं। इसीलिए काव्य-प्रकाश आदिमें वेदको शब्द-प्रधान माना गया है। कौत्समुनि वेद-

मन्त्रोंको अनर्थक मानते हैं। अनर्थकका यह भाव नहीं कि उनका कुछ भी अर्थ नहीं। इसका यह भाव है कि मन्त्रका उच्चारण-विशेष में ही सामर्थ्य है। अर्थमें ध्यान देनेसे शब्दकी शक्ति मारी जाती है, उसमें कुछ रुकावट पड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र-विशेषके शक्तिविशेष के विषयमें भी जानना चाहिए। बीजमन्त्र अर्थहीन ही तो होते हैं। ऐं, ह्रीं क्लीं आदि बीजमन्त्र कितना प्रभाव रखते हैं—यह जानना चाहते हो; तो चिन्तामणि-मन्त्रके उपासक श्रीहर्षका 'नैषधचरित' महाकाव्य तथा उसका १३वाँ सर्ग देखना चाहिए।

जब किसी वस्तुमें किसी कारणसे कम्पन होता है; तब उस कम्पनके कारण हमारी कर्णेन्द्रिय पर विशेष-प्रभाव पड़ता है, जिसे 'ध्वनि' कहा जाता है। प्रत्येक वस्तुकेलिए एक कम्पनकी संख्या नियत होती है, जो उसके गुरुत्व और आकारपर निर्भर होती है। यदि वह वस्तु कम्पनको प्राप्त होती है, तो स्वर निकलता है। यदि उसके पास वह स्वर प्रतिध्वनित हो; तो वह वस्तु भी कम्पित होगी। प्रयोगशालाओंमें इनके अनेक प्रयोग होते हैं। इसलिए ध्वनिमापक यन्त्र (सोनोमीटर) बनाया जाता है।

एक शीशेका गिलास लिया जाता है, उसका नियत स्वर उसके पास बजाया जाता है; उसके परिणाममें गतिबद्धता-वश कम्पनके वेगसे गिलास टूट जाता है। पर्याप्त गवेषणासे उपयुक्त ध्वनियोंके प्रयोगसे अर्थात् मन्त्रविशेषके द्वारा बड़े किले या पर्वत गिराये जा सकते हैं। इङ्गलेण्डमें 'स्टोन हैञ्ज'में 'ड्रुइड'-धर्मोंका जो अवशेष

है, उसमें पत्थर एक-दूसरे पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि—उनके पास मध्यम स्वरसे बजानेसे वे कांपते हैं। कुछ समय तक वैसा होनेपर उनके गिरनेकी शङ्का भी हो सकती है। इस कारण वहां गाना निषिद्ध है। इस प्रकार वैज्ञानिक तथ्योंके आधारसे कहा जा सकता है कि—ध्वनिसमूह (मन्त्र) द्वारा बहुतसे विचित्र कार्य किये जा सकते हैं।

पशुओं और मनुष्योंपर ध्वनियोंका जो प्रभाव पड़ता है; उसे सभी जानते हैं। ऋतुविशेष या समयविशेषमें जो ध्वनि-समूह कार्य करते हैं; वे हमारी राग-रागनियोंके आधार हैं। रोगियोंके ऊपर भी ध्वनियोंका प्रभाव अनुभवसिद्ध है। उपयुक्त ध्वनिराशि शरीर, मस्तिष्क और नसोंके क्षोभको शान्त करके उसमें पुनः साम्यावस्था ला सकती है, जिसका पर्याय शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य है। इस प्रकार उपयुक्त ध्वनियोंकी आवृत्ति अर्थात् मन्त्रविशेषोंके जपसे मस्तिष्कके उपयोगी केन्द्रोंको कम्पित किया जा सकता है, और उनके द्वारा चित्तके चौथे स्तर अचेतनके अंशविशेषोंको प्रबुद्ध किया जा सकता है, जिनसे योगी सिद्धियों को प्राप्त कर सके।

जब कि—आजकल निरर्थक, मुसलमान-आदियोंके मन्त्र भी सांप-बिच्छू आदिके दमनमें सफलता पाते हुए देखे जाते हैं; तब जगद्गुरु भारतवर्षके जगद्गुरु ब्राह्मणोंसे समाधि-द्वारा दृष्ट वा सृष्ट मन्त्र-तन्त्रशास्त्रके मन्त्र भला कैसे झूठे हो सकते हैं? इस-लिए महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें 'ज्ञान-कर्मके धर्माधर्माधिकरण'में

कहा है—'यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्ति' इससे वेदमन्त्रोंके नियमबद्ध जपनसे फल-प्रदान-शक्ति सिद्ध होती है। इसलिए उनका प्रभाव कारीरीयज्ञमें बादलोंपर भी पड़ता है, वृष्टि भी हो जाती है। पुत्रेष्टियज्ञमें स्त्रीके गर्भाशय पर भी पड़ता है; जिससे उसमें शुक्र स्थिर होकर सन्तान भी हो जाती है। वेदके मन्त्र स्वयम्भूका वचन होनेसे साक्षात् फलशाली होते हैं। पुराणोंके तथा तन्त्रशास्त्रोंके मन्त्र भी पुराणोंके अनादि होनेसे अनादिकालसे चले आ रहे हैं; वे भी वेदानुसारी होनेसे वेदवाला फल रखते हैं।

कई मन्त्र वेद वा पुराणसे भिन्न भी होते हैं; उनमें मन्त्रके आविष्कर्ताओंकी तपस्याका बल फलदायक होता है; वा वे विविध देवोंकी कृपासे प्रसूत होनेसे उनके बलसे फलदायक हुआ करते हैं। कई पौरुषेय मन्त्र भी उनके अनुयायिओंमें सफलता प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं; वहाँ पर आविष्कर्ताओंकी तपस्या तथा उनके अनुयायिओंका पूर्ण विश्वास फलदायक बनता है। वह उनकी तपस्या यावत्कालावस्थायिनी रहेगी, तब तक वे मन्त्र भी सफल होते रहेंगे; बादमें वे निष्फल वा निष्प्रभाव हो जावेंगे। पर वेदमन्त्र सदा ही सफल होते हैं; पर उसका प्रयोक्ता शास्त्रोक्त अधिकारी, निष्ठावान् तथा शुद्ध उच्चारणवाला होना चाहिए।

इस प्रकार याज्ञिक मन्त्रों द्वारा वशीकृत देवशक्ति हम पर अनुग्रह करती है। वह उच्चयोनि तथा लोकोत्तर-बलशालिनी होनेसे हमें अपने मनोरथोंकी पूर्तिमें सुगम सुझाव देती है। उन

मन्त्रोंके प्रकम्पनोंका प्रभाव हमारे शरीरपर होनेसे वे हमारे रोग आदिके परमाणुओंको भी बहिष्कृत करनेमें समर्थ हो जाते हैं। मानसिक एवं शारीरिक अस्वास्थ्य दूर हुआ; तो लोककल्याण स्वयं उपस्थित हो जाता है। (सं० नं०)

(३५) परिक्रमाका विज्ञान

सन्ध्याके जप-विज्ञानपर प्रकाश सम्यक् पड़ चुका है; अब उसका अन्तिम अङ्ग परिक्रमा रह रही है; कुछ उसपर भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। सन्ध्या जब की जाती है; तो एक विशेष दिशाकी ओर मुख करके की जाती है; पर परमात्मा-जिसका हम ध्यान कर रहे होते हैं, वह है सर्वतो-व्याप्त। हमें भी उसका सर्वतः सम्मान करना चाहिए। यद्यपि जैसा वह अखण्ड है; हम वैसे अखण्ड होकर व्यापक नहीं; तथापि यथाशक्ति अभिनयरूप से सही—हम उसकी परिक्रमा कर लेते हैं; इससे हमें यह ध्यान रह जाता है कि परमात्मा सर्वव्यापक है। आर्यसमाज तो यह समझकर कि—हम परमात्माका अन्त कैसे पा सकते हैं—उसकी 'मानसिक-परिक्रमा' कर लिया करता है। सनातनधर्मी भी यह जानते हैं; वे यह भी जानते हैं कि उस अनन्त तथा असीमितकी तो पूजा भी नहीं हो सकती; तथापि मूर्तिपूजाके ढंगसे उसकी वे उपासना कर लेते हैं; तथा शारीरिक-परिक्रमा भी। क्योंकि पुरुषके अधिकारमें जितना सम्भव हो सकता है, वह उतना ही करता है। अस्तु।

यह परिक्रमा भी प्राचीनकालका एक सम्मान है। आज भी

श्राद्धोंके समय श्रद्धालु लोग ब्राह्मणोंकी भी परिक्रमा करते हैं। यज्ञमें अग्निकुण्डकी परिक्रमा तो सभी करते ही हैं, आर्यसमाजी भी विवाहके समय यज्ञकुण्डकी एवं अग्निकी परिक्रमा करते ही हैं। आजकल जैसे मोटरोंवाले, सिपाहीकी दाहिनी ओर परिक्रमा करके जाते हैं यह एक कानून है; नहीं तो सिपाही उनका चालान कर देता है; वह उस समय हाथ ऐसे रखता है, जैसे आशीर्वाद देनेवाले करते हैं। दिलीपने स्वर्गसे आते समय कामधेनुकी परिक्रमा नहीं की थी—इसलिए उसने उसका चालान कर दिया था; अर्थात् शाप देदिया था कि तुम्हारे लड़का नहीं होगा। अस्तु।

यह परिक्रमा सन्ध्याके अन्तमें भी होती है एक मूर्तिको स्थिर करके। देवमन्दिरमें भी होती है। परिक्रमासे उस स्थान-विशेषमें प्रसृत दिव्य-तेजमें प्रवेश हो जाता है। उसमें कारण यह है कि चक्राकार गतिसे आकर्षण और विकर्षणका योग होता है। इसी कारण सूर्य और चन्द्रमा आदिकी परिक्रमा हुआ करती है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि अपनी कक्षामें परिक्रमा ही तो किया करते हैं। आजकलके मतमें भूमि भी तो सूर्यकी परिक्रमा किया करती है। सूर्य भी किसी और सूर्य की। तब यह परिक्रमा प्राकृतिक-व्यवहार सिद्ध हुआ। जब कोई जादूगर अपना खेल शुरू करता है; तो जनता उसे चारों ओर घेरकर बैठती है। जब कोई लैकचरार लैकचर देता है; तब भी जनता उसे घेरकर बैठती है। यह भी परिक्रमाका ही स्वरूप है। ऐसा क्यों ? वह इसलिए कि हमने जिसकी उपासना करनी होती है; उससे योगकरणार्थ

और लाभप्राप्त्यर्थ हमारी गोलाकार स्थिति स्वाभाविक हुआ करती है।

परिक्रमासे अपेक्षित-लाभकी प्राप्ति एवं आत्मगत-तेजकी वृद्धि हुआ करती है। मूर्तिपूजामें परिक्रमा अपना विशेषस्थान रखती है। परिक्रमाके समय जिधर मुख करें; उसे उस देवको प्राप्त होनेकी आस्था रहती है; उस देवके गुणोंका चिन्तन भी होता रहता है। हमने भी जब पृथ्वीका अन्त पाना होता है; तब पृथ्वी-परिक्रमा करते हैं। फलतः परिक्रमा भी रहस्यपूर्ण-व्यवहार है। कोई उपहासकी बात नहीं।

(३६) वाणीका उपवास, वा मानसिक-तप, मौन।

सन्ध्या आदिके समय अपेक्षित-मन्त्रोच्चारणादिके बिना और किसीसे बातचीत न करना यह 'मौन' कहाता है। इसमें भी कई रहस्य हैं। एक यह कि—यज्ञमें अपभाषणका निषेध है। सन्ध्या वा जप आदि भी यज्ञरूप होते हैं; इनमें हम बातचीत करेंगे; तो हिन्दीमें करेंगे। हिन्दी अपभ्रष्ट-भाषा है; उसका व्यवहार करनेसे दोष उपस्थित होता है। महाभाष्यमें कहा है कि—असुरोंने विजयकेलिए किये जा रहे हुए यज्ञमें 'हेलयः-हेलयः' कहते हुए—अपभाषण किया; और वे पराजित हो गये। इसलिए हमारे पूजा-सम्बन्धी कार्योंमें भी संस्कृत शब्दोंका व्यवहार देखा गया है। यह नहीं कहते कि 'हम देवताके घर जाते हैं', किन्तु कहते हैं—'देवमन्दिरमें जाते हैं' यह नहीं कहते कि—देवताको देखने जाते हैं; किन्तु कहते हैं कि—'देवदर्शनार्थ जाते हैं' इत्यादि।

दूसरा सन्ध्या आदिमें बेरोकटोक बात-चीत होनेसे हमारा ध्यान उसी ओर जावेगा। फिर हमारी उपासनाकी एकाग्रता नष्ट होगी।

यह तो हुई पूजाकी बात; वैसे भी समय-समयपर मौन रहना यह मानसिक-तप है। प्रत्येक समय बोलनेवाले, अधिक बोलनेवाले जब बोलेंगे; उसमें जहां वाणीका खर्च होगा; वहां अपनी भीतरी-शक्तिका, भीतरी-विद्युत्का भी, अपने तेजका भी ह्रास होगा। प्रायः मौन अवलम्बन करनेवालेकी वह शक्ति सुरक्षित रहती है; इसलिए समयपर बोलनेवालेका प्रभाव भी दूसरेपर होता है। जिस इन्द्रियका जितना संयम होगा; उसकी शक्ति उतनी बढ़ेगी, भविष्यमें भी वह अधिक कार्य देगी। फिर अधिक बोलनेसे उसमें असत्य-बहुलता भी रहेगी। असत्य बोलना भी हमारे तपको क्षीण करनेवाला होता है। अस्तु।

'मौन'का अर्थ है 'मुनेर्भावः'। तो यह मौन मुनित्व है। मुनि इसी मौनका ही व्यवहार अधिकांशमें करते थे। जैसे कायिक उपवास एकादशी-व्रत है—जिसका विवेचन हम आगे करेंगे, उससे शरीरकी शुद्धि होती है; वैसे ही वाणीका उपवास मौनव्रत है; इससे वाणीकी शुद्धि हो जाती है। मौन मानसिक-तप है। जैसे कि भगवान्ने कहा है—'मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते' (गीता १७।१६)। मनकी प्रसन्नता रखनी (कुढ़ते न रहना), सौम्य रहना, मौन रहना, आत्म-संयम रखना, भावकी शुद्धि रखनी—यह मानस-तप कहा है।

जैसे सदा अन्न, कदन्न (खराव-अन्न) आदि खानेसे शरीरमें अशुद्धि व्याप्त हो जानेसे शरीर रोगी हो जाता है, और शारीरिक उपवास करनेपर वह अशुद्धि दूर होकर शरीरकी शुद्धि हो जाया करती है, और वह शरीर भी नीरोग हो जाया करता है, वैसे ही सतत-भाषणसे, सुभाषण और अपभाषणके मिश्रण हो जानेसे वाणी भी अस्वस्थ हो जाती है, वह असत्य भी वोलने लग जाती है—यही उसकी अस्वस्थता-रुग्णता होती है। वही वाणी फिर निर्भर्त्सन, और गालिप्रदान आदिमें परिणत होकर क्रोधके प्राज्य-साम्राज्यको आविष्कृत करके 'वाक्पारुष्याद् नान्यदस्त्यप्रियत्वम्' इस न्यायसे कलह, युद्ध एवं महायुद्धोंकी सृष्टि करनेवाली बन जाती है।

वाणी जब तक हमारे अन्दर है, हमारी है। जब मुखसे बाहर हुई; तब वह दूसरेकी हो जाती है। उससे यदि दूसरा घात को प्राप्त करता है; तब वह उस वाक्के प्रयोक्ता पर प्रहार करता है; उसके मारनेका प्रयत्न करता है। परन्तु मौनव्रत वाणीके उस रोगको शान्त करनेवाला अमोघ-औषध होता है। मौनव्रतसे न केवल वाणीका वल, प्रत्युत मनोवल, बुद्धिवल, आत्मवल तथा शारीरिक-वल भी प्राप्त होता है। अधिक-भाषण शारीरिक-वलके साथ मनोवल एवं बुद्धिवलका भी ह्रास करता है; क्योंकि वाणीके विकासमें यह तरीका है कि—उस समय हमारा आत्मा और बुद्धि हमारे शरीरमें कौन्सिल करते हैं; कि अमुक अर्थको कहना है। वे मनको प्रेरित करते हैं। मन उस समय शारीरिक-अग्निको पीटता है, वह अग्नि वायुको प्रेरित करती है। वह वायु नाभिप्रदेशसे

ऊपर छाती आदिमें प्रवेश करती है, फिर ऊपर आती है और शब्द मुखसे उत्पन्न होता है। यही वाणी है। इसमें हमारे शरीरका मथन होता है। उसकी अग्नि ह्रसित होती है। इसलिए लैकचरार और अध्यापक जिनको चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, शीघ्र मरते हैं।

हमारी भाषण-क्रियाको हमारा गला और फेफड़े विशेषरूपसे सम्पन्न करते हैं। फेफड़ोंमें वायुसंचार होनेपर ही वाणीकी प्रक्रिया संपन्न होती है, उसका प्रभाव हमारे मस्तिष्क एवं शरीरपर भी पड़ता है। मौनव्रतसे फेफड़ोंकी सुरक्षा होती है; और वे रक्तशुद्धि के कार्यमें निरन्तर लगे रहते हैं। इससे शारीरिक स्वास्थ्य उन्नत होता है, मन भी दृढ होता है। इसलिए शारीरिक या मानसिक विविध रोगियोंके लिए मौन बिना-मूल्यकी दवाई है।

मौनसे शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक स्वास्थ्य प्रवृत्त रहता है। इस संसारमें सारा व्यवहार शरीर, वाणी और मनपर निर्भर है। इनकी विषमता होनेपर ही विविध-कलहोंकी सृष्टि होती है। उनके साम्य वा स्वास्थ्य रहनेपर सांसारिक सब व्यवहारोंका सामञ्जस्य रहता है। इस कारण वाचंयमता-मौनव्रत एक आवश्यक व्यवहार है। इस प्रकार मौनसे जीवन सुखी हो जाता है। अप-भाषण—गाली-गलौज़की प्रवृत्ति घटती है। मित्र बढ़ते हैं। कुटुम्ब में ऐक्य रहता है; कुटुम्बके ऐक्यमें समाज-जीवन स्वस्थ रहता है। मौनकी समाप्तिमें भी वाणी-निग्रह आवश्यक है।

मितभाषण मौनका प्रथम सोपान है। मितभाषी पुरुषके शब्द

परिमित होते हैं; उनका दूसरेपर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सुनयना, चन्द्रवदना स्त्रीका मुख घूँघटमें रहता हैं, तो उसे देखने की चाह वनी रहती है; जव मुख घूँघटसे वाहर आता है, तो सभीकी चित्तवृत्ति वलात् उधर खिंच जाती है, वह मनको हर लेती है; यही वात वाणीकेलिए भी है। मुखमें रहना वाणीका पर्दा है; मुखसे वाहर आना वाणीका पर्देसे वाहर आना है। वाक्-संयमीकी वाणीके प्रारम्भ होनेपर सभी उसके एक-एक शव्दको ध्यानसे सुनते हैं। इसमें श्रीगान्धीजी निदर्शन थे। वह नियमित दिनमें मौन करके उसे समाप्त करके जव वोलना शुरू करते थे; तव जनराशि उनके वचनके सुननेके कुतूहलसे उनके पास इकट्ठी हो जाया करती थी, मौनके कारण भिन्नशव्दोंके प्रयोक्ता-उनके मितशव्दोंका जन-साधारणपर और राजकीय-अधिकारियोंपर ज़ोरदार प्रभाव पड़ता था।

मौनका यदि दम्भकेलिए सेवन किया जाए; तो विशेष-लाभ नहीं पहुँचता। श्रद्धासे, विश्वाससे और हृदयसे यदि मौनका पालन किया जाए; तो वैकारिक-भावनाओंका उपशम तथा विशुद्ध सात्त्विक-वृत्तियोंका उदय होता है। इस प्रकार पुरुषका चित्त निर्मल, और चरित्र उत्तरोत्तर विशुद्ध होता जाता है। भोजन-समयमें तो मौन अपेक्षित होता ही है; तव उसके अवलम्वनमें लारके अधिक खर्च न होनेसे भोजनके परिपाकमें सहायता मिलती है। साधक यदि मौनका अवलम्वन लेता है; तो दैवी-सम्पत्तिके आविर्भावक, उदात्त मानसिक-भावोंका उज्जृम्भण होता है। मौनसे

ही अनायास धर्म, अर्थ, कामकी प्राप्ति होती है, फिर मोक्षकी प्राप्ति भी सुलभ हो जाती है।

'मुखादग्निरजायत' (यजु० ३१।१२) इस मन्त्रमें मुखसे अग्निकी उत्पत्ति कहनेसे मुखसे उत्पन्न होती हुई वाणी भी अग्नि-स्वरूपा सिद्ध होती है। वही बढ़ी हुई वागग्नि उद्दीप्त होकर-शापरूप-को प्राप्त होकर दूसरोंके कुलोंको भी जला डालती है; इससे तदाश्रय-भूत रसना तथा अपने आत्माका भी अनिष्ट होता है। तब रसना-बल क्षीण हो जाता है। परन्तु वाक्संयममें तो पुरुषके पास स्वर्गीय-वातावरणका उदय होता है। मौन ही हमें आत्म-चिन्तन, मनन, ध्यान आदिमें सुविधा देकर आत्माको विशुद्ध करके परमात्मासे मिलानेमें सौकर्य कर दिया करता है, मनको दृढ बना दिया करता है, आरोग्यको प्राप्त कराता है। आत्मकल्याणेच्छु पुरुषोंको इस मौनका निश्छल अभ्यास करना चाहिये।

(३७ क) घण्टानाद।

प्रातःकाल देवमन्दिरोंसे उठनेवाली दीर्घ प्रणवनाद-सी सुमधुर घण्टा-ध्वनि भारतीय हिन्दुओंको अनादिकालसे परिचित एवं प्रिय है। देवपूजनमें घण्टा वा छोटी घंटीका नाद भी आवश्यक माना जाता है। जहां घंटी रहती है, वहां सर्प, अग्नि तथा बिजलीका भय नहीं होता। घंटेकी ध्वनि देवताओंको प्रसन्न करनेवाली, असुर, राक्षस, भूत-प्रेतादिको भगा देने वाली, पापनिवर्तक, एवं अरिष्टनाशक बताई गई है। लौकिकरूपमें यह पता लग जाता है कि—मन्दिरमें पूजा हो रही है; नियत-समय पर होनेसे शहर वा

गांववालोंको टाइमका भी पता लग जाता है। बौद्ध, जैन, ईसाइयों-के मन्दिरोंमें भी इसका प्रयोग होता है। वर्मा, चीन, जापान, मिश्र, यूनान, रोम, फ्रान्स, रूस, इंगलैण्ड आदिमें भी घण्टेका व्यवहार प्राचीनकालसे है। घंटेकी ध्वनिसे कई रोग भी दूर होते हैं। इसका विशेष-लाभ 'देवमन्दिरगमन-विज्ञान'में बताया जावेगा।

(३७ ख) शंख-ध्वनिविज्ञान।

सन्ध्या कर चुकनेपर तथा हिन्दुओंके धर्ममन्दिरोंमें, धर्म-कथाओंमें शंखका नाद किया जाता है, यह भी रहस्य-पूर्ण है। वैज्ञानिक-प्रोफेसर जगदीशचन्द्रवसु-महोदयने अपने प्रयोगोंसे सिद्ध किया है कि—जहां तक शंखकी ध्वनि जाती है; वहां तक संक्रामक रोगोंके अनेक विषाक्त परमाणु स्वयं ही दूर हो जाते हैं, वहांका वायुमण्डल विशुद्ध हो जाता है।

जो लोग हमपर यह आक्षेप करते हैं कि—यह लोग मुंहसे हड्डी छूते हैं, इस पर उन्हें जानना चाहिए कि—जैसे चमड़ा अशुद्ध होने पर भी प्रतिपक्षी भी मृगचर्मादिरूपमें उसका उपयोग लेते हैं, और उसे शुद्ध मानते हैं। जैसे देवमन्दिरमें चमड़ेके बने होनेसे जूता लेजानेका निषेध होने पर भी चमड़ेका मृदंग वा ढोल वहां ले जाया जाता है। जैसे बाल अशुद्ध होने पर भी प्रतिपक्षी-लोगोंसे शिखा (चोटी) रूपमें प्रयुक्त किये जाते हैं, चमरीकी पूछ-चमर मन्दिरोंमें, गुरुद्वारों वा राजभवनोंमें झुलते हैं; और उन्हें शुद्ध माना जाता है; जैसे पुरीष अशुद्ध होने पर भी प्रतिपक्षी भी गोपुरीष (गोबर) रूपमें उसका उपयोग करते हैं, और उसे शुद्ध

मानते हैं; मल अशुद्ध होनेपर भी भस्मरूपसे प्रयुक्त की जाती है, क्योंकि—भस्म अग्निकी मल होती है; जैसे कि कृष्णयजुर्वेदमें कहा है—'अग्नेर्भस्मासि, अग्नेः पुरीषमसि' (तै० सं० १।२।१२ (३) जैसे दांत अशुद्ध होने पर भी, अस्थिमय होनेपर भी, गजदन्तरूपमें प्रतिपक्षियोंसे भी उपयुक्त किये जाते हैं, वल्कि अपने मुखमें भी लगाये जाते हैं; अपनी स्त्रियोंके हाथमें चूड़ीरूपसें पहिनाये जाते हैं। जैसे मूत्र अशुद्ध होने पर भी प्रतिपक्षी भी गोमूत्रादिरूपमें उसका प्रयोग करते हैं, और उसे शुद्ध मानते हैं। जैसे कि—कृमि-विशेषके मुखकी लारसे उत्पन्न भी रेशमको पवित्र माना जाता है। जैसे वमन (उल्टी) अशुद्ध होती हुई भी मधु-रूपमें प्रतिपक्षियोंसे प्रयुक्त की जाती है, और यज्ञमें भी उसका प्रयोग किया जाता है; जैसे हड्डीरूप कौडियाँ भी सभीसे प्रयुक्त की जाती हैं; इसी तरह अस्थि अशुद्ध होती हुई भी शङ्ख आदि रूपमें उसका प्रयोग होता है, और शङ्खको शुद्ध माना जाता है। यह सब सामान्य-शास्त्रके अपवाद हैं।

यदि कहा जावे कि—'यह तो आपकी इच्छा हुई, जिसे चाहे शुद्ध वना दें, जिसे अशुद्ध'। इसपर यह जानना चाहिए कि—सामान्य-शास्त्रके अपवाद सर्वत्र हुआ करते हैं, और वे स्वाभाविक होते हैं; उन्हें वैसा ही मानना पड़ता है। आक्षेप्ता लोग जिन्हें हड्डी एवं अस्पृश्य कहते हैं; उनके मुखमें भी क्या हड्डी जुड़ी हुई नहीं; जिन्हें दाँत कहते हैं? क्या आप उन्हें निकलवा डालते हैं? आपके शरीरमें रक्त भी है, हड्डियाँ भी हैं; उन्हें भी अस्पृश्य

होनेसे निकलवा डालेंगे ? शुक्र अस्पृश्य है; उससे बने हुए पुत्रको भी गिरा देंगे क्या ? यदि नहीं; तो स्पष्ट हो जाता है कि—जिसके बिना निर्वाह न हो; वा जिसमें कई गुणविशेष अनुभूत हों, उसकी अस्पृश्यता बाधित हो जाती है, और उसे अपवादस्थल माना जाता है। जब अनिर्वाहस्थलमें भी अस्पृश्यता नहीं मानी जाती; तब जहां हमारे विज्ञानज्ञाता प्राचीन ऋषि-मुनियोंने विशिष्ट वस्तुओंमें वैज्ञानिक-दृष्टिसे शुद्धता देखी; वहाँ भला अस्पृश्यता, वा अशुद्धता वा त्याज्यता कैसे हो सकती है ? इस प्रकार सभी सामान्य-शास्त्रके अपवादोंमें जानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक नियमोंसे भी यही प्रतीत होता है कि—अस्पृश्यता बलाबलपर निर्भर है। जिस वस्तुमें वैज्ञानिक गुणोंका बल अधिक होता है, वहाँ अस्पृश्यता प्रवृत्त नहीं होती। जैसे सायङ्कालीन वायु अस्पृश्य होती है; वह सम्पूर्ण वृक्षोंको दूषित कर देती है, परन्तु अधिक बल रखनेवाले पीपल और बड़ आदि वृक्ष, तुलसी आदि पौधे उस वायुसे दूषित नहीं किये जा सकते। पूर्ववत् वे शुद्ध ही रहते हैं। अवश्य इनमें विशिष्ट-शक्ति हुआ करती है; जो अशुद्ध वायुको बलवान् नहीं होने देती। तभी हमारे शास्त्रोंमें तुलसी, पीपल आदि वृक्षोंको उत्तम वृक्ष माना गया है, सायं वा रातमें भी इनके पास रहनेसे हमारी कोई हानि नहीं होती।

इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने मृगचर्म आदि तथा ऊनके वस्त्र; रेशमी कपड़ा आदि और गजदन्त एवं शङ्ख आदिको भी पवित्र

कहा है। इस प्रकारकी विशिष्ट-शक्तिको हमारे वैज्ञानिकमूर्धन्य पूर्वज जानते थे; तभी उन्होंने एतदादिकी व्यवहार्यता बताई है।

अब शङ्खके वैज्ञानिक गुणोंपर विचार करना चाहिए। पहले हम वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्रबोसका इस विषयमें अभिमत बता चुके हैं। धार्मिक लोगोंमें प्रसिद्ध है कि-प्रातः-सायं शङ्ख बजानेसे भूत हट जाते हैं—'शङ्ख बाजे, भूत भागे'। उनमें कीटाणु भी सूक्ष्म-भूतोंमें माने जाते हैं। दोनों सन्ध्याओंमें तम और प्रकाशके मिश्रणसे रोगके कीटाणु पैदा होते हैं; और इधर-उधर फैल जाते हैं; और वे वायुमण्डलको अशुद्ध कर दिया करते हैं। तब शंखनाद कीटाणुओंका दूर करनेवाला होनेसे स्वयं ही आरोग्यकारक सिद्ध हुआ; क्योंकि कीटाणु आरोग्यके विघातक हुआ करते हैं। संक्रामक-रोगोंमें शङ्ख विशेष-उपयोगी होता है।

आजकलके वैज्ञानिक जिस नवीनताकी गवेषणा करते हैं, आजके भारतीय उसमें बहुत हैरान हो जाते हैं। स्वयं कुछ भी नहीं करते, और न प्राचीन मुनियोंके वचनोंपर विश्वास वा श्रद्धा करते हैं। यह शंख मूकों (गूंगों)को भी भाषणशक्ति देता है। यदि गूंगे प्रतिदिन तीन-चार बार शंख बजावें; और उन्हें बोलनेका अभ्यास कराया जाय, शंखमें डाला हुआ जल उन्हें पिलाया जाया करे, शंखभस्म उन्हें खिलाई जाए; और छोटे-शंखोंकी माला उन्हें पहराई जावे; तो वे मूक भी बोलनेमें कुछ सहायता प्राप्त कर लेते हैं। गण्डमाला-रोगमें शंख घिसकर लगानेसे लाभ होता है। क्षय, कृशता, विष तथा नेत्र-रोगोंपर शंखको लाभदायी कहा गया है।

शंख शूल, गुल्म, संग्रहणी, दन्तरोग, आँखका फूला और फोड़ोंका नाश करता है।

इसी कारण प्राचीन-समयमें बच्चोंकी ग्रीवामें छोटे-छोटे शंखोंको धागेमें पिरोकर पहिनाते थे। इससे बच्चे शीघ्र बोल सकते थे, दृष्टिदोष भी उन्हें नहीं होता था। महाराष्ट्रमें शंखका जल बच्चोंको पिलाते हैं, इससे कई उनके रोग दूर हो जाते हैं। प्राचीन-शास्त्रोंमें शंखको इसीलिए रत्न कहा जाता है। समुद्रसे जब चौदह रत्न निकले थे; उनमें शंख भी था।

सब आगमोंके मूल वेदमें भी शंखका लाभ आया है। जैसे कि—'शंखेन हत्वा रक्षांसि' (अथर्वसं० ४।१०।२) यहाँ शंखसे सूक्ष्म राक्षसोंका नाश कहा है। सन्ध्याके बाद जो कि शंख बजाया जाता है, इससे भूत-प्रेत-राक्षसादिका नाश होता है—इस सनातन-धर्मियोंकी प्रसिद्धिको यहाँ वेदका समर्थन प्राप्त है। प्रातः शुद्ध-वायुमें शंख बजानेसे श्वासोंकी शुद्धता, और छातीकी विशालता, और फेफड़ोंकी शुद्धि होती है, जिससे भीतर निरन्तर श्वासोंकी शुद्धि होनेसे राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं होते; ऐसा वैज्ञानिकोंका कथन है। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजीने अपने यजुर्वेद-भाष्यमें 'अवरस्पराय शङ्खध्मम्' (३०।१९) 'नीचेके शत्रुओंके अर्थ शंख बजानेवालेको उत्पन्न वा प्रकट कीजिये' यह लिखकर शंख बजानेकी वैदिकता सिद्ध की है। उनके अनुयायी इधर दृष्टि डालें—यहाँ शत्रु रोगकीटाणु भी विवक्षित हो सकते हैं।

'समुद्राद् अधिजज्ञिषे' (अथर्व० ४।१०।२) यहाँ शंखकी समुद्रसे

उत्पत्ति बतलाई है। 'शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पातु अंहसः' (अथर्व० ४।१०।३) यहाँ शंखको सब रोगोंका औषधस्वरूप, और पाप वा दुःखको दूर करनेवाला कहा है। 'दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः। स नो हिरण्यजः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः' (अ० ४।१०।४) यहां शंखको आयु देने-वाला भी माना गया है। 'तत् ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय' (अ० ४।१०।७) यहां शंखको दीर्घ-आयु, बल एवं तेज देनेवाला बताया है। जब वेद शंखकी इस प्रकारकी महिमा बताता है; तब वैदिकम्मन्य इसपर आक्षेप कैसे कर सकते हैं? बृहदारण्यक उपनिषद्में तथा अन्य श्रौतग्रन्थोंमें भी शंखके पर्याप्त प्रसङ्ग हैं। शंख बजानेके साथ 'कौशिकसूत्र'में आयुवृद्धिकेलिए बालकके शरीरपर अभिमन्त्रित शंख बांधनेका भी विधान है। नक्षत्रकल्प (१०।२) में शंखको पापहारी रक्षोघ्न, महौषध तथा दीर्घायुःप्रद बताया गया है। उसकी महत्ता इसीसे सूचित होती है कि— भगवान् विष्णु उसे नित्य धारण करते हैं।

सनातनधर्मके देवमन्दिरोंमें, मठोंमें, संस्थाओंमें, भजन-मण्डलियोंमें, साधुओंकी कुटियोंमें, कथाओंमें, पूजामें, जप-पाठोंमें माङ्गलिक-उत्सवोंमें, शंखका पवित्र नाद भारतके घर-घरमें होता है, और होता था। कुरुक्षेत्र-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया था, युधिष्ठिरने अनन्तविजय, भीमसेनने पौण्ड्र, अर्जुनने देवदत्त, नकुलने सुघोष, सहदेवने मणिपुष्पक शंख बजाया। (गीता १।१५-१६)। उससे शत्रुओंके हृदय फट गये।

इस प्रकार इसके बजानेमें प्राचीनता भी सिद्ध हुई। इसकी श्रेष्ठता होनेसे ही भगवान्‌की आरतीके समय शंखका जल भक्तोंपर डाला जाता है। यूरोपीय विज्ञानवेत्ताओंने भी शंखमें मनुष्य-हितकारिणी विद्युत् मानी है।

आयुर्वेदमें भी शंखकी अपूर्व शक्तिका वर्णन है। शंखद्रवके सेवन करनेसे गुल्म, ताप, तिल्ली, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग दूर हो जाते हैं। शंखभस्मसे पत्थरी, पीलियायन आदि रोग हट जाते हैं। इसीके योगसे वैद्य लोग बहुतसी दिव्य ओषधियां तैयार करते हैं, लाभ प्राप्त करते तथा कराते हैं। यदि शंखमें जल वा गंगाजल सिद्ध करके पिलाया जाया करे; तो कीटाणुजनित सभी रोग दूर हो जाते हैं। इसमें विशेष खर्च भी नहीं पड़ता। इसमें विविध लाभोंको देखकर प्राचीनकालमें कुमारियां भी अपने बाहुमें शंखकी चूड़ियां पहिरती थीं; 'सांख्यदर्शन'में इसका संकेत आया है—'बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशंखवत्' (४।९) इसका भाष्य यह है—'यथा कुमारी हस्तशंखानामन्योन्य-सङ्गेन झणत्कारो भवतीत्यर्थः'। यदि हड्डीकी भांति शंखकी अपवित्रता होती; तो प्राचीनकालमें इसका उपयोग कैसे होता? गीता और सांख्यदर्शनादिने उसका संकेत कैसे किया? तब 'शंख यह हड्डीमात्र है, उसे सनातनधर्मी मुखसे क्यों लगाते हैं? उसका बजाना पोपलीलामात्र है, यह कहते हुए आक्षेप्ता वैदिक-ज्ञान-शून्य तथा विज्ञानके ककहरेको भी न जाननेवाले सिद्ध हुए। यह 'आलोक' पाठकोंने अनुभूत किया होगा।

यज्ञका वैज्ञानिक-महत्त्व

सन्ध्या करके फिर हवनादिरूपमें देवयज्ञ भी किया जाता है। पारलौकिक लाभ तो इसका है ही; ऐहिक लाभ भी हैं। सनातन-हिन्दुधर्ममें यज्ञोंका बड़ा महत्त्व माना जाता है। इस धर्ममें वेदोंका जो महत्त्व है; वही महत्त्व यज्ञोंको भी प्राप्त है; क्योंकि—वेदोंका प्रधान विषय ही यज्ञ है; जैसे कि हम 'ब्राह्मणभाग भी वेद हैं' इस निबन्धमें अग्रिम पुष्पमें बताएँगे।

यह याद रखनेकी बात है कि—अग्नि मानव-समाजकी एक विशेष विभूति है। प्राणियोंमें मनुष्य ही केवल अग्नि-द्वारा काम लेते हैं; शेष तो अग्निसे दूर रहते हैं। वनमें हिंस्र जन्तुओंसे अपनी रक्षाका उपाय भी यही है कि—अपने चारों ओर अग्नि जलाकर रखी जाय। मनुष्य ही अग्नि-द्वारा विविध कृत्योंको पूर्ण करता है। अग्नि-द्वारा वह शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे, मोटरें एवं रेलगाड़ियां चलती हैं, तार जाते हैं, विमान उड़ते हैं। अग्नि-द्वारा ही बाहरी तथा भीतरी भोजनकी पाकक्रिया सम्पन्न होती है, जिससे मनुष्य जीवन-धारण करता है। बहुत कहनेसे क्या, गर्भाशयकी अग्निद्वारा ही मनुष्य आदिका शरीर पैदा होता है; और पुष्ट होता है। सुवर्ण आदि धातुओंकी उत्पत्तिमें—जिनसे संसारका व्यवहार चलता है—कारण भी खानकी अग्नि ही है। जैसे कि ऋ० सं० में कहा है—'रत्नधातमम्' (१।१।१)

महायुद्धोंमें जो महान् जनसंहार होता है, वह भी अग्निके ही बलसे। उसीके आश्रयसे बन्दूक चलती है, तोप चलाई जाती

है, सर्वसंहारक-अस्त्र चलते हैं, गैसें चलती हैं, बम डाले जाते हैं। जिस राष्ट्रके पास तेल, कोयला आदि अग्निका भोजन नहीं होता; वही अन्तमें हारता है। इसी कारण आक्रमणकर्ता राजा दूसरे राष्ट्रके पैट्रोल, तथा कोयलोंकी खानें नष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं; जिससे दूसरोंकी पराजय और अपनी विजय हो।

अग्निके उत्पादन और उससे होनेवाले जनसंहारके नवीन प्रकारोंका उद्भावन आजके भौतिक-विज्ञानने किया है;उसकी चकाचौंध में पड़कर आजका युवक-समाज अपनी प्राचीन-संस्कृति एवं ज्ञान-गौरवको भूल गया है; पर हमारे पूर्वज विज्ञानकी चरम-सीमा तक पहुँच गये थे। अग्निकी उपासना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राचीन युगमें अग्नि-द्वारा दिव्य-शक्तिके उत्पादनका अन्य ही प्रकार था। जैसे आजकल विधान-विशेषसे अग्निमें पेट्रोल और कोयलेकी आहुति देकर भौतिक-शक्ति पैदा की जाती है; वैसे ही पुराकालमें प्राचीन मुनि विधानविशेष एवं मन्त्रविशेषसे द्रव्य-विशेषकी आहुति देकर दिव्य-शक्तिको उत्पन्न करके अपने तथा दूसरोंके मनोरथोंकी वर्षा करा देते थे।

आजका वैज्ञानिक जगत् अभी तक भौतिक तत्त्वोंके सम्बन्धमें सन्दिग्ध ही है, परन्तु हमारे पूर्वज पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशको पृथक्-पृथक् और सामुदायिक तत्त्व मानते थे। वे हमारे पूर्वज इन पदार्थोंका गुण-धर्म भली-भांति जान चुके थे। उनका कहना था कि स्थूलसे सूक्ष्म, तथा व्यक्तसे अव्यक्तमें उत्तरोत्तर शतगुणा और सहस्रगुणा अधिक शक्ति हुआ करती

है। इसी आधार पर उन्होंने तत्त्वोंकी उपादेयता स्वीकृत की थी।

उन्होंने जाना था कि पृथिवी ग्राहकता-शक्ति रखनेपर भी स्थूल होनेके कारण एक बीजको एक बारमें केवल बीस गुना अधिक बढ़ा पाती हैं। जल पृथिवीकी अपेक्षा सौ-गुना सूक्ष्म होनेके कारण एक बीजको एक बारमें हज़ार-गुना अधिक बढ़ा सकता है। किन्तु ये दोनों पदार्थ परस्परकी अपेक्षा रखा करते हैं। पृथिवी जलके बिना और जल पृथिवीके बिना उत्पत्ति एवं विकास नहीं कर पाता। इसलिए जलको जीवन-तत्त्व मानकर भी ऋषियोंने इसकी उपासनापर बहुत अधिक बल नहीं दिया।

इसके पश्चात् अग्निका स्थान आता है। आजका वैज्ञानिक-जगत् अग्निको विभाजक द्रव्य मानता है। उसका कहना है कि अग्निमें पड़कर कोई भी द्रव्य नष्ट नहीं होता, अपितु कई भागोंमें विभक्त होकर, स्थूलसे सूक्ष्म होकर और भी अधिक शक्तिशाली बनकर इधर-उधर फैल जाता है। हमारे तत्त्व-द्रष्टा ऋषियोंने भी यही माना था। बल्कि इससे भी सूक्ष्म विश्लेषण किया था कि अग्निमें पड़कर कौन पदार्थ किन-किन रूपोंमें विभक्त होकर, कहां तक जाकर किस रूपमें प्राप्त होता है। इसी ज्ञानने विकसित होकर यज्ञ-यागादिको जन्म दिया था। और इसमें ऋषि-मुनियोंने बहुत-बड़ी उन्नति कर डाली थी।

प्राचीनकालमें हवनीय सम्पूर्ण पदार्थोंका संस्कार करके उनमें वह सूक्ष्म-शक्तियाँ पैदा की जाती थी; जो अभीष्ट उद्देश्यके लिए आवश्यक होती थीं। यज्ञमें काम आनेवाली ओषधियां अमुक

प्रकारके क्षेत्रमें, अमुक-नक्षत्रमें, अमुक-मन्त्रोंसे बोई जाती थीं; उन्हें अमुकप्रकारके जलसे सींचा जाता था; और उनमें अमुक खाद दिये जाते थे। अमुक-मुहूर्तमें उन्हें तोड़ा जाता था, और अमुक-मन्त्रोंसे संस्कार करके उन्हें यज्ञके योग्य बनाया जाता था। जिन गौओंका घृत उपयोगमें लेना होता था, उन्हें अमुक-प्रकारकी घास, अमुक-अन्न, अमुकप्रकारका जल दिया जाता था; उनका दूध अमुक-प्रकारके पात्रमें दुहकर, अमुक-लकड़ीकी रईसे विलो-कर घृत निकाला जाता था। उसी प्रकार समिधाएँ, चरु, आज्य आदिको संस्कारित किया जाता था कि—अमुक कामनामें कौनसी समिधा हो, कैसी सामग्री हो ? यज्ञके आचार्य आदिको तथा यजमानको अमुक-प्रकारके रहन-सहन, एवं नियमोंका पालन करना होता था। इस प्रकार संस्कार होनेसे उन सबमें सूक्ष्म-चेतना उत्पन्न होती थी, और उस चेतनामय-वातावरणको यज्ञ-द्वारा उद्दीप्त करके आकाशको अभीष्ट तत्त्वोंसे परिपूर्ण कर दिया जाता था, जिससे यज्ञकर्ताकी मनः-कामनाएँ पूर्ण हो जाती थीं। इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया था हमारे पूर्वजोंने।

आधुनिक वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार कर लिया है कि—स्थूलसे सूक्ष्म और व्यक्तसे अव्यक्त बलवान् होता है। हमारे वैज्ञानिक-मूर्धन्य मुनियोंने तत्तन्मनोरथोपयुक्त स्थूल यज्ञ-सामग्रीको सूक्ष्म करनेवाली अग्निको ही जा ढूंढा था; जिससे कार्य शीघ्र सिद्ध हो जावे। उनका कहना था कि—सूर्यकी किरणें, अग्नि और विशेष शब्द (मन्त्र) यह पृथक्-पृथक् तथा समुदायरूपसे परमाणुओं

को विभक्त करते हैं। परमाणुओंसे विजातीय द्रव्योंको पृथक् करके उन्हें अपने अनुकूल बनानेमें उक्त तीनों पदार्थोंको वे लोग काममें लाते थे, उसका कारण बनता था यज्ञ। यज्ञमें वे इन तीन तत्त्वोंका उपयोग लेते थे। अर्वाचीन जड़-विज्ञान जिन बाधाओंको हटानेमें सर्वथा असमर्थ है, प्राच्य-विज्ञान उन बाधाओंको यज्ञ-द्वारा तथा उसके अङ्गभूत जप-पाठ आदिसे हटा देता है। वेदोंमें यज्ञ-विद्या भरी हुई है: कल्पसूत्र उनके विनियोजक हैं; अब चाहियें उसके प्रयोगकर्ता।

फलतः जब तक हमें व्यवस्थामें रहना है, तब तक हमें अग्नि-चयन करना ही पड़ेगा। अग्नि ही यज्ञका देव एवम् आधार है। जैसा कि—वेदमें कहा है—'यज्ञस्य देवम्' (ऋ० सं० १।१।१) अग्निका त्याग और व्यवहारका त्याग समान वस्तु है। सम्भवतः इसी व्यवहार-त्यागके कारण संन्यासियोंका अग्नि-परित्याग शास्त्र-कारोंको इष्ट है।

वेदोंका विषय यज्ञ है—यह संकेत दिया ही जा चुका है। वेदोंका आविर्भाव यज्ञ करने-करानेकेलिए हुआ है। इसलिए वेदके अधिकारकी प्राप्त्यर्थ यज्ञोपवीत-धारण करना पड़ता है, वह यज्ञोपवीत यज्ञके वस्त्र (वर्दी) होनेसे ही उस नामको धारण करता है। वेद तथा यज्ञ दोनोंमें उपास्य, देवता हुआ करते हैं—जो हमसे उच्चयोनिवाले हैं—जिनमें हमारी विविध-कामनाओंको पूर्ण करनेकी क्षमता होती है, जिसका संकेत ऋग्वेदसंहिताका 'न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत' (१०।६४।२)

('देवताओंसे अन्य कोई सुख-प्रदाता नहीं; अतः मेरी कामनाएँ भी देवताओंमें नियन्त्रित-नियमित हैं') यह मन्त्र दे रहा है।

'यज्ञ' शब्द 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३।३।९०) इस पाणिनि-सूत्रसे यज धातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर बनता है, और यज धातुका अर्थ 'यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु' इस पाणिनिके धातुपाठके अनुसार देवताओंकी अर्चना तथा देवताओंको दान, और देवताओंका यज्ञमें संगतिकरण होता है। देवता परमात्माके ही अङ्ग होते हैं, जैसेकि-अथर्ववेदसंहितामें कहा है—'यस्य त्रय-स्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे' (१०।७।२७) अङ्गों-बिना अङ्गीकी पूजा नहीं हो सकती। अंशके बिना भला अंशीकी पूजा किस प्रकार हो? इस कारण देवपूजन यज्ञरूप-भगवान्‌का आराधन ही है, जैसा कि ब्राह्मणभागात्मक वेदमें कहा है—'तद् यद् इदमाहुः-अमुं यज, अमुं यज—इति एकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः' (शतपथ० १४।४।२।१२) अर्थात् देवता परमात्माकी ही विसृष्टि (विकास) है, वह परमात्मा सर्वदेवमय है। मनुस्मृतिमें भी आया है-'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्' (१२।११९) यहाँ श्रीकुल्लूकभट्टने ऐसी ही व्याख्या की है—'इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव, सर्वात्मत्वात् परमात्मनः'।

अब यह प्रश्न है कि—देवपूजनात्मक यज्ञ किस माध्यम द्वारा हो? इसका उत्तर वेदादि शास्त्रोंमें आया है कि अग्निके बिना देवता प्रसन्न नहीं होते (ऋ० सं० ७।११।१) अग्निमें दिया हुआ यज्ञ देवताओंको पहुँचता है, यह ऋग्वेदशाकल्यसंहिता (१।१।४,

७।११।५)में तथा अथर्ववेदसंहिता (५।१२।२)में कहा गया है। तब यज्ञका माध्यम भी अग्नि सिद्ध हुआ; क्योंकि अग्निको देवताओंका मुख माना गया है, देखिये इसमें शतपथ (३।७।४।१०)। यही बात शाङ्खायनब्राह्मण (३।६) तथा महाभारत (१७।७-१०-११)में अग्निके वचनसे सूचित की गई है। तब देवताओंकी हविका भी अग्निमें डालना समूल सिद्ध हुआ। मुखमें डाला हुआ अन्न जैसे अङ्गोंको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही देवताओंके मुख-अग्निमें डाला हुआ हव्य भी सब देवोंको प्राप्त हो जाता है।

इस बातको हम लौकिक शैलीसे यों कह सकते हैं कि जैसे इस जगत्में प्रत्येक राष्ट्रको सुव्यवस्थित करनेवाली राजशक्ति विविधरूपमें हुआ करती है, उससे प्रजापर आई वा आनेवाली आपत्तिको दूर किया जाता है, वैसे सम्पूर्ण भूमण्डलको आवश्यक वृष्टि आदि द्वारा सुव्यवस्थित करनेवाली परमात्माकी विविध शक्तियोंका नाम ही देवता हुआ करता है। उनसे प्रजापर आनेवाली आपत्तिको दूर किया जाता है। जैसे राजशक्तिको अनिवार्य कर (टैक्स) ठीक-ठीक न मिलनेपर राजशक्तिका ठीक-ठीक प्रयोग न होनेसे चोरी-डाके आदि घटनाओंसे प्रजा यदा-तदा संत्रस्त रहती है, वैसे ही देवशक्तिके समुपबृंहक यज्ञ-याग आदि न होनेसे 'यज्ञे नष्टे देवनाशः, ततः सर्वं प्रणश्यति' (६०।६) इस वायुपुराणके कथनानुसार जल-वायु आदि भूतों पर देवशक्तिके ठीक-ठीक नियन्त्रण न रहनेसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जलप्लावन (बाढें) अग्नि-उपद्रव आदि प्रजाको संत्रस्त करनेवाली भीषण ईतियां हुआ

करती हैं।

निरुक्तमें 'यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्म इति नैरुक्ताः' (३।१९।६) यह कहकर यजन-देवपूजन हवनादिका नाम 'यज्ञ' बताया है। इसमें देवोंका संतर्पण होता है, देवशक्तिकी बलवत्ता हो जाती है; जिससे वे जलशक्ति, वायुशक्ति, अग्निशक्ति आदिको नियन्त्रणमें रखते हैं तथा शुद्ध रखते हैं, जिससे इनके कारण प्रजामें संत्रास नहीं हो पाता। पर आजकल धर्मनिरपेक्षता बढ़ जानेसे उसमें वेदों तथा यज्ञोंका वह महत्त्व नहीं रहा, जिससे हमें आये दिन उक्त दैवी-विपत्तियोंका सामना करना पड़ रहा होता है; पर यज्ञ-यागादि होनेसे आधिदैविक विपत्तियाँ न आनेसे जगत् सुखका श्वास ले सकता है।

यज्ञसे देवशक्तिके आप्यायनके कारण पृथिवी भी सुरक्षित रहती है; जलशक्ति भी सुव्यवस्थित तथा शुद्ध हो जाती है, अग्नि-शक्ति भी यथायोग्य रहती है, वायुमण्डल भी शुद्ध रहता है। यथायोग्य वृष्टि हो जानेसे सूक्ष्म-वायुमण्डलमें, अग्निहोत्रमें हुत किये हुए और कई सहस्रगुणा हुए-हुए घृतकी सूक्ष्म स्निग्धता आ जानेसे उसके दोष दूर हो जाते हैं। जब इस प्रकार देवशक्ति व्यवस्थित होगई; तो पृथिवीस्थित जल—जो सूर्यसे खींचा गया हुआ गगनमण्डलके समुद्रमें अवस्थित है—देवता लोग उसका यथायोग्य वितरण करते हैं—इससे वृष्टि भी यथायोग्य होती है। तब न अना-वृष्टि होती है, न अतिवृष्टि। न सूखा पड़ता है, न बाढ़ें आती हैं; पर शास्त्रोक्त यज्ञविधिमें त्रुटि नहीं आनी चाहिये। यज्ञ मन्त्रोंसे

होते हैं। उसमें कर्म, कर्ता, साधन इन तीनोंकी विगुणता इष्ट-मनोरथकी पूर्तिमें प्रतिबन्धक बन जाती है। इष्टि-सम्बन्धी कर्म यथावत् होवे; उसमें दक्षिणा आदिकी त्रुटि भी न होवे। कर्ता पवित्र आचरण वाला हो, वेदमन्त्रोंके स्वर-वर्ण आदिका यथावत् ज्ञाता हो। शास्त्रनिषिद्ध अनधिकारियोंमें न हो। इष्टिका साधन भी त्रुटियुक्त न हो, सामग्री पूर्ण हो और पवित्र हो। इससे जहाँ शुद्ध वातावरण बनेगा; वहाँ जलकी वृष्टि तथा मनोरथोंकी वृष्टि भी यथायोग्य होगी।

तब इस दैवी-कर्म यज्ञमें लगा हुआ पुरुष 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दैवे चैवेह कर्मणि। दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्' (३।७५) मनुजीके इन शब्दोंसे सारे संसारका पालन कर रहा होता है। यह कथन केवल अर्थवाद नहीं, किन्तु युक्तियुक्त भी सिद्ध है। पहले हम कह चुके हैं कि—यज्ञाग्निमें डाले हुए घृत, ओषधि आदि पौष्टिक तथा रोगनाशक पदार्थ नष्ट नहीं होते, किन्तु अग्नि उन्हें भिन्न-भिन्न करके सूक्ष्म बना देती है। वे सूक्ष्म-पदार्थ वायुद्वारा आकाशमण्डलमें व्याप्त होकर सब प्राणियोंके नासिका तथा रोम-कूपोंद्वारा पहुँचकर उनके रोगों तथा निर्बलताओंको दूर करके उन्हें स्वस्थ, बलवान् तथा नीरोग बना देते हैं।

इसका उदाहरण देखिये—हमारे पास सौ मनुष्य बैठे हैं, हम चाहते हैं कि सभी उठ जाएं। यदि हम उन्हें उठानेके उद्देश्यसे एक-एक लालमिर्च खिला दें; तो वे उन्हें खा लेंगे; पर उठेंगे नहीं; पर यदि उनकी संख्यासे चौथाईसे भी कम मिर्चोंको बारीक पीसकर उनका

अग्निमें होम कर दें; तो उसके प्रभावसे प्रभावित होकर वे सभी तो वहां से उठ जावेंगे, अन्य पुरुषोंपर भी उनका प्रभाव पड़ेगा। यह क्यों ? यह इसलिए कि—अग्निने अपने गुणोंसे उसको सूक्ष्म कर दिया; और उसकी शक्तिको कई-गुना बढ़ा दिया। अग्निद्वारा स्थूल जल सूक्ष्म वाष्प बनकर इतना शक्तिशाली होता है कि-हजारों मनुष्योंसे भरी हुई गाड़ीको ६०-७० मील घण्टेकी तीव्र गतिसे खींचकर ले जाता है; किन्तु स्थूल जल इससे कई गुना अधिक भी गाड़ीको अपने स्थानसे हिला तक नहीं सकता। एक तोला सुवर्णमें उतना बल और शक्ति देनेकी सामर्थ्य नहीं, जितनी अग्निद्वारा भस्म बने हुए सुवर्णकी एक रत्ती मात्रामें है। बीज जब तक स्थूलावस्थामें है; तब तक कोई उपकार नहीं करता। जब उसे भूमिमें बोया जाता है; उसमें जल डाला जाता है; तब भूमिकी अग्नि उसे सूक्ष्म कर देती है, जितना सूक्ष्म होता जाता है, उतनी उसकी वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार जब अग्नि अपनेमें डाले हुए छोटेसे पदार्थको सूक्ष्म करके बड़ी शक्तिवाला बना देता है, तब उसमें अभिमन्त्रित करके डाली हुई सेरों वा मनों सामग्री कितने असंख्य प्राणियोंकी कल्याणकारक होगी। इससे अग्निमें घृत-चावल आदिका डालना उनका नष्ट करना नहीं; किन्तु एक बीज बोकर सैकड़ों बीज वाली खेती पा लेना है। तब मनुजीका यह कहना कि—'दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्' (३।७५) कि यज्ञकर्ता सम्पूर्ण जगत्को पालता है-यह ठीक ही है।

इसी वैज्ञानिक बातको अब शास्त्रीय सरणीसे जाँचना चाहिए। हमारी कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ देवताओंको हमने हव्य देना है। कैसे दें? हम हैं स्थूल, पर देवता हैं सूक्ष्म। हम उन्हें स्थूल हव्य देंगे, तो उन्हें कैसे प्राप्त होगा? उन्हें तो सूक्ष्म हव्य चाहिए; तभी वे प्रसन्न होंगे। इसका उपाय सोचा गया था 'यज्ञ'। इसका दृष्टान्त भी समझ लेना चाहिए। हमने अपने आत्माको भोजन देना है। हम भी स्थूल हैं, हमसे दिया हुआ भोजन भी स्थूल है, पर आत्मा हमारा सूक्ष्म है। उसे वह स्थूल भोजन कैसे मिल सकता है? उसे चाहिए सूक्ष्म-भोजन। उसका उपाय यह सोचा गया था कि-हम उस स्थूल-भोजनका मुखके द्वारा दाँतोंसे छोटा करके अपनी प्रदीप्त जठराग्निमें होम करें। ऐसा करनेसे वह जठराग्नि उस स्थूल-भोजनको सूक्ष्म कर देती है। वही सूक्ष्म अन्न हमारे आत्मा एवं मन आदिको प्राप्त हो जानेसे वह हमारे शरीरको स्वस्थ रखता है। यदि आत्माको वह स्थूल अन्न सूक्ष्म करके न पहुँचाया जायगा; तो हमारा शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि सभी अस्वस्थ हो जाएँगे। फिर हम न अपना कोई लाभ कर सकेंगे, न दूसरोंका उपकार। न कुछ बुद्धि द्वारा दूसरोंका, न अपना कुछ हित सोच सकेंगे। वह स्थूल अन्न सूक्ष्म हो जानेसे हमारे शरीरके अवयव-अवयवमें व्याप्त हो जाता है।

यह हुआ मनुष्यके आत्माके तर्पणका प्रकार। मनुष्यसे ऊँचे हैं पितर। वे पितर भूलोकमें न रहकर पितृलोक-चन्द्रलोकमें रहते हैं। उन्हें भी तृप्त करना हमारे कर्तव्योंमें आता है। वे हमसे भी

सूक्ष्म होते हैं। हम स्थूल उन्हें सूक्ष्म अन्न कैसे पहुँचावें ? ऋषि-मुनियोंने उसका उपाय भी सोच लिया था। वह यह था कि—वेद-शास्त्र-विद्वान् ब्राह्मण-द्वारा उन्हें कव्य दिया जाय। ब्राह्मणको शास्त्रोंमें वैश्वानर-अग्निरूप माना गया है। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (यजुः ३१।११) 'मुखादग्निरजायत' (३१।१२) ब्राह्मण और अग्नि दोनोंकी उत्पत्ति परमात्माके मुखसे बताई गई है; अतः यहाँ दोनों की सहोदरता सिद्ध है। इसलिए मीमांसादर्शनके १।४।२४ सूत्रके शाबरभाष्यमें 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' पर प्रकाश डालते हुए ब्राह्मण तथा अग्निको प्रश्नोत्तररूपसे एकजातीय बताया गया है। '(प्र०) अनाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? (उ०) गुणवादेन। (प्र०) को गुणवादः ? (उ०) अग्निसम्बन्धः। (प्र०) कथम् ? (उ०) एकजातीयत्वात् तयोः (अग्निब्राह्मणयोः)। (प्र०) किमेकजातीयकत्वं [तयोः] ?' (उ०) 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयमिति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्'। यहाँपर अग्नि और ब्राह्मणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

अन्यत्र भी ब्राह्मणका अग्नि-सम्बन्ध आया है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (गोपथब्रा० १।२।१०)। 'अथर्ववेद-संहितामें भी कहा है—'अग्निर्ब्राह्मणानाविवेश' (१६।५६।२)। कठोपनिषत्में भी यही कहा है—'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।' (१।१७) यहां श्रीशङ्कराचार्यस्वामीने स्पष्टता की है—'वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशति अतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान्'।

भविष्यपुराणमें भी कहा है—'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु'। (ब्राह्मपर्व १३।३६)। इतना अवश्य है कि—वह ब्राह्मण वेदशास्त्र आदि का विद्वान् हो; अविद्वान् ब्राह्मणको वैश्वानर-अग्नि न कहकर तृणाग्नि-की तरह शीघ्र शान्त होनेवाला एवं भस्मीभूत कहा गया है; उसके मुखमें कव्यका हवन करना योग्य नहीं माना गया है। जैसे कि श्रीमनुजीने कहा है—'ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति। तस्मै हव्यं (कव्यमपि) न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते।' (३।१६८) 'नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्। भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः। (३।९७) 'वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोप-पादयेत्।' (३।९६) 'विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु। निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्विषात्' (३।९८)। अस्तु। तब ब्राह्मणस्थ तीव्र वैश्वानर-अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके, सूक्ष्म महाग्निके साथ मिलकर पितरोंको पहुँचाता है। वे सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं।

मनुष्यकी अपनी जठराग्निद्वारा सूक्ष्मीकृत अन्नसे मनुष्यके आत्माके तृप्त होनेसे मनुष्यका वैयक्तिक लाभ होता है। मनुष्यसे उच्च योनिके पितरोंके, पहली सामान्याग्निसे उच्च ब्राह्मणकी वैश्वा-नराग्निद्वारा सूक्ष्मीकृत अन्नसे तृप्त होनेसे उनके वंशवाले पुत्र पौत्रादि सबका लाभ हुआ करता है। अब मनुष्य और पितरोंसे उच्च हैं देवता। देवता भी सूक्ष्म हुआ करते हैं। उन्हें भी हमें सूक्ष्म हवि देनी है। उन्हें भी सूक्ष्म-हवि कैसे भेजी जावे; वे तो चन्द्रलोकसे भी ऊपरके द्युलोकमें रहते हैं?। उसकेलिए भी

ऋषिमुनियोंने उपाय सोच लिया था। वह यह था कि—साक्षात् अग्निदेवता तथा ब्राह्मणस्थ वैश्वानर-अग्नि इन दोनोंके द्वारा उन्हें हव्य दिया जाय। वह भी यही पूर्व जैसा उपाय है।

जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं; तब स्थूल अग्नि उस स्थूल हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है, और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि, सूक्ष्म महाग्निके साथ मिलकर मन्त्रशक्तिसे उस सूक्ष्म-हविको लेकर अपने मित्र सूक्ष्म वायुकी सहायतासे आकाशाभिमुख जाती हुई द्युलोकमें पहुँचकर देवोंको समर्पित करती है। वे देवता उस सूक्ष्म हविसे तृप्त होकर उच्च शक्तिवाले होनेसे प्रजाके हितकेलिए और धान्य आदिकी उत्पत्तिकेलिए यथोचित वृष्टि कर देते हैं। जैसे कि मनुस्मृतिमें कहा है—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा' (३।७६)।

इसीका बीज वेदमें भी मिलता है—'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृशि आहुतं जुष्टमग्नौ' (ऋ०सं० १०।८८।१) यहाँ श्रीदुर्गाचार्य ने स्पष्टता की है-'हविः पान्तं—देवानां च पुरोडाशादि निर्दग्धस्थूल-भावमग्निना क्रियते। स्वः—आदित्यः, तं वेत्ति, यथासौ वेदितव्यः इति स्वर्विद् अग्निः। दिविस्पृशि-द्यामसौ स्पृशति हविरुपनयन् आदित्यम्' (निरुक्त ७।२५।१) इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि—जब हम देवताओंको प्रसन्न कर लेंगे; तो यह सम्पूर्ण चराचर—स्थावर-जङ्गम पालित रहेगा; क्योंकि सभीका निर्वाह वृष्टि एवम् अन्नपर है।

उन देवताओंको प्रसन्न करनेका उपाय है—यज्ञ। इस प्रकार

यज्ञसे देवपूजा सिद्ध हुई। अतः यज्ञका महत्त्व सिद्ध हुआ, जिसके लिए हमें भगवद्गीता आदेश देती है—'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ, (३।११) 'तुम देवताओंको प्रसन्न करो; देवता तुम्हें प्रसन्न करेंगे। परस्परकी प्रसन्नतासे तुम्हें कल्याण मिलेगा'। 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।' (३।१२) इससे यज्ञ करनेपर देवताओं द्वारा इष्ट-भोगोंकी वृष्टि करना भी बताया है। 'तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' (३।१२) यहांपर विना यज्ञ किये अन्न आदि पदार्थोंका उपभोग करना चोरी मानी गई है। 'तस्मात सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'। (३।१५) यहांपर यज्ञकी स्थिति ब्रह्ममें बताई गई है। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम् अहमग्निरहं हुतम्' (९।१६) यहांपर यज्ञ तथा यज्ञके साधन अग्नि, घृत, विविध ओषधियां, मन्त्रोच्चारण, आदिको भगवान्का रूप कहा है।

'यज्ञदानतपः-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (१८।५) यहांपर यज्ञ-कर्मका त्याग निषिद्ध किया है। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५) यहांपर यज्ञको पवित्र करनेवाला बताया गया है। 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (४।३१) यहांपर यज्ञशेषको अमृत तथा उसका उपयोग करनेवालेको सद्गतिकी प्राप्ति कही गई है। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम!' (४।३१) यहां यज्ञहीनकी इस लोक तथा परलोकसे भ्रष्टता कही गई है। 'एष वोस्त्विष्टकाम-

धुक्' (३।१०) वहां यज्ञको प्रजाके मनोरथोंकी तृप्ति करनेवाला कहा है। 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः (३।९) यहां तथा 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (३।१३) यहांपर याज्ञिक कर्मको बन्धनसे दूर रखनेवाला माना है। कर्मकी अकर्मता होनेपर ही मुक्ति मिलती है—यह कभी नहीं भूलना चाहिये। यह श्रेय यहां यज्ञको प्राप्त है—यह सूचित किया गया है। यह है यज्ञका महत्त्व, जिसके प्रचारका श्रेय सनातनधर्मी संसारको प्राप्त है।

यज्ञका प्रयोजन केवल वायुशुद्धि नहीं। केवल वायुशुद्धि ही फल होता; तो बहुत मंहगे घृतका उपयोग उसमें व्यर्थ था। उससे भी सस्ते उपायोंसे वायुशुद्धि हो सकती थी। तब तो यज्ञ म्युनिसिपलिटीके कूड़ेके पीपोंमें, पाखानोंमें, वा नालियोंके पास ही करना ठीक होता। वहां तो वेदमन्त्रोंके बिना भी वायु शुद्ध हो जाती। वस्तुतः यज्ञ देवपूजन वा देवतर्पणार्थ हुआ करता है—यह पहले बताया ही जा चुका है। देवताओंका भक्ष्य घृत होता है। जैसे कि स्वर्गलोकसे इस मनुष्य-लोकमें आई हुई उर्वशी-अप्सराको 'तुम कौनसा भोजन करोगी' यह पुरूरवाने पूछा था। तब उसने कहा था—'घृतं मे वीर! भक्ष्यं स्यात्' (श्रीमद्भागवतपुराण ९।१४।२२) केवल पुराणमें ही नहीं, ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी कहा है—'घृतस्य स्तोकꣳ सकृद् अह्न आश्नाम्, तादेव इदं तातृपाणा चरामि' (शतपथ ११।५।१।१०) यहां भी उर्वशी ही कहनेवाली है कि—मेरा भोजन घृत है। केवल ब्राह्मणभागात्मक वेदमें ही नहीं; मन्त्र-भागात्मक वेदमें भी उर्वशीने यही कहा है—'घृतस्य स्तोकं सकृद्

अह आश्नाम्' (ऋ०सं० १०।९५।१६) इस मन्त्रमें उर्वशी और पुरूरवा ऋषि-देवता हैं। उर्वशी देव-अप्सरा थी—इसलिए घृत उसका भक्ष्य कहा गया।

इसी कारण देवपूजनात्मक यज्ञमें भी घृत अपेक्षित होता है। तभी शतपथब्राह्मणमें कहा है—'एतद् वै देवानां प्रियं धाम यद् आज्यम् (घृतम्)' (१३।३।६।३) 'आज्येन जुहोति' (शत० १३।३।६।२) इस कारण यज्ञके अङ्ग हवनमें—जिसका उद्देश्य देवताओंका पूजन वा तर्पण है—'वैश्वदेवी' (गोपथ० २।३।१६) गायके शुद्ध-घृतका उपयोग लिया जाता है। यहां मुख्य उद्देश्य देवताओंकी प्रसन्नता है, केवल वायुशुद्धि नहीं।

इसके अतिरिक्त यज्ञमें वेदमन्त्र भी इसीलिए उच्चारित किये जाते हैं; क्योंकि-यज्ञ वेदका विषय है, यह हम 'ब्राह्मणभाग भी वेद है' इस निबन्धमें अग्रिम पुष्पमें कहेंगे; और यज्ञ होता है देवपूजार्थ; इस कारण उसमें वेदमन्त्रोंकी आवश्यकता भी पड़ती है, क्योंकि-वेदमन्त्रोंके उपास्य वा विषय भी देवता ही होते हैं। इस कारण यज्ञके समयकेलिए निरुक्तमें कहा है कि-उस समय तत्तद्-देवताका मनसे भी ध्यान करे—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्; तां मनसा ध्यायेत्' (८।२२।११) इस कारण वेदमन्त्रोंका उच्चारण यज्ञमें सफल है। उनकी ध्वनियोंका भी प्रभाव पड़ता है—जिससे हमारे मनोरथकी पूर्तिमें सहायता मिलती है। 'अहं वृष्टिं (वर्षणं, मनोरथवर्षणं च) [हविः] दाशुषे मर्त्याय [अददाम्]' (ऋ० ४।२६।२) यज्ञाग्निमें डाला हुआ घृत आदि व्यर्थ नहीं होता; किन्तु भूमिमें

बोये हुए बीजकी तरह सूक्ष्म होकर अधिक शक्ति-सम्पन्न होकर देवताओंके पास जाता है, और अधिक-फलप्रद होता है। शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है—'सर्वा ह वै देवता अध्वर्युं हविर्ग्रहीष्यन्तम् उपतिष्ठन्ते—मम नाम ग्रहीष्यति, मम नाम ग्रहीष्यतीति' (१।१।२।१८) यहां देवताओंका नाम लेना देवताओंके प्रसन्नतार्थ माना है, इससे प्रसन्न होकर देवता आहुतिदाताके मनोरथोंकी पूर्ति करते हैं। इस कारण यज्ञोंका हिन्दुधर्ममें बहुत महत्त्व माना गया है।

नारायणोपनिषत्में कहा गया है—'यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् यज्ञं परमं वदन्ति' (७६) यहांपर यज्ञसे शत्रुओंका भी मित्र बनना कहा है। श्रीमद्भागवतमें तो यहां तक कहा है कि—जिस देशमें यज्ञपुरुष भगवान्की पूजा होती है; वहांपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् प्रसन्न हुए; तो कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती—'यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञ-पूरुषः। इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥ तस्य राज्ञो महाभाग्ये भगवान् भूतभावनः। परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥ तस्मिँस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे' (४।१४।१८-१९-२०)। पद्मपुराण सृष्टि-खण्डमें भी कहा है—'यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः। आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याण-हेतवः' (३।१२४) यहां यज्ञोंको कल्याणका हेतु कहा है। इसी कारण अथर्ववेदसंहितामें यज्ञको सारे भुवनका केन्द्र कहा है—'यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः (९।१०।१४)।

यज्ञोंके न होनेसे देवताओंका प्रकोप होता है; उसीसे देशमें

अकाल, युद्ध-महायुद्ध तथा उनके कारण महर्घता-पिशाचीका अकाण्ड-ताण्डव हुआ करता है। देवताओंके कोपसे अतिवृष्टि वा अनावृष्टि, अतिवायु, अतिग्रीष्म, अतिशीत, बाढ़ें आदि हुआ करती हैं; जिनसे अकालकी विकराल ज्वालाएँ फैलती हैं। देवताओंके कोपका दूसरा चिह्न होता है—हमारी बुद्धिका नाश। महाभारतमें आया है—'देवता डण्डा उठाकर पुरुषोंकी रक्षा नहीं करते। जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि बढ़ा देते हैं। जिसे गिराना चाहते हैं; उसकी बुद्धि छीन लिया करते हैं (उद्योग-पर्व० ३४।८०-८१)। कौन नहीं जानता कि-युद्ध-महायुद्ध आदि उसी बुद्धिभ्रंशके परिणाम हैं, जिससे मंहगाई फैलती है।

इन्हीं देवताओंके प्रसादनार्थ यज्ञ तथा उसके अङ्गभूत जपपाठ, देवमूर्तिपूजा आदि कर्म आवश्यक सिद्ध होते हैं। उसमें गायत्रीके जप वा यज्ञसे ग्रहोंकी प्रतिकूलता भी दूर हो जाती है। जैसे कि महाभारतमें कहा है—'ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि। ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा' (वनपर्व २००।८५)। देवगणकी सहायतासे ही सकल-अनर्थकारी अधर्म हटता है, और विश्वकल्याणकारी धर्मकी स्थापना होती है—'यज्ञ-शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' (गीता ३।१३) अधर्मके कारण ही जनपदोंका ध्वंस होता है; जैसा कि सुश्रुतसंहिताके सूत्रस्थान (६।२०) और चरकसंहिता (विमानस्थान ३।२१-२२)में भी बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। उसीको दूर करनेकेलिए 'देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध–सिद्धाचार्यान् अर्चयेत; अग्निमुपचरेत्'

(चरक-सूत्रस्थान ५।१८) 'जप-होमोपहार-इज्याऽञ्जलि-नमस्कार-तपोनियम-दयादान, दीक्षाभ्युपगम-देवता-ब्राह्मण-गुरुपरैर्भवितव्यम्' (सुश्रुत० सूत्र० ६।२१) देवपूजनादि कहा है।

यज्ञोंमें वेदज्ञ-ब्राह्मण सम्मिलित होते हैं, तो यज्ञमें जहाँ देवपूजन होता है, उसके साथ ही साथ भूदेवोंका सत्कार भी हो जाता है। जो विविध-वृत्तियोंको छोड़कर, भोगविलासोंको दूर करके, वेदोंकी रक्षार्थ कठोर-ब्रह्मचर्य कर चुके हैं; उन विद्वान्-ब्राह्मणोंका दर्शन भी हो जाता है। उनकी पूजासे भी देवता प्रसन्न होते हैं। जैसा कि कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यकमें भी कहा है—'यावतीर्वै देवताः, ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे-दिवे नमस्कुर्याद्, नाश्लीलं कीर्तयेद्, एता एव देवताः प्रीणाति' (२।१५)।

इसी यज्ञसे निम्न-वर्गको भी अच्छा धन प्राप्त हो जाता है। निम्न-वर्गको वृत्ति प्राप्त होती रहे, तो अच्छा है; नहीं तो वे चोरी-लूट आदि शुरू कर देते हैं। सर्वप्रथम यज्ञोंमें भूमिके समीकरणार्थ श्रमिक-मजदूरोंकी, फिर यज्ञमण्डपके निर्माणार्थ ईंटें बनानेवालों, उसे ढोनेवालों, मिट्टी खोदनेवालों, वेदी-कुण्ड आदिके निर्माणमें बढई, लोहार आदिकी, मण्डपको चटाईसे आच्छादित करनेकेलिए चटाई बुननेवालोंकी, यज्ञ-सामग्रीनिर्माणार्थ जुलाहे, कसेरे, सुनार, दर्जी, बनिये आदिकी, यज्ञमें आनेवाले अतिथि-अभ्यागतोंकी व्यवस्थाकेलिए नाई, पनभरे, रसोई बनानेवाले ब्राह्मण, संरक्षक क्षत्रिय आदि, भोजनादि सामान देनेवाले बनिया आदि, यज्ञ

करनेवाले ऋत्विक् विद्वान्-ब्राह्मण इन सबकी यज्ञमें आवश्यकता पड़ती है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि मुख्य यज्ञनेता तथा उनसे नीचे कर्म करनेवाले बहुतोंकी आवश्यकता होती है। सबको यथायोग्य अर्थका वितरण किया जाता है; आर्थिक विषमता हट जाती है। दूसरा यहाँ देश-विदेशोंके विद्वानों-आदिका परिचय प्राप्त होनेसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह कथन चरितार्थ हो जाता है।

फलतः यज्ञ चाहे धार्मिक-रूपसे हों, चाहे लौकिक-रूपसे, चाहे वैज्ञानिकरूपसे, सभी दृष्टिकोणसे बहुत लाभप्रद हैं। यज्ञके प्रयोजन भी बहुतसे होते हैं, उनमें स्वर्गकी प्राप्ति एक पारलौकिक-प्रयोजन है, जैसे कि वेदमें कहा है—'यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्' (अथर्व० १८।४।२)। इसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण (१।२।१०), शतपथ-ब्राह्मण (१२।४।३।७), न्यायदर्शन (१।१।३), तथा महाभाष्य (६।१।८४)में भी कहा है। यज्ञमें प्रत्येक देवताके नामसे आहुति दी जाती है; यह देवताओंकी पूजा होती है। तब उनकी प्रसन्नतासे स्वर्गकी प्राप्ति स्वाभाविक है। तभी भगवद्गीतामें कहा है—'देवान् देवयजो यान्ति' (७।२३) 'देवयज्ञ करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं'। देवताओंका निवास होता है स्वर्गमें। जैसे कि वेदमें कहा है—'दिवि देवाः' (अथर्व० ११।७।२३, १८।४।३)।

यज्ञका प्रयोजन केवल पारलौकिक स्वर्ग-प्राप्ति ही नहीं, अपितु ऐहिक विविध-कामनाओंकी पूर्ति भी यज्ञका प्रयोजन हुआ करता है। उसमें भी कारण देवपूजा ही हुआ करती है; क्योंकि देवताओं में विविध-कामनाओंको पूर्ण करनेकी क्षमता है, जैसे कि-ऋग्वेद-

संहिता (१०।६४।२)में कहा है। तभी तो वेद कहता है—'यत्कामास्ते जुहुमः, तन्नो अस्तु' (ऋ० सं० १०।१२१।१०) इस मन्त्रमें भी यज्ञ-हवनसे विविध-कामनाओंकी पूर्ति सूचित की गई है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इस उक्त मन्त्रके अन्तिम-अंशसे यज्ञसे विविध-ऐश्वर्योंकी प्राप्ति बताई गई है। इस मन्त्रमें प्रजापति-देवताका वर्णन है, तभी हवनमें 'प्रजापतये स्वाहा' यह सबसे पूर्व हविर्दानपूर्वक बोला जाता है।

यज्ञोंके विविध-कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होनेसे ही महाभाष्य (१।१।६३)में 'चक्षुष्कामं याजयाञ्चकार' इस उदाहरणमें यज्ञद्वारा नेत्रशक्तिदान-रूप फल भी सूचित किया गया है। न्यायदर्शन (२।१।६८ सूत्रके भाष्य)में 'ग्रामकामो यजेत' यह वैदिक-प्रमाण देकर यज्ञविशेषका फल ग्रामाधिपति हो जाना भी कहा है। इस प्रकार उसी दर्शनके भाष्यमें 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' (२।१।५७) इस वैदिक प्रमाणसे यज्ञविशेषका फल पुत्रप्राप्ति भी सूचित किया गया है। इसप्रकार वृष्टिकी कामनासे कारीरी इष्टि (यज्ञ)का करना भी सुप्रसिद्ध है। इसी तरह शतपथ (१३।२।८।३)में अश्वमेधयज्ञका फल तेज, इन्द्रिय, पशु, ब्रह्महत्या दूर होना, तथा लक्ष्मीका प्राप्त होना कहा गया है। राजसूययज्ञका फल अकालमृत्यु-निवारण तथा राज्यकी दृढता कहा गया है। यदि यह कामनाएं स्वार्थपूर्तिकेलिए न की जाएं; तब वह यज्ञ समष्टिगत हो जानेसे अतिशयित महत्त्वशाली हो जाता है।

उक्त फलोंकी प्राप्तिमें कोई अतिशयोक्ति वा अर्थवाद भी नहीं है।

एक तो इसमें अलौकिक-सामर्थ्यशाली परमात्माकी अङ्गभूत देव-शक्तिकी प्रसन्नताका भी फल होता है; और फिर वैदिक-मन्त्रशक्ति तो सद्यः-फलदायिनी प्रसिद्ध भी है। दूसरा विद्वान्-भूदेवोंकी आशीष तथा उपस्थिति भी फल देनेमें सहायक होती है। सभी वर्ण वा आश्रमवाले तथा अन्य सभी जातियां भी उन महायज्ञोंमें उपस्थित होती है; उनका सत्कार होजानेसे भी यज्ञकर्ताकेलिए सद्भावनाकी शुभाशंसा हृदयसे निकलती है। अन्य बात यह है कि विशेष-विशेष यज्ञोंमें विशेष-विशेष सामग्रियां भी रखी जाती हैं; उनको मन्त्रपाठ-पूर्वक अग्निमें डालनेसे उनकी सूक्ष्मता होजानेके कारण उनके परमाणुओंके हमारे शरीरके भीतर प्राप्त होनेसे बड़ा भारी लाभ होता है। क्योंकि—यह बात अनुभवसिद्ध है कि—स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म हुई वस्तु अधिक-शक्तिशाली होती है, और सूक्ष्म-वस्तु स्थूलमें प्रवेश भी शीघ्र कर जाती है। इसपर कुछ तर्क देखिये—

परमात्मा सभीसे सूक्ष्म है, तभी तो उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। परमाणु कितने सूक्ष्म होते हैं; उनकी शक्तिका हाल जानना हो; तो परमाणुबमसे विध्वस्त हुए जापानके दो नगरोंसे पूछिये। सोनेका एक छोटा-टुकड़ा मनुष्य खा ले; उसपर कोई प्रभाव नहीं होता; उसी टुकड़ेको सूक्ष्म करके वर्क बनाकर खावें; तो हमें पुष्टि प्राप्त होगी। यदि उसे और भी सूक्ष्म बनाकर अर्थात् उसकी भस्म खावें; तो हमारा शरीर बहुत बलवान् हो जायगा। आतसी-शीशेसे सूर्यकी किरण जब हम स्थूल लेते हैं;

तो उसका प्रभाव नहीं होता। जब सूक्ष्म बिन्दु करते हैं; तो उससे हमारा हाथ जल जाता है। डाक्टर उससे पानी गर्म कर लेता है।

इस प्रकार ओषधि जितनी सूक्ष्म होती जाती है; उसकी उतनी शक्ति बढ़ती जाती है। क्षयके कीटाणु बहुत सूक्ष्म होते हैं। उनपर स्थूल ओषधि काम नहीं देती; उसे जब इन्जैक्शनसे सूक्ष्म करके शरीरमें पहुँचाते हैं; तो उसका प्रभाव हमारे शरीरमें तत्क्षण पड़ता है। सूक्ष्म करनेके भी कई प्रकार होते हैं। स्थूल लाल-मिर्चको सभी सुगमतासे खा लेते हैं; वा हाथमें उठा लेते हैं। जब हम उसे घोटें; तो वह सूक्ष्मरूपसे वायुमें फैलकर बहुत प्रभाव डालती है। कई दवाइयोंको आटेमें डालकर उसका लेप तबलेपर किया जाता है; तबलेको बजानेपर वही ओषधि वायुमें फैलकर रोगीके शरीरमें प्रविष्ट होकर उसके रोगको दूर कर देती है। पर अग्निसे अधिक पदार्थोंको सूक्ष्म और कोई ढङ्ग नहीं कर सकता। उसी लाल-मिर्चको अग्निमें हवन कर देनेसे उसका प्रभाव दूर-दूर तक बैठे मनुष्योंपर भी पड़ेगा। इसी प्रकार हमने किसी रोगीके रोग-निवारणार्थ यज्ञ करना है; तब उसमें विशेष-ओषधियां भी जो उस रोगके उपयुक्त हैं, डाली जाती हैं। अग्निमें मन्त्रद्वारा हुत होनेसे वे सूक्ष्म होकर रोगीके श्वासद्वारा वा परमाणुरूप होनेसे रोमकूपोंके द्वारा अन्दर जाकर रक्तमें प्रवेश करके रक्तको शुद्ध कर देती हैं; रोग-कृमियोंके अन्दर प्रवेश करके उन्हें अपने वैज्ञानिक गुणके कारण नष्ट कर देती हैं।

विज्ञानसे यह सिद्ध हो चुका है कि—किसी पदार्थका नाश

नहीं होता, केवल रूप बदल जाता है। अतः अग्निमें हवि डालने से वही वस्तु परमाणुरूपमें सूक्ष्म हो जाती है, नष्ट नहीं होती। गूगल, घृत, कपूर, खांड आदि अग्निमें जलनेपर सूक्ष्म होकर फेफड़ोंमें प्रवेश करके उनको शुद्ध तथा पुष्ट कर डालते हैं। इससे यज्ञसे रोग-निवारणमें वैज्ञानिकता भी सिद्ध हुई। इनमें अग्नि, वायु, और सूर्य तीनों देवता मिलकर सहायक हुए—यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए; इसलिए वेदमन्त्रमें—'अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता, (यजुः १४।२०) यह तीन देवता इकट्ठे तथा सबसे पूर्व आये हैं; इनका पदार्थोंको सूक्ष्म करके अपने पास रखना प्रत्यक्ष है। इसी-लिए वेदोंका भी अग्नि, वायु, रविसे दोहना हमारे धर्मशास्त्रोंमें आया है; क्योंकि—वेदोंको भी यही तीनों देवता सूक्ष्म करके अपनेमें रखते हैं। उनका उनसे दोहन ब्रह्मा-जैसा देवता कर सकता है। इस बातका ज्ञान न होनेसे आर्यसमाजने अग्नि, वायु, सूर्य मनुष्य-ऋषि बना डाले हैं। वस्तुतः यही देवता यज्ञके तथा यज्ञ-विषय वाले वेदोंके प्राण हैं। निरुक्तकार श्री यास्कमुनिने भी इन्हीं तीन देवताओंको मुख्य मानकर शेषोंको इन्हींमें अन्तर्भूत माना है।

फलतः यज्ञके प्रसारमें यही तीनों देवता मूलकारण होते हैं। पृथिवीलोकका देवता अग्नि है; इसलिए पृथिवीस्थित हम लोगोंको भी इसी कारण अग्निका सहारा लेना पड़ता है। जबसे अग्नि प्रकट हुई, तबसे यज्ञ भी जारी हुए। वही अग्नि उस यज्ञहुत पदार्थको सूक्ष्म करके उसे अपने मित्र वायुको देती है। सूर्य न हो; तो वायु

कैसे चले; अग्नि कैसे जले, इनका प्रसार कैसे हो? पर हमारे अधिकारमें अग्नि-देवता है; अतः हम उसे मन्त्रशक्तिसे अभिमन्त्रित करके उसमें अपनी लाभप्रद-सामग्री मन्त्रसे डालकर फिर उसे प्रभावितरूपसे वल वाली करवाकर उसे स्वयं प्राप्त करते हैं। मन्त्रशक्तिका महत्त्व हम पहले बता ही चुके हैं। मन्त्रोंके अक्षरोंके उच्चारण शरीरके कुछ विशेष-भागोंपर प्रभाव डालते हैं। वेदके अक्षरोंमें जो आनुपूर्वी होती है, वह विशेष क्रम रखे हुए होती है; अतः उनका प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता ही है। न केवल हम पर, प्रत्युत देवताओंपर भी पड़ता है।

सृष्टि-सञ्चालन करनेवाली ईश्वरकी शक्तियोंका नाम देवता होता है। इन शक्तियोंका समस्त संसारकी विभिन्न समस्याओंसे तथा मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनकी सुखसमृद्धि, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, रोग-शोक आदिसे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन देव-शक्तियोंकी अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य बड़ी सरलतासे अपने अभ्युदयका मार्ग खोल सकता है। यदि ये देव प्रतिकूल हो जावें; तो मनुष्यका कठोर-परिश्रम भी निष्फल हो जाता है। देवशक्तियोंको अनुकूल बनानेकेलिए जितने भी साधन गिनाये जाते हैं; उनमें यज्ञ सर्व-श्रेष्ठ है; यज्ञ देवताओंकी पूजा होती है-यह हम पूर्व बता चुके हैं। यज्ञसे देवताओंकी प्रसन्नता एवं अनुकूलता होती है—इससे वे अभीष्ट-परिणाम प्रदान करते हैं।

यज्ञसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति भी कही जाती है। यज्ञमें वेद-मन्त्रोंका उच्चारण, विशेष प्रकारकी समिधाएँ, विशिष्ट हवि, चरु,

पुरोडाश आदि, तथा भावनाओंका प्रवाह आदि अनेकों सूक्ष्म प्रक्रियाओंसे एक अदृश्य सुन्दर वातावरण बनता है; उसकी शक्तिसे यज्ञकर्ताओंको ही केवल नहीं; अपितु समस्त-संसारको भी अनेक प्रकारके भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते हैं। अन्तःकरणकी पवित्रतासे मल, विक्षेप, आवरण आदि दोषों एवं कुसंस्कारोंका निवारण होनेसे आत्म-बलकी वृद्धि होती है। इससे यज्ञसे अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति भी सोपपत्तिक ही है। पड़ोसके शत्रुओंपर भी यज्ञके ऐसे परमाणु प्राप्त हो जाते हैं, जिससे उनका मनोमालिन्य-रूप रोग हट जाता है; इस प्रकार शत्रुका मित्रत्व भी यज्ञसे ही सिद्ध हुआ।

यज्ञसे सुसन्तानकी भी प्राप्ति कही जाती है। यज्ञका आश्चर्य-जनक प्रभाव जहाँ मनुष्यकी आत्मा, बुद्धि एवं नीरोगतापर पड़ता है; वहाँ उससे प्रजनन-प्रणालीकी भी शुद्धि हो जाती है। रज-वीर्यमें जो दोष होते हैं; उनका निवारण होता है। ओषधियोंका सेवन केवल शरीरके ऊपरी भागों तक ही प्रभाव दिखाता है; पर यज्ञ-द्वारा सूक्ष्म की हुई ओषधियाँ यजमान तथा उसकी स्त्रीके श्वासों तथा रोमकूपों द्वारा शरीरके सूक्ष्मतम भागों तक पहुँच जाती हैं; और उन्हें शुद्ध कर डालती हैं। गर्भाशय एवं वीर्यकोषोंकी शुद्धिमें यज्ञ विशेष-रूपसे सहायक होता है। यज्ञ-सामग्रियोंमें अग्नि-तत्त्व-प्रधान तथा सोमतत्त्व-प्रधान दोनों प्रकारकी ओषधियाँ यथायोग्य डालते थे। तब दम्पतिमें जिसमें जिस शक्तिकी न्यूनता होती थी; वह यज्ञरूप-इन्जैक्शनसे उन्हें प्राप्त होती थी; स्थालीपाक एवं

खीर आदि जो यज्ञमें हुत होते थे, उनका शेष भाग दम्पतिको खिलाया जाता था—इससे बाहरी-भीतरी भागोंमें लाभ प्राप्त होकर सुसन्ततिकी प्राप्ति हो जाती थी, तब पुत्रेष्टियज्ञसे सन्तति-प्राप्ति भी सोपपत्तिक सिद्ध हुई। तभी वेदमें कहा है—'अग्निः...पुत्रं ददाति दाशुषे' (ऋ० ५।२५।५)

यज्ञसे वृष्टिका होना भी कहा जाता है। उस यज्ञकी सामग्रीमें ऐसे तत्त्वोंका संमिश्रण करके अग्निमें हुत करते थे, जो सूक्ष्मरूपमें शक्ति-सम्पन्न होकर अन्तरिक्षमें जाकर हाइड्रोजन और आक्सीजन नामक दो गैसोंके मिलानेका काम करते थे—इससे जल बनकर पृथिवीपर बरसता था; मानसून वायुओंको यज्ञका पोषण प्राप्त हो जानेसे वृष्टि होना अस्वाभाविक नहीं—इस प्रकार कारीरी-इष्टिसे वर्षाका होना भी सोपपत्तिक ही सिद्ध हुआ। वेदमें भी इसीलिए कहा है—'स (अग्निः) नो वृष्टिं दिवस्परि'। (ऋ० २।६।५)।

यज्ञमें अग्नितत्त्व-प्रधान हविको अग्निमें डालनेसे सूक्ष्म हुई विद्युत्-शक्ति हमारे शरीरमें प्रविष्ट होकर हमारी प्राण-शक्तिकी अभिवृद्धि करके हमारी जीवन-शक्तिको बढ़ाती थी—इससे यज्ञसे आयु की प्राप्ति भी सोपपत्तिक है। वेदमें अग्निदेवतावाले जितने मन्त्र हैं, आर्यसमाजी इसमें अग्निदेवताकी पूजा सिद्ध हो जानेसे मूर्ति-पूजाकी सिद्धि मानकर डरके मारे वहां 'परमात्मा' अर्थ कर दिया करते हैं; वस्तुतः वेदका विषय यज्ञ होनेसे—जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं—वहां अग्निसे याज्ञिक-अग्नि इष्ट होती है।

उसी याज्ञिक अग्निसे वे-वे वेदोक्त लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं। तभी तो वेदमें अग्निकेलिए आया है—'त्वमग्ने! बृहद् वयो दधासि देव! दाशुषे' (ऋ० ८।१०२।१) श्रीसायणाचार्यने इसका अर्थ लिखा है—'हे द्योतमान अग्ने! क्रान्तकर्मा, गृहपालकः त्वं हविषां दात्रे यजमानाय महदन्नं दधासि। 'वयः' का अर्थ 'अन्न' भी होता है, आयु भी; क्योंकि अन्नसे ही आयुः प्राप्त होती है—'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'।

यज्ञसे यश तथा श्रद्धा और मेधाकी प्राप्ति भी मानी जाती है। जैसे कि—'जातवेदो! यशो अस्मासु धेहि' (ऋ० ५।४।१०) यज्ञ करनेसे यश हो जाता है, यह तो प्रत्यक्ष है ही। 'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु' (अथर्व० १६।६४।१) 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने! मेधाविनं कुरु स्वाहा' (यजु० ३२।१४) यहां अग्निसे श्रद्धा तथा मेधाकी प्राप्ति आई है। यह भी प्रत्यक्ष है। यज्ञ करनेसे यजमानके हृदय-पटलपर श्रद्धाका भाव अधिक बढ़ जाता है। शारीरिक तथा मानसिक एवं आत्मिक स्वच्छतासे मेधाकी प्राप्ति भी स्पष्ट है।

मनुष्य सुन्दर और सुस्वादु भोजन करके अपान-वायु, पसीना, अशुद्धश्वास, मल-मूत्र आदि निकालकर वायुमंडलको दूषित करता रहता है; और फिर अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्यर्थ कई प्रकारके इञ्जन-कारखाने आदियोंकी चिमनियोंके तथा सिगरेट-हुक्कोंके धुएँ निकाल करके भी ज़ल-वायुमें विकृति उत्पन्न करता रहता है, उससे

अनेक रोगोंकी वृद्धि होती रहती है। इस दूषित-वायुमण्डलकी शुद्ध्यर्थ भी होम-यज्ञकी व्यवस्था की गई है। अग्निमें भेदक-शक्ति होनेके कारण उसमें डाला हुआ घृत, मधुर पदार्थ तथा शेष हव्य पृथक्-पृथक् रूपमें, सूक्ष्मरूपमें होकर वायुमण्डलमें मिल जाते हैं। वह वायु हलकी होकर ऊपर उठती है, उससे उसकी गतिमें तीव्रता आ जाती है। इससे पहली अशुद्ध वायु बाहर निकल जाती है; उसके स्थानपर बाहरकी शुद्ध-वायु प्रवेश करती है। मनुष्यने अपने शारीरिक गैसोंसे जल-वायुको दूषित किया; अतः उस पापका प्रायश्चित्त भी तो उसे करना चाहिए। वही यज्ञ है। यज्ञ करनेसे अपने कर्त्तव्यका पालन करते हुए प्राणिमात्रका जो अप्रत्याशित उपकार होता है, उससे उसे जन्मान्तरमें स्वर्ग मिले—यह सोपपत्तिक ही है। पर उसमें देवताओं तथा वेदमन्त्रोंका आश्रय लेना अनिवार्य है। इसमें आस्तिकता भी है, वास्तविकता भी है क्योंकि—देवताओंके अनुग्रहके बिना उक्त लाभ नहीं होते। देवताओंके अनुग्राहक वेदमन्त्र हुआ करते हैं। यज्ञका उत्तरदायित्व द्विजोंपर डाला गया है। शूद्रादि कृच्छ्रकर्ममें लगे होने तथा शारीरिक-बाह्याभ्यन्तरिक अपवित्रता होनेसे उन्हें छूट है।

यज्ञोंमें अग्निशक्ति, शब्द-शक्ति और कालविशेषकी शक्ति—इन तीन शक्तियोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण होता है। वर्तमान वैज्ञानिक-संसार शब्दशक्ति और कालपरिवर्तनकी गतिके ज्ञानसे सर्वथा शून्य है। मन्त्रों, विशेष करके वेद-मन्त्रोंमें शब्दशक्तिका रहस्य अन्तर्निहित होता है। ग्रह-गतियोंके परिवर्तनानुसार नाना-नक्षत्रोंसे

यज्ञोंका जो सम्बन्ध होता है, वर्तमान वैज्ञानिक उस मुहूर्त-विशेषके विज्ञानकी ओर एक-क्षणकेलिए भी विचार करनेका कष्ट नहीं उठाते।

हविके धूमके प्रभावका भी विश्लेषण करना चाहिये। ऐटम-बमके धुएंके विषैले प्रभावने यह सिद्ध कर दिया है कि धूम कितनी दूर तक फैलता है। तब यज्ञकी अभिमन्त्रित-अग्निका धूम भी अपनी सुगन्धसे व्यापक वातावरणपर अपने व्यापक प्रभावको क्यों न करेगा ?

वर्तमान विश्वका समस्त वायुमण्डल लाखों कारखानोंकी चिमनियोंके विषाक्त धूमसे परिपूर्ण हो रहा है। अपनी भौतिक आवश्यकताओंकी लोलुपतामें आजका कोई भी व्यक्ति इस बातका परीक्षण नहीं करता कि-इस धूमका हमारी वर्षा, हमारे अन्न, हमारे जल और हमारे मस्तिष्कपर कैसा प्रभाव हो रहा है ? इन धूमोंके प्रभावके नाशक यज्ञ-धूम यदि नहीं फैलाये जावेंगे; तो हमारी मस्तिष्क-शक्ति विकसित होनेके स्थान विष-व्याप्त होती जावेगी और विवादों, युद्धों एवं महायुद्धोंके करनेवाली निष्पन्न होती जावेगी। यज्ञ-धूमसे ही सम्पन्न हुई वर्षा पृथ्वीके प्रत्येक पदार्थमें एक विशेष गुणकी आधायक सिद्ध हो सकती है।

'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इन विकल्पोंमें तारतम्य, उन धूमादिकी गतिके अन्तरका ज्ञान यन्त्रोंकी सहायतासे हो सकता है। यज्ञ-विषयवाले वेदमें वेदाङ्ग ज्यौतिषकी उपयोगिता यही है कि—जिससे ऋतु-परीक्षणके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी

कालगतियोंका परीक्षण हो कि-किस कालमें कौनसा यज्ञ और कौनसी सामग्री विशेष-फलदायक हो सकती है ? इस प्रकार ग्रहगतिके अनुसार होनेवाले अनेकों परिवर्तन भी परीक्षणीय होते हैं।

यज्ञ-द्वारा 'अपूर्व'की उत्पत्ति शास्त्रकार बताते हैं, परन्तु श्रद्धा एवं विश्वाससे शून्य वर्तमान-युग उस सिद्धान्तका ज्ञान नहीं कर सकता। उन लोगोंको कालकी त्रिकालाबाध्य-परिस्थिति केवल भौतिक दृष्टिसे समझमें नहीं आ सकती। मन्त्रोंके अशुद्ध उच्चारणमें तथा कुण्ड-मण्डपादिके निर्माणमें प्रमाद होनेसे भी फलकी विपरीतता वा निष्फलता हो सकती है। एक-एक अक्षरके उच्चारणसे पृथक्-पृथक् भौतिक परिवर्तन वा परिणाम होते हैं। वैज्ञानिक जिस प्रकार संगीत-लहरीके भिन्न-भिन्न प्रभावोंका परिणाम पाते हैं; वैसे ही याज्ञिक-मन्त्रोंके उदात्तादि-स्वरोंकी विशेषताएँ भी होती हैं; जिनका विश्लेषण हमारे ऋषि-मुनियोंने किया था। उन्हींने यह निरीक्षण करके ही तो कहा था कि—स्वर आदिकी थोड़ी त्रुटि रह जानेसे वृत्रासुरवधकाण्ड हो जाया करते हैं; अतः यज्ञके मन्त्रोच्चारणमें विशेष शुद्धता अपेक्षित होती है।

नानाप्रकारके पदार्थोंके द्वारा जो आहुति दी जाती है; उन पदार्थोंके सम्मिश्रणसे विशेषताएँ भी अवश्य होती हैं। इस प्रकार विविध पशुओंकी आहुति द्वारा भी विविध परिणाम प्रतीत हो सकते हैं; परन्तु कलियुगमें कुछ हानि समझकर ऐसे विधानोंको रोका गया है।

इस प्रकार यदि हम यज्ञसे वर्षा-विज्ञान पूरी तरह समझ लें; तो हमारी अन्नादिकी समस्याएँ सहजमें ही सुलझ सकती हैं। यज्ञोंकी प्रगतिकेलिए यज्ञसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त कालज्ञान, मन्त्रज्ञान, स्वरज्ञान, हवनसामग्री-विज्ञान, तत्तद्‌यज्ञोपयुक्तदेवमूर्ति-उपासना आदि ज्ञानों और साधनोंको भी सुसज्जित रखना चाहिये।

फलतः यज्ञकी जो महिमा सनातनधर्मी शास्त्रोंमें आई है, वह निरुपपत्तिक नहीं है। यज्ञसे वेदका सम्बन्ध है, अतः यज्ञमें वेदमन्त्र भी पढ़े जाते हैं। इसलिए वेदमें अग्निदेवतावाले मन्त्र भी बहुत हैं। वेदका विषय यज्ञ है—इस विषयमें हम 'ब्राह्मण-भाग भी वेद है' इस निबन्धमें बहुतसे प्रमाण अग्रिम पुष्पमें उपस्थित करेंगे। पर कई आर्यसमाजी इसका विरोध करते हैं; इसलिए कि अग्निकी पूजा मूर्तिपूजा सिद्ध हो जाती है; और यज्ञ वेदका विषय होनेसे सनातनधर्मप्रोक्त याज्ञिक-कर्मकाण्ड फिर वैदिक सिद्ध हो जाता है, पर वैदिकम्मन्योंको यह विरोध शोभित नहीं होता, क्योंकि—वेद स्वयं अपना विषय यज्ञ बताता है, उसीमें उसका अभिनिवेश है। इसका प्रमाण यह है कि वेदोंमें यज्ञ-वर्णनपरक जितने मन्त्र हैं; उतने अन्य किसी विषयपर नहीं। निघण्टुमें यज्ञके यज्ञ १, वेन २, अध्वर ३, मेध ४, विदथ ५, नार्य ६, सवन ७, होत्रा ८, इष्टि ९, देवताता १०, मख ११, विष्णु १२, इन्दु १३, प्रजापति १४, घर्म १५ यह पन्द्रह नाम आये हैं। इनमें केवल 'यज्ञ' शब्द और यज-धातु भी ले ली जाय; तो उससे भी वेदका अधिकांश भरा पड़ा है। आर्यसमाजके स्वा० विश्वेश्वरानन्द-

जैसे प्रणीत वेदोंकी पदानुक्रमणिकाओंको देख लीजिये; उसमें 'यज' धातुका प्रयोग ऋग्वेद-पदानुक्रमणिकाके ३२२ पृष्ठके तीसरे कालमसे शुरू होकर ३२३ पृष्ठके तीनों कालमोंमें, ३२४ पृष्ठके तीनों कालमोंमें और ३२५ पृष्ठके २ कालमों तक आया है। यजुर्वेदकी पदानुक्रमणिकाके ७८ पृष्ठके पहले कालमके अन्तिम भागसे लेकर दूसरे, तथा तीसरे कालममें, तथा ७६ पृष्ठके पहले कालमके आधे भाग तक आया है। सामवेदकी पदानुक्रमणिकाके ७४ पृष्ठके दूसरे कालमसे तीसरे कालम तक आया है। अथर्ववेद-पदानुक्रमणिकाके १८७ पृष्ठके पहले कालम, दूसरे तथा तीसरे कालम, और १८८ पृष्ठके पहले, तथा दूसरे कालमके आरम्भिक भाग तक आया है।

दूसरा अध्वर शब्द ऋ०पदानु०के २० पृष्ठके २॥ कालमोंमें, इस प्रकार 'वेन' आदि यज्ञवाचक शब्द बहुत बार आये हैं। 'अग्नि' देवतावाले तो सभी मन्त्र इस यज्ञमें ही शामिल हैं। सोमका वेदमें जहां-जहां भी वर्णन आया है, वह भी यज्ञ-विषयक ही है; क्योंकि सोमका यज्ञमें प्रयोग होता था। इसी पवमान-सोमकेलिए ऋग्वेदसंहिताका नवम-मण्डल तथा सामवेदका पवमानपर्व स्वतन्त्ररूपसे रखा गया है। अतः वेदका विषय यज्ञ और यज्ञका विषय वेद सिद्ध हो ही गया। यदि यह कहा जाय कि—यज्ञ वैदिक-सनातनधर्मका प्राण है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। ऋषिकालमें यज्ञ सदा हुआ करते थे, उसी समय यह भारतवर्ष खूब उन्नत भी था। यज्ञसे ही हमारी हिन्दुजाति जीवित है—

और जीवित रहेगी—इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं। यज्ञमें प्रयुक्त किये जाते हुए 'सोम'के पर्यायवाचक तथा निघण्टुके अनुसार यज्ञके पर्यायवाचक 'इन्दु' शब्दसे ही हमारी याज्ञिक जातिका नाम 'हिन्दु'* हुआ है। अतः यज्ञका हिन्दुजातिके लिए सब दृष्टियोंसे महत्त्व है। इसी वैदिक-यज्ञका दूसरा तथा सस्ता संस्करण देवमूर्ति-पूजा है; उससे भी यज्ञवाले परिणाम प्राप्त हो जाते हैं। उसके लिए बहुत व्यय भी नहीं होता, और बहुत विद्वत्ता भी अपेक्षित नहीं होती; अतः वह भी वैदिकधर्मका ही एक अङ्ग है।

(३६) देवमन्दिरगमन-विज्ञान।

हम पूर्व कह चुके हैं कि—देवमूर्त्तिपूजा भी एक यज्ञ है; यज्ञवाले लाभ देवमूर्त्तिपूजामें भी प्रायः होते हैं; क्योंकि—यह भी देव-पूजा है। देवपूजा दो प्रकारकी होती है, एक हवन, दूसरी मूर्ति-पूजा। संस्कृत-अग्निमूर्तिद्वारा 'इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि रूपसे उस-उस देवताको हवि देना—यह हवन-द्वारा देव-पूजा होती है, प्रस्तर-आदिकी संस्कृत-मूर्तिद्वारा उस-उस देवताको बलि देना मूर्तिद्वारा देवपूजा होती है। हवन तथा मूर्तिपूजा दोनों ही 'यज्ञ' कहे जाते हैं; क्योंकि—देवपूजार्थक यजधातुका अर्थ दोनों स्थानोंमें देखा गया है। 'शाङ्खायनब्राह्मण'में कहा है—'स एवास्मै यज्ञं ददाति तद् यद् एता देवता यजति' (४।२) अर्थात्

* इसे जाननेकेलिए 'श्रीसनातनधर्मालोक'का चतुर्थ पुष्प हमसे शीघ्र मंगाइये। मूल्य ४)

देवताओंका पूजन ही यज्ञ होता है। यही बात श्रीमद्भागवत-पुराणमें भी सूचित की गई है। वहां (११।२७।१५-१६ में) मूर्तिपूजा तथा अग्निहोत्र दोनोंको ही 'याग' कहा गया है।

जिस प्रकार लोकमें पत्थरकी मूर्ति जड़ मानी जाती है, वैसे ही अग्नि भी। परन्तु 'अभिमानिव्यपदेशः' (वेदान्त० २।१।५) 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्'*(महाभाष्य-वार्तिक ३।१।७) इस शास्त्रीय कथनसे दोनों ही मूर्तियां चैतन्य धारण करती हैं। मन्त्र-संस्कृत अग्नि उस हविके स्थूलभागको भस्म करके उसका सूक्ष्म भाग देवताओंको देती है, और मन्त्रसंस्कृत-मूर्ति मधुमक्षिकासे पिये हुए पुष्पकी भांति उसका सूक्ष्म अंश देवताओंको समर्पित करती है। उस मन्त्रसंस्कृत-मूर्तिको देवमन्दिरमें प्रतिष्ठापित किया जाता है। तब देवमूर्तिकी नमस्कार आदि पूजाकेलिए देवमन्दिरमें जाना भी बहुत विज्ञान-पूर्ण तथा लाभ-प्रद है।

देवमन्दिर धार्मिक-जनताके प्राण हैं, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिके केन्द्र हैं, मनकी एकाग्रता तथा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्यलाभके प्रबल साधन हैं। देवप्रतिमा-केन्द्रके द्वारा भगवान्की समशक्तिको भक्तोंकी विश्वासरूपिणी विषमशक्ति खींच लेती है। सम-विषम शक्तिका इस प्रकारका आकर्षण विज्ञान-सिद्ध है। वही प्रतिमा प्रभुशक्तिको इस प्रकार खींचती और प्रकट करती है; जैसे सूर्यकान्तमणि सूर्यकी शक्तिको। इसमें वेदमन्त्रोंकी शक्ति उसमें सहायक हो जाती है।

* इस वार्तिककी स्पष्टता इस पुस्तकके १६७-१६८ पृष्ठमें देखें।

मूर्तिमें दिव्य-ज्योति एवं सूक्ष्मशक्ति जिस प्रकार ठीक रह जाए; उसी प्रकारसे देवमन्दिर (गर्भगृह) बनाये जाते हैं। धूप, दीप आदिके रखनेसे मन्दिरमें दिव्यशक्तिका संचार रहता है। सुगन्धित द्रव्योंके प्रयोगसे भूतबाधाकी निवृत्ति वैज्ञानिक भी मानते हैं, कीटाणुनाशिनी शक्ति भी उनमें हुआ करती है।

प्रत्येक पुरुषमें पञ्चभूतात्मकतावश पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन तत्त्वोंमें एक प्रबल होता ही है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दका प्रभाव एकतत्त्व-प्रधान शरीरमें रहता है। जिस पुरुषमें अग्नितत्त्वकी प्रधानता हो; उसमें रूपका अधिक प्रभाव होता है। इस प्रकार पृथिवी-तत्त्वकी प्रधानतामें गन्धका, जलकी प्रधानतामें रसका, वायुतत्त्वकी प्रधानतामें स्पर्शका, आकाशकी प्रधानतामें शब्दका अधिक प्रभाव पड़ता है। देवमन्दिरमें सब प्रकारके पुरुष जाते हैं; इसलिए उसमें सब प्रकारके द्रव्योंका समुच्चय रहता है। विविध रत्नोंसे जड़ी हुई प्रतिमाएँ; विविध-वर्णसुसज्जित स्थान, विविध गन्धद्रव्योंका सुगन्ध, शंख, घण्टा आदिका शब्द, विविध-प्रकारका भगवान्‌का भोग (प्रसाद) आदि रहा करता है। यह स्थूलरूपसे जानना चाहिये।

सूक्ष्मरूपसे तो विभिन्न-तत्त्वोंकी प्रधानताके अनुरूप भिन्न-भिन्न प्राणियोंकेलिए भिन्न-भिन्न देवोंकी उपासना बताई गई है। मनुष्यका शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ है। इसलिए शास्त्रने भी सगुण-ब्रह्मकी पञ्चदेवोंके रूपमें उपासना बताई है। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणपति—यह ईश्वरकी पाँच प्रमुख मूर्तियाँ हैं।

आकाशतत्त्वके साथ विष्णुका, पृथिवीतत्त्वसे शिवका, अग्नितत्त्वके साथ शक्तिका, वायुतत्त्वके साथ सूर्यका, जलतत्त्वके साथ गणपति (गणेश)का सम्बन्ध है। जिस प्राणीमें जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है; उसकी स्वाभाविक रुचि उस देवकी उपासनामें होती है। सब प्राणियोंमें समान-तत्त्वकी प्रधानता नहीं होती; अतः सबका हृदय एक देवमें निश्चल-रूपसे नहीं रहता। इसलिए मुनियोंने भिन्न-भिन्न पुरुषोंकेलिए भिन्न-भिन्न देवोंकी उपासना बताई है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष एक ही देवकी पूजा करेगा, और दूसरोंसे घृणा करेगा। नहीं; मनुष्यमें न्यूनाधिकतासे पाँचों तत्त्व रहते हैं। तब प्रधानतासे उसकी रुचि एक देवमें होती है; किन्तु अन्य तत्त्वोंके भी शरीरमें गौणरूपसे होनेसे अन्य देवोंसे उसकी अरुचि नहीं होती। इस प्रकार रत्न, रंग, गन्ध, शब्द आदिका भी प्रभाव प्रत्येक पुरुषपर पड़ता है। शब्दको ही ले लीजिये। शब्द अपनी प्रकृतिवाले पुरुषको जहाँ लाभ पहुँचाता है; वहाँ सर्व-साधारणको भी कुछ लाभ पहुँचावेगा ही। देवालयोंमें शंख और घड़ियालकी ध्वनि होती है। इसकी ध्वनिका स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रकारका प्रभाव हमपर पड़ता है। श्रीजगदीशचन्द्र-वसु नामक भारतीय-वैज्ञानिकने शंखके शब्दके विषयमें अनेक रोगाणुओंका नाश एवं वायुका शुद्ध होजाना प्रमाणित कर दिया है; जिसे हम पहले 'शंखध्वनिविज्ञान'में लिख चुके हैं। घड़ियालमें कांसेका प्रयोग होता है। कांसा तांवे और रांगेसे बनता है। तांवा विद्युत्का परिचालक होता है, और रांगा होता है संग्रहकोष।

घड़ियालपर चोट पड़नेसे उसमें विद्युत्-शक्तिका संग्रह होता है। तभी घड़ियालका जल पिलानेपर प्रसव-कष्टमें स्त्रीका शीघ्र-प्रसव होता है। तब घण्टा-शब्दसे उत्पन्न हुई विद्युत् हमारे शरीरमें प्रविष्ट होती है। और फिर हमारे मन्दिरोंमें खड़ाऊँ पहरकर जानेका नियम है; जिससे वह बिजली हमारे पाँवके नीचेसे निकलकर पृथिवीमें न चली जावे, और हमारे शरीरमें व्याप्त होकर उसे शक्तिशाली बनावे।

इस प्रकार देवमन्दिरमें स्थित पीपलका वृक्ष, तुलसी, मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, पञ्चगव्य, चन्दन, केसर आदि भी लाभदायक सिद्ध होते हैं। इसमें पीपल वन्ध्यात्वको दूर करनेवाला सिद्ध हो चुका है, उसके मूलमें जल डालनेसे ज्वर नहीं होता। इसके विशेष गुण हम आगे बतावेंगे। तुलसी-दलमें भी घातक-कीटाणुओंको दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसुने लिखा है कि—तुलसी-सुवासित वायु, घातक-कीटाणुओंको दूर करती है। तुलसीका पौधा धनीसे लेकर निर्धन तक समान रूपसे आरोग्य देनेवाला ईश्वरीय औषधालय है—इसके गुण हम आगे लिखेंगे। यदि तुलसीदलको दांतोंसे चबाया जाय; तो दांत निर्बल हो जाते हैं। इस कारण हमारे मुनियोंने तुलसीदलको भगवान्‌के चरणामृतमें स्थान दिया है कि विना ही दांतोंके चबाये वह पेटमें पहुँच जाय।

इस प्रकार देवमन्दिरमें रखे हुए मृगचर्म और व्याघ्रचर्मको भी देखिये। लोग प्रायः उसपर बैठकर भगवान्‌का भजन करते

हैं। मृगचर्मपर बैठनेसे भगन्दर आदि रोग नहीं होते; जो प्रायः बैठने वालों एवं कासियोंको हो जाते हैं। अथवा यदि होते हैं; तो उसपर बैठनेसे शान्त हो जाते हैं। इसके विशेष गुण 'मृगचर्मका वैज्ञानिक-रहस्य'में हम लिख चुके हैं। व्याघ्रचर्म आदिके गुण भी हम पूर्व लिख चुके हैं। उसपर साँप-विच्छू आदि चढ़नेका भय भी नहीं रहता। उसपर बैठ कर उपासक निर्विघ्न, निर्भय एवं एकाग्रचित्तसे भगवान्‌की उपासना करता है।

इस प्रकार पञ्चगव्य तथा चरणामृत एवं चन्दनादिके विषयमें भी जान लेना चाहिये, जिनमें चन्दन-केसरादिके गुण पूर्व बता चुके हैं; शेषके आगे बताने वाले हैं। इनसे जहाँ सूक्ष्म दैवी-शक्ति प्राप्त होती है; वहाँ स्थूल लौकिक-शक्ति भी। इनके कारण स्वास्थ्य अच्छा होता है। अकालमृत्यु दूर होती है।

देवालयमें जानेसे जहाँ देवपूजा होती है; वहाँ शारीरिक एवं मानसिक लाभ भी होते हैं। देवालयमें जानेकेलिए सूर्योदयसे पहले उठते हैं; और सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान करते हैं; क्योंकि स्नान करते ही देवालयमें जाना पड़ता है। इससे रूप, तेज, आरोग्य, बल, आयु, दुःस्वप्न-नाश और मेधा प्राप्त होती है। देवमन्दिर प्रायः नगरसे बाहर होते हैं, उनमें कोई बागीचा भी होता है। देवपूजाकेलिए बगीचेसे हम फूल चुनते हैं, जिससे हमें शुद्ध-वायु भी मिलती है, नगरके बाहरकी शुद्ध-वायुमें भ्रमण भी हो जाता है। प्रातः-भ्रमणके लाभ जगत्प्रसिद्ध ही हैं। इससे हमें शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य तथा शक्तिका लाभ होता है। शुद्ध

वायुमण्डलके कारण हमारे भीतर कुविचार नहीं रह पाते। चन्दन मस्तिष्कपर लगानेसे मस्तिष्क-शक्तिमें और दृष्टिमें वृद्धि हुआ करती है।

मन्दिरमें शंखनादसे फेफड़ोंकी शुद्धि तथा कीटाणुओंका दूरीभाव होता है; यह हम पहले लिख ही चुके हैं। तब भगवान्‌की उपासनासे हमारा भगवान्‌से ऐक्य हो जाता है। धूप, घीका चौमुखा-दीया, और उसका प्रकाश यह सब भी अकाल-मृत्युको रोकते हैं। इस समयकी निष्काम-भक्तिसे मुक्ति मिलनेसे हमें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

इस प्रकारके सूक्ष्म-स्थूल लाभोंके कारण देवस्थानों तथा उनकी वेदमन्त्र-संस्कृत मूर्तियोंमें दिव्यशक्तिके प्रभावसे अनेक रोगोंको दूर करनेकी शक्ति है—यह सिद्ध होगया। हमारी भारतीय-संस्कृति भी इन्हींके कारण हमारे अन्दर रहती है। यदि देवमन्दिरोंमें हमारी हिन्दु-संस्कृतिका हिताधायक कुछ भी न होता; तो मुसलमानी सम्राट् औरङ्गजेब हिन्दु-संस्कृतिके विनाशकेलिए देवमन्दिरोंको न तुड़वाता। तब देवमन्दिरमें जाना और उसमें देवपूजन करना यज्ञकी भांति ही ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही लाभ देनेवाला सिद्ध हुआ।

(४०) चरणामृतका वैज्ञानिक-महत्त्व।

देवमन्दिर जाकर देवमूर्तिका नमस्कारादि-द्वारा पूजन करके फिर हम चरणामृत लेते हैं; और उस समय एक मन्त्र पढ़ते हैं—'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्। विष्णुपादोदकं पीत्वा

पुनर्जन्म न विद्यते' इसका अर्थ यह है कि-यह चरणामृत अकाल-मृत्युको दूर करनेवाला है, और सब व्याधियोंको दूर करता है; इसका पान करके पुनर्जन्म नहीं होता। प्रतिपक्षी लोग इसपर फवतियाँ कसते हैं, और इसे दबी-जबानसे अर्थवाद (बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा हुआ) कहते हैं। पर वे इसके महत्त्वको न जाननेके कारण ऐसा कहते हुए सचमुच दयनीय हैं। वस्तुतः यह अर्थवाद नहीं; किन्तु यथार्थवाद है। इसे यों समझिये—

चरणामृत जहाँ भगवान्का प्रसाद है; जिन चरणोंकी हम पूजा करते हैं; उनका धोवन है, अमृत है, वहाँ एक दिव्य-महौषधि भी है। पूजाके समय तांबेके पात्रमें रखी हुई शालग्रामकी प्रतिमाका मन्त्रोपचार तथा गङ्गाजलके द्वारा स्नान एवं संस्कार किया जाता है। उसमें तुलसीदल, केशर, चन्दन, कस्तूरी-आदि पदार्थ भी मिले होते हैं। यही चरणामृत है।

शालग्राम गण्डकी-नदीमें प्राप्त होनेवाला एक कसौटीकी तरह पत्थर होता है, जिसमें स्वभावसे सूक्ष्म सुवर्णके कण हुआ करते हैं। वेद सोनेसे सौ वर्षकी आयु बताता है। 'सुवर्णसे घातक-कीटाणु भी दूर होते हैं। उसका प्रमाण यह है कि-शेरनीका दूध अन्य पात्रोंमें कीटाणुओंके कारण विकृत हो जाता है; पर सुवर्णके पात्रमें विकृत नहीं होता। वह जल सुवर्णके कणवाले शालग्रामसे स्पृष्ट होनेसे उसके गुण लेता है। हमारे देशकी स्त्रियाँ भंगीसे छूगये हुए अपने लड़केपर अपने कानके सुवर्णभूषणसे जलको स्पृष्ट करके वही जल उस पर डालती हैं; उसमें भी अशुद्ध

कीटाणुओंका दूर करना ही लक्ष्य होता है। अस्तु।

तांबेका प्रभाव तो विज्ञान-सिद्ध है। उसमें रखा हुआ जल रोग-नाशक हुआ करता है। अब गङ्गा-जल लीजिये। उसकी घातक-कीटाणुनाशिनी शक्ति तो विश्व-विश्रुत है; उसकी महत्ता हम आगे भी बतावेंगे। तुलसीदलमें भी अनेक व्याधियोंके दूर करनेकी सामर्थ्य है-यह आगे बताया जायगा। विशेष करके मलेरियाके कीटाणुओंको दूर करनेमें तो उसकी अपूर्व-शक्ति प्रसिद्ध है।

शेष रहे केसर, चन्दन और कस्तूरी आदि। यह बहुत उत्तम ओषधियाँ मानी जाती हैं, बहुतसे रोगोंमें इनका उपयोग आयुर्वेद-प्रसिद्ध है। वेदमन्त्र जिनसे स्नान कराया जाता है; उनकी विलक्षण शक्ति तो प्रसिद्ध है ही; यह हम 'मन्त्रशक्ति' निबन्धमें लिख चुके हैं। फिर वही जल शंखमें डाला हुआ अद्भुत-शक्तिसम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार चरणामृत-रूपमें हमें केशर, कस्तूरी, चन्दन, तुलसीदलसे मिश्रित ताम्रपात्र-निहित सुवर्ण-कणोंका मन्त्रोपचारसे संस्कृत जल मिलता है। फिर उस देवमन्दिरमें धूप, घृत-दीपके शुद्ध आलोककी प्राप्ति आदिसे कीटाणुके अभाववश वह जल अमृत-सा हो जाता है, वह मकरध्वज-ओषधिके समान सामर्थ्यको धारण कर लेता है। उसके सेवनसे अकालमृत्यु-हरण तथा सर्व-व्याधि-विनाशनमें सहायता मिलना स्वाभाविक ही है। उस समय निःस्वार्थ एवं निष्काम-भगवद्भक्ति हो; तो वह पुनर्जन्मको भी दूर कर देती है। इस प्रकार चरणामृतपानसे अकालमृत्युहरण-आदि वाली बात यथार्थ सिद्ध हुई। जहाँ चरणामृत-पानसे दैहिक-लाभ

हैं; वहाँ मानसिक एवं आत्मिक लाभ भी होते हैं—यह बात स्वयं जानी जा सकती है।

(४१) श्रीतुलसीपूजन-विज्ञान।

(क) चरणामृतमें तुलसीदलका उपयोग बता चुके हैं; अतः यहाँ तुलसीके विज्ञान पर लिखना भी अवसर-प्राप्त है। हिन्दु-जातिके आचार-विचारों पर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि—उसकी सभी रीतियाँ वा रस्में वैज्ञानिक-तत्त्वोंसे ओत-प्रोत होती है। ज्यों-ज्यों सूक्ष्म अनुसन्धान किया जाता है; त्यों-त्यों यह सिद्ध होता जा रहा है। यह ठीक है कि—अभी उसकी बहुत रीति-रस्मोंका रहस्य नहीं खुला, परन्तु यह हम डंकेकी चोट घोषणा करते हैं कि—ज्यों-ज्यों गवेषणाएँ जारी रहेंगी, सनातनधर्मकी रीतियाँ कसौटी पर खरे सुवर्णकी भांति सत्य-स्वरूप सिद्ध होगी; पर—

वाह ऐ भारतवर्ष !!! तेरे व्यक्ति आजकल परप्रत्यय-नेयबुद्धि हो रहे हैं, यह बहुत बड़े खेदका विषय है। यह लोग अपने धार्मिक शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं करते, अपने पूर्वजों पर विश्वास नहीं करते, अपने धर्माचार्योंको नहीं गिनते, अपने धार्मिक नेताओंकी नहीं सुनते, परन्तु समुद्र-पार ठहरे हुए पाश्चात्य-विद्वानोंको ही अपना गुरु मानते हैं। वे लोग जिसकी प्रशंसा करें, यह भी उसी की प्रशंसा करते हैं। वे जिस वस्तुकी निन्दा करें, यह भी उसीकी निन्दा करते हैं। वे पाश्चात्य विद्वान् जैसी आज्ञा करें, जैसे चश्मेसे देखनेका आदेश दें, यह अपने आपको वैदिक माननेवाले भारतीय

भी वैसे ही देखते हैं, वैसे ही तत्तद्-वस्तुका स्वरूप समझते हैं—ऐसा बुद्धिका दिवालियापन दूसरे देशोंमें प्रायः नहीं देखा जाता।

जब पाश्चात्य-विद्वानोंने वेदोंकी प्रशंसा की, तब इन्होंने भी मुक्तकण्ठसे इनकी प्रशंसा आरम्भ कर दी। जब उन्होंने भगवद्-गीताकी मुक्तकण्ठसे स्तुति की, उपनिषदोंको सर्वोच्च-साहित्य माना, तब यह भी वैसा कहनेमें पीछे क्यों हटें ? जब उन्हीं पाश्चात्योंने पुराणोंकी कुछ अंशोंमें निन्दा की, तथा कुछ अंशोंमें स्तुति; तब उनके अनुयायी यह भारतीय भी उन पर अनुकूल-प्रतिकूल दृष्टिकोण क्यों न रखें ? उन्होंने जब पूर्ण-युवति लड़कियोंका विवाह आदिष्ट किया, तब यह भी वैसा क्यों न आचरण करें ? क्यों न शास्त्रसे बलात् वैसा दिखलावें ? उन्होंने विधवा-विवाह एवं विवाहोच्छेद यदि जारी किया; तो यह लोग भी वैसा क्यों न स्वीकार करें ? उन्होंने हैट-बूट आदि धारण किये; तब इन्हें भी इसमें शतशः लाभ दृष्टिगोचर होने लगे। जब उन्होंने अंग्रेजी-भाषाके प्रचारक विद्यालय खोले, तब यह भी पीछे क्यों रहें ? उन्होंने छुआछूतके सिद्धान्तकी अवहेलना की, यह भी वैसा क्यों न करें ? वे मूर्तिपूजापर उपहास करते हैं—यह भी वैसे ही करते हैं। जब उन्होंने कहीं आयुर्वेदकी स्तुति की, इन्होंने भी उधर ध्यान दिया। नहीं तो यह लोग भी पाश्चात्य-चिकित्सा प्रणालीको ही सर्वश्रेष्ठ मानते रहे।

फलतः—वे प्रभु जो कहें, जो मानें, इन्हें भी वही करना और वही मानना है। इनके सामने यदि हम अपने प्राचीन-सिद्धान्तोंको

शास्त्रीय प्रमाणोंसे रखें, तो यह लोग देखते ही नहीं, या उनके सुननेमें कान बन्द ही कर लिया करते हैं। तब अगत्या हमें भी इनके सामने वह पाश्चात्योंकी ही गवेषणा रखनी पड़ती है। पहले यही लोग हमारे ग्रन्थोंमें लिखे होनेपर भी वृक्षों वा पौधोंमें जीव नहीं मानते थे, वृक्ष-पूजक धार्मिकोंको जड़-पूजक अतएव जड़ कहा करते थे। जब पाश्चात्य-विज्ञान पढ़े हुए श्री जगदीशचन्द्र वसुने यह प्रत्यक्ष दिखला दिया, तब यह चुप हुए। आजसे कुछ वर्ष पूर्व तुलसीके सम्बन्धमें भी इन लोगोंकी भ्रान्त धारणा थी। यही लोग तुलसी रखनेपर वा उसके पूजनपर सनातनधर्मियों पर हंसते थे, पर अब पाश्चात्य-विद्वानोंके अनुसन्धानोंपर इनका ध्यान पड़ा। अब इस विषयमें विवाद प्रायः नहीं होते।

यह याद रखनेकी बात है कि—हमारे पूर्वज साक्षात् ऐहिक कारणोंसे तुलसीके पुजारी नहीं बने, किन्तु पारलौकिक पुण्य आदि कारणोंसे। पारलौकिक वस्तु ऐहिक-लाभप्रद भी सिद्ध हुआ करती है। अतः आजकी जनताके समक्ष हमें ऐहिक लाभ रखने पड़ते हैं, नहीं तो यह लोग ध्यान ही नहीं देते। हमारे पूर्वज आमुष्मिक-लाभोंको मुख्य-प्रयोजनमें रखते थे और ऐहिक लाभोंको अवान्तर-प्रयोजनमें, पर आजकलकी पश्चिमाभिमुख जनता परलोक में विश्वास नहीं रखती, अतः ऐहिक लाभोंको ही मुख्य-उद्देश्य मानती है, तब सनातनधर्म-सम्मत वस्तुओंके महत्त्व इनके हृदयमें स्थिर करनेकेलिए हम भी तुलसीके ऐहिक-प्रयोजन दिखलाते हैं। वैष्णव-धर्ममें तुलसीके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, पर

बीसवीं-शताब्दीके बहुतसे व्यक्तियोंके हाथमें यदि कोई भक्त तुलसी-दल रख दे, तो वह उसे मुखमें डालनेके स्थान उसे उसी क्षण फेंक देते हैं, क्योंकि वह प्राचीनोंसे इष्ट सभी वस्तुओंसे घृणा करते हैं, पर यदि वह उसके गुण जान लें, तो तुलसीका आदर करें। अब तो आर्यसमाज-मन्दिरोंमें भी तुलसी लगाई जाती है।

अहह! प्राचीन समय कैसा था जब कि भारतीय आधुनिक-रोग-चक्रमें निगृहीत न होकर सुख-शान्तिसे अपना जीवन बिताते थे। आज क्या होगया है? आज भारत देश भी वही है, जो प्राचीन युगमें था। वे ही भारतकी सन्तानें हैं। इसमें क्या अन्तर आगया? पाठक सावधानतासे विचारें, उन्हें उत्तर मिल जायगा। वे ही भारतकी सन्तानें प्राचीन रीति-नीति आदि सभी कुछ छोड़कर पाश्चात्य-सभ्यतामें रंगकर नवीन-व्याधियोंसे आक्रान्त होकर प्रतिवर्ष भारतवर्षको सरायकी भांति असमयमें छोड़कर परलोकको सिधार जाती हैं—यह खेदकी बात है।

आज रोग प्रारम्भ होते ही लोग राजकीय-हस्पतालोंमें जाना चाहते हैं, वहाँकी अंग्रेजी दवाई पीते और अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हैं। वाह री अंग्रेजी दवाई! तेरी प्रशंसामें हमारी लेखनी भी असमर्थ है। अन्धपरम्परामें लगे हुए भारतीय-मनुष्य यह सोचते ही नहीं कि—अंग्रेज़ी दवाई हमारे देशकी जल-वायुमें परिणाम-हिताधायक प्रभाव नहीं डाल सकती; और उसके सेवनसे हमारे धर्मकी हानि होगी; क्योंकि—उस दवाईमें मद्य-आदि अपवित्र

पदार्थोंका भी कुछ अंश रहता है।

ऐ भारतीयो, आज भी समय है, संभल जाओ, अपनी विद्या-कलाको भुलाकर दूसरोंका मुख क्यों देख रहे हो? पारलौकिक पुण्य देनेवाली और ऐहिक स्वास्थ्य-देनेवाली ओषधियाँ आपके निकट हैं; पर आप उन्हें देखते-भालते नहीं। घरमें प्राप्त हुए अतिथिको छोड़कर आप बाहरी-अतिथियोंकी ढूंढ़में लगे हुए हो। देखो, 'तुलसी' किसीसे छिपी हुई नहीं। बच्चेसे लेकर बूढ़े तक उसे सभी जानते हैं। उसमें बहुतसे गुण हैं। प्राचीन लोग इसे बड़ी श्रद्धासे पूजते थे।

शास्त्रोंमें इसकेलिए कहा है—'तुलसी-काननं चैव गृहे यस्यावतिष्ठते। तद्‌गृहं तीर्थभूतं हि नायान्ति यमकिङ्कराः तुलसी-विपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम्। क्रोशमात्रं भवत्येव गांगेयेनेव चाम्भसा'। यहाँ पर तुलसीसे मृत्यु-बाधा दूर होना बताया है। उसकी गन्धका प्रभाव एक कोस तक रहा करता है। जब इससे रोगोंकी निवृत्ति हो जाती है; तब यमकी बाधा तो हटी ही। रोग ही तो यमकिङ्कररूपमें आते हैं। वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार किया है कि—तुलसीके संसर्गसे सुवासित वायु शुद्ध रहती है। मलेरिया आदिके विषैले कृमियोंके प्रभावको तुलसी नष्ट करती है। साधारण-ज्वरमें तुलसीपत्र और कालीमिर्चको मिलाकर उसके काथके पीनेसे ज्वर नष्ट हो जाता है। मरणकी निकटतामें तुलसी-मिश्रित गङ्गाजल पिलाया जाता है, जिससे आत्मा पवित्र होवे और सुखशान्ति से परलोकको प्राप्त हो। इसीलिए ब्राह्मणादि तुलसीकी श्रद्धापूर्वक

अर्चना करते हैं। सम्मान इसका ऐसा होता है कि कार्तिक मासमें तो उसकी आरती एवं परिक्रमा भी की जाती है।

हमारे पूर्वज इस रसायन-ओषधिके लाभोंसे परिचित होकर इसे प्रत्येक देवस्थान वा घरमें इसके रोपणकेलिए प्रेरणा करते थे। परन्तु हमारे ही देशी बाबू सनातन-धर्मके विरोधी इसकी पूजा करनेपर उपहास करते थे। जब वैज्ञानिकोंने इसके गुणोंका अनुसन्धान किया; तब यह परप्रत्ययनेय-बुद्धि लोग चुप हुए। ठीक है—'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं नच वयः'। सनातनधर्मी लोग 'अभिमानिव्यपदेशात्' (वेदान्त ०२।१।५) उन उन विभूतियोंमें परमात्मा की विशिष्ट सत्ता मानकर उनकी पूजामें लगते थे। इसमें कोई उपहासकी बात नहीं। सम्मानसे ही तो उसमें श्रद्धा होती है। श्रद्धासे उसकी रक्षा होती है। रक्षासे उसका उपयोग होता है।

तुलसीको प्रत्येक घरमें रोपना चाहिये। विपाक्त और विकृत वायु इसके प्रभावसे विलीन होकर स्वच्छ हो जाती है। मच्छर इसकी गन्धसे भाग जाते हैं। सब प्रकारके ज्वरोंको हटानेके लिये तुलसी अव्यर्थ-औषध है। योग्य वैद्यके निरीक्षणमें तुलसीके उपयोगसे राजयक्ष्माके रोगी भी पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। स्तन-पीनेवाले बच्चेसे लेकर बूढ़े तक यह समान लाभ देती है।

प्राचीनकालमें तुलसीके सेनेटोरियम (स्वास्थ्यगृह) बनाये जाते थे। उस भवनका फर्श और दीवारें तुलसीके नीचेकी मट्टीसे लीपे जाते थे, और वहाँ रोगी रखे जाते थे, जिससे वहाँ रोगके कीटाणुओंका प्रवेश न होनेसे, और तुलसीके उपचारसे रोगी

शीघ्र स्वस्थ हो जाते थे। जिन रोगियोंके घरसे दूर होनेके कारण नर्मदा वा गङ्गाके किनारे ठहरकर स्वास्थ्यके सुधारकी सुविधा नहीं थी; वे तुलसी-वनोंमें ठहरकर अपने स्वास्थ्यको प्राप्त होते थे। उनको इस प्रकारका लाभ होता था, जैसा कि गङ्गा आदि के किनारे पर रहकर हुआ करता है। तुलसी, भाषण-दर्शन आदि सभी शक्तियोंको स्थिर करनेवाली है। तुलसीका सेवन शरीरमें सञ्चित मलोंको दूर कर दिया करता है, जिससे प्रत्येक अवयव पवित्र होता है। तुलसीके काष्ठका चन्दनकी भांति माथेमें लेप करनेसे परम्परासे आये हुए रोग भी रुक जाते हैं। दूषित-जलके शोधनार्थ तुलसीपत्रोंको जलमें डाला जाता है।

तुलसीसे कफ हटता है, मूत्रावरोध दूर होता है, मलेरिया नष्ट होता है, पाचन-क्रिया सम्पन्न होती है, भीतरी विष निकल जाता है। रक्तकी शुद्धि होती है। जलन नष्ट होती है। श्वास, निमोनिया, शीत-ज्वर, मूत्र-विकारमें तुलसी अतीव गुणकारी है। दैनिक इसका सेवन करनेसे वर्षा वा शरद् ऋतुमें मलेरिया की, और गर्मियोंमें लू आदि लगनेकी आशङ्का नहीं रह जाती। इससे अजीर्ण हटता है। कफके जमनेसे पसलीमें होनेवाली पीड़ाकी तो यह अचूक ओषधि है।

तुलसीके बहुतसे भेद होते हैं—उसकी परीक्षा पत्तोंसे होती है। प्रधान भेद दो होते हैं, सफेद और काली। सफेदको राम-तुलसी और कालीको कृष्ण-तुलसी कहते हैं। कृष्ण-तुलसीमें अधिक गुण होते हैं। यह उष्ण है, कफघ्न है, तीक्ष्ण है, दन्तशूल

को दूर करती है, हृदयको लाभ देती है, उदराग्निको प्रदीप्त करती है। वायु, श्वास, उदरके कृमि, कै (वमन), शूल, कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, विष, रक्तदोष, ज्वर आदिकी नाशक है, आरोग्य-वर्धक है।

विशेष-अनुपानोंसे तुलसी द्वारा १ शीतज्वर, २ विषम ज्वर, ३ आगन्तुक ज्वर, ४ प्यास, ५ पित्तदाह, ६ पसलीका दर्द, ७ मूर्च्छा, ८ कानका दर्द, ९ जुकाम, १० प्रमेह, ११ रतौन्धी, १२ दांत का दर्द, १३ बच्चोंका बुखार, १४ बच्चोंका पेट बढ़ना, १५ बच्चोंका दमा, १६ अग्निकी मन्दता, १७ मूत्रदाह, १८ रक्तातिसार, १९ अरुचि, २० बलगमी खाँसी, २१ श्वेत-कुष्ठ, २२ कीड़े, २३ गजकर्ण-कुष्ठ, २४ जख्म, २५ विष, २६ बिच्छूका डंक, २७ स्त्रीका वन्ध्यात्व, २८ प्रदर, २९ स्त्रियोंकी दुग्धशुद्धि, ३० बालकोंका वमन एवम् अतिसार, ३१ खुजली, ३२ चूहेका काटना, ३३ उन्माद, ३४ दन्तकी त्वचाके छाले, ३५ जिगरकी तकलीफ, ३६ तिल्ली बढ़ना, ३७ बवासीर, ३८ सर्प-विष, ३९ ततैयाका डंक, ४० प्लेग, इत्यादि २०० रोगोंमें पूर्ण लाभ होता है।

राजयक्ष्माकी प्रथमावस्थामें भी इसके सेवनसे रोग आगे नहीं बढ़ता। दादमें तुलसीके पत्तोंके रगड़नेसे लाभ होता है। सूखे तुलसीके पत्तोंकी हुलाससे जुकाम वा सिर-दर्द जाता रहता है। चाय पीनेका रिवाज़ सा चल पड़ा है, *जो बहुत हानिकारक है; पर तुलसीके सूखे पत्तोंकी चायसे—जिसमें आम-पीपलके सूखे

* इसपर भक्त रामशरणदासजीकी 'चाय और तम्बाकू'—पुस्तक पिलखुआ (मेरठ)से मंगाइये।

पत्तोंको तथा मजीठ, लौंग, कालीमिर्च, इलायची मिलाकर जौ कूट दें; तो इससे रक्तविकार और वात, पित्तकी व्याधि दूर हो जाती है। तुलसीकाष्ठकी माला गलेमें पहननेसे गण्डमाला रोग नहीं होता। इसकी जड़को पत्थरपर घिसकर काजलकी भांति आँखोंमें लगानेसे जाला, धुन्ध, रतौंधी आदि नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं।

एक तोला काली-मिर्च लेकर १६ तुलसीके पत्तोंको घिसकर कालीमिर्च-इतनी तुलसीकी वटी (गोली) बना ली जावें और उन्हें सुखाकर शीशीमें रख दिया जावे। एक गोलीसे तीन गोली तक आयुके अनुसार दी जावे; तो दुःसाध्य रोग भी दूर हो जाता है। कुछ गर्म करके पिलानेसे मल साफ होनेसे पेट ठीक हो जाता है। तुलसीकी चाय दूध-मिशरी मिलाकर पीनेसे सुस्ती, थकावट, सर्दी, खाँसी-जुकाम आदि दूर हो जाते हैं। चायसे होनेवाली हानियाँ भी नहीं होती। तुलसी घरका वैद्य है। इसके घरमें रहनेसे घरमें रहनेवाली स्त्रीको कोई वेदना, कोई प्रसूति-रोग नहीं होता, घरकी वायु शुद्ध रहती है, पर्देवाली स्त्रियोंके स्वास्थ्यमें इसके घरमें होनेपर कोई हानि नहीं पहुँचती। मलेरियाके घातक-कीटाणु इसकी सुवासित-वायुमें नहीं रह पाते। मच्छर भी वहां नहीं रह पाते।

तुलसीके पत्तेके रसको चूनेके पानीमें मिलाकर मुंहमें लगाने से मुहासे, झांई आदिको लाभ पहुँचता है। इसके लेपसे त्वचा नर्म होती है। समस्त चर्म-रोगोंकेलिए तुलसी एक अचूक-ओषधि है। तुलसीकी जड़के चूर्णको ताम्बूलके साथ सेवन करनेसे वीर्य-

स्तम्भन होता है। ध्वजभंगके रोगीको तुलसीके जड़का चूर्ण घृतके साथ सेवन करानेसे उसके शरीरमें पुनः वैद्युतिक क्रिया होगी और रोग भी जाता रहेगा। तुलसीके जड़के चूर्णको अल्पपरिमाण में प्रतिदिन सेवन करनेसे स्वप्नदोष रुक जाता है। तुलसीके बीजोंको पीसकर खाँडके साथ खानेसे मूत्र-सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हुए देखे गये हैं। इससे वीर्य गाढ़ा होता है, पुरुषत्व बढ़ता है। बङ्गालके पानके साथ तुलसीकी जड़के खानेसे शीघ्रपतन दोष दूर हो जाता है। तुलसीका *तेल, साबुन बनानेके समय उसमें डाल देनेसे उस साबुनके लगानेसे अनेक चर्म-रोग जड़से चले जाते हैं। तुलसीके पत्तोंका रस शहदमें मिलाकर चाटनेसे गलेका दर्द दूर हो जाता है। पानीमें हींग घिसकर उसमें दो बूंद तुलसीका रस डालकर दोनों नथुनोंमें सुड़कनेसे लकवेमें आराम होता है। इसके रसके सेवनसे मिर्गी भी दूर हो जाती है।

इस तुलसीमें विशेष-विद्युत्की किरणें सदैव प्रवाहित होती रहती हैं, इसमें आक्सिजन और नाइट्रोजन गैसोंका सुन्दर मिश्रण होता है, जिससे यह रोगीके शरीरमें प्राप्त हुए विजातीय-द्रव्योंको भापकी भांति उड़ा देती है। यह जिस घरमें हो, उसपर बिजली नहीं गिरती। इसकी गन्धसे घरमें साँप भी प्रवेश नहीं करता।

इस तुलसीके गुणोंका वर्णन कहाँ तक हो सकता है? हमारे

---

*तुलसीकी पत्तियोंको एक-दिनकेलिए भिगोकर ढक देना चाहिए। फिर उसे तिलके तेलमें मिलाकर गर्म करना चाहिए। पानी सूखने पर उसे छानकर बोतलमें भर लेना चाहिए। यही तुलसीका तेल है।

ऋषि-मुनियोंने एतदादिक-गुण जानकर उससे आध्यात्मिकतामें भी लाभ जानकर इसका धर्मसे भी सम्बन्ध देखा था। उससे ऐहिक-जीवनकी रक्षा होती है, पारलौकिक-जीवन भी प्राप्त होता है। इस प्रकारकी हितकारिका तुलसीका पूजन तथा प्रत्येक-गृहमें रोपण आवश्यक है। प्रत्येक प्राचीनताके उपहासी व्यक्तियोंको उचित है कि वह घोर-निद्राको छोड़कर, प्राचीन ऋषि-मुनियोंके वचनोंमें अविश्वास हटाकर, प्राणरक्षक, पावन तुलसीका प्रचार घर-घरमें करावें; जिससे दिनों-दिन विकृत हो रहा हुआ भारतीयोंका स्वास्थ्य ठीक होवे।

भगवान्‌के चरणामृतमें इसका उपयोग इसीलिए होता है कि यह 'अकालमृत्यु-हरण' और 'सर्वव्याधि-विनाशन' है। भगवान् को भी तुलसी इसीसे तो प्रिय है कि उसके भक्तोंकी सर्व-व्याधियाँ नष्ट करके उनकी अकाल-मृत्युको दूर करती है। तब यदि यह ऐहिक नवजीवन-प्रदात्री तथा पारलौकिक-फलकी प्रदात्री मानी गई हो, तो इसमें अविश्वासकी कोई बात नहीं। आरोग्य ही सर्वविध धर्मोंका साधक होता है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' यह दृष्टशास्त्र-आयुर्वेदकी उक्तियाँ भला कैसे असत्य हो सकती हैं? इस प्रकार आर्य-सभ्यताकी गौरव-प्रदर्शिका सनातन-हिन्दु-धर्मकी प्राण तुलसीको जो वैदिकम्मन्य वैसा नहीं मानते; केवल पाश्चात्य-चिकित्साओंमें लगे रहते हैं, और प्राचीन-सभ्यताकी वृद्धिसे अपना लाघव समझते हैं, ऐसे महाशय तो सचमुच धीवर(?) हैं वे दूरसे ही तिलाञ्जलिके योग्य हैं। यही

विज्ञानका ज्ञानही कारण है कि—हिन्दु लोग 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'—न्यायसे अनेकविध रोगोंमें भी उसका उपयोग करते हैं, और इसकी परिक्रमा-पूजा आदिसे उसके अभिमानी देवताका पूजन भी हो जाता है।

तुलसीपत्रको चबानेका निषेध।

(ख) तुलसी-दलको दान्त-द्वारा चबानेसे दान्तकी त्वचामें रोग हो जाते हैं, जिनसे दान्तोंको निकलवाना पड़ जाता है। अतः उसके पत्तेको विना चबाये ही पेटमें पहुँचाना चाहिये, तभी यथोक्त-फल प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दान्तोंसे चबानेसे उसका लाभजनक रस भीतर पहुँच भी नहीं पाता। उस पत्तेको निगल जाने पर अन्तड़ियाँ उसका रस स्वयं खींच लिया करती हैं; जिससे अपेक्षित लाभ भी प्राप्त हो जाता है।

(४२) श्रीगङ्गाजलकी विशेषताका विज्ञान।

चरणामृतमें गङ्गाजलका उपयोग भी होता है; अब उसपर विचार करना भी प्राकरणिक है। गङ्गाजलका वर्णन वेदसे लेकर लौकिक-साहित्य तक आता है। 'इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि !' (ऋ० सं० १०।७५।५) इस वेदमन्त्रमें सबसे पूर्व गङ्गाका नाम आया है। उसकी स्तुति की गई है। 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीराः, ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते' इस पूर्वमन्त्रके परिशिष्ट-मन्त्रमें सिता (गङ्गा) असिता (यमुना)के सङ्गममें मृत्युको प्राप्त होनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति कही गई है। 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' (गीता १०।३१) इस वचनमें

भगवान्‌ने गङ्गाको अपना रूप माना है। वाल्मीकि-रामायणमें भी श्रीसीता-द्वारा गङ्गाकी पूजा तथा उससे प्रार्थना आई है। पुराणोंमें भी 'गङ्गागङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। मुच्यते स हि पापेन विष्णुलोकं स गच्छति' इत्यादि-रूपसे गङ्गाका बहुत माहात्म्य आया है। इसीलिए हिन्दुजातिका विशेष-पर्वोंमें गङ्गा-स्नानके लिए जाना, कुम्भोंके भीड़-भड़क्केमें मरनेसे भी न डरना प्रत्यक्ष है। लोग गङ्गाजल बड़ी श्रद्धासे लाते हैं, उसकी एक-बूंद डालकर भी अपने जलको शुद्ध करते हैं। कुएँसे मुसलमानादि-द्वारा कीचड़ निकलवाकर फिर गङ्गाजलसे उसकी शुद्धि की जाती है। इन बातोंको देखकर स्वतः ही यह प्रश्न उठता है कि—इस गंगा-नदीके लिए अत्यन्त श्रद्धा तथा माहात्म्यका कारण क्या है? इसके जलमें क्या विशेषता है?

हम गत-विषयोंमें निरूपण कर चुके हैं कि जो वस्तु पार-लौकिक फलवाली, अथवा अदृष्टमें लाभप्रद मानी गई है, वह दृष्टमें भी लाभप्रद होती है; ऐहलौकिक फल भी देनेवाली होती है। यदि हम थोड़ी देरकेलिए इसपर शास्त्रीय दृष्टिकोण छोड़ भी दें; केवल दृष्ट-शास्त्र उपवेद आयुर्वेदके वा वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे भी गङ्गाजलका निरीक्षण किया जावे; तो पता लगता है कि—उसमें वा उसकी मट्टीमें शरीरके पोषण वा स्वस्थीकरणकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है। चरकसंहितामें गङ्गाजलको पथ्य माना है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंका कथन है कि—गङ्गाजलमें शारीरिक-शक्ति बढ़ानेकी अद्भुत क्षमता है। रोगियों तथा दुर्बल पुरुषोंको 'टानिक'

दवाइयां पीनेकी आवश्यकता नहीं। केवल गङ्गा-जलके पीने तथा स्नानसे शरीरमें पूर्णबल प्राप्त हो जाता है। गंगाजलके पीनेसे अजीर्णरोग, अजीर्णज्वर तथा संग्रहणी, राजयक्ष्मा, पुराना श्वास-रोग (दमा), यह सब रोग नष्ट हो जाते हैं। गंगास्नान करनेसे मस्तकके समस्त रोगों तथा चर्मरोगोंका नाश होता है।

उक्त-कथनकी सत्यता महाविद्वान्, सुप्रसिद्ध-आयुर्वेदाचार्यों तथा ख्यातनामा डाक्टरों तथा हैल्थ-आफिसरोंके रासायनिक परीक्षणोंसे सिद्ध है। जो लोग आज भी गङ्गाके जलको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते थे; उनकी भी आंखें अब खुल गई हैं। वे भी अब गंगाजल की विलक्षण-शक्तिके आगे नत-मस्तक होगये हैं। प्लेग, हैज़ा, मलेरिया आदि कठिन संक्रामक-रोग खराब-स्थानके खराब-जलके सेवनसे हो जाते हैं; पर गंगाजलके सेवनसे यह सब रोग थोड़े ही कालमें अदृश्य हो जाते हैं; क्योंकि गङ्गाजल कभी दूषित नहीं होता; न ही उसमें कभी कीटाणु पैदा होते हैं। बल्कि गङ्गाजलमें रोगके कीटाणुओंको डालनेसे वे सब नष्ट हो जाते हैं, यह गङ्गाजलमें अद्भुत-शक्ति है। इसीलिए ही महर्षियोंने एवं आयुर्वेद-विद्वानोंने गङ्गाजलकी स्तुति की थी। गङ्गाजलमें मधुरता तथा मनोहरता है। रोग-कीटाणुओंके नाशनकी शक्ति, स्वच्छता, मेध्यता-पवित्रता आदि अनेक गुण हैं, जिससे वैज्ञानिक विद्वान् गङ्गाजलके चमत्कारको देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

पाश्चात्य-वैज्ञानिकोंने भी आधुनिक-चिकित्सा-शास्त्रकी कसौटी पर कसकर गङ्गाजलकी उपयोगिता और महत्ता सिद्ध की है।

डाक्टर ई० एच० हैंकिन्सने जो युक्तप्रान्त तथा मध्यप्रान्तकी सरकारोंके 'केमीकल ऐक्ज़ामिनर' (रसायन-परीक्षक) थे—गङ्गाजल की परीक्षा की। उन्होंने गङ्गामें गंदे नालोंको गिरते देखा, जिनमें हैज़ेके लाखों कीटाणु होते थे; पर वे गङ्गाजलमें मिलनेके कुछ देर बाद नष्ट होजाते थे यह उन्होंने अनुभूत किया। फिर उन्होंने एक बोतलमें गङ्गाजल डाला, दूसरीमें कुएँका जल। दोनोंमें हैज़ेके कीटाणु डाले। गङ्गाजल वाली बोतलमें तो वे कीटाणु ६ घण्टेके अन्दर ही मर गये; पर साधारण-जलवाली बोतलमें वे बढ़ गये—यह देखकर वे अत्यन्त चकित हुए। सोचने लगे कि-हिन्दुलोग जो अनादिकालसे गङ्गाके भक्त बने हुए हैं; क्या उस समय भी उन्हें विज्ञानका ज्ञान था? इस अनुभवसे वे इस परिणाम पर पहुँचे कि गङ्गाजलमें वस्तुतः विलक्षण रोगनाशिनी-शक्ति है।

कितना लिखा जाए; अमेरिकाके सुप्रसिद्ध डाक्टरोंने भी इस सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा है। सारे संसारका प्रसिद्ध यात्री 'मार्कटुहन' अपनी 'संसार-यात्रा'में लिखता है कि—गङ्गाजलकी मैंने स्वयं परीक्षा की है। इसमें रोगाणुओंको नष्ट करनेवाली बड़ी शक्ति है। यह जल अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र है। यही कारण है कि इसके पीनेसे और स्नानसे मनुष्योंके विविध-रोग नष्ट हो जाते हैं। पाश्चात्य-वैज्ञानिकोंसे अतिरिक्त आयुर्वेद-विद्वानोंका भी यह मत है कि सब प्रकारके रोगोंमें गंगाजलका सेवन अतिलाभकारी है, क्योंकि गंगाजलमें कठिनसे भी कठिन रोगोंके हरण करनेमें विलक्षण-क्षमता है। एक रोगी जो क्षय और श्वाससे युक्त था;

दवाइयोंसे निराश होकर हरिद्वारमें आगया। उसने सब दवाइयाँ छोड़-छाड़कर गङ्गाजलका ही दैनिक पान शुरू किया; तथा समय-समय पर उससे स्नान किया; जिससे वह सवा दो महीनेमें ही स्वस्थ होगया।

यह जानकर कई हैरान अवश्य होंगे; परन्तु ऐसा एक नहीं; इसमें बहुतसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे गंगाजलकी कौतूहल-पूर्ण शक्तिका परिचय मिलता है। इससे उसकी पवित्रताका अनुमान भी हो जाता है। जिस वस्तुको शास्त्रीय-संसारमें पवित्र माना जाता है, उसके परीक्षणसे पता लगेगा कि-उसपर कीटाणुओंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गंगाजलके विषयमें फ्रान्सके एक वैज्ञानिक डा० डेरेलने वैज्ञानिक-प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि गंगाजलमें विसूचिका (हैज़ा), अतिसार, संग्रहणी, क्षय आदि रोगोंकेलिए गंगाजल अत्युत्तम ओषधि है। उसने गंगाजलके कीटाणुओंकी सहायतासे एक अद्भुत-ओषधि भी तैयार की है, जिसका नाम उसने 'वैक्टीरियो फैज़' यह रखा है, जिसका आजकल इन्हीं रोगोंकी चिकित्सामें प्रयोग किया जाता है।

डाक्टर रिचर्डसनने तो इससे भी अधिक आश्चर्यमयी बात लिखी है कि—'गंगा-गंगा कहने और दर्शनमात्रसे भी मानव-हृदय पर उत्तम प्रभाव पड़ता है।' यह ठीक भी मालूम होता है; क्योंकि-'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः १६।३०) श्रद्धासे भी तद्भाव प्राप्त हो जाता है। दर्शनसे उसके अणु हमारे अन्दर पहुँचकर भी अपना प्रभाव करेंगे ही। गंगाजलकी पवित्रता वा उपयोगिता केवल

धार्मिक-दृष्टिसे ही नहीं; अपितु आधुनिक-चिकित्साशास्त्रकी दृष्टिसे भी उसका मनन अनिवार्य है, जिसके प्रमाणस्वरूप 'गुडहैल्थ' नामक अंग्रेजी-पत्रमें मिस्टर सी० ई० नैल्सनका लेख है। अंग्रेजी 'स्टेट्समैन' नामक प्रसिद्ध पत्रमें तथा 'लीडर' पत्रमें भी वह प्रकाशित हुआ था कि—गंगाजलकी पवित्रता सर्वमान्य है। इसके जलमें हैजा तथा फोड़े आदिके नाशनमें अपूर्व शक्ति है। श्री-रोशनलाल वैरिस्टरने लिखा था कि–हमारे सामने एक अमेरिकाके डाक्टरने काशीकी गन्दी नालीसे दो-तीन बूँद गन्दा पानी निकाला, जिसमें हैजेके सैंकड़ों जर्म्स थे। उस पानीको गंगाजलमें डालकर देखा कि–वे समस्त जर्म्स मर गये। अर्थात् गंगाजलके एक-एक परमाणुने मलके हजारों परमाणुओंको खाकर तत्काल ही शुद्ध कर दिया। प्रयागके एक डाक्टर करोलीने लिखा था कि–मेरी खाँसी और दमाकी पुरानी व्याधि इसी गङ्गाजलके प्रतापसे नष्ट होगई।

संसारकी और नदियोंको छोड़कर केवल गङ्गा नदीका ही जल सभी रोगोंमें दवाके तौर पर देनेका उल्लेख आयुर्वेदमें क्यों है? इसका उत्तर अविश्वासियोंको पहले ठीक-ठीक प्राप्त नहीं हो सका था। यह देखा गया था कि यदि तांबेके पात्रमें गङ्गा-जल बन्द करके रख दिया जाय; तो वर्षों पड़े रहनेपर भी इसमें कोई विकार नहीं आता; और नहीं सूखता; और किसी जलमें यह गुण नहीं दीख पड़ता। ऐसी गङ्गाजलकी विशेषता अविश्वासियोंके अनुभवमें भी आई थी; वे सोचते थे—ऐसा क्यों है? पहले वे सोचा करते थे कि सनातनधर्मियोंका गङ्गाजलके गीत गाना अन्ध-

विश्वासियोंका ठगनामात्र है। पर क्रमशः उन्हें स्वयं तथा दूसरोंसे भी उसकी विशेषता प्रतीत होती गई; तब उनका उसपर उपहास करना तो बन्द हो गया।

उन्होंने देखा कि कलकत्तासे इङ्गलैंड जानेवाले जहाज जो जल गङ्गाके एक मुहाने हुगली-नदीका लेते हैं; वह लण्डन पहुँचने तक ज्यों का त्यों बना रहकर काम देता है; पर जो जहाज लण्डन से पानी लेकर चलते हैं; वह बम्बई पहुँचनेके समय तक ताज़ा नहीं रहता, पीने योग्य नहीं रहता, बदल देना पड़ता है। विज्ञानको अभी तक इसका कारण मालूम करनेमें सफलता नहीं मिली; पर इतना उन्हें अनुमान होगया कि—गङ्गा-नदी पवित्र है— ऐसा जो प्राचीन हिन्दु मानते हैं; यह बात निर्मूल नहीं है।

काशीके प्रत्येक यात्रीका यह अनुभव है कि—घाटपरका गंगाजल इतना गन्दा रहता है कि—उसे पवित्र मानना तो दूर, कोई स्वच्छता-पसन्द नई-रोशनीका जीव उसे छूना भी पसन्द नहीं करेगा। सारे शहरके पनाले तो उसमें गिराये ही जाते हैं; अधजले-मुर्दे भी उसमें बहा दिये जाते हैं; फिर भी वहां कोई अनिष्ट होते नहीं दीख पड़ता; जब कि मद्रास कारपोरेशनमें कुछ ही दिन पहले साफ किये हुए जलमें अस्वच्छ जल मिलाकर पीनेके लिए देने पर सारे नगरका स्वास्थ्य खराब हो गया था। वर्षके सभी दिनोंमें गंगामें नहानेपर शरीरमें ताज़गी मालूम पड़ती है। पर अन्य नदियोंमें कुछ खास-खास समय पर, विशेषकर वर्षा-ऋतुका अन्त होनेपर ही यह ताजगी देखने आती है, आखिर

उसका कारण क्या है ?

इसका उत्तर यह है कि—किसी तरल-पदार्थमें बिजली पहुँचाने पर उसमें कुछ परिवर्तन होते हैं। बिजलीकी ऊँचे वोल-टेजवाली स्पार्क जलमें पहुँचनेपर जल सारा ही परिवर्तित हो जाता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि—जलके अणुओंपर ओषजनका जो आवरण होता है, वह ध्वस्त हो जाता है, और फिर उनमें विद्युत्को ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रह जाती। अच्छा विद्युद्-वाहक होनेके कारण जलमें विद्युत्की शक्ति प्रति-सैकेंड लाखों मील हुआ करती है। अणुओंमें इसी गतिके अनुसार परिवर्तन भी होता है। विद्युत्-स्पार्क पहुँचानेके बाद जलके स्वादमें भी परिवर्तन हो जाता है।

विद्युत्-संचारके कारण जलमें रहनेवाले संक्रामक-रोगोंके कीटाणु भी मर जाते हैं। अगर उस जलके वितरणस्थलपर ही उसका प्रयोग किया जाए; तो जलसे उत्पन्न होनेवाले बहुतसे रोगोंसे नागरिकोंका पिंड छूट जाए। जलको शुद्ध करनेकेलिए किये जानेवाले बहुतसे खर्चीले और कष्टसाध्य उपाय बच जाएं।

विद्युत्-संचार किया हुआ जल जब शरीरके कोषोंके संपर्कमें आता है; तो उन कोषोंकी शक्ति बहुत बढ़ जाती हैं जिससे स्वास्थ्य अत्युत्तम हो जाता है। ऐसे जलको खेतमें सींचनेसे पैदावारमें पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। किसी पौधेमें कीड़े पड़ गये हों; तो उक्त जलके सींचनेसे वे तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। यदि ऐसे जलको नियमतः सेवन किया जाए; तो रुधिर निर्मल हो

जाता है, और शरीरमें नवजीवनका संचार हो जाता है।

जलमें ऊंचे बोल्टेज़वाली स्पार्क पहुँचानेपर उसमेंका विषैला अंश तो प्रायः दूर हो ही जाता है। उसकी शुद्धता भी बढ़ जाती है, और वह कीटाणुनाशक हो जाता है। न्यूयार्कके डाक्टर हनोका तो लोशन की जगह ज़ख्म आदि पर इसका प्रयोग करते हैं। हैज़ेके रोगी इस जलका प्रयोग करनेपर तत्क्षण स्वस्थ हो जाते हैं, क्योंकि—इससे हैज़ेके कीटाणु मर जाते हैं। इसके प्रयोगसे फैले हुए हैज़ेको शीघ्र ही रोका जा सकता है। गरीब देशकालमें इसका उपयोग करना चाहिए, इसमें कुछ भी खर्च नहीं पड़ता। विदेशी-दवाओंके पीछे जो बड़ी रकम खर्च हुआ करती है, उसमें इससे कमी हो जायगी।

गङ्गाजलमें भी यही बात लागू होती है। गङ्गाका उद्गम संसारके सबसे ऊंचे पहाड़ हिमालयमें है, जहाँ सालभर बिजली बनी रहती है; अतः इस जलमें बिजलीका संचार बराबर होता रहता है। गङ्गा गङ्गोत्तरीसे निकलकर मन्दाकिनी, पद्मा, अलकनन्दा आदि अपनी सहयोगिनी नदियोंको लेकर कई प्रकार की शिलाजीत आदि ओषधियोंमें बहती हुई, और उनके गुणोंको लेती हुई केदारनाथ, देवप्रयाग, लक्ष्मणझूला, हृषीकेश आदिके बीचसे जाती हुई हरद्वार की समतल भूमिमें प्रवेश करती है। इस स्थान तक इसमें बहुत गुण रहते हैं। जो हड्डियां डालनेके कारण गङ्गामें गुण मानते हैं; वे भ्रान्त हैं; उनका केवल घृणा दिलानेमें विचार रहता है, इसके गुण जानकर ही इसकी स्वर्गदातृताका विचार

करके, इसमें मृतकोंकी सद्गतिका विचार करके उनकी अस्थियां डाली जाने लगीं। इससे उनसे पूर्व भी गङ्गाके यह गुण थे, और हमारे पूर्वजोंको ज्ञात थे। इसी उपयोगिताके कारण ऋषि-मुनियों, एवं प्राच्य-ग्रन्थकारोंका इसकी अतिशयित स्तुति करना उचित ही है।

शरद्-ऋतुके दिनोंमें गंगाजल और भी निर्मल एवं विशुद्ध हो जाता है; क्योंकि दिनमें सूर्यकी प्रभासे यह तप्त रहता है और रात्रिमें चाँदनीसे शीतल; और इस ऋतुका भी इसपर विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही जलको लोग अमृतके समान मानते हैं, और यही कारण है कि—कार्तिकमें गंगास्नानका विशेष-माहात्म्य माना गया है। पहाड़ोंसे होकर बहनेके कारण चुम्बकीय पदार्थोंका इसपर प्रभाव पड़नेसे गंगाजल क्षय, संग्रहणी आदि असाध्य रोगोंको दूर कर सकता है।

यदि गंगाजलमें ऐसी रोगनिवारिणी दिव्य शक्ति न होती; तो कौन इस जलको महत्त्वपूर्ण मानता ? इसी कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य और 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' सात्त्विकता और बुद्धि-शुद्धि भी करनेके कारण इसे यदि स्वर्गदाता कहा गया है; सद्-गतिकारक कहा गया है; तो इसमें आश्चर्यका क्या अवकाश ? सूर्य-संशोधित आकाशगंगासे भी इसका सम्बन्ध सम्भव है; क्योंकि वृष्टि करने वाला सूर्य होता है। हिमालय बहुत ऊँचा पर्वत है, ऊँचे पर्वत पर वृष्टि बहुत होती है; सम्भव है कि—वह आकाशगंगा वाली वृष्टि होती हो; और वही हिमालयसे गंगा

रूपमें आती हो। फिर यह गंगा पातालमें भी जाती हो। महादेवके सिरसे गंगाके तीन छींटे करके आकाश, पृथिवी, पातालकी तीन गंगा बनना जो पुराणोंमें वर्णित है—वह इसी रहस्यको संकेतित करता है। अस्तु।

इतने ऋषि-मुनि, वैद्य, डाक्टर, वैज्ञानिक, देशी-विदेशी, विद्वान् जो कि गंगाजलकी लेखोंद्वारा, पुस्तकोंद्वारा, भाषणोंद्वारा अतिशयित स्तुति कर चुके तथा करते हैं—वह इसकी विशेषताको व्यक्त कर रहा है। धार्मिक दृष्टिमें तो गंगा पापहारिणी, पवित्र, पारलौकिक फल देने वाली है ही। इसीकेलिए प्रसिद्ध है—'गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्। त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्' 'शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे। औषधं जाह्नवी-तोयं वैद्यो नारायणो हरिः।' यदि गंगाजलमें कोई विशेषता न होती, तो लोग प्रयास करके अपने धन और समयको व्यर्थ न करते। 'नह्यमूला जनश्रुतिः' यह कहावत प्रसिद्ध है। गुण ही पूजाके स्थान होते हैं। तब यदि सनातनधर्मी-हिन्दु गंगाको पूजते हैं, उसे पवित्र मानते हैं; तो उन पर उपहास करना अपना अज्ञान प्रकाशित करना है।

(४३) पीपल-वृक्षकी पूजाका विज्ञान।

देवमन्दिरोंमें पीपलका वृक्ष भी देखा जाता है; उसकी जल-प्रदानद्वारा पूजा भी की जाती है। अर्वाचीन लोग उस पर पोप-लीलाका कटाक्ष करते हैं। वे कहते हैं कि—यह जड़पूजा है। पर यह ठीक नहीं; वृक्ष जीवित हैं—जड़ नहीं; इस विषय पर अग्रिम

निवन्ध द्रष्टव्य है।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें पीपलकी महिमा बहुत दिखलाई गई है। भगवान् श्रीकृष्ण 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (१०।२६) यह कह कर उन्हें अपनी विभूति मान गये हैं। हमारी नारियाँ भी पीपलपर जल चढ़ाती हैं। यह पोपलीला नहीं। यहाँ भी वैज्ञानिक-रहस्यपूर्णता है। पीपल स्त्रियोंके गर्भके आधानमें सहायता देता है। पाश्चात्य शिक्षादीक्षित भारतीय भले ही विश्वास न करें, पर हमारे धर्मकृत्य विज्ञान-पूर्ण हैं।

पीपलकी छाया भी स्वास्थ्य-वर्धक है। शास्त्रोंमें स्त्रियोंकेलिए पीपलकी सेवा, उसकी परिक्रमा, उस पर जल चढ़ाना, उसके नीचे बैठकर धार्मिक-वातोंकी चर्चा यह प्रतारणमात्र नहीं है, किन्तु वैज्ञानिक है। पीपलमें सन्तानोत्पादनकी बड़ी शक्ति है। वैशाख-ज्येष्ठ मासमें जब इस पर फल लगता है, तब गोरैया पक्षी (चिड़ियां) उस फल को खाते हैं। उन फलोंमें रासायनिक शक्ति होती है। इसलिए आयुर्वेदमें उसका चूर्ण पौष्टिक माना गया है। पीपलकी जटामें वन्ध्यात्वनाशक विशेष-गुण होता है। पीपल-वृक्षके पात्रमें प्रतिदिन दूध पीनेसे गन्धकके पात्रकी भांति विना ही टानिक-दवाई पिये पुष्टि होती है।

पीपलसे मिले हुए घरमें रहना निषिद्ध है, क्योंकि चूल्हा जलानेसे उस वृक्षकी शाखाएँ तप जाती हैं; उससे एक प्रकारका विषाक्त वायु निकलता है, जिससे सैंकड़ों-मनुष्योंको हानि होती है। इसलिए हिन्दुधर्ममें पीपलको जल देना धर्ममें रखा गया है

कि—वह सदा शीतल रहे। निरन्तर पीपलकी पूजा करनेसे पुत्रोत्पत्ति होती है—यह हिन्दु-महिलाओंका विश्वास है। इसमें सत्यता है, असत्यता नहीं। आयुर्वेदिक दृष्टि द्वारा वेदमन्त्रोंको देखने पर प्रतीत होता है कि पीपलमें वन्ध्यात्व हटाने तथा पुत्रोत्पादनकी दिव्य-शक्ति है। पीपलके फल सेवन करनेसे वन्ध्याको भी पुत्र होता है। पीपलकी लकड़ीसे बने पात्रमें दूध पीने वाली स्त्रीको सन्तान मिलती है। तभी इसे पुत्रदाता कहते हैं। अथर्ववेदसंहिताके 'अश्वत्थो देवसदनः' (५।४।१) इस मन्त्रमें अश्वत्थ (पीपल)को देवमन्दिर कहा गया है; अतः उसकी पूजासे देवपूजा भी सिद्ध हुई। इस प्रकार यजुर्वेदसंहितामें 'अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता' (१२।७९) पीपल और पर्ण (पलाश) वृक्षमें सब ओषधियोंकी स्थिति बतानेसे यह वृक्ष अत्यन्त गुणकारी सिद्ध हुआ। पीपलसे उत्पन्न लाखके सेवन करनेसे टूटी हुई अस्थिका सन्धान होता है। अश्वत्थका उपयोग वमनकेलिए भी गुणकारी है। उर-क्षत रोगमें भी यह लाभ पहुँचाता है। पीपलमें जितनी जीवनी शक्ति है; उतनी अन्य वृक्षोंमें नहीं। इसमें यही उदाहरण पर्याप्त है कि—इसके रोपणकी आवश्यकता नहीं पड़ती। उसमें जलकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती, न मिट्टी की। प्रत्युत पत्थर और लकड़ीतकमें भी यह पैदा हो जाता है। इसीसे इसकी जीवनी शक्तिका अनुमान कर लेना चाहिये। एतदादि विशिष्ट-शक्तियोंके कारण ही श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीतामें पीपलको भगवान्का स्वरूप कहा है।

(४४) वृक्षोंकी चेतनता।

पुरुषका ज्ञान कितना अधूरा है, फिर भी अपने पूर्वज ऋषि-मुनियोंसे बनाये शास्त्रोंपर वह अविश्वास करता है, और उनके खण्डनार्थ अनर्गल चेष्टा करता रहता है—वह विचार कर हमें अपने समाजपर बहुत हँसी आती है। हम सैंकड़ों वस्तुओंका प्रयोग करते हैं, दिन-रात उनके साथ रहते हैं; परन्तु हमें उनके जीवनके अस्तित्वके विषयमें ज्ञान न स्वयं होता हैं, और न प्राचीन अपने पूर्वजोंसे की हुई गवेषणाको ही हम स्वीकृत करते हैं। शतशः चञ्चल युवक-युवतियाँ किसी विकसित पुष्पको देखकर उसके तोड़नेका उद्योग करते हैं। वह उन्हें सुन्दर दीखता है। उसे वे अपने पास रखना चाहते हैं; किन्तु वे नहीं जानते कि—वह पुष्प भी अपनी माँका एकमात्र अपत्य है। उसके वियोगसे उस लताको भी वैसा दुःख होगा जैसा आपकी माताको आपके वियोगमें। हां, उन्हें विकसित करनेके सहायक देवताको उसे उपहृत किया जा सकता है; उसका प्रसाद हम भी ले सकते हैं।

सनातनधर्मियों-द्वारा की जाती हुई वृक्षोंकी पूजा देखकर यूरोप के विचारोंके दास कई भारतीय उनपर हँसते थे कि—एँ! यह जड़-पूजक हैं? क्योंकि—यूरोप भी पहले वृक्षोंको जीवित नहीं मानता था। आज भी अधिक समय नहीं बीता कि—यूरोपनिवासी विचारते रहते थे कि—वृक्षोंमें भी सुख-दुःखके अनुभवकी शक्ति है या नहीं? हम प्रतिदिन देखते हैं, सुनते हैं कि—सूर्यके उदयमें कमल विकसित होता है, और सूर्यास्त होनेपर बन्द होता

है। कुमुद चन्द्रमाके उदयमें खिलता है; अस्त होनेपर मुद्रित होता है। सूर्यमुखी-फूल सूर्यके सामने रहता है। अधिक-गर्मीमें शीतल-देशके वृक्ष म्लान हो जाते हैं, बहुत सर्दीमें उष्णदेशके वनस्पति जड़ हो जाते हैं। प्रायः नीमका वृक्ष रोता हुआ दीखता है। लाजवन्ती बूटी अंगुलि लगानेसे ही सकुचती हुई देखी गई है। शिरीषका सोना महाभाष्यकारने (३।१।७) सूत्रके भाष्यमें लिखा है। फिर भी लोगोंको विश्वास नहीं होता था कि—वृक्ष चेतन हैं। बल्कि आर्यसमाजके श्रीकृपाराम शर्मा (स्वा० दर्शनानन्द) वृक्षोंको अचेतन ही सिद्ध किया करते थे।

एक आर्यसमाजीने हमें एक अपनी कविता सुनाई थी जिसका आशय यह था कि 'जब इतना अज्ञान और पाप-पाखण्ड फैला था कि—लोग जड़ वृक्षों पर भी खोया-रबड़ी आदि चढ़ाया करते थे, तब स्वा० दयानन्दजीका जन्म हुआ; उन्होंने यह अज्ञान हटवा दिया।' हमने कहा कि—'वृक्ष तो चेतन माने जाते हैं; उन पर तो कुछ ग्रास आदि चढ़ाया जाया करे—यह ठीक ही है पर स्वा० दयानन्दजी तो जड़ ऊखल-मूसलको भी भोग लगवा गये; उस पर ग्रास रखवाते थे, और 'वनस्पतिभ्यो नमः' कहकर उन्हें वृक्षोंका प्रतिनिधि मानते थे; पटेले पर भी घी, दूध, शक्कर चढ़वाते थे कि—यह पटेला हमें अन्न देने वाला है। तब वे वृक्षोंकी पूजा तो स्वयं प्रचलित करवा गये; तो उन्होंने भी क्या वही अज्ञान फैलाया ? यह सुनकर वह नव-कवि चुप्पी लगा गया।

शास्त्रोंमें वृक्षोंकी चेतनताका शतशः-स्थानोंमें स्पष्ट वर्णन आया

है। जैसे कि—महाभारत शान्तिपर्वमें—'जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते' (१८४।१७) यहाँ वृक्षोंकी चेतनता स्पष्ट कही गई है। तब विशेष-वृक्षोंकी पूजा जड़पूजा कहाँ हुई? मनुस्मृतिमें तो इससे भी स्पष्ट कहा है—'तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः' (१।४६) 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' (मनु० १२।६) इन दो पद्योंमें वृक्षोंकी योनि पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण मानी गई है, और इन्हें जीवित, एवं सुख-दुःखका अनुभव करने वाला माना गया है।

इस विषयमें मनुस्मृतिके अन्य पद्य भी हैं। देखिये—'स्थावराः कृमिकीटाश्च⋯जघन्या तामसी गतिः' (१२।४२) 'तृणगुल्मलतानां च शतशो गुरुतल्पगः [योनिं प्राप्नोति] (१२।५८) 'स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्' (११।२४०) यहाँ सर्वत्र स्थावरोंको भी एक योनि माना गया है। एक प्रश्न यह है कि—यह तामस योनि बताई गई है; इनकी पूजा कैसी? इस पर यह जानना चाहिए कि—मनुस्मृतिके १२।४२ पद्यके अनुसार सर्प भी तामस-योनि माने गये हैं; फिर भी उनकी वेदमें 'ये वाऽवटेषु शेरते, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' (यजुः १३।७) इस मन्त्रमें पूजा बताई गई है। नागपञ्चमी तो प्रसिद्ध है ही। 'रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः' (१२।४४) यहाँ मनुजीके कथनानुसार राक्षस-पिशाच आदियोंको तामस माना गया है। फिर भी उनकी पूजा आयुर्वेदमें सुश्रुतसंहिताके उत्तरतन्त्र ६० अध्यायमें कही गई है। अस्तु। यह भिन्न विषय है।

अब प्रकरण पर आइये। सांख्यदर्शन विज्ञानभिक्षुके भाष्यमें

कहा है—'न बाह्यज्ञानं यन्नास्ति, तदेव शरीरम् इति नियमः, किन्तु वृक्षादीनाम् अन्तःसंज्ञानमपि भोक्तृभोगायतनत्वं शरीरं मन्तव्यम्। यतः पूर्ववद् यो भोक्त्रधिष्ठानं विना मनुष्यादि-शरीरस्य पूतीभावः, तद्वदेव वृक्षादिशरीरेष्वपि शुष्कतादिकमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अस्य यदेकाᳯशाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति; सर्वं जहाति, सर्वः शुष्यति' इति छान्दो० [६।११।२], (५।१२२) 'स्मृतेश्च'—'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' मनु० (१२।६) इत्यादि-स्मृतेरपि वृक्षादिषु भोक्तृभोगायतनत्वमिति' (५।१२४) यहाँ श्री-विज्ञानभिक्षुने छान्दोग्यकी श्रुति तथा मनुस्मृतिका वचन देकर समयपर वृक्षादिका सूखना दिखलाकर वृक्षमें भी जीव दिखलाकर उसका भी शरीर माना है। उक्त छान्दोग्य-श्रुतिपर श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीने भाष्य किया है—'वृक्षस्य रस-स्रवणशोषणादिलिंगाद् जीवत्वम्। दृष्टान्त-श्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति' यहाँ भी वृक्षोंकी चेतनता मानी है।

श्रीमद्भागवतपुराणमें भी यही कहा है—'वनस्पत्योषधिलताः त्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः। उत्स्रोतसः तमः-प्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः' (३।१०।१६) यहाँ 'तमः-प्रायाः'का अर्थ श्रीधरस्वामीने किया है—'अव्यक्तचैतन्याः' अर्थात् वृक्ष आदिकी चेतनता है तो सही; पर बाहर अप्रकट है। इस प्रकार वैशेषिकदर्शनके उपस्कारमें भी कहा है—'वृक्षादयोपि शरीरभेदा एव; भोगाधिष्ठानत्वात्। न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेण जीवन-मरण-प्रजागरणभेषजप्रयोग-बीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादयः सम्भवन्ति।

वृद्धि-क्षतभग्नसंरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव। आगमोऽप्यस्मिन्- 'नर्मदातीरसम्भूताः सरलार्जुनपादपाः। नर्मदातोय-संस्पर्शात् ते यान्ति परमां गतिम्' इत्यादि। 'श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोप-सेवितः' इत्यादिश्च (४।२।५) यहाँ पर वृक्षोंका बढ़ना, सूखना, क्षतवृक्षके अंगोंकी पूर्ति, वृक्षोंकी दवाई आदि यह प्रत्यक्ष बात, और विशेष-नदीके जलसे वृक्षोंकी परमगति, तथा अमुक-कर्मसे वृक्ष बनना दिखलाकर वृक्षको चेतन तथा कर्मबन्धनसे युक्त माना गया है।

इस प्रकार 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी'में 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' (१।४।५२) इस वार्तिकके 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' इस प्रत्युदा-हरणमें खेतमें बढ़ रहे हुए सस्य (धान्य)का खिलाना हिंसा माना है। हिंसा माननेसे उनकी चेतनता स्पष्ट बता दी गई। इससे पक चुके हुए अन्नका खाना अहिंसा सूचित की गई है; उसका चिह्न यह है कि-आगे वह नहीं बढ़ते; और सूख जाते हैं। टीकाओंमें 'आपोमयः प्राणः' इससे शस्यमें जलमय प्राण भी दिखलाया गया है। इस पर तत्त्वबोधिनीमें लिखा है—'क्षेत्रस्थानां यवानां भक्ष्य-माणानां हिंसा ज्ञेया, तस्यामवस्थायां तेषां चेतनत्वात्'। यही बात 'बालमनोरमा'में कही है—'सस्यस्य तदानीम् अन्तःप्रज्ञत्वात् तद्भक्षणं हिंसैव'। भाष्यकारने भी अहिंसार्थके प्रत्युदाहरणमें 'भक्षयति बलीवर्दान् यवान्' (१।४।३।५२) यह प्रत्युदाहरण दिया है। इस पर कैयटने स्पष्ट किया है—'क्षेत्रस्थानाम् अंकुराद्यवस्थायां यवानां भक्षणाद् हिंसा भवति। तदवस्थायां कैश्चित् चैतन्याभ्युपगमात्'

यहाँपर 'कैश्चित्' शब्द चिन्तनीय है, अर्थात् खेतके अंकुर रूपमें ठहरे हुओंको कई चेतन मानते हैं। फिर कैयटने दूसरोंके खेत खिलानेसे भी हिंसा दिखाई है; पर भाष्यकारको ऐसा इष्ट नहीं, अन्यथा वे 'परकीयान्' यह शब्द देते। इसीलिए श्रीनागेशभट्टने लिखा है—'अत्र आद्यमेव युक्तं, भाष्यस्वरसादित्याहुः' अर्थात् भाष्यकार खेतकी अवस्था वाले जीवोंको सर्वथा चेतन मानते हैं। ३७ कारिकाकी न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीमें भी वृक्षोंका शरीर मानकर उन्हें चेतन माना है, वहाँ आध्यात्मिक प्राणवायुका भग्नक्षत-संरोहणके अनुमानसे अस्तित्व माना है। अस्तु।

इस प्रकार हमारे आचार्योंने अनेक वैज्ञानिक ग्रन्थियाँ पूर्वसे ही सुलझा रखी हैं, किन्तु परप्रत्ययनेय-बुद्धि लोग हमारे शास्त्रोंको पोप-पाखण्डियोंसे बने हुए मानकर उनका अपमान करते हैं। यह समयकी गति है। गाँवोंमें आज भी प्राचीन स्त्रियाँ कच्चे फलोंका काटना और उन्हें भूनना हिंसा मानती हैं। रातके समय वृक्षका पत्ता तोड़नेमें भी वे पापकी शंका करती हैं। इन बातोंमें कितना तथ्य है—यह बात विज्ञानाचार्य श्रीजगदीशचन्द्र बोसने विज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष भी सिद्ध कर दी है।

जगदीशचन्द्र वसु-महोदय कैम्ब्रिज युनिवर्सिटीमें चार वर्ष पढ़कर विज्ञानकी सर्वोच्च-परीक्षा पास करके भारत वापिस आये। इन्होंने बहुतसे वैज्ञानिक लेख लिखे, जिनका रायलसोसायटी-द्वारा खूब सम्मान हुआ। इंगलैण्डके वैज्ञानिक-संसार पर भी उसका प्रभाव पड़ा। बहुत परिश्रमके बाद इन्होंने एक यन्त्र बनाया,

जिनसे वृक्षोंके सुख-दु:खका अनुभव प्रत्यक्ष होता था। पर यूरोपके वैज्ञानिकोंने इस पर विश्वास न किया; क्योंकि वे वृक्षोंको जड़ मानते थे। पर वसु-महोदयने सिद्ध किया कि–जैसे प्रिय और अप्रिय बातोंका मनुष्यके हृदयपर प्रभाव पड़ता है; वैसे वृक्षोंपर भी। जैसे विष मनुष्योंकेलिए घातक है; वैसे ही वृक्षोंकेलिए भी। इस यन्त्रका नाम 'रसोनेएट रिकार्डर' उन्होंने रखा। विदेशी वैज्ञानिक हैरान होते थे कि—ऐसा यन्त्र भारतमें कैसे बन सका?

१६२१ में उन्होंने 'क्रसकोग्राफ' यन्त्र बनाया। यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओंको दिखलाता था। १६२६ में एक यन्त्र बनाया, जिससे स्पष्ट दीखता था कि—वृक्ष प्रतिक्षण कैसे बढ़ रहे हैं? इस यन्त्रसे पता चलता था कि—कोई पुरुष वृक्षपर अपनी सांस भी डाले; तो वृक्ष की कितनी हानि होती है। फिर वसु-महोदयने वृक्ष तथा अन्य जीवोंकी स्नायुकक्रिया दिखलाई। एक मेंडकको पकड़कर उसकी कमरमें बिजलीकी तरङ्ग डाली, इससे उसका दाहना पांव हिल उठा; विपरीत-तरंग देनेमें बायां पाँव। यही क्रिया उन्होंने लाजवन्ती (शर्म-बूटी)के दो पत्तोंपर दिखलाई। इससे उन्होंने यह सिद्ध किया कि—जीवों और वृक्षोंका स्नायु-संघटन समान है।

वृक्षोंमें खादका रस कैसे पहुँचता है—इस सम्बन्धमें लोगोंका विचार था कि—पत्तोंका रस भाफ बनता है; और पत्ते उसे चूस लेते हैं; पर वसु-महाशयने उसे गलत बताया। मरे हुए-से पत्तेपर उन्होंने एक गहरा लेप किया, जिससे रस भाफ बनकर उड़ न

सके। उसमें एक उत्तेजक-रस-डालकर उन्होंने पत्तोंको हरा कर दिया। इसप्रकार सजीव पत्तेपर विष डालकर उसे मृत कर दिया। फिर जब उसपर उत्तेजक रस डाला; तो वह पत्ता फिर हरा हो गया।

फिर उन्होंने एक और क्रिया दिखलाई कि—जैसे प्राणियोंका हृदय स्पन्दित होता है, वैसे वृक्षोंका भी। इतना ही नहीं; बल्कि यह भी दिखलाया कि—जैसे दवाई देनेसे मनुष्यका लाभ होता है; वैसे वृक्षोंका भी। यह भी उन्होंने दिखलाया कि कई वृक्ष संजीवनी-शक्तिका संचार भी करते हैं। एक मेंडककी हृदयकी गति रुक गई। उसमें उक्त वृक्षके रसके इन्जैक्शनसे वह फिर जी उठा।

उनमें अपने इस आविष्कारपर पूर्ण विश्वास भी था। एक बार वे पैरिसमें विज्ञान-परिषद्के आगे अपना प्रयोग दिखा रहे थे कि—भयंकर 'पोटेशियम-सायनाइड्' नामक विष वृक्षको भी वैसे मार डालेगा, जैसे मनुष्योंको। उक्त विष वहांके एक रासायनिक-द्रव्य-विक्रेतासे मंगाया गया। उसने एक भारतीयके अपमानकेलिए वैसे रंग वाली खाँड दे दी। जब उन्होंने वह श्वेत चूर्ण पौधे पर डाला, तब उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वैज्ञानिक लोग व्यंग्यपूर्ण-हँसी-हँसने लगे। पर इससे श्रीवसु विचलित नहीं हुए। उन्होंने उस कल्पित-विषको खाते हुए कहा कि—यदि इस 'विष'का प्रभाव इस पौधेपर नहीं पड़ा; तो मुझपर भी नहीं पड़ेगा। उन्होंने उसे बिना सोचे-विचारे फाँक लिया। उन्हें कुछ भी नहीं हुआ। तब उन्होंने

कहा कि—एक भारतीयके अपमानकेलिए ऐसा किया गया है। तब असली विष मंगाकर उन्होंने उसके इन्जैक्शनसे वृक्षको 'मृत' कर दिया, फिर संजीवन-रसके इन्जैक्शनसे उसे फिरसे 'जीवित' कर दिया।

आज लोग पूछते हैं कि-वसु-महोदयके इतने जटिल-परिश्रम से प्रसूत इस आविष्कारका क्या लाभ मिला? इस पर जानना चाहिये कि-जो लोग पहले वृक्षोंको जड़ मानते थे, उनके मुंह पर थप्पड़ लगा—एक तो इसका यह लाभ हुआ। हमारे पूर्वजोंकी भी विज्ञानमें अबाध-गति थी—यह जतलाना-यह दूसरा लाभ हुआ। जो वृक्षोंको जड़ मानकर उनके पूजकों पर उपहास करते थे; उनकी चुप्पी—यह तीसरा लाभ है। शेष लाभ आगे होंगे। माताके गर्भसे पैदा हुआ बच्चा पण्डित नहीं बन जाता। जब पहले-पहले रेलवे-इञ्जन बना था; तो लोग कहते थे कि यह पटरी परसे गिरेगा—बहुत सी हानियाँ पहुँचावेगा; पर अब उस रेलगाड़ीके लाभ प्रत्यक्ष हैं।

कई लोग यह मानते हैं कि-इस आविष्कारसे भविष्यमें कृषिमें बहुत बड़ी सहायता मिलनेकी आशा है। जो लोग यज्ञोंमें पशु-हिंसा देखकर उससे घृणा करते थे, उसमें बलात् वृक्षों वा ओषधियोंका अर्थ करते थे, उन्हें उचित है कि वृक्षके पत्ते एवं पुष्प आदिका उपयोग करके भी हिंसक न बनें। इसलिए महाभारत में कहा है—'नहि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिद् अहिंसया। सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः। विना वधं न कुर्वन्ति

तापसाः प्राणयापनम्' (१५।२४) उदके वहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च। न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्' (२५) भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीन् अण्डजान् पशून्। मनुष्यास्तन्वते यज्ञान् ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च। (१५।२८)।

पर देवकार्य-हवन एवं देव-मूर्तिपूजाकेलिए वृक्षादियोंका उपयोग तथा जन्मान्तरमें उनकी सद्गति शास्त्रकार भी मानते हैं। जैसे कि मनुजीने कहा है—'ओषध्यः पशवो वृक्षाः''यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः (जात्युत्कर्षं) पुनः' (५।४०) यहाँ ओषधि तथा वृक्षोंका यज्ञार्थ निधन (मारना) कहकर, उनका अन्य जन्म उत्तम बताकर वृक्षोंको चेतन सिद्ध कर दिया है; तब उनकी पूजा जड़पूजा सिद्ध न होकर चेतन-पूजा सिद्ध हुई; और देव-पूजनकेलिए उनका उपयोग करके फिर उनके भागोंका अपने उपयोगमें लाना भी पाप सिद्ध न हुआ। हाँ, बाहरी दृष्टिसे यह भी हिंसा ही है; पर मनुष्य स्वार्थी है। यह जैसे अपनी रक्षार्थ कीटाणुओंकी हिंसा करता है, मनुष्य-भक्षक शेर-बाघ आदिको मरवाता है; खेतमें हानि पहुँचानेवाले जीवोंको मरवाता है। घरमें तकलीफ देनेवाले दीमक, जूँ आदिकी हिंसा करके भी अपने-आप को पापी नहीं समझता; वैसे इधर भी समझ लेना चाहिये। पर इससे हम हिंसावाले यज्ञोंका समर्थन नहीं कर रहे; वे तो कलियुग में वर्जित हैं; हम क्यों उन्हें करनेकेलिए प्रोत्साहन देंगे? पर यह कहते हैं कि—शास्त्रोंमें जो ऐसे वर्णन आते हैं, उसमें ऋषि-मुनियोंका अपमान नहीं करना चाहिये; वस्तुस्थिति समझनी

चाहिये। फलतः पीपल आदि वृक्षोंका पूजन शास्त्रीय वा लौकिक दोनों दृष्टिकोणोंसे साधार ही है, निराधार नहीं।

(४५) पञ्चगव्य-गोमयगोमूत्र।

चरणामृतमें पञ्चामृतका उपयोग श्रीसत्यनारायणव्रतकथामें प्रसिद्ध है। उसमें दूध, दही, माखन, मधु, और खाँड इनका उपयोग होता है। लोग इस चरणामृतको प्रेमसे पीते हैं; पर अपनी शुद्धि-विशेषमें पञ्चगव्यका पान भी आया है; उसमें मधु और खाँडकी जगह गोमूत्र तथा गोमयका उपयोग होता है। कई लोग इससे घबड़ाते हैं; वा नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। इस अवसर पर वे हैदराबाद दक्षिणके 'रिजवी' बन बैठते हैं कि-'ये हिन्दु गायका पेशाब पीते हैं, गायकी टट्टी खाते हैं'। पर उन्हें यह याद रखना चाहिए कि सब वस्तुएं सर्वत्र समान नहीं होतीं।

हिन्दु-जातिमें गोमय एवं गोमूत्रका विशेष उपयोग होता है। कोई व्रत, वा प्रायश्चित्त, वा शुद्धि उसके बिना पूर्ण नहीं होती। प्रसूता हुई स्त्रीकी शुद्ध्यर्थ भी इसका प्रयोग होता है। उपाकर्म वाले दिन भी पञ्चगव्यका उपयोग होता है। गाय इसीलिए तो सब प्राणियोंमें उत्तम मानी गई है कि-गायसे उत्पन्न सब वस्तुएँ पवित्र और पापशोधक हैं। उसका दूध मन और आत्माकेलिए विशेष उपयोगी है। इससे रोग दूर रहते हैं। उसकी दही हैज़ेमें, तथा टाइफाईड बुखारमें लाभदायक है। गायके घीसे बुद्धिकी वृद्धि, वीर्यकी वृद्धि, और आयुकी वृद्धि होती है। गायकी दहीकी छाछ विष, वमन, चर्बी, भगन्दर, प्रमेह, शूल, उदरके रोग,

पीलिया, अजीर्ण आदिकी दवाई है। इसके प्रयोगसे यौवन बहुत समय तक रहता है। इस प्रकार उसके माखनमें भी पुष्टि आदि बहुतसे गुण हैं; इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण बाल्यावस्थामें उसका बलात् छीनकर भी प्रयोग किया करते थे। बाल्यावस्थामें उसके उपयोगसे शरीर यौवनके बाद तक भी बड़ी-बड़ी वक्तृताएँ करने तथा ग्रन्थ-प्रणयनादिसे होनेवाले परिश्रमसे नहीं थकता; न ही उसका दिमाग बिगड़ता है।

गोबरसे जमीनको इसलिए लीपते हैं कि—बीमारी, विषदोष, कीटाणुका विकार तथा प्लेग आदि रोग नष्ट हो जावें। फिनाइलकी भांति इसमें भी दुर्गन्धनाशक शक्ति है। लीपनेसे न केवल वहाँकी भूमि; बल्कि वहाँकी वायु भी शुद्ध हो जाती है। इसका यही कारण है कि गोबर और गोमूत्रमें पोटास, सोडा, मैगनेशिया, शोरा, चूना, लोहभस्म, गन्धक, फासफोरस, एमोनिया आदि अनेक पदार्थोंके तत्त्व मिश्रित होते हैं; वे उड़कर वायुको शुद्ध करते हैं।

इन पदार्थोंमें 'पोटाश' विषहारक है, मलमूत्रको शुद्ध करता है, जठराग्निको प्रदीप्त करता है, उदर-रोग और शीत-ज्वरको दूर करता है। इस प्रकार सोडा अन्नको पचाता है, मलकी शुद्धि करता है, और कफके विकारोंको दूर करता है। मैगनेशिया वात, पित्त, अम्ल, प्रमेह और रक्त-दोषोंको दूर करता है। शरीरको निर्बलता से बचाता है; क्योंकि मैगनेशिया अबरकका मूल तत्त्व है। चूनेके गुण भी किसीसे छिपे हुए नहीं। जिन बच्चोंकी माता मर जाती है, अथवा जीती हुई भी थोड़े स्तन्य वाली है; उनको गायका दूध

दिया जाता है। उस दूधके गुरुत्व दूर करनेकेलिए, माताके दूधसे साम्यार्थ उसमें चूनेका पानी मिलाया जाता है। चूनेके पानीसे मिले हुए दूधके पीनेसे शिशुको अनपच-सम्बन्धी विरेचन (दस्त) आदि दोष नहीं होता।

गोबरमें लोहभस्म रहती है; वह वात, कफ, गुल्म, अर्श (बवासीर), उदर-रोग और रक्तदोषको दूर कर देता है। इस प्रकार गन्धक तथा वालुकाद्रव, फासफोरस, अमोनिया आदि पदार्थोंमें भी अनेक आश्चर्यकारक रोगनाशक दिव्यगुण भरे हुए हैं। गोमयके तत्त्वोंको पृथक्-पृथक् करनेपर यह पदार्थ यथायोग्य परिमाणमें प्राप्त हो सकते हैं।

गोबरमें अन्न-आदिके उत्पादनमें भी विशेष शक्ति होती है। इसीलिए पृथिवीमें उसका खाद दिया जाता है। गोबरको शरीरमें मलकर स्नान करनेसे खुजली हट जाती है। गोबरकी भस्म पात्रोंको पवित्र करती है, सर्दी हटाती है। इसलिए साधु लोग शरीरमें उसका विशेष लेप करते हैं शीतलाके व्रणमें गोबरकी भस्म लगाने से वह सूख जाता है। घीके साथ राख लगानेसे व्रणकी चिकित्सा हो जाती है। गेहूँमें गोबरकी भस्म डालकर रखनेसे घुण नहीं लगता। इस प्रकारके गुणों वाले गोबरका महत्त्व वर्णित नहीं किया जा सकता। इसीलिए सनातनधर्मके माङ्गलिक हवनादि कार्योंमें उसका उपयोग हुआ करता है।

गोमूत्रकी महिमा भी कम नहीं है। शारीरिक भयङ्करतम भी रोगोंको अकेले गोमूत्रका उपयोग भी दूर कर सकता है। गोमूत्र

उदर-रोगोंकेलिए तथा श्वास, प्रमेह, मधुमेह, अजीर्ण तथा जलोदर केलिए अव्यर्थ औषध है। कुष्ठरोग और हृदयरोग इसके पानसे दूर हो जाता है। गर्म किये हुए गोमूत्रको कानमें डालनेसे कानका बहना बन्द हो जाता है। गोमूत्रसे आँखोंके धोनेसे उनकी ज्योति बुढ़ापे तक ठीक रहती है। रघुवंशमें रघुकी नन्दिनी-गायके मूत्रसे दिव्यदृष्टिकी प्राप्ति प्रसिद्ध है ही। काली-गायके मूत्रको १५ दिन तक पीनेसे गलेमें सुन्दर स्वर उत्पन्न होता है। पेटके कीड़े गोमूत्रके पीनेसे मर जाते हैं। इसीलिए प्रसूता-स्त्रीको उसका पान कराया जाता है।

गोमूत्र वैद्योंकेलिए टानिक दवाई सिद्ध हो सकती है, यदि वे इसका उपयोग करें। इसीलिए हिन्दुओंके सभी व्रत-उपवास आदिमें गोबर-गोमूत्रसे मिला हुआ गौओंका दूध, घी और दही पञ्चगव्य-रूपमें प्रयुक्त होता है।

(४६) गोमूत्रमें गंगाका निवास।

सनातनधर्मी-संसारमें यह प्रसिद्ध है कि गोमूत्रमें गंगा रहा करती है—'गोमूत्रे विद्यते गंगा' उसमें आजकलके व्यक्ति विप्रतिपत्तियाँ उठाते हैं। उसमें रहस्य यह है कि—जब डा० हैकेन्सिनने गंगाजलकी परीक्षा की; तब उसे पता लगा कि—गंगाजल हैज़ाके कीटाणुओंको दूर करता है, और उदर-रोगोंको नष्ट करता है, और स्वास्थ्य बढ़ाता है—इत्यादि। गोमूत्रमें भी वे ही गुण दीखते हैं। वैद्य लोग ओषधि-रूपमें गोमूत्रको देकर विविध व्याधियोंको तथा उदरके रोगोंको दूर करते हैं; तब यह ठीक हुआ

कि—'गोमूत्रे विद्यते गंगा'। तभी तो पापोंके विविध-प्रायश्चित्तोंमें पाप दूर करनेकेलिए प्राचीन लोग गोमूत्र एवं गोबरका उपयोग करवाते थे, जैसे कि-मनुस्मृतिमें कृच्छ्रसान्तपनमें कहा है—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्' (११।२१२) इसमें पञ्चगव्यका उपयोग तथा उपवास पापशोधक कहा है। पापमें अशुद्धि पेटसें पहुँच जाती है। उपवास तथा पञ्चगव्यके उपयोगसे पेट खाली हो जानेसे वह पाप मलद्वार द्वारा निकलकर शुद्धि हो जाती हैं।

वैसे तो जहां पापका कारण पेट है, वहां रोगोंका कारण भी पेट है। गोमूत्रपानसे उदरकी स्वच्छता हो जानेके कारण वह रोग दूर हो जाता है, जिगर (यकृत्) के बढ़ जानेपर शक्तिके अनुसार पांच तोले तक गोमूत्रको लवण मिलाकर पीनेसे यकृत् साम्यावस्थामें आ जाता है। तिल्ली बढ़ जानेपर भी इसी गोमूत्रके देनेसे लाभ होता है। जिगर और तिल्लीकी वृद्धिमें ऊपर गोमूत्रका ताप भी लाभ-कारक है। ईंटको वा ढेलेको आगमें खूब तपाकर उसके ऊपर गोमूत्र डाल दीजिये। फिर गोमूत्रसे भीगे हुए कपड़ेमें उस ईंटके टुकड़े वा ढेलेको लपेटकर जिगर एवं तिल्लीके सेक करनेसे दो-तीन दिनोंमें जिगर तथा तिल्लीका बढ़ना हटकर समता आ जाएगी।

शरीर में खुजली हो; तो कड़वे-जीरेको गोमूत्रमें पीसकर लेपनसे खुजली हट जाती है। सफेद-कुष्ठ भी गोमूत्रसे हट जाता है। रातमें सोनेके समय 'बावची'को गोमूत्रमें पीसकर श्वेतकुष्ठमें

गाढ़-लेपसे, और प्रातः गोमूत्र-द्वारा धोनेसे श्वेतकुष्ठ दूर होना शुरू हो जाता है। परन्तु यह औषधि बहुत दिन तक करनी पड़ती है। पेट बढ़ जानेपर गोमूत्रसे ताप करना पड़ता है। जिगर और तिल्लीके बढ़नेसे यदि कोई उदर-व्याधि पैदा हो जावे; तो पुनर्नवाके काथमें आधा काथ गोमूत्र मिलाकर पीनेसे उदर-रोग हट जाता है।

जलोदर-रोगमें भी गोमूत्रका उपयोग सफलताप्रद सिद्ध होता है। उसमें आधा-सेर गोमूत्रमें मधु मिलाकर देनेसे और आधा सेर दूध देनेसे एक महीनेमें ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। फिर भी जब तक स्वास्थ्य न हो तब तक गोमूत्रका सेवन छोड़ना नहीं चाहिये। यदि ऐसा है, तो ऋषि-मुनियोंने प्रसूता-स्त्री आदिके लिए तथा मुसलमानादि अशुद्धोंका भोजन खा लेनेसे अशुद्ध हुओंकी अशुद्धिके दूरीकरणार्थ जो कि पञ्चगव्यका उपयोग शुद्ध्यर्थ बताया है, इससे उनका भीतरी मल दूर हो जावे; तो आश्चर्यकी कोई बात नहीं। तो जो कि बृहत्पराशरस्मृतिमें लिखा है कि—'प्रस्रावे (गोमूत्रे) जाह्नवीजलम्' (५।३८) 'गोमूत्रे विद्यते गंगा' इत्यादि; सो गंगाजलवाले सभी गुण होनेसे वह बात यथार्थ सिद्ध हुई।

(४७) गोबरमें लक्ष्मीका निवास।

महाभारतके अनुशासन-पर्वस्थ दानधर्मपर्वमें लक्ष्मीके प्रति गौओंका वाक्य प्रसिद्ध है—'अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि! शकृन्मूत्रे वस त्वं भो! पुण्यमेतद्धि नः शुभे' (८२।२४)

लक्ष्मीने कहा था—'दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः। एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदा' (८२।२५) इसमें यह बताया गया है कि—गौओंने कृपा करके लक्ष्मीको कहा था कि-तुम हमारे मूत्र, और गोबरमें रहो; इससे तुम्हारी चञ्चलता दूर होगी। सनातनधर्मके आचार-विचारोंमें यह विशेषता है कि—उनमें जहां अदृष्टफलकता हुआ करती है; वहां दृष्टफलकता भी होती है। अदृष्टरूपसे उसमें लक्ष्मीकी अभिमानिनी देवता निवास किया करती है, और दृष्टरूपमें उसमें लक्ष्मी भी निवास करती है।

इसमें तात्पर्य यह है कि—भूमिमें जब खेती होती रहती हो; उसमें भूमिकी उत्पादक-शक्ति क्रमशः क्षीण होती हुई नष्ट हो जाती है। यह बात अमेरिकाके वैज्ञानिकोंने अनुभूत की। तब उन्होंने भूमिकी उत्पादनशक्ति बढ़ानेकेलिए उसमें गोमूत्रसे सने हुए गोबर का खाद भूमिमें डाला। जब भूमिकी उत्पादनशक्ति बढ़ी; तो उसके कारण गेहूँ भी प्रचुरमात्रामें बढ़ी, इसलिए गेहूँको संस्कृतमें 'गोधूम' कहते हैं। इस प्रकार गोबरके ही खादसे रुईकी खेती बढ़ती है। गेहूँकी वृद्धिसे अन्नकी वृद्धि तथा रुईकी वृद्धिसे वस्त्रकी वृद्धि होने पर संसारकी अनिवार्य-आवश्यकताओंकी पूर्त्ति होजानेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति प्रत्यक्ष है। वह लक्ष्मी हमारी सदा स्थिर रहेगी। इस प्रकार 'गोमये विद्यते लक्ष्मीः' यह ठीक ही है।

गोबरके उपलोंके होनेपर हमें ईन्धन लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, उसकी भस्मसे ही पात्रोंकी शुद्धि होजानेसे हमें पात्र-शोधक यन्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार लक्ष्मीके

हमारे पास ही रहनेसे 'गोबरमें लक्ष्मीका निवास' यह कथन यथार्थ ही सिद्ध हुआ। पर आजकल हम ऐसा नहीं करते; उसके फल-स्वरूप हमारी लक्ष्मी भी खिंची हुई विदेशोंमें चली जा रही है। बूढ़ी वा अपाङ्ग गौ यदि दूध नहीं देती; तो गङ्गाजलरूपमें तथा ओषधिरूपमें हमें गोमूत्र तो देती है; इससे रोग दूर होजानेसे हमें विलायती-दवाइयां मंगाकर लक्ष्मीको विदेशमें भेजनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार वह लक्ष्मीरूप गोबरभी तो देती है। तब उस वृद्धाका पालना भी हमारेलिए भाररूप नहीं सिद्ध होता। वैसी गौओंको कसाईखानेमें भेजनेकी सम्मति देने वाले कृतघ्न लोग अंग्रेजोंके मानसिक-दास होनेसे भारतसे अपने धनको विलायतमें भेजनेके एजेण्ट बने हुए हैं—यह बात भारतीयों को कभी नहीं भूलनी चाहिए।

(४८) पूर्वदिशाकी ओर भोजनका विज्ञान।

हम यहां तक प्रातःकालके आचार प्रायः बता चुके। अब पाठक मध्याह्नमें भोजनकी तैयारी कर रहे हैं; अतः उस समयके आचार-विचारोंपर भी गम्भीर दृष्टि डालें।

पूर्वदिशासे प्राणशक्तिका अभ्युदय होता हैं। हमारा प्राणस्वरूप सूर्य पूर्वदिशासे ही उदित होता है। अतः उसकी दिशाकी ओर भोजन करनेसे भी हमारी प्राणशक्ति बढ़ेगी, और उससे आयु बढ़ेगी—यह स्वाभाविक है। डा. जार्ज कहते हैं कि—उत्तराभिमुख भोजन करनेसे विद्युत्का प्रवाह धमनियोंमें अत्यन्त वेगसे चलता है; अतः उत्तराभिमुख भोजन उतनी आयु नहीं देता, जितना कि

पूर्वमें। अतः 'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते' (२।५२) यह मनुस्मृतिका वचन ठीक सिद्ध हुआ।

(४६) हस्तपादादि-शुद्धिका विज्ञान।

भोजन करनेसे पूर्व हाथ-पांव आदिको सदा जलसे धो लेना चाहिए। उसमें कारण स्पष्ट है। हाथमें कभी मक्खी आदि बैठ गई; वा हमने कहीं हाथ अशुद्ध स्थानपर रखा; तो हाथमें विष वा अन्य अशुद्धि रह सकती है। वैसे भी किसी पवित्र-वस्तुको छूना हो; हस्तप्रक्षालन अवश्य कर लेना चाहिये। इससे हाथमें भीतरी ऊष्मा प्राप्त होजानेसे उसपर के अशुद्ध-परमाणु दग्ध हो जाते हैं। पवित्र करनेमें जलसे बढ़कर और कोई नहीं। भोजनका पात्र खानेके लिए जहाँ रखना है; वहाँ भी जलसे लेप कर डालना चाहिए—इससे पृथिवीकी भीतरी ऊष्माके उद्गमनसे पृथिवीपर के संक्रामक-कीटाणु दूर हो जाते हैं। इससे भोजनमें अशुद्ध-परमाणु नहीं पहुँच पाते। प्रातः पाकशालाकी भूमिमें जलसे लीपनेका रहस्य भी यही है।

भोजनकेलिए कहा है—'आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्। आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् (मनु. ४।७६) यहाँपर पैर गीले करके भोजन करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति कही है। इसमें वैज्ञानिक रहस्य यह है कि—उससे भीतर कुछ उष्णता उत्पन्न होती है, वह ऊपर उठकर पेटमें संचित हो जाती है, उससे भोजनकी पाकक्रियामें सहायता मिलती है। भोजन ठीक पच जावे; तो कोई रोग नहीं होता। रोग न होनेसे दीर्घ-आयु होगी ही। भोजन

करते हुए श्वास-प्रश्वासकी गति बढ़ जाती है। श्वासादिका बढ़ना आयुकेलिए हानिकारक है। हाथ-पांव धोनेसे वह गति कम हो जाती है, और विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होनेसे भोजनकी पाकक्रियामें सहायता प्राप्त होती है।

(५०) भोजनमें मौनका विज्ञान।

भोजनमें चुप रहनेका रहस्य यह है कि—भोजन करते हुए लार हमारे मुखमें उत्पन्न होती है, उससे भोजनकी परिपचनक्रिया सम्पन्न होती है। उस समय यदि बातचीत की जावे; तो वह लार भोजनकेलिए पर्याप्त-मात्रामें न बन सकेगी; क्योंकि उसका कुछ उपयोग बोलनेमें भी होगा। इससे मुखके सूखनेपर बीच-बीचमें पानी पीना पड़ेगा, जिससे वातदोषकी उत्पत्ति हो सकती है। और खाते हुए बोलनेसे मुँहसे बाहर थूक गिरती है; दूसरे पर वा अपने भोजनपर पड़ सकती है। उस समय बातचीत करते हुए जीभके कटनेका डर भी रहता है, क्योंकि मन सदा एक इन्द्रियके साथ रहता है। दूसरी इन्द्रियके साथ उसे बलात् जोड़नेमें कई हानियाँ तथा भोजनकी अनपच हो सकती है।

(५१) आहार-शुद्धिका धर्मसे सम्बन्ध।

हमारा धर्म आचार-विचार, आहार तथा व्यवहार इन चार वस्तुओं पर निर्भर है। इनमें आहारकी तो मुख्यता है ही; क्योंकि प्रसिद्ध है—'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे तन और मन' तो जैसा आहार होगा; वैसे मन और बुद्धि होंगे। जैसे मन और बुद्धि होंगे; वैसे विचार होंगे। जैसे विचार होंगे, वैसे ही आचरण

होंगे। जैसे आचरण होंगे; वैसा ही दूसरोंसे व्यवहार होगा। व्यवहार-शुद्धि रहनेपर कोई अशान्ति वा अव्यवस्था नहीं हो पाती। अव्यवस्था दूर रहनेसे दुःख भी नहीं रह पाता। तब जो लोग कहते हैं कि—सनातनधर्मियोंने भोजनका भी धर्मसे सम्बन्ध कर दिया है—यह आक्षेप अबहुश्रुतताका फल है। 'अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति' (५।४) मनुजीने यहाँ पर अन्न-दोषसे ही मृत्युकी प्राप्ति कही है।

श्रुतिमें आता है—'यद्वै मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति, तत् कर्मणा करोति' जैसा मनमें विचार उत्पन्न होता है, वैसा ही वाणीसे बोला जाता है। हमारी वाणी जैसा बोलेगी; कर्म भी वैसा ही किया जायगा। तब सारा विचार एवं कर्म मनपर निर्भर हुआ; और मन निर्भर हुआ आहारकी शुद्धिपर। तभी तो छान्दोग्योपनिषद्में अन्नकी शुद्धिपर बल देते हुए कहा है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (७।२६।२) 'अन्नमयं हि सोम्य! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (६।५।४) यहाँ पर मनका अन्नसे बनना कहा है; जब कि हमारे सब कार्य मनके आश्रयसे होते हैं; तब मनके निष्पादक अन्नकी शुद्धिपर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये। अन्नकी शुद्धि होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि कही है; उससे निश्चल-स्मृतिका प्राप्त होना और निश्चल-स्मृतिसे सब बन्धनोंका नाश कहा है।

यही बात पाशुपत-ब्रह्मोपनिषत्में भी कही है—'अभक्ष्यस्य

निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः (३६) चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञान-विहीनस्यैव देहिनः' (३७)। हम संसारमें जो भी कार्य करते हैं; वह अपने मन, वाक् तथा प्राणोंके सहयोगसे करते हैं। यदि यह हमारे मन आदि शुद्ध हैं, तो हमारे कार्य भी शुद्ध होंगे। यदि यह अशुद्ध रहेंगे; तो हमारे कार्य भी। इस कारण हमें अपने मन, वाणी और प्राणोंके उत्पादक अशन, पान, घृत आदिकी शुद्धिमें भी ध्यान देना चाहिये। यह केवल कथनमात्र ही नहीं; किन्तु इसमें भी विज्ञान है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्में आरुणि उद्दालकने श्वेतकेतुको कहा है—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तत् पुरीषं भवति। यो मध्यमः, तद् मांसम्। योऽणिष्ठः, तद् मनः' (६।५।१) यहाँ खाये हुए अन्नके स्थूल-भागसे मल, मध्यमसे माँस, अत्यन्त-सूक्ष्म-भागसे मन बनना कहा है। इसलिए प्रसिद्ध है, 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'।

अन्नके साथ जलपान भी तो होता है; अब उसके तीन भाग बताते हैं—'आपः पीताः त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुः, तद् मूत्रं भवति। यो मध्यमः, तद् लोहितम्। योऽणिष्ठः स प्राणः' (६।५।२) यहाँ जलका स्थूलभाग मूत्र, मध्यम रक्त, सूक्ष्म-भाग प्राण बनता है—यह कहा है—यह प्रत्यक्ष तथा अनुभव-सिद्ध बात है। जब हमारा शरीर रक्त और प्राणके सहारेसे है; तो पान-शुद्धिमें भी हमें बहुत ध्यान देना चाहिये। 'आपोमयः प्राणः' (६।५।४)।

अन्नके साथ घृत आदि तैजस-पदार्थ भी खाया जाता है;

उसके परिणाममें उद्दालक तीन भेद बताते हैं—'तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तद् अस्थि भवति। यो मध्यमः, स मज्जा। योऽणिष्ठः, स वाक्' (६।५।३) 'तेजोमयी वाक्' (६।५।४) यहाँ घृत आदि स्निग्ध-वस्तुका स्थूल-भाग अस्थि, मध्यम-भाग मज्जा, और सूक्ष्म-भाग वाणी हो जाता है—यह कहा है। हमारा सांसारिक कार्य मन, प्राण एवं वाणीसे चलता है; तब उसमें मुख्य कारण अन्न ही हुआ। यदि अन्न सात्त्विक होगा; तब मन भी सात्त्विक होगा। जब मन सात्त्विक होगा; तब विचार भी सात्त्विक होंगे। विचार सात्त्विक होंगे तो आचार भी, और आचारसे व्यवहार भी सात्त्विक होंगे—यह सिद्ध होगया। अतः अन्न-शुद्धि विशेष अपेक्षित है।

सात्त्विक-भोजनसे शरीर स्वस्थ एवं हलका रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है। साधारणतः देखा जाता है कि—अन्न न खानेसे मन दुर्बल हो जाता है, चिन्तन-शक्ति नष्ट होती हुई दीखती है। अन्न खानेसे मन सबल और चिन्तन-शक्ति बढ़ती हुई दीखती है। यह अन्न यदि सात्त्विक होता है; तो मन, बुद्धि, प्राण और शरीर सात्त्विक होते हैं। यदि अन्न तामस होता है, तो मन, बुद्धि, शरीर आदि तामस होते हैं। केवल अन्न ही तामस हो—यह भी नहीं; यदि अन्नका स्वामी भी तामस है; तब भी उसका प्रभाव होता है। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न खाया, इससे उनका ज्ञान लुप्त हो गया। द्रौपदीके वस्त्राकर्षणके समय वे इसीलिए द्रौपदीकी रक्षा न कर सके। इससे स्पष्ट है कि—भोजन सत्पात्रका स्वीकार करना

चाहिए; असत्का नहीं।

सत्-पुरुष भगवान्से प्रोक्त दैवी-सम्पत्ति वाले होते हैं (गीता १६।१-३) आसुरी-सम्पत्ति वालोंमें शुद्धता आदि नहीं होती—'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते' (गीता १६।७) उसमें शौच-के विषयमें योगदर्शनके व्यासभाष्यमें कहा गया है—'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याऽभ्यवहरणादि च बाह्यम्' (२।३२) यहां शुद्ध भोजनका खाना भी शौच (शुद्धता)में शामिल किया गया है। तामस-भोजनके खानेसे ब्रह्मचर्य, धारणा, साधन आदि कठिन हो जाते हैं। राजसिक-अन्न खानेसे मन एवं बुद्धि चञ्चल हो जाते हैं। अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न खाना चाहिए।

रसयुक्त, घृताक्त, स्थिर और हृद्य, आयुः, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख, और प्रीति बढ़ानेवाले पदार्थ सात्त्विक होते हैं (गीता १७।८) कड़वे, खट्टे, बहुत गर्म, तीक्ष्ण, रूखे, दाह उत्पन्न करनेवाले पदार्थ राजस होते हैं, उनका परिणाम दुःख, शोक एवं रोग है। (१७।९) बासी, रसहीन, दुर्गन्धित, चार-पांच घण्टोंका पड़ा हुआ, जूठा और अपवित्र आहार तामस होता है (१७।१०)। मनुजीने कई पदार्थ अभक्ष्य कहे हैं; उनका भी प्रयोग उचित नहीं, जैसे कि—'लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डु कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाम-मेध्यप्रभवाणि च' (५।५) लहसन, प्याज़, कुकुरमुत्ता आदि पदार्थ वर्जित हैं। गृञ्जन एक कन्द होता है, जिसके पत्तेकी नसवार बनती है। कई इससे गाजर लेते हैं, कई शलगम। पर इनमें तामसपन मालूम नहीं होता। गाजर पौष्टिक है, पर शायद काम-

वर्धक होनेसे इसे तामसोंमें गिना गया हो। कन्नौजमें गाजर तो नहीं खाते, पर लहसन खा लेते हैं, यह अनुचित है। लहसुन और प्याज़ यद्यपि कई वातादि-दोषोंके दूर करने वाले हैं, पर अत्यन्त-उत्तेजक तथा दुर्गन्धित होनेसे भक्ष्य नहीं। मन, बुद्धि, शरीर, प्राण, आत्मा इनको कुविचारपूर्ण करते हैं। बुद्धि-आदिकी मलिनतासे कामसंचार, ब्रह्मचर्यनाश, पशुभावकी वृद्धि, चित्तकी चंचलता उनसे होती है, जिससे आध्यात्मिक-उन्नतिका मार्ग रुक जाता है। इस कारण धर्म-शास्त्रमें कदन्नके भक्षणका निषेध किया गया है।

परस्पर जूठा खाना भी ठीक नहीं, इस प्रकार एकके संक्रामक कीटाणु तथा रोग दूसरेमें बहुत शीघ्र संक्रान्त हो जाते हैं। ग्लानि तथा अपवित्रता तो होती ही है। इसीलिए 'नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात् नाद्याच्चैव तथान्तरा' (२।५६) इस वाक्यमें मनुजी ने निषिद्ध किया है, आहारपर हमारे शास्त्रकारोंने बहुत कन्ट्रोल लगाये हैं; क्योंकि—आहारका धर्मसे निकट-सम्बन्ध है।

(५२) भोजनसे पूर्व ग्रास रखना; अग्निमें डालना, काकबलि आदि विज्ञान।

हम जब भोजन करते हैं; तब अपने देवको भी 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' इस न्यायसे पहले निवेदन करना उचित है क्योंकि—हम देवोंका दिया ही तो खा रहे हैं। वेदमें कहा है—'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं' 'केवलाघो भवति केवलादी'

(ऋ. १०।११७।६) अर्थात् अकेला भोजन करे; न तो अर्यमा (यह अपने इष्टदेवताका उपलक्षण है वा देवाधिदेवका) देवको पहले खिलाता है; न सखाको; केवल अपना पेट भरनेवाला पापी माना जाता है। यही बात भगवद्गीतामें कही गई है—'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात' (३।१३)। मनुजीने भी कहा है—'देवान् ऋषीन् मनुष्याँश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः। पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत्। अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। (३।११७-११८)

अन्य बात यह है कि हमारे घरोंमें चक्की, चूल्हा, झाड़ू, जल का घड़ा, ऊखल-मूसल आदिसे जीवोंकी हत्या अनिवार्यतासे हुआ करती है। मनुजीने इन्हें 'पञ्च सूना' (पांच कसाईखाने—३।६८) कहा है; उनके प्रायश्चित्तार्थ ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ इन पञ्च-महायज्ञोंका विधान (३।६९-७१) किया है। इनमें पितृयज्ञमें बलि-वैश्वदेवमें आकीट-पतङ्ग सबको भोजन देना कहा है। और यह सब वर्णोंको करना कहा है। वेद-पुराणादिका पठन-पाठन ब्रह्मयज्ञ है। इनमें पुराणका पठन शूद्रकेलिए चरितार्थ है। पितरोंका तर्पण पितृयज्ञ है। हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है, अतिथिको भोजन खिलाना अतिथियज्ञ है। आजकल के देशकालानुसार इन पञ्चमहायज्ञोंको कोई नहीं करता। इसमें दो-तीन सुगम प्रकार 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्' इस न्यायसे किये जाते हैं। वह यह कि—अङ्गी भगवान्के आगे भोग धर दो; तो उसके सब अंग तृप्त हो जाएंगे,

द्रौपदीने एक शाकका पत्ता ही तो भगवान्-कृष्णको खिलाया था। विश्वम्भरकी तृप्ति होनेसे विश्व-भरकी तृप्ति हो गई थी। आनेवाले अतिथि दुर्वासा आदि के पेट भी फूल गये थे, वे खाने ही नहीं आये कि कहीं अम्बरीष-भक्तकी भांति युधिष्ठिर भी हमें तंग न करें। वैसे तो दुर्योधनने उन्हें द्रौपदीके खा चुकनेपर भिजवाया था कि उस समय पांडव इन्हें खिला न सकेंगे; तब दुर्वासा शाप देकर उन्हें भस्म कर डालेंगे। पर द्रौपदी-द्वारा श्रीकृष्ण-भगवान्को सूर्यसे दी हुई बटलोईमें लगे शाकके एक पत्तेको खिलानेसे ही सारा संसार तृप्त होगया था। अतः भगवन्मूर्तिको भोग लगानेसे ही पञ्चमहायज्ञ हो जाते हैं।

अन्य 'लघूपायोस्ति भूतले' यह है कि पञ्चमहायज्ञोंके प्रतिनिधिस्वरूप पाँच ग्रास रखे जावें; वे ग्रास तथा घी आदि सबके प्रतिनिधि अग्निमें समर्पण कर दिया जाय; वा गौ को खिला दिया जावे। पितृकार्यमें तो काकबलि भी देनी पड़ती है। इन बातोंसे जहाँ हमें शास्त्राज्ञाके 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (गीता २।४०) 'कुछ' पालनसे धर्म प्राप्त होगा; वहाँ लौकिक लाभ भी बहुत होगा। वह यह कि हमने जो भोजन करना है; कई कारणोंसे वह भोजन विषमय भी हो सकता है। यदि वह हमारे अन्दर गया; तो हमें हानि पहुँचावेगा। राजाको तो सदा विषका डर ही बना रहता है; तब यह ग्रास-स्थापना तथा ग्रासोंका अग्निमें डालना, वा कौवेको खिलाना उस विषकी परीक्षाका साधन भी बन जावेगा; अन्य भी बहुतसे लाभ प्राप्त करावेगा।

इस बातको इस प्रकार समझिये—यदि भोजनमें विष होगा; तो जो ग्रास हम रखेंगे, तो उसपर बैठने वाली मक्खियाँ मर जाएँगी; वा निर्जीव-सी हो जाएँगी। फिर जो कि ग्रासोंको पूर्व अग्निमें डालेंगे; उससे जहाँ देवताओंके मुख-अग्निमें डालनेसे देवपूजा होगी; वहाँ यदि भोजन विषमय है; तो उसकी नीली-लपट होगी; और बहुत बुरी दुर्गन्ध फैल जाएगी। काक-बलिका यह लाभ है कि—कौवा विषमय ग्रास नहीं खाता; इससे भोजनकर्ता सावधान हो जाएगा। अन्य भी परीक्षाएँ हैं। बन्दरको भी वह ग्रास यदि विषमय है-तो ग्रास देनेसे वह मुँह और ढंगका बना लेता है—मचलता है। बड़ा चंचल हो जाता है। चकोरको डालनेसे उसकी आँखें लाल हो जाती हैं—आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें इन बातोंका निरूपण आया है।

यदि विष भोजनमें न भी हो, तब आगे ग्रास-स्थापनका लौकिक लाभ यह होगा कि यदि उस स्थलमें च्यूँटियाँ इधरसे उधर घूम रही होंगी; तो उनका भोजनकी थालीमें आना सम्भव है। यदि वे पाँच-ग्रास थालीके आगे रखे होंगे; तब वे च्यूँटियाँ वहाँ इकट्ठी हो जावेंगी, भोजनकी थालीमें नहीं आवेंगी। इस प्रकार अन्य भी लौकिक लाभ बहुत सम्भव हो सकते हैं। गो-ग्रास भी नियमतः रखना चाहिये, इससे गायका पालन होता है। ग्रास रखकर फिर आचमन करके भोजन प्रारम्भ करना चाहिये—'अश्नीयाद् आचम्य प्राङ्मुखः शुचिः' (मनु० २।५१) आचमनसे भीतर आर्द्रता हो जाती है; इससे चबाये हुए ग्रासको भीतर प्राप्त

होनेमें सुविधा होती है।

(५३) सिर वन्द करके भोजन न करना।

मनुजीने कहा है—'यद् वेष्टितशिरा भुंक्ते यद् भुंक्ते दक्षिणा-मुखः। सोपानत्कश्च यद् भुंक्ते, तद् वै रक्षांसि भुञ्जते' (३।२३८) यहाँ सिर पटके (साफे) आदिसे वन्द करके और जूता-समेत भोजन करनेसे वह भोजन राक्षसोंको मिलता है—ऐसा कहा है। इस अर्थवादमें भी रहस्य है। वह यह कि-भोजन खाते हुए जो ऊष्मा (गर्मी) सम्पूर्ण शरीरमें पैदा होती है, उस (ऊष्मा)के निकलनेके दो मुख्य मार्ग हैं, एक सिर, दूसरा पाँव। यदि यह दोनों वन्द होंगे; और वह ऊष्मा इन स्थानोंमें पहुँचकर बाहर निकलनेका जोर लगावेगी। पर दोनों मार्ग वन्द होनेसे वह ऊष्मा प्रकुपित होकर वल-प्रयोग करेगी; इससे सिर तथा पैर, वल्कि सारे शरीरकी हानि होगी। पांओंमें जूता चर्ममय होनेसे वह दुर्गन्धित-परमाणुओं को भी भोजनके समय डालता रहेगा, ऊष्मा भी निकलने न देगा; इसलिए भी उस समय जूते पहरे रहना उचित नहीं। अन्य निकलनेका मार्ग है-गुप्त इन्द्रिय, तथा गुदेन्द्रियका छिद्र। भोजनके वाद लघुशंका अवश्य करनी चाहिये, उस मार्गसे भी ऊष्मा निकलेगी। गुदाप्रदेशसे तो वह अपानवायु आदिके द्वारा निकलती ही रहती है; तथापि उस समय कौपीन (लंगोट) कसा हुआ भी न होना चाहिये।

(५४) कपड़े उतारकर वा रेशमी वस्त्रसे भोजन करना।

हम पूर्व कह चुके हैं कि भोजन करते हुए शरीरमें प्रचुर

मात्रामें ऊष्मा उत्पन्न होती है; उसे रोमकूपोंसे वाहर निकलनेका अवसर भी देना चाहिये। उसमें कपड़े उतारकर भोजन करना भी एक उपाय है। वस्त्र पहिने हुए होनेपर रोमकूपोंपर आवरण पड़ा होनेसे ऊष्माके निकलनेमें वाधा पड़ेगी। वह यदि आवरण-वश भीतर रहे; तो हानि पड़ेगी। इसीलिए व्यायाम करनेके अवसर पर भी भीतरी ऊष्माके निकलनेकेलिए कपड़े उतारे जाते हैं। अथवा यदि कसे हुए कपड़े न हों; तो वह वाष्प भीतरसे निकलती तो रहेगी, पर वह कपड़ोंमें लगेगी। एक तो उससे कपड़े खराव होंगे; दूसरा वे शरीरमें लगे होनेसे वह स्वेद-रूपमें निकली वाष्प फिर शरीरको खराव करती रहेगी; क्योंकि वह मलरूपमें जम जावेगी; तव रोमकूपोंके वन्द हो जानेसे कितनी हानि हो सकती है—यह स्वयं सोचा जा सकता है। इसलिए बीमारको जो पसीना आता रहता है उसे एक स्वच्छ-कपड़ेसे साफ करते रहना पड़ता है; नहीं तो मलरूपमें जम जानेसे उसकी हानि होती है। कपड़े उतरवा देना भी उसे बाहिरी वायुके लगनेका डर होनेसे विपद्जनक होता है। हाँ, उसके कपड़े बदलवा दिये जाते हैं।

कई लोग भोजनके समय कपड़े उतारनेमें अन्य कारण बताते हैं; उनका आशय यह है कि—हमने भोजन करना है; उसमें शुद्धता अपेक्षित होती है। अशुद्धतामें भोजन नहीं किया जाता। धोती तो हम प्रतिदिन धो लिया करते हैं। ऊपरके कमीज आदि वस्त्र मैले होनेसे पूर्व हम नहीं धोते। उनका अशुद्ध होजाना भी सम्भव हो सकता है। अतः धोती न उतारकर अन्य वस्त्र भोजनके

समय उतार देने चाहियें। यदि वह सम्भव न हो तो रेशमी वा ऊनी-वस्त्र होना चाहिए; वह भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखता है, और बाहरी शक्तिके परिणामको दूर करता है। क्योंकि भोजन करते समय शरीरके प्रत्येक यन्त्रोंकी क्रिया होने लगती है; इसलिए बाहरी वायुकी बाधा रोकनेकेलिए और अन्दरकी शक्ति सुरक्षित रूपसे कार्य करती रहे 'नान्नमद्यादेकवासाः' (मनु० ४।४५) एक केवल धोती पहनकर भोजन नहीं करना चाहिये, एक रेशमी दुपट्टा ऊपरसे ओढ़ ले, वा उपवस्त्र रख ले इससे कमीजकी भांति रोमकूप सर्वथा आवृत भी नहीं रहेंगे; और बाहरी बाधाओंका प्रभाव भी शीघ्र नहीं पड़ता।

(५५) भोजन-नियम

भोजनके कई नियम शास्त्रोंमें बताये गये हैं—'न भुञ्जीतो-द्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्। नातिप्रगे, नातिसायं न सायं-प्रातराशितः (मनु ४।६२) 'न भिन्नभाण्डे भुंजीत न भावप्रति-दूषिते' (४।६५) 'शयनस्थो न भुंजीत; न पाणिस्थं न चासने' (४।७४) 'सर्वं च तिल-सम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ' (४।७५) आर्द्रपादस्तु भुंजीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्, (४।७६) 'नान्नमद्याद् एकवासाः' (४।४५) अर्थात्—(क) भोजनका स्नेह (चिकनाहट) निकालकर न खावे; क्योंकि सार-भाग निकल जानेसे शेष भोजन निस्सार हो जाता है। माखन-मिली हुई लस्सी पीनेसे जो लाभ है; वह अलग. कियेसे नहीं। (ख) बहुत तृप्त होकर भोजन भी न करे—इससे बहुत बड़ी हानि होती है, भीतर वायुके भी प्रवेश

न हो सकनेसे कभी मृत्यु भी सम्भव हो जाती है। पेटका कुछ अंश खाली होना ही चाहिये। (ग) न बहुत प्रातः न बहुत सायंमें भोजन करे। इस समय प्रकाश और तमःके मिश्रणसे कीटाणु बहुत फैल जाते हैं—उस समयका भोजन कीटाणुवश हानिजनक हो जाता है। (घ) खाटपर भोजन न खावे। एक तो वह बच्चोंके मलमूत्रके अंशसे भी युक्त हो सकता है। दूसरा दाल वा भोजनादि-का टुकड़ा गिरनेसे उसमें च्यूंटियां वा अन्य कीटाणु, खटमल आदि खाटमें घुस सकते हैं, इससे उसपर सोनेवालेकी हानि स्पष्ट है। (ङ) तिलसे सम्बद्ध वस्तु रातको न खावे। तिल बहुत गर्म प्रभाव रखते हैं; रातको निद्रामूलक दुर्बलतावश तिलकी गर्मी बढ़ जाने से स्वप्नदोषादि वा अन्य कोई व्याधि हो सकती है। (च) आसनपर भोजन रखकर भी खाना ठीक नहीं; क्योंकि-उच्छिष्टके गिरनेसे उसमें कीटाणु प्रवेश कर हानि पहुँचा सकते हैं। (छ) हाथपर भी भोजन न खावे। यह संन्यासीको शोभित हो सकता है—गृहस्थको नहीं। हाथ पर भोजन ठीक आ भी नहीं सकता। (ज) टूटे बर्तनमें भोजन न करे—बर्तन भोजना-भिमानी देवताका स्थान है, वह टूटा हुआ होना अच्छा नहीं; इससे देवताका अपमान है, वह हाथको चुभ भी सकता है। (झ) स्नानके बिना भोजन नहीं होना चाहिये—'अस्नायी समलं भुङ्क्ते'। भोजन करने में ऊष्मा निकलती है; स्नान न करनेमें भी ऊष्मा भीतर रहती है, और शरीरसे निकले हुए पसीनेके द्रवभागके वायुमें उड़ जानेसे शेष मलके रह जानेसे उससे रोमकूप

बन्द रह जाते हैं। यदि स्नान न किया जावेगा; तो रोमकूपोंके मलावृत होनेसे उनके द्वारा भोजनकी ऊष्मा बाहर नहीं निकल सकेगी, उससे भीतर बड़ी हानि पहुँचती है; उससे भीतर मल बना रहेगा। तब 'अस्नायी समलं भुङ्क्ते' वाली बात ठीक है। उसका बुद्धि और मस्तिष्कपर कुप्रभाव रहता है। इसलिए स्नान न करनेवाली मुसलमान-आदि जातियां भी मस्तिष्ककी कमजोरीसे युक्त होती हैं—अतः हृदयहीन भी होती हैं। (ञ) चलते हुए भी भोजन ठीक नहीं; क्योंकि चलते-समय रक्तकी गति तीव्र होती है; उस समय भीतर डाला हुआ भोजन रक्तको विकृत कर दिया करता है, रक्तके विकृत होने से अन्न ठीक हज़म नहीं होता। शान्त-चित्तसे रक्तगतिकी समतामें ही भोजन करना लाभदायक होता है। 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति' यह उदाहरण महाभाष्यकारने नञ्सूत्रमें दिया है। यहां खड़े हुए भोजन करनेवालेको 'अब्राह्मण' कहा है। 'नञ्' यहाँ अप्रशस्त-अर्थमें है। सो यह निन्दार्थवाद खड़े होकर भोजन करनेमें हानि सूचित कर रहा है।

(५६) घृतपक्व-भोजनकी शुद्धताका विज्ञान।

घृतपक्व-अन्न विशुद्ध होता है। कई आक्षेप्ता लोग ब्राह्मणोंकी घृतपक्व-अन्न खानेमें प्रवृत्ति देखकर उसमें कारण उनकी रसनाका लौल्य बताते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। घृतपक्व-अन्न विशेष-शुद्ध होता है—इस विशुद्धिके कारणसे ही घृतपक्व अन्नका उपयोग होता है। ब्राह्मणगण 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (गीता १६।२४) यहां भगवान्से अनुज्ञात शास्त्रानुसरणके प्रणयी होते हैं।

उसी शास्त्रसे वे लोग 'यह कर्तव्य है—यह अकर्तव्य है' यह जानते हैं।

शास्त्रोंमें लिखा है—घृत देवताओंका अन्न होता है। जब देवाप्सरा उर्वशी शापवश मनुष्य-लोकमें पुरूरवाके घर पहुँची, तब खानेकेलिए पूछनेपर उसने कहा—'घृतं मे वीर! भक्ष्यं स्यात्' (श्रीमद्भागवत ९।१४।२२)। यही बात ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी कही है—'घृतस्य स्तोकꣳसकृद् अह्न आश्नाम्' (शतपथ० ११।५।१।१०) यही बात मन्त्रभागात्मक वेदमें भी कही है—'घृतस्य स्तोकं सकृद् अह्न आश्नाम्' (ऋ०सं० १०।९५।१६)। दोनों जगह उर्वशी कहनेवाली (ऋषिका) है। इसी कारण देवयज्ञ-होममें भी शुद्ध-घृतका ही उपयोग होता है।

इस प्रकार घृत देवभोजन होनेसे जब वह विशुद्ध सिद्ध हुआ; तो घृतपक्व अन्न भी स्वतः विशुद्ध सिद्ध हुआ। इसीलिए 'रस्याः स्निग्धाः (घृतपक्वाः) स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक-प्रियाः' (गीता १७।८) यहांपर स्निग्ध-आहारको सात्त्विक (तमोगुणको दूर करनेवाला) कहा गया है। इसीलिए अपनी अशुद्धि हो जाने-पर स्मृतियोंमें घृतप्राशनसे शुद्धि मानी गई है। जैसे कि मनुजीने कहा है—'घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति' (५।१०३)। घृत विषघ्न भी होता है; अतः जब सांप काट जाय; तो उसके विष-दूरीकरणार्थ उसे घी पिलाते हैं। छोटे बच्चेको जातकर्म-संस्कारमें सुवर्ण-शलाकासे मधु और घृत चटाते हैं; वहां भी विष-प्रभाव दूर करना लक्ष्य होता है। रोटीको घृतसे चुपड़नेका लक्ष्य भी यही होता है।

'शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च' (मनु० ४।२११) यहाँ पर्युषित (वासी) अन्नको निषिद्ध माना गया है, परन्तु यदि बासी (कलका) अन्न भी घृतपक्व हो; तो उसे भी मनुजीने शुद्ध माना है। जैसे कि—'यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्। तत् पर्युषितमप्याद्यं हविः-शेषं च यद् भवेत्' (५।४) इससे घृत-संस्कृत अन्नकी शुद्धता सिद्ध हो जाती है। इसलिए शीतला-आदिके अवसर पर घृतपक्व पर्युषित (वासी) भोजनका भी उपयोग होता है। ग्रहण के समयमें पड़ा हुआ घृतपक्व-मिष्टान्न भी इसी कारण अशुद्ध नहीं माना जाता।

घृतपक्वकी शुद्धतामें कारण यह है कि घृत गौसे उद्भूत हुए दुग्धका सार है। सार-वस्तु लाभदायक और श्रेष्ठ एवं बलप्रद हुआ करती है। और फिर वेदादि-शास्त्रोंके अनुसार गायमें भी देवताओं का निवास तथा सात्त्विकता मानी गई है। इसी कारण उसके पञ्चगव्यका भी महापापोंके प्रायश्चित्तों एवं अशुद्धकी शुद्धिमें उपयोग किया जाता है। पञ्चगव्यमें घृत श्रेष्ठ है। घृत बनानेकेलिए दुग्धसे फल्गु पानी निकाल दिया जाता है। इस कारण जलसे संस्कृत अन्न भी तैजस-घृतसे संस्कृत अन्नके समान शुद्ध नहीं माना जाता। कीटाणु जलको शीघ्र दूषित एवं विकृत कर दिया करते हैं। इसलिए जल-संस्कृत अन्न भी शीघ्र बिगड़ जाता है। घृतपर कीटाणुओंका आक्रमण सफल नहीं होता, इसलिए सूर्यादिके ग्रहणके अवसरपर कीटाणुओंके फैल जानेपर जल-संस्कृत अन्न तो अशुद्ध हुआ माना जाता है, इसलिए फैंक दिया

जाता है, पर घृत-संस्कृत अन्नको न तो अशुद्ध माना जाता है; और न ही उसे फैंक दिया जाता है।

दूधसे जलके भागको दूर करनेकेलिए उसे जमाया जाता है, वह दही बन जाता है। दहीसे भी जलके भागको दूर करके उसका माखन बना दिया जाता है। उसके बचे-खुचे जलको भी अग्नि-द्वारा जलाकर अवशिष्ट परम-विशुद्ध सार-भाग घृत बन जाता है। इसीलिए सद्योजात बालकके भी अशुद्ध होनेसे उसकी शुद्ध्यर्थ 'पारस्करगृह्यसूत्र'में जातकर्म-संस्कारमें घृतप्राशन कहा गया है— 'अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा' (१।१६।४)।

इस प्रकार घृत-संस्कृत अन्नकी शुद्धता शास्त्रीय भी सिद्ध हुई; परन्तु उस घृतमें अशुद्ध-घृतादिका मिश्रण न हो। मूत्र वा मद्यसे मिला हुआ गङ्गाजल भी अशुद्ध ही हुआ करता है। घृत बनाने वाला विधर्मी भी न हो, भिन्न-जाति वाला भी न हो। देवयज्ञोंमें वनस्पति-घृतका उपयोग करके हम लोग देवताओंको भी ठगते हैं, फल भी तो वैसा ही मिलता है। अस्तु।

घृतकी शुद्धिसे हमारा मस्तिष्क शुद्ध हो जाने पर हमारे वाक्, शरीर और मन पुष्ट होंगे। छान्दोग्यके उद्दालक-श्वेतकेतुके संवाद के अनुसार घृतके स्थूल भागसे अस्थि, मध्यमसे मज्जा और सूक्ष्मसे वाणी बनती है। अस्थि शरीरका मूल है, मज्जा बलका, वाणी सारे संसारके व्यवहारका मूल है। 'आयुर्वै घृतम्' (तैत्ति०सं० २।३।२।२) यहाँ घृतको आयु पैदा करने वाला माना गया है। इसलिए भी यह सेवनीय है। आयुकी वृद्धिमें पुरुष शास्त्रीय-आचरण करके जगत्का

उपकार कर सकता है। तब 'घृतपक्व अन्न ब्राह्मणगण रसनाके लौल्यसे खाते हैं' यह आक्षेप असत्य ही है, किन्तु वह विशुद्ध होनेसे ही सेवनीय है। यहाँ शास्त्रीयता ही है।

(५७) बाजारू-अन्न खानेका निषेध।

आजकलके व्यक्ति कहते हैं कि—'खान-पानसे क्या होता है?' परन्तु यह जानना चाहिये कि खान-पानमें ही सभी कुछ निर्भर है। बाजारोंमें जो अन्न वेचा जाता है, उसमें एक निर्धन अन्त्यज वा मुसलमानकी दृष्टि भी पड़ती है। (दृष्टिका क्या प्रभाव होता है—इसे अग्रिम निबन्धमें देखिये) गर्म-गर्म मीठे पूएको देखकर उसका मन ललचाता है, मुखमें लार आ जाती है, लेकिन धनाभावादिके कारण वह खरीद नहीं सकता। तब जैसा मन उस निम्न-जाति वालेका था; उसका प्रभाव उस भोज्य-वस्तुपर भी पड़ता है। आपने वही वस्तु खरीदी, और वह आपके भीतर पहुँची, वह भी वैसा ही प्रभाव करेगी। आपकी बुद्धि भी वैसी ही होगी, जैसी निम्न-जाति वालेकी थी। अन्नसे ही मन बनता है, 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। छान्दोग्यका उद्दालक-श्वेतकेतुसंवाद पहले दिखलाया ही जा चुका है कि—हम जो खाते हैं, उसके तीन भाग बनते हैं; मल, माँस और मन। हम जो पीते हैं; उसके भी मूत्र, रुधिर, प्राण यह तीन भाग बनते हैं। इस प्रकार घृतके भी तीन भाग होते हैं, हड्डी, मज्जा, वाणी।

संसारमें मन, वाणी, प्राणोंसे ही काम होता है, और वे अन्न, जल और घृतसे बनते हैं। तो अन्न, जल, घृत यदि शुद्ध हैं,

निम्न-पुरुषकी दृष्टिसे रक्षित हैं; तब तो शुद्ध मन, प्राण, वाणीके उत्पादक होंगे। विपरीत होने पर वे भी विपरीत होंगे। इसलिए कामीके अन्न खानेसे कामी, लोभीके अन्न खानेसे लोभी, और ज्ञानीका अन्न खानेसे पुरुष ज्ञानी होता है। इसीलिए ही हमारे पूर्वज सब जातियोंका अन्न नहीं खाते थे, केवल सात्त्विक ब्राह्मणोंका, उसमें भी अपने वर्गके ब्राह्मणका बनाया, अथवा स्वयं निष्पादित अन्नका उपयोग करते थे। उसमें यही रहस्य था, जिसे न जानकर अर्वाचीन-व्यक्ति उनपर तथा वैसे कहनेवाले शास्त्र-वचनोंपर उपहास करते हैं, और उनके खण्डनकी चेष्टा करते हैं।

बाजारी पके हुए अन्नमें क्या कभी अपेक्षित पवित्रता, घृतकी शुद्धि, अन्नकी शुद्धि या जलकी शुद्धि हो सकती है? आजकल जो हमारे मन, प्राण और वाणियां भ्रष्ट हो रही हैं; उससे हम प्राचीनोंके वचनोंके रहस्य जाननेमें समर्थ न होकर उनपर फबतियां कसते हैं; उसमें कारण अन्नदोष ही होता है। 'अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति' (५।४) इस मनुके वचनमें जो कि अन्नदोषसे अकाल-मृत्यु कही है; उसमें अतिशयोक्ति नहीं; न ही उसमें असत्यता है। क्योंकि शारीरिक मृत्यु मूत्र, पुरीष, रक्त तथा हड्डियोंकी विकृतिसे होती है, विचार-सम्बन्धी मृत्यु होती है मन, वाणी और प्राणकी विकृतिसे। मल-मूत्र, रक्त-मांस, मज्जा-अस्थि, मन-वाक्-प्राण आदि सभी छान्दोग्यके पूर्वोक्त-वचनसे खान-पानके ही परिणाम होते हैं—यह विज्ञान-सिद्ध बात है; तब सब प्रकारकी अकालमृत्यु अन्नकी अशुद्धिका ही परिणाम सिद्ध

हुई—इसमें थोड़ा भी सन्देह न रहा।

पाश्चात्य-देशोंमें युद्धों तथा तन्मूलक मृत्युओंका मूलकारण तामसिक-भोजन ही है—इस प्रकार यहां प्रत्यक्षका भी अनुग्रह है। दुष्ट अन्न वा दुष्टका अन्न खानेसे मन-वाणी आदिमें वैषम्य आ जानेसे काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-अभिमान आदि शत्रुषड्-वर्ग की वृद्धिमें पुरुष दूसरेकी स्त्रीसे, वा दूसरेकी भूमिसे, वा दूसरेके धनसे सम्बन्ध करता हुआ, वा दूसरेसे कलह करता हुआ, पारस्परिक-द्वन्द्व उपस्थित होने पर, एक दूसरेपर अस्त्र-शस्त्रादि द्वारा प्रहार प्रारम्भ हो जानेपर जो कि दूसरेको मार देता है, वा स्वयं मारा जाता है, उसमें कारण अन्नदोष ही है। इसी बातको लक्ष्य करके ही शास्त्रोंमें बाज़ारू-अन्न खानेका निषेध आया है। जैसे कि—श्रीआपस्तम्बमुनिने अपने धर्मसूत्रमें कहा है—'नापणीयमन्नमश्नीयात्' (१।१७।१४) 'शुना वा अपपात्रेण वा दृष्टम् [तदपि अन्नमभोज्यम्'] (१।१६।३०)। यह वचन विज्ञान-सिद्ध होनेसे सत्य ही है, यह 'आलोक' पाठकोंने अनुभूत किया होगा। आजकल हमारे मन, प्राण, वाणियां जो भ्रष्ट हो रही हैं; इन सबका कारण अन्नदोष ही है। तब 'हिन्दुधर्म-ग्रन्थोंमें अन्नमें धर्माधर्मका सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाता है'—ऐसा आपाततोदर्शियोंका कथन समाहित हो गया। वेदोंमें जो 'सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे, आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम' यह कथन आता है, यह अपने वर्ग वा पारिवारिक-जनोंकेलिए या ऋत्विजोंकेलिए है; सर्वसाधारण केलिए नहीं—यह हम अन्य किसी पुष्पमें विकसित करेंगे।

(५८) दृष्टि-दोष।

दृष्टिका प्रभाव सुकुमार वस्तुओंपर अधिक पड़ता है। दृष्टिदोष से गाय-भैंसोंका दूध थोड़ा हो जाता है, हँसते हुए बालक रोते हुए दीख जाते हैं; प्रसन्न मनवाले बच्चे उदास हो गये हुए दीखते हैं, उसमें कारण दूसरेकी दृष्टिका होता है, पाश्चात्य-विद्वान् इच्छाशक्ति (Will-Power) को मानते हैं; तब उन्हें दृष्टिदोष माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यदि इच्छाशक्तिका प्रभाव होता है, तब इच्छाशक्तिकी केन्द्रभूत दृष्टिका प्रभाव भी पड़ेगा ही। इसीलिए हमारे शास्त्रकारोंने प्रातः उठकर अपने हाथके दर्शनका विधान किया है—जिसे हम आरम्भमें बता चुके हैं।

निद्रावस्थामें ऊष्माके इकट्ठे हो जानेसे नेत्र सुकुमार हो जाते हैं। तब यदि कोई कुत्सित पदार्थ सामने आ जावे तो उसका प्रभाव नेत्रपर तत्त्वण पड़ जाता है। अपने हाथके दर्शनसे नेत्रका तेज हाथमें प्रविष्ट होकर फिर हमारे शरीरमें प्राप्त होता है, उसका विनाश नहीं होता। यदि निकृष्ट पदार्थ दृष्टिपथमें पड़ जाय; तो उसका दुष्प्रभाव भी झट हो जाता है।

किसीकी आंख यदि गर्मीमें आजावे; स्वच्छ आंखोंवाला यदि उसकी आंखको बार-बार देखे; तो उसकी आंख भी वैसी हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? उसमें उत्तर यह है कि ध्याताकी आंखकी ज्योतिकी किरणें जब किसी ध्येय-पदार्थमें प्रविष्ट होती हैं; अथवा उस पदार्थसे टक्कर खाती हैं; तब उसके मुकाबलेमें वे किरणें गुण-दोषके साथ उसके प्रतिबिम्बको लेकर नेत्रोंमें वापिस लौटते

हैं; क्योंकि जो पदार्थ जिस मूल-कारणसे पैदा होता है; फिर उसीमें वह विश्रान्त होताहै। मिट्टीका ढेला आकाशमें ऊपरको फेंका हुआ भी फिर पृथिवीमें आकर ही विश्राम लेता है। इस प्रकार नेत्रकी किरणें भी गुण-दोष लेकर फिर नेत्रमें ही प्राप्त होती हैं। उसका प्रभाव मन पर और मनका प्रभाव शरीरपर होता है।

इस प्रकार दृष्टिका दोष सदा ही होता है; पर प्रातःकाल तो विशेष होता है; क्योंकि नींदमें सारी रात आँखके बन्द होनेके कारण आँखोंमें बाहरी पदार्थके देखनेका कार्य नहीं होता; तब वे आंखें रूपादि-विकारसे रहित होकर मिट्टीके पात्रकी भांति हो जाती हैं। तब प्रातः आँख खुलने पर जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब उन पर पड़ता है, उसीका प्रभाव अधिकतासे होता है। जब मिट्टीके पात्रमें पहले तैल भरा जाए; उसमें तेलका प्रभाव इतना दृढ़ हो जाता है कि—कोई पदार्थ उसमें रखा जावे; वह तेलके प्रभावसे मुक्त नहीं होता। इस प्रकार दृष्टिदोषके प्रभावसे भी पुरुष नहीं छूटता।

वैज्ञानिकोंके मतमें एक शक्ति होती है, जिसे वह आकाशी शक्ति कहते हैं—वह मस्तिष्कसे प्रवाहित होकर मनोवृत्तिके साथ सम्बन्धित हो जाती है, और स्नायुपथसे प्रवाहित होकर हाथ-पाँव आँख, एड़ी आदि तक प्राप्त हो जाती है। इसके द्वारा वह अन्तड़ियों में प्रभाव डालती है। सबसे अधिक इसका प्रभाव हाथके स्पर्श-द्वारा होता है। उसकी अपेक्षा न्यून-मात्रामें दृष्टि-द्वारा उस शक्तिका दूसरेके भोजन वा दूसरी वस्तुपर प्रभाव पड़ता है। अवर-कोटि वाले, तमोगुणी वा उस वस्तुकी प्राप्तिसे रहित पुरुषोंकी विषाक्त-दृष्टि

अन्नमें संक्रान्त होकर उस अन्न खानेवालोंकी हानि कर दिया करती है। जैसे कि प्रसिद्ध है—'श्वा तु दृष्टिनिपातेन' (मनु० ३।२४१) 'कुत्ता दृष्टि डालनेसे अन्नको खराब कर दिया करता है। 'चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च। रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन् अश्नतो द्विजान्' (मनु० ३।२३९) 'अन्त्यज, सुअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक यह लोग जीमते हुए ब्राह्मणोंको न देख सकें, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये।' यह भी कहा है— 'हीनदीन-क्षुधार्तानां पाषण्डस्त्रैण-रोगिणाम्। कुकुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना' क्योंकि हीन एवं दीन लोगोंकी हीन दृष्टि जब अन्न पर पड़ती है; तत्फल-स्वरूप उसको खाने वालेको अजीर्ण आदि हो जाता हुआ देखा गया है। नेत्रोंकी अदृश्य किरणें सामनेके पदार्थ पर पहुँचती हैं—यह नैयायिकोंका सिद्धान्त प्रसिद्ध है ही। तब निम्न-जातिवालों वा निम्न-प्रकृतिवालोंकी तीक्ष्ण-लालसासे पूर्ण, उस वस्तुके न मिलनेके कारण हुए-हुए अपने दुःख वा अभिशापसे भरी हुई नेत्ररश्मियाँ दृश्य-वस्तु पर अपना प्रभाव डालें; इसमें आश्चर्यका कोई अवसर नहीं। इसलिए प्रसिद्ध है कि—'दृष्टि पत्थरको भी फोड़ देती है।'

सुदृष्टि तथा कुदृष्टिमें कैसी शक्ति है—यह आजकल मैस्मरेजम, हिपनोटिज्म आदि-द्वारा प्रमाणित हो चुका है। उसमें दृष्टि द्वारा तथा हाथके संकेतसे पुरुषको लेटाया जाता है, उठाया जाता है, निर्बल करके उसे मूर्च्छित भी कर दिया जाता है। इस प्रकार छोटे बच्चे तथा स्त्रियोंपर भी निर्बलताके कारण दूसरेकी दृष्टिका

प्रभाव आक्रमण करता है, इसलिए स्त्रियोंकेलिए पर्देका विधान शास्त्रोंमें दीखता है, इसमें कुछ भी असत्यता नहीं।

अन्य यह भी जान रखना चाहिये कि–सुफेद वस्तु पर नज़र जल्दी लगती है; क्योंकि सुफेद वस्तुमें दूसरेकी दृष्टि पहुँचकर निकल जाती है; पर काली वस्तु दूसरेकी दृष्टिको आत्मसात् कर लेती है; वह निकल नहीं पाती। अतः दूध आदि सुफेद वस्तु पर काला कोयला रख देते हैं, जिससे उसे नज़र न लगे। मन्दिरोंमें राधाकी मूर्ति गोरी और श्रीकृष्णकी काली होती है। उसमें भी यही दृष्टिका आदान-प्रदान सम्बन्धका विज्ञान स्थित होता है। सुफेदको हमारी दृष्टि आकर्षण करती है; और कालीको हमारी दृष्टि आकर्षित नहीं कर पाती। यही दृष्टि-विज्ञानमें भी जानना चाहिए।

(५६) शूद्रादिके भोजनका निषेध।

स्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रान्त हो जाते हैं। मिस हेलनने यन्त्र-द्वारा स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि—हाथसे हाथ मिलानेसे भी रोगके बीज एक-दूसरेमें संक्रान्त हो जाते हैं। केवल रोग ही नहीं; बल्कि स्पर्शसे शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियोंपर भी प्रभाव हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें विद्युत्-शक्ति रहा करती है, जो मनुष्यकी प्रकृति तथा चरित्रके भेदसे विभिन्न-विभिन्न होकर रहती है। तामसिक-व्यक्तियोंमें तमोमयी, राजसिक लोगोंमें वह विद्युत्-शक्ति रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वगुणमयी हुआ करती है।

तब जैसे आचरण वालोंके साथ निवास होगा, जिस वृत्ति वाले व्यक्तियोंसे छुए हुए वा दिये हुए अन्नका उपयोग किया जायगा, वैसी ही वृत्ति वा प्रभाव सहवासियों वा सहभोज करने वालों पर पड़ेगा। भिन्न-भिन्न विद्युत्की प्रकृतिका परिणाम एक-दूसरे पर हुआ करता है। अतः दूसरेसे छुए हुए अन्नका सेवन नहीं करना चाहिये। हिन्दुधर्म-शास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी, शूद्र, चाण्डाल आदिसे स्पर्श किये वा बनाये अन्नके ग्रहणका जो निषेध है, वह इसी कारण है। इस प्रकार मुसलमान तथा ईसाइयोंके अन्न-ग्रहणका भी पूर्वोक्त कारणोंसे निषेध है।

आर्यसमाज मूर्खोंको शूद्र मानता है; तब उनके अन्न खानेसे भी मूर्खता बढ़ेगी ही तो। कणाद–जैसे मुनि अन्न-कणोंको स्वयं इकट्ठा करके खाया करते थे; उनके कैसे विशुद्ध-बुद्धिके ग्रन्थ बने? परन्तु स्वा० दयानन्द स्वयं शूद्र-भोजनका आदेश कर गये; तब उनके खानेवाले भी विधवा-विवाह आदि शास्त्र-विरुद्ध आचारोंमें क्यों न लगें? क्योंकि—स्वा० द० जीके अनुसार विधवा-विवाह शूद्रोंमें ही होता है।

(६०) ग्रहणमें भोजनादिका निषेध।

सूर्य और चन्द्रके ग्रहण-समयमें जल तथा अन्नादिमें विषोत्पादक कीटाणु बहुलतासे हो जाते हैं। इसका अनुभव अणुवीक्षण-यन्त्रसे किया जा सकता है। इसीलिए ऋषियोंने पात्रोंमें कुश डालनेकी आज्ञा दी थी, क्योंकि सभी कीटाणु कुशोंमें आजाते हैं। ग्रहणके बाद कुशा बाहर फैंक दी जाती हैं।

इसलिए ऋषियोंने ग्रहणके बाद स्नानकी व्यवस्था आदिष्ट की है। गर्भवती स्त्रियाँ बाहर नहीं निकलतीं; नहीं तो भविष्यद्-बालकके किसी अवयवमें काले चिन्ह हो जाते हैं। जुयालोजी-विषयके प्रोफेसर मिस्टर टारिस्टनने पर्याप्त अनुसन्धान करके सिद्ध किया है कि—सूर्य-चन्द्रके ग्रहण-समयमें उदरकी पाचनशक्ति कम हो जाती है। तब भोजन करनेपर अजीर्ण तथा उससे बहुत रोगोंकी आशंका रहती है। इसलिए हमारे शास्त्रोंमें सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके समय भोजन निषिद्ध किया गया है। इस विषयमें अधिक 'चतुर्थपुष्प'में 'ग्रहणविषय'में देखिये।

(६१) समान वर्णवालोंकी पंक्तिमें भोजन।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका जो एक-दूसरेकी पंक्तिमें बैठकर भोजनका निषेध है, और अपने-अपने वर्णकी पंक्तियोंमें बैठकर जो भोजनकी आज्ञा है, उसमें कारण यह है कि प्रत्येक वर्णकी बिजली वा प्रकृति जन्मसे ही एक-दूसरेसे विलक्षण होती है। उसका दूसरेकी प्रकृतिपर संक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनी अपेक्षा निम्न-श्रेणीके व्यक्तियोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी उच्च-गुणवाली विद्युत् मलिन हो जाती है। अथवा नानाजातीय विद्युत्के विपरीत-संघर्षसे किन्हींको भोजन हज़म नहीं होता। अथवा निम्न विचार हो जाया करते हैं।

(६२) पंक्तिके भोजन समाप्त होनेपर इकट्ठा उठना।

एक वर्णवालोंकी पंक्तिके भोजन-समयमें यह ध्यान देना चाहिये कि जितने आदमी इकट्ठे बैठें; वे इकट्ठा ही भोजन शुरू करें; और

इकट्ठा ही समाप्त करें, और इकट्ठे ही उठें; क्योंकि—पंक्ति-भोजनके समय सबके शारीरिक-यन्त्रमें क्रियाविशेषवश और इकट्ठे बैठनेसे सभीके भीतर एक ही विद्युत्की शृङ्खला बन जाती है। उनमें जो पहले उठेगा; यदि वह दुर्बल-मनःशक्ति वाला है; तो उसकी विद्युत्-शक्ति बाकी बैठे हुओंसे खिंच जाएगी; जिससे पहले उठे हुए व्यक्तिको भोजन नहीं पचेगा; उसकी मनःशक्ति और भी दुर्बल हो जावेगी।

यदि पहले उठनेवाला भीतरसे अधिक शक्तिशाली है; तो सब बैठे हुओंकी विद्युत् शक्तिको खैंचकर उठेगा, जिससे दूसरोंके उदरमें विकार हो सकता है। अतः पंक्ति-भोजनमें इकट्ठे ही बैठना चाहिये, और इकट्ठे ही उठना चाहिये। बल्कि शेष खाने वालोंकी भोजन-समाप्तिसे पूर्व हाथ भी नहीं धोना चाहिये, आचमन भी नहीं करना चाहिए। खा चुकनेपर भी भोजनका एक-आध कण साथ खाते ही रहना चाहिए।

(६३) भोजनके बादके नियम।

(क) भोजनके बाद कठिन श्रम, वा शीघ्र दौड़ नहीं करनी चाहिये; उससे रक्त-संचलन अधिक हो जानेसे पाकक्रियामें बाधा उपस्थित हो जाती है। (ख) भोजनके बाद कुल्ला करना चाहिये—जिससे दान्तोंमें उच्छिष्ट न रह जावे। दांतों-द्वारा ही सब रोग प्रारम्भ होते हैं। उनमें जूठन बहुत देर तक रहे तो दांतोंमें मैल होजानेसे उसका रस भीतर जानेसे हानि प्राप्त होती है। दांत भी जल्दी टूटते हैं; दन्तशूल भी हो जाता है। (ग) फिर हाथ धोकर

वह घृताक्त हाथ आंखोंपर फेरना चाहिये—इससे आंखोंकी ज्योति बढ़ती है। घृतको हाथसे उतारनेके लिए साबुनसे हाथ धोकर हाथको रूखा करना ठीक नहीं। (घ) भोजनके बाद पहले वीरासनसे बैठना चाहिए; उस समय 'अगस्त्यं कुम्भकर्णं च शनिं च वडवानलम्। अन्नस्य परिपाकार्थं स्मरेद् भीमं च पञ्चमम्' अगस्त्य आदिको याद कर लेना चाहिये। इस स्मृतिसे हमारे भोजन-परिपाककी क्रियापर प्रभाव पड़ता है। कई इस मन्त्रसे उस समय पेटपर हाथ फेरते हैं; पर हमें वह उचित नहीं जंचता। यद्यपि उससे भोजनके पचनेमें सहायता मिलती है; तथापि वह भोजन सर्वथा निस्सार हो जाता है।

इस विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है कि—दो दैत्य थे, कहीं जंगलमें रहते थे। आनेवाले अतिथिके सत्कारका ढोंग करते थे। एक भाई दूसरी ओर आवरणमें अपने भाईको मारकर उसका मांस पकाकर अतिथिको खिला दिया करता था। जब वह खा चुकता तो वह दैत्य संजीवनी-विद्याके बलसे अपने भाईको बुलाता। वह भाई उस अतिथिका पेट फाड़कर बाहर निकल आता। उससे वह पथिक मर जाता। महात्मा बने हुए वे दोनों उसे खा जाते थे। इस प्रकार बहुतसे व्यक्ति मर गये। अगस्त्य मुनिको पता लगा। वे भी गये। जब वे भोजन कर चुके, तो दैत्य जब अपने भाईका संजीवनी विद्यासे आह्वान करने लगा; तो मुनिने अपने पेटपर हाथ फेर दिया। आह्वानसे भी वह दैत्य बाहर न निकला तो अगस्त्य मुनिने कहा कि—

मेरे पेटपर हाथ फेरनेसे वह गल गया—निस्सार होगया; अब नहीं निकल सकता। इससे दैत्य मुनिपर झपटा; तो मुनिने हुँकारसे उसे मार डाला; और लोकरक्षा की। इस प्रकार पेट पर हाथ फेरनेसे भोजन निःसार हो जाता है। हां, समुद्रपायी-अगस्त्य बहुत खवैया कुम्भकर्ण, वृकोदर भीमसेन आदिके स्मरणकी भावना कर लेनी चाहिये। जिससे हममें भी उत्साहशक्ति संकुचित होकर भोजनका परिपाक हो जावे।

(ङ) भोजनके बाद भुक्त्वा शतपदं गच्छेत्, कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक् ? (बीमार कौन नहीं होता ?) वामशायी, शतपदगामी, सोऽरुक्, सोऽरुक्, सोऽरुक्, (बांई करवट सोने वाला, और भोजनके बाद सौ कदम चलनेवाला कभी बीमार नहीं होता) इन वचनोंके अनुसार धीरे-धीरे सौ कदम चलना चाहिये। इससे यथायोग्य रक्तसंचलन होनेसे भोजनकी परिपाक-क्रियामें सहायता मिलती है। तेज़ चलनेमें रक्तसंचलनकी गति बहुत बढ़ जानेसे भोजन भस्म हो जाता है। बड़ी हानि होती है। आयु घटती है। खाकर बैठनेसे बड़े पेटका सेठ बन जाता है। एकदम सो जावे; तो पाकक्रिया न हो सकनेसे अजीर्ण हो जाता है। न घूमने से पेट बड़ा हो जाता है। घूम-फिरकर भोजन करना भी खतरेसे खाली नहीं; क्योंकि उस समय भी रक्त-संचलन जल्दी-जल्दी होता है।

———

(६४) उपवास एवं एकादशी-विज्ञान ।

प्रत्येक पुरुष कभी आवश्यकतासे अधिक खा जाता है; तब उसके अन्दर व्यर्थ पदार्थ निरन्तर इकट्ठे होते रहते हैं; वे ही रोगों के मूल कारण बनते हैं। मुनियोंने उन रोगोंके उपशमनार्थ समय-समय पर उपवास एवं एकादशीके दिन नियमतः व्रतका विधान नियमित किया था। कोई समय था कि—जब एकादशीव्रत पर उपहास किया जाता था; उसका नियमन 'कसाईपना' बताया जाता था, पर विज्ञानने जन्म लेकर और उसे प्रश्रय देकर उन आक्षेप्ताओंको अल्पश्रुत सिद्ध कर दिया है। हमारे प्राचीन-महानुभाव वैज्ञानिक-शिरोमणि थे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उन्होंने हमारे लिए कर्तव्यता-रूपसे जो-जो बताया है, उसका रहस्य यद्यपि उन्होंने उस समय प्रकट नहीं किया; तथापि आजके विद्वान् उनके नियमनमें बहुत लाभ होते हुए देखकर उनकी बुद्धि पर आश्चर्य प्रकट करते हैं।

उपवास करनेसे अन्दर इकट्ठे हुए सब व्यर्थ पदार्थ भस्म हो जाते हैं। हमारी जठराग्नि चुन-चुनकर उन दूषित पदार्थोंको जला दिया करती है। इस प्रकार शरीर नवीन हो जाता है। उन पदार्थों के भीतर रहने तक हमें वास्तविक भूख नहीं लगती। क्षयादि-रोगोंसे अतिरिक्त उपवास प्रायः सभी रोगोंको निर्मूल करता है। इस प्रकार शरीर-स्वच्छताविधायक उपायोंमें उपवास सबसे श्रेष्ठ है।

अपने उद्धारार्थ भगवान्का ध्यान भी करना पड़ता है। तब

अनन्यमनस्कता अपेक्षित होती है, जैसा कि गीतामें माना है (८।१४, ६।१३,३०, १३।१०)। अनन्य-ध्यानकेलिए जहाँ शरीरकी स्वच्छता अपेक्षित होती है, वहाँ मनकी भी। जैसे शरीरकी स्वच्छता उपवाससे, आहार-त्यागसे होती है, वैसे मनकी स्वच्छता मनके आहार-त्यागसे होती है। मनका आहार होता है विषयविलास-चिन्तन। उसके त्याग अर्थात् मानसिक-उपवाससे निर्विषय मन स्वच्छ हो जाता है। निर्विषय-मनसे भगवान्‌का ध्यान अनन्यतासे होता है। मन ही बन्ध एवं मोक्षका कारण होता है। जैसे कि 'पञ्चदशी'-स्थित यह वचन प्रसिद्ध है-'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि, मोक्षे निर्विषयं मनः' (११।११७) अर्थात् विषयासक्त मन बन्धका कारण होता है, और विषयरहित मन मुक्ति-दायक होता है। तब अपने उद्धारक, मुक्तिके उपायभूत अनन्य-ध्यानकी निष्पत्तिकेलिए मनकी निर्विषयता आवश्यक होती है। उसका उपाय है कि-व्रतवाले दिन निराहार रहा जावे।

सतत-आहारसे हमारी इन्द्रियोंमें ऊष्माका वेग बढ़ जाता है, तब उनमें उत्तेजना एवं विषयैषणा उत्पन्न हो जाती है। जब विषयैषणा हुई, तो भगवान्‌का अनन्य-ध्यान कैसे सम्भव हो? उसकी रक्षार्थ भगवान्‌ने हमपर अनुग्रह करके यह उपाय बताया है कि—'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' (गीता २।५६) अर्थात् निराहार-पुरुषकी विषय-निवृत्ति हो जाती है। निर्विषयता हो जानेपर अनन्य-भक्तिमें कोई बाधा नहीं बच पाती, वह भक्ति ठीक हो पाती है।

तब प्रश्न उठता है कि-निराहार होनेसे विषय चाहे छूट जावें, तथापि उनका रस तो नहीं छूटता। विषय-रस न छूटनेसे भगवान् का अनन्य ध्यान फिर कैसे हो ?' इस पर यह उत्तर है कि-यह कोई नवीन प्रश्न नहीं है। भगवान्ने इसे पहलेसे ही जान रखा है। अतः उन्होंने कहा है-'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रस-वर्जम्' (२।५६)। तब विषयरस हटनेका क्या उपाय है ? वह उपाय भगवान्ने इस प्रकार अपने श्रीमुखसे कहा है—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (२।५६) अर्थात् निराहारता-रूप व्रत हो; और फिर हो भगवान्की बाँकी-झाँकीका दर्शन। इस प्रकार विषय और विषयरस छूटकर हमारी अनन्यचित्ततामें सहायक बनेंगे। जब अनन्यचित्तता होगई; तो हमें जगत्का उत्तम लाभ मिलेगा। यही है व्रतोपवासका विज्ञान।

उपवासका इसीसे महत्त्व समझिये कि—जब कोई ज्वर वा रोग जारी हो; तो वैद्य पहले उसके पेटकी सफाईकेलिए उसे लङ्घन (उपवास) कराते हैं; तभी उसकी चिकित्सा करते हैं। इससे वह ज्वर वा रोग जल्दी हट जाता है। वैज्ञानिकोंने अनुसन्धान करके पता लगाया है कि—उपवाससे ज्वर, सन्निपात (नमोनिया) प्रतिश्याय (जुकाम), जलोदर, हैज़ा, कुष्ठ, स्वप्नदोष, खांसी, दमा, सूजन आदि रोग शीघ्र हट जाते हैं। उपवाससे लाभ केवल शरीरका ही नहीं होता, बल्कि—मनका भी लाभ हो जाता है। अतः उपवास मानस-रोगोंकेलिए भी उपयोगी सिद्ध है, क्योंकि-उपवाससे शरीरकी विकृति हटनेसे मनमें भी स्वास्थ्य हो जाता

है। मनके स्वस्थ होनेपर 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' इस प्रकार बुद्धिका संस्फुरण, तथा ध्यानैकतानता भी होती है—जैसे कि— भगवद्गीताके वचनसे हम पहले बता चुके हैं।

इसीलिए ही योगी एवं तपस्वी बड़े-बड़े उपवासोंको किया करते थे। उसी उपवासको सनातन-हिन्दुधर्ममें 'व्रत' नामसे कहा जाता है। व्रतमें उपवासका नियम होता है। उपवासमें पहले लघु-भोजन, फिर एक-बार मुनिधान्य-श्यामाक (सांवक) आदिका उपयोग करना पड़ता है। उसमें उन्नति करनेपर दूध, तब जल, फिर वायु-भोजन करना पड़ता है। व्रतमें पुरुष धर्म समझकर उस दिन पापसे घृणा करता है। दूसरेके धन वा परस्त्रीमें कुदृष्टि नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, या मौनी रहता है, दूसरेका धन नहीं चुराता, दूसरोंको धोखा नहीं देता। धर्मके पहले अङ्ग धृतिको, फिर क्षमाको आश्रित करता है, मनका दमन और इन्द्रियोंका निग्रह करता है, क्रोध नहीं करता है, शुचि (पवित्र) रहता है। स्वाध्याय करता है, भगवान्‌का ध्यान करता है। कथा सुनता है। भगवान्‌का कीर्तन करता है। इस प्रकार ऐहिक जीवन उत्तम हो जाता है, पुण्य उपार्जित हो जाता है, जिससे पारलौकिक गति भी सुप्राप्य हो जाती है। यही तो एकादशीका व्रत है।

यह बात किसीसे छिपी नहीं है कि—शुक्ल तथा कृष्ण दोनों पक्षोंमें एकादशी-तिथि आया करती है। उसमें हमारे पूर्वजोंने उपवासका आदेश दे रखा है। उसके माहात्म्य भी उन्होंने बताये हैं। कार्तिक-माहात्म्यमें लिखा है—'तपो नानशनात् परम्' (१७।२५)

उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है। 'व्रतं नैकादशीसमम्' (१७।२७) एकादशीके समान अन्य कोई व्रत नहीं है। फिर वहां लिखा है—

'एकादशीव्रतं नाम सर्वकामफलप्रदम्। एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि ॥ मातेव सर्वबालानामौषधं रोगिणामिव। रक्षार्थं सर्व-लोकानां निर्मितैकादशी तिथिः ॥ एकादशेन्द्रियैः पापं यत् कृतं येन वा द्विजाः! नरो निर्धूय तन्नूनं प्रीतः स्वर्गतिमान् भवेत् ॥ महापातकयुक्तोपि युक्तोपि ह्युपपातकैः। एकादश्यां निराहारः स्थित्वा याति परं पदम्' (१७।३, ४, ५, १०) यहाँ पर एकादशीको बच्चोंकेलिए माताकी तरह, रोगियोंकेलिए औषधके समान, सबके रक्षार्थ बनी हुई माना है। ग्यारह इन्द्रियोंसे किये हुए पापोंसे हटकर व्रतीका स्वर्गमें जाना बतलाया है। महापातकोंका भी दूर हो जाना माना है।

अर्वाचीन पुरुष पहले इन फलोंपर उपहास करते थे, व्रतोंका विरोध करते थे, और व्रत-उपवासोंको नियत करनेमें प्राचीन महानुभावोंकी क्रूरता एवं निर्दयता मानते थे पर पाश्चात्य-वैज्ञानिकों ने जब इन लाभोंका अनुमोदन किया; तब अर्वाचीन लोग प्राचीनोंके विज्ञानपर नतमस्तक होगये।

उपवास मनुष्योंकेलिए बिना दवाईका औषधालय है। वह रोगके बीजोंको जला डालता है। सञ्चित-मलको अन्दरसे निकाल कर शरीरका संशोधन कर देता है। पाचनक्रियाओंको शक्ति देता है। वास्तविक भूख उत्पन्न करता है। मनको शुद्ध एवं प्रसन्न कर देता है। हम जो कुछ खाते हैं, उसका अपक्वांश जब तब अन्दर

बच जाया करता है। तदन्तर वार-बार खाते रहनेसे शारीरिक अन्तड़ियों पर वड़ा भार पड़ जाता है, इससे कामोत्तेजना भी प्रारम्भ हो जाती है। अन्तड़ियोंको विश्रास न मिलनेसे भीतर विष उत्पन्न होकर सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता है। उसका धुआँ मस्तिष्कमें पहुँचता है, जो शारीरिक-शक्तिका ह्रास कर देता है। इससे श्वास, कास, कुष्ठ, स्वप्नदोष और दुर्वलता आदि नाना रोग उत्पन्न होकर शरीरको सर्वथा अस्वस्थ कर देते हैं, और मनकी एकाग्रता हट जाती है।

मनुष्य रोगाक्रान्त होकर भांति-भांतिकी विदेशी ओषधियाँ सेवन करता है। वे ओषधियाँ उस रोगको वलात् दूर करती हैं। उनसे भीतरी रोग शान्त नहीं होता, अपितु उन ओषधियोंका अपना विष भी भीतर सञ्चित हो जाता है, जो हमें निर्वल बना देता है और कालान्तरमें विभिन्न रोग हमपर फिर आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी स्थितिमें उपवास ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। तभी तो रोगावस्थामें वैद्य लोग भी पहले लंघन ही कराया करते हैं। कहा गया है—'ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु भेषजम्। ज्वरान्ते पाचनं विद्यात्'।

उपवासका महत्त्व पशु-पक्षी भी जानते हैं, अचेतन पदार्थ भी जानते हैं। जब कोई पशु-पक्षी रोगी होता है; तब उसे खानेको दीजिये, वह कुछ भी नहीं खायेगा। अब अचेतन पृथिवीको लीजिये। जिस पृथिवीका कृषिकेलिए सदा ही उपयोग किया जाता है; उसे विश्रामका अवसर नहीं दिया जाता;

तो उसकी उत्पादन-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है। तब उसकी स्वाभाविक शक्तिके उत्पादनार्थ उसे भी उपवास कराया जाता है। पृथिवीके बड़ी होनेसे उसका उपवास भी बड़ा होता है। एक साल या छः मास उसे उपवास कराये जाने पर उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। फिर उसे बहुत खाद तथा बहुत पानी देनेकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती। इस प्रकार हमें भी पक्ष-पक्षमें एक-एक उपवास (एकादशी-व्रत) करनेसे हमारे पाचन-क्रिया करने वाले अङ्गोंका कार्य भी थोड़ा हो जाता है। विश्राम प्राप्त हो जानेसे उन अङ्गोंमें शक्तिका सञ्चय हो जाता है। आगेका भोजन अनायास पच जाया करता है और शरीर नीरोग रहता है।

उपवाससे शरीरका शोधन होता है। निर्जीव यन्त्रोंका भी उपवाससे संशोधन किया जाता है। इससे वे स्थायी तथा अधिक कार्य करने वाले सिद्ध होते हैं। दो यन्त्र हों; एक वह—जिसका संशोधन समय पर हो; और दूसरा वह—जिसका संशोधन कभी भी न किया जाय। दोनोंके कार्य-निरीक्षणसे पता चलेगा कि—जिस यन्त्रका उपवासपूर्वक शोधन किया गया है, वह स्वस्थ है, और दूसरा रोगी है, उसका कार्य शिथिल-गतिसे होता है।

इसी प्रकार शरीर भी हमारा यन्त्र है। अन्य यन्त्रोंमें तो शोधनकी यह सुविधा है कि—उनके अङ्गोंको पृथक्-पृथक् करके उनका संशोधन कर फिर उन्हें अपने-अपने स्थान पर फिट कर दिया जाता है, पर हमारे शरीरके अङ्गोंका पृथक् करना सम्भव नहीं। उनको पृथक् करना तो दूर रहा; उनमें हमारी दृष्टि भी

नहीं पहुँचती। तब शरीरके भीतरी छोटे-छोटे अवयवों तथा सूक्ष्म स्नायुओंका संशोधन कैसे हो ? तो क्या प्रकृतिने हमारे शरीरकी अन्तःशुद्धिकेलिए कोई मार्ग न रखकर मूर्खता की है ? नहीं-नहीं। हमारे भीतरी भागके शोधनार्थ की जानेवाली उपाय-राशिका नाम ही उपवास है। उसके द्वारा शरीरके भीतरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके शोधनका कार्य सहजही हो जाता है।

घरकी सजावटकेलिए जब-तब विशिष्ट स्वच्छताकी आवश्यकता भी पड़ती है, तभी वहां दीमक-चूहे आदिसे बचाव होता है; और उस घरकी आयु बढ़ती है; इसी प्रकार शरीररूपी घरकी भी प्रत्येक पक्षमें शुद्धि करनेसे भीतरी-अग्नि अवशिष्ट दोषोंको दग्ध कर देती है; इससे शरीर निर्मल हो जाता है, आयु भी उसकी बढ़ जाती है। शरीरकी निर्मलतासे मन भी निर्मल होता है। निर्मलताको प्राप्त मन ही धर्म-कर्म तथा उपासनाके योग्य सिद्ध होता है, और लौकिक अर्थ-कामकी सिद्धिमें भी सामर्थ्यवान् सिद्ध होता है।

व्रतका एक लौकिक लाभ यह भी है कि—यदि घरके सभी व्यक्ति पक्ष-पक्षमें विधिपूर्वक व्रत करें; तो युद्धादिमें राशनिंग-सिस्टम में राशनकी कमी मिट जाती है। अथवा बचा हुआ अन्न भूखसे पीड़ित भाइयोंके उपयोगमें भी आ सकता है। इससे देशमें अन्न का अभाव कम हो जाता है। व्रतका अभ्यास होजानेपर कहीं विदेश वा स्वदेशमें समयपर भोजन न मिलनेसे व्याकुलता नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त स्वयं भूखका कष्ट सहनेसे ही हम दूसरे भूखे-नंगे व्यक्तियोंका कष्ट जान सकते हैं; अन्यथा नहीं। 'नहि

वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्'। एक दिन भी जिसने उपवास नहीं किया; वह प्रतिदिन फांका करनेवाले क्षुत्पीड़ित प्राणियोंका कष्ट कैसे जान सकता है ?

इधर भूखे रहनेसे यदि कुछ कष्ट होता भी है; तो यह एक तपस्या है। इससे पिछला पाप नष्ट होता है। पापका परिणाम ही दुःख हुआ करता है। जब हम क्रमशः दुःखको झेलते रहेंगे, तब क्रमशः हमारा पाप भी क्षीण होता रहनेसे हमारे पुण्यकी अभिवृद्धि होगी। कष्ट सहनेका नाम तप है। चान्द्रायण, कृच्छ्र, आदि व्रत इसीलिए 'तप' कहाते हैं। अतः एकादशी-व्रत भी एक तपस्या है।

व्रत तथा उपवास यद्यपि जब-तब किया जा सकता है; तथापि उसमें कोई नियम नहीं रहता। नियमके अनुवर्तनसे शरीर उसका अभ्यासी होकर सदा प्रकृतिस्थ-स्वस्थ रहता है। इस कारण मुनियोंने हमारे लिए साधारण-उपवास एकादशीमें आदिष्ट किया है। 'एकादश' शब्दसे एकादश इन्द्रियोंके विशिष्ट-विषयोंका उपवासभी सूचित होता है। जैसेकि 'कार्तिकमाहात्म्य'में कहा है—'श्रोत्रत्वग् घ्राणदृग्-जिह्वा-वाग्-दो-(भुज) मेढ्राङ्घ्रि-पायवः। इतीन्द्रियाणि मनसा वश्यान्येकादशैव हि' (१७।७) इससे मल-मूत्र, दर्शन-स्पर्शन आदि अनिवार्य विषयोंका निषेध इष्ट नहीं, किन्तु उन इन्द्रियोंसे वैषयिक-आस्वाद, कामवश कामिनीरूपदर्शन, कामसम्बद्ध-बातोंका श्रवण, अश्लील बातोंका कथन, कामचरितार्थतार्थ स्त्रीका आलिङ्गनादि स्पर्श, एतन्निमित्तक इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओंका लगाना वा सूंघना, स्वादकेलिए विविध रसोंका खाना, किसी रमणीके घर

जानेकेलिए पांत्रोंका उपयोग, इस प्रकार गुप्त-इन्द्रियका वैषयिक कार्योंमें उपयोग—आदिका निरोध करना चाहिये—यह सूचित होता है।

वाणीका निरोध मौन है, मौन भी एक तपस्या है; इस विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं। 'मुनेर्भावो मौनम्' यह मौनका विग्रह है। मौनसे मुनित्व अनायास प्राप्त हो जाता है। हरिकीर्तन-आदिके अतिरिक्त और कुछ न बोलना यह मौन है। इसी कारण मुनियोंने एकादशीके दिन स्नान-दान आदिसे अतिरिक्त भगवत्पूजन, देव-पूजन, भगवन्नाम-गुणकीर्तन, गान-नृत्य, पुराणादिके श्रवणकी भी आज्ञा दी है। जैसेकि—कार्तिक-माहात्म्यमें कहा है—'स्नात्वा च विधिवद् विष्णुमर्चयेत् प्रयतो नरः। गन्धपुष्पादिभिः सम्यग् रात्रौ कुर्वीत जागरम्। गीतं वाद्यं च नृत्यं च पुराणश्रवणं तथा। धूपं दीपं च नैवेद्यं गन्धपुष्पानुलेपनैः' (१७।११-१२)।

उपवासार्थ एकादशी-तिथि नियमन करनेमें विज्ञान भी है। वह यह कि—एकादशीका अमावास्या और पूर्णिमा एवं दोनों अष्टमियोंके साथ विशेष योग होता है। अमावस्यामें सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक राशिमें होते हैं। पूर्णिमामें दोनों सम-रेखामें होते हैं; अष्टमीमें दोनों समान-कोणमें होते हैं; तब उनके आकर्षण-विकर्षणका प्रभाव जल पर तथा कठोर त्वचा वाले रसयुक्त वृक्षोंपर भी होता है, मनुष्य शरीरका तो कहना ही क्या? इसी कारण समुद्रमें सबसे अधिक ज्वार-भाटा पूर्णिमामें, सबसे कम अमावास्यामें, मध्यमरूपसे दोनों अष्टमियोंमें हुआ करता है।

जैसे सूर्य-चन्द्रके आकर्षण-विकर्षणका प्रभाव समुद्रके जलपर पड़ता है, रसदार वृक्षों पर पड़ता है; वैसे ही प्राणियोंके लहू पर भी पड़ता है; क्योंकि–लहू भी जलका ही भाग होता है। उन तिथियोंमें स्त्री-पुरुषोंकी रक्त-वीर्यादि धातुएँ विषम होती हैं। उस समय भोजन करने पर हुई-हुई उत्तेजना हानिकारक होती है। अतः इन तिथियोंमें ब्रह्मचर्यपूर्वक व्रत आवश्यक है। इसी कारण ही पूर्व समयमें इन तिथियोंमें अनध्याय, यज्ञ एवं व्रत आदिके अनुष्ठान चलते थे।

उक्त आकर्षण-विकर्षणका प्रभाव अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा-अमावस्या तक रहा करता है। एकादशीसे वह प्रभाव विशेष-रूपसे आरम्भ होता है। इन्हीं दिनों रोगके बीज भी शुरू होते हैं। तब हमारे ऋषि-मुनियोंने अष्टमीमें साधारण-व्रत निर्दिष्ट करके एकादशीके दिन उपवास बताया। उसकी विधि यह थी कि–अष्टमी के दिन साधारण व्रत किया जावे, फिर नवमीके दिन भोजन किया जावे। फिर दशमीकी रात्रिमें उपवास वा लघु-भोजन किया जावे। एकादशीके दिन दिन-रात पूर्ण उपवास किया जावे। फिर द्वादशीके दिन ब्राह्मण-भोजन तथा दान-दक्षिणा देकर स्वयं लघु-भोजन किया जावे। रात्रिमें फिर उपवास करके वा मृदु भोजन करके फिर प्रदोष व्रत करके, चतुर्दशीमें नियमानुसार भोजन करके फिर पूर्णिमामें 'श्रीसत्यनारायणव्रत' किया जावे। सायं उसका प्रसाद लिया जावे। अमावास्यामें अपराह्ण तक निराहार पितृपूजन करके फिर पितृश्राद्धमें ब्राह्मणको निमन्त्रित करके

जिमाकर उसका शेष भोजन करे।

फलतः अमावस्या तक पूर्णिमामें सूर्य और चन्द्रमाका आपसमें विशेष-सम्बन्ध होनेसे उसका पृथिवीपर प्रभाव पड़ता है। उससे हमारी जठराग्निपर प्रभाव पड़ता है। उससे रोग सम्भव होता है, परन्तु दशमीकी रात्रिमें भोजन न करने वा लघु-भोजन करनेसे दूसरे दिन एकादशीमें उपवास करनेसे, फिर द्वादशीमें लघुभोजन वा प्रदोष-व्रत करनेसे शरीरकी शुद्धि हो जाती है। यही कार्तिक-माहात्म्यमें कहा है—'उपवासफलं लिप्सुर्जह्याद् भुक्ति-चतुष्टयम्, पूर्वापरदिने रात्र्यामहोरात्रं च मध्यमे (१७।८) इसीकी स्पष्टता अग्रिम पद्यमें की गई है—'भवेद् दशम्यामेकाशी द्वादश्यां च मुनीश्वराः! एकादश्यां निराहारः स्थित्वा याति परं पदम्' (१७।१०)।

इस प्रकार करनेपर 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्त्रम्' इस न्यायसे रोगके बीज दग्ध हो जाते हैं। इन अवसरों पर ब्रह्मचर्य भी करना पड़ता है, निराहार भी रहना पड़ता है। इससे शरीरकी निर्मलता हो जानेसे सम्भावित शारीरिक एवं मानसिक हानि सर्वथा नहीं हो पाती, क्योंकि उपवास मनुष्योंकेलिए बिना दवाका औषधोपचार होता है। ऐसा करनेसे हमारा शरीर स्वस्थ रहेगा, शरीर स्वस्थ होने पर हमारा चित्त स्वस्थ रहेगा। चित्त स्वस्थ होने पर बुद्धि-स्फुरण होगा। बुद्धि-स्फूर्ति से हम संसारोपकारक कार्य कर सकेंगे।

इस भयको अपने मनसे सदाकेलिए निकाल देना चाहिये कि उपवास हमारेलिए मारक वा निर्बलताकारक सिद्ध होगा।

नहीं, कभी नहीं। अपितु सर्वदा खाते रहना, अन्तड़ियों वा इन्द्रियोंको थोड़ा भी विश्रामका अवसर न देना ही निर्बलताकारक वा मारक सिद्ध होता है, व्रत वा उपवास नहीं। अवकाश सबको दिया जाता है। सरकारने विद्यालयोंमें साप्ताहिक अवकाश रखा हुआ है। दुकानों में भी साप्ताहिक अवकाश रखा है। इञ्जन आदि यन्त्रोंको भी समय-समय पर अवकाश देना पड़ता है। इसका प्रयोजन है इनको विश्रामका अवसर देना। विश्रामसे आगे स्वास्थ्य बढ़ता है। आगेका कार्य भी द्रुतगतिसे, स्फूर्तिसे होता है। सतत-अशनादिक्रिया होनेसे भीतरी अन्तड़ियोंको अवकाश न मिलनेसे उनपर दबाव बढ़ जाता है, और वे निर्बल पड़ जाती हैं। अतः सतत अन्नाशन ही मारक सिद्ध होता है। अजीर्णता आदि सब रोग इसी सतत-अशनके ही परिणाम हैं। अजीर्णताकी वृद्धि शरीरको जर्जर करके नष्ट कर देती है, उपवास नहीं। उपवास तो इन सब दोषोंको दूर कर देता है। मृत्युका म्युनिसिपैलिटीका रजिस्टर देखने पर ज्ञात होगा कि उपवाससे उतने पुरुष नहीं मरते, जितने अवैध वा सतत-भोजनसे। व्रत एवं तपके अनुष्ठानमें लगे हुए हमारे मुनियोंकी अकालमृत्यु कहीं सुनी नहीं गई है। प्रत्युत उनकी दीर्घ-आयु ही सुनी जाती है। इसी कारण कोई भी रोग क्यों न हो, उसे दूर करनेकेलिए वैद्य लोग रोगियोंसे उपवास कराते हैं; तभी उनकी चिकित्सा सफल होती है।

फलतः उपवास ही पाचक ओषधि है। उसीसे हमारे भीतरी अवयव-प्रत्यवयव रविवारकी भांति अवकाश पाकर फिर नये हो

जाते हैं; और नवीन शक्ति प्राप्त करके भावी रोगोंसे मुकाबला करके उन्हें हटा सकते हैं। उपवाससे भीतरी विष या मल निकल जाता है। दमा आदि रोगोंको दूर करनेकेलिए लम्बे उपवासोंकी आवश्यकता पड़ती है; परन्तु प्रत्येक-पक्षमें एकादशीव्रत करने पर विशिष्ट रोगोंकी उत्पत्ति ही नहीं हो पाती। अतः आगे दीर्घ-उपवासोंकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

कभी भी व्रत न करने वाले और सदा ही खाने-पीनेमें लगे हुए पुरुषोंकी चर्बी बढ़ जाती है, कफ बढ़ जाता है; शरीरमें मल व्याप्त हो जानेसे विकारपूर्णता सदा स्थित रहती है, स्फूर्ति नहीं रह जाती, सदा उदासीनता-सी बनी रहती है। कोई भी वायु-मूलक रोग जब-तब शरीरमें अधिष्ठित रहता है, मनकी वृत्ति दूषित रहती है। परमात्मा या तपस्याके प्रति प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। हृदय सदा भोगवासनासे वासित तथा कलिकल्मष-कलुषित होकर दुष्प्रवृत्तियुक्त रहता है। पाचनक्रियामें निर्बलता हो जाती है। तब खाया हुआ अन्न जीर्ण (हजम) नहीं होता, चित्तमें सदा उद्वेग रहता है। ऐसा पुरुष सदा दूसरों पर झल्लाया ही करता है; सदा दूसरोंके प्रति तना ही रहता है। पास पड़ा हुआ धन धीरे-धीरे वैद्योंके औषधालयोंमें सञ्चित होता जाता है। निर्बलताके कारण किसी भी सत्कार्यमें प्रवृत्ति नहीं हुआ करती।

निर्बलताके दूरीकरणार्थ वह वैद्योंसे पुष्टिकारक-दवाइयोंका सेवन करता है, पर उसका फल कुछ भी नहीं निकलता; प्रत्युत भीतरी निर्बलतासे दुर्बल हुए-हुए अङ्ग उस ओषधिके भी उपयुक्त

सिद्ध नहीं होते; तब अन्दर विष व्याप्त हो जाता है। यमराजके दूत समय-समय पर दर्शन देने आते हैं। यमदूतोंको डराने वाले व्रत-उपवास द्वारा उसका प्रतिकार न करने पर क्रमशः राजयक्ष्मा आदि रोग अङ्गोंको आलिङ्गन कर लेते हैं, और फिर यमराज गलेमें पाश डालकर जीवको खींच जाते हैं।

व्रत-उपवास आदि करने पर तो यमराजके दूत, वरुणके पाश, भूतप्रेत आदि यह सब वापिस लौट जाते हैं। तब शरीरकी निर्मलतासे मन भी प्रभावित एवं स्वस्थ हो जाता है। 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' यह कथन चरितार्थ हो जानेसे बुद्धिस्फुरण होता है। मस्तिष्क उज्ज्वल हो जाता है। विचारशक्ति प्रवृत्त हो जाती है। विचारशक्ति मानसिक बलपर निर्भर है, और मानसिक बल शरीरकी निर्विकारता पर निर्भर है। विकारपूर्ण शरीरमें पुरुषका मानसिक विकास नहीं हो पाता; क्योंकि-शरीरमें विकार होनेपर मानसिक-शक्तियोंकी विचारोंके साथ संलग्नता होती ही नहीं। संलग्नता एवं तन्मयताकेलिए मस्तिष्ककी जो रूपरेखा आवश्यक हुआ करती है, वह रूपरेखा पाक्षिक-व्रतके बिना मस्तिष्कमें उत्पन्न नहीं हो पाती; क्योंकि तन्मयता एवं संलग्नता आहार अल्प चाहती है। व्रत-उपवास ही उस मिताहारका साधन हुआ करता है।

जो लोग व्रत-उपवासके द्वारा शरीरके अथवा मनके अङ्गोंका संशोधन नहीं करते; उनमें संलग्नता एवं तन्मयता नहीं हुआ करती; क्योंकि उस समय आहारके दबावसे कामातुरता रहनेके कारण पुरुषमें तमोगुणकी वृद्धि होनेसे सात्त्विकता नहीं हो पाती;

तब पुरुषका मन कैसे एकाग्र हो? प्राचीनकालमें तपस्वि-गण ईश्वराराधनमें अधिक तन्मयता सिद्ध करते थे, जिससे कि परमात्मा की शक्तिसे अपने-आपको मिला सकें। वे लोग मिताहार तथा एकादशी-व्रत, उपवास आदिकी अपेक्षा किया करते थे।

जो कभी भी भोजन नहीं छोड़ते, शारीरिक बलकेलिए सतत बहु-भोजनमें-लगे रहते हैं, उनमें मस्तिष्कबल या प्रतिभाबल नहीं रह जाता। हमारे उज्ज्वल-मस्तिष्कवाले ऋषि-मुनि बहुत मोटे-ताजे या सतत-बहुभोजनशाली नहीं हुआ करते थे, किन्तु आभ्यन्तरिक बलधारी और मनोबल-सम्पन्न होते थे। उसमें मिताहार और जब-तब व्रत-उपवासका उनका नियम प्रधान-कारण था। बाहरसे हृष्ट-पुष्ट और भीतरसे क्षीण एवं रोगी मस्तिष्क-बल तथा प्रतिभा-शालिताको कभी प्राप्त नहीं करते। न वे भविष्यमें यशकी स्थापना करनेवाले सद्ग्रन्थोंके निर्माण-आदिका कार्य ही कर सकते हैं।

जो लोग हिन्दु-धर्मपर यह आक्षेप करते हैं कि—'इनके तो ३६५ दिनोंमें ३०० व्रत ही निकल पड़ते हैं। तब हिन्दुधर्मके अनुसार चलना भूखों मरना है, अपनी स्त्रीको अपनेसे विरक्त करके दूसरोंकी ओर प्रवृत्त करना है' यह सब आक्षेप अज्ञानवश हैं। सब व्रतोंमें पूरा उपवास नहीं होता। वे तो मितभोजनमें सहायक हुआ करते हैं। यदि नियमानुसार स्वयं भी व्रत किये जावें; अपनी स्त्रीको भी इस लाईनमें प्रवृत्त किया जावे; तो दोनों का संयमी जीवन सुखसे बीतेगा। पुरुष जैसे बनेगा, स्त्री भी वैसी बनेगी; बल्कि उससे बढ़ी हुई सिद्ध होगी। 'अश्वः शस्त्रं शास्त्रं

वाणी वीणा नरश्च नारी च। पुरुष-विशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च' यह नीतिकारोंका कथन सर्वथा सत्य है। स्त्रीको यदि संयमका मार्ग प्रदर्शित किया जावे; तो वह पुरुषसे भी बढ़ जावेगी। यदि उसे व्रत-उपवास आदिकी ओर प्रवृत्त किया जावे तो वह उसमें पुरुषसे भी बाज़ी मार ले जाएगी। पुरुषोंसे अधिक धर्म-कर्ममें लगी हुई स्त्रियां ही हमने देखी हैं। तीन-तीन चार-चार दिन तक निरन्तर उपवास करनेवाली स्त्रियां हमने देखी हैं।

यदि स्त्रीको भोगवासनाके मार्गमें बलात् प्रवृत्त किया जावेगा; तब प्रच्छन्न अष्टगुणा कामशक्ति जब उसकी संधुक्षित होकर प्रज्वलित होगी; तब उसका एक पति तो क्या, छः पुरुष भी आकर उसकी उस प्रवृद्ध-भोगलालसाकी तृप्ति नहीं कर सकते। जब वही पुरुष उसमें अपनी निर्बलताके कारण ढील करेगा, तो वही स्त्री दूसरों की ओर मुख करेगी, कुलटा बनकर आपके कुलको कलङ्कित करेगी; परन्तु पुरुषको इस रास्ते पर अपनी पत्नीके लानेका उत्तरदायित्व न लेना चाहिये। 'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते' यह आहार, मैथुन, निद्रा आदि जितने बढ़ाए जावें, बढ़ेंगे। मनुजीने ठीक ही कहा है कि—कामोंके भोगसे कामकी शान्ति नहीं होती; वह तो उल्टे बढ़ती है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (२।९४) अग्नि हवि डालते रहनेसे बढ़ती ही तो जाती है; परन्तु यह असंयमका रास्ता अपने तथा अपनी पत्नीकेलिए विपत्ति-कारक है—'आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः। तज्जयः

सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्' ।

संयमका मार्ग ही सम्पत्तिका मार्ग है; उसकी प्राप्ति होगी एकादशी-व्रतसे। इससे यह भय हटा लेना चाहिये कि हम नपुंसक हो जायेंगे। यह सचमुच भारी-भूल है। उपवास स्वयं करो, पत्नीको कराओ; और उससे पूर्व दिन, उस दिन, उसके बादका दिन ब्रह्मचारी रहो; फिर संयम से अपना निर्वाह करो। इससे तुममें भोगशक्ति घटेगी नहीं; बल्कि बहुत समय तक रहेगी। भोगका आस्वाद भी तुम्हें तब ही प्राप्त होगा। भूख न होनेपर भोजन करनेसे क्या कभी आस्वाद आता है? आस्वाद तो भूख लगनेपर भोजन करनेसे आता है, यही बात यहां पर भी है। विषयास्वाद भी संयमी-जीवनसे आयगा। विषयास्वाद शुक्रकी गाढतासे आता है, शुक्रकी गाढता संयमी-जीवनसे होती है। असंयमी-जीवनसे, सतत भोगविलासोंमें लगे रहनेसे, उन्हींके चिन्तन करते रहनेसे, शुक्र तरल हो जाता है, फिर शीघ्रपतनादि प्रारम्भ हो जाते हैं, वैसा पुरुष दिनमें आठ बार भी भोगमें लगा हुआ अपनी पत्नीकी तृप्ति नहीं कर सकता। प्रकरणवश यह बात हमने कह डाली है। उसी संयम-जीवनकी प्राप्ति आपको नियमित व्रत-उपवाससे मिलेगी। यह हमारे कथनका आशय है। विलासका आनन्द भी आपको इसी व्रत-आदिसे मिलेगा।

फलतः भीतरी अपकांशको दग्ध करने और सञ्चित मलको नष्ट करने और भविष्यत्में जठराग्निको प्रदीप्त करनेमें व्रत-उपवास रामबाण-औषध है, एक अपूर्व-अचूक योग (नुस्खा) है। इसके

अवलम्बन करनेपर न तो आपको डाक्टरोंकी आवश्यकता रहेगी, न अस्पतालोंमें रहने की, न दवाइयोंकी, न जुलावकी, न किसी अन्य साधनको। इसमें कुछ खर्च भी नहीं होता, अपितु कुछ बचत ही होती है। पर इतना ध्यान रहे कि उपवासके समाप्त हो जानेपर फिर भोजन पर टूट न पड़ो, कलकी कसर न निकालो; किन्तु प्रतिदिनसे पर्याप्त-कम भोजन करो; फिर रात्रिको उस प्रातःके भोजनसे कुछ अधिक। फिर दूसरे दिन स्वाभाविक-भोजन करो। यदि ऐसा नहीं किया जावेगा, तो इससे शारीरिक बहुत भारी हानि हो सकती है।

इस व्रत-आदिमें स्नान, दान, भजन-पूजन तथा ध्यान आदि भी आवश्यक अङ्ग हैं, यह कभी न भूलना चाहिये। जैसाकि हम पहले कार्तिक-माहात्म्यके पद्यसे पूर्व सूचित कर चुके हैं। इनका लाभ बच्चेसे लेकर बूढ़े तक समानभावसे होता है। इस प्रकारका व्रतकर्ता ही प्राणियोंमें सद्भावना रखता है, विश्वके कल्याणमें एवं उपकार-वृत्तिमें रहता है। वह दूसरोंका धन हड़पनेमें नये-नये आविष्कारोंकी खोजमें नहीं रहता। वह सदा सत्य-व्यवहारमें निरत रहता है। जो बात धर्मनिरपेक्ष राजकीय-कानूनोंसे लाख सिर पटकनेपर भी नहीं होती; वह शुक्लवृत्ति, सात्त्विकता इसी धार्मिक नियमके अवलम्बनसे अनायास सम्पन्न हो जाती है।

इस प्रकारके महान् लाभदायक, नवजीवन-सञ्चारक, व्रतोपवासका एकादशी-तिथिमें नियमतः अवलम्बन करना हम सबके लिए आवश्यक है। जो पहिले इसमें कठिनता अनुभव करें; वे

उस दिन अन्न तथा ओदन (चावल) तो अवश्य छोड़ दें। 'एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति' यह बात सूर्य-चन्द्रके आकर्षण-विकर्षण आदिके प्रभावके कारण सर्वथा सत्य है; इस पर उपहास करना अपने अल्पश्रुतत्वको प्रकट करना है—इन्हीं दिनोंके अन्नवैषम्यके कारण मृत्युएँ भी प्रायः इन्हीं तिथियोंमें होती हैं। इस दिन मुनिधान्य श्यामाक (सांवक, समांके चावल), कूटूका आटा, अथवा फल आदिका उपयोग करना चाहिये। फिर क्रमशः उपवासका अभ्यास भी करना चाहिये। दूसरे दिन लघु तथा मित भोजन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे पूर्व कहे हुए लाभ अनायास प्राप्त हो सकेंगे। हमें 'आलोक'के पाठकोंसे आशा है कि वे एकादशीव्रतका नियमतः अवलम्बन करके अपने तथा दूसरोंका लाभ करनेमें सक्षम हो सकेंगे। इसमें आपके भीतरी अवयव-प्रत्यवयव अवकाश पाकर फिर नवीन हो जाएंगे; नवीन शक्तिको पा कर भावी रोगोंसे मुकाबला करके उन्हें हरा देंगे। तब विशिष्ट रोगोंकी उत्पत्ति न होनेसे निर्बलता, चित्तकी उद्विग्नता आदि हटकर चित्त सात्त्विक रहेगा। सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर भगवान्‌के ध्यानमें मग्नताकी शक्ति होनेसे हमें सद्‌गति मिलेगी। यही एकादशीव्रतका विज्ञान है—यही 'श्रीसनातनधर्मालोक'का सन्देश है। कार्तिक-माहात्म्यमें ठीक ही कहा है—'तपो नाऽनशनात् परम्' (१७।२५) 'व्रतं नैकादशीसमम्' (१७।२७)। यह भोजनका प्रकरण होनेसे हमने एकादशीव्रतके विषयमें कहा है।

६५. विशेष-विशेष तिथियोंमें उपवासका विज्ञान ।

एकादशी तिथिमें उपवासार्थ हम लिख चुके; शास्त्रोंमें अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदिमें भी व्रत-उपवास कहे गये हैं। उनमें सूर्य-चन्द्र आदिके आकर्षण-विकर्षणका तारतम्य ही कारण है। अष्टमी, एकादशी, पूर्णिमा आदिमें पृथिवीपर चन्द्रके आकर्षण का बहुत प्रभाव पड़ता है। जल तरल पदार्थ है; इसलिए इन तिथियोंमें समुद्रके जलमें उद्वेलन हुआ करता है। शरीरमें भी कफ, रक्त, मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त-तिथियोंमें इनमें भी उछाल आना स्वाभाविक है। चन्द्रमाके इस प्रकारके आकर्षण से ही एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या आदि तिथियोंमें वातरोग और कफ आदिकी वृद्धि होती है। अतः इन तिथियोंमें कम खाना चाहिये। अथवा सूखी वस्तुएँ खानी चाहियें; अथवा रात्रिमें नहीं खाना चाहिये। ठीक तो यह है कि—दिन-रात उपवास किया जाय।

उपवाससे देहके रसका शोष होनेसे शरीरमें चन्द्रके आकर्षण का प्रभाव नहीं पड़ता। तब रसकी अधिकतासे आशङ्कित रोग भी नहीं होते। चन्द्रमा मनका देवता होता है; अतः इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर होता है, जिससे मन चञ्चल हो जाता है। उन दिनों उपवास एवं भगवान्‌के ध्यानसे, दुर्बल हुआ मन शान्त हो जाता है और विषय-वासनाएँ न्यून हो जाती हैं।

(६६) गायका दूध।

'आलोक'के पाठक प्रातःकालकी चर्या पूरी कर चुके। फिर

मध्याह्नको भोजनादि भी कर चुके। अपने कार्योंका निर्वाह करके सायं-सन्ध्यासे निवृत्त होकर रातको भोजन कर चुके। अब वह आपके आमाशयमें पहुँचने वाला है। अब उसके बाद आपके दूध पीनेका क्रम है। गायका दूध प्राणप्रद, रक्तपित्तनाशक, पौष्टिक रसायन है। उसमें भी काली-गायका दूध त्रिदोषनाशक, परम-शक्तिवर्धक और सर्वोत्तम होता है। गाय अन्य पशुओंकी अपेक्षा सत्त्व-गुणयुक्त है, दैवी-शक्तिका केन्द्रस्थान है। दैवी-शक्तिके सम्बन्धसे गोदुग्धमें सात्त्विक-बल है। इससे जहाँ पुष्टि होती है, वहाँ भोजनका परिपाक भी होता है। कभी रोग नहीं लगता। भैंस आदिका दूध स्थूलताकारक एवं तामस तथा शीघ्र नींद लाने वाला होता है।

(६७) काली गायके दूधकी विशेषता।

किसी भी पदार्थका अपना रंग नहीं होता। सूर्यकी शुभ्र किरणोंमें कई किरणें पदार्थोंको हज़म कर लेती हैं; शेष किरणें रंगको प्रकाशित करती हैं। जो रंग प्रकाशित करता है; वही उस पदार्थका रंग होता है। जो पदार्थ सब रंगोंको प्रकाशित करता है, वह सुफेद रंगका होता है। और जो सब रंगोंको हज़म कर लेता है; वह काले रंगका होता है। इससे काले रंगमें सब रंग छिपे हुए होते हैं—यह बात सिद्ध होगई। इसीलिए काली गाय अपने शरीरमें सूर्यकी सातों किरणोंको पचा लेती है; रंगके साथ सूर्यकी आकर्षण-शक्तिको भी खींच लेती है। इसी कारण काली गायके दूधमें भी बहुत शक्ति होती है। इसीलिए मूर्तिपूजामें भी

श्रीकृष्णकी मूर्ति काली होती है। उसे काली-गायके स्थानपर समझना चाहिये। उसके साथकी राधाकी मूर्ति सफेद होती है, उसे दुग्ध-स्थानीय समझना चाहिये। शालग्राम, राम, जगन्नाथकी मूर्ति इसीलिए काली होती है; वह सूर्यशक्तिकी आकर्षक होनेसे पूजनेपर हमें भी सूर्यशक्तिके लाभोंको देती है।

यद्यपि भैंस भी काली होती है; परन्तु वह तामसिक-पशु होनेसे सूर्यशक्तिको प्राप्त करके अत्युष्ण बलवाले और तमोगुण-वर्धक दूधको देती है—इसीलिए वह पहले नियमका अपवाद है। इसलिए जिसे अनिद्रा-रोग हो, उसे भैंसके दूधका उपयोग करनेकेलिए आयुर्वेदमें कहा जाता है। अर्थात् भैंसके दूधसे व्यक्तिको नींद बहुत आती है। वह व्यक्ति ऊँघता रहता है; आलसी बना रहता है। इसीलिए भैंसका दूध तामस होनेसे बुद्धिको कम करनेवाला भी होता है। जो सात्त्विकता चाहते हैं; वे भैंसके दूधको छोड़कर गायके दूधका प्रयोग करें। बकरीका दूध भी यद्यपि बहुत गुणकारी होता है, विशेष-रोगोंमें लाभप्रद भी होता है; तथापि शास्त्रीय-संसारमें उसे भी सात्त्विक नहीं माना जाता। गायमें देवनिवास आदि अन्य भी विशेषताएं हैं; अतः काली गायका दूध तो सर्वोत्तम होता है।

(६८) वस्त्रसे छाने बिना गायका दूध न पीना।

गायके स्तनसे जब दूध दुहा जाता है; तो उसके स्तनोंपर रोम होने से घर्षणवश दूध दुहनेके समय वे दूधमें गिर सकते हैं। गायके लोमके पेटमें जानेपर बड़ा पाप होता है—ऐसा हिन्दुओंका

विश्वास है। यह ठीक भी है। किसी भी पशुका बाल यदि पेटमें चला जाए, तो हानि होती है। गोलोमसे तो राजयक्ष्मा-आदि रोग भी सम्भव हो सकता है। अतः गायका दूध छानकर पीना ही श्रेयस्कर होता है।

(६६) घृतका दीपक जलानेका विज्ञान।

रातका प्रकरण चला हुआ है। रात्रिके आरम्भमें कुंवे आदि पर घृतका दीपक जलाना यह सनातन-प्रथा है। केवल रात तो क्या, दिनको भी। इसी प्रकार देवमन्दिरोंमें भी दिन-रात घृतके दीपक जलानेकी प्रथा है। कहीं-कहीं तो अखण्ड-घृतका दीपक भी जला करता है। जब पहिले कुंए बनाये जाते थे, वहाँ एक ऐसा स्थान बनाया जाता था; जहाँ हिन्दुलोग श्रद्धासे घृतका दीपक जलाया करते थे। एक तो उसमें वरुणदेवका पूजन भी लक्ष्य होता था। दैनिक-देवपूजन हवनमें 'इति वरुणाय, न मम' कहकर हम वरुणको घृतकी आहुति देते हैं; तो कूपपर दीपक जलाना यह भी हमारी जलके स्वामी वरुणदेवको घृतकी आहुति-सी हो जाती थी। इसमें लौकिक लाभ भी बहुतसे हैं। रातको कूंएसे जल लेना है; पुरुषोंने भी आना है, स्त्रियोंने भी आना है। कूएंपर छत रहनेसे प्रायः रात-दिन उसमें अन्धकार रहा करता है। दीपकसे वहां प्रकाश रहेगा। एक यह प्रत्यक्ष लाभ है कि किसीको जलादि निकालनेमें असुविधा नहीं होगी। स्त्री-पुरुषोंके इकट्ठे होनेसे प्रकाशवश कोई कुत्सित-काण्ड न होंगे—यह दूसरा लाभ है। तीसरा लाभ यह है कि कुएंकी वायु घृताग्निके योगसे शुद्ध रहा

करेगी। घृतमें कीटाणुनाशिनी शक्ति प्रसिद्ध है ही। कभी-कभी कुंएसे विषाक्त वायु (गैस) निकलती है; जो प्राणघातक तक सिद्ध हो जाती है। कभी-कभी समाचारपत्रोंमें वृत्त देखा जाता है कि—कोई कुएंमें सफाईकेलिए घुसा, वह वापिस न आ सका, वहीं मर गया; क्योंकि विषाक्त-गैससे प्राणका नाश हो जाता है। तो घृतके दीपकसे वहां की अशुद्ध गैस दूर होती रहेगी—यह लाभ हुआ। अन्य लाभ यह है कि—यदि उस दिन भीतरी-कारणोंसे सचमुच ही प्राणघातक विषाक्त-गैस कुएंसे अधिक-मात्रामें निकल रही होती है—वहां प्रयत्न करनेपर भी वह घृतका दिया जल नहीं सकता, जलानेपर भी बार-बार उस गैसके प्रभावसे बुझ जाता है। इस चिह्नसे कुएंमें उतरनेवाले, वा कुएं पर आनेवालोंको सावधानता प्राप्त हो जाएगी। इससे सर्वसाधारणकी आशङ्कित हानि बच जावेगी।

इस प्रकार अखण्ड-घृतदीपक जहां भी होगा, चाहे देवमन्दिर में, चाहे घरमें; उसका भी बड़ा लाभ है। घृत शुद्ध होना चाहिये। शुद्ध-घीसे अखण्ड दीपक जलता रखनेसे एक प्रकारका घृत-हवन निरन्तर अपने आप होता रहता है। ऐसा दीपक जिस स्थानपर प्रकाश करता रहता है, वह स्थान एक नित्य-अदृश्य ज्योतिसे प्रदीप्त रहता है। उस घृतके परमाणु दीपककी ज्योतिकी अग्निसे सूक्ष्म होकर वायुकी सहायतासे हमारे अन्दर प्राप्त होंगे। स्थूल घृत खानेकी अपेक्षा यह सूक्ष्म-घृत हमारे रोम-कूपोंके द्वारा घुसकर इन्जेक्शन की भांति बहुत और शीघ्र लाभ देगा। उस दीपकके

निकट बैठकर की हुई उपासना विशेष-फलवती होती है। मन्दिरमें या घरमें बहुत लोगोंका आना-जाना या निवास रहता है। उन पुरुषोंके भीतरसे श्वास आदि निकलते रहते हैं। वे अशुद्ध होते हैं; क्योंकि-भोजन-परिपाकादिके समय उसका विपाक्त अंश हमारे रोम-कूपों वा मुखादिसे कारखानेकी चिमनीसे धुएँकी तरह निकलता रहता है। तब वही एक-दूसरेकी श्वास-वायु कुछ विपाक्त अंशयुक्त होनेसे एक-दूसरेको सूक्ष्म-हानि पहुँचा सकती है, पर अखण्ड-घृतका दीपक रखनेसे वह विपाक्त प्रभाव धीरे-धीरे मिटता रहता है। इसलिए जप-आदिमें भी दीपक जलाया जाया करता है, धूप भी।

अतः अखण्ड घृत जलते रहना-यह भी एक अखण्ड-यज्ञाग्नि रखनेका संक्षिप्त-संस्करण है। बल्कि उससे भी विशेष है; क्योंकि अखण्ड-अग्नि यद्यपि पहले संधुक्षित होती रहती है; तथापि हवनके समयसे ही उसे प्रज्वलित करके उसमें घृताक्त हवि डाली जाती है; पर घृत-दीपक तो निरन्तर प्रकाशमान होनेसे उस वातावरणमें दिव्य-ज्योति तथा पूर्वोक्त लाभोंको करता रहता है। अखण्ड अग्निमें प्रातः-सायं दो ही बार घृतका हवन होता है—इसमें तो अहर्निश हवन होता रहता है।

सूतकके समय प्रसूतिगृहमें १० दिन तक अखण्ड-दीपक रखनेसे सुरक्षा होती है। मृत्युके समय उस मृत्युस्थलपर अखण्ड दीपक जलाना पड़ता है। क्योंकि मृत्युके समय मृतक-शरीरसे निकले हुए रोग-परमाणु, मनकी वेदना, मोह, शोक आदिके

प्रभावको नष्ट करनेमें अखण्ड-दीपक प्रभावशाली सिद्ध होता है। जिस घरमें दीपक कभी नहीं जलता; अग्नि कभी नहीं जलती; वहाँ इसीलिए ही तो भूतप्रेतोंका आवास माना जाता है। वहाँ रोग-कीटाणु बहुत फैले रहते हैं; जो बहुत हानिकारक सिद्ध होते हैं। उससे शारीरिक-रोग और मानसिक-उद्वेग आक्रमण करते रहते हैं। इसी कारण पितृ-कर्ममें दीपक अनिवार्य हुआ करता है, क्योंकि—'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता' (शत० १।२।१।६) अग्नि सूक्ष्म-राक्षसोंको दूर करने वाला होता है। 'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः, असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निः तान् लोकात् प्रणुदाति अस्मात्' (यजु०वा०सं० २।३०) इस मन्त्रमें अग्निको असुरोंके दूर करनेवाला माना है; इसीसे सपिण्डनादि-कर्ममें इस मन्त्रको पढ़कर अग्नि वा दीपक-आदिको जलाया जाया करता है। यज्ञ, आरती आदिमें घृतके दीपक जलाये जाते हैं; गङ्गा-आदि नदियोंके तटपर भी दीपक जलाया जाया करता है। दिवाली तो दीपकोंका त्योहार है ही। व्यापक रूपसे दीपकोंका त्योहार मनाकर दरिद्रताकी व्यापक-शक्तिको घटाने और लक्ष्मी-शक्तिका बल बढ़ानेका आयोजन वहाँ किया जाता है। तिलके तेलके दीपकमें भी विशेष शक्ति मानी जाती है। फलतः घृत-दीपक कूप आदि पर जलाना ऐहिकामुष्मिक-लाभ-प्रद है।

(७०) शयनके समय विशेष दिशाका विचार।

अब पाठकोंके शयनका समय होगया है। किस दिशाकी ओर

सिर करके सोया जावे—अब यह विचार अपेक्षित है; उस पर विचार रखा जाता है। शास्त्रोंमें शयनके समय पश्चिम और उत्तरमें सिर करनेका निषेध आता है; अतः सिर पूर्व-दिशा वा दक्षिण दिशामें किया जाय। 'यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे, संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम्। अगस्त्यशास्ताम् (दक्षिण-दिशाम्) अभितो दिशं तु शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम्' (महाभारत १।१६४।८-६) यहाँ पर युधिष्ठिर आदिका सोते समय दक्षिण दिशाकी ओर सिर करना दिखलाया है।

'प्रत्यगुत्तरशिराश्च न स्वपिति' (३।१४) 'वैखानसगृह्यसूत्र'के इस वचनमें पश्चिम तथा उत्तरमें सिर करके सोनेका निषेध किया गया है। इसका कारण विज्ञान यह बताता है कि-उत्तरीय-ध्रुवसे दक्षिणी-ध्रुवकी ओर इस प्रकारकी लहरें चलती हैं, जो मस्तिष्कको हानि पहुँचाती हैं। इसलिए उत्तर-दिशाकी ओर शवका सिर किया जाता है।

पश्चिम-दिशामें सिर करनेकेलिए शतपथ-ब्राह्मणमें निषेध किया है—'तस्मादु ह न प्रतीचीन-शिराः शयीत' (३।१।१।७)। उसका कारण यह है कि-'प्राची हि देवानां दिक्' (शत० १।८।३।१८) पूर्व-दिशा देवताओंकी दिशा है। उधर पैर करनेसे देवताओंका अपमान होता है। पूर्व-दिशाकी ओर सिर रखनेसे देवताओंके सम्मानकी बात आयुर्वेद भी बताता है—'प्राच्यां दिशि स्थिता देवाः, तत्पूजार्थं च तच्छिरः' (सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान १६।६)। ग्रहनक्षत्रादि सभी पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाते हैं; अतः पूर्व-दिशा

स्पष्ट देवदिशा है। पूर्व वा दक्षिण दिशामें सिर करके सोना प्रशस्त है—यह संकेत हम पूर्व दे ही चुके हैं; उसमें विज्ञान यह है कि समस्त-ब्रह्माण्डकी गति ध्रुवकी ओर होती है, और ध्रुवकी स्थिति उत्तर-दिशामें होती है। इस कारण ब्रह्माण्डके अन्तर्गत पृथिवीके भीतरकी विद्युद्धारा भी दक्षिण-दिशासे उत्तराभिमुख प्रवाहित होती है। इसलिए जहाजके कुतुबनुमाकी चुम्बककी सुई भी सदा उत्तराभिमुख ही रहती है। समुद्रमें दिशा-ज्ञानका उक्त यन्त्र ही एकमात्र साधन होता है।

यदि हम उत्तराभिमुख सिर करके सोवें, तो वह पार्थिव-विद्युत् हमारे पाओंसे होकर हमारे सिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरमें कई रोग हो जाएँगे, जिससे मस्तिष्कमें रोग हो जायगा। और स्नायुपुञ्जमें अस्वाभाविक उत्तेजनाकी वृद्धि होनेसे प्रकृति अस्वस्थ रहा करेगी। सारा दिन परिश्रम करनेसे मस्तिष्क और हमारे स्नायु स्वयं ही दुर्बल हो जाते हैं; तब नींदमें भी यदि विपरीत विद्युत्-पुञ्ज लिया जायगा; तो शरीरमें अस्वास्थ्य बढ़ेगा। दक्षिण-दिशाकी ओर सिर करके सोनेसे वह विद्युत् सिरसे पांओंकी ओर जाती है। इससे अस्वास्थ्यकी सम्भावना नहीं रह जाती।

पश्चिमकी ओर सिर करके सोने पर भी वही हानि है; जो उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे होती है; क्योंकि—जैसे पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तराभिमुख प्रवाहित होती है; वैसे ही सूर्यदेव की प्राणमयी विद्युत-शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमाभिमुख प्रवाहित होती है। उक्त-विज्ञानके अनुसार पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे

मस्तिष्क तथा स्नायुमण्डलमें वैसे ही पीड़ा होगी। तभी तो वैखानसधर्मसूत्रमें कहा है—'आर्द्रपादः, प्रत्यग् (पश्चिम) उत्तर-शिराश्च न स्वपिति' (३।१।४) यहां पर गीले पांव तथा पश्चिम एवं उत्तरकी ओर सिर करके सोनेका निषेध किया है। तब पूर्व वा दक्षिणकी ओर सिर करके ही सोना ठीक है।

शास्त्रोंमें उत्तराभिमुख वा पूर्वाभिमुख होकर पूजा-पाठादि दैवकार्य करनेका आदेश अवश्य है; उसमें कारण यह है कि सौर एवं पार्थिव विद्युत्-शक्तियोंका सम्बन्ध उस समय शरीरके साथ रहेगा; जिससे वह शक्ति-सम्पन्न रहेगा।

(७१) ब्रह्मचारीका भूमिपर वा तख्त पर सोना।

ब्रह्मचारीको खाटपर सोनेका निषेध किया है, उसे या तो भूमिपर सोना पड़ता है, या लकड़ीके तख्तपर। लेकिन यदि वह गृहस्थाश्रमसे पहले ही खाट पर सोवे; तो उसकी निन्दार्थ उसे 'खट्वारूढो जाल्मः' यह कहते हैं। यहां पर 'खट्वा क्षेपे' (पा० २।१।२६) इस पाणिनिसूत्रसे निन्दा-अर्थमें समास होता है।

एक तो खट्वा स्त्रीको कहते हैं; उसपर आरोहणका आशय यह हुआ कि—इसने समयसे पूर्व ही ब्रह्मचर्य-व्रत तोड़ दिया। ऐसेको अवकीर्णी कहा जाता है। दूसरा—खट्वा खाटको भी कहते हैं। गृहस्थाश्रमसे पूर्व उसे खाटपर नहीं सोना चाहिये। इस बातमें भी विज्ञान है। वह यह कि—ब्रह्मचारीको २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखना चाहिये। ८ वर्षसे २५ वर्ष तक पुरुषकी वृद्धिका काल है। खाटपर सोनेपर उसमें वानके होनेसे खाट स्वाभाविक

झुकी रहती है; तब ब्रह्मचारीका मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डी) भी झुका रहता है। शुरूसे ही रीढ़की हड्डी तनी न रहे; किन्तु झुकी रहे; तो उस पुरुषकी प्रकृति सदा झुककर बैठने वा चलनेकी हो जाएगी। उससे उसकी आयु थोड़ी हो जाती है।

जब ब्रह्मचारी भूमिपर वा लकड़ीके तख्त पर सोएगा; तब उनके कठोर होनेसे उसका मेरुदण्ड भी सीधा रहेगा। इससे उसके मेरुदण्डके तने होनेसे चलने-बैठने आदिमें भी वह सीधा रहेगा। इससे आयु भी यथावत् रहेगी। इस प्रकार २५ वर्ष तक प्रकृति बन जावे; तो आगे खाटपर सोनेपर भी उसकी प्रकृति पूर्ववत् बनी रहती है। क्योंकि इस समय तक जो प्रकृति बन जाती है; वह आगे भी बनी रहती है। आगे परिवर्तन बहुत न्यून होता है।

अन्य बात यह है कि—शुरूसे खाटपर सोनेसे हमारी स्नायुओंके टेढे होनेसे उत्तेजना-सी होनेके कारण शुक्र-क्षरणकी आशङ्का बनी रहती है; जिससे स्वप्नदोष आदिकी सम्भावना रहती है। मेरुदण्डके तने होनेपर वैसी आशङ्का नहीं रहती। अन्य इसमें यह भी कारण सोचा गया था कि ब्रह्मचारीका जीवन तपोमय जीवन होता है; 'तपः' कहते हैं कष्ट सहने को। खाटपर सोना कोमल होता है। यदि उसकी कोमलताकी प्रकृति शुरूसे होगी; तो आगे आपत्तिकालमें खाट आदि न मिलने पर वह घबड़ा जायगा। शुरूमें वैसी प्रकृति होने पर आगे भी उसे कोई कष्ट नहीं मिलेगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी इस समय विद्यार्थी

होता है। यदि इस समय भी वह सुखोंके ढूँढ़नेमें लग गया तो उसे विद्या कैसे प्राप्त होगी; क्योंकि–'सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्'। मेरुदण्डके तने न रहनेसे आगेकी निर्बल आयुमें उसके टूटनेका डर भी रहता है। योग आदिमें भी इसीलिए तने हुए बैठकर ध्यान करनेका विधान आता है। जैसेकि—'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्' (६।१३) 'शरीर, सिर और गर्दनको समान एवं अचल करके और स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टि जमाके, दिशाओंको न देखता हुआ ध्यान करे। मस्तक, गला और धड़ सम-रेखामें रहनेसे मेरुदण्ड तना रहेगा—इससे पृष्ठ-वंशमें मज्जाप्रवाह निष्प्रतिबन्ध चलने लगता है। मस्तकसे पृष्ठ-वंशके निम्न-भागतक मज्जाप्रवाह चलता है। इसमें धन और ऋण प्रवाह हैं। मध्यमें सम-प्रवाह भी है। इस प्रवाहकी निष्प्रतिबन्धतामें सम्पूर्ण शरीरके मज्जातन्तु-संस्थानकी निर्दोषता अवलम्बित है। यह योगसिद्धिका आनन्द इस सम-स्थितिसे ही प्राप्त होता है। अगले पद्यमें लिखा है—'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' (६।१४) इसका भाव यह हुआ कि ऐसी स्थिति ब्रह्मचारीको करनी पड़ती है; तब ब्रह्मचारीको भूमि वा तख्त पर सोनेका विधान भी उक्त लाभोंको पहुँचानेवाला सिद्ध हुआ।

यह बात ब्रह्मचारी वा गृहस्थ सबको स्मर्तव्य है कि शीतकालमें कमसे कम अपना मुख एवं नाक रजाईसे बाहर रखें, जिससे उन्हें आक्सिजन (शुद्ध) वायु अन्दर जानेके लिए मिलती रहे; अन्यथा

वही भीतरसे निकली हुई मलिन-वायु तथा अपान-वायु आदिकी दुर्गन्ध भीतर जाती रहेगी; इससे यह बड़ी हानि हो सकती है।

(७२) शयनमें सिरहाने जल रखना।

कई व्यक्ति प्रायः रोगी रहते हैं, और रातको दुःस्वप्न देखा करते हैं। पर यदि किसी पात्रको जलसे भरकर सिरकी ओर चौकी आदि पर रख दिया जावे, तो दुःस्वप्नोंका उन्मूलन हो जाता है, नींद भी सुख से आती है। आवश्यकता आ पड़ने पर जलके इधर-उधर ढूंढनेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती। लघुशंका करके आवें; तो हाथ सहज ही धोये जा सकते हैं। वह जल ढका भी रहना चाहिये कि चूहे उसको दूषित न कर जावें।

इसके अतिरिक्त सनातनधर्मके प्रत्येक कर्ममें जलका बहुत उपयोग होता है। इसमें भी रहस्य है। जलमें आकर्षण-शक्ति पर्याप्त-मात्रामें होती है, और उसमें काम-नाशनी शक्ति भी बहुत रहती है। दुर्गन्ध आनेपर जलको नासिकासे लगानेपर और मुंहसे कुल्ला करनेपर भी दुर्गन्धके परमाणु दूर हो जाते हैं। फूलको यदि जलमें रखा जावे; तो उसका गन्ध जलमें प्राप्त हो जाता है। जलीय-पदार्थोंके लिए धर्म-शास्त्रोंमें कहा है कि उनका हाथसे प्रतिवेशन न करो, किन्तु चिम्मच आदि द्वारा ही। जलमें अंगुलि भी नहीं डालनी चाहिये। इसी आकर्षणके कारण ही अस्पृश्य-जातीय-व्यक्तिके हाथका जलपान शास्त्रों-द्वारा निषिद्ध किया गया है।

(७३) अस्पृश्यता-विज्ञान ।

पूर्व-निबन्धके अन्तमें स्पर्शास्पर्शके विषयमें सङ्केत-सा आया है। उसपरभी कुछ विज्ञान जान रखना चाहिये। सनातनधर्म धर्मप्रधान धर्म है। इसमें अधर्म अत्यन्त निन्दित माना गया है, उसमें भी व्यभिचार, विशेषरूपसे प्रतिलोम-व्यभिचार निन्दित माना जाता है। अधम-वर्ण उच्चवर्णकी कन्याको लेकर उससे सन्तान उत्पन्न करे; उस व्यभिचारसे उत्पन्नको वर्णसंकर वा अवर्ण एवं निन्दित माना जाता है। उसके अशुद्ध-परमाणु प्रवृत्त होजाते हैं, जिनके स्पर्श करनेसे स्पर्श करनेवालेकी भी हानि होती है; अतः उनकी अस्पृश्यता की जाती है। वैसेके साथ स्पर्श तथा खान-पानका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है।

जैसे विशेष मूत्र, दूध और गोबरके मिश्रणसे विष उत्पन्न हो जाता है; उससे बिच्छू बन जाते हैं; उनका डंक तड़पा देनेवाला होता है; अथवा जैसे मधु और घृतके सम-मिश्रणसे विष उत्पन्न होजाता है; यह स्वयं वस्तुएं उतनी दूषित नहीं; पर इनका मिश्रण और मिश्रणसे उत्पन्न हुआ-हुआ पदार्थ बहुत दूषित हो जाता है; वैसे ही निम्न-जातीय पुरुषका उच्च-जातिवाली कन्यामें रक्त-संयोग हो; तो वह दूषित हो जाता है; उससे उत्पन्न सन्तान, विशेष करके दूषित होती है। जैसे पञ्चगव्यमें गोमूत्र-गोदुग्ध, गोमय आदिका मिश्रण पवित्रताकारक माना जाता है; पर विशेष-विशेष गधे आदिका मूत्र, भैंस आदिका पुरीष, एवं किसी अन्यके दूध-दहीके मिश्रणसे बिच्छू उत्पन्न होकर अस्पृश्य हो जाता है; स्पर्श करनेसे वह तड़पा

देता है, घृत और मधुका विशेष-मिश्रण भी खानेके उपयोगी नहीं रहता; वैसे ही प्रतिलोम-सम्बन्धसे उत्पन्न सन्ततियोंसे उत्पन्न जातियां भी अत्यन्त-दूषित सिद्ध होती हैं; उनके परमाणु स्पर्शके अयोग्य सिद्ध होनेसे शास्त्रकारोंने उन्हें अस्पृश्य-कोटिमें रखा है। इसमें सनातन-हिन्दुधर्मका वैज्ञानिक-दृष्टिकोण है, अन्य जातियोंकी संरक्षण-दृष्टि है, विद्वेषकी दृष्टि नहीं।

जैसे दौड़ रही हुई ट्रेनका स्पर्श अपनी ही हानि करनेवाला सिद्ध होता है; दूसरेकी स्त्रीका परपुरुषसे स्पर्श उसीकी अपनी हानि करनेवाला सिद्ध होता है; वैसे ही अस्पृश्यके स्पर्शमें अपनी ही हानि हुआ करती है। आजकल वैद्य-डाक्टर आदिके शास्त्रोंके अनुसार राजयक्ष्मा, शीतला, प्लेग, हैज़ा, पीलिया आदि रोगोंमें रोगीके पास जाना, रहना तथा उसका स्पर्श निषिद्ध किया जाता है; इसमें कोई हमारा उनसे द्वेष सिद्ध नहीं होता; किन्तु अपना संरक्षण ही उसमें इष्ट होता है, क्योंकि—उन रोगियोंके परमाणु हमें भी स्पर्श आदिसे रोगी कर दिया करते हैं; वैसे ही अस्पृश्य-जातियोंके अशुद्ध-परमाणु भी दूसरोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर हानिप्रद सिद्ध होते हैं—इसमें घृणाका कारण नहीं हुआ करता।

पाश्चात्य-वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दिया है कि—केवल हाथके स्पर्शसे ही सहस्रशः कीटाणु एक-दूसरेके शरीरमें संक्रान्त हो जाते हैं। घातक-कीटाणु अच्छे कीटाणुओंको हानि पहुँचाते हैं; तब अस्पृश्यके स्पर्शमें तथा सदा उन्हींके साथ निवास होनेसे भी उनके कीटाणु हमारे शरीरमें क्यों न प्रविष्ट होंगे ? अस्पृश्य-जाति-

प … (प्रेत … पजीवी)

वालोंकी शारीरिक-विद्युत् पूर्वोक्त-कारणवश जन्मसे ही दूषित होती है। इसीसे उसके स्पर्शसे उच्च-जातिवालोंकी विद्युत् भी विकृत हो जाती है। इसी कारण हिटलरने भी 'मेरा संघर्ष' पुस्तकमें असवर्णोंके विवाह और संयोगको अतिशयित हानिकारक सिद्ध किया है। उसमें उसने ऐसे संयोगसे हानि उच्चवर्णवालेकी बताई है।

यह ठीक भी है। एक राजयक्ष्मा वाला अपने स्पर्शादिसे स्वस्थोंको अस्वस्थ कर सकता है, पर बहुतसे स्वस्थ-व्यक्ति अपने स्पर्शसे उसे स्वस्थ नहीं कर सकते, यह औत्सर्गिक नियम है। तब स्पष्ट है कि हिन्दुशास्त्रोंमें अस्पृश्यताका वर्णन किसीमें घृणा-उत्पादनार्थ नहीं है, किन्तु स्वसंरक्षणार्थ ही है। कदाचित् कारणवश उनका स्पर्श हो जावे, तो स्नानसे वह अशुद्धिका संक्रमण दूर किया जाता है। यदि इसमें घृणा कारण होती, तो अपनी प्राणप्रियाको हम मासिकधर्मके आदिम तीन दिन जो अस्पृश्य मानते हैं, उसे एक ओर घरमें गुप्त होकर ही रहना पड़ता है, तो क्या उससे उसमें हमारी घृणा होती है? नहीं-नहीं, केवल अपने धर्मके संरक्षणार्थ ही ऐसा होता है। स्वधर्म-संरक्षणको कभी दूसरे के प्रति घृणा नहीं कहा जा सकता। वही हमारी पत्नी हमारे पुत्रको उत्पन्न कर लोक-परलोकमें हमारे गौरवको बढ़ा देती है, परन्तु उसीको प्रसवके नियत दिनोंमें अस्पृश्य माना जाता है। 'सूतकं मातुरेव स्यात्' (मनु० ५।६२)।

अपने मृत-पिताको छूकर हम अपने आपको अशुद्ध मानकर

स्नान करते हैं; और वहां कई दिनके स्नानसे भी अपनेको शुद्ध नहीं मानते; किन्तु दस-बारह दिन अपने आपको अस्पृश्य मानते हैं, और उस मृत-पिताको हम जला भी देते हैं; तो क्या उससे कोई अधकचड़ा व्यक्ति हमारी पिताके प्रति घृणा बतानेका साहस कर सकता है? उस अस्पृश्यताके दिनोंमें हम देवमन्दिरमें जानेके अधिकारी भी नहीं माने जाते।

यह तो छोड़िये, हम जब तमोमयी-रात्रिमें तमोगुणमयी निद्रा-देवीसे आलिङ्गन एवं संयोग करते हैं; इससे हम अपने आपको अशुद्ध मानते हैं; और जब तक प्रातः हम स्नान न कर लें; तब तक हम देवमन्दिरमें जानेके अधिकारी भी नहीं माने जाते; न सन्ध्या-वन्दन करते हैं और न ही कुछ उस समय खाते-पीते हैं। यह सब क्यों? केवल उसमें विज्ञान ही कारण है; अन्य घृणा आदि कुछ नहीं। पर चाण्डाल-आदि जातियोंका जिस अशुद्ध-मिश्रणसे जन्म हुआ है, वह मिश्रण उनका जन्मभर नहीं जाता; चाहे वे कितने वार ही स्नान क्यों न करते रहें? हमारे कई अस्पृश्य अङ्ग हैं, हम उनको कितना ही स्नान क्यों न करावें, फिर भी वे अस्पृश्य ही रहते हैं। हम उन्हें काटते नहीं—यदि काटें, तो हम स्वयं मरेंगे, किन्तु उन्हें छूकर अपनी शुद्धि करते हैं। इस प्रकार अस्पृश्य जातियोंके स्पर्शके विषयमें भी जानना चाहिये।

हमारे हिन्दुधर्ममें केवल अन्त्यज आदि निम्न-जातियोंकी ही अस्पृश्यता की गई हो; ऐसा दोष उसपर कोई भी नहीं लगा सकता। ब्राह्मणवर्ण तो उत्तम है, पर इसमें भी महाब्राह्मण (प्रेतदानोपजीवी)

अव्यवहार्य माने गये हैं। पशुओंमें भी गर्दभ-आदियोंको अस्पृश्य माना गया है। उत्तम गाय आदिका भी मुख अशुद्ध माना गया है 'न तु गौर्मुखतो मेध्या' (बृहत्पराशर ४ ३२६)। केवल यहां ही क्या, आप देवता जो मनुष्ययोनिसे उच्च तथा पूज्य माने जाते हैं; उनमें भी राहु-केतुको अस्पृश्य माना जाता है। जब वे सूर्य-चन्द्रमाका स्पर्श अर्थात् ग्रहण करते हैं; तब हम उन सूर्य-चन्द्रमा की उन पूत-किरणोंको भी अशुद्ध मानकर उनके स्पर्शसे अपने आपको अशुद्ध मान लेते हैं। राहुकेतुके स्पर्शके दूर होनेपर फिर हम स्नान करके अपने आपको शुद्ध करते हैं। क्या कोई कहनेका साहस कर सकता है कि सनातनधर्मने केवल अन्त्यजोंको ही अस्पृश्य बना रखा है। वस्तुतः सनातनधर्म निष्पक्ष धर्म है; यह विज्ञानका पूर्ण ज्ञान रखने वाला धर्म है। यह जिसमें विकृति देखता है उसे छूनेका निषेध कर देता है; कथंचित् छूनेकी अनिवार्यतामें हमें स्नानादिकी शुद्धि आदिष्ट करता है।

यह धर्म जड़-वस्तुओंमें भी तामसिक वस्तुओंको अग्राह्य मानता है। पूजनीयोंमें माता आदिको तथा अपने प्रियोंमें भी अपनी पत्नी को ऋतुकालादिमें अस्पृश्य मानता है। जैसे डाक्टर लोग रोग-कीटाणुओंका संक्रमण मानते हैं; किसी रोगी आदिको छूकर अपने हाथोंको गर्म-पानी वा साबुन आदिसे धोते रहते हैं, पर पूर्ण स्नानादिके बिना भी अशुद्धि उनके शरीरमें संक्रान्त हो ही जाती है; तभी श्राद्ध-आदिमें चिकित्सकको भी व्यवहार्य नहीं किया गया। शारीरिक-चिकित्सा करने वाले डाक्टरोंकी तरह

मनोविज्ञानवेत्ता भी मानस-विचारतरङ्गोंका वायुमण्डल - द्वारा दूसरोंमें संक्रमण मानते हैं; भौतिक-विज्ञानके आचार्य भी विद्युत्-शक्तिका दूसरों पर संक्रमण मानते हैं; वैसे ही वैदिक-विज्ञानमें भी प्राणशक्तिकी एक-दूसरे पर संक्रमणकी बात भी निर्मूल नहीं। स्थूल-तत्त्वों तक निर्भर आधुनिक भौतिक-विज्ञान कीटाणु-संक्रमणों तक ही सीमित रहा है, परन्तु सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म तत्त्वोंका विश्लेषण करने वाला वैदिक-विज्ञान रजोगुण तथा तमोगुणके भावोंका मन, बुद्धि तथा महदादिका भी संक्रमण अन्य पर मानता है। तमोगुणी शरीरमें रज-वीर्यके भी तामस एवं अपवित्र होनेसे तथा देवता-सम्बन्ध न होनेसे चाण्डालादि - अन्त्यजोंको वह अस्पृश्य मानता है।

मद्य-मांसादिके परित्याग वा स्नानमात्र वा स्वच्छ-वस्त्रपरिधान से उनकी अस्पृश्यता दूर नहीं हो सकती। जो लोग अस्पृश्यताको सर्वथा निर्मूल मानते हैं; वे जरा बिच्छूके डंकको तो छुएँ, बिजलीकी तारको तो छुएँ; आगको तो छुएँ; हैजा वा राजयक्ष्माके रोगीको तो छूकर देखें। यदि उनके मतमें मनुष्य-स्पर्शमें कुछ भी हानि नहीं; तो वह संक्रामक-रोगी मनुष्यको क्यों नहीं छूते? एक चित्रमें आया था कि एक लड़की राजयक्ष्माकी बीमारी वाली अपनी माताके पास जाया करती थी, उससे कुछ दूर रहकर ही उससे बातचीत करती थी; उसकी मातासे निकले हुए रोग-कीटाणु जिसे उस चित्रमें बहुत स्थूल दिखलाया गया था—उस लड़कीमें संक्रान्त होगये; वह लड़की भी उसी रोगकी रोगिणी होगई। वैसे ही

तमोगुणीके स्पर्शसे भी उसकी विद्युत् सत्त्व-गुण वालेमें भी संक्रान्त होकर उसे विकृत कर देती है-इससे उसकी हानि स्पष्ट है।

जो अन्त्यज मल-आदिके परमाणुओंसे ओत-प्रोत हैं; उनके स्पर्शसे उनके रोमकूपोंसे उनकी विद्युत् हममें संक्रान्त हो जाती है, जो हानिप्रद हुआ करती है। इस कारण शास्त्रोंने उनकी अस्पृश्यता बताई है। स्पर्श तो दूर, जब कि संगतिमात्रसे भी वे कीटाणु हममें संक्रान्त हो जाते हैं; बल्कि एक घरमें पृथक्-पृथक् कमरोंमें बैठे हुए पुरुषोंका भी एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ता है; तब स्पर्शका प्रभाव भला क्यों न पड़ेगा? किसी अस्पृश्यको शासन आदिके मदसे बलात् स्पृश्य कराना, दूसरेकी धार्मिक-स्वतन्त्रताका, संविधानके प्रतिकूल अपहरण है। यह शास्त्रपर वा प्राचीन ऋषि-मुनियों पर सीधा आक्रमण है। जो छुवा-छूतको नहीं मानते वे हैज़ेकी मक्खीको छूनेका आर्डर दें; प्लेगके चूहेको स्पर्श करनेका भी कानून बनवाएँ। गन्दी नालीका पानी फिल्टर करवाकर उसे पीनेका नियमन करके लोगोंमें पीलिया उत्पन्न करवायें। पुरीषकी सब्जी बनवाकर उसका प्रयोग नियमित करें। यदि वे उनमें स्थूल-अस्पृश्यता मानें तो शास्त्रीय-अस्पृश्यतामें उन्हें सूक्ष्म-अस्पृश्यता अवश्य माननी पड़ेगी; जो अन्दर तो प्रभाव करती है; परन्तु उसका स्थूल अनुभव नहीं होता। मिस हेलन नामकी पाश्चात्य-रमणीने यन्त्र द्वारा प्रमाणित किया है कि पारस्परिक-स्पर्श द्वारा एक-दूसरेके परमाणु अथवा एक-दूसरेकी विद्युत्, वा एक-दूसरेके कीटाणु, वा परस्परके रोग-बीज परस्परमें

संक्रान्त हो जाते हैं। केवल रोगादि नहीं; बल्कि स्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंका भी परिवर्तन हो जाता है।

स्पर्शका विज्ञान हमारे पूर्वज जानते थे—इस विषयमें बृहत्पराशरस्मृतिका एक प्रमाण द्रष्टव्य है—'आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः। स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत् स आतुरः' (६।२६६) इसका यह अर्थ है कि एक पुरुष अशुद्ध हो, इधर बीमार हो, और उसे शुद्ध करना हो, तो शुद्ध करनेके लिए स्नान की अपेक्षा रहती है। पर वह बीमार है, स्नान करनेसे उसकी हानिकी आशङ्का है; और उसे शुद्ध करना है; तो उसकी शुद्धिका प्रकार यह बताया गया है कि कोई स्वस्थ शुद्ध-पुरुष उस अशुद्धको छुए; छूकर वह स्नान कर ले। फिर दूसरी वार उस बीमार अशुद्धको छुए। वह अशुद्ध हो जावेगा; अतः स्वयं स्नान करे। इस प्रकार स्वस्थ-पुरुष अशुद्ध-आतुरको क्रमशः दस बार छुए; और क्रमशः स्नान करता आवे; इस प्रकार करनेपर वह आतुर, बिना भी स्नानके शुद्ध हो जायगा। यह है अस्पृश्यताका विज्ञान। इसी कारण वैखानसधर्मसूत्रमें भी कहा है—'आतुरस्य स्नाने नैमित्तिके दशकृत्वो द्वादशकृत्वो वा, तमनातुरो जलेऽवगाह्य स्पृशेत्; ततः स पूतो भवति' (२।१४।६)

इससे स्पष्ट हो रहा है कि एककी अशुद्धि स्पर्शसे दूसरेमें संक्रान्त हो जाती है, स्नान करनेसे ही फिर वह दूर होती है। इसी प्रकारका पराशरमाधवीयमें औशनसका वचन भी मिलता है—'ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता। कथं तस्या भवेत्

शौचं शुद्धिः स्यात् केन कर्मणा' ? यहां रजस्वला, परन्तु बीमार होनेसे स्नान न कर सकनेसे स्त्रीकी शुद्धिका प्रकार पूछा गया है। उसपर उत्तर यही दिया गया है—'चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेद् अन्या तु तां स्त्रियम्। सा सचेलावगाह्याऽपः स्नात्वा चैव पुनः स्पृशेत्। दशद्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः। अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा' अर्थात् जब उस बीमार रजस्वलाका चौथा दिन हो; तो दूसरी शुद्ध स्त्री उसे छुए; और स्वयं स्नान करे; और वह रजस्वला आचमन करे—इस प्रकार १०-१२ बार किया जावे; उन कपड़ोंको रजस्वला गिरा दे; तो वह बीमार-रजस्वला शुद्ध हो जाती है। इससे अस्पृश्यताका दूसरे पर कैसा प्रभाव तथा संक्रमण होता है—यह बहुत स्पष्ट हो रहा है।

इसीलिए प्रत्यक्षशास्त्र-उपवेद आयुर्वेदमें कहा है—'प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शाद् निःश्वासात् सह-भोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्। कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्' (निदानस्थान ५।२९-३०) यहां स्पर्श, निःश्वास तथा सहभोजन, सहशय्या, सहवास तथा सहोपवेशनसे दूसरोंके विकारोंका दूसरेमें संक्रमण बताया गया है।

फिर स्नानसे अस्पृश्यस्पर्शजन्य दोषोंका निवारण हो जाता है। पर जन्मतः अस्पृश्यकी स्नानसे शुद्धि भी नहीं होती। क्योंकि स्नानकी ऊष्मासे स्थूल-शरीरस्थ कीटाणु तो दग्ध हो जाते हैं; सूक्ष्म-शरीरके नहीं; क्योंकि अग्नि स्थूलको जला सकती है,

सूक्ष्मको नहीं। इससे स्वभावसे अस्पृश्योंके स्थूल-कीटाणुओं के स्नानमूलक ऊष्मासे जल जानेपर भी उनके सूक्ष्म-बाह्य परमाणुओंका दाह नहीं होता; क्योंकि स्नानसे उनकी थोड़े समय के लिए बाह्यशुद्धि तो हो जाती है। पर स्नान-समाप्तिके बाद पुनः सूक्ष्म-शरीरागत आभ्यन्तरिक-परमाणुओंका बाह्यशरीरके साथ पुनः सम्बन्ध प्रारम्भ हो जाता है, जिससे उनका शरीर फिर दूषित हो जाता है। इसलिए उनका बाह्य-शरीर एक-बार किये हुए स्नानसे शुद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि उनका सूक्ष्म शरीर ही अशुद्ध है। और वह मरनेसे, बल्कि पुनर्जन्मसे पूर्व परिवर्तित नहीं हो सकता। इसलिए उनकी अस्पृश्यता अनिवार्य ही रहती है। इससे सिद्ध है कि स्नान तात्कालिकी-अशुद्धिको दूर करता है; जन्ममूलक वा पारम्परिक-अशुद्धिको नहीं।

यदि स्नानसे सबकी अशुद्धि दूर हो जाती; तो जिसका सम्बन्धी मरता है, तो वह शवदहनके अनन्तर स्नान तो करता ही है; तब उसको शुद्ध हो गया हुआ माना जावे; पर शास्त्रकारोंने उसके लिए दस दिन, वा बारह, पन्द्रह दिन वा एक मास तक शुद्धि क्यों कही? वह इसलिए कि जिसकी जितनी अशुद्धिकी सीमा है; वह बहुत बार स्नानसे भी दूर नहीं होती। इस प्रकार चाण्डलादिकी तथा 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि··· आत्मा वै पुत्रनामासि' (निरुक्त ३।४।२) इस प्रमाणानुसार उनके अङ्गभूत सन्तानोंकी अस्पृश्यता मृत्युपर्यन्त धर्मशास्त्रोंसे नियमित है।

स्पर्श तो दूर, बल्कि पारस्परिक भाषण और निश्वाससे भी

दूसरोंके परमाणु हम पर आक्रमण करते हैं। ऐसा राजयक्ष्माके चित्रोंमें देखा जा सकता है। यदि आप प्रत्यक्ष देखना चाहें तो अपने श्वासोंको शीतकालमें देखिये कि वे कैसे स्थूल रूपसे दूर तक आते दीख पड़ते हैं। स्वामी दयानन्दजीने भी लिखा है—'आर्योंके घरमें जब [शूद्र स्त्री-पुरुष] रसोई बनावें; तब मुख बाँधके बनावें; क्योंकि उनके मुखसे उच्छिष्ट और उनका मुखसे निकला श्वास भी अन्नमें न पड़े, (सत्यार्थप्रकाश १० पृ० १६६) यहाँ स्वामीजीने शूद्रके श्वासकी अशुद्धि बताकर उनकी अस्पृश्यता सूचित की है, पर यह ध्यान नहीं दिया कि—जब उनके भीतरसे आये हुए श्वास इतने अशुद्ध हैं; तो जो उनके वे अशुद्ध परमाणु उनके हाथों तथा रोमकूपोंसे निकल रहे हैं—क्या वे अन्नको दूषित न करेंगे? यहाँ उन्होंने सूक्ष्मता पर ध्यान नहीं दिया कि स्थूल-श्वासोंसे उनके साढ़े तीन करोड़ रोमकूपोंसे निकले हुए सूक्ष्म-परमाणु कितनी हानि कर सकते हैं? यह वे नहीं सोच सके कि सूक्ष्म, स्थूलकी अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाता है। बमसे युद्धोंमें कितनी हानि हुई, और परमाणु-बमसे कितनी—यह वे अब होते तो स्वयं जान जाते। यह बातें स्थूल-बुद्धिसे पता नहीं लगती, किन्तु सूक्ष्म-बुद्धिसे।

यह तो हुई शूद्रकी बात। शूद्र तो स्पृश्य है; पर चाण्डालादिको अस्पृश्य तो स्वा० दयानन्दजी भी मानते थे। यों तो उनके एतद्विषयक उद्धरण बहुत अधिक हैं; जिन्हें हम अन्य पुष्पमें उद्धृत करेंगे, पर यहाँ हम उनके एक-दो उद्धरण उद्धृत करते हैं। अपने

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के ११ वें समुल्लासमें वे लिखते हैं—'जिन नीच स्त्रियोंको [शास्त्रोंमें] छूना नहीं [लिखा] उनको अतिपवित्र उन्होंने [वाममार्गियोंने] माना है। जैसे—शास्त्रोंमें रजस्वला [रजस्वला, चाण्डाली, चर्मकारी, रजकी, पुक्सी] आदि स्त्रियोंके स्पर्शका निषेध है, उनको वाममार्गियोंने अतिपवित्र माना है' (पृ० १७७) 'रजस्वला आदि' यहाँ आदि पदसे स्वा० दयानन्दजी अस्पृश्य-स्त्रियोंको निम्न पद्यसे बताते हैं—'रजस्वला पुष्करं तीर्थं, चाण्डाली तु स्वयं काशी। चर्मकारी प्रयागः स्याद्, रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्सी प्रोक्ता' (पृ० १७७) यहाँ स्वामीजीने रजस्वला, चाण्डाल आदिका स्पर्श-निषेध शास्त्रीय माना है। अब उन्हींको स्पृश्य मानते हुए उनके अनुयायी वाममार्गी सिद्ध होते हैं। पर वाममार्गियोंके पद्यका स्वामीजी अर्थ नहीं जान सके; उनका उन्होंने उल्टा अर्थ लगा लिया है। वहाँ तो यह आशय था कि जहाँ तान्त्रिक-पुस्तकोंमें रजस्वला-गमनसे सद्गति लिखी हो; वहाँ पुष्कर-तीर्थके गमनसे वैसा फल इष्ट होता है। जहाँ चाण्डाली-गमनसे मुक्ति लिखी हो; वहाँ काशीगमनसे उक्त फल-लाभ समझना। यह वहाँ परिभाषा-विशदीकरण था; जिसको वे समझ न सके।

अस्तु। अब उनके वेदभाष्यसे एक उद्धरण देकर इस निबन्धको हम समाप्त करते हैं—'वायवे चाण्डालम्' (यजुः ३०।२१) इस मन्त्रके अन्वय, पदार्थ, भावार्थ स्वामीजीने इस प्रकार लिखे हैं—'वायुस्पर्शाय चाण्डालं परासुव। चाण्डालस्य शरीरागतो वायुर्दुर्गन्धत्वान्न सेवनीयः। वायुके स्पर्शके अर्थ भंगीको दूर कीजिये। भंगीके

शरीरमेंसे आया वायु दुर्गन्धयुक्त होनेसे सेवने योग्य नहीं होता'। यहाँ स्वामीजीने 'चाण्डाल'का अर्थ 'भंगी' किया है, उसके शरीरकी वायुको सेवनके-अयोग्य माना है, शरीरका भाव उसके रोमकूपोंसे आया वायु है। इस प्रकार उनके अन्य भी बहुतसे उद्धरण हैं— यहाँ विस्तारवश नहीं लिखे गये।

फलतः अस्पृश्यता जहाँ वेदादिशास्त्र-सम्मत है; वहाँ विज्ञान-सिद्ध भी है।

(७४) हिन्दुधर्ममें परलोकवाद।

हिन्दुधर्ममें जो इतनी सूक्ष्मताएँ हैं उसका यह भी कारण है कि-उसमें परलोकवाद भी है। मुनियोंकी केवल स्थूल-दृष्टि इस लोक तक सीमित नहीं; उनकी सूक्ष्म-दृष्टि सूक्ष्म परलोकमें भी पहुँच गई। हम जहाँ इस समय हैं; वह इहलोक है। जहाँ मरकर कुछ समय रहेंगे, वह परलोक है। इस ब्रह्माण्डमें मुख्य लोक १४ हैं। ऊपर के लोकोंमें देवता रहते हैं; नीचेके लोकोंमें दैत्य; मध्य में है मनुष्य-लोक। ऊर्ध्व-लोकोंमें स्वर्गादि-लोक अन्तर्भूत हैं। वही परलोक है। भूलोकमें सात द्वीप हैं; उनमें जम्बूद्वीप भारतवर्ष है, पहले परलोकमें पाप-पुण्योंका फल भोगकर अवशिष्ट-कर्मोंसे मनुष्य-लोकमें प्राप्त हो जाता है। द्युलोकमें जो सूर्य, चन्द्र, वा तारे दीखते हैं-यह सभी परलोक हैं। कर्मानुसार मृतक-पुरुष उनमें पहुँचता है। परलोकमें सूक्ष्मतावश उनकी शक्ति मनुष्यसे अधिक रहती है। इसका कारण यह है कि जीवात्मा जब तक इस लोकके स्थूल-शरीरसे युक्त रहता है; तब तक उसमें शक्ति भी

सीमित रहती है। पर जब वह स्थूल-शरीरको छोड़कर सूक्ष्म होकर पितृलोकमें जाता है; उसकी शक्ति बढ़ जाया करती है। जैसे-दीपक जब घड़ेमें रखा रहता है, तब तक उसका प्रकाश स्थगित रहता है। घड़ेसे दीपकको बाहर निकालने पर उसकी प्रकाश-शक्ति बढ़ जाया करती है। वैसे ही परलोकमें प्राप्त पितर हमारी अपेक्षा अधिक-शक्तिशाली होते हैं। तभी आजकल परलोक-विद्या निकली है। उससे असाध्य-रोगियोंका उपचार उन परलोक-प्राप्तोंसे पूछा जाता है। वे अपनी अधिक-शक्तिवश वह उपचार हमें बताते हैं—जिससे वे असाध्य रोगी ठीक हो जाते हुए देखे जाते हैं।

इन पितरोंसे भी उच्चकोटिमें रहनेवाले देवता अधिक-शक्तिशाली हुआ करते हैं। उनसे हम और भी अधिक लाभ ले सकते हैं। इस विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' चतुर्थपुष्प हमसे मँगाकर 'परलोक विद्या' विषय देखें।

अस्तु, जब परलोक भी है; और हमारा आत्मा परलोकके स्वर्गादि उच्च स्तरोंमें भी जा सकता है, नरक-आदि निम्न स्तरोंमें भी; तब हमें अपने सब कर्म शुद्धतासे करने पड़ते हैं। तभी हिन्दुधर्ममें छुवाछूत भी है, कर्मकाण्डका अविज्ञेय प्रवाह भी है, जिसे लोग बड़ा लम्बा गोरखधन्धा अथवा जगड्वाल कहते हैं। दूसरे सम्प्रदायोंमें सूक्ष्म-दृष्टि न होनेसे केवल स्थूल-दृष्टि ही होनेसे पुनर्जन्मवाद, वा गतजन्मवाद नहीं माना जाता है। किन्हींमें नाममात्रसे माना जाता है। पर अपने यहाँ ऋषि-मुनियोंने सूक्ष्मदृष्टिवश कुछ भी नहीं छोड़ा, सब ज्ञातव्य ज्ञात कर लिया है; अतः हमें उनके उपदेशानुसार चलनेसे ही परम कल्याण प्राप्त होगा।

(६) विविध पर्वोंका विज्ञान

(१) संवत्सरका आरम्भ।

पहले हम हिन्दुधर्म-सनातनधर्मके श्रीगणेश-मङ्गलपर लिखकर, फिर हिन्दुधर्मके प्रसिद्ध विषय शिखा, यज्ञोपवीतादिके रहस्य बताकर, उसके बाद षोडशसंस्कारोंका रहस्य और फिर 'हिन्दुधर्मके आचार-विचारोंका वैज्ञानिक रहस्य' भी बता चुके; इससे आजकलकी जनताकी एतद्विषयक जिज्ञासा सम्भवतः पूर्ण होगई होगी। अब हम हिन्दुधर्मके विविध-पर्वोंका विज्ञान बताना आरम्भ करते हुए पहले संवत्सरके आरम्भपर लिखते हैं, इसमें सृष्टिसंवत्सरके विषयमें बताया जायगा।

विविधपर्व होते हुए भी हमने इसमें प्रसिद्ध-पर्व ही लिये हैं; नहीं तो यह ग्रन्थ बहुत विशाल हो जाता। इसमें चैत्रमासमें हमने १ संवत्सरका आरम्भ, उसीके प्रकरणसे २ मास और वारोंके नामोंके रहस्य तथा ३ श्रीरामनवमी लिखे हैं। फिर आषाढ़ मासमें ४ श्रीव्यासपूर्णिमाको लिया है। श्रावण-मासमें ५ श्रावणी एवं रक्षाबन्धनको लिया है। भाद्रपद-मासमें ६ श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीको लिया है। आश्विन - मासमें ७ पितृपक्ष तथा ८ विजयदशमीको लिया है। कार्तिक-मासमें ९ दीपावली, १० गोपाष्टमीको और मार्गशीर्ष-मासमें ११ गीताजयन्तीको और माघ मासमें १२ गणेशचतुर्थी एवं १३ वसन्तपञ्चमीको लिया है।

फाल्गुन मासमें १४ शिवरात्रि तथा १५ होलीको लिया है। इनमें कई पर्वोंसे सम्बद्ध अन्य-विषयोंपर भी लिखा गया है, आशा है—इससे 'श्रीसनातनधर्मालोक'के पाठकोंको कुछ लाभ ही प्राप्त होगा।

अब संवत्सरपर लिखते हैं। ब्रह्मपुराणमें कहा है—'चैत्रे मासे जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि' अर्थात् चैत्र-शुक्ला प्रतिपद्को ब्रह्माने सृष्टिका आरम्भ किया। तब जब यह सृष्टिके आरम्भका दिन है; तब प्रजाका नये कार्यारम्भका दिन भी हुआ; इसीलिए इसको उत्साहसे मनाया भी जाता है। इस दिन ब्राह्मणगण नये संवत्सरका भविष्यफल पंचांगोंसे सुनाते हैं, जिससे सृष्टि-संवत्सरका ज्ञान भी हो जाता है। वेदके ब्राह्मणभागमें संवत्सरको प्रजापतिकी प्रतिमा बताया गया है—'स [प्रजापतिः] इमं (संवत्सरं) वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षत, यत्-संवत्सरमिति, तस्माद् आहुः-प्रजा-पतिः संवत्सरः इति, आत्मनो हि एतं [संवत्सरं] प्रतिमामसृजत, यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः, तेन उ ह एव अस्य [प्रजापतेः] एष (संवत्सरः) प्रतिमा' (११।१।६।१३) यहां संवत्सरको प्रजापतिकी प्रतिमा (मूर्ति) बताया गया है। यह ठीक भी है; क्योंकि इसी दिन प्रजापतिने सृष्टिका नवनिर्माण किया। इसीदिन नवरात्रोंका आरम्भ भी होता है, अष्टमीको दुर्गाष्टमी मनाई जाती है। हमें भी धार्मिक, सामाजिक, एवं राजनीतिक नवनिर्माणके कार्यमें लग जाना चाहिये, जिससे देशकी उन्नति हो।

इस देशमें संवत् बहुतसे जारी हुए; पर आजकल विक्रमका

संवत् २०१३ है, और शालिवाहनीय शक १८७८ तथा ईसवी संवत् १९५६ है, यह अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। महाभारतके युद्धके बादसे युधिष्ठिर-संवतका भी प्रचलन रहा। आजकल कलियुग—जो महाभारतके युद्धसे प्रारम्भ हुआ था, उसका ५०५६ संवत्सर है। इस कल्पका सृष्टिसंवत्सर १,९७,२९,४९,०५६ है; इससे यह सिद्ध हो रहा है कि—हिन्दुजाति तथा उसका सनातन-धर्म अत्यन्त प्राचीन है।

हमने एक जैनीकी पुस्तकपर सम्भवतः महावीर-संवत् लिखा हुआ देखा था; जिसके अङ्क चार-पांच पंक्तियोंमें जाकर समाप्त हुए थे; यह हमें देखकर वहुत हँसी आई। इससे उनका यह भाव प्रतीत हुआ कि—जैनधर्म सबसे प्राचीन है; पर ऐसी बात नहीं। सबसे प्राचीनतम धर्म सनातन-हिन्दुधर्म ही है। उसके आरम्भ बतानेमें संख्या भी समाप्त हो जातो है। आर्यसमाजी भी आर्यसृष्टि-संवत्सर ऊपर कहा ही लिखते हैं; पर यह याद रखना चाहिये कि—यह इस कल्पका सृष्टि-संवत्सर है। कल्पोंकी संख्या भी नियत नहीं है कि—इतने हैं, और आगे इतने होने हैं; अतः हमारा यह सनातनधर्म अनादि तथा अनन्त है। हमें एतद्विषयक ज्ञान अवश्य रखना चाहिये; तदनुसार लिखा जाता है—

इस कल्पका सृष्टि-संवत्सर।

जहां पुराणोंने प्राचीन-इतिहास बताकर हमारी जाति तथा हमारे धर्मकी प्राचीनता बताई है, वहां कल्प और सृष्टि-संवत्सरकी गणना बताकर भी इस हिन्दुजातिकी अत्यन्त-प्राचीनता, अर्थात्

इसे सारे संसारकी जातियों वा धर्मोंका आदिम-उद्गम, आदि-मूल सिद्ध कर दिया है। केवल बिना हिसावके पंक्तियां भरनेकेलिए अंक लिख नहीं मारे, किन्तु उसका पूरा-पूरा हिसाव दिया है। स्वा० दयानन्दजीने भी वह हिसाव पुराणोंसे ही लिया है, पर पुराणोंके पूर्ण ज्ञान न होनेसे उनके हिसावमें कुछ भूल रह गई है; पर उनकी पुस्तकोंके आरम्भमें आर्यसृष्टि-संवत्सर लिखते हुए वह भूल ठीक कर डाली गई है; बल्कि हमने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकाका एक संस्करण निकला हुआ देखा था; जिसमें स्वा० दयानन्दजीकी वह भूल निकाल दी गई थी। अस्तु।

सनातनधर्मके प्रत्येक कर्ममें एक संकल्प पढ़ा जाता है, वह यह है—

ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कुमारिकानामक्षेत्रे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे, कलिप्रथम-चरणे बौद्धावतारे'।

इसीके द्वारा सृष्टिसंवत्सर सरलता तथा संक्षेपसे प्राप्त हो जाता है। इसमें वर्तमान श्वेतवाराहकल्प और उसमें भी वैवस्वत-मन्वन्तर बताया गया है; और ब्रह्माका द्वितीयपरार्ध बताया गया है। इसकी स्पष्टता की जाती है—

इस पर यह जानना चाहिये कि—ब्रह्माजीकी अपने परिमाणसे सौ वर्षकी आयु होती है। ब्रह्माण्डकी सृष्टिसे लेकर महाप्रलय तक इतना समय व्यतीत होता है। ब्रह्माजीका प्रथम-परार्ध बीत चुका है; अर्थात् उनकी आयु पचास साल बीत चुकी। अब द्वितीय-परार्धका

प्रथम कल्प उनके ५१वें वर्षका प्रथम दिन यह वर्तमान है, जिसका नाम श्वेतवाराह-कल्प है। उसकी भी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। यही श्रीमद्भागवतमें लिखा है—'एवं विधेरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः। अपक्षितमिवास्यापि (ब्रह्मणः) परमायुर्वयः-शतम्। यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते। पूर्वः परार्धोपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते' (३।११।३२-३३) अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत! वाराह इति विख्यातः' (३।११।३६) इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण (४६।४२-४३-४४)में भी कहा है।

एक कल्पमें एक हजार चतुर्युग होते हैं। उन एक हज़ार चतुर्युगोंमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। १ सत्य, २ त्रेता, ३ द्वापर, ४ कलि—ये चार युग हैं। १४ मन्वन्तरोंके नाम यह हैं—१ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णिक, ९ दक्षसावर्णिक, १० ब्रह्मसावर्णिक, ११ धर्मसावर्णिक, १२ रुद्रसावर्णिक, १३ देवसावर्णिक, १४ इन्द्र-सावर्णिक। यह वर्णन श्रीमद्भागवत (८ स्कं० १, ५, १३ अध्याय), मनुस्मृति (१।६१-६२-६३), विष्णुपुराण (३।२) तथा हरिवंशपुराण (१।७) में देखा जासकता है। स्वा० दयानन्दजीने भी यह नाम पुराणोंसे ही उद्धृत करके अपनी ऋ. भा. भू. (२१ पृष्ठ)में लिखे हैं। मनुस्मृतिमें भी केवल ७ मन्वन्तरोंके ही नाम हैं, सभी के नहीं। पुराण मनुस्मृतिसे अर्वाचीन नहीं हैं। वेद और पुराण समानकालीन हैं। जैसे वेदोंको अग्नि, वायु, रवि आदिसे दुहा गया, वैसे पुराणोंके वक्ता भी अग्नि, वायु, रवि आदि हैं। प्रति-

द्वापरमें उत्पन्न व्यास इनका संस्करण करते हैं। आधुनिक (२८वां) संस्करण श्रीकृष्णद्वैपायन-व्यासने किया है। व्यास यह उपाधि है; उत्पत्ति तो पुराणोंकी भी वेदोंके साथ ही है। इसी कारण वेदमें पुराणोंका नाम और पुराणमें वेदोंका नाम मिलता है। व्यास तो पुराणोंके वेदकी तरह विभागकर्ता ही हैं, निर्माता नहीं। इसलिए मनुस्मृति, रामायणादि प्राचीन-ग्रन्थोंमें पुराणोंका नाम देखनेसे हैरान न होजाना चाहिये। इसलिए मनुस्मृतिमें भी मन्वन्तर आदि का वर्णन पुराण-मूलक ही है। तभी मनुस्मृतिमें 'पुराणानि खिलानि च' (३।२३२) यहां पुराणोंका वर्णन भी है, और मनुस्मृति भी सृष्टिके आदिमें बनी हुई है। यह स्वामी दयानन्द भी मानते हैं—देखिये सत्यार्थप्रकाशमें ११वें समुल्लास का आरम्भ।

पुराणोंका ही आश्रय लेकर 'सूर्य-सिद्धान्त' (१।१३, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३ पद्यों)में भी कल्पका वर्णन आया है। तदनुसार वर्तमान (श्वेतवाराह) कल्पके स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओं-समेत बीत चुके हैं। कल्पकी सन्ध्यासमेत सात सन्ध्याएं बीत चुकी हैं। वैवस्वत-मन्वन्तरके (जो आजकल चालू है) ७१ महायुगोंमें २८ सत्ययुग, २८ त्रेता, २८ द्वापर, और २७ कलियुग बीत चुके हैं। अब अट्ठाइसवां कलियुग, उसका भी प्रथम-चरण चालू है, जिसे आज (सं० २०१२ वि० में) ५०५६ वर्ष बीत चुके हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६००० वर्षकी सन्ध्या हुआ करती है, अभी उस सन्ध्याकालके बीतनेमें ३०,९४४ वर्ष शेष हैं।

एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग (महायुग) होते हैं; प्रत्येक-युगमें सन्ध्या तथा सन्ध्यांश हुआ करता है। एक कल्पका वर्षसमूह ब्रह्माजीका एक दिन हुआ करता है। कल्पके वर्ष ४,३२,००,००,००० होते हैं। आज सं० (२०१२) तक इस कल्पके १,९७,२९,४९,०५६ वर्ष बीत चुके हैं, तथा २,३४,७०,५०,९४४ वर्ष शेष हैं। यह विषय श्रीमद्भागवतपुराण आदिमें स्पष्ट है। इस विषयमें कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

'कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्विधम्। *दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः

---

* यहांपर युगोंके वर्ष 'दिव्य' (देवताओंके) कहे गये हैं। देवता तथा मनुष्योंकी वर्षव्यवस्था भिन्न-भिन्न हुआ करती है। जैसे कि—'दैवे राश्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम्' (मनुस्मृति १।६७)। यहां पर स्पष्ट कहा है कि मनुष्योंका साल (३६० दिन) देवताओंका एक दिन-रात होता है। ऐसा ही 'सूर्य-सिद्धान्त' (१।१३) में भी कहा है। तब 'श्रीमद्भागवत'के 'दिव्यैर्द्वादश-भिर्वर्षैः' (३।११।१८) तथा मनुस्मृतिके 'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम्' (१।७१)के कहे हुए चारों-युगोंके १२ हज़ार वर्ष देवताओंके हैं। इनके मनुष्य-वर्ष बनानेकेलिए ३६० से गुणा करना पड़ेगा। तब १२,०००×३६० इनका गुणनफल ४३,२०,००० यह चतुर्युगके मनुष्य-वर्ष बनेंगे।

यदि उक्त बारह हज़ार वर्ष देवताओंके न मानकर मनुष्योंके माने जावें, तब तो कलियुग समाप्त हो चुका हुआ माना जावेगा, और सत्ययुग को भी समाप्तप्राय मानना पड़ेगा। क्योंकि—कलियुगकी दिव्यवर्ष-संख्या १२०० है, और सत्ययुग ४८०० दिव्यवर्षोंका है। महाभारत-युद्धकालसे प्रारम्भ हुए कलियुगको ५०५६ साल बीत चुके हैं— यह सर्वसम्मत बात

सावधानं निरूपितम् ॥ चत्वारि, त्रीणि, द्वे, चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्। संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥ सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः। तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते' (३।११।२०) त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिः आ ब्रह्मणोदिनम्। तावत्येव निशा तात! यन्निमीलति विश्वसृक् (३।११।२२) निशावसाने आरब्धो लोककल्पोनुवर्तते। यावद् दिनं भगवतो मनून् भुञ्जँश्चतुर्दश। स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्' (३।११।१८-२०, २२-२४)। यही बात मनुस्मृति (१।६८-७४, ७६-८०)में तथा महाभारत (वनपर्व १८८।२२-२४,२६) तथा शान्तिपर्व मोक्षधर्मपर्व (२३१।१६-१७;१६-२१, २६-३१)में भी स्पष्ट की गई है।

है। अतः दिव्य वर्षोंको मनुष्यवर्ष मानना ठीक न होकर देववर्ष ही मानना ठीक है। कलियुगके ४८०० वर्ष तथा सत्ययुगके १२०० वर्ष मानना भी गलत है। क्योंकि—कलियुग सब युगोंसे सब बातोंमें छोटा होता है। कलियुगसे दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता, और चौगुना सत्य-युग होता है—यह सर्वशास्त्रसम्मत बात है। मनुस्मृति-आदिके अनुसार सत्ययुगके ४८००, त्रेताके ३६००, द्वापरके २४००, और कलिके १२०० दिव्य-वर्ष होते हैं। इन्हें जोड़ने पर १२,००० यह चतुर्युगोंके दिव्य-वर्ष होते हैं। इन्हें ३६० से गुणा करनेपर ४३,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं।

देववर्ष और मनुष्यवर्षोंकी भिन्नतामें यह प्रमाण हैं—'मासेन स्याद् अहोरात्रः पैत्रः, वर्षेण दैवतः' (अमर० १।७।२१) अर्थात् मनुष्योंका एक मास पितरोंका एक दिन-रात होता है। मनुष्योंका एक साल देवताओंका एक दिन-रात होता है। बोधायनगृह्यपरिभाषासूत्रमें भी कहा है—'संवत्सरो वै देवानामहोरात्रम्। तस्य एतद्, उदगयनम् अहः,

अब हम इनका विवरण लिखते हैं। 'श्रीसनातनधर्मालोक'के विज्ञ-पाठक सावधानतासे देखें—

(सं० २०१२ वि०, कलियुग ५०५६ सन् १९५६)

भुक्तकल्पके मानुषी-वर्षोंका विवरण।

गत छः मन्वन्तरोंके वर्ष	१,८४,०३,२०,०००
इनकी सात सन्धियोंके वर्ष	१,२०,९६,०००
७वें मन्वन्तरके गत २७ चतुर्युगोंके वर्ष	११,६६,४०,०००
२८ त्रियुगोंके भुक्त वर्ष	३८,८८,०००
वर्तमान २८ वें कलिके भुक्त वर्ष	५,०५६
भुक्त कल्पके वर्षोंका योग	१,९७,२९,४९,०५६

दक्षिणायनं रात्रिः' (१।२।१३)। तैत्तिरीयब्राह्मणमें भी—'एकं वै एतद् देवानामहः, यत् संवत्सरः' (३।९।२२(१) यही कहा है। इसकी ध्वनि ऋग्वेदसं०में भी मिलती है—'मानुषाणि युगानि पान्ति मर्त्यम्' (५।५२।४) यहांपर मर्त्यके साथ मानुष-युगोंका सम्बन्ध बताया गया है। महाभारत शान्तिपर्व (२३१।१६-१७-१८) में भी मनुष्यवर्ष और दिव्य-वर्षोंका भेद स्पष्ट दिखलाया गया है। इससे जो लोग मानते हैं कि—२००० विक्रमी-संवत्में कलियुग समाप्त होगया—उन श्रीराजनारायण आदि का पक्ष खण्डित हो गया। इस विषयमें हम किसी अन्य पुष्पमें प्रकाश डालेंगे। इससे देवता और मनुष्योंका भेद भी सिद्ध होगया। आर्यसमाजी आदि देवता और मनुष्योंका भेद नहीं मानते, पर यह बात शास्त्रविरुद्ध है—इस विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' का चतुर्थ-पुष्प देखें। उसमें 'क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं'? 'देवता और मनुष्योंकी भिन्नता' यह दो निबन्ध पढ लेनेसे सब संशय दूर हो जावेंगे।

भोग्यकल्पके मानुषी-वर्षोंका विवरण।

आगेके सात मन्वन्तरोंके वर्ष	२,१४,७०,४०,०००
उनकी आठ सन्धियोंके वर्ष	१,३८,२४,०००
आगेके ४३ चतुर्युगोंके वर्ष	१८,५७,६०,०००
वर्तमान कलियुगके शेष वर्ष	४,२६,६४४
कल्पके अग्रिम वर्षोंका योग	२,३४,५०,५०,६४४
इस गणनासे कल्पके भुक्त वर्ष	१,६७,२६,४६,०५६
,, ,, भोग्यवर्ष	२ ३४,७०,५०,६४४
इनका योग (ब्रह्माका दिन)	४,३२,००,००,०००

ये एक कल्पके वर्ष हैं। एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने पुराण-आदिका पूर्णज्ञान न होनेसे ऋभाभू० (४र्थ संस्करण)के इस प्रकरणमें कल्पके भुक्त वर्षोंमें गत छः मनुओंके सात सन्ध्यंशोंके भुक्त-वर्ष १,२०,६६,००० यह नहीं मिलाये। तब इतनी उसमें कमी रह गई है। उन्होंने उक्त पुस्तकके २४ पृष्ठमें विक्रम सं० १६३२ के अनुसार १,६६,०८, ५२,६७६ वर्ष लिखे हैं। उन्हें उनमें उक्त-सन्ध्यंशोंके भुक्त-वर्षों (१,२०,६६,०००)को मिलाना चाहिये था, इस प्रकार उन्हें १,६७,२६,४८,६७६ वर्ष सं० १६३२में लिखने अपेक्षित थे। प्रसन्नताका अवसर है कि स्वामीके अनुयायियोंने उनकी यह भूल मानी। जैसे कि—मेरठके 'वेदप्रकाश' (७६-७ अङ्क १६५ पृष्ठ) में श्रीतुलसीराम-स्वामीने और १६१६ के अक्टूबरके अङ्क २४५ पृष्ठमें

श्रीछुट्टनलाल-स्वामीने भी यह स्वीकार किया। इसलिए अब सत्यार्थप्रकाश-आदिके बाहर वैदिक स्वा० दयानन्दजीके अनुसार नहीं, किन्तु अपने शब्दसे पौराणिकोंके अनुसार आर्य-सृष्टि-संवत्सर लिखा जाता है।

इसी प्रकार उक्त-पुस्तकमें भोग्य-वर्षोंके लिखनेमें भी स्वामीजी-ने भूल की है। वहां लिखा है कि—'२,३३,३२,२७,०२४ वर्ष इस सृष्टिको भोग करनेके बाकी रहे हैं; पर उनमें उन्होंने आगेके सात मन्वन्तरोंकी आठ सन्धियोंके १,२८,२४,००० वर्ष नहीं मिलाये। वहां उन्हें (सं० १९३२के अनुसार) २,३४,७०,५१,०२४ इन भोग्य-वर्षोंको लिखना चाहिये था। उनकी इस पुराण-सम्बन्धी भूलको उनके समझदार अनुयायी मानते हैं, तभी तो वे कल्पके वर्ष हमारे अनुसार ४,३२,००,००,००० मानते हैं; और उन्हें वेदसे भी सिद्ध करते हैं। वह मन्त्र यह है—'शतं तेऽयुतं हायनान्, द्वे युगे. त्रीणि, चत्वारि कृण्मः' (अथर्व० ८।२।२१)। सुना गया है कि इस वेदमन्त्रसे यह कल्पना श्रीलेखरामजी आर्यमुसाफिरने बलात् निकाली थी। इसका संकेत ला० मुन्शीरामजीसे बनाये 'आर्यपथिक' में दिया है। वे इस मन्त्रका भाव यह बताते हैं कि इकाई-दहाई आदिके क्रमसे शत (१००) अयुत (१०,०००) लिखो, अर्थात् १००×१०,०००=१०,००,००० यह अङ्क लिखो। फिर उसके बाएँ 'द्वे युगे'—२ का अङ्क जोड़ो। फिर बाएँ ओर 'त्रीणि' ३ का अङ्क जोड़ो। फिर उसके बाएँ 'चत्वरि' ४ का अङ्क जोड़ो। ऐसा करने पर ४,३२,००,००,००० कल्पके वर्ष हो

जाते हैं। इस जबर्दस्तीके अर्थमें भी वही हमारी कही संख्या निकली।

पर उक्त वेदमन्त्रके इस अर्थ करनेमें कई दोष आते हैं। ४,३२,१०,००,००० ऐसी योजना हो जाने पर १० लाख वर्ष बढ़ जाते हैं, यह एक दोष है। तब मन्त्रमें 'द्वे युगे' यहां 'युग' शब्द व्यर्थ हो जाता है, यह दूसरा दोष है। 'द्वे, त्रीणि, चत्वारि' इन अङ्कोंको बाईं-बाईं ओर लिखो, ऐसा मन्त्रमें कहीं नहीं कहा, यह तीसरा दोष है। 'कल्प' का उन मन्त्रमें नाम वा गन्ध भी नहीं है—यह चौथा दोष है। वेदवाणीसे बलात्कार किया गया है—यह पांचवां दोष है। किसी प्राचीन वा अर्वाचीन भाष्यकारने ऐसा अर्थ नहीं किया—यह छठा दोष है। फिर यह बतानेवाला वेद ४,३२,००,००,००० केवल इतना पुराना होनेसे आदिमान् सिद्ध हो जावेगा; क्योंकि इससे अधिक-संख्या ब्रह्माके सौ सालकी तो इसमें बताई नहीं गई—यह सातवां दोष है। इस मन्त्रमें तो इतने जीवनकी आयु बताई गई है; तो जब आर्यसमाजी मनुष्यकी इतनी आयु मान सकते हैं; तो पुराणोंमें जो ऋषि-मुनियोंकी बड़ी आयु लिखे होनेसे उन्हें गप्प मानते हैं—वे उन्हें मानने पड़ जाएँगे—यह आठवां दोष है। फिर वेदमें ब्रह्माकी सारी आयु १०० वर्ष, तथा विष्णु, रुद्रकी आयु न बतानेसे वेदका अज्ञान वा त्रुटि माननी पड़ेगी—यह नवां दोष है। वस्तुतः यह सृष्टि-क्रम बताना वेदका विषय नहीं; 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' यह विषय बताना पुराणोंका काम है—इसलिए उन्हें ही इस विषयमें मूल मानना पड़ेगा। तब वेद

तथा पुराणकी एककालता भी सिद्ध हो जावेगी। जो जिसका विषय नहीं; उससे वह विषय निकालना—यह दसवां दोष है। अस्तु!

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें वर्णित स्वामी दयानन्दजीके भुक्त-भोग्य वर्षोंके संकलनसे—

१,९६,०८,५२,९७६ भुक्त वर्ष
२,३३,३२,२७,०२४ भोग्य वर्ष
―――――――――――
४,२९,४०,८०,००० एक कल्प

—इतने वर्ष बनते हैं। इनमें भुक्त-भोग्य सन्ध्यांशोंके वर्षोंके न मिलानेसे २,५९ २०,००० वर्षोंकी कमी पड़ी है। यदि स्वामीजीके लिखे अङ्कोंमें भुक्त छः मन्वन्तरोंके सात सन्ध्यांशोंके वर्ष १,२०,९६,००० तथा भोग्य ७ मन्वन्तरोंके ८ सन्ध्यंशोंके वर्ष १,३८,२४,००० मिला दिये जावें; तो—

४,२९,४०,८०,००० स्वा० द० की लिखी कल्पसंख्या
१,२०,९६,००० भुक्त छः मन्वन्तरोंके ७ सन्ध्यंशोंके वर्ष
१,३८,२४,००० भोग्य ७ मन्वन्तरोंके ८ ”
―――――――――――
४,३२,००,००,००० एक कल्प

—हमसे कही हुई कल्पकी वर्षसंख्या पूर्ण हो जाएगी। नहीं तो स्वामीके अनुयायियोंको चाहिये कि उनकी पुस्तकोंके बाहर आर्य-सृष्टि-संवत्सर आजकल १,९६,०८,५३,०५६ लिखें। १,९७,२९,४९,०५६ मत लिखें। अथवा पुराण-निन्दाका प्रायश्चित्त करके पुराणोंको अपना धार्मिक ग्रन्थ मानकर सनातनधर्मी बनें। उनपर किये जाते हुए आक्षेपोंका समाधान हमारे 'श्रीसनातनधर्मालोक' से लें। उक्त

स्थलमें स्वामी दयानन्दजीका अपनी उक्तिसे भी विरोध है। उन्होंने ऋभाभू०के २३ पृष्ठके भावार्थमें लिखा है—'इन चारों युगोंके ४३,२०,००० तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हजार चतुर्युगियोंकी ब्राह्म-दिन (कल्प) संज्ञा रखी है।' इस प्रकार उन्होंने संस्कृतमें लिख रखा है—एकसहस्रं चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति' इस प्रकार उनके अनुसार ४३,२०,००० × १०००= ४,३२,००,००,००० यही संख्या कल्पकी बनती है। अतः उनका परस्पर-विरोध बन जानेसे स्वामीजी अनाप्त सिद्ध हो जाते हैं। यहां उन्हें पुराणोंकी शरण लेनी पड़ेगी। तदनुसार प्रत्येक मन्वन्तर में एक सत्ययुगके वर्ष १७,२८,००० की एक सन्धि होती है। तब १४ मन्वन्तरोंकी १५ सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० यह मिला देनेसे गणना ठीक हो जाती है। अस्तु !

एक कल्प ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके दिनके उदयके साथ ही त्रिलोकीकी सृष्टि होती है। उसके दिनकी समाप्ति होनेपर उतनी ही रात्रि होती है। उसमें जगत्का प्रलय होता है। इस प्रकार—

ब्रह्मा का दिन	४.३२,००,००,०००	मानुषी वर्ष
" की रात्रि	४.३२,००,००,०००	
दिनरात्रिका योग	८,६४,००,००,०००	

—इतने वर्षोंसे ब्रह्माका एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है। इन्हीं वर्षोंको ३० से गुणा करने पर २,५९,२०,००,००,००० वर्षों

का ब्रह्माका एक मास होता है। इन्हीं अङ्कोंको १२ से गुणा करने पर ब्रह्माका एक वर्ष बनता है, अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००० वर्षोंका एक ब्राह्म-वर्ष होता है। फिर इन अङ्कोंको १०० से गुणा करनेपर ३११,०४०,००,००,००,००० वर्षोंमें ब्रह्माकी सौ वर्षोंकी आयु समाप्त होती है। इस ब्रह्माकी आयुमें से आज तक १५,५५, २१,६७,२६,४६,०५६ वर्ष बीत चुके हैं।

अब चारों युगोंके दिव्य तथा मानुष वर्ष एवं उनके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दिखलाये जाते हैं—

चारों युगोंके दिव्य वर्ष

सं०	युगों के नाम	सन्ध्या		नियतकाल		सन्ध्यांश		सर्वयोग
१	सत्ययुग	४००	+	४०००	+	४००	=	४८००
२	त्रेतायुग	३००	+	३०००	+	३००	=	३६००
३	द्वापरयुग	२००	+	२०००	+	२००	=	२४००
४	कलियुग	१००	+	१०००	+	१००	=	१२००
						योग		१२,०००

चारों युगोंके मानुष वर्ष

सं०	युगोंके नाम	सन्ध्या		नियतकाल		सन्ध्यांश		सर्वयोग
१	सत्ययुग	१,४४,०००	+	१४,४०,०००	+	१,४४,०००	=	१७,२८,०००
२	त्रेतायुग	१,०८,०००	+	१०,८०,०००	+	१,०८,०००	=	१२,९६,०००
३	द्वापरयुग	७२,०००	+	७,२०,०००	+	७२,०००	=	८,६४,०००
४	कलियुग	३६,०००	+	३,६०,०००	+	३६,०००	=	४,३२,०००
		चारों युगोंके वर्षोंका योग						४३,२०,०००

संक्षेपसे यह जानना चाहिये कि—कलियुगके ४,३२,००० मानुष वर्ष होते हैं। उससे दुगुना द्वापर होता है। कलिसे तिगुना त्रेतायुग और चौगुना सत्ययुग होता है। इस प्रकार चतुर्युगके ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकारके ७१ चतुर्युगोंका एक मन्वन्तर होता है। इस मन्वन्तरके ३०,६७,२०,००० मनुष्य-वर्ष होते हैं। एक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं, उनके वर्ष ४,२६,४०,८०,००० होते हैं। इनमें ९९४ चतुर्युग होते हैं। एक कल्पमें 'सूर्य-सिद्धान्त' (१।१९)के अनुसार १५ सन्धियां होती हैं। उनमें एकका परिमाण सत्ययुगके बराबर (१७,२८,०००) होता है। इस प्रकार सब सन्धियोंके वर्ष २,५९,२०,००० होते हैं इनके ६ चतुर्युग होते हैं। एक सहस्र चतुर्युग एक कल्प होता है। स्वा० द० जी इन सन्धियोंके वर्ष मिलाना भूल गये हैं, यह हम पहले संकेत दे ही चुके हैं। पौराणिकोंके 'ॐ तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीय-प्रहरार्धे [श्रीश्वेतवाराहकल्पे*] वैवस्वते मन्वन्तरे, अष्टाविंशतितमे कलियुगे, कलिप्रथमचरणे, अमुक-संवत्सराऽयन ऋतुमास-पक्षदिन -नक्षत्रलग्नमुहूर्ते‡ अत्र इदं कृतं क्रियते च' (ऋ० भा० भू० पृ० २२) इस संकल्पको भी स्वा० द० जीने ऋभाभू०के २२ पृष्ठमें प्रमाणित कर लिया है, जिसे हम पूर्व लिख चुके हैं। क्या अब भी पुराण 'विषसम्पृक्तान्नवत्' त्याज्य हैं?

---

* इसे स्वामीजीने नहीं लिखा, कदाचित् वराहावतारसे डर गये हों।
‡यहाँ पर स्वामीजी लग्न, मुहूर्त तथा नक्षत्र-विशेषको भी मान गये हैं, इसको वे पौराणिक-कथा मानते थे; अब वे भी पौराणिक बने।

क्या अब भी 'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यम्' (स० प्र० ४२ पृष्ठ) यह कहने की आवश्यकता है ?

(१) पहले पाश्चात्य लोग सृष्टिको केवल ५ हजार वर्षकी पुरानी मानते थे (२) आर्कविशप उशरका मत है कि—सृष्टि आजसे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी। (३) अन्य ईसाई लोग सृष्टिका प्रारम्भ ६६८४ वर्ष पूर्व मानते थे, परन्तु कई अत्यन्त-प्राचीन अस्थि-खण्डोंको देखकर उनकी धारणा परिवर्तित हो गई, और वे धीरे-धीरे हमारे सिद्धान्तकी ओर आने लगे। (४) कई पाश्चात्य ग्रहनक्षत्रोंकी उष्णताका परिमाण जानकर जगत्की उत्पत्ति चालीस लाख वर्षोंसे मानने लगे। (५) इधर भूगर्भ-विद्याविशारदोंने पृथिवीकी आयु दस करोड़ वर्ष आंकी। (६) प्रो० जोलीने समुद्र-जलका खारापन देखकर उससे निर्णय किया कि—संसारमें समुद्र दस-करोड़ वर्षोंसे वह रहा है। (७) श्रीरेडियमने पृथिवीके प्रारम्भ से आज तक ७,५०,००,००,००० पृथिवीके वर्ष माने। (८) प्रो० एस. न्यू. कोम्ब सृष्टिको एक करोड़ वर्षोंसे मानते हैं (पापुलर ऐस्ट्रॉनमी पृष्ठ ५०६)। (९) प्रो० हिलनार २ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिका आरम्भ बताते हैं (सीक्रेट डाक्ट्रिन, भाग २ पृष्ठ ६६५)। (१०) केल्डविन मतके आधार पर प्रोफेसर वेकरने छः करोड़ वर्ष माने। (११) प्रो० कालमहाशय ७ करोड़ वर्ष पूर्व मानते हैं (क्लाइमेट इन टाइम पृष्ठ ३३५)। (१२) चीन-निवासी वैज्ञानिक सृष्टिको ९,६०,०२,४२३ वर्षोंसे मानते हैं। (१३) सरविलियम टामसन १० करोड़ वर्षोंसे सृष्टिका उपक्रम मानते हैं (सीक्रिट डाक्ट्रिन, भाग २

(पृ० ६६४)। १४ प्रसिद्ध अस्थितत्त्व-वेत्ता डाक्टर विलियम तथा डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि पृथ्वी की उष्णता की परीक्षा करके उसकी आयु दस करोड़ वर्षकी मानते हैं। १५ यूरेनियम, हीलियम, वोलोनियम आदि धातुओंके परीक्षक वैज्ञानिक २४ करोड़ वर्षोंसे ३० करोड़ वर्ष मानते हैं। १६ पृथिवीके स्तरोंके अध्ययन करनेवाले वैज्ञानिक कहते हैं कि—वर्तमान सर्वाङ्गपूर्ण मानवजाति के क्रमशः इतने उन्नत होनेमें ३० करोड़ वर्षोंसे न्यून नहीं लगे। १७ प्रो० निशचाफ ३५ करोड़ वर्षोंसे सृष्टिका निर्माण मानते हैं। (सीक्रिट डाक्ट्रिन पृ० ६६४)। १८ प्रो० रेड महाशय ५० करोड़ वर्षसे सृष्टिको मानते हैं। १९ पृथिवीतल, सूर्यकी नीहारिका, चन्द्रमा, समुद्रका खारापन, बुध आदि ग्रहोंका सूक्ष्म-निरीक्षण करके नवीन वैज्ञानिक सृष्टिके उत्पत्तिका समय एक अरब वर्ष पूर्व कूतते हैं। २० प्रो० हक्सले १ अरब वर्षोंसे सृष्टिका सर्जन मानते हैं (वर्ल्ड लाईफ पृ० १८७)। २१ कोई और वैज्ञानिक १ अरब ६० करोड़ वर्षोंसे सृष्टि को मानते हैं।

ये वैज्ञानिक अभी अभ्यासशील विद्यार्थी हैं, अभी परिनिष्ठित (पूर्ण) नहीं हो चुके; अतः समय-समय पर इनके मत बदलते रहते हैं। अन्ततः यह पौरस्त्य-मत पर पहुँच जावेंगे। अतः हमें विश्वास है कि—ये लोग भी १ अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार, ०५६ वर्ष सृष्टिको प्रारम्भ हुए मान लेंगे। इस प्रकार इनके भूभ्रमण आदि सिद्धान्त भी क्रमशः परिवर्तित होंगे, कइयोंके

मतभेद उसमें शुरू हो भी गये हैं। अस्तु। हम सृष्टि-संवत्सरका आरम्भ बता चुके। यह श्वेतवाराहकल्प है। इस प्रकार न मालूम कितने कल्प तथा कितने ब्रह्मा हो चुके और कितने विष्णु तथा कितने रुद्र हो चुके ? ब्रह्माकी अपेक्षा विष्णुका, तथा विष्णुकी अपेक्षा रुद्रका संवत्सर अधिक होता है। अर्थात् ब्रह्माके एक सहस्र दिनोंकी विष्णुकी एक घड़ी होती है। उस गणनासे विष्णु अपने १०० वर्षों तक रहते हैं। उनकी आयु मानववर्षानुसार ६३,३१,२०,००,००,००,००,००,००० होती है। एक विष्णुकी आयुमें अनेक ब्रह्मा उत्पन्न और विलीन हो जाते हैं।

विष्णुकी बारह लाख घड़ियोंकी रुद्रकी आधी घड़ी होती है। इस गणनासे रुद्रकी आयु २,२३,६४,८८,००,००,००,००,००,००,००,००,००० इतने मानववर्षोंकी हो जाती है। एक रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु प्रादुर्भूत और तिरोभूत होते हैं। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी ऐसा संकेत मिलता है—'तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिति स्मृतम्। मन्वन्तरद्वयेनेह शक्रपातः प्रकीर्तितः। (यहां दो मन्वन्तरोंमें इन्द्रकी समाप्ति बताई है।) एतन्मानेन वर्षाणां शतं ब्रह्मक्षयः स्मृतः। (यहां ब्रह्माकी अपने मानसे १०० वर्षकी आयु बताई है)। ब्रह्मक्षयशतेनापि विष्णोरेकमहर्भवेत् (यहां सौ ब्रह्माओंके क्षयसे विष्णुका एकदिन माना गया है)। एतद्दिवसमानेन शतवर्षेण तत्क्षयः। (यहाँ विष्णुके भी अपने मानसे १०० वर्ष आयु बताई गई है)। एतत्क्षयस्त्रिगुणोष्टाभी रुद्रस्य त्रुटिरुच्यते (यहां २४ विष्णुओंके क्षयसे रुद्रकी एक त्रुटि (वहुत थोड़ा काल) बताई है।

एवमाब्दिकमानेन प्रयातेऽब्दशते द्विजाः (तब रुद्रकी भी अपने मान से १०० वर्षकी आयु होती है; इसमें भी बहुतसे ब्रह्मा तथा विष्णु अपना समय बिता जाते हैं)। रुद्रश्चात्मनि लीयेत निरालम्बे निरामये' (१२।१८८-१६१)। यहां पर रुद्रका अपने निरालम्ब आत्मामें अपने सौ वर्षके बाद लीन हो जाना कहा है; उतने समय को हम महा-महा-महाप्रलय कदाचित् कह सकें।

इस प्रकार पता नहीं कि—कितने रुद्र बीते। इस प्रकार यह संसार अनादि तथा उससे शुरू हुई हिन्दु-संस्कृति भी अनादि तथा सर्व-प्राचीन सिद्ध हुई। तब जो कई जैनी अपने पुस्तकके आदिमें अङ्कोंकी तीन-चार लाइनें लगाकर जैन-संस्कृतिको प्राचीनतम सिद्ध करना चाहते हैं; हिन्दुसंस्कृति तो इतनी प्राचीन सिद्ध हुई कि—जहां अङ्क लिखे ही नहीं जा सकते, यह अनन्तकी उपासक तथा स्वयं भी अनन्त है। अतः इस हिन्दुसंस्कृतिके वेद-पुराण तथा सनातनधर्मभी उस अनन्तकालसे चले आरहे हैं। उसमें प्रत्येक संस्करणमें वेद उसी रूपमें रहते हैं। पुराणोंका भी पूर्वके अनुसार नव-सम्पादन होता है। धर्म भी उसी रूपमें रहता है। अन्य किसी भी संस्कृतिमें इतना कालपरिमाण नहीं मिलता; अतः वे संस्कृतियां आदिमती, तथा अन्त वाली भी हैं, हिन्दुसंस्कृतिकी भांति अनादि और अनन्त नहीं।

इसी संस्कृतिके एकदेशको आधार बनाकर वे अर्वाचीन संस्कृतियां उत्पन्न हुईं, और नष्ट भी होगईं। इस प्रकार आगे भी उत्पन्न होंगी, और नष्ट होंगी; पर यह हिन्दु-संस्कृति इसी रूपमें

अविचल रहेगी, यदि अपने ही 'विभीषण' इसकी जड़ काटनेपर न तुल जाएँ। तब उसी हिन्दुसंस्कृति तथा उसीके धर्म, तथा उसके पूर्वपुरुषों और उसीके शास्त्रोंका निरन्तर जनतामें खण्डन करते हुए अर्वाचीन-सम्प्रदाय शोचनीय तथा अपने पैरों पर आपही कुल्हारा मारने वाले सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार १,९७,२९,४९,०५६ वर्ष इस वर्तमान सृष्टिमें वीते हैं। वेदोंको यहांसे शुरू होना मानना वेदको सर्वथा अर्वाचीन सिद्ध करना है। वे तो अनादिकालसे चले आरहे हैं, यह तो वर्तमान सृष्टिका आरम्भ है। चैत्र-शुक्लपक्षकी प्रतिपद् वाले दिन ही सृष्टि-संवत्सरका आरम्भ हुआ। अतः यह संवत्सरारम्भ गत बातोंका स्मरण करानेवाला होनेसे हिन्दु-जातिकेलिए अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण है। अतः इस दिन हिन्दु-जनता तीर्थस्नान करने जाती है, ध्यान, दान आदि करती है, और नये पञ्चाङ्गसे नववर्षका विवरण सुनती है, नये वस्त्र पहरती है—इससे अपनी प्राचीनताका ध्यान रहनेसे हिन्दुजातिको अपनी संस्कृतिमें दृढ-आस्था बनी रहती है, और वह अपनी इसी संस्कृतिमें अविचल होकर दूसरी विदेशी-जातियों तथा अर्वाचीन-सम्प्रदायोंके उत्साहका कारण नहीं बनती। पर जो अपनी इन बातोंका तथा अपने पर्वोंके विज्ञानका ज्ञान वा उसमें ध्यान नहीं रखते; वे चञ्चल होकर अपनी संस्कृति को छोड़कर अन्य अर्वाचीन-सम्प्रदायोंमें प्रविष्ट होकर कहीं के भी नहीं रहते।

(२) मास एवं वारोंका नामक्रम-विज्ञान।

हम 'संवत्सर'के विषयमें बता चुके। संवत्सरके बारह मास एवं १२ राशि होते हैं; और ३६० दिन, तथा सात वार। कुछ इस विषयमें भी जानकारी रखनी चाहिए—प्रसंगवश हम इस विषयमें भी कुछ विशदीकरण करते हैं।

बारह मासोंके नाम १ वैशाख, २ ज्येष्ठ, ३ आषाढ़, ४ श्रावण, ५ भाद्रपद, ६ आश्विन, ७ कार्तिक, ८ मार्गशीर्ष, ९ पौष, १० माघ, ११ फाल्गुन, १२ चैत्र—यह हैं। इन्हीं की १२ राशि हुआ करती हैं। उनके नाम हैं—१ मेष, २ वृष, ३ मिथुन, ४ कर्क, ५ सिंह, ६ कन्या, ७ तुला, ८ वृश्चिक, ९ धनुः, १० मकर, ११ कुम्भ, १२ मीन। सात वारोंके नाम यह हैं—१ रवि, २ चन्द्र, ३ भौम, ४ बुध, ५ बृहस्पति, ६ शुक्र, ७ शनैश्चर।

मासों तथा वारोंके यह नाम क्यों रखे गये हैं? और इनका यह क्रम क्यों है—इस विषयमें बहुत महाशयोंको कुछ भी जानकारी नहीं है। वे लोग हमारे इन महीनोंके नामोंको जनवरी, फर्वरी आदिकी भांति आकस्मिक रखा हुआ मानते हैं। वारों के विषयमें उनका यह कथन है कि—इन ७ वारों तथा १२ राशियोंके नाम भारतवर्षने यूनानसे सीखे हैं। यह अंग्रेजोंके मानसिक-दास आधे-आर्यसमाजी, सुधारकोंके अनुयायी कतिपय-पौरस्त्योंका मत हैं। अन्य व्यक्तियोंका वारोंके विषयमें यह प्रश्न होता है कि रविवारके आगे चन्द्रवार, चन्द्रवारके आगे भौम-वार-इत्यादि क्रम क्या निर्निमित्तक (आकस्मिक) है, वा सनिमित्तक?

इस विषयमें हम प्रकरणवश कुछ बतावेंगे, आशा है—'आलोक'के पाठकगण इधर ध्यान देंगे। यूनानसे भारतने यह सीखा—इस विषय पर तो हम इस निबन्धके अन्तमें प्रकाश डालेंगे; पर पहले हम पूर्व-विषयपर विचार करते हैं।

मास-नाम-रहस्य।

हमारे मासोंके चैत्र, वैशाख आदि नाम अंग्रेजी मासोंकी तरह आकस्मिक नहीं कि—मिस्टर जुले इस मासमें पैदा होगए; तो इस मासका नाम 'जुलाई' रख दिया गया। हमारे महीनोंके नाम तो आकाशको देखकर रखे गये हैं। पाठकगण जानते होंगे कि—नक्षत्र २७ माने जाते हैं। उनके नाम अथर्ववेद-संहिता (१९।७।२-३-४-५)में कृत्तिकासे भरणी तक आते हैं। उसमें उत्तराषाढा तथा श्रवणके मध्यमें अभिजितका नाम भी आया है। वे नाम यह हैं—१ अश्विनी, २ भरणी, ३ कृत्तिका, ४ रोहिणी, ५ मृगशिराः, ६ आर्द्रा, ७ पुनर्वसु, ८ पुष्य, ९ आश्लेषा, १० मघा, ११ पूर्वा फाल्गुनी, १२ उत्तरा फाल्गुनी, १३ हस्त, १४ चित्रा, १५ स्वाति, १६ विशाखा, १७ अनुराधा, १८ ज्येष्ठा, १९ मूल, २० पूर्वाषाढा, २१ उत्तराषाढा, (ख) अभिजित्, २२ श्रवण, २३ धनिष्ठा, २४ शतभिषा, २५ पूर्वा भाद्रपदा, २६ उत्तरा भाद्रपदा, २७ रेवती।

यह नक्षत्र चन्द्रमाके साथ भ्रमण किया करते हैं। प्रत्येक पूर्णिमाको एक नक्षत्र जो चन्द्रमाके साथ होता है; उससे अग्रिम पूर्णिमामें उस पूर्व-नक्षत्रके आगे का एक नक्षत्र छूटकर उसके आगे-

वाला नक्षत्र चन्द्रमाके साथ आ जाता है। इसी प्रकार फिर आगेकी पूर्णिमामें उसका भी अग्रिम एक नक्षत्र छूटकर उस छूटे हुए का अगला नक्षत्र चन्द्रमाके साथ आ जाता है। किसी-किसी मासमें दो नक्षत्र छूटकर उनसे अग्रिम-नक्षत्र चन्द्रमाके साथ आ जाता है। जो नक्षत्र पूर्णिमामें चन्द्रके साथ होता है, उसी नक्षत्रके नामसे उस मासका नाम रखा जाता है। पूर्णिमावाले दिन उसी नक्षत्रसे मास पूर्ण होता है; अतः उसे पूर्णमासी कहा जाता है।

अब 'आलोक' पाठकगण इस बातको समझें।—जिस दिन पूर्णिमाको चन्द्रमाके साथ अश्विनी-नक्षत्र होता है, उस मासका नाम ६ आश्विन होता है। व्याकरणानुसार 'अश्विनी'से अण्-प्रत्यय होकर पूर्व-अच्को वृद्धि करके अन्तिम 'ई' को लुप्त करके 'आश्विन' बनता है। फिर उससे अग्रिम मासकी पूर्णिमामें भरणी-नक्षत्र छूटकर कृत्तिका आ जाता है। उस मासका पूर्ववत् व्याकरणानुसार ७ कार्तिक नाम होता है। फिर उससे अग्रिम-पूर्णिमामें रोहिणी-नक्षत्र छूटकर मृगशिर आ जाता है, उस मासका नाम ८ मार्गशीर्ष होता है। उससे आगेकी पूर्णिमामें आर्द्रा और पुनर्वसु यह दोनों नक्षत्र छूटकर पुष्य नक्षत्र आ जानेसे ९ पौष-मास नाम रखा जाता है। उसके बादकी पूर्णिमामें आश्लेषा छूटकर मघा आ जानेसे १० माघ, उसके बादकी पूर्णिमामें पूर्वा-फाल्गुनी छूटकर उत्तरा-फल्गुनी आ जाता है; तो ११ फाल्गुन-मास नाम रखा जाता है।

फिर अगले महीनेमें हस्त-नक्षत्र छूटकर चित्रा आ जाने से १२ चैत्रमास, स्वाति छूटकर विशाखा आ जाने से १ वैशाख, अनुराधा समाप्त हो जाने और ज्येष्ठा आ जानेसे २ ज्येष्ठ*, मूल छूटकर पूर्वाषाढा आ जानेसे ३ आषाढ-मास नाम रखा जाता है। उत्तराषाढा छूटनेसे श्रवण आकर ४ श्रावण नाम, धनिष्ठा और शतभिषा यह नक्षत्र छूटकर पूर्वा-भाद्रपदा नक्षत्र आ जानेसे ५ भाद्रपद-मास नाम रखा जाता है। फिर उत्तरा-भाद्रपदा और रेवती दो नक्षत्र छूटकर उसके बाद अश्विनीका क्रम होता है, जिससे ६ आश्विन मास बनता है—यह पूर्व कहा जा चुका है। यह है हमारे देशी मासोंके नामोंका रहस्य।

वार-क्रम-रहस्य।

सूर्य, चन्द्र आदि वारोंका नाम सात दृश्य ग्रहोंके कारण है-यह तो स्पष्ट है, पर सूर्यके चन्द्र और चन्द्रके बाद भौम आदिका यह क्रम क्यों है—इसपर भी पाठकगण याद रखें। 'सूर्यसिद्धान्त' एक ज्योतिषका प्रसिद्ध, प्रामाणिक एवं प्राचीन-ग्रन्थ है। यह २८वें कृतयुग—(सत्ययुग)के अन्तमें बनाया गया है, जैसा कि उसमें कहा है—'अष्टाविंशाद् युगादस्माद् यातमेतत् कृतं युगम्' (१।२३) 'अल्पावशिष्टे तु कृते' (१।२)। अस्तु।

उसी सूर्य-सिद्धान्तमें व्योमकक्षामें ग्रहोंका क्रम इस प्रकार कहा है—'ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते। तन्मध्ये भ्रमणं

* यहां पर 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस परिभाषाके बलसे पूर्व अच्को वृद्धि नहीं होती।

भानामधोऽधः क्रमतस्तथा' (१२।३०) यहाँ कहा गया है कि—व्योम-कक्षामें ग्रह एक-दूसरेसे नीचे क्रमशः रहकर घूमा करते हैं। ग्रहों का कक्षा-क्रम यह बताया गया है—'मन्दाऽमरेज्य-भूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः। परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः' (१२।३१) यहां पर मन्द (शनि), अमरेज्य (गुरु), भूपुत्र (भौम), सूर्य, शुक्र, इन्दुज (बुध), इन्दु (चन्द्र) का आकाशमें कक्षा-क्रम बतलाया गया गया है। सबसे ऊपर शनिकी कक्षा, शनिसे नीचे गुरुकी, उससे नीचे भौमकी, उससे नीचे रविकी, फिर शुक्र और फिर बुधकी; सबसे नीचे चन्द्रकी कक्षा है।

१ शनि
२ गुरु
३ भौम
४ सूर्य
५ शुक्र
६ बुध
७ चन्द्र

फिर 'सूर्यसिद्धान्त'में कहा है—'मन्दादधः क्रमेण स्युः चतुर्था दिवसाधिपाः। वर्षाधिपतयस्तद्वत् तृतीयाश्च प्रकीर्तिताः।' (१२।७८) ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपाः स्मृताः। होरेशाः सूर्यतनयादधोऽधः क्रमतस्तथा' (७६) इसका यह अर्थ है कि 'शनैश्चरसे नीचेके क्रमसे चौथा-चौथा ग्रह दिन (वार)का स्वामी होता है, और तीसरा-तीसरा ग्रह वर्षका स्वामी होता है। चन्द्रसे ऊपर-ऊपरके ग्रह मासके स्वामी होते हैं। शनिसे निचले-निचले ग्रह क्रमसे दिनके प्रत्येक घण्टेके स्वामी हुआ करते हैं।' यहांपर पूर्वका वाक्य और अन्तिम-वाक्य—यह प्रकृत हैं। पहला वाक्य यह है—'शनिसे नीचेके क्रमसे चौथा-चौथा ग्रह दिनका स्वामी है' और अन्तिम वाक्य यह है कि—शनिसे निचले ग्रह, क्रमसे एक

अहोरात्रके प्रत्येक-घण्टेके स्वामी होते हैं।'

अब पूर्ववाक्यानुसार गणना करनी चाहिये। कक्षा-क्रमसे शनिसे नीचेका चौथा ग्रह सूर्य है; अतः रवि ही शनिसे अगले दिनका स्वामी हुआ। सूर्यसे नीचेका चौथा ग्रह चन्द्र है; अतः वही अगले दिनका स्वामी हुआ। चन्द्रसे चौथा भौम है, इसीलिए वही चन्द्रसे अग्रिम दिनका स्वामी होता है। भौमसे नीचे चौथा ग्रह बुध है; अमः भौमके बाद बुधका क्रम होता है। इस प्रकार बुधसे चौथा ग्रह गुरु, और उससे नीचे चतुर्थ शुक्र और शुक्रसे चतुर्थ शनि है, अतः वही शुक्रसे अग्रिम दिनका स्वामी होता है।

उस-उस ग्रहसे चतुर्थ ही उस दिनका स्वामी कैसे है—यह जाननेके लिए अब पूर्वोक्त दो पद्योंके अन्तिम वाक्यको लीजिये कि शनैश्चरसे नीचे-नीचेका ग्रह क्रमसे एक दिनरातकी प्रत्येक होराका स्वामी होता है। अहोरात्रका चौबीसवां भाग 'होरा' कहाता है। 'अहोरात्र'के आदिम और अन्तिम अक्षरको लुप्त करके 'होरा' शब्द बनता है। अब 'होरा' का अर्थ हुआ—'घंटा'। अहोरात्रके २४ होरा (घण्टे) होते हैं। उक्त कक्षावाले ग्रह एक-एक होराके क्रमशः स्वामी होते हैं; तब जो ग्रह २४वें घण्टेका स्वामी है; उससे अग्रिम-होराका जो स्वामी सूर्योदयके समय बनता है; वही उस दिनका स्वामी माना जाता है। अब पाठकगण इसकी गणना करें।

हम कह चुके हैं कि—१ शनि, २ गुरु, ३ भौम, ४ रवि, ५ शुक्र, ६ बुध, ७ चन्द्र यह है ग्रहोंका कक्षा-क्रम। मान लीजिये कि—आज

सूर्योदयमें पहली होराका (६ बजेसे ७ बजे तक) स्वामी 'शनि' है। तब २री, ३री, ४थी, ५वीं, ६ठी ७वीं होराके स्वामी गुरु, भौम, रवि, शुक्र, बुध, चन्द्र हुए। यह पहला चक्र १ बजे मध्याह्न तक समाप्त हुआ।

फिर ८वें घण्टेका स्वामी दो बजे मध्याह्नमें पुनः शनि हुआ। ९, १०, ११, १२, १३, १४ घण्टेके स्वामी क्रमसे गुरुसे लेकर चन्द्र तक हुए। यह दूसरा चक्र रात्रिके ८ बजे तक समाप्त हुआ। फिर १५व घण्टेका स्वामी नौ बजे रात्रिमें फिर शनि हुआ। फिर १६, १७, १८, १९, २०, २१ घंटेके स्वामी क्रमसे गुरुसे लेकर चन्द्र तक हुए, यह सात ग्रहोंका तीसरा चक्र रात्रिके तीन बजे समाप्त हुआ। अब चौथे चक्रमें २२वें घण्टेका स्वामी पुनः शनि हुआ। २३वेंका गुरु, २४वेंका भौम हुआ।

इस प्रकार यह अहोरात्र प्रातः छः बजेसे कुछ पूर्व समाप्त हुआ। फिर दूसरे दिनके प्रथम घंटे (२५वें)में ६ बजे सूर्योदय हुआ। उसमें भौमके आगे रविका क्रम हुआ। इस प्रकार शनिके २४वें घण्टेकी समाप्तिके बाद अगले दिन प्रथम घण्टेका स्वामी रवि हुआ; इसी कारण शनिवारके आगे रविवार आता है। वारका अर्थ होता है 'क्रम'। रविवारके आगे सोमवार क्यों आता है; इसपर फिर आगे भी गणनाक्रम पूर्वकी भांति जानना चाहिये। सूर्योदयमें पहले घण्टेका स्वामी रवि तो हुआ ही। तब द्वितीय चक्रमें ८वेंका, तृतीय चक्रमें १५वें का, चतुर्थ चक्रमें २२वें घण्टेका स्वामी भी रवि ही हुआ। फिर २३वें घंटेका स्वामी शुक्र,

२४वेंका बुध हुआ। फिर दूसरे दिनके प्रथम घंटेका स्वामी बुधका अगला चन्द्र ही हुआ, जो रविसे चतुर्थ होता है। इसलिए रविवारके आगे चन्द्रवार आता है।

भाव यह है कि—८वें, १५वें, २२ वें घण्टेका स्वामी तो वही ग्रह होता है। फिर २२ से २४वें घण्टे तक अपनेसे तीसरा ग्रह रहता है। अग्रिम दिनके प्रथम (२५वें) घण्टेमें अपनेसे चौथा ग्रह आ जाता है। इसी कारण यह वारोंका क्रम जो आज प्रचलित है; यह सोपपत्तिक और विज्ञानपूर्ण ही सिद्ध है। न यह आकस्मिक है, न स्वेच्छा-कल्पित। यह तो आकाशको देखकर रखा गया है।

(२)

अब जो लोग राशि, वार आदिकी प्रवृत्तिका यूनानियों द्वारा भारतको सिखाना मानते हैं—वे अंग्रेजी भाषासे प्रभावित होनेसे अंग्रेज़ोंके मानसिक दास ही हैं। वस्तुतः जिस समयसे हमारे वेदादि-शास्त्र हैं; उसी समयसे राशि, और वार आदिकी प्रवृत्ति है। सनातनधर्मके मतमें वेद अपौरुषेय हैं, प्रत्येक सृष्टिकी आदिमें यथापूर्व प्रकट होते हैं। अर्वाचीनोंके मतमें भी वेद आदिम ग्रन्थ माने जाते हैं। अथर्ववेद (शौ०) संहितामें 'शं नो दिविचरा ग्रहाः' (१६।६।७) 'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शम् आदित्यश्च राहुणा' (अ० १६।६।१०) यहां ग्रहोंका संकेत दिया है। यद्यपि सूर्यादि ग्रह राहु-केतुके साथ नौ हैं; तथापि दृश्य-ग्रह सात ही हैं; वे ही वारके स्वामी होते हैं।

अतः जगद्गुरु-भारतवर्ष ही सर्वादिम, अतः सब देशोंका गुरु और समस्त-विद्याओंका प्रवर्तक है। उसीसे भिन्न-भिन्न देशके रहनेवालोंने भिन्न-भिन्न विद्याएं सीखीं। पाश्चात्य लोग जो कि भारतवर्षको सभी विद्याओंका श्रेय नहीं देते, उसका कारण यह है कि—वे यूनानसे प्राचीन इतिहास मानते ही नहीं। पर वस्तुतः यह महामोह है। जब कि वेद पूर्व कहे मन्त्रसे तथा 'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यदासुरः'' (५।४०।६) इस ऋग्वेदसं०के मन्त्रसे ग्रहण बताता है; तब ग्रहणका ज्ञान राशि-मण्डलके ज्ञानके बिना और सूर्य-चन्द्रादि ग्रहोंके वारोंके ज्ञानके विना असम्भव है। तब राशिविद्याका प्रतिपादक वेद ही सिद्ध हुआ; और वार आदि भी वैदिक-कालसे ही सिद्ध हुए।

यदि प्राचीन-पुस्तकोंमें राशिवर्णन वा वारादिवर्णन स्पष्ट न मिले, तो इससे प्राचीनोंको उसका अज्ञान सिद्ध नहीं होता। सर्वसाधारणतः प्रचलित सभी बातें स्पष्ट-रूपसे नहीं भी कही गई जावें—यह सम्भव हुआ करता है। वेदादिमें धोतीका बान्धना आदि स्पष्ट न मिले; तो क्या मानना पड़ेगा कि—हमें धोती बांधना भी यूनानियोंने सिखाया ? वेद-संहिताओंमें तो आचार्यकुल, वा गुरुकुल शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता, उसमें परमात्मा-शब्द भी नहीं आता; तब क्या यह सब शब्द हिन्दु यूनानियोंसे सीखे ? वाह !!! हमारे बहुतसे प्राचीन-ग्रन्थ लुप्त हैं; उनमें उनकी सत्ता प्राप्त हो सकना सम्भव है।

'सूर्य-सिद्धान्तमें' हम बता चुके हैं कि—वारोंका तथा राशियों-

का वर्णन है; और वह ग्रन्थ सत्ययुगमें बनाया गया है; इसे हम पूर्व लिख चुके हैं। तभी तो उसमें अन्य ज्योतिषके ग्रन्थोंकी तरह तीन संख्यामें कहीं 'राम' शब्द नहीं दिया, नौ संख्यामें 'नन्द' शब्द नहीं दिया। २४ संख्यामें 'सिद्ध' शब्द नहीं दिया। उसमें वारोंका वर्णन मिल रहा है; तब कौन कह सकता है कि—भारतने यवनोंसे वार वा राशि सीखे ?

प्राचीन पुस्तक 'वैखानसगृह्यसूत्र'में सब ग्रहोंका नाम तथा तर्पण आया है। जैसेकि—'आदित्यं तर्पयामि सोमं...अङ्गारकं... बुधं..., बृहस्पतिं, शुक्रं, शनैश्चरं, राहुं, केतुं ग्रहान् तर्पयामि' (१।४) यह ग्रह-तर्पण आया है। अब उसी गृह्यसूत्रमें वारका नाम भी देखिये—'बुधवारे तिथिं गृह्णाति' (२।१२) यहाँ बुधवारका नाम लिया गया है। इस प्रकार स्मृतिचन्द्रिका, वीरमित्रोदय आदि बहुत निबन्ध-ग्रन्थोंमें वारोंका विचार प्राचीन-पुस्तकोंसे संगृहीत किया गया है।

जो लोग महाभारतमें राशि वा वारका वर्णन नहीं मानते, वे निम्न-प्रमाणोंको देखें। वहाँ—'यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती। एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम्' (वनपर्व १९०।९०,९१) यहाँ 'राशि' शब्द प्रत्यक्ष है। 'वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावक-प्रभः। ब्रह्मराशिं समाश्रित्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः' (भीष्मपर्व ३।३।१८) यहाँ तो भौमका और ब्रह्मकी राशिका वर्णन भी आया है। सूर्यसिद्धान्तमें तो राशियोंका वर्णन स्पष्ट है, ग्रहण सिद्ध करनेमें राहु, केतु, सूर्य और चन्द्रकी राशियोंकी आवश्यकता

पड़ा करती है यह हम पहले सूचित कर चुके हैं; जब तक राशियों-का ज्ञान न हो; तबतक ग्रहण कैसे निकले ? पर हमारे पूर्वज ग्रहणको जानते थे, जिसका वेदादि-शास्त्रोंमें निरूपण आया है; अतः स्पष्ट है कि—उन्हें राशि-ज्ञान तथा ग्रह-वार-ज्ञान भली-भांति था। बृहद्-विष्णु स्मृति, एक प्रसिद्ध धर्मशास्त्र-ग्रन्थ है; इसमें श्राद्ध-वर्णन ७८ अध्यायमें 'सततम् आदित्येऽन्हि श्राद्धं कुर्वन्नारोग्यमाप्नोति, सौभाग्यं चान्द्रे, समरविजयं कौजे (भौमे), सर्वान् कामान् बौधे विद्यामभीष्टां जैवे (गुरौ), धनं शौक्रे; जीवितं, शनैश्चरे, इसमें सातों वारोंका नाम स्पष्टतया उल्लिखित है। इस प्रकार प्राचीन गर्ग-संहितामें भी लिखा है 'नक्षत्रे चन्द्रवारे तु' (बृहत्संहिता पृष्ठ १२५४)।

आर्यसमाजके प्रसिद्ध अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजी बी. ए. ने अपने 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (प्रथम भाग पृ० १५०-१५१)में लिखा है—'जर्मनदेशोत्पन्न वैबर और उसके समकालिक अनेक पाश्चात्य संस्कृत-अध्यापकोंने इस बातका प्रचार किया कि—पुरातन आर्य सात वारोंको नहीं जानते थे। वारों आदिका व्यवहार कालडिया वालोंसे चला; और भारतीय आर्यों तक पहुँचा। यह जर्मन लेखकोंकी अविद्याका फल है। इतना ठीक है कि—भारतमें यज्ञ आदि कर्मोंमें तिथि-नक्षत्रका प्रयोग अधिक होता था; पर वार प्राचीन—भारतमें अज्ञात थे—यह असत्य है। कालडिया वालोंने प्राचीन आर्योंसे ये नाम सीखे थे। जब कालडिया वालोंमें वैदिक यज्ञोंका प्रचार लुप्त हुआ; तो उन्होंने तिथि-नक्षत्रका प्रयोग छोड़ दिया, और वार आदिका आश्रय लिया। आर्योंमें वार आदिका

प्रयोग 'विष्णुस्मृति' (२७०० विक्रमपूर्व)में तथा इसी कालकी ज्योतिषशास्त्र-विषयक गर्गसंहितामें स्पष्ट है।'

तिथ्यादिज्ञानके सम्बन्धमें भी उक्त अनुसन्धाताने लिखा है—'महाभारतमें तिथि और नक्षत्रोंका क्रमशः वर्णन अनेक घटनाओं के सम्बन्धमें किया गया है'। (भारत० इतिहास पृ० २५)। फिर वे ही उक्त इतिहासके १०८ पृष्ठमें लिखते हैं—"पाश्चात्य लेखकोंका कहना है कि विक्रमशती दूसरी-तीसरीसे पहले भारतमें चन्द्रवार आदि वारोंका प्रयोग नहीं होता था। गर्गसंहितामें वारोंका प्रयोग (बृहत्संहिताकी भट्टोत्पल टीका पृ० १२५४ 'नक्षत्रे चन्द्रवारे तु'। स्मरण रहे वृद्ध-गर्गका प्रधान शिष्य भागुरि भारत-युद्धकालका व्यक्ति था बृहत्संहिता पृ० ५८१) स्पष्ट रूपसे बताता है कि—विक्रमसे तीन सहस्र वर्ष पहले भी यहां वार प्रयोगमें आते थे, यद्यपि थोड़े"। इससे उक्त मत-प्रचारकोंका मत खण्डित होगया।

जब हमारा भारतवर्ष ग्रहोंको सृष्टिके आरम्भसे ही जानता तथा मानता था; तब वह इन ग्रह-वारोंको यूनानसे उधार ले—वह अश्रद्धेय बात है। वेदमें 'शं नः सूर्यः' (अ० १६।१०।८) 'शं नः सोमो भवति' (अथर्व० १६।१०।७) 'प्र चन्द्रमः! तिरसे दीर्घमायुः' (अ० ७।८६ (८१)।१) 'सोमस्य अंशो!' (अ० ७।८६ (८१)।३) इस मन्त्रका बुधग्रहकी पूजामें विनियोग है। 'शं बृहस्पतिः'। (अ० १६।६।११) इत्यादि मन्त्रोंमें ग्रहोंसे प्रार्थना की गई है; तो वही वेद उन ग्रहोंके वारोंसे अपरिचित हो—यह अश्रद्धेय बात है। 'शनि-राहु-केतूरगरक्षो-' (७।६) इस मैत्रायणीय आरण्यकके

वचनमें शनि-राहु-केतु-ग्रहोंका नाम भी स्पष्ट है। वाल्मीकि-रामायण-अयोध्याकाण्डमें—'शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा। पान्तु त्वामर्चिता राम!' (२५।२३) यहां शुक्रादिकी पूजा आई है। इससे जहां ग्रह-पूजा वेदकालिक सिद्ध होती है; वहां ग्रहवारादिकी अभिज्ञता भी भारतको सिद्ध होती है। 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (२।२०) इस मनुवचनसे सिद्ध है कि जगद्गुरु-भारतवर्षसे ही यूनान आदि देशोंने विविध विद्याएं सीखीं। काल-क्रमसे कई विद्याओंका भारतमें ह्रास हो गया हो; और यूनान-वालोंने उसमें उन्नति करली हो—फिर भारतवासी भी वहां उस विद्याको सीखने गये हों—यह तो सम्भव हो सकता है—पर एतदादिक-विद्याओंका आदिम-श्रेय यूनानादि-देशोंको नहीं दिया जा सकता। भारतमें प्राचीन कालमें विमान-विद्या कितनी थी—यह बात किसीसे छिपी नहीं है। पर कालक्रमसे वह विद्या लुप्त हो गई; और वहां वाले अब इङ्गलेण्डमें वह विद्या सीखने जाते हैं—पर इस व्यवहारसे इङ्गलेण्ड ही विमानविद्याका आदिम-प्रचारक है—भारत नहीं—यह कहना जैसे हास्यास्पद है; वैसे ही 'राशियों तथा वारोंका ज्ञान भारतने यूनानसे प्राप्त किया' यह कथनभी हास्यास्पद है। यह उनकी कल्पना है—जिन्होंने अपने मस्तिष्कको अंग्रेजी भाषासे प्रभावित होनेसे अंग्रेजोंके हाथ बेच दिया। अपनी निर्मूल-कल्पनाओंसे सूर्यसिद्धान्तके सूर्यांश (१।६) पुरुषको भी वे लोग 'यवनाचार्य' कहा करते हैं; उस सूर्यके अंश

पुरुषका देवयोनिके भेद मय-दैत्यको सौरविद्या बताकर 'प्रविवेश स्वमण्डलम्' (१४।२४) फिर अपने मण्डलमें प्रविष्ट हो जाना लिखा है; तो क्या यवनाचार्य ही सूर्यमंडल में घुसा बैठा था; जो वहां से निकला; और फिर उसीमें घुस गया ? वस्तुतः यह सब कथन अटकलपच्चू हैं; तभी तो 'मयोऽथ दिव्यं तज्ज्ञानं ज्ञात्वा साक्षाद् विवस्वतः, (१४।२५) इस सूर्यसिद्धान्तके पद्यमें सूर्यांश-पुरुषको साक्षात् विवस्वान् (सूर्य) ही माना है। तब उसी सूर्यसे बताया गया वारादि-क्रमज्ञान जिसे हम आरम्भमें सूर्यसिद्धान्तसे बता चुके हैं, यह भारतसे ही उपज्ञात सिद्ध हुआ; यूनानसे नहीं। आदि-काव्य वाल्मीकि-रामायणमें राशियोंका नाम तो रामादिके जन्मके समय प्रत्यक्ष है।

(३) श्रीरामनवमी।

परमात्माने वेद द्विजोंको दिया। द्विजोंमें ब्राह्मणोंने वेदप्रोक्त-धर्मका प्रचार सारे संसारके हृदयभूत-केन्द्र भारतवर्षमें कर दिया। वह श्रव्य-काव्य था; परन्तु श्रव्य-काव्यका प्रभाव जनतापर वैसा नहीं पड़ता जैसा कि दृश्य-काव्यका। 'सत्यं वद, धर्मं चर' (कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।१) यह वेदने आदेश दे दिया; परन्तु श्रव्यकाव्यकी इस आज्ञाका साधारण-जनतापर भला क्या प्रभाव पड़ सकता है ? परन्तु जब वही श्रव्यकाव्यका अर्थ दृश्यकाव्य (अभिनय) द्वारा 'सत्यहरिश्चन्द्र'-नाटकके रूपमें दिखलाया जाता है; तो उसका प्रभाव साधारण-जनतापर भी ठीक-ठीक पड़ता है, और जनता उसके अनुसरणार्थ उद्यत भी होजाती है। इसी सत्य-

हरिश्चन्द्रके नाटकसे श्रीमोहनदास-गान्धी, पहिले सत्यप्रिय एवं कर्मवीर बने, फिर महात्मा तथा विश्ववन्द्य कहलाये।

परमात्माने भी यही किया। केवल हमें अपना श्रव्यकाव्य वेद ही नहीं सौंपा, बल्कि उन वेदके सिद्धान्तोंका स्वयं अभिनय करके भी हमें सिखलाया कि—'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्' (अथर्वशौ० सं० ३।३०।२) अर्थात् पुत्र पिताके व्रतके अनुकूल चलने वाला बने, उसकी प्रत्येक आज्ञा, नियम तथा प्रतिज्ञाका पूर्ण करनेवाला बने, और माता चाहे वह विमाता ही क्यों न हो; उसकी मानसिक धर्म्य-आज्ञाओंका पूर्ण करनेवाला बने; उससे विमनस्क होकर न रहे। पत्नी पतिके आदरमें, और उसके एक-एक संकेत के अनुसार चलनेवाली, पतिके सुखमें सुखिनी, पतिके दुःखमें दुःखिनी, पतिसे मधुर बोलने वाली, अप्रिय व्यवहार करनेपर मनसे भी पतिका अनिष्ट न सोचने वाली, शान्तिप्रिय बने।

वेदने यह भी कहा है कि–'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा' (अथर्वसं० ३।३०।३) अर्थात भाई भाईसे द्वेष करनेवाला न बने, छोटा-भाई बड़े-भाईको पितृस्थानीय मानकर उसके संकेतानुसार चलनेवाला, और बड़ा भाई छोटेके दोषोंको न देखने वाला, उसके अप्रिय-कार्योंमेंभी उससे बुरे व्यवहार करनेवाला न बने। बहिन बहिनसे प्रेम करने वाली बने, अपनी बहिनकी सौभाग्यवृद्धि देखकर जलती न रहे, ईर्ष्यालु न बने। कृष्ण-यजुर्वेद में भी कहा है—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२) अर्थात् माता, पिता एवं आचार्यका, पुत्र एवं शिष्य, देवताकी भान्ति सत्कार-पूजा करनेवाला बने; उनकी आन्तरिक इहलोक एवं परलोकमें यश देनेवाली आज्ञाओं को पूर्ण करनेवाला बने। वेदके इसी श्रव्य निराकार-उपदेशको मूर्त-रूप देनेकेलिए निराकार-भगवान्ने स्वयं दृश्यरूप भी ग्रहण किया। भगवान्ने रामावतारका अभिनय दिखलाकर उसका यह सफल परिणाम दिखलाया कि—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य-देवो भव'।

वेद परमात्माकेलिए कहता है—'त्वं हि नः पिता वसो! त्वं माता' (ऋ० ८।९८।१२) इस मन्त्रमें उस देव-देवको परम-पिता और परम-माता माना गया है, पर उसी परमपिताने भी हमें शिक्षा देनेकेलिए ही अपने माता-पिता बनवाने भी स्वीकृत किये। परमात्मा देवोंका भी देव है, ऐसा सारे सम्प्रदाय कहते हैं, तथा मानते हैं; पर उसी देव-देवने ऋग्वेदसंहिताके आरम्भमें 'अग्नि-मीले पुरोहितम्' (१।१।१) यहां अग्निदेवताकी स्तुति वा उपासना की। क्या अपने लाभके लिए? नहीं-नहीं, हमें शिक्षा देनेके लिए। तभी तो उसीने राम बनकर दशरथको अपना पिता बनाया, उसकी प्रतिज्ञात-आज्ञा पूरी की। उसीने समुद्रके पार जानेकेलिए महादेवकी पूजा की। क्या अपने लाभकेलिए? नहीं-नहीं। हमारे लाभ, कल्याण तथा हमें सिखलानेकेलिए। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनि, सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य'

(५।१६।५)। अर्थात् परमात्माका मनुष्यावतार मनुष्यकी शिक्षार्थ होता है, केवल राक्षसोंके मारनेकेलिए नहीं। अन्यथा अपने आपमें रमण करने वाले भगवान्‌को सीताके वियोगमें भला दुःख क्यों हो ? यह सब मनुष्योंके शिक्षार्थ होता है कि—अपनी स्त्रीके दुःखमें दुःखी बनो—उसका प्रतीकार करो—यह शिक्षा मिलती है।

श्रीरामके अवतारका दिन 'चैत्रशुक्ला नवमी' है। वह दिन उक्त शिक्षाओंके स्मरण करानेकेलिए प्रतिवर्ष आता है। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (४।६) भगवद्गीताके इस प्रमाणके अनुसार भगवान्‌का जन्म, जीवकी तरह अदिव्य (बन्धन-परतन्त्र) नहीं होता; किन्तु दिव्य (स्वतन्त्र) होता है। इसलिए उसका 'जन्म' न कहकर उसका प्रादुर्भाव, प्राकट्य, अवतरण, अवतार कहा जाता है। 'जन्म' शब्द भी जो उसके लिए प्रयुक्त किया जाता है, वहां भी प्रयोजकोंके 'जनी प्रादुर्भावे' का वही आशय अन्तर्गर्भित होता है।

यद्यपि परमात्मा निराकाररूपमें सर्वव्यापक है; अतः उसका एकदेशमें अवतरण, तथा कूटस्थ होनेसे अयोध्या-लङ्का आदिमें गमनागमन साधारणजनोंमें संशय उत्पन्न कर देता है, पर विद्वान् लोगोंको यहां कोई भी भ्रम नहीं होता। वे जानते हैं कि—अग्नि भी निराकार-रूपमें सर्वव्यापक होता है; परन्तु संघर्षादि-कारणवश वह एकदेशमें भी प्रकट होजाता है। एकदेशमें प्रकट होनेपर भी उसकी सर्व-व्यापकतामें कोई बाधा नहीं पड़ती है, न ही उसके स्वरूपमें कोई न्यूनता आ पड़ती है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते (बृहदारण्यक ५।१।१) पूर्णके पूर्ण-अंश निकलनेपर भी वह पूर्ण ही रह जाता है।

कहीं यदि अग्नि प्रज्वलित हो उठती है; तब उसका अन्य स्थलोंमें अभाव नहीं हो जाता; उसकी सर्वव्यापकतामें कोई न्यूनता नहीं पड़ती। और वह प्रज्वलित अग्नि उस मूल निराकार-अग्निसे कोई भिन्न भी नहीं हो जाता, वा नहीं रहता। आकाश सर्व-व्यापक वा कूटस्थ होता है, वह घड़ेमें भी घटाकाश-रूपसे रहता है, कोई पुरुष घड़ेको लेकर भाग रहा होता है, तो घट वा घटाकाश भी भाग रहा हुआ मालूम होता है; उसका परिमाण भी उस समय हो जाता है; पर यह सब स्थूल-दृष्टियाँ हैं, सूक्ष्म-दृष्टि-वाले जानते हैं कि—आकाशमें घड़ा जा रहा है; वह आकाश भाग नहीं रहा। सिनेमामें लोग भागते हुए मालूम होते हैं; वस्तुतः भाग नहीं रहे होते; किन्तु चित्रपर चित्र प्रकट होते जाते हैं, वहां भागना मालूम होता है। इस प्रकार विचार-दृष्टि रखने पर कोई भ्रमका अवकाश नहीं रहता। लोगोंकी शंकाएं वा भ्रम कुछ स्थूल-दृष्टिवश, और कुछ अवहुश्रुतता वा अज्ञान, तथा कुछ अपने एकदेशी-पक्षके आग्रह-वश हुआ करते हैं। सनातनधर्मकी सूक्ष्मतम दृष्टि रखनेपर वे सब शंकाएं वा कुतर्क हट जाते हैं। अस्तु।

निराकाररूपमें यद्यपि वह अग्निदेव सर्वव्यापक रहता है; तथापि वह सर्व-साधारणके उपयोगमें नहीं आ सकता। प्रज्वलित-अप्रज्वलित अग्नियोंका वास्तवमें तो भेद नहीं होता, परन्तु वह प्रज्वलित होकर ही सर्वसाधारणके उपयोगमें आता है, और सेवनीय होता है। यह ठीक है कि सूक्ष्ममें स्थूलकी अपेक्षा अधिक शक्ति होती है, पर

संसारी प्राणियोंके स्थूल होनेसे वे सूक्ष्मसे वह काम नहीं ले सकते। उन्होंने रोटी पकानी है; वे सूक्ष्म अग्निसे नहीं पका सकते; वहां उन्हें स्थूल-अग्नि अपेक्षित होती है।

यही बात भगवान्‌केलिए भी जाननी चाहिये। तब वह अग्निरूप-देव यद्यपि यहां प्रज्वलित होकर फिर पृथ्वीसे तिरोभूत हो जाता है; तथापि दिव्यतावश उसकी वह प्रकट हुई-हुई शक्ति भी इस पृथिवीमें अक्षुण्ण रहा करती है; और वह शक्ति वेदमन्त्र-प्रतिष्ठित पार्थिव-मूर्तिद्वारा विशेष-आयतनमें दुही जा सकती है। वही दुही हुई प्रज्वलित-शक्ति भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करती है; और अधिकारियों द्वारा उसकी उपासना की जा सकती है। मूर्तिपूजा करनेका रहस्य भी यही है।

परमात्माके निराकार होनेका भी यह भाव नहीं है कि—उसका कुछ भी आकार नहीं; वैसा इष्ट होनेपर तो परमात्मामें शून्यतापत्ति हो जावेगी। वस्तुतः उसका अर्थ है कि—अनिर्वचनीय आकार वाला। अत्यन्त-सूक्ष्मतावश हम उसे न देख सकते हैं; न उसका किसी भी भांति वर्णन कर सकते हैं; न जान पाते हैं; अतः वह निर्विकल्पकज्ञान-ग्राह्य हो जाता है। इसी अनिर्वचनीय-आकारवश ही उसे निराकार कहा जाता है, किसी भी प्रकारके आकारके अभावके कारण नहीं। इसी कारण सनातनधर्मी परमात्माको साकार भी कहते हैं। परमात्माकी केवल निराकारता आर्यसमाजके स्वा० दयानन्दजीने चलाई है; पर उन्हें भी परमात्मा सूक्ष्मतम-आकारवाला मानना ही पड़ा है।

'सत्यार्थप्रकाश'के प्रथम संस्करण (१७-१८ पृष्ठ)में 'निराकार' का 'निर्गत आकारो यस्मात्' यह विग्रह किया था; परन्तु जनताने स्वामीजीको लज्जित किया कि इस विग्रहसे परमात्मा पहले साकार सिद्ध हो जाता है; क्योंकि उसमें पहले आकार था, तभी तो निकल गया। यदि उसमें कोई आकार नहीं था, तो निकल क्या गया ?। तब स्वामीने अपने सिद्धान्तके भङ्गके डरसे स० प्र० के द्वितीय संस्करण (पृ० १०)में पूर्वके बहुव्रीहि-विग्रहको बदलकर तत्पुरुष समासका विग्रह किया—'निर्गत आकारात् स निराकारः'। पर 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (निषिद्ध लहसुन खाया भी सही कि—यह व्याधि दूर हो जावे; पर व्याधि गई भी नहीं) इस न्यायसे इस विग्रहमें भी परमात्माकी साकारता सिद्ध रही। 'आकारसे निकला हुआ'—इससे भी उसका आकार सिद्ध ही रहा। बल्कि इस विग्रहमें त्रुटि भी हो जाती है। वह यह कि—द्रव्यसे तो गुण होता है; पर गुणसे द्रव्य नहीं होता। परमात्मा द्रव्य है, और आकार गुण; तब परमात्मासे तो आकार निकल सकता है; पर गुण-आकारसे द्रव्यरूप परमात्मा कैसे निकले ?। यह स्वामीने स० प्र० में स्वयं भी स्वीकृत किया है—'गुणसे द्रव्य कभी नहीं बन सकता' (१३ समु० ३०० पृष्ठ)। तब 'निराकार' शब्दसे भी उस परमात्मा का आकार सिद्ध हो रहा है।

स्वा० दयानन्दजीने परमात्माकेलिए लिखा है—'जब वह (परमात्मा) प्रकृतिसे भी सूक्ष्म और उसमें व्यापक है', (स० प्र० ८ समु० १३३ पृष्ठ) यहां परमात्माको प्रकृतिकी अपेक्षा भी सूक्ष्म

बतानेसे उसका सूक्ष्मतम-आकार सिद्ध कर दिया गया। केवल निराकार इष्ट होनेपर अपेक्षाकृत-सूक्ष्मत्व भी परमात्मामें नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वामीने अन्यत्र भी कहा है—'जो स्थूल होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत्का उपादान-कारण है, और वे (प्रकृति, परमाणु) सर्वथा निराकार नहीं; किन्तु परमेश्वरसे स्थूल और अन्य कार्यसे सूक्ष्म आकार रखते हैं; (पृ० १२३) यहां स्वामीने कार्यको प्रकृतिकी अपेक्षा स्थूल माना है, और प्रकृतिको परमात्माके आकारकी अपेक्षा स्थूल कहा है। इस प्रकार परमात्माके प्रकृतिकी अपेक्षा भी सूक्ष्म कहनेसे वह सूक्ष्मतम आकारवाला, अतः साकार तो सिद्ध हो ही गया। इसलिए स्पष्ट है कि—'निराकार' शब्दमें 'निर्' 'अनुदरा कन्या'के नञ्की तरह अल्पार्थक, अस्फुटार्थक ही सिद्ध है, निषेधार्थक नहीं, नहीं तो परमात्मामें शून्यतापत्ति हो जावेगी।

इस प्रकार 'जीवका स्वरूप...अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर...स्वरूप है' (स० प्र० ७ पृ० ११६) यहां भी स्वामीजीने परमात्माका स्वरूप आत्माके आकारकी अपेक्षा भी सूक्ष्मतर माना है; तब परमात्मा साकार भी सिद्ध हो ही गया। इस प्रकार अन्यत्र भी स्वामी ने कहा है—'परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उस [परमात्मा] से कुछ स्थूल होनेसे इनका स्वरूप भी भिन्न है' (स० प्र० ७ पृ० १२३) यहां भी परमात्माका आकार आत्माकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कहनेसे उसका आकार सिद्ध हो ही गया। इसलिए स्पष्ट है कि—'निराकार' शब्दमें 'निर्'का 'अनुदरा कन्या, अनमित्रो राजा, अजातशत्रुर्युधिष्ठिरः, निर्मक्षिकम् आदिकी

भांति 'अल्प' अर्थ ही है। आकाश और जीवको निराकार कहा जाता है; पर स्वामी आकाश तथा जीवको परमात्मासे कुछ स्थूल मानते हैं; तब जैसे वे सूक्ष्म आकारवाले होनेसे 'निराकार' कहे जाते हैं; वैसे परमात्मा भी सूक्ष्मतम आकार वाले होनेसे 'निराकार' कहा जाता है, *आकारके अभाव होनेसे नहीं'। अस्तु।

जो कि यह आशय कहा जाता है कि—'परमेश्वर सबसे बड़ा एवं निराकार है, वह मनुष्य आदियोंके लघु-शरीरमें और अत्यन्त-लघु-गर्भाशयोंमें कैसे प्रवेश कर सकता है; अतः परमात्माका अवतार नहीं हो सकता' इसपर जानना चाहिये कि आकाश भी सब संसारी वस्तुओंसे महान् है, और निराकार है, ईश्वरकी अपेक्षा महास्थूल है; क्योंकि परमात्माके लिए 'सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति' कहा गया है। इस प्रकार उसकी अपेक्षा स्थूल भी आकाश घट आदि छोटे-छोटे पदार्थोंमें पूर्णतया प्रविष्ट होकर घटमें घटाकाश नामसे, तथा मठ-आदिमें मठाकाश आदि नामोंसे प्रसिद्ध होता है। घट आदि उपाधिके हटनेसे उस आकाशका नाश नहीं होता, तब आकाशसे भी महासूक्ष्म परमेश्वर भी यदि माताके गर्भाशयमें प्रविष्ट हो जाता है और दिव्य-रूपसे अवतीर्ण हो जाता है; तो इसमें आश्चर्य क्या ?

तब धर्मको क्षीयमाण देखकर जिस प्रकारसे उसकी रक्षा

---

* इस विषयमें विशेष-स्पष्टता श्रीसनातनधर्मालोक-चतुर्थ पुष्पमें 'अवतारवाद-रहस्य'में देखें। इस पुष्पका मूल्य ४।) है। पाठक हमसे मंगा सकते हैं। डाकव्यय पृथक्।

देखता है; उसी ही प्रकारसे देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीरोंमें प्रकट होकर धर्मकी रक्षा करता है, और अपने स्वरूपमें भी तथाभूत ही स्थित रहता है। जैसे आकाश घटके भीतर विद्यमान होकर घटाकार दीखता है, घटाकृतिके दूर होनेपर वही घटाकाश अपने स्वरूपमें आ जाता है, घटरूप उपाधिके योगमें भी आकाशमें कोई विकार नहीं रहता; वैसे परमात्माके अवतारके विषयमें जान लेना चाहिये।

उसी भगवान्के अवतार श्रीरामका चरित्र जाननेकी यदि इच्छा हो तो वाल्मीकि-रामायण देखना चाहिये। वहां पता लगेगा कि—आदि-कविने किस मधुरिमासे और किस मार्दवसे रामचरित्र अङ्कित किया है। परन्तु आजका समय विचित्र है। वह कहता है कि—'तुलसी-रामायण (मानस)में तो श्रीरामको भगवान् वा उसका अवतार स्पष्टरूपसे कहा है; पर वाल्मीकि-रामायणमें ऐसा नहीं है। वहां तो श्रीरामको पूर्ण-मानव ही प्रसिद्ध किया गया है, ईश्वर नहीं। तब वाल्मीकि-रामायणके आधारसे बनाये हुए 'मानस'में गोस्वामी-तुलसीदासने अपनी ही निर्मूल कल्पनाएँ डाल दी हैं; जिनका वाल्मीकि-रामायणसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। वाल्मीकि०में श्रीरामके मुखसे स्पष्ट कहलवाया गया है—'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' (६।११९।६)।

इस प्रकारके वक्ता सचमुच दयनीय हैं। राम परमात्माके अवतार सिद्ध न हो जाएँ; इस कारण उसकी अवतारताकी स्पष्टता बतानेवाले उत्तरकांडको वे रामायणसे काटते हैं कि—वह

वाल्मीकि-प्रणीत नहीं; वा उसका अङ्ग नहीं। परन्तु इस प्रकारके वक्ता वस्तुतः परप्रत्ययनेय-बुद्धि हैं। वाल्मीकि-रामायणमें तो स्थल-स्थलमें श्रीरामको परमात्माका अवतार कहा और माना गया है। हां, यह अवश्य है कि जैसे श्रीकृष्ण गीताके श्लोक-श्लोकमें अपनेको स्पष्टतया परमात्मा घोषित करते हैं; वैसे श्रीराम नहीं। उसका कारण यह है कि—श्रीकृष्णमें दिव्यांश अधिक है, जिसके कारण उन्हें षोडश-कलासम्पूर्ण माना जाता है—उनमें लोकोत्तरता भी कुछ आगई है। इसलिए उनके कई चरित्र भी लोकोत्तर होनेसे सर्वसाधारणके अनुकरण-योग्य नहीं ठहरते। परन्तु श्रीरामके सम्बन्धमें ऐसा नहीं। उनमें श्रीकृष्णकी अपेक्षा कुछ न्यून (बारह) कला होनेसे वे लोकानुकरणीय-चरित्र हो गये हैं। इसलिए उन्हें संसारमें 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' माना जाता है। इसलिए उन्होंने अपने श्रीमुखसे अपनी 'भगवत्ता' सुस्पष्ट नहीं बताई। परन्तु रामायणमें उन स्थलोंकी न्यूनता नहीं है—जहां उन्हें भगवान्का अवतार संकेतित किया गया है। बल्कि रामायणके आरम्भसे अन्ततक यह बात भरी हुई है। इस विषयमें विस्तारसे हम अन्य पुष्पमें लिखेंगे। अब यहां कुछ उद्धरण दिये जाते हैं।

जब महाराज दशरथ पुत्रेष्टि-यज्ञ कर रहे थे; तभी दूसरी ओर देवतागण भगवान्को दाशरथिरूपमें अवतार लेकर रावण-वधार्थ प्रार्थना कर रहे थे कि—'राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो!' (१।१५।१६) अस्य पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्। तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्' (२१) अवध्यं दैवतैर्विष्णो!

समरे जहि रावणम्' (२२) यहां श्रीरामकी भगवदवतारता स्पष्ट है। 'त्वं ब्रह्मा, त्वं च वै विष्णुः, त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः' (७।७) मैत्र्युपनिषत् के इस प्रमाणमें परमात्माको 'विष्णु' कहा है। महाभारतमें विश्व-रूपधारी हरिने 'सन्ध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च। अहं दाशरथी रामो भविष्यासि जगत्पतिः (शान्तिपर्व ३३६।८५) रामको अपना अवतार कहा है।

विश्वामित्रने भी दशरथको यह संकेत किया था—'शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा।' (१।१६।६) राक्षसा ये विकर्तारः तेषामिह विनाशने' (१०) यहां सोलहवर्षसे छोटी आयुवाले श्रीराम का दिव्य तेज बताकर उसे विष्णुका अवतार सूचित कर दिया है। नहीं तो दुर्दान्त-राक्षसोंके मारनेकेलिए महारथी दशरथको न ले जाकर एक-बालक रामका अपने साथ लेजाना विश्वामित्रका और क्या अर्थ रखता है?

परशुरामने पराजित होकर रामको स्पष्ट कहा था—'अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्' (१।७६।१७) इससे अधिक अवतारताकी स्पष्टता कैसी हो? अयोध्याकाण्डके प्रथम-सर्गमें भी इसकी चर्चा है—'स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः' (२।१।७) यहां श्रीरामको स्पष्ट सनातन-विष्णु कहा है। 'सूर्यस्यापि भवेत सूर्यो' (२।४४।१५) दैवतं देवतानां च' (२।४४।१६) इस सुमित्राके वाक्यमें भी श्रीराम की अवतारता स्पष्ट है।

अरण्यकाण्डमें भी जब शरभङ्गमुनि अपनी तपस्यासे अर्जित

लोक श्रीरामको अर्पण करते हैं, तब श्रीरामने कहा था—'अहमेवा-हरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने !' (३।५।३३) यहां श्रीरामने मुनिको स्वर्गादिलोक-प्रदान कहकर अपनेको अवतार सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार सुतीक्ष्णमुनिके प्रकरणमें भी। इस प्रकार 'त्वयि देववरे राम !' (३।७४।१२-१३) इस शवरीके वाक्यमें भी श्रीरामको 'देव-वर' कहकर और उनकी पूजासे शवरीकी स्वर्गप्राप्ति कहकर श्री-वाल्मीकिने श्रीरामको अवतार सिद्ध कर दिया है।

इस प्रकार सुन्दरकाण्डमें भी 'ब्रह्मा स्वयम्भूः चतुराननो वा, रुद्रस्त्रिनेत्रः त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य' (५१।४४) इस हनुमान्के वचनमें भी अवतारता स्पष्ट है। युद्धकाण्डमें तो श्रीरामका अलौकिक-प्रभाव बहुत स्थलों में स्पष्ट है। रावणवधके बाद मन्दोदरीने भी रावणको लक्ष्य करके कहा था कि—तुम्हारे सामने आया हुआ देवराज इन्द्र भी डरता था; तब मनुष्यने तुम्हें कैसे मार डाला, यह मुझे बड़ा आश्चर्य है! अन्तमें उसने कहा था—'व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः। अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्। तमसः परमो, धाता शङ्ख-चक्रगदाधरः' (६।११३।११-१२) मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्य-पराक्रमः' (१३) यहां श्रीरामको भगवान्का अवतार कहा है। इस प्रकार युद्धकाण्डके अन्तिम (११७ (११६) सर्गमें भी श्रीरामकी अवतारता स्पष्ट है।

इस प्रकार ३।१।१८ आदि पद्योंमें ऋषियोंका रामके प्रति अञ्जलि करना भी श्रीरामकी भगवदवतारता बता रहा है; नहीं तो

वे क्षत्रियको नमस्कार क्यों करते ? अन्यान्य भी इस विषयमें बहुत प्रमाण हैं। 'आत्मानं मानुषं मन्ये' (६।११६।६) यह श्रीरामका कथन तो अपनी मर्यादा-पुरुषोत्तमता-प्रदर्शनार्थ है, अवतारत्वके हटानेके लिए नहीं। नहीं तो मनुष्यका अपने आपको मनुष्य कहना क्या अर्थ रखता है ? फलतः श्रीवाल्मीकिरामायणके अनुसार श्रीराम परमात्मा के ही अवतार हैं।

वेदमें अवतारवाद।

वेदमें भी बीजरूपसे अवतारवाद तथा रामावतारका वर्णन मिलता है। 'प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (यजुः ५।२०) इस मन्त्रमें विष्णु-भगवान्को 'कुचर' (कौ पृथिव्यां चरति) कहा है। उस सर्वव्यापकका भी कुचर—पृथिवीपर संचरण कहना उसकी अवतारता सिद्ध करता है। इसी को इन्द्रके लिए मानकर श्रीउव्वटने 'सर्वैरेतैर्मृगादिभिः पदैः इन्द्रो विशिष्यते। स हि विष्णोरुपमानं भवितुमर्हति। मृगो न—मृजूष् शुद्धौ। शुद्धोऽपहत-पाप्मा इन्द्रः...कुचरः—कौ पृथिव्यां चरतीति कुचरः, मत्स्यकूर्मादिरूपेण' तथा श्रीमहीधरने—'कुचरः—मत्स्यकूर्मादि-रूपेण इन्द्रः पृथिव्यां चरति' यह लिखकर वेदमें अवतारवादकी स्थिति बता दी है। 'मत्स्यकूर्म-आदि' यहांपर आदि शब्दसे रामावतार भी स्वयं गृहीत हो जाता है—क्योंकि—उनमें उसकी गणना भी है।

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः वा० सं० ३१।१६) इस मन्त्रमें प्रजापति—परमात्माका गर्भमें

सञ्चरण करते हुए भीतरसे साधारण-पुरुषकी भांति उत्पत्ति न कहकर कई ढंगसे विशेष-प्राकट्य कहा है। 'विजायते' का अर्थ स्वा० दयानन्दजीने भी 'विशेषकर प्रकट होना' कहा है। सो 'विशेषकर प्रकट होना' ही तो 'अवतार' होता है, वैसे वह अप्रकट-रूपमें तो सर्वत्र व्यापक रहता ही है। 'स एव पुरुषः प्रजापतिः अस्य गर्भस्य अन्तः अजायमानः चरति, स एव बहुधाऽनेकप्रकारं विजायते' यहां श्रीउवटने 'स सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भमध्ये प्रविशति, यश्च अनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते-मायया प्रपञ्चरूपेण उत्पद्यते' यहां श्री-महीधरने भी वही अवतारका अर्थ किया है। सर्वात्माका कार्य-कारणरूपसे अपनी मायासे उत्पन्न होना ही तो अवतार होता है।

इसी वेदमन्त्रकी स्पष्टता करनेवाले अन्य भी वेदमन्त्र देखिये— 'एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः' (वा० यजु० ३२।४) 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६।४७।१८) इन मन्त्रोंमें उसी परमात्माको गर्भके भीतर जाने वाला, और उसको प्रकट होनेवाला एवं पुरुरूप—बहुरूप कहा है। यही तो अवतारवाद है।

इन्हीं वेदमन्त्रोंका भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अपने श्री-मुखसे यह अनुवाद किया है—'अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' (४।६)। 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि (४।५) 'जन्मकर्म च मे दिव्यं' (४।९) अब उक्त

वेदमन्त्र तथा इन गीता-पद्योंकी 'आलोक' के पाठकगण तुलना देखें—

वेदमन्त्र	गीता-श्लोक
अजायमानः	अजोपि सन्
प्रजापतिः, देवः, इन्द्रः	भूतानामीश्वरोपि सन्
बहुधा विजायते, चरति गर्भे अन्तः	सम्भवामि (संभवति)
जातः जनिष्यमाणः, गर्भे अन्तः	बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि, जन्म कर्म च मे दिव्यम्
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	सम्भवाम्यात्ममायया

वेद अपौरुषेय भगवद्-वाणी है, और भगवद्गीता पौरुषेय-भगवद्-वाणी; तब दोनों स्थलोंमें पूर्ण-तुलना हो जानेसे अवतार-वाद वैदिक सिद्ध होगया। जब ऐसा है; तो वेदमें अवतार-विशेषके बीज भी मिल सकते हैं।—

'भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् उशद्भिर्वर्णैः अभि राममस्थात्' (ऋ० १०।३।३)। रामभद्र श्रीरामका नाम 'उत्तररामचरित' आदिमें बहुत प्रसिद्ध है। 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपद-लोपः' ('अप्रत्यये तथैवेष्टः' वा० ५।३।८३) इस वार्तिकसे 'सत्यभामा, भामा, सत्या' की तरह 'रामभद्रः, भद्रः, रामः' यह प्रयोग बन सकते हैं। सो उक्त मन्त्रमें 'भद्रः' राम-शब्दके लोप होनेसे 'रामभद्र'का वाचक है, और उक्त मन्त्रके अन्तमें 'राम'में 'भद्र'का उक्त वार्तिकसे लोप हो गया है।

अब उक्त-मन्त्रका अर्थ यह हुआ, 'भद्रः—रामचन्द्रः, भद्रया—

सीतया सह आगात्-वनं प्राप्तः। स्वसारं—सीतां ग्रहीतुं जारः—रावणः, पश्चात्—रामपरोक्षे अभ्येति-आगतः। ततो रावणे हते, अग्निः—अग्निदेवता, द्युभिः-रामदारैः, सीतया सह-इत्यर्थः, राममभि—श्यामवर्णस्य श्रीरामभद्रस्य अभिमुखम् अस्थात्-स्थितः'। यह अर्थ कैसा अन्वित हो रहा है कि—श्रीराम सीताके साथ वनमें पहुँचे, श्रीरामके पीछे रावण आया (सीता को ले गया, रावणके मरनेपर) अग्नि-देवता रामकी स्त्रीके साथ श्रीरामके सामने उपस्थित हुआ।

इस अर्थमें मन्त्र-रामायण तथा श्रीनीलकण्ठका भाष्य भी साक्षी है। यदि अर्वाचीन होनेसे उस भाष्यकी अमान्यता मानी जावे; तो स्वामी दयानन्द आदिका भाष्य तो उससे भी अर्वाचीनतर, कलका बना होनेसे आक्षेप्ताओंको भी अमान्य मानना पड़ जायगा।

वेदमें किसी सिद्धान्तके बीज ही तो देखने पड़ते हैं; नहीं तो वेदमें वादियोंसे मान्य १६ संस्कारोंका तथा गुरुकुल आदिका भी क्रमिक एवं स्पष्ट वर्णन न होनेसे अमान्यता हो जावेगी। केवल बीज देखकर शेष बातोंका अनुमान करना पड़ता है।

एक प्रश्न होता है कि—'उक्त मन्त्रमें सायण आदि भाष्यकारोंने 'राम'का अर्थ 'श्यामवर्ण' किया है; उवट-महीधरने 'कृष्ण'का अर्थ 'कृष्णवर्ण' किया है, अवतारवादका अर्थ नहीं किया; आप यह अर्थ कैसे करते हैं'? इसपर निवेदन यह है वेदका मुख्य विषय यज्ञ होनेसे (जैसे कि—न्यायदर्शन ४।१।६२ आदि बहुत प्रामाणिक-पुस्तकोंमें कहा गया है) सायण आदि भाष्य-

कारोंने भाष्यमें भी मुख्यतया याज्ञिक-दृष्टि रखी है। पर श्रीसायणने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१६-१७) मन्त्रके भाष्यमें 'विष्णोस्त्रिविक्रमावतारे पादत्रयक्रमणस्य पृथिव्यपादानम्' इत्यादिमें वामनावतारका निरूपण करके अवतारवादको वैदिक सिद्ध कर दिया है। श्रीउवट-महीधरकी साक्षी तो हम पूर्व बता ही चुके हैं। जब उन प्राचीन-भाष्यकारोंके अनुसार वेदमें अवतारवादकी स्थिति सिद्ध हो गई; तब उसमें विशेष-अवतारका बीज भी मिल सकता है। सो 'भद्रो भद्रया' मन्त्रमें वह बात बीजरूपसे मिल रही है। यदि यहां श्रीसायणने 'राम' का श्याम रंग, वा अन्धकार अर्थ कर दिया है; तो श्यामवर्णवाले श्रीरामका वर्णन इसमें सिद्ध हो गया। 'यथा नाम तथा गुणः' पूर्वके नाम गुणानुसार रखे जाते थे।

अब फिर प्रश्न हो सकता है कि उक्त मन्त्रमें 'राम' का नाम तो आगया है, पर सीता तथा रावणका नाम इसमें स्पष्ट नहीं। केवल बीजरूपसे बताया गया; तो जबतक वेदमें कहीं राजा रामका, वा उनके पिता दशरथका, उनकी नगरी अयोध्याका तथा सीता एवं रावणादिका, अन्य किसी मन्त्रमें बीज न मिले; तबतक 'भद्रो भद्रया'में उनका अर्थ कैसे संकेतित हो सकता है?' इस पर हम उन प्रश्नकर्ताओंके सन्तोषार्थ इनके बीज भी दिखलाते हैं—

'प्र तद् दुःशीमे, पृथवाने, वेने, प्र रामे वोचमसुरे' (ऋ०सं० १०।६३।१४) यहां राजाओंका वर्णन है; उन राजाओंमें रामका नाम भी आगया है; तब इसमें वही तो 'रघुपति, राघव, राजा-राम,' सिद्ध हुए। यहां 'काला-रंग' अर्थ भी किसी भाष्यकारने नहीं

किया। यदि कहा जावे कि—यहां 'रामे असुरे' कहा गया है; तो किसी 'दैत्य-राम'का वर्णन हो सकता है; वे दाशरथि राजा-राम कैसे हो सकते हैं ?' इसपर जानना चाहिये कि—'असुर' शब्द यहां 'राम'का विशेषण है; और विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है। सो 'असुरः'का अर्थ है बलवान्। वेदमें वरुण-देवता (यजुः वा० सं० १४।२०) के लिए भी 'असुर' विशेषण एतदादि-अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि—'वरुण !...असुर' (ऋ० १।२४।१४) इत्यादि। सो बलवान् राजा-राम दाशरथि ही यहां सिद्ध हुए। अर्वाचीन-विचारोंके रखनेवाले श्रीविनायक चिन्तामणि वैद्य-राव-बहादुरने भी उक्त मन्त्रमें श्रीरामावतारका बीज माना है। जैकोबी आदि पाश्चात्य-विद्वान् भी रामायणी-कथाके बीज वेदमें मानते हैं।

वादी भी मानते हैं कि—वेदमें आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीन प्रकारके अर्थ होते हैं; तो यदि 'राम'का एक अर्थ अन्धकार वा श्यामवर्ण है; तो अन्य अर्थ श्यामवर्णके ईश्वरावतार 'राम'का भी स्वतः सिद्ध है। महाभाष्यकारने 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः' (ऋ० ४।५८।३) इस अग्निदेवता वाले याज्ञिक-मन्त्रको भी शब्द-शास्त्र-व्याकरणकी ओर लगाया है। 'सुदेवो असि वरुण' (ऋ० ८।६९।१२) इस मन्त्रमें सात नदियों-का वर्णन होनेपर भी भाष्यकारने इसका 'शब्दकी सात विभक्तियों'का अर्थ लगाया है। आर्यसमाजियोंके मान्य स्वामी दयानन्दजीने 'द्वादश प्रधयः चक्रमेकं...त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिः' (ऋ० १।१६४।४८) इस मन्त्रका देवता अपने वेदभाष्यमें

'संवत्सरात्मा कालः' यही माना है, है भी यही। श्रीयास्कने भी निरुक्त (४।२७।१)में यही अर्थ बताया है; पर स्वामी दयानन्दजीने इन सबसे विरुद्ध इसका हवाई-जहाज अर्थ कर डाला, तब आक्षेप्ता लोग अपने स्वामीको आक्षिप्त न करके हम पर इस अर्थ करनेमें आक्षेपके अधिकारी कैसे हो सकते हैं? सो सायणादिने वेदका भाष्य याज्ञिक-दृष्टिको मुख्य रखकर किया है। पर यह कोई इयत्ता नहीं कि—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थ रखनेवाले वेदका केवल इतना (याज्ञिक) ही अर्थ हो।

अब उक्त मन्त्रमें सीता तथा रावण आदिके अर्थ करने पर जो हमपर प्रश्न होता है कि—राम, सीता, रावण आदिका अन्य मन्त्रोंमें भी बीज दिखलाया जावे; तदनुसार हम वे मन्त्र भी प्रकरण होनेसे बताते हैं—

हम आरम्भमें 'अनुव्रतः पितुः पुत्रो' आदि वेदमन्त्रोंमें रामावतारका सामान्यरूपसे वर्णन दिखला चुके हैं। अब विशेष-बीज भी वेदमें देखिये—। अथर्ववेदसंहितामें 'अयोध्या' नगरीका भी वर्णन आया है। जैसा कि -'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूः (नगरी) अयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः' (अथर्व० १०।२।३१) यहां अयोध्यामें 'ज्योति'से आवृत, विष्णुके अवतार श्रीराम 'हिरण्यमय-कोश' शब्दसे इष्ट हैं। 'स्वर्गः' यह उनका विशेषण है—'स्वः—स्वर्गं गच्छतीति स्वर्गः'। स्वर्गमें जानेकी यह उनकी कथा उत्तरकाण्डके अन्तमें स्पष्ट है।

'सरयूः सिन्धुरूर्मिभिः' (ऋ० १०।६४।६) यहां वेदमें 'सरयू'

नदीका वर्णन है। सरयू-नदीका अयोध्याके साथ विशेष-सम्बन्ध है। तब अयोध्यानगरी भी सत्ययुगसे सिद्ध है, उसे मनुने बनाया था (वाल्मीकिरा० १।५।५-६) मनुका नाम भी वेदमें (ऋ० ४।२६।१) स्पष्ट है। जब वेदमें सरयू-नदीका वर्णन है; तब वेदकी अयोध्या-नगरी भी वही सरयू-नदीके तट वाली सिद्ध होगी। इससे वेद पीछेके सिद्ध नहीं हो जाते। उत्तररामचरितमें कहा है—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (१।१०) आद्य ऋषियों (वेदों)की वाणी पहले चलती है कि—'अयोध्या'; और वह 'अयोध्या'-पदार्थ पीछे अपने समयपर होता है। जैसे कि—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (ऋ० १।१९१।३) यहाँ वेदमें सूर्य-चन्द्रमाका नाम पहले आया है; पर वे वेदसे पीछे अपने समयपर बने।

'चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः' (ऋ०सं० १।१२६।४) यहाँ पर राजा दशरथका संकेत है। जो वेद भाविनी सरयू, तथा अयोध्या को जानता है, वैसे ही राजा दशरथको तथा श्रीरामको भी जान सकता है। 'अर्वाची सुभगे! भव सीते! वन्दामहे त्वा' (ऋसं० ४।५७।६) यहाँ सीताकी वन्दना आई है। यदि प्रतिपक्षी लोग 'सीता'का अर्थ 'लाङ्गलपद्धति (हल की रेखा)' मानें; तो वह जड़ है। यदि वादी उसे नमस्कार मानेंगे, तो उनके मतमें 'वेदमें मूर्तिपूजा' सिद्ध हो जायगी। हमारे अनुसार वहाँ लाङ्गलकी अधिष्ठात्री देवता श्रीसीता ही इष्ट है। वाल्मीकि-रामायणमें भी श्रीसीताका आविर्भाव लाङ्गलसे ही स्वीकार किया गया है; तभी तो उसका नाम 'सीता' रखा गया था—'यथा नाम तथा गुणः'।

जैसे कि—'अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः। क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता' (१।६६।१४) सूर्यमण्डलाधिष्ठाता देवको भी 'सूर्य' कहा जाता है, इस प्रकार सीताधिष्ठात्री देवताको भी 'सीता'। इस कारण उत्तरकाण्डके अन्तमें भी सीता उसी पृथिवीमें प्रविष्ट हो गई हुई दिखलाई है।

'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाऽनुयच्छतु' (ऋ० ४।५७।७) यहाँ श्रीरामद्वारा सीताकी निग्रह-कथा; तथा पूषा (अग्निदेवता) द्वारा उस सीताको वापिस लौटाना सूचित किया है। यहाँ पर 'इन्द्र'से 'रामावतार' इष्ट है, जैसा कि—उवट-महीधरके भाष्य द्वारा इन्द्रका कुचरत्व-अवतार लेना हम बता चुके हैं। 'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः' (अथर्व० ४।६।१) यहाँ पर दश-मुख-रावणका संकेत है।

फलतः वेदमें अवतारवाद तथा श्रीरामावतार भी सिद्ध होनेसे श्रीरामनवमी वैदिक-पर्व सिद्ध हुआ। 'नौ'का अङ्क ब्रह्मका प्रतिनिधि होता है, 'सीताराम' भी ब्रह्म हैं एतदादि-वर्णन हम 'मालाकी मणियाँ १०८' (पृ० ४०१)में कर चुके हैं, सो ब्रह्मके अवतार श्रीरामने 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनि सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (श्रीमद्भागवत ५।१९।५) इस कथनसे अवतार लेकर जहाँ राक्षसोंका वध किया है, वहाँ 'मर्त्यशिक्षण' भी किया है, सो मनुष्योंको इस अवतारसे शिक्षा भी ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीरामने अपने अवतारसे कई शिक्षाएँ भी दी हैं। उन्होंने

सूचित किया है कि—अपनी स्त्री तथा धन आदिका अपहर्ता आततायी होता है; अपने बलको बढ़ाकर अपने भ्राताओं वल्कि-बन्दरों-तककी सहायतासे भी उसके देशकी ईंटसे ईंट बजाकर उसका वध कर देना चाहिये; उसके आगे भूख-हड़तालों वा अपने प्राण देनेसे कोई लाभ नहीं होगा; क्योंकि—इन बातोंका प्रभाव सहृदयोंपर ही पड़ता है। आततायी सहृदय नहीं होता, कठोर होता है, उसका हृदय ही नहीं होता। अतः उसपर इन भूख-हड़तालोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

श्रीरामने अपनी नीतिसे यह भी सिद्ध कर दिया कि—अपने भाइयों तथा अपनी जातिवालोंके साथ सौमनस्य रखना चाहिये। 'कंटकेनेव कंटकम्' यह नीति (यहां विभीषण-द्वारा रावणके रहस्यको प्राप्तकर उसका वध कर देना-यह उदाहरण है,) शत्रुका छलसे भी मारना (इसमें लवणासुरके वधकी कथा याद रख लेनी चाहिये) अनधिकार-चर्चामें लगे हुएको दण्ड देना (इसमें शम्बूककी कथा याद कर लेनी चाहिये) इनको पूरा करना चाहिये। इन्हींके फलस्वरूप आज तक 'रामराज्य' प्रसिद्ध है। क्या आजके राजनीतिक नेता—'जो अपनी जाति वालोंके निग्रहणमें, तथा अपने तथा देशके द्रोही भिन्न-जाति वालोंकी छोटी-छोटी बातोंके पूर्ण करनेमें लगे हुए हैं, जो 'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः। स मृत्युमुखमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः' इस अशुद्ध नीतिको अपनानेमें लगे हुए हैं—इधर ध्यान देंगे? यदि उन्होंने श्रीरामकी राजनीति स्वीकार नहीं की; 'अन्यैः सह विवादे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्' की

नीति स्वीकार न की; तो वे अपने हाथमें आये भारतके राज्यको नष्ट करवा बैठेंगे। 'इतो भ्रष्टास्ततो नष्टाः' इस नीतिके उदाहरण बन जाएँगे।

इस प्रकार श्रीरामने धर्म एवं नीतिको इस शैलीसे अपनाया कि आज मरनेके भी समय 'राम-राम सत्य है' यह कहा जाता है। गो० तुलसीदासने श्रीरामका वर्णन करते हुए कितने सुन्दर शब्द लिखे थे—'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः, तथा न मम्लौ वनवास-दुःखतः। मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य सा, सदास्तु मे मंजुलमङ्गलप्रदा' अर्थात् श्रीराम राज्याभिषेक सुनकर प्रसन्न नहीं हुए, वनवास उपस्थित देखकर म्लान नहीं हुए। यही बात वाल्मीकि-रामायणमें भी आई है—'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च। न मया-लोकितः तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः'। कितना कठिन कार्य है यह। आज तो अपूर्ण-राज्यकी प्राप्तिमें भी गर्दन अकड़ जाती है। पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाएँ (गोवध करना आदि) भूल जाती हैं। जादूकी कुर्सी जनताको भुलवा देती है। क्या श्रीरामकी उस बातको कि—'स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा' (उत्तररामचरित १।१२) आजके नेता कह सकते हैं? आज तो अपनी अध्यक्षताको स्थिर करनेके लिए कितनी गलत नीतियां बरती जाती हैं। कई जनहानिप्रद-उपाय भी किये जाते हैं। जिस जातिके मतदान (वोट) से वा जिसकी हार्दिक उद्योग-परम्परासे शासकोंको स्वराज्य मिला, उसीकी सबसे बढ़कर उपेक्षा की जाती है; उसी जातिके धर्मपर प्रहार किया जाता है, उसके

आर्तनाद पर ध्यान भी नहीं दिया जाता। रामराज्यमें ऐसा नहीं था। तभी सुराज्यका नाम भी 'रामराज्य' हुआ करता है। उस रामराज्यमें सभी प्रसन्न थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज्य नहिं काहुहिं व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलत स्वधर्म-निरत श्रुति नीति॥

क्या वर्तमान शासकोंसे भी हम ऐसी आशा कर सकते हैं? यही प्रतिवर्ष स्मरण करानेकेलिए 'श्रीरामनवमी' आया करती है। क्या हमारे शासक एवं बन्धु श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रका मनन करेंगे? ऐसा करनेसे ही गोस्वामीजीकी उक्त चौपाई पूर्ण होगी।

(४) श्रीव्यास-पूर्णिमा।

आषाढकी पूर्णिमा श्रीव्यास-पूर्णिमा तथा गुरु-पूर्णिमा मानी जाती है। श्रीवेदव्यासने अनादिसे आ रहे हुए पुराण-ज्ञानको ग्रन्थबद्ध करके जो संसारका उपकार किया है; उसे छोटी-सी लेखनी वर्णित नहीं कर सकती। आजके कराल-कलिकालमें इन्हीं पुराणोंके कारण धर्मका प्रचार है और रहेगा। वेद बीजरूप हैं; इसलिए कठोर होते हैं; पर पुराण उसके फल हैं; फलका माधुर्य तथा कोमलता स्वाभाविक है। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि इन्हीं पुराणोंको ही प्रमुखतासे अवलम्बन करके बनाये गये हैं, तथा बनाये जाते हैं। फलोंके आस्वादमें पृथिवी, जल, वायु आदिकी विचित्रतासे विचित्रता भी उत्पन्न हो जाती है। श्रीमनुजीने कहा है—'भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः' (९।३८) किसानोंसे एक ही खेतमें बोये

हुए बीज देश-काल-भेदसे भिन्न हो जाया करते हैं; इस प्रकार पुराणोंमें वैदिक सिद्धान्त देश, काल, पात्रके भेदसे विभिन्न प्रतीत होते हैं, पर वहां होती है वास्तविकता।

बृहन्नारदीय-पुराणमें ठीक ही कहा है—'न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी। तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः॥ इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा। यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत् सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ॥ उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते। वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं महेश्वरि!' अर्थात् वेदमें ग्रहसंचार, ग्रहण आदिका निर्णयादि जो नहीं है, वह सब पुराणोंमें है। वेदमें जो बातें नहीं हैं, वह स्मृतिमें हैं—जो वेद और स्मृतिमें नहीं है, वह पुराणोंमें है। यह है पुराणोंका महत्त्व। अन्यत्र भी कहा है—'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्'। एकेन हीनः काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः। पुराण-हीनाद् हृच्छून्यात् काणान्धावपि तौ वरौ'। वेद और स्मृति दोनों नेत्र हैं, पुराण हैं हृदय, एकसे हीन काणा और दोनोंसे हीन अन्धा होता है, पुराण से हीन हृदय-शून्य होता है।

पुराणोंकी महिमाका वर्णन करना समूचे आकाशको मुट्ठीमें बन्द करना है, आजतक जो हिन्दु-जाति अपने स्वरूपमें उपस्थित है, इसे विदेशी जातियां तथा भिन्न-सम्प्रदाय अजगर वा मगरमच्छ होते हुए भी जो निगल न सके, यह अकम्प-अनुकम्पा पुराणों-की ही है, यह आजके पुराणोंका खण्डन करनेवाले अर्वाचीन सम्प्रदाय भी जानते एवं मानते हैं। इसमें थोड़ी भी अत्युक्ति

नहीं। पुराणोंका विषयमहत्त्व कैसे वर्णित किया जाय ? पुराणोंमें समग्र-विषयोंका वर्णन है, जिनसे हमें भुक्ति भी मिले, और मुक्ति भी। जीविका भी चले, परमार्थ भी सिद्ध हो। यदि पुराणोंका नाम 'विश्व-काव्य' रख दिया जाय, उन्हें 'गागरमें सागर' कह दिया जाय; तो इसमें किसी भी निष्पक्ष विद्वान्‌का ननु-नच, किन्तु-परन्तु नहीं हो सकता।

पुराणोंमें ज्योतिष, सामुद्रिक, शकुनशास्त्र, आयुर्वेद, विषचिकित्सा, राजनीति, ग्रहगति, भूगोल-खगोल विद्या, मूषक-पतंगा आदिको हटानेके उपाय, कृषि बढ़ानेकी विद्या, वृक्षोंको बिना ऋतुके फल-फूल लगें—इसके उपाय, सर्प-विद्या, स्वप्नोंसे भविष्यका निर्णय, पर्वत, द्वीपों, समुद्रों तथा विशेष-नदियों और उनके उद्गमस्थलोंका वर्णन, भुवनोंका वर्णन, स्वर्ग-नरक आदि लोकोंका वर्णन, स्त्री-पुरुषोंके लक्षण, छहों दर्शन, साहित्य-अलंकार शास्त्र, व्याकरण, छन्दः-शास्त्र, शब्दकाव्य, सृष्टिका उत्पत्ति-प्रलय-वर्णन, पदार्थविज्ञान (सायन्स), वैदिक-रहस्य, योगप्रक्रिया, सामान्यधर्म-विशेषधर्म, गृहस्थ-शिक्षा, धर्मनीति, समाज-नीति, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक-ज्ञान, भक्ति, कीर्तन, तपस्या, सभी प्रकारकी विद्याएँ, विविध कला-कौशल, गृहस्थ-सम्बन्धी गुप्त-योग आदि हजारों विषय बताये गये हैं, जिनमें वेद भी चुप किये हुए हैं। इन्हीं पुराणस्थ-विषयोंको अवलम्बन करके हजारों स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये जा सकते हैं। जिनसे प्रणेताओंको वृत्ति तथा उज्ज्वल यश भी प्राप्त हो सकता है।

इन्हीं पुराण-इतिहास आदिके द्वारा ही अर्वाचीन-सम्प्रदायोंके उपदेशक लोग अपने व्याख्यानको विस्तीर्ण तथा रोचक बना लेते हैं। ब्रह्मचर्यकी महिमा बतानेमें भीष्म, हनूमान, लक्ष्मण आदिका, बलिष्ठता बतानेमें भीम आदिका, धर्म एवं राजनीति वर्णन करनेमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, श्रीव्यास आदिका, तपस्याके वर्णनार्थ विश्वामित्र आदिका, पतिव्रतके महत्त्वमें सीता, सावित्री आदिका इतिहास बतानेकेलिए सभी सम्प्रदाय पुराणोंका आश्रय लेते हैं।

इन्हीं पुराणोंके द्वारा सामाजिक-कर्तव्य, स्मृति आदिके जटिल विधि-निषेधोंके उदाहरण, तथा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके भिन्न-भिन्न धर्म जाने जाते हैं। उपवास-व्रत आदिके लाभ, गंगाजलकी दूसरे जलोंसे विलक्षणता एवं पवित्रता, योग-चमत्कार, राजनीति आदि विषयोंका जो आज देश-विदेशमें डिण्डिम बज रहा है; यह पुराणोंने ही हमें बताया है। गोरक्षा-आन्दोलनोंके जन्म देनेवाले भी ये ही पुराण हैं। देशभक्ति, धर्मभक्ति, ईश्वर-भक्तिको सिखलानेवाले भी यही पुराण हैं। लोक-लोकान्तर, स्वर्ग, मुक्ति आदिको बतानेवाले भी यही हैं। यही इनकेलिए कहना सोलहों आना और चौसठ पैसा सच है कि—'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। जो यहां है; वही अन्य साहित्यमें है, जो यहां नहीं; वह अन्यत्र नहीं। इन पुराणोंके सम्पादक श्रीव्यास ही हैं; अतः 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' कहना कोई अत्युक्ति नहीं।

यही वेदके सरस भाष्य हैं। यदि पुराण न रहें; वा न माने

जावें; तो हिन्दु-जातिका स्वरूप ही विरूप हो जावे। इस जातिको आजकलके ग्राह ग्रस जाएंगे—इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं। इसलिए हिन्दुजातिमें फूट डालनेकेलिए विदेशियोंने हमें पुराणोंकी निन्दामें प्रोत्साहन दिया, निर्देश दिये, साधन दिये, अपना साहित्य मुफ्त वितीर्ण किया। वस्तुतः पुराणोंपर श्रद्धा लानेसे ही हमें 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' सत्यका मार्ग मिलेगा।

पुराणरूप-अर्णवको मथन करनेपर अमृत भी मिल सकता है, विष भी। रत्न भी मिल सकता है, शङ्ख भी। लक्ष्मी भी उससे मिल सकती है, कौडी भी। और यह सभी वस्तुएं समय-समयपर काम आ सकती हैं। अपने देश वा धर्म तथा जातिकी रक्षार्थ युद्ध-कला भी पुराणोंने ही सिखलाई। विविध कलाएँ, विद्याएं तथा विविध वृत्तियाँ; भारतवर्षकी सीमाओंका परिचय, तथा उसकी अखण्डता पुराणोंसे ही जानी जा सकती है।

वेदोंकी शाखा आदिके ज्ञानार्थ प्रतिपक्षियोंको भी पुराणोंकी ही शरण लेनी पड़ती है। इनका आश्रय न लेनेपर वेद-विषयमें भी अन्धकारमें रहना पड़ेगा। वेद-विषयमें जो जनतामें अगाध-श्रद्धा अब तक भी विद्यमान है, उसका मुख्य-कारण भी पुराण ही हैं। इन्हीं पुराणोंके द्वारा ही प्रतिपक्षियोंको आर्यसृष्टि-संवत्सरकी गणना तथा युधिष्ठिरके बादकी राजवंशावली भी उन्हें प्राप्त हुई। इन्हीं पुराणोंका अवलम्बन लेकर प्राचीन-महाकवियोंने बहुतसे काव्य तथा बहुत नाटक बना डाले, जिनसे उनकी यशः-पताकाएं आज भी दशों दिशाओंमें फहरा रही हैं।

इन्हीं पुराणोंकी कृपासे चार्वाकमत, तथा बौद्ध-जैन आदि मतों और ईसाई-मुसलमानादि सम्प्रदायोंका हिन्दु-जातिपर प्रभाव नहीं पड़ा और वह अर्बों सालके बाद आज भी अपनी सत्ता स्थिर किये हुए है।

इन्हीं पुराणोंके द्वारा वेदोल्लिखित ऋषियोंकी उत्पत्ति और वंशपरम्परा ज्ञात हो सकती है। यदि पुराण न हों; तो वेदप्रोक्त औशीनरि शिवि (ऋ०सं० १०।१७६), पौलोमी-शची (१०।१५६), वैन्य-पृथु (१०।१४८), विश्वावसु-गन्धर्व (१०।१३६।४-६), पैजवन सुदास (१०।१३३), यौवनाश्व-मान्धाता (१०।१३४), जमदग्नि तथा उसका पुत्र राम (१०।११०), सोमका लड़का बुध (१०।१०१), पुरूरवा-ऐल (१०।६५), दक्षकी लड़की अदिति (१०।७२), कृष्ण (१०।४२) ऐलूष-कवष (१०।३४), वैवस्वत-यम (१०।१०), शुनःशेप (१।२४), शक्तिका लड़का पराशर (१।६७), कौशिक-गाधी (३।२१), नर (६-३५), नारायण (१०।६०), बार्हस्पत्य-भारद्वाज (६।७), गर्ग (६।४७) वैवस्वत-मनु (८।२८), भार्गव-कवि (६।४८), भरद्वाज, अत्रि, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ (६।६७), वसिष्ठपुत्र-शक्ति, (६।६७), कश्यप (६।११४) इन ऋषियोंका जिनका ऋग्वेदसंहितामें अपत्य-प्रत्ययके रूपमें नाम हैं—उत्पत्तिका पता लग ही न सके।

जो पुराणोंकी निन्दा करते हैं; वे अठारह पुराणोंमें केवल दो-तीन पुराणोंकी; उनका भी थोड़ासा अंश प्रकरण छिपाकर, श्लोकोंकी आनुपूर्वीको आगे-पीछे करके दो-चार रुपये प्राप्त करनेके लिए वैसा करते हैं। वे लोग कई लाख श्लोकोंमें दो-तीन सौ श्लोक

आक्षेपयोग्य मानते हैं। यदि वे दूरदर्शिता वा निष्पक्षता रखें; तो वहां भी उनकी शङ्काएं दूर होजावें; और वहां भी वेदके किसी मन्त्रकी व्याख्या ही उन्हें मिल जावे। आजकल कराल-कलिकालमें भी इन्हीं पुराणोंके कारण धर्मका प्रचार है, और रहेगा। इन्हींकी कृपासे वेदार्थके ज्ञानमें सहायता भी मिलती है। इसीलिए ही कहा है—'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (महाभारत-आदिपर्व १।१६४) इतिहास-पुराणोंसे वेदार्थ को पुष्ट करे, क्योंकि—पुरुष इतिहास-पुराणसे ही बहुश्रुत बनता है, अल्पश्रुत-पुरुषसे वेदभी डरा करता है कि—यह मुझपर प्रहार करेगा। अतः हमें दोषग्राही न बनते हुए उन पुराणोंका आदर-सम्मान सीखना चाहिये—जिससे हम 'कुछ' बन सकें।

उन्हीं पुराणोंके आविष्कर्ता श्रीव्यास हैं; अतः हमें श्रीव्यास-पूर्णिमा वाले दिन श्रीव्यासजीकी पूजा, तथा उनका गुणानुवाद करना चाहिये। अब श्रीव्यासजी अमर होते हुए भी हमारे सामने नहीं, पर उनका साहित्य पुराण-इतिहास हमारे सामने है। हमें उन्हींका अध्ययन-मनन करना चाहिये। उन्हीं व्यासजीके प्रतिनिधि हमारे गुरुजी होते हैं। वे ही हमें विद्या-दान देकर हमारी अज्ञान तिमिरान्ध-चक्षुको ज्ञानाञ्जन-शलाकासे उन्मीलित करते हैं। हमारा अज्ञान दूर करते हैं। हमारी वृत्ति, जीवन-निर्वाह हमें दिलवाते हैं, हमारा यश बढ़वाते हैं; हमें सुमार्ग प्रदर्शित करते हैं—जिससे हम भी हजारोंका अज्ञान दूर करते हैं; उन श्रीगुरुजीका भी इस दिन यथाशक्ति धन-वस्त्र आदिसे सम्मान करके अंशतः अपनी

कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये। यही श्रीव्यासपूर्णिमाका रहस्य है।

(५) श्रावणी और रक्षाबन्धन।

श्रावण-पूर्णिमाके दिन उपाकर्म श्रावणी तथा रक्षाबन्धन किया जाता है। 'आह्निक-सूत्रावली' में इसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। प्रातः किसी नदी अथवा नाले पर जाकर—'नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च। स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च' (मनु-४।२०३) के अनुसार स्नान किया जाता है। शारीरिक-शुद्ध्यर्थ पञ्चगव्यका उपयोग भी किया जाता है। देवतर्पण तथा ऋषितर्पण भी किया जाता है। इसमें अरुन्धती और सप्तर्षियोंका पूजन भी किया जाता है।

आज के दिन—'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोर्धपञ्चमान्' (४।९५)। 'पुष्ये-तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः। माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि' (४।९६)। इस मनुस्मृतिके वचनके अनुसार वेदाध्ययनका आरम्भ किया जाता था और पौषी पूर्णिमाको उसका उत्सर्जन (समापन) किया जाता था। पर जिस प्रकार आजकल ब्रह्मचर्यकी वेदीके साथ वेदारम्भ तथा समावर्तनकी वेदी भी साथ-साथ बन जाती है, वैसे ही उत्सर्जन-कर्म भी उपाकर्मके साथ ही कर दिया जाता है। इसमें 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥' इस मन्त्रसे नवीन यज्ञोपवीत धारणकर पुराने यज्ञोपवीतका—'एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्म त्वं! धारितं मया। जीर्णत्वात्ते परित्यागो, गच्छ सूत्र!

यथासुखम् ।' इस मन्त्रसे जल-प्रवाह कर दिया जाता है। इसमें अधिकारी लोग पितरोंका तिल-तर्पण भी करते हैं।

श्रवण-नक्षत्रके साथ इसका सम्बन्ध होनेसे पूर्णिमाका नाम भी 'श्रावणी' होता है और इस कर्मका नाम भी 'श्रावणी-कर्म' होता है। ब्राह्मणोंकी प्रधानता इसमें अवश्य है, पर है यह सभी द्विजोंका ही। इससे वेदका प्रचार तथा ब्रह्मचर्य-व्रतका प्रसार तथा हिन्दु-संस्कृतिका संरक्षण बना रहता है।

इसी दिन रक्षाबन्धन भी हुआ करता है। इसके करनेसे वर्षभरके अशुभोंसे रक्षा हुआ करती है। असुरोंसे पराजित इन्द्रको देखकर इन्द्राणीने इसी दिन ब्राह्मणोंको बुलाकर स्वस्ति-वाचन कराकर इन्द्रके हाथमें बृहस्पतिकी अनुमतिसे रक्षाकी पोटली बँधवायी थी, उसीके परिणामस्वरूप इन्द्रने दैत्योंको हरा दिया था। ऐसा वर्णन पुराणमें आया है। रक्षाबन्धनके समय 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामभिबध्नामि रक्षे! मा चल मा चल।' यह मन्त्र पढ़ा जाता है। इसमें स्पष्ट है कि श्रीवामनने भी रुईके एक डोरेसे बलि-राजाको बांधकर उससे देवताओंको उनकी छीनी हुई सम्पत्ति दिलवाई थी। पर साथही विष्णुको बदलेमें उसका द्वारपाल बनना पड़ा और आठवें मन्वन्तरमें उसका इन्द्रत्व मानना पड़ा।

प्राचीन-समयमें रक्षासूत्रमें 'अपराजिता' नामक ओषधि अभिमन्त्रित कर बांधी जाती थी, जिससे वह एक वर्षतक भयोंसे तथा शत्रुओंसे अपराजित रहता था। शकुन्तलाके लड़के भरतके

हाथमें महामुनि-श्रीमारीचने ऐसा रक्षासूत्र बांधा था, जिससे वह पांच वर्षका होता हुआ भी शेरके बच्चोंको चपेट मारकर मुँह खोलनेके लिए बाध्य करता था, और उनके दांत गिनता था, शेर-शेरनीभी उसे कुछ कष्ट नहीं दे सकते थे—यह रक्षासूत्रका ही प्रभाव था। महाकवि-श्रीकालिदासने अपने प्रसिद्ध-नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तलके सप्तम अङ्कमें दुष्यन्तसे—'अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्। प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं करेणैवात्र कर्षति' (७।१४)। यह पद्य कहलवाया है। इसीके साथ तापसी-द्वारा उसका विवरण भी दिया है कि यदि वह रक्षासूत्र छूट जाय तो उस लड़केके माता-पिताके अतिरिक्त उसे कोई भी उठा नहीं सकता था। उठानेपर वह रक्षासूत्र उसे सांप बनकर डंसता था।

जब महाकवि-कालिदासने ऐसा वर्णन दिया है तो इसके वैसे प्रभावमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। आज यदि वैसा प्रभाव नहीं मिलता तो उसका कारण है—शक्ति-ह्रास। किसीने एक ब्राह्मणसे पूछा था कि—अब आप लोग पहलेकी भांति शाप क्यों नहीं दे सकते? तो उसने उत्तर दिया था—'परान्नेन मुखं दग्धं हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्। परस्त्रीभिर्मनो दग्धं कुतः शापः कलौ युगे।'

दूसरोंका अन्न खाते-खाते मुँह जल गया है, दान लेते-लेते हाथ जल गये हैं। दूसरोंकी स्त्रियोंको देखते-देखते मन जल गया है, तब कलियुगमें शाप हम कैसे दे सकते हैं? यह ठीक है। तपस्या न रहनेसे अब मुख, हाथ और मनमें शक्ति नहीं रही। तब वे पहले जैसे चमत्कार भी नहीं रहे, पर मूल-कर्मका त्याग

नहीं कर देना चाहिये। 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' कभी कोई तपस्वी विद्वान् निकलेगा ही।

यह कर्म व्यर्थ भी नहीं है। वेदोंमें भी इसका संकेत मिलता ही है। वहां सोना, विशेष-मणियों तथा रक्षा-सूत्रोंके बांधनेका माहात्म्य मिलता है। उपवेद-आयुर्वेदकी सुश्रुतसंहिता एवं चरक-संहिता आदि ग्रन्थोंमें कई रक्षासूत्रोंका विधान आता है। अभि-मन्त्रणमें बहुत शक्ति मानी जाती है। अतः आजकल रक्षासूत्रोंमें भी सोनेका अंश गोटे-किनारी आदिके जड़नेका रिवाज है, जिस से रक्षा रहे।

रक्षाबन्धनके दिन यजमान अपने पुरोहित-ब्राह्मणोंसे, शिष्य अपने गुरुओंसे, भाई बहिनसे, पिता अपनी लड़कीसे रक्षासूत्र बन्धवाता है। उनकी दक्षिणा भी दी जाती है। राजपूती-समयमें लड़कियां किसी अन्य राजाको भी राखी बांध दिया करती थीं। इसमें तात्पर्य यह था कि मैं तुम्हारी बहिन या लड़की हूँ। तुम्हारी रक्षा चाहती हूँ, तुम भी मुझे उसकी दक्षिणा दो। यहां दक्षिणा अभयदान, या शत्रुसे उसका संरक्षण इष्ट होता था। तब वे राजा प्राणपणसे उसका संरक्षण करते थे। जैसे कि महारानी कर्णवतीने गुजरातके बादशाह बहादुरशाहके आक्रमणसे चित्तौड़की रक्षार्थ मुगलवंशीय राजा हुमायूँको राखी भेजी थी। उसने भी अपने सैन्यबलसे सहायता पहुँचाकर भाई-बहनके पवित्र सम्बन्धको चार चाँद लगा दिये थे।

प्राचीनकालमें हमारे सब कर्म किसी प्रयोजनको लक्ष्यमें न

करके अदृष्टमूलक समझकर ही किये जाते थे। दृष्ट-प्रयोजन सामने आया, तो स्वार्थ-परता भी आई। फिर वह सदाकी वस्तु नहीं रहती थी। पुरुष उसमें उपेक्षा-बुद्धि भी कर लेता था। उससे वह उस कर्मके लाभोंसे वञ्चित भी रह जाता था। तत्तत्कर्मको अदृष्टफल माननेसे वह कर्म सदाकेलिए नियमित-समयपर हुआ करता है, उसमें उपेक्षावृत्ति भी नहीं हुआ करती। तब पुरुष उनके लाभोंसे भी वञ्चित नहीं रहता। और फिर देशभरमें तत्तत्कर्म नियत-दिन तथा समयपर करते रहनेसे समस्त देशके पुरुषोंकी एकता तथा सधर्मता रहा करती है, तब किसी शत्रुको उस देशपर कुदृष्टि करने का साहस ही नहीं होता।

अपने जो पर्व हैं, उनमें यदि प्रत्यक्ष-लाभ न दीख पड़े, तब भी उस मूल-वस्तुका परित्याग नहीं करना चाहिये। यदि उसमें कालक्रमसे उल्ट-पुल्ट भी पड़ जाय तो समय पर शास्त्र देखकर उसमें सुधार भी हो सकता है; पर उसे छोड़ देनेसे हमसे प्राचीन भारतकी विस्मृति हो सकती है। उसके स्वरूप नष्ट होने पर उसके अस्तित्वके भी प्रच्युत होनेकी आशंका बनी रहती है।

(६) श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीव्रत पूर्णतः वैज्ञानिक।

यह भगवान् आनन्दकन्द-सच्चिदानन्द, श्रीनन्दनन्दनका जन्म-दिवस है। यद्यपि जन्म जीवका हुआ करता है, परमात्माका नहीं, तथापि 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (४।९) इस भगवद्-वचनके अनुसार भगवान्का जन्म 'दिव्य' हुआ करता है, जिसे अवतार

कहा जाता है। जीव कर्मबन्धनसे बद्ध होकर परतंत्रतासे शरीर-ग्रहण करता है, पर परमात्मा बिना कर्मबन्धनसे, स्वेच्छा वा स्वतन्त्रतासे शरीर-ग्रहण करता है। जैसे कि—जेलखानेमें कैदी किसी कर्मसे जाता है, परन्तु उसी जेलखानेमें राजा अपनी इच्छानुसार केवल बद्ध-जीवका हित करनेकेलिए, या वहांकी अव्यवस्था दूर करनेकेलिए जाता है।

उसी भगवान्का जन्म-दिवस होनेसे भगवान्का अनन्य-चित्तसे (गीता ८।१४, ९।१३-३०,१३।१०,९।२२) ध्यान करना पड़ता है। अनन्य-ध्यानकेलिए चाहिये निर्विषय मन, क्योंकि—मन ही बन्ध-मोक्षका कारण हुआ करता है। उपनिषद्का यह वचन पञ्चदशीमें प्रसिद्ध है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं मनः' (११।११७) अर्थात् विषयासक्त-मन बन्धनका कारण हुआ करता है और निर्विषय मन मुक्ति देनेवाला हुआ करता है। तब मुक्ति-प्राप्ति तथा मुक्तिके उपाय अनन्य-ध्यानकी प्राप्तिकेलिए मनका निर्विषय—विषयों से रहित होना आवश्यक है। उसका उपाय है उस दिन निराहार रहना।

आहार करनेसे हमारी इन्द्रियोंपर ऊष्माका दबाव पड़नेसे उनमें उत्तेजना-विषयैषणा उत्पन्न हो जाती है। जब विषयैषणा उत्पन्न हुई, तो भला भगवान्का अनन्य ध्यान कैसे हो? उसकी रक्षार्थ भगवान्ने ही हम पर कृपा करके यह उपाय बताया है कि 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' (२।५९) निराहार-पुरुषका

विषयोंसे छुटकारा हो जाता है। निर्विषयता हुई, तो अनन्य भक्ति भी हो सकती है।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि—निराहारतासे विषय भले ही छूटें, पर विषयोंका रस तो नहीं छूटता। विषयोंका रस न छूटा, तो फिर भी भगवान्का ध्यान अनन्य-योगसे कैसे हो? इस पर हम कहते हैं कि—यह कोई आपकी नई बात नहीं है। भगवान् तो इसको पहलेसे ही जानते थे, अतः वे कह गये हैं—'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं—' (२।५९)

तब फिर विषय-रस हटनेका उपाय क्या? यह उपाय भी भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कह गये हैं—'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (२।५९) अर्थात्—निराहारतारूप-व्रत हो, इसके बाद हो भगवान्की बांकी-झांकीका दर्शन। तात्पर्य यह है कि—जन्माष्टमीका व्रत भी करो, साथ ही भगवान्का दर्शन भी करो। ऐसा होनेसे विषय तथा विषय-रस छूटकर हमें अनन्यचित्त बनायेंगे। जब हम अनन्यचित्त हुए, तो इस जगत्का उत्तम लाभ प्राप्त हुआ।

इधर पूर्णिमामें सूर्य-चन्द्रमा समान-रेखामें होते हैं, अमावास्यामें दोनों समान-स्थानमें होते हैं, तथा अष्टमीमें सूर्य-चन्द्र समान कोणमें होते हैं, उनके आकर्षण-विकर्षणका प्रभाव पृथिवीपर भी हुआ करता है। इसी कारण सबसे अधिक ज्वार-भाटा पूर्णिमामें, सबसे कम अमावास्यामें और मध्यम ज्वार-भाटा दोनों अष्टमियोंमें हुआ करता है। जैसे सूर्य-चन्द्रमाके आकर्षण-विकर्षण का प्रभाव समुद्रपर पड़ता है, वैसे ही प्राणियोंके लहूपर भी पड़ता

है, क्योंकि लहू भी जलका ही भाग होता है। उक्त-तिथियोंमें स्त्री-पुरुषोंकी वीर्य आदि धातुएं विषम होती हैं, अतः इनमें हुई-हुई उत्तेजना हानिकारक होती है, विशेषतः वर्षा-ऋतुमें, अतः इन तिथियोंमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक व्रत आवश्यक हुआ करता है।

इसी कारण ही अष्टमी आदिमें पहले समयके लोग यज्ञ, व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य आदिका अनुष्ठान करते थे। अष्टमी-आदिमें अनध्याय भी इसी कारण हुआ करता था। यह भाद्रपद की कृष्णाष्टमी विशेष है, अतः आधीरातमें कृष्ण-चन्द्रोदयके अवसर तक इस व्रतका विधान रखा गया है। उस समय दर्शन, भजन, कीर्तन आदिमें लगे रहनेसे पूर्वके कहे दोष हट जाते हैं।

इन्हीं वैज्ञानिक-कारणोंसे हमें जन्माष्टमीके दिन व्रत तथा भगवान्‌का दर्शन-कीर्तन आदि अवश्य करना चाहिये।

(७) पितृश्राद्ध-पक्ष।

मृतक-पितरोंका श्राद्ध प्रति-अमावस्याको हुआ करता है, और पार्वण-श्राद्ध भाद्रपद-पूर्णिमासे लेकर आश्विनकी अमावस्या तक होता है। पञ्चमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ प्रतिदिन होता है। हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके चतुर्थ-पुष्पमें 'मृतक-श्राद्धविज्ञान' पर सुगम-प्रकार द्वारा प्रकाश डाल चुके हैं, पाठक उस पुष्पको अवश्य मंगा लें। उसमें 'मृतकश्राद्ध और ब्राह्मणभोजन, विषय पर सम्यक्‌तया प्रकाश डाला गया है। यहाँ भिन्न-भिन्न विद्वानोंके आशयको लेकर हम श्राद्धविज्ञान पर प्रकाश डालते हैं—

*(२) मृतक-श्राद्धविज्ञान।

[यह मृतक-श्राद्धका शास्त्रीय-विज्ञान दिखाया जा रहा है, इसमें श्राद्धकी वास्तविकता सिद्ध होगी]

'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति' शास्त्रके इस प्रमाणसे मृतक-पुरुषोंके सूक्ष्म-शरीर चन्द्ररश्मियोंसे आकृष्ट होकर अपने स्थानपर पहुँचनेकेलिए चन्द्रकी ओर आकाशमें चलते हैं; वहाँ 'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छान्दो० ६।६।५) इत्यादि उपनिषद्के प्रमाणसे अन्न, जल, और तेजः-प्रधान अन्तः-करण (मन) 'चन्द्रमा मनसो जातः' (यजुःसं० ३१।१२) इस श्रुतिके अनुसार उसकी समान जाति वाली चन्द्रकी किरणोंसे आकृष्ट होता है। परन्तु बहुत दूर जानेके कारण मार्गमें वायु और आतप आदिके कारण उसका सोम्य अंश क्रमशः क्षीणताको प्राप्त होजाता है। तब चन्द्ररश्मियोंके आकर्षणके मूल-कारण सोम-भागकी थोड़ी प्राप्तिके कारण आकर्षणशक्तिके ह्राससे वही अन्तःकरण चन्द्र तक न पहुँच पानेसे मार्गमें ही कहीं विलीन हो जावे; वा उसकी अन्य-दिशामें गति हो जाए, जो अनिष्ट है, ऐसी आशङ्का रहा करती है। तब नियत स्थान न मिलनेसे उस अन्तःकरणकी तथा तत्सहचारी सूक्ष्म-शरीरकी अपगतिकी सम्भावना हो सकती है।

तब जौ के चूर्ण, तथा जल, घृत, दुग्ध, मधु आदिसे सम्पादित पिण्ड सूक्ष्म-अंशोंसे उसी प्रकार चन्द्र-किरणोंसे समाकृष्ट होकर उसी मार्गसे ऊपर जाते हुए, बीच-बीचमें चढ़ते हुए मृत-प्राणियोंके

*पूर्वका श्राद्धविज्ञान चतुर्थपुष्पमें देखें।

सूक्ष्म-शरीरमें सोमकी सामर्थ्य उत्पन्न करके उन्हें आप्यायित (सबल) करके फिर अपेक्षित-सोमके अंशको उत्पन्न करते हुए मृतकके उन सूक्ष्म-शरीरोंको गन्तव्य-स्थान चन्द्रलोकमें प्राप्त करा देते हैं—यही मृतककी सुगति होती है; इससे भिन्न-गति मृतककी अपगति होती है। मृतक-मनुष्यके शरीरावयवोंसे उत्पन्न हुए निकटके सपिण्ड पुत्र भी उसी मृतककी समान जातिके होते हैं; अतः उन पुत्रादिसे दिये हुए पिण्डोंमें भी उनके हाथके सम्बन्धसे वैसे ही अतिशय उत्पन्न हो जाते हैं; जिनसे उन पुत्रादिसे दिये हुए पिण्डोंसे निकले हुए सूक्ष्म-सोमांश आकर उनके पितरोंके सूक्ष्म-शरीरसे ही सङ्गत होते हैं; दूसरे अपने असम्बद्ध-मृत-पितरोंके सूक्ष्म-शरीरसे नहीं, क्योंकि—आकर्षणका नियम अपने सजातीय-आकर्षणमें प्रतिनियत होता है, भिन्न-जातीयमें नहीं। वर्णसङ्करतामें स्वपितृसे भिन्नके वीर्यसे उत्पत्ति होने पर वह अतिशय नहीं रह जाता; इसलिए अपने मृत-पिताको वह अतिशय नहीं प्राप्त होता; तब सोम-सामर्थ्यकी सहायता न मिलनेसे पूर्व कहे अनुसार मृतकके सूक्ष्म-शरीरकी गन्तव्य-स्थान चन्द्रलोकमें गति न हो सकनेसे अन्यत्र अनिष्ट निम्न-स्तर नरकादि-प्रेतलोकोंमें प्राप्ति हो जानेसे पतन वा अपगति हो जाती है; इसी बातको भगवद्गीताके शब्दोंमें इस प्रकार कहा गया है—

'अधर्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः। संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।' (१।४१-४२)।

इसी वैज्ञानिक-रहस्यको लक्ष्य करके पिता आदिकी मृत्युमें प्रतिदिन निर्वापित किये पिण्डसे दस दिन तक दशगात्र किया जाता है; इससे मृतकके दश-अङ्गोंमें अपेक्षित-अङ्ग वाली शक्ति हो जाती है; इसीका पारिभाषिक-नाम मृतकके अङ्गोंकी उत्पत्ति होना श्राद्ध-पद्धतियोंमें प्रसिद्ध है। इसलिए मृतक-श्राद्ध अवैज्ञानिक न होकर वैज्ञानिक ही सिद्ध है। फिर अपने-अपने वर्णानुसार नियत ११-१२-१५ आदि दिनों तक पितृक्रिया करके फिर सपिण्डन, एकोद्दिष्ट आदि शुद्ध-क्रिया करके मृतकको पूर्व-पितरोंसे सम्बद्ध करके, फिर श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजन करके उस मृतक-पितृको पुत्रके द्वारा सहायता पहुँचाई जाती है। परन्तु जीवित-श्राद्धमें कोई उपपत्ति न होनेसे वह निर्मूल ही सिद्ध होता है।

जो कि आश्विन-मासके कृष्णपक्षकी मृतककी तिथिमें सभी मृतक-पितरोंके श्राद्ध किये जाते हैं; उसमें विज्ञान यह है कि इन दिनोंमें चन्द्रमा अन्य मासोंकी अपेक्षा पृथिवीके निकटतर हो जाता है। इस कारण उसकी आकर्षण-शक्तिका प्रभाव पृथिवी तथा उसमें अधिष्ठित प्राणियों पर विशेष-रूपसे पड़ता है। तब जितने सूक्ष्म-शरीर चन्द्रलोकके ऊपरी भागमें स्थित पितृलोकमें जानेके लिए बहुत समयसे भी चल रहे होते हैं; वा चल पड़े होते हैं, उनका उद्देश करके उनके सम्बन्धियोंसे निर्वापित-पिण्ड अपने अन्तर्गत सोमके अंशसे उन सूक्ष्म-शरीरोंको आप्यायित करके उनमें विशिष्ट-अतिशय उत्पन्न करके उन्हें शीघ्र और अनायास ही, अर्थात् बिना अपनी सहायताके ही पितृलोकमें प्राप्त कर दिया

करते हैं। तब वे पितर भी उनकी ऐसी सहायता पाकर उन्हें हृदयसे समृद्धि तथा वंशवृद्धिका आशीर्वाद देते हैं।

जो सूक्ष्म-शरीर पितृलोकमें प्राप्त हो जाते हैं; उसमें निर्वापित किये हुए पिण्डों वा ब्राह्मण-भोजनके सूक्ष्मांश उनके पास प्राप्त होकर उनको आप्यायित करते हैं, जिनसे वे सूक्ष्म-शरीर रूप पितर मस्त (प्रसन्न) हो जाते हैं, और पुत्रोंको आशीर्वाद देते हैं। जो कि प्रतिवर्ष क्षयाहके मास एवं तिथिमें श्राद्ध किया जाता है; उसमें कारण यह है कि—तिथि होती है चान्द्रमासके तथा चन्द्र-गतिके अनुसार; उसमें चन्द्रलोकमें वे पितर उसी मार्ग वा स्थानमें स्थित होते हैं; जब वे मरकर उसी तिथिमें उस मार्ग वा स्थानको प्राप्त हुए थे। तब वे सूक्ष्माग्निसे प्राप्त कराये हुए उस श्राद्धके सूक्ष्मांशको अनायास प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें कहा है—'मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्। प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्य एकादशेऽहनि' (आचाराध्याय-श्राद्धप्रकरण २५६ पद्य)। 'वर्षे वर्षे मृततिथौ श्राद्धं कुर्यात्' (बोधायनीय-पितृ-मेधशेषसूत्रके ३य खण्डमें)।

(३) मृतक-श्राद्ध-विज्ञान

[इस निबन्धमें श्राद्धमें किये जानेवाले कर्त्तव्यकी विज्ञान-पूर्णता सिद्ध होगी।]

श्राद्धके समय पृथिवी पर कुश रखे जाते हैं; और कुशोंपर यव-अक्षत आदिके पिण्ड रखे जाते हैं। पिण्डोंमें जौ, तिल, दूध, मधु और तुलसीपत्र डाले जाते हैं। तब श्राद्धकर्ता वसु, रुद्र, और

आदित्य इन तीन नित्य-पितरोंका, यम और परमेश्वरका ध्यान करता है, और आचार्य वेदमन्त्रोंका गम्भीर-स्वरसे उच्चारण करता है। इस पर यह जानना चाहिये कि—चावलोंमें ठण्डी बिजली, और जवोंमें भी ठंडी-बिजली होती है। तिलोंमें गर्म-बिजली; दूधमें भी गर्म-बिजली होती है। तुलसीपत्रमें दोनों प्रकारकी विद्युत् होती है। साधारण मनुष्य जब साधारण-वचन बोलता है; तो उसके शरीरमें न्यून-विद्युत् उत्पन्न होती है; पर जब कोई वेदवित्-कर्मकाण्डी तथा ज्ञानी-विद्वान् नियतपद-प्रयोगपरिपाटीवाले तथा नियत-आनुपूर्वीवाले पितृगणोंसे सम्बद्ध वेदमन्त्रोंको पढ़ता है, तब नाभिचक्रसे उठी हुई वायु पुरुषके शरीरमें उष्ण-विद्युत्को उत्पन्न करके उसे शरीरसे बाहर करता है। इधर वेदके शब्दोंके द्वारा विद्वान्-ब्राह्मणके शरीरसे अलौकिक वैदिकक्रिया-सिद्ध विद्युत् भी पिण्डोंमें प्रवेश करती है।

इस प्रकार बिजलियोंके समूह हो जानेपर मधुकी विद्युत् उनका मिश्रण करनेवाली बनती है। मधुकी विद्युत् चावल, जौ, दूध, तिल, तुलसीपत्र, तथा वेदमन्त्रोंकी विद्युतोंको मिला देती है। नीचे कुश इस कारण रखे जाते हैं कि—पिण्डोंसे उत्पन्न विद्युत् पृथिवीमें संक्रान्त न हो जावे। कुशाएं पिण्डोंकी विद्युतोंको पृथिवीमें नहीं जाने देतीं। इसलिए भगवान् कृष्णने ध्यानके समय ध्यानकर्ताकी विद्युत्की रक्षाकेलिए 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' (६।११) कुशाका आसन ऊपर रखवाया है। मधुने मिलाकर जो अलौकिक-विद्युत् पैदा की थी; वह श्राद्धकर्ताकी मानसिक-शक्ति

द्वारा उधर ही जाती है, जिधर उसका मन जाता है। और मन नित्य-पितरों वा, अपने पितरों तथा यम एवं परमेश्वरके ध्यानमें लगा होता है। तब वह बिजली भी इनके पास चमकती है; तब यम वा नित्य-पितर सर्वज्ञ होनेसे श्राद्धकर्ताके पुत्रके किये हुए श्राद्धके—ब्राह्मणकी वैश्वानर-अग्निसे सूक्ष्मीकृत-अन्नको मृत-पितरोंके पास तदनुकूल करके भेज देते हैं, चाहे वे पितृलोकमें हों; वा अन्य-लोकमें, वा किसी अन्य-योनिमें हों।

(४) मृतक-श्राद्ध-विज्ञान।

[इस निबन्धमें भी श्राद्धीय-पदार्थोंकी वैज्ञानिकता सिद्ध होगी, जिससे श्राद्ध-विषय अशङ्कनीय सिद्ध होगा।]

सबसे पहले अखंड दीपक जलाना चाहिए; जो पितृ-मृत्युके दिनसे लेकर दस दिन तक जलता रहना चाहिए। कुशास्तरण बिछाकर 'इदं पितृभ्यः प्रभरामि बर्हिः' (अथर्व० १८।४।५१) 'एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः' (१८।४।५२) 'येऽस्माकं' पितरस्तेषां बर्हिरसि' (१८।४।६८) इन मन्त्रोंके आधारसे उन कुशासनोंपर तीन पिण्ड रखने चाहियें। तिल, चावल, कुश यह तीन वैद्य त पदार्थ होते हैं। इनकी सहायताकेलिए अखण्ड-दीपक रहता है। अन्नके उष्ण पिण्ड, अथवा दुग्धमय मेवेके पिण्ड देशकालानुसार क्रिया-द्वारा निर्वापित करके उन्हें जलमें डालते हैं, जिससे वाष्प (भाप) निकले। भाप ही विद्युत्-शक्तिसे सूक्ष्म होकर सूर्य-किरणके द्वारा चन्द्रमंडलके ऊपरके भागमें पितृलोकमें ठहरे हुए पितरोंको तृप्त करती है। यह विशेष-विधि है। दूसरी विधि है हवन; तीसरी

विधि है ब्राह्मण-भोजन। हवनमें अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाऽग्निके साथ मिलकर सूर्यलोकमें पहुँचा देती है; और सूर्य अपनी सुषुम्णा-किरणके द्वारा उसे पितृ (चन्द्र)-लोकमें इष्ट-पितृके पास पहुंचा देता है। ब्राह्मण-भोजनमें ब्राह्मणकी वैश्वानराग्नि उस कव्यको सूक्ष्म कर महाग्निके साथ मिल जाती है। उसका मित्र वायु उसे आकाशाभिमुख ले जाता है। वह अग्नि उस अन्नको पूर्वकी भांति पितृलोकमें पहुँचाती है। इस प्रकार तीन प्रकारोंके द्वारा पितृगण स्वधाको प्राप्त कर लेते हैं।

(५) मृतक-श्राद्ध-विज्ञान।

[इस निबन्धमें श्राद्धका शास्त्रीय तथा रहस्यपूर्ण विज्ञान दिया जायगा, पाठक इसका सावधानतासे मनन करें, तो उन्हें श्राद्धकी यौक्तिकता तथा सोपपत्तिकता प्रतीत होगी।]

छान्दोग्य-उपनिषद्में पञ्चमाध्यायमें पञ्चाग्नि-विद्या नामक एक प्रकरण आया है उसमें लिखा है—'इति तु पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति' अर्थात् पांचवीं आहुतिमें जल पुरुषके शरीरको धारण करते हैं। इससे पूर्व उसमें पञ्चाग्नियोंका विस्तृत वर्णन है। यह भी वहां बताया गया है कि—यथाक्रम प्रत्येक अग्निमें व्याप्त होकर अन्तमें जल कैसे पुरुषत्वको प्राप्त करता है?

इन पञ्चाग्नियों वा आहुतियोंका परिचय इस प्रकार है—सबसे पहली अग्नि द्युलोक है, सूर्य उसकी समिधा (अग्नि दीप्त करनेका साधन) है। इस अग्निमें देवतागण श्रद्धाकी आहुति देते हैं। इससे सोम उत्पन्न होता है। ब्रह्मसूत्र (३।१।५) के भाष्यमें

स्वामी शंकराचार्यने लिखा है—'श्रद्धाशब्दश्च अप्सु उपपद्यते, वैदिक-प्रयोगदर्शनात्—'श्रद्धा वा आपः' इति। इससे श्रद्धाका अर्थ है जलांश।

जो गृहस्थी यज्ञादि नित्य-नैमित्तिक कर्मके अनुष्ठानमें लगे होते हैं, उनके अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें घी, दूध, दही आदि द्रव्योंमें जो जलांश होता है, वह आहुति देनेपर अपूर्व नामक संस्कार बनकर जीवके साथ स्वर्गादि-लोकमें जाता है; इस प्रकार पुत्रादि द्वारा पितरोंके उद्देश्यसे दिये जाते हुए खीर-पूड़ी आदिका जलांश भी वेदमें 'श्रद्धा' नामसे कहा जाता है; शरीर-त्याग हो जाने पर परलोकमें जाता हुआ जीव सूक्ष्म-शरीरकी भांति इन सूक्ष्म जलीय-अंशोंसे भी परिवेष्टित होता है। वही सूक्ष्म जलीय-अंश उस मृतक जीवकी तृप्तिका साधन होता है। देवता लोग जिस श्रद्धाकी आहुति देते हैं, वस यही अपनेसे किये हुए यज्ञादि, तथा पुत्रादिसे किये हुए श्राद्धादिमें उपयुक्त किये जाते हुए घी, दूध, दही आदि द्रव्योंका जलीय अंश ही होता है। इसीकी अग्निमें आहुति देने पर वह सूक्ष्म-रूपसे सूर्यकिरणोंके द्वारा अन्तरिक्षको प्राप्त होकर हमारेलिए वर्षा आदिका कारण बनता है; और पुत्र-द्वारा पितृके उद्देश्यसे ब्राह्मणरूप वैश्वानर-अग्निमें आहुत होकर वही सूक्ष्म जलांश सूक्ष्म-शरीरवाले पितरोंकी तृप्ति तथा मुक्तिमें सहायक बनता है। उसी स्निग्ध वस्तुओंके जलांशको वेदमें 'श्रद्धा' शब्दसे कहा जाता है—जैसे हम पूर्व कह चुके हैं।

पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्रके प्रकरण (३।१।२-३-४)में छान्दोग्य-उपनिषद्

के अनुसार जीवकी दो गतियां बताई गई हैं—एक उत्तरगति; दूसरी दक्षिण-गति। जो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी आदि वनमें श्रद्धासे तपस्या किया करते हैं; वे उत्तरगतिको प्राप्त होते हैं। वे सूर्य-किरणोंके द्वारा सूर्यलोकमें प्राप्त होकर वहांसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं, फिर वे इस लोकमें नहीं आते, अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इसी उत्तरगतिको भगवद्गीतामें 'शुक्लगति' कहा है, जैसे कि—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (८।२४)।

जो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी न रहकर विवाह करके यज्ञादियोंको किया करते हैं; वे यज्ञके धूमाभिमानी-देवताके द्वारा पितृलोकमें प्राप्त होकर वहांसे चन्द्रलोकमें जाते हैं। वहां अपने शुभ-कर्मोंका फल प्राप्त करके वहांसे नीचे इस लोकमें आते हैं, अर्थात् उनका पुनर्जन्म होता है। यही दक्षिण-गति है। इसीको भगवद्गीतामें 'कृष्णगति' कहा है। जैसे कि—'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी (कर्मयोगी) प्राप्य निवर्तते (८।२५)।

देवता तथा पितरोंको सूक्ष्म होनेसे स्थूल-भोजनकी आवश्यकता नहीं होती; किन्तु सूक्ष्म-भोजनकी आवश्यकता होती है। इसलिए वे यज्ञ तथा श्राद्धादिकी हविको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं, जैसे कि कहा है—'न वै देवाः अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छान्दोग्य ३।६।१)। तात्पर्य यह है कि वे उस स्थूल-हविसे सूक्ष्म-अंशको आकृष्ट कर लिया करते हैं। पितर भी देवविशेष

हैं। जैसे कि सांख्यकारिकामें लिखा है—'अष्टविकल्पो दैवः' (५३)। इन आठ विकल्पवाली देवसृष्टिमें पितृसर्ग भी अन्तर्भूत हो जाता है।

उनके सूक्ष्म होनेसे उनको तृप्त करनेवाला भी सूक्ष्मांश ही हुआ करता है। जैसे हमारा सूक्ष्म-आत्मा हमसे खाये हुए स्थूल भोजनके हमारे उदराग्नि द्वारा किये हुए सूक्ष्म-अंशको आकृष्ट करके उससे तृप्त होता है।

यह हम उत्तरगति तथा दक्षिणगतिका निरूपण कर चुके। इनमें दक्षिणगति जानेवाले पहले वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन नित्य-पितरोंकी श्रेणीको समाप्त किया करते हैं, फिर मरुत् और साध्य इन दो श्रेणियोंके पार करनेके बाद ब्रह्मरूप हो जाते हैं। उत्तरगतिसे जाने वालोंकी भांति यह आवृत्ति-(पुनर्जन्म-) रहित नहीं होते; बीच-बीचमें इनकी आवृत्ति–पुनर्जन्म भी हुआ करता है। कभी द्युलोकमें, कभी अन्तरिक्ष-लोकमें, कभी पृथिवी-लोकमें। इसलिए वेदमें इन पितरोंकेलिए स्वधा (श्राद्ध) देनेका विधान आया है; जैसे—'स्वधा (मृतकश्राद्धं) पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः' (अथर्व० १८।४।७८-७९-८०)। सो वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन श्रेणियों वाले पितरोंको पुत्रादिसे किये हुए श्राद्ध (पितृयज्ञ)की अपेक्षा हुआ करती है। इसलिए श्राद्धके समयके संकल्पमें 'वसुरूपाय पित्रे, रुद्ररूपाय पितामहाय, आदित्यरूपाय प्रपितामहाय स्वधा' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार मातामह आदि तीन पुरुषोंकेलिए भी कहा जाता है।

स्त्रियोंकेलिए 'गायत्रीस्वरूपिण्यै मात्रे, सावित्रीस्वरूपिण्यै पितामह्यै, सरस्वतीस्वरूपिण्यै प्रपितामह्यै स्वधा नमः' यह तीन पद आते हैं। पर जब यही पितर उक्त पाँच श्रेणियोंको उत्तीर्ण कर लिया करते हैं; तब पुत्र-द्वारा किये हुए श्राद्धकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए श्राद्ध भी तीन पीढ़ी तक होता है; उसके बलसे उन्हें तीन श्रेणियोंको पार करनेमें सहायता मिल जाती है, आगे उन्हें सहायताकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

वैदिक-साहित्यमें मनुष्य-शरीरको षाट्कौशिक—छः कोष वाला माना गया है। पिता, पितामह, प्रपितामह यह तीन पितृपक्षीय, और माता, पितामही, प्रपितामही—यह तीन मातृपक्षीय इन छहों कोषोंका ऋण मनुष्यके शरीरमें विद्यमान होता है। इस कारण मनुष्यको श्राद्ध एवं पिण्डदानादि भी इन्हीं छःकेलिए अपेक्षित होता है।

इस प्रकरणसे पाठकोंने यह स्पष्ट समझ लिया होगा कि जीव उत्तरगति तथा दक्षिणगतिसे परलोकमें जाता है। उनमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा परमहंस-संन्यासी तो उत्तरगतिको प्राप्त होते हैं, उनकी मुक्ति हो जाती है, उनकेलिए तो श्राद्धादि करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु गृहस्थी लोग दक्षिणगतिको प्राप्त करके पितरोंकी तीन श्रेणियों (वसु, रुद्र, आदित्य)को प्राप्त करते हैं। मृतकश्राद्ध-की आवश्यकता इन्हींकेलिए होती है। इनका आत्मा श्रद्धा नामक सूक्ष्म जलीयांशोंके साथ (जिसका निरूपण हम पूर्व कर चुके हैं) पितृलोकमें प्राप्त होता है। स्निग्ध-पदार्थोंके इसी जलीय-अंशको

वैदिक-साहित्यमें 'श्रद्धा' शब्दसे कहा जाता है—जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। इसी 'श्रद्धा' शब्दसे अण् प्रत्यय करने पर 'श्राद्ध' शब्द बनता है; उसका परलोक-गतोंसे सम्बन्ध है; इसलिए 'पितरः शुन्धध्वम्' कहकर स्वा० दयानन्दादि भी जो कि पृथिवीपर जल डलवाते हैं, और 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' कहकर जो दक्षिण-दिशाकी ओर पितरोंके नामसे अन्नभाग रखवाते हैं—यह सब परलोकगतोंकेलिए ही है; अतः श्राद्ध भी मृतकोंका ही सिद्ध है; जीवितोंसे इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। पर वेदादि-शास्त्रोंके पूर्णतया ज्ञान न होनेसे आजके सम्प्रदाय जीवित-श्राद्धका हल्ला मचाया करते हैं। इतना नहीं सोचते कि-हमारी एक जलकी बूंद पृथिवीपर डालनेपर तथा अन्नका एक ग्रास रखनेपर जीवित पितर क्या तृप्त होंगे? अथवा यदि वे वेदादिको कुछ जानते भी हैं; तो अपने एकदेशी-पक्षका दुराग्रह होनेसे वेद-मन्त्रोंका अर्दन-विमर्दन करके उन्हें जीवित-पितृपरक लगाते हैं। मृतकोंमें श्राद्धकी असंगति दिखाकर साधारण-बुद्धिवालोंको अपनी ओर खींच लिया करते हैं। वह समझते हैं कि हमारा पिता आदि मरा; तो नेस्तनाबूद हुआ; अर्थात् फिर उसकी सत्ता न रही। कोई परलोक आदि नहीं, जिसमें मृतककी फिर सत्ता रहे। पर वस्तुतः यह नास्तिकता-वाद है; सूक्ष्मदृष्टि वाले ही इन बातोंको समझ सकते हैं; स्थूलदृष्टि नहीं।

पञ्चाग्निविद्याके पहले कहे प्रकरणमें हमने छान्दोग्य-उपनिषत् की कण्डिकाको लिखा था—'तस्मिन्नेतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां

जुह्वति' सो यहाँ 'श्रद्धा' शब्दसे जलका तात्पर्य है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं परमहंस-संन्यासी तो सर्वथा मुक्त-स्वतन्त्र हो जाते हैं; उनको पुत्रादिके बन्धन वा सहायताकी आवश्यकता नहीं रहती। पर जिन्होंने नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यको नहीं लिया, वा परमहंस-संन्यासको अपनी असमर्थता-आदिवश स्वीकृत नहीं किया; वे स्वयं मुक्ति नहीं पा सकते; तब अपने नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यके भङ्ग करनेसे उत्पन्न हुआ-हुआ पुत्र ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनकी मुक्त्यर्थ श्राद्धमें दिये हुए पायसादि द्रव्योंके जलीय-अंशसे उन पितरोंको उक्त तीन श्रेणियोंमें उत्तीर्ण करनेमें सहायता दिया करता है—यही मृतक-श्राद्धका विज्ञान है, जिसे न जानकर प्रतिपक्षि-गण उसका विरोध करते हैं। वह समझते हैं कि एक दिनके श्राद्धसे ब्राह्मण हमारी सम्पूर्ण सम्पत्तिको हड़प कर लेते हैं; और वे कहते हैं कि—उनको श्राद्ध मत खिलाओ; क्या उनका पेट लैटरबक्स है, जो कि उनका खाया पितरोंको पहुँचता है—इत्यादि;यह सब वेदादि-शास्त्रोंके अज्ञानका फल है। अस्तु।

अब उसी छान्दोग्योपनिषत्-प्रोक्त पञ्चाग्नि-विद्यापर आइये। पुत्रादिसे दिये हुए श्राद्धीय-पदार्थोंके सूक्ष्म-जलांशसे राजा सोम बनाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यकिरणोंसे आकृष्ट श्राद्धीय-पदार्थोंके जलांशसे चन्द्रमाकी किरणें जलप्रधान हो जाती हैं। यह है प्रथम अग्निकी बात। फिर छान्दोग्योपनिषद् (५।५) के अनुसार दूसरी अग्नि पर्जन्याभिमानिनी-देवता होती है। इस अग्निमें देवता पहले उत्पन्न हो चुके हुए सोमकी आहुति देते हैं। इससे वृष्टि होती है। तीसरी अग्नि है पृथिवी। उसमें पहले हुई वृष्टिकी

आहुति दी जाती है, इससे अन्न उत्पन्न होता है। चतुर्थ अग्नि है पुरुष, उसमें पूर्व उत्पन्न हुए अन्नकी आहुति दी जाती है; उससे वीर्य उत्पन्न होता है। पञ्चम अग्नि होती है स्त्री; उसमें पूर्व उत्पन्न हो चुके हुए वीर्यकी आहुति दी जाती है। उससे पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार सूर्य-किरणोंसे आकृष्ट, और देवगण-द्वारा हुत जलके यथाक्रम-परिवर्तनमें पांचवीं आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है। यही छान्दोग्यमें कहा है—'इति तु पंचम्यामाहुतौ आपः पुरुष-वचसो भवन्ति' (५।९।१)।

इससे स्पष्ट है कि—जलीय-अंशसे सूक्ष्म-आत्मा उस-उस स्थानमें प्राप्त हो जाता है। पूर्व-अग्निमें आहुति देनेसे जो वस्तु उत्पन्न होती है; वही अगली अग्निमें हुत की जाती है। इस प्रकार पंचम-आहुतिका परिणाम पुरुष होता है। अर्थात् पहले द्युलोकाग्नि (सूर्य)में श्रद्धा-जलकी आहुतिसे सोमकी उत्पत्ति हुई, उसकी आहुति पर्जन्याग्नि (विद्युत)में देनेसे वृष्टि हुई। वृष्टिकी पृथिव्यग्निमें आहुति होनेसे अन्न उत्पन्न हुआ। अन्नकी आहुतिके पुरुषाग्नि (उदर)में हुत होनेसे वीर्य उत्पन्न हुआ। वीर्यकी स्त्री-अग्नि (गर्भाशय)में आहुतिसे पुत्रोत्पत्ति हुई। यही जीवकी जन्मान्तरकी कथा है।

ब्रह्मसूत्रके पूर्व कहे हुए इस वर्णनसे स्पष्ट है कि—एक शरीरको छोड़कर परलोकमें जाते हुए जीवके सूक्ष्म-शरीरके साथ वही श्रद्धारूप-जल सूक्ष्मतासे जाता है। श्राद्धमें दिये हुए जल, पिण्ड, खीर, घी आदिका श्रद्धारूप-जल परलोकमें गये हुए वा जा रहे हुए

जीवका उपकार करता है, उसके सूक्ष्म-शरीरको आप्यायित करता है, जिससे उसकी सद्‌गति होती है। इसीके साथ वह मृतकका सूक्ष्म-शरीर सूर्य-किरणोंके साथ द्युलोकमें जाता है। फिर उस द्युलोकसे चन्द्रलोकमें, फिर चन्द्रलोकसे अन्तरिक्ष-लोकमें मेघोंमें, फिर मेघोंसे पृथिवीलोकमें अन्नमें; फिर अन्नसे वीर्यमें; फिर वीर्यसे वह सूक्ष्मशरीर-सहित जीव गर्भमें आता है। दक्षिण-गतिवाले गृहस्थोंका यही गतिक्रम होता है। अन्नमें प्राप्त होनेके बाद वह जीव अपने पूर्व-कर्मोंके अनुसार स्थावर, जङ्गम आदि उत्तम, मध्यम, अधम योनियोंमें जाता है।

यह पूर्व कहा जा चुका है कि—श्राद्ध या पिण्डदान आदिकी अपेक्षा इन्हीं दक्षिणगतिवाले जीवों को होती है। श्राद्धका दूसरा नाम पितृयज्ञ होता है। देवताओंकेलिए देय-वस्तुका नाम हव्य, और पितरोंकेलिए देय-वस्तुका नाम 'कव्य' होता है। देवयज्ञके कार्य प्रातः-कालसे मध्याह्न तक पूर्व वा उत्तरकी ओर मुख करके किये जाते हैं; पर पितृयज्ञके कर्म मध्याह्नके बाद अपराह्णमें दक्षिणकी ओर मुख-करके किये जाते हैं। देवकृत्यमें यज्ञोपवीतको बाएं कन्धेपर रखना पड़ता है, और पितृयज्ञ-श्राद्धादिमें उपवीतको दक्षिण कन्धेपर रखा जाता है। प्रातःकालसे मध्याह्न तक सूर्य पूर्वोत्तर दिशामें रहता है, और उसकी किरणें दक्षिण एवं पश्चिमकी ओर नत होती हैं; और पूर्वोत्तराभिमुख उन्नत। मध्याह्नके बाद यह क्रम बदल जाता है। तब सूर्य दक्षिण-दिशामें प्राप्त होता है, और उसकी किरणें उत्तराभिमुख नत होती हैं, और दक्षिणाभिमुख

उन्नत।

पृथिवीसे सूर्य-किरणोंसे आकृष्ट हुआ द्रवद्रव्य—(रस, श्रद्धारूप जल) उसी दिशामें जाता है। यही कारण है कि—जो हमारे पूर्वज उत्तरगतिसे देवत्वको प्राप्त हुए; उनके यज्ञ पूर्वाह्णमें करने पड़ते हैं, जब सूर्यकी किरणें भी उत्तराभिमुख उन्नत हों; अर्थात् उनकी आकर्षण-शक्तिसे खिंची हुई वस्तु उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर जा सके; तब जनेऊको भी उत्तर (वाएं) कन्धेमें रखा जाता है। इसप्रकार पितृलोक-जिसकी स्थिति दक्षिण-दिशाकी ओर है—उससे सम्बद्ध श्राद्धादि-कर्म भी मध्याह्नके बाद होते हैं; जब सूर्यकी किरणें दक्षिणाभिमुख उन्नत हों। पितृलोककी स्थिति दक्षिणमें होनेसे पहले कही हुई दक्षिण-गतिसे परलोक जानेवाले इधरसे ही जाते हैं; इसीलिए श्राद्ध आदि भी तभी होते हैं; जब पृथिवीसे सूक्ष्म श्रद्धाजलकी आकर्षक सूर्य-किरणें भी दक्षिणाभिमुख उन्नत हों। तब यज्ञोपवीतको भी दाहिने कन्धेपर एवं दक्षिणाभिमुख उन्नत किया जाता है। शारीरिक एवं मानसिक शक्तियोंको दक्षिणाभिमुख उन्मुख करनेकेलिए, उन्हें सूर्य-किरणोंके साथ एक-दिशामें प्रेरित करनेकेलिए वैदिकविधि-अनुसार अविगुण कर्म द्वारा पितृयज्ञके विशुद्ध अपूर्व-संस्कारको उत्पन्न करनेकेलिए, और उसे दक्षिण-दिशामें स्थित पितृलोकके पितरों तक अविकल रूपसे पहुँचानेकेलिए पितृकर्मके समय यज्ञोपवीतका दाहिने कन्धेपर करना आवश्यक है।

जैसे 'बेतारका तार' भेजनेके समय एक स्थानमें ठहरी

हुई विद्युद्-धाराको स्थानान्तर पर ठीक पहुँचानेकेलिए बिजलीके खम्भोंका एक-दूसरेकी सीधपर रखना आवश्यक होता है, वैसे ही देवलोक एवं पितृलोकके कार्योंमें भी सूर्य-किरणोंके साथ ही शारीरिक एवं मानसिक शक्तियोंका एक-सीधमें होना आवश्यक है। जैसे 'बेतारका तार' भेजनेमें प्रत्यक्ष रूपसे बिजली नहीं दीखती, न कोई विकार ही मालूम होता है; तथापि उसका प्रभाव उस स्थानमें ही होता है, जहांके खम्भेसे उसका एकमुखीभाव है; इस प्रकार विशुद्ध स्वर-वर्ण द्वारा उच्चारण किये हुए वैदिक-मन्त्रोंसे उत्पन्न हुई शक्ति हव्य (देवनिमित्तक-पदार्थ) कव्य (मृतपितृनिमित्तक-पदार्थ) के सूक्ष्म जलीय-अंशोंको सूर्य-किरण-द्वारा, अप्रत्यक्षतामें भी इष्ट देवताओं तथा पितरोंके पास पहुँचा दिया करती है। जनेऊ का दक्षिण वा उत्तर-दिशाके कन्धे पर उन्नत करना उस कर्मका सहायक-अङ्ग होता है।

पितृकार्य अमावास्या-आदि नियत-समयपर किया जाता है; इस कारण यज्ञोपवीतको दक्षिण—दाहिने कन्धे पर भी तभी करना पड़ता है। परन्तु दैवी-सम्पत्तिका सञ्चय हमें सदा ही अपेक्षित होता है; अतः उत्तर—वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत भी हमें सदा ही रखना पड़ता है—यही श्राद्ध-आदिमें यज्ञोपवीत आदि परिवर्तनका रहस्य हुआ करता है।

(६) मृतकश्राद्ध-विज्ञान

[गत निबन्ध वेदादि-शास्त्रोंके ज्ञाता तथा विज्ञानका ज्ञान रखनेवालोंकेलिए उपयोगी था; अब हम 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष

इस विषयमें एक आर्यसमाजी विद्वान्का विचार रखते हैं। यह श्रीरघुनन्दनशर्माकी अपनी बनाई हुई विशालकाय 'वैदिक-सम्पत्ति' के ३७१-३७२ पृष्ठसे उद्धृत किया जाता है। इससे श्राद्ध पर शङ्कित-दृष्टि डालनेवाले आर्यसमाजियोंको मृतक-श्राद्धकी सोपपत्तिकता वा समूलता प्रतीत हो जावेगी। यह विवेचना सुगम होगी]

मनुष्य पुत्र उत्पन्न करके ही पितृ-ऋणसे उऋण होता है, इसलिए पुत्रकाम मनुष्य पितृपिण्डयज्ञके द्वारा अपने पितरोंको हविष्यान्नमें आकर्षित करके वह हवि स्त्रीको खानेकेलिए देवे। किन्तु प्रश्न यह है कि चान्द्रलोकोंसे जीवोंको किस प्रकार खींचा जावे? जीवोंके खींचनेका यही तरीका है—जो सूर्यकान्तमणिके द्वारा सूर्यतापके खींचनेमें और चन्द्रकान्तमणिके द्वारा चान्द्रजलके खींचनेमें प्रयुक्त किया जाता है।

जिस प्रकार चन्द्रकान्तके प्रयोगसे चान्द्रजलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चान्द्र-पदार्थोंको एकत्रित करनेसे चान्द्रवीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्रवीर्यमें ही जीव रहते हैं, इसलिए उन पदार्थोंमें खिंच आते हैं, जो चन्द्राकर्षणकेलिये विधिसे एकत्रित किये जाते हैं। वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र, कुश और जल हैं। यह प्रक्रिया शरत्पूर्णिमाके दिन लोग करते हैं; परन्तु विधिपूर्वक क्रिया तो पितृश्राद्धके ही समय होती है। पितृश्राद्ध अपराह्णके समय होता है। उसमें घृत, दूध, मधु, कुश आदि सभी पदार्थ रखे जाते हैं। पितरोंका प्रतिनिधि पुत्र अथवा पौत्र भी उन

पदार्थोंको छूता हुआ वहीं पर बैठता है। इसलिए यह सब हवि-आदि सामग्री उसी प्रकारका यन्त्र बन जाती है, जिस प्रकार चन्द्रमणि। इसीमें पितर खिंचकर आते हैं। 'परायात पितरः सोम्यासः' (अथर्व० १८।४।६३) और हविः-पिण्ड सूंघने अथवा खानेसे वीर्य और गर्भमें आते हैं।

शतपथ-ब्राह्मण (१४।४।२।२६) में लिखा है—जो प्रजाकी इच्छा रखता हो, वह पितृयज्ञ करे। यजुर्वेद (२।२३) में लिखा है—'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्' इस पुरुषकी तरहके आकाशस्थ कुमार-पितर गर्भ धारण करते हैं। गृह्यसूत्रमें इसी मन्त्रकेलिए लिखा है—इस 'आधत्त' मन्त्रको कहकर बीचके पिण्डको पत्नी खा लेवे। यही बात मनुस्मृतिमें भी लिखी है—'पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी। आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्। धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा' (३।२६२-२६३) अर्थात् पितृपूजनमें रत, पुत्रकी इच्छा रखनेवाली, पतिव्रता-स्त्री बीचका पिण्ड खावे—इस प्रकार पुत्रेष्टियज्ञकी क्रिया पितृपिण्ड-श्राद्धके अन्दर घुसी हुई पाई जाती है।'

[यह सब मृतकश्राद्धमें ही घटता है, नहीं तो (यजु० २।२३) मन्त्रसे पुत्र क्या जीवित-पिता से प्रार्थना करेगा कि मेरा पुत्र उत्पन्न करो; तब क्या जीवित पिता ही पुत्रकी स्त्रीमें गर्भ धारण करेगा? तब क्या वह नहीं कहेगा कि तुम यदि नपुंसक थे तो विवाह ही क्यों किया था? पर मृतपितृश्राद्धमें तो ऐसी कोई अनुपपत्ति नहीं

होती। जो कि हमारी पत्नीको प्रजा होती है, उसमें पितरों और देवोंकी सहायता ही होती है। इसलिए स्वामी दयानन्दजी भी विवाह-संस्कारमें यह मन्त्र स्त्रीकी प्रजाकी प्राप्तिकेलिए पढ़वाते हैं—'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रा-वरुणा भगो अश्विनो-भा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अथर्व० १४।१।५४) यहां सोमसे चन्द्रमा तथा चन्द्रलोकसे चन्द्रलोकस्थ पितर भी गृहीत हो जाते हैं। शेष देवता हैं। यदि आर्यसमाजी इस विषयपर निष्पक्ष होकर विचार करें, तो वे भी मृतकश्राद्धको सिद्धान्तित कर लें। वैसे तो वे भी मृतक-श्राद्ध कर ही रहे हैं; जितने डी० ए० वी० कालेज, गुरुकुल, आदि दयानन्दके नामकी संस्थायें हैं, वे सब मृतकश्राद्ध हैं। मृतकके नामसे जो कुछ भी विद्या, वा अन्न आदि दान दिया जाय; वह सब मृतक-श्राद्ध हैं। आर्यसमाजके उत्सवोंमें 'ऋषिलंगर' भी हुआ करता है, ऋषिसे 'स्वामी दयानन्द' आर्यसमाजोंको इष्ट हैं; तब उनके नामसे उत्सवोंमें आये विद्वानों वा अभ्यागतोंको खीर आदि अन्न खिलाना मृतक-श्राद्ध ही तो है। इससे मृतक-दयानन्दकी आत्मा तृप्त होगी, प्रसन्न होगी। दीपमाला आदिके दिन स्वा० दयानन्दकेलिए हवन आदि करना, स्वा० दयानन्दके नाम अपनी पुस्तकोंको समर्पण करना, (जैसे देखो—चन्द्रमणि पालीरत्नकी टीकावाले 'निरुक्त'का 'समर्पण') गुरुकुल आदिमें अपने मरे हुए पिताके नामसे कमरा बनवाना—यह सब मृतक-श्राद्धके ही प्रकार हैं। वैध-मृतकश्राद्ध मान लेनेसे सब अनुपपत्तियाँ दूर होंगी]।

(७) मृतकश्राद्ध-विज्ञान।

[अब मृतकश्राद्ध-विषयमें सुगम तथा प्रमाणित विज्ञान 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है; पाठकगण इसका भी मनन करें; इससे भी उन्हें मृतक-श्राद्धकी विज्ञानपूर्णता प्रतीत होगी]।

हमारे शास्त्रोंमें लिखा है—'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। तावान् जीवः स विज्ञेयः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो हि सः।' अर्थात् एक वालके अग्रभागके सौ टुकड़े किये जावें; उसका भी सौवाँ भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, आत्मा भी उतना सूक्ष्म है। इस प्रकार सूक्ष्म-परमाणुस्वरूप आत्मा शरीर-त्यागके बाद सूर्य-किरणोंकी आकर्षण-शक्तिके द्वारा सूर्यमण्डलकी ओर जाता है। उसमें दो मार्ग हैं। एक अनावृत्तिमार्ग, दूसरा पुनरावृत्तिमार्ग। जो प्राणी ज्ञान, भक्तियोग एवं अनासक्ति-कर्मयोगके द्वारा कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, वह मुक्तात्मा तो मुक्तिलोकमें जाता है, जिसका मार्ग सूर्यलोकके भीतरसे है। वह वहाँ पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म)से छूट जाता है। उससे नीचे नहीं गिरता। पुनरावृत्ति उन प्राणियों की होती है; जिन्होंने सत्-काम्ययज्ञ-आदि कर्म द्वारा पुण्य वा निषिद्ध असत्-कर्म आदि द्वारा अहम्भाव आश्रित करके पापका सञ्चय किया है। तब सुकर्मफल-भोगकेलिए उनका आत्मा रश्मियों द्वारा बिना रोक-टोक चन्द्रलोकमें जाता है। चन्द्रमण्डलमें जाकर सभी आत्मा पितृलोकके पितर कहाते हैं। चन्द्रलोकके एक विशेष द्वीपका नाम 'पितृलोक' है।

ज्योतिष-द्वारा यह सिद्ध ही है कि चन्द्रलोक अन्य उपग्रहोंकी अपेक्षा पृथिवीके अधिक समीप है। जैसे पृथिवीमें महासागरके मध्यमें रहने वाले किसी महाद्वीपके पासका उपद्वीप महाद्वीपके स्वभावको प्रायः धारण करता है। जैसेकि-एशिया-महाद्वीपके पासकी लङ्का उपद्वीप है, वैसे ही आकाशकक्षाके मध्यवर्ती भूमण्डलके सम्बन्धसे चन्द्रमण्डल भी इस भूगोलके स्वभावको धारण करता है। जैसे इस भूगोलमें जल आदि होने पर भी मिट्टीका भाग अधिक होनेसे पृथिवी मट्टीकी कही जाती है; वैसे ही चन्द्रमण्डलमें भी जलभाग अधिक और मृत्तिका आदिके न्यून-मात्रामें होनेसे चन्द्रमण्डलको भी जलमय कहा जाता है। चन्द्रमण्डलका ऊपरी भाग ही पितृलोक होता है। जैसेकि-'सिद्धान्त-शिरोमणि' गोलाध्याय त्रिप्रश्नवासनाके १३वें पद्यमें कहा है—'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति'।

चन्द्रमण्डलका आगेका भाग इस भूगोलके निवासियोंको दीखता है, पर उसका पृष्ठभाग नहीं दीखता। इसी अदृश्य-भागका नाम 'पितृलोक' है। जैसे पृथिवीमें सूर्य-दर्शन ही दिनका कारण होता है, वैसे ही चन्द्रलोकमें भी सूर्य ही दिन-रातका कारण होता है। इस कारण 'सिद्धान्तशिरोमणि'में कहा है—'कुपृष्ठगानां द्युनिशं यथा नृणां तथा पितॄणां शशिपृष्ठगानाम्' ('गोलाध्याय त्रिप्रश्नवासना १०वां श्लोक)। इस पृथिवीमें जैसे २४ घंटोंका दिन-रात होता है, वैसे चन्द्रलोकके पितृलोकमें भी हमारे एक महीनेमें ही पितृलोक वालोंका दिन-रातका चक्र पूर्ण होता है। यह हम

'आलोक'के चतुर्थ-पुष्पमें 'पितरोंका समय-विभाग'में लिख चुके हैं। कृष्णपक्षकी अष्टमीसे शुक्लपक्षकी अष्टमी तक पितरोंका दिन होता है, और शुक्लाष्टमीसे कृष्णाष्टमी तक पितरोंकी रात्रि होती है। अमावास्यामें पितरोंका मध्याह्न, और पूर्णिमामें उनकी आधी रात होती है। यह भी इस 'पितरोंकी घड़ीमें टाईम' लेखमें गत चतुर्थ-पुष्पमें दिखला चुके हैं।

पितर दो प्रकारके होते हैं। एक स्थायी और दूसरे अस्थायी। स्थायी पितर वसु, रुद्र, आदित्य, अर्यमा, विश्वेदेव, अग्निष्वात्त आदि होते हैं। यह श्राद्धदेव कहे जाते हैं। इन्हींके द्वारा यहांसे मरे हुए जीवोंकी प्रत्येक व्यवस्था हुआ करती है। परमात्म-रूप गवर्नमेण्टके उक्त-विभाग का प्रबन्ध इन्हींके हाथों सौंपा गया है। श्राद्धसे तृप्त हुए यही श्राद्धकर्ताको आयु, प्रजा, धन, स्वर्ग आदि देते हैं। इस प्रकार मृतकोंका जीव जहाँ भी होता है, चाहे स्वकर्मानुसार द्युलोकमें, अथवा अन्तरिक्षमें, अथवा पृथिवीलोकमें; वहीं स्थायी पितर अपनी दिव्य-शक्तिके बलसे उनको फल प्राप्त कराते हैं।

जैसे सूर्य अपनी दिव्य-शक्तिके बलसे जल बरसाकर मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, आदि सभी पृथिवीलोकके प्राणियोंको जहाँ-तहाँ सुखी करता है, वैसे ही अपनी अदृष्ट-दिव्यशक्तिके द्वारा वसु, रुद्र, आदित्य आदि नित्य पितर हमारे यहांसे मरकर गये हुए पिता, पितामह, प्रपितामह आदियोंके पास हमसे ब्राह्मणादिको दिये वा खिलाये श्राद्धके सूक्ष्मान्नको भिजवाकर उन्हें यत्र-तत्र सुखी करते हैं।

पृथिवीलोकमें, अथवा अन्तरिक्ष वा स्वर्गलोकमें मृत-पितर स्वकर्मानुसार जहाँ भी जन्म लिये होते हैं, वहाँ पर 'स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः' (अथर्व० १८।४।७८-७९-८०) इन मन्त्रों-द्वारा श्राद्धके पदार्थोंका सूक्ष्म-अन्न वे स्थायी पितर उन्हें वहाँ पहुँचा देते हैं।

अस्थायी पितर वे कहे जाते हैं, जो सूक्ष्म परमाणुस्वरूप यहांसे मर कर गये हुए आत्मा नियत-कालकेलिए पितृलोकमें प्राप्त हुआ करते हैं। जैसे देवता पुण्य समाप्त हो जाने पर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१) मनुष्यलोकमें जन्म लेते हैं, वैसे ही अस्थायी पितर भी पुण्य-समाप्तिवश फिर भूलोकमें क्रमसे जन्म लेते हैं। नियत-समयके बाद सूक्ष्म-जीव पितृलोक-चन्द्रमण्डलसे वायुमण्डलमें, फिर मेघमण्डलमें प्राप्त होकर ओससे मिलता है। फिर पृथिवीके अन्न-शाक आदि पदार्थोंमें प्राप्त होकर उस भोजनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें आता है, और वीर्य-द्वारा स्त्रीके गर्भाशयमें प्रवेश करता है। तब कर्मानुसार पशु, पक्षी, वृक्ष आदि योनियोंके शरीरोंको धारण करता है। उसको वह नित्य-पितरों द्वारा प्राप्त सूक्ष्म अन्न भी अपनी-अपनी योनिके अनुसार ही मिलता है; यह नहीं कि—यदि उसके निमित्त खीर दी गई है; तो आगे भी खीर मिले। यदि वह कारणवश किसी पशु आदि योनिमें गया है; उसे उसके अनुसार यह अन्न तृण आदि रूपमें प्राप्त होता है। जैसे कि मनीआर्डर द्वारा भेजा हुआ रुपया वह तो इसी पोस्टआफिसमें जमा होता है; दूसरे पोस्ट-

आफिसमें उसका आर्डर भेजा जाता है; वहीं यदि वह भारतमें है; तो उसे रुपये आदिमें मिलता है। यदि अमेरिकामें है; तो सेंट आदि रूपमें; इङ्गलैंड आदिमें है, तो उसे पौण्ड-शिलिंग आदिरूपमें मिलता है।

जैसे मनुष्योंका भोजनकाल मुख्यतासे मध्याह्न होता है, वैसे ही पितरोंका भी मुख्य भोजनकाल अमावस्या हुआ करता है; क्योंकि—अमावस्या वाले दिन चन्द्रमण्डल सूर्यमण्डलके नीचे होनेसे उसमें मध्याह्न हुआ करता है*। इसलिए प्रत्येक-अमावास्यामें श्राद्ध-विधान शास्त्रीय है। और पार्वण-श्राद्धकेलिए आश्विन-मासका कृष्णपक्ष जबकि सूर्य कन्या-राशिमें होता है—श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि—तब सूर्य दक्षिणायनमें होता है; और उसकी किरणें पृथिवीलोकमें निकटतावश सरल-रेखासे पड़ती हैं। पृथिवीके पितरोंके उद्देश्यवाले पदार्थ सूर्य-किरणें दक्षिणा-भिमुख ऊपर आकर्षित कर लेती हैं। जैसे बैट्री यदि उत्तम हो, तो तारका कार्य प्रबलतासे होता है। वैसे ही सूर्य-किरणोंकी आकर्षण-शक्तिकी सहायतासे पितृलोकके अधिकारी पितृगण भी अपने कार्यको उत्तमतासे कर सकते हैं। इसीलिए 'सूर्यसिद्धान्त'में कहा है—'ततः शेषाणि कन्याया यान्यहानि तु षोडश। क्रतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां दत्तमक्षयम्' (१४।६) यहां सूर्यके कन्याराशिमें होनेपर सोलह दिन (भाद्रकी पूर्णिमा, और आश्विनके कृष्णपक्षकी

* इस विषयमें पितरोंका टाइमटेबल देखनेकेलिए 'श्रीसनातन-धर्मालोक'का चतुर्थ-पुष्प मंगाइये। मूल्य ४।)

अमावास्या तक पन्द्रह दिन) पितरोंको दिये हुए श्राद्धका उत्तम फल कहा गया है।

जैसे मातासे खाये हुए अन्नको गर्भका बालक प्राप्त कर लेता है; वैसे ही तर्पण, निवाप आदि द्वारा दिये हुए जल, तिल, यव आदियोंका सारभाग विश्वगर्भ भगवान्-सूर्यके किरणोंके द्वारा वैदिक दिव्यशक्तिके बलसे पितृलोकमें सोमरूप होकर प्राप्त होता है। इसी रूपसे ब्राह्मण-भुक्त अन्न भी मन्त्र-शक्तिसे उनमें प्रविष्ट पितरोंको प्राप्त हो जाता है। इसमें यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'यदि ब्राह्मणने पहले खाया, पितरोंने उसका अन्न पीछे खाया, तो ब्राह्मणका जूठा खाया; अथवा यदि पितरोंने पहले खाया; ब्राह्मणने पीछे खाया; तो ब्राह्मणने पितरोंका जूठा खाया'। वह अन्न जब सूक्ष्म हो जाता है; तो सूक्ष्मतामें जूठापन वा अशुद्धि नहीं मानी जाती। फिर इस वैदिक-कर्ममें मन्त्र-शक्तिसे उच्छिष्टता नहीं मानी जाती। मधुमक्षिकाएं पुष्पकी सूक्ष्म-रस पीकर अपने छत्ते में उगल देती हैं, बछड़ा पहले गायके स्तनमें मुंह मारता है, पहले दूध पीता है, पीछे हम पीते हैं। जैसे एतदादि-स्थलमें उच्छिष्टता नहीं मानी जाती; वैसे ही श्राद्ध-विषयमें भी समझना चाहिये।

कथञ्चित् यहां उच्छिष्टता मानी भी जावे; तो पितरोंका जूठन ब्राह्मणने खाया हो, इसमें ब्राह्मणको दोष नहीं लग सकता, क्योंकि पितर सूक्ष्म होते हैं; और मनुष्यसे उच्चयोनि वाले होते हैं। शेष रही ब्राह्मणके खाये हुएकी पितरोंकेलिए उच्छिष्टता; उसपर भी

सूक्ष्मता उसकी उच्छिष्टता नहीं रहने देती; क्योंकि जैसे भोजन हमारी इन्द्रियां पहले खा लेती हैं; हमारी जठराग्नि उसे सूक्ष्म करके शुद्ध कर लेती है; वही सूक्ष्मभाग हमारे आत्माको मिलता है, जिससे वह तृप्त होता है। इसमें यह नहीं कहा जाता कि—इन्द्रियोंका जूठा आत्माने खाया; वैसे पितरोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये। ब्राह्मणने खाया तो वह एक श्रेष्ठ योनिका माना जाता है, 'गुरोरुच्छिष्ट-भोजनम्'का व्यवहार स्मृतियोंमें भी इसी ब्राह्मणकी उच्च-योनिके कारण रखा गया है। दूसरा फिर उसमें रहनेवाली अग्नि उसे सूक्ष्म करके फिल्टरके तरीकेसे उसे शुद्ध करती है; फिर वह सूक्ष्म होकर महाग्निके साथ मिलती है; महाग्नि उसे और भी शुद्ध करती है। फिर उस महाग्निका आकर्षण करता है सूर्य, वह उसको और भी शुद्ध करता है; फिर उसको चन्द्र आकृष्ट करता है, फिर उसकी और भी शुद्धि और अमृतमयता हो जाती है; अब बताइये कि जूठनकी अशुद्धि कहां रही? इसका प्रबल-प्रमाण भी देख लीजिये। सूर्य पृथिवीके सब पदार्थोंका आकर्षण करता है। पृथिवीमें मल भी पड़ता है, मूत्र भी पड़ता है, बलगम भी पड़ता है। सूर्य इनके रसका भी तो आकर्षण करता है। सूर्यमें ऐसी शक्ति है कि-वह इन रसोंको भी फिल्टर कर दिया करता है, वही रस फिर आकाशमें जमा करके हमपर वर्षा-कालमें बरसाता है। आप उसे सहर्ष ग्रहण करते हैं; आप क्या यह मानते हैं कि—सूर्य हम पर मल-मूत्र-बलगमका रस भी डालकर हमें अशुद्ध कर रहा है? गाय चारा खाती है; उसीका अन्दर रस

बनता है, और रससे दूध; उस दूधको आप पीते हैं; क्या यह गायका आप जूठन पीते हैं? वस्तुतः अग्नि, महाग्नि, सूर्याग्नि इनमें यही विशेषता है कि—यह सर्वथा अशुद्ध वस्तुओंको भी शुद्ध कर दिया करते हैं; तो उच्छिष्टका तो भला क्या कहना; अतः यहां इस विषयमें उच्छिष्टता-जूठनका दोष नहीं दिया जा सकता। अस्तु।

यह श्राद्धीय-शक्ति ऋषियोंने हजारों वर्ष साधे हुए तपस्या, योग आदिके बलके द्वारा प्राप्त की है। इसका कोई भी शास्त्रज्ञ विद्वान् खण्डन नहीं कर सकता। जो पितर पितृलोकमें न होनेसे वैसी शक्ति नहीं रखते कि—सूक्ष्मरूप बनकर श्राद्ध खाते हुए-ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रवेश कर सकें; किन्तु वे किसी मनुष्यादिके स्थूल-शरीरकी योनिको प्राप्त कर चुके हों; तब हमसे दिये हुए श्राद्धके अन्नको स्थायी सूक्ष्म-पितर वसु, रुद्र, आदित्य ही आकृष्ट करके उन स्थूल-योनिवाले पितरोंको सौंप दिया करते हैं।—इस प्रकार मृतक-श्राद्ध रहस्यपूर्ण तथा सोपपत्तिक, और विज्ञानपूर्ण सिद्ध हुआ।

पितृपक्ष-पर्वके प्रवृत्त होनेसे हमने इसमें श्राद्ध-विज्ञानके छः प्रकार बताये हैं—पाठक इनका ठीक-ठीक मनन करके इस श्राद्ध-विषयकी समूलता जान लेंगे—यह हमारा दृढ-विश्वास है। श्राद्ध-विषयपर वेदादि-शास्त्रोंकी साक्षी, तथा श्राद्धपर किये जानेवाले शङ्का-प्रवाहका उत्तर हम भिन्न-पुष्पोंमें देंगे।

(८) विजयदशमीका महत्त्व एवं विजयका रहस्य।

यह विजय-दशमीका दिन है। इसीदिन भारतके हृदयके सम्राट् भगवान्-श्रीरामचन्द्रने राक्षसराज दशमुख-रावणकी विजयार्थ यात्रा शुरू की थी, और विजय प्राप्त की थी। यही दिन भारतमें अत्याचारी वैदेशिक-राजाका दमनकारी होनेसे भारतकेलिए महत्त्वपूर्ण है। यह दिन आर्योंका अनार्यों पर आक्रमणका कहा जाता है; अथवा पुण्यका पापपर आक्रमणका दिन है यह। यह भारतके महोत्सवका दिन है। यही दिन हमें स्मरण कराता है कि भारतीय एक भी स्त्रीको यदि कोई विदेशी राजा कुविचारके संकल्पसे ले जाता है; जब तक उसे ससम्मान तथा अखण्डित रूपसे वापिस नहीं लौटाया जाता; तब तक विश्राम नहीं करना चाहिये। वैसे अत्याचारीको इस प्रकार मूलसे उखाड़ दो कि भविष्यमें फिर किसी भी वैदेशिकको भारतीय-महिलापर कुदृष्टि करनेका संकल्प ही न हो।

इसके अतिरिक्त जो वैदेशिक, ऋषि-मुनि वा तपस्वियों पर अत्याचार करता है, अथवा जो भारतीय-धनको इकट्ठा करके समुद्र-पार विदेशमें ले जाता है; वह भारतका अहितकारक है। उसे इस प्रकार दण्डसे ठीक करो कि—आगे कोई विदेशी भारतके प्रति कुदृष्टि कर ही न सके—यह भारतीय-क्षत्रियोंका कर्तव्य है—यह आजका दिन सिखला रहा है। वह यह भी समझाता है—'न्याय-मार्गमें चलने पर पशु-पक्षी भी आपके सहायक होंगे। जैसे कि कहा गया है—'यान्ति न्याय-प्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम्। अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोपि विमुञ्चति'।

यह विजयाका दिन भी है; सब देवोंने मिलकर शक्तिदेवीको उत्पन्न किया था; जिसका दूसरा नाम विजया था; उसने भारतीय नारियोंके अपमानकर्ता महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ आदिका वध करके दिखला दिया कि—भारतमाताके अहितकारकोंकी यही दशा हुआ करती है। इन्हीं दिनों सरस्वती-विसर्जन वा सरस्वती-अवकाश करके दिखलाया जाता है कि यह विजय-यात्राका समय है। इस समयमें सभीको विद्या-पठन-पाठनको भी स्थगित करके शक्तिका सञ्चय करना चाहिये, और स्वदेशके विजयार्थ विचार करना चाहिये। दुर्दान्त, भारत-देशको ग्रस्त किये हुए, युद्धोन्मत्त, जातियोंके विषमय-दाँत तोड़ देने चाहियें; उनकी विषैली-पूंछको काट लेना चाहिये।

यह समय होता है वृष्टिकी समाप्तिका। ऐसा ही समय छः मासके बाद चैत्रमासके शुक्लपक्षमें आता है। वह हिमपातकी समाप्तिका सूचक होता है। उसमें रामका जन्म होता है, और इसमें रामकी विजययात्रा होती है। यह नवरात्र शक्तिकी उपासना के होते हैं। शक्तिकी उपासनासे ही युद्धमें दुर्मद महिषासुर-आदिकी शक्तिका विनाश होता है। दैवी-शक्ति आसुरी-शक्तिको शान्त करती है। इस समय न तो हिमकी प्रतिबन्धकता होती है, न ही गर्मी वा वर्षाका प्रतिरोध ही होता है। तो शत्रु अनायास ही जीता जाता है।

इसमें विजयनायक वह हो सकता है, जो माता (भारत-माताकी प्रतीक) पिता (विष्णुदेवके प्रतीक)का आज्ञापालक होवे, जिसका

भाइयों (भारतभूमिके नाते अपने बन्धुओं)से सौहार्द हो, जहाँ पति-पत्नीकी पारस्परिक-सहानुभूति हो, पत्नीका पतिके विरहमें भी पातिव्रत्यमें अवधान हो, राजा-प्रजाका परस्पर विश्वास हो। कहीं स्वजनों, बन्धु आदिमें ईर्ष्या वा छल अथवा भेदनीतिका लेश भी न हो। जो ज्ञान एवं कर्मका सामञ्जस्य विधाता हो; विजय-श्री उसीके गलेमें विजयमाला डालती है।

यही विचारा था वा अनुकृत किया था, बल्कि आदर्शरूपसे दिखलाया था—भगवान् रामचन्द्रने। उनमें पहली बातें तो विश्व-विश्रुत ही हैं। अन्तिम-विजयसोपान उन्होंने दिखलाया कर्म और ज्ञानके सामञ्जस्य करनेका। 'कातर्यं केवला नीतिः, शौर्यं श्वापद-चेष्टितम्। अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः' यहाँ नीतिको ज्ञान और शूरताको कर्म बताया गया है। केवल नीति (पालिसी)का अवलम्बन कायरता बताई गई है, केवल शूरताका अवलम्बन क्रूरता-पशुपन, खूँखार-जीवोंकी दहाड़ माना गया है। एकके आश्रयणसे असिद्धि और दोनोंके आश्रयणसे सिद्धि कही गई है।

> 'येषां दोर्बलमेव, दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि,
> प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
> ये क्ष्माशक्र! पुनः पराक्रमनय-स्वीकारकान्तक्रमाः
> ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम्॥'

इस पद्यमें केवल भुज-बल वालेको भी दुर्बल माना गया है, केवल नीति करने वालोंको भी कुछ नहीं माना गया। पराक्रम और नीति दोनोंका जिन्होंने ठीक क्रम अवलम्बित किया है; वे ही

सफल माने गये हैं। इसमें श्रीराम स्वयं ज्ञानके सजीव-प्रतिनिधि थे; और लक्ष्मण-हनुमान् आदि कर्मके प्रतिनिधि थे। इनके सामञ्जस्यसे ही इस पक्षकी विजय हुई। कर्म चाहिये अधिक; ज्ञान चाहिये थोड़ा। इसलिए उक्त-पद्यमें कर्मस्थानीय-पराक्रमको 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इस नियमसे पूर्व रखा गया है; और ज्ञानस्थानीय-नय (नीति)को पीछे। युद्धमें सेना कर्मस्थानीय होती है, और सेनापति ज्ञानस्थानीय। सेनापति थोड़े अपेक्षित होते हैं; और सेना अपेक्षित होती है बहुत। यदि अधिक सेनापति हों; उनके अनुपातसे सेना थोड़ी हो; तब पराजय निश्चित हुआ करती है। इसी कारण शतवर्षके हमारे जीवनमें ७५ वर्ष तक कर्मकाण्ड आदिष्ट किया गया है, और २५ वर्ष ज्ञानकाण्ड। तभी अभ्युदय-निःश्रेयस-लक्षण साफल्य मिलता है।

इस प्रकार श्रीराम एक ज्ञानस्थानीय थे, लक्ष्मण-हनूमान् आदि तथा वानर-सेना यह कर्मस्थानीय थे। ऐसे सामञ्जस्यमें ही विजय हुआ। जिस पक्षका विजय नहीं होता, उसमें कारण कर्म एवं ज्ञान दोनोंका असामञ्जस्य ही होता है। तब जो पुरुष, अथवा जो संघ, अथवा जो जाति, या जो देश, कर्म-ज्ञानरूप शूरता एवं नीति, सैनिक-बल और प्रणिधि (जासूस)-बल, शस्त्र-बल एवं प्रचार-बल (प्रोपेगण्डा), दोनोंका ठीक-ठीक सामञ्जस्य करेगा; वही पुरुष, वही संघ, वही जाति, वही देश, वही राजा, वही सम्प्रदाय विजयको प्राप्त होगा।

विजयका महत्त्व सर्वजन-विदित ही है। तब विजयकी

विचारणा तथा विजययात्राकी दिनस्वरूप-विजयदशमीका महत्त्व भी स्वतः-सिद्ध है; क्योंकि वर्षा-ऋतु विजययात्राकी प्रतिबन्धक हुआ करती है; उसकी समाप्ति होनेपर विजययात्रा अवसर-प्राप्त ही होती है। पाकिस्तान-हिन्दुस्थान दोनोंकी प्रतिद्वन्द्विता स्वतः-सिद्ध है; अब सोचना पड़ेगा कि इन दोनोंमें किसके पक्षमें कर्म और ज्ञानका यथावत् सामञ्जस्य है ? हमें हिन्दुस्थानकी विजय एष्टव्य है। इसमें उक्त दोनों बलोंमें यदि कुछ त्रुटि दीखती है; तो उसके शुभचिन्तकोंको चाहिये कि वह इसके नेताओंको सावधान करें। यह विशेष-रूपसे ध्यान देने योग्य बात है कि पाकिस्तान देश-विदेशमें अपने पक्षको दूधका धुला और हिन्दुस्थानके पक्षको छलमल-युक्त सिद्ध किया करता है। इधर अवधान देना चाहिये। क्योंकि आजकल प्रचारका युग है। इसी प्रचारसे छली भी सरल और सरल भी छली सिद्ध किये जा सकते हैं। तब विजयेच्छुकों-को केवल सत्यका भी आश्रय मायावियोंके साथ नहीं करना चाहिये; क्योंकि कहा है—

'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान, असंवृताङ्गान् निशिता इवेषवः' (किरातार्जुनीय १।३०) अर्थात् मायावीसे सरलताका व्यवहार किया जावे; तो पराजय प्राप्त होता है। यही बात नैषधचरितमें भी कही है कि—'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (५।१०३) अर्थात् कुटिलोंके साथ सरलताका आश्रयण नीति नहीं होती।

तब इस प्रचारके युगमें हिन्दुस्थानके धौरेयोंको भी पश्चात्पद

न होना चाहिये, और कर्म एवं ज्ञानके सामञ्जस्यको यथावत् रखना चाहिये—इस प्रकारके रहस्योंको अपने आपमें रखती हुई इस विजयदशमीका महत्त्व स्पष्ट है। वह यही विजयदशमी प्रतिवर्ष आती हुई भारतको यह विजय-मन्त्र प्रतिवर्ष बोधित करती और स्मरण कराती रहती है। पुनः-पुनः आवृत्ति ही तो स्मरण करानेका साधन हुआ करती है। भारतके उन्नायकों तथा नायकोंको उचित है कि—वे विजय-दशमीके इस सन्देश—विजयरहस्यको याद रखें और इस भारतदेशको विजयी बनावें। विजयदशमीके ही दिन भगवान् रामने रावणके प्रति विजययात्रा प्रारम्भ की थी और विजय प्राप्त किया था, विजयके बीज कर्म एवं ज्ञानका सामञ्जस्य यथावत् रखा।

पूर्वही संकेत किया जा चुका है कि—कर्मकी अधिकता और ज्ञानकी अल्पता परन्तु उत्तमता अपेक्षित होती है, तभी विजय होता है, हमने जन्मसे लेकर मरण तक सांसारिक युद्ध करके विजयको प्राप्त करना है, उसमें ऋषि-मुनियोंने भी हमारेलिए ७५ वर्षतक कर्मकाण्डका पट्टा यज्ञोपवीत हमें पहिरनेको कहा, उसके बाद २५ वर्ष तक ज्ञानकाण्डको आश्रयणीय बताया, इसीसे हम विजयरूप अमृतको प्राप्त करते हैं। जिसका संकेत वेदने ईशोपनिषद् में किया है—जिसे हम आगे गीता-जयन्तीमें बतावेंगे।

---

(६) दीपावलीका वैज्ञानिक-रहस्य

जैसे सनातन-हिन्दुधर्मके सिद्धान्त तथा विषय विज्ञान-परिपूर्ण हैं; जैसे हिन्दुधर्मके नियत किये गये चिह्न विज्ञानमय हैं; वैसे ही सनातन-मानवधर्मसे नियत किये हुए पर्व भी वैज्ञानिक-रहस्यों वा तथ्योंसे परिपूर्ण हैं। जहां उनसे आध्यात्मिक, आधिदैविक-शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है, वहां व्यावहारिक तथा पारमार्थिक उन्नति भी अनायास हो जाती है।

हमारा प्रत्येक-पर्व (त्योहार) आर्यसंस्कृति और भारतके उज्ज्वल इतिहासको जीवित रखनेका प्रधान-साधन, अथवा यों कहना चाहिये कि—आर्यसंस्कृति और भारतीय उज्ज्वल-इतिहासका प्रतीक होता है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने प्रत्येक-पर्वकी रचना लोक-कल्याणार्थ और भारतवर्षके अभ्युदयार्थ वैज्ञानिक आधारपर की थी। यदि इन त्योहारोंके वास्तविक-स्वरूपको समझकर उनपर आचरण किया जाय, तो संसारका बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। चिरकाल तक पारतन्त्र्यमें रहनेके कारण जनताने सनातन-धर्मके प्रत्येक-नियमके रहस्यको भुला दिया था; और उन्हें अंग्रेजों के पिछलगुआ सुधारकगणके दुष्प्रचारसे शङ्कितदृष्टिसे देखने भी लग गये थे; पर अब स्वातन्त्र्य-युगमें हमें वह अंग्रेजोंकी मानस-दासता छोड़नी पड़ेगी। अब स्वतन्त्र-भारतके प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है कि—वह अपने पुण्यपर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्योंको भली-भांति समझकर भारतके अतीत-गौरवको पुनः प्रतिष्ठापित करे।

दीपमाला एवं लक्ष्मीपूजनका यह पर्व हमें आधिभौतिक एवं

आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे उत्कर्ष और प्रकाशकी ओर लेजाने वाला है। वैसे तो संसारके अनेकों भागोंमें दीपमाला या प्रकाश करनेके उत्सव भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रचलित हैं, किन्तु जिस वैज्ञानिक वा आध्यात्मिक गूढ़-तत्त्वको लिये हुए हमारा यह दीपावली-उत्सव अनादिकालसे चला आरहा है, वैसा संसारमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

सब पर्वोंमें श्रावणी, विजयदशमी, दीपावली तथा होली यह चार पर्व तो विशेष हैं। उनमें श्रावणी मुख्यतया ब्राह्मणोंकेलिए है; वहां उन्हें वेदाध्ययनाध्यापन तथा ऋषि-तर्पण आदि करना पड़ता है, इस विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं। फिर विजय-दशमी पर्व मुख्यतया क्षत्रियोंकेलिए नियमित किया गया है। चातुर्मास्यमें वर्षा आदिके कारण मार्गोंमें कठिनाइयोंके कारण विजय-यात्रामें अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं। वर्षाके अन्त तथा शरद्-ऋतुमें विजय-दशमीसे प्रजारक्षार्थ यह विजय-यात्रा क्षत्रिय-राजाओंकी प्रारम्भ हुआ करती है, जिससे शत्रुओंको दबाकर रखा जावे। उसमें वे शक्तिकी उपासना करते हैं। अन्य वर्ण भी साथ शामिल होते हैं।

दीपमालाका पर्व मुख्यतया वैश्योंकेलिए है। वर्षा-ऋतुमें व्यापार शिथिल हो जाता है। शरद्-ऋतुसे वह उत्तरोत्तर उन्नत होता है। व्यापारकी स्वामिनी लक्ष्मीदेवी है। व्यापार की निर्विघ्नताकेलिए उस लक्ष्मीदेवीकी आराधना की जाती है। लक्ष्मी सबकेलिए अनिवार्य होनेसे अन्य वर्ण भी इसमें

योगदान करते हैं। चतुर्थ-उत्सव होली मुख्यतया शूद्रोंकेलिए है। उसमें हास्यादि विविध-क्रीडाएँ तथा उच्छृङ्खलताएँ हुआ करती हैं। अन्य भी वर्ण उसमें अन्योन्य प्रेम-सम्बन्धकेलिए योगदान करते हैं।

यद्यपि यह चारों पर्व एक-एक वर्णकेलिए विशेष-रूपसे नियत किये गये हैं; तथापि सभी वर्ण एक-सूत्रसे सम्बद्ध हुए-हुए इन पर्वोंको बड़े उत्साहसे मनाया करते हैं। इस प्रकार चारों वर्णोंके द्वारा उनको मनाना एक-दूसरेके प्रति अलौकिक-प्रेम तथा परस्पर-संघटनको परिचायित करता है। इसीलिए ही तो कहा है—'संघे शक्तिः कलौ युगे'। अतः सबका इस समय सम्मेलन उचित भी है।

दीपमालामें लक्ष्मी-पूजा उद्दिष्ट होती है। लक्ष्मीका आसन है दिव्य-निर्मल कमल। वह भला पङ्किल-कमल पर कैसे बैठ वा रह सकती है? तब जब हमने लक्ष्मीदेवीको अपना गृहरूप-आसन देकर उसकी अर्चना करनी है; तब उसकेलिए मलिन-घर भला उपयुक्त कैसे हो सकता है? इसीलिए दीपमाला वाले दिन प्रत्येक व्यक्ति झाड़ने-बुहारने, लीपने, और चूना लगानेसे अपने-अपने घरको स्वच्छ और सुसज्जित करता है; जिससे हमें लक्ष्मीकी दैवी शक्ति प्राप्त हो, क्योंकि—'न च दैवात् परं बलम्'। इस कारण हमारे जितने नित्य वा नैमित्तिक संस्कार, उत्सव, व्रत वा पर्व आदि होते हैं; उनमें सर्वत्र दैवी-शक्तिको प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है। वे कृत्य दैवी-शक्तिके आश्रयसे पूर्ण हो भी जाते हैं।

ऐसा करनेसे एक बाह्य लक्ष्मीदेवी (शोभा) तो प्रत्यक्ष प्रसन्न हो ही जाती हैं; तब शेष साक्षात्-लक्ष्मीदेवीकी प्रसन्नतार्थ हमें उनकी भी वैध अर्चना करनी पड़ती है। सांसारिक-शक्तियोंमें धन-शक्ति भी मुख्य है। राजासे लेकर रंक तक सभी उसकी इच्छा किया करते हैं। उसके बिना कार्य कुछ चलता भी तो नहीं है। उस शक्तिकी प्राप्त्यर्थ दैवी-सहायता अपेक्षित होती है; पर हमने उसे भुला दिया है, जिससे भारतीय-गौरव भी दिनोंदिन ह्रासको प्राप्त हो रहा है। प्राचीन-भारत जितने गौरवास्पद-पदको धारण किये हुए था; आजका भारत वैसा नहीं। उसी पूर्व-पदको प्राप्त करनेकेलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम संघटन-प्रेमादिपूर्वक प्राचीन आदर्शका अनुसरण करके भारतको पूर्वकी भांति उन्नत करें। उसे सारे देशोंका शिरोमणि बनावें; जिससे पूर्वकी भांति हमारे देशमें विद्या, बल, धनादिकी शक्तियोंका प्रचुरतासे विकास हो। इस प्रकार उन्नतिके साधनोंका पर्वोंसे घनिष्ठ-सम्बन्ध हुआ करता है।

उन्हीं परमोज्ज्वल-पर्वोंमें महान् गौरवशाली, आर्थिक-शक्तिका जन्मदाता दीपावली पर्व है। इसे कार्तिककी अमावस्यामें महान् उल्लाससे घर-घरमें मनाया जाता है। महालक्ष्मीका प्रसवकारक होनेसे यह एक मुख्य-पर्व माना जाता है।

बात यह है कि वर्षा ऋतु जब आती है; तो घरोंकी बहुत दुर्दशा हो जाती है। कहीं नदियोंकी बाढ़ कृपा करती है; तो कहीं पानी वा कीचड़। मेघाच्छन्नतावश घरोंमें सूर्यका प्रकाश पूर्ण-रूपसे न पड़नेसे नमी वा सील हो जाती है, जिससे दीमक-महारानीके

कृपा-कटाक्ष भी आ उपस्थित होते हैं। उस समय हमें घरोंकी स्वच्छताका अवकाश ही नहीं मिलता। फिर शीतकाल आजाता है; उस समय भी अत्यधिक-शीत पड़नेसे उतनी स्वच्छता नहीं हो सकती। इधर वर्षाकी समाप्तिके बाद रोगके कीटाणुओंकी बाढ़-सी आ जाती है, जिससे वायुमण्डल दूषित हो जाता है, और मलेरिया-रोग फैल जाता है। रोगोंके कारण जीवन ही सङ्कटपूर्ण हो उठता है; जिससे बहुत लोग इस लोकको ही सूना कर जाते हैं; जिसके लिए हमें उन कीटाणुओंको दूर करने वाले सूर्यदेवसे सौ शरद् ऋतुएँ जीनेकी प्रार्थना करनी पड़ती है—'जीवेम शरदः शतम्' (यजु० ३६।२४)। इसी संकटको दूर करनेकेलिए वर्षा-ऋतुके बाद शरद्-ऋतुमें घरोंका मार्जन-लेपन अनिवार्य हो जाता है; और वह वर्षासे जर्जर घर फिर नया हो उठता है, और उसकी आयु बढ़ जाती है।

मेघाच्छन्नतावश वर्षा-ऋतुमें सूर्यकी ऊष्मा पृथिवीपर पर्याप्त मात्रामें नहीं गिरती; पर पृथिवीकी ऊष्माका नीचेसे ऊपर उद्गमन होनेसे घरोंमें अन्न आदि गिरनेके कारण इनके संयोगसे बहुत रोग-कीटाणु उत्पन्न होकर वायु-द्वारा उड़कर वर्षा-ऋतुसे लेकर शरद्-ऋतु तक हमारे घरकी दीवालोंके छिद्रोंमें भरकर घरके वायुमण्डलको दूषित करते रहते हैं। इसी कारण कार्तिक मासको 'यमदंष्ट्र' (यमकी दाढ़) मास कहा जाता है। इसमें सूर्य नीच-राशि तुलामें रहता है। सूर्यकी तीन प्रकारकी किरणें होती हैं—ज्योतिः, आयुः, गौः। इनमें आयुकी किरणें प्राणयुक्त होनेसे

आयु देनेवाली मानी गई हैं। परन्तु सूर्यके तब नीच-राशिमें होनेसे वे आयु-नामक किरणें दुर्बल होनेसे अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं; इस कारण वायुमण्डल दूषित हो जाता है, जिससे रोगाणु बहुत बढ़कर फैल जाते हैं। इधर सूर्यकी नीच-राशि हुई, इधर उसकी सुषुम्णारश्मिसे प्रकाशित होनेवाला चन्द्रमा भी कृष्ण-पक्ष होनेसे दुर्बल हो जाता है। एक करेला, फिर वह भी नीमपर चढ़ा हुआ। उसमें भी अमावास्या—जिसमें आयुर्वेदानुसार बहुतसे भूतप्रेतोंका आवेश-प्रवेश रहा करता है; फिर उसमें भी तमोमयी रात्रि। यह तो 'मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदंशनम्। तन्मध्ये भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति' (बन्दरको जो पहलेसे चञ्चल है—शराब पिला दो; फिर उसे बिच्छूसे कटवा दो, फिर उसमें भी भूत-प्रेतका आवेश हो जावे; फिर वह जो नाकोंदम न कर दे, वह थोड़ा ही है) यह कथन चरितार्थ हो जाता है। यह मास तभी तो 'यमदंष्ट्र' कहा जाता है।

सूर्यकी नीचतावश वह अपनी प्राणप्रद-ज्योति हमें नहीं देता, सौर-ज्योतिका छिपानेवाला दूसरा होता है चौमासा। तीसरी हुई अमावास्या, फिर उसकी भी हुई रात। चन्द्रमाकी भी उसमें थोड़ी भी ज्योति नहीं होती; क्योंकि उस सूर्यकी सुषुम्णा-किरण भूमिके व्यवधानसे सर्वथा प्राप्त नहीं हो रही होती, अतः वह अपनी अमृतमय-किरणका प्रभाव हमारे भूलोकमें दिन तथा रात दोनोंमें नहीं छोड़ रहा होता। जब यह ज्योतियां नहीं; तब हमारी आंतरिक ज्योति भी क्या सबल होगी? सूर्यके नीच-राशिगत होनेसे सूर्यसे

सम्बद्ध हमारी बुद्धि, चन्द्रमाके अप्रकाशसे उससे सम्बद्ध हमारा मन भी अनालोकित होनेसे मन्द रहेंगे। हमारी बुद्धि और मनकी मन्दतासे विचार-शक्ति तथा स्फूर्तिके मान्द्यवश हमारी शरीर-ज्योति तथा उसकी आधारित आत्मज्योति भी अवश्य निर्बल होगी। तब तमोमय आसुर-प्राणोंकी ही प्रधानता होनेसे-आसुरी शक्ति ही बढ़ेगी। तब इस मास का 'यमदंष्ट्र' यह नाम भला क्यों न हो? क्यों जनता इस मासमें कालके कराल-गालमें न जावे? तब कार्तिकी-अमावास्याकी रात्रिमें—जिसे मोहरात्रि वा कालरात्रि भी कहा जाता है—उसमें घनान्धकारके प्रभावके दूरीकरणार्थ अतिशयित-ज्योतिकी आवश्यकता सिद्ध हुई, जिसकेलिए दीपावली-पर्वका-जिसमें दीपक तथा आकाशदीपक जलाए जावें; तथा-अग्नि-क्रीडा की जावे; इन सब बातोंका आयोजन प्राचीनकालसे नियमित किया गया है।

इसी घनान्धकारसे धनका आलोक भी नहीं होता। वर्षा-ऋतु अभी-अभी गई होती है; उस समय व्यापार सर्वथा ठप होता है। कार्तिककी अमावास्यावाले दिन सूर्य और चन्द्रमा दोनों तुलाराशि पर होते हैं। सूर्य संसारका आत्मा और चन्द्रमा मन होता है—यह हम पूर्व संकेत दे चुके हैं। संसारके वाणिज्य-व्यवसाय-संचालनका मापदण्ड भी तुला—तराजू ही होती हैं; तुला और वाणिज्य-व्यवसायसे ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। तो तुला और वाणिज्य-व्यवसाय एवं लक्ष्मी पर मुख्यतः सम्बन्ध वैश्यका होनेसे दीपावली-त्यौहार भी वैश्य-प्रधान माना जाता है—जिसकी हम

पूर्व सूचना दे चुके हैं। पर लक्ष्मीकी आवश्यकता अनिवार्यतावश सभी को होती है। ब्राह्मणने भी यज्ञ करने हैं; उसमें दक्षिणा आदि देनी है, यज्ञका अन्य खर्च चलाना है, उसीने ज्ञानयज्ञका भी विस्तार करना है, ग्रन्थोंको लिखना-लिखवाना है; उसे प्रकाशित तथा प्रचारित करना है; उसकेलिए भी धन चाहिये। इसकेलिए वेद उठा लें, जिस मन्त्रपर भी दृष्टि डाली जाए; उसमें प्रायः धनकी प्रार्थना मिलेगी—'तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् (यजु० २६।३) 'अग्ने! नय सुपथा रायेऽस्मान्' 'नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र! दक्षिणा मघोनी' (ऋ० २।११।२१) इत्यादि। क्षत्रिय आदि शासक हुए, उनकेलिए भी धन चाहिये। वैश्य आ ही गये। शूद्रोंसे हमें सेवा लेनी है; उन्होंने हमारी सेवाकेलिए कई यन्त्र बनाने हैं; कपड़े आदि बुनने हैं; उन्हें भी धन चाहिये। धन बिना-लक्ष्मीदेवीकी कृपाके कैसे प्राप्त हो? तब इस लक्ष्मीपूजन-महोत्सव-दीपावलीको सभी उत्साहसे मनाते हैं। कहते हैं—इसी दिन महाराज पृथुने पृथ्वीका दोहन किया था। धर्मविरोधी राजा वेनके दुष्कर्मोंसे पृथिवीने अन्न, वस्त्र, ओषधियां, स्वर्ण, इत्यादि पदार्थको देना बन्द कर दिया था। राजा पृथुने पृथिवीका दोहन करके अन्न, वस्त्र, रत्न आदि प्राप्त करके नवनिर्माणकी योजनासे संसारको पुनः श्रीसम्पन्न बनाया था। इसीलिए इसी दिन ही लक्ष्मीपूजन प्रारम्भ हुआ था।

पूर्वोक्त-कारणोंसे जब प्रत्येक घरका वातावरण ही कुत्सित होगा; और घरके व्यक्ति रुग्ण हुए-हुए खटिया पर पड़े होंगे;

तब लक्ष्मी प्राप्त ही कैसे होगी—यह सोचकर ऋषि-मुनियोंने इस पर्वका आयोजन किया—जिससे भीतरी-बाहरी लक्ष्मी प्राप्त हो। तदनुसार वर्षासे जर्जर तथा रोग-कीटाणु-प्रोत घरोंमें झाड़ना-बुहारना तथा लीपना, तथा पीली मट्टी वा चूना लगानेकी आवश्यकता भी सिद्ध हुई। झाड़ने-बुहारनेसे कीटाणु इतस्ततः होकर दीवारोंमें चले जाते हैं। फिर भूमिको तथा दीवारोंको भी लीपना पड़ता है। लीपनेसे कीटाणुओंके नष्ट होनेका कारण यह है कि—गोबरसे युक्त जल डालनेसे पृथिवीके भीतरकी ऊष्माका उद्गमन होता है; इससे भूमि तथा दीवारोंके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

गोबरकी कीटाणु-विनाशनशक्तिपर हम पूर्वके निबन्धोंमें प्रकाश डाल ही चुके हैं। भैंसका पुरीष छिपकलियां पैदा करता है। जल भूमिपर डालनेसे भूमिकी ऊष्मासे कीटाणुओंके नष्ट होनेमें एक उदाहरण देखिये। हमारी जन्मभूमि मुलतानमें—जो अब 'पाकिस्तान'में है, पहले प्लेगकी बीमारी रहा करती थी, आये दिन लोगोंको शहर छोड़कर निकल जाना पड़ता था। तब म्युनिसिपलिटीके हैल्थ-आफिसरोंने नाली साफ करनेवालोंको आर्डर दिया कि—जब नालीमें झाड़ू देकर तुम उसमें पानी डालते हो; तो उसके कीटाणु कुछ नष्ट होकर शेष उड़कर नालीके दोनों किनारोंपर जमा हो जाते हैं जो रोगोत्पादक सिद्ध होते हैं; अतः पानी केवल नालीमें ही न डालो; बल्कि नालीके दोनों किनारों पर भी डालो। वैसा जब प्रारम्भ कर दिया गया; तो फिर मुलतानमें प्लेग कभी नहीं पड़ी। उसका कारण यह था कि जो दोनों किनारों

पर रोग-कीटाणु इकट्ठे हो जाते थे; उनपर जल डालनेसे पृथिवीकी ऊष्माके उद्गमन होनेसे वहांके कीटाणु नष्ट हो जाते थे। वैसे लीपने आदिमें भी हमारे पूर्वजोंने यही रहस्य रखा था। इसीलिए प्रातः प्रत्येक-घरमें झाड़-बुहारकर पाकशालाकी भूमिको लीपा-पोता जाता है। पर दीवारों वा सारी भूमि का लीपना प्रतिदिन सम्भव नहीं होता। दीपावलीके दिनोंमें वह सब हो जाता है। इससे भूमि वा दीवारोंके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं; उसमें गायके गोबरके मिश्रणसे तो उनका बीज-नाश हो जाता है। फिर भी बचे-खुचे कीटाणु पीली-मिट्टी वा चूना लगवाने तथा रंग-रोगनसे समाप्त हो जाते हैं। तिसपर भी अवशिष्ट, रातको तिल वा सरसोंके तेलके दीपकोंके प्रकाश तथा सर्वत्र फैल गई हुई सूक्ष्म-गन्धसे नष्ट हो जाते हैं। यह दीपावली समस्त-देशमें एक साथ हो जानेसे एक यज्ञ-सा हो जाता है, उस समयकी देशभरमें व्याप्त अग्नि-किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण-वायुमण्डल पवित्र हो जाता है।

दीपमालासे ही प्रायः लोग घरके अन्दर भी सोना शुरू कर देते हैं। इस दीपमालाके उपचारसे वह घर ठीक शुद्ध हो जाता है। घरके ऊपरी भागमें ठहरे हुए विषाक्त-कीटाणु आकाशदीपकों अर्थात् छत आदिमें वा ऊपर लगाये दीपकोंके प्रकाशसे नष्ट हो जाते हैं। ये दीपक सारा कार्तिक-मास जलाये जाते हैं—ऐसा स्त्रियोंमें व्यवहार देखा गया है। इससे आगे कीटाणुओंका प्रभाव ह्रासको प्राप्त हो जाता है। फिर उस घरमें रहने वा सोनेसे रोगोंके आक्रमणकी आशङ्का नहीं रह पाती। फिर इस मासमें उषः-

कालमें स्नानका महत्त्व माना गया है; इससे रोगोंकी आशङ्काका ही समूलोन्मूलन हो जाता है।

इसी दीपावलीमें लाजाओं (खीलों)का तथा खाँडके खिलौनोंका तथा मिठाइयोंका भी उपयोग होता है। लाजा माङ्गलिक पदार्थ माने गये हैं। नागरिक-कन्याएं राजाके नगरमें आनेपर उसपर भी लाजाएं गिराती थीं। 'आचारलाजैरिव पौरकन्याः' (रघु० २।) यह महाकवि-कालिदासके रघुवंशका वचन प्रसिद्ध है। इससे राजाकी मङ्गल-कामना की जाती थी। विवाह-संस्कारमें कन्या लाजा-होम करके अपने पतिकी शुभाभिलाषा प्रकट करती है। वे लाजाएं बहुत स्वास्थ्यप्रद होती हैं। रोगमें कुछ नहीं खाना पड़ता; पर खीलोंका उपयोग उसमें भी आदिष्ट होता है। सो लाजाएं शारीरिक दूषित-परमाणुओंको दूर करके मस्तिष्क-शक्तिको स्वच्छ और मेदुर करती हैं। तब उसका दीपमालामें उपयोग लाभदायक सिद्ध हुआ।

खाँडके खिलौनोंका उपयोग इसलिए है कि वर्षा-ऋतुमें पित्त संचित होता है, और शरद्-ऋतुमें प्रकुपित होता है। दीपावली भी शरद्-ऋतुमें होती है। खाँडके खिलौने उसे शान्त करते हैं। मिठाई आदिसे कफ सञ्चित होकर शीघ्र बाहर निकल जाता है। जब रोगोंके मूल शान्त होगये; तब रोग होंगे कहाँ से ? इन्हीं रोगोंके कारण हमारी घरकी लक्ष्मी हमसे रूठकर ओषधियोंमें जाने लगती है, पर दीपमालाके उपचारसे हमारी-घरकी लक्ष्मी घरमें ही रह जाती है, इस प्रकार हमारी लक्ष्मीकी उपासना

अनायास हो जाती है।

इस प्रकार हमारे पर्व जहाँ अदृष्टमें पुण्यप्रद हैं; वहाँ दृष्टमें वात, पित्त, कफ आदि दोषोंकी विषमतासे जनित रोगोंकी चिकित्सा-केलिए भी हैं। यदि हम उनके नियमोंके अनुकूल व्यवहार करें; तो हम आध्यात्मिक तथा आधिदैविक एवं आधिभौतिक बलसे सम्पन्न हो सकते हैं। श्रद्धा-भक्तिके द्वारा पूजित हुई लक्ष्मी भी कृपा करती है।

इसके अतिरिक्त हमारे पूर्वजोंने सब प्रकारकी वृत्तिवालोंको धन दिलवानेके उपाय भी विचारे थे। जैसे कि-दीपमालाके अवसर पर मिठाइयोंके अधिक विक्रयसे धन हलवाइयोंके घर जावे। होलीके अवसर पर रंग वेचने वालोंका घर भरे। कभी पुष्पमाला बेचने वालोंके पास धन जावे। कभी कागजोंके बेचने वाले प्रसन्न हों; कभी घी-दूध वाले प्रसन्न हों; कभी लैक्चरारोंका सम्मान हो; तो कभी लेखकोंका। कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र, कभी सुनार, कभी लोहार, कभी पंसारी, कभी गन्धी, कभी अन्त्यज, कभी चमार, कभी कुम्हार, कभी दर्जी, कभी मज़दूर, कभी कहार, कभी गाय आदि पशु इस प्रकार सभी समय-समयपर प्रसन्न हों; लाभ प्राप्त करें, तृप्त हों; तो दूसरोंको भी वे लाभ देने वाले सिद्ध हों। इस प्रकार धन-मान आदिसे सन्तुष्ट प्रजामें बेकारी न रहनेसे न कोई चोरी कर सके, न दूसरेका गला काट सके, न कोई किसी भी प्रकारका उपद्रव कर सके। इस प्रकार देशकी लक्ष्मी देशमें ही रह जानेसे राष्ट्र-लक्ष्मीकी समृद्धि हो; भिन्न राष्ट्र भी

इससे डरें। इसी प्रकार सभी पर्वों पर विचार करनेसे हमारे पूर्वजोंकी सर्वतोमुखी-प्रतिभाका परिचय सम्यक् मिल जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी जानना चाहिये कि दीपमालाके दिन तिल वा सरसोंके तेलके दीपक जलानेका विधान है; इससे सारी प्रजाके अन्दर इन्जैक्शनके ढंगसे तेलका सञ्चार हो जाता है, जो ऐसे समयकेलिए उपयुक्त सिद्ध होता है। इससे समस्त-वायुमण्डल में अद्भुत-प्रकारकी शक्तिका सञ्चार होनेसे देशका मङ्गल होता है। जैसे यज्ञके धुएंसे कृषिका हित होता है, घृतके वा विभिन्न ओषधियोंके परमाणु सूर्यकी किरणोंमें मिलकर उनके द्वारा वायुमण्डलमें मिलकर जलीय-परमाणुओं तथा हमारे फेफड़ोंको शुद्ध करके पृथिवीमें स्निग्धता उत्पन्न करके अन्नकी बहुलता करके 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्याद् अन्नसम्भवः। अन्नाद् भवन्ति भूतानि' (३।१४) इस भगवान्की उक्तिको चरितार्थ करते हैं, और हममें बिना खाये भी अन्नका बल भर देते हैं; वैसे ही इस दीपमालासे भी तैलिक-परमाणुओंका रहस्य भी जान लेना चाहिये।

कार्तिककी अमावास्या तक वर्षा प्रायः समाप्त हो जाती है, शीत भी मन्थर-गतिसे शुरू हो जाता है। इससे पूर्व गर्मीमें तेलका व्यवहार छूट जाया करता है, परन्तु शीतकालमें उसका उपयोग बढ़ जाता है। खाया भी जाता है, मर्दित भी किया जाता है। यद्यपि बंगाल-आदि देशोंमें तैलका मर्दन तथा दक्षिण देशमें तैलका भक्षण सारा ही वर्ष होता है; तथापि शीतकालमें सर्वत्र ही

उसके उपयोगकी मात्रा बढ़ ही जाती है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि—शीतकालकी प्रकृति तैलकी अधिक अपेक्षा करती है। तब समूचा ही देश तेलके मर्दन वा भक्षणका आवश्यक लाभ प्राप्त कर ले; इससे तेलके परमाणुओंसे सार्वदेशिक वायुके आप्यायनार्थ दीपावलिकी विधि बहुत सुन्दर है।

जैसे यज्ञका घृत अग्नि तथा वायुके द्वारा अग्निहोत्रकी विधिसे यत्र-तत्र फैल जाता है, वैसे ही यहां तेल दीपकाग्नि तथा वायुद्वारा यत्र-तत्र व्याप्त हो जाता है, अतः यह भी एक यज्ञ हो जाता है। अथवा जैसे वैद्य किसी ओषधिको भीतर प्राप्त करानेकेलिए रोगीके मुखको आधारीभूत न करके इन्जेक्शनका प्रयोग करते हैं, जिससे वह ओषधि तत्काल शरीरमें प्रभाव कर दिया करती है; अथवा जैसे योग्य वैद्य ओषधि-विशेषका मृदङ्ग (तबले) पर लेप करके उसके बजानेसे वायु-द्वारा वह ओषधि रोगीके भीतर, विना उसे खिलाये भी पहुँचा देता है; अथवा जैसे विशेष-ओषधियोंका अग्निमें हवन करनेपर वे सूक्ष्म होकर वायु-द्वारा देशमें व्याप्त होकर जनताके कल्याणार्थ, समर्थ सिद्ध होती हैं; वैसे ही तेल भी हमारे भीतर-बाहर पहुँच जावे; अतः हमारे पूर्वजोंने उस अपूर्व-इन्जेक्शनका 'दीपमाला' इस नामसे आविष्कार किया था।

इधर दीपावली भगवान् श्रीरामचन्द्रके विजयकालकी प्रतीक है, यह भी जन-श्रुति है। इससे पूर्व आश्विन-मासमें हमारे पूर्वज पितृपूजा-द्वारा पारलौकिक-पितरोंको प्रसन्न करके, उनके आशीर्वाद प्राप्त करके, वर्षा-ऋतुके कीचड़ आदिके सूखनेके

समयमें महिषमर्दिनी श्रीदुर्गादेवीको आधारीभूत करके शक्ति-उपासनामें लग जाते थे। इसमें विद्याका भी अनध्याय करके सभी लोग स्वदेशकी रक्षार्थ विदेशी-शत्रुओंके दमनार्थ आपसमें संघटन-द्वारा शक्ति-संचय करके विजयदशमीके दिन विजययात्रा प्रारम्भ कर देते थे; और पड़ोसी शत्रुके दांत खट्टे करके उससे धन प्राप्त कर लाते थे। फिर उस धनका धनत्रयोदशीवाले दिन संग्रह करके नरक-चतुर्दशीवाले दिन शत्रुको नरक दिखलाकर, अमावास्यावाले दिन अपने विजयोपलक्ष्यमें दीपमाला करते थे। इस प्रकार यह दीपमाला विजयसन्देश-वाहिनी भी है। इस दिन धनाधिष्ठात्री लक्ष्मीकी पूजा करनेसे दैवी-शक्ति प्राप्त होकर लक्ष्मीकी स्थिरता हो जाती है।

लक्ष्मी-पूजन।

इस दिन सायं स्वच्छ नवीन-वस्त्रोंसे लक्ष्मीका मण्डप बनाकर पत्र-पुष्प, तोरण-ध्वजापताका आदिसे उसे सुसज्जित करके उसमें रति-कुबेरादि अन्य देवी-देवोंके साथ भगवती-लक्ष्मीका षोडशोपचार पूजन किया जाता है; प्रार्थना की जाती है। फिर देवी-देवताओंको दीपदान करके दीपकोंको घरके भीतर, बाहर, चौराहेमें, गलीमें, कूप, मन्दिर, तुलसी आदिके पास रखना पड़ता है, मोमबत्ती वा मट्टीके तेलके दीपकोंको दीपावलीमें जलाना भी हानिकर है। रात्रिको लक्ष्मीकी कृपाके प्राप्त्यर्थ गोपालसहस्र-नामके पाठ भी यथासम्भव करने-कराने पड़ते हैं। लक्ष्मीका गायसे सम्बन्ध है—यह हम अन्यत्र बता चुके हैं, गायसे सम्बन्ध

गोपालका है। गोपालसे लक्ष्मीका सम्बन्ध है, इसलिए दूसरे दिन गोवर्धन-पूजा तथा गोपालकृष्णकी पूजा, फिर अष्टमीमें गोपूजा-गोपाष्टमी मनाई जाती है।

दीपमाला और द्यूत।

दीपमालाके दूसरे दिन पति-पत्नीका द्यूत-विधान भी आता है, केवल इस बातकी परीक्षार्थ कि—दोनोंमें जो जीतेगा, वर्षभर उसीका दूसरे पर आधिपत्य रहेगा, यह जाननेकेलिए, व्यसनकेलिए नहीं। द्यूतका व्यसन तो लक्ष्मीका शत्रु है। इस संसारमें कोई वस्तु न सर्वथा निर्गुण होती है, न सर्वथा निर्दोष। सगुण भी दुरुपयोग वा व्यसनसे सदोष सिद्ध हो जाती है, सदोष वस्तु भी गुणवाली। इस संसारमें विषका भी सूपयोग हो सकता है, विधिसे संखिया गुणकारी एवं वाजीकरण सिद्ध हो जाता है। अन्न भी दुरुपयोगवश विष वा मारक सिद्ध हो जाता है।

द्यूत भी कई प्रकारके होते हैं। राजनीतिमें नई-नई नीतियां चलती हैं; यह सब भी द्यूत हैं। श्रीगान्धीजी लण्डनकी गोलमेज़ कान्फ्रेन्समें हिन्दुस्थानका जुआ खेलने गये थे। अंग्रेजोंने उस समय मि० जिन्नाको आगे करके अल्पसंख्यक-बहुसंख्यकोंका दांव लगा दिया, जिससे गांधीजी हिन्दुस्थानके स्वराज्यका द्यूत हारकर वापिस लौट आये थे। गत-महायुद्धमें हुई-हुई रूसी-जर्मनी सन्धिको अंग्रेजोंने दांव-पेच लगाकर उनमें एक-दूसरेपर अविश्वास उत्पन्न कराकर आपसी-युद्धमें परिणत कर दिया, जिससे वे स्वयं बच गये और जर्मनीको हरवा दिया गया; और स्वयं रूससे

सन्धि कर ली। यह सब द्यूत हैं। श्रीरामने विभीषणको रावणसे अलग करवानेमें यही नीतिका द्यूत खेला था। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही द्यूत खेलकर, दांव-पेच लगाकर घटोत्कचको कर्णकी एक-वीरघ्नी शक्तिसे मरवाकर अर्जुनको बचा लिया; घटोत्कचकी राक्षसी-शक्तिसे अपनी सेनाको भी बचवा लिया।

कृषक भी खेतमें अन्नके दानोंके पांसे फैंककर दांव लगाता है, कभी जीत जाता है, तो बहुत अन्न पाता है। कभी उसपर ओले पड़ गये; तो उसकी अन्नकी आशापर भी तुषारपात हो जाता है। पहलवानोंके आपसके दांव-पेच, मछली पकड़नेवालोंका पानीमें मछली पकड़नेकेलिए कांटा डालना—यह सब द्यूत हैं। जैसे यह द्यूत शास्त्र-विरुद्ध नहीं, वैसे दीपमालाके दूसरे दिन पति-पत्नीका, अभिन्न घनिष्ठ-मित्रोंका वर्तमान वर्षकी परीक्षार्थ द्यूत-क्रीडा भी निन्दित नहीं।

द्यूत कानूनके अनुसार निषिद्ध है, पर लाटरी तथा सट्टासदृश द्यूत कानूनके अनुसार भी निन्दित नहीं माने जाते। चौपड़-शतरञ्ज आदि भी द्यूत कानूनन निषिद्ध नहीं; तब पुराण-निर्दिष्ट द्यूत भी निषिद्ध न होनेसे निन्दित-कोटिमें नहीं आ सकता। हां, द्यूतका व्यसन तो संगृहीत धन-राशिको शीघ्र ही समाप्त कर देता है, अतः उसे खेलना तो शास्त्र-विरुद्ध है। न शास्त्र वैसी आज्ञा देता ही है। वैसे ही द्यूतसे महाभारत हुआ; जिससे हमारा भारतवर्ष वीरों, विद्वानों, तथा कला-विज्ञान आदिसे शून्य हो गया। अतः इससे तथाऽभिधायक पुराणोंकी निन्दा करना अपने अज्ञानको प्रकट

करना है।

दीपावलीके इसी दूसरे दिन गोवर्धन-पूजा भी होती है, अन्न-कूट भी होता है, जिसमें विविध अन्न खाये-खिलाये जाते हैं। इसी दिन भगवान्-कृष्णने इन्द्रकी पूजाके स्थानमें गोवर्धन-पूजा कराई थी, और इन्द्रका मान-मर्दन किया था, और गोवर्धन-पर्वतसे ही गौओंकी तथा प्रजाकी रक्षा की थी।

इससे दूसरे दिन यमद्वितीया होती है। इस दिन यमीने अपने भाई यमको तिलक लगाया था और यमने उस बहिनका दान-मानसे सत्कार किया था। यह भाई-बहिनके पारस्परिक स्नेह-को अक्षुण्ण रखनेका तथा भाई-बहिनको समय पर कुछ देता रहे, उसे भुला न दे, उसकी श्वशुरगृहमें स्थिति कैसी है इस बातका ध्यान रखे—इस भावनाको प्रोत्साहित करनेका यह ऐतिहासिक पर्व है।

(१०) गोपाष्टमी-विज्ञान

यह कार्तिक शुक्ल-अष्टमी गोपाष्टमी है। द्वितीयावाले दिन भगवान्ने गोवर्धन-पूजा करवाके, वर्षासे संत्रस्त-प्रजाकी रक्षा करके अष्टमीवाले दिन गौओंका जलूस निकाला, गौओंकी आरती की, गौओंको अन्न खिलाया। वैसे तो गोपाल-कृष्णका यह दैनिक कृत्य था, पर आजके दिन उसके स्मरणार्थ विशेष-पर्व नियत कर दिया गया; जिससे जनताको गोपूजा भूल न जावे।

हम 'श्रीरामनवमी'के अवतारवाद-विषयमें लिख चुके हैं कि अपने श्रव्यकाव्य वेदके विशेष-उपदेशको जनतामें प्रचलित करने

केलिये परमात्मा दृश्यकाव्यकी भान्ति अवतार धारण करता है। वेद-द्वारा परमात्माने हमें बतलाया कि—'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (यजुः वा०सं० २३।४८) गायके समान अन्य नहीं हैं। वही बात भगवान्ने गोपालनके विषयमें करके दिखायी। परमात्मा स्वयं नन्दनन्दनरूपमें अवतीर्ण होकर गोपाल बन गये। गोपाल बनकर उन्होंने गौओंका पालन किया। इस अभिनयसे उन्होंने हमें दिखलाया कि 'तुम लोग भी गोपालन करो, गायकी पूजा करो, गायका उपयोग लो। इस तरह जहाँ देवपूजा होगी वहीं तुम लोग बलवान् भी बनोगे। मक्खन खाओ, तुम्हारे पास न हो तो दूसरेसे लो। दूसरा न दे, राजा अत्याचार कर सारा मक्खन छीन रहा हो, तो चुराकर—दूसरेसे छीनकर—खाओ। राजाकी नाकके बाल बने हुए लोगोंको लूट लो। इससे स्वावलम्बी बनोगे। गायके भक्त बनो, स्वराज्य तुम्हारे चरणोंमें लोटेगा।

यदि ऐसा न करोगे—गायके भक्त न बनोगे, गायकी उपेक्षा करोगे, तो तुम लोगोंका शरीर क्षीण हो जायगा, बल कम हो जायगा और तुम लोगोंको निर्बल जानकर सब तुम्हें पैरों-तले रौंदेंगे। तुम लोग परमुखापेक्षी बन जाओगे। देवता लोग भी तुम्हारी सहायता छोड़ देंगे।'

आज गोवंशका जिस प्रकार भीषणतासे ह्रास हो रहा है, उसके फलस्वरूप हम भी तो मर रहे हैं। आज हम दूध, माखन, घी आदिकेलिए उत्कण्ठित हैं। कीजिये न गोमाताकी उपेक्षा! दूध-घीके तो अब स्वप्न ही आ सकते हैं। खाइये न, अब बनस्पति

घी और पीजिये ग्लैक्सो-दूध। तब सन्तानें उत्पन्न कीजिये—अपनेसे भी निर्बल, प्रतिदिन अस्वस्थ। तब भारत क्यों न परसुखापेक्षी हो ? देवगण हम पर क्यों न क्रुद्ध हों; जबकि हम उन्हें शुद्ध घृत समर्पित नहीं करते। अतः वे क्रुद्ध होकर हमारा पराभव क्यों न करें ? इसी बातको प्रतिवर्ष याद दिलानेकेलिए 'गोपाष्टमी' आया करती है कि 'भारतीयो ! चेतो, अब भी गौओंका पालन, पूजन तथा सम्मान करना सीखो। गायके तिरस्कारमें अपना तिरस्कार समझकर प्राणोंकी बाज़ी लगा दो। तभी पूर्ण 'हिन्दु' बने रहोगे। 'हिन्दु' शब्द हमारी जातिने गोवर्णनपरक-वेदमन्त्रसे लिया है।

हमारी जाति गोभक्त है। गोभक्तिके कारण ही इसने 'हिन्दु' नाम धारण किया है। 'अथर्ववेद' तथा 'ऋग्वेद'में एक मन्त्र आया है—

हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दु हामश्विभ्यां पयो अघ्न्या इयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
(ऋ० १।१६४।२७, अथर्व ९।१०।५)

यह गोवर्णनपरक-मन्त्र है इसके पूर्वार्धका आदिम वर्ण 'हिं' है और उत्तरार्धका आदिम वर्ण है 'दु'। गोभक्त हिन्दुजातिने 'हिन्दु' यहींसे अपना नाम स्वीकृत किया है। जैसे एक वेदसे 'अ' दूसरेसे 'उ' तथा तीसरे वेदसे 'म्' लेकर 'ओम्' बनाया गया है (देखिये इसपर 'मनुस्मृति' २।७६), वैसे ही वेदके गोवर्णनपरक एक ही मन्त्रके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्धके आदिम वर्णोंको लेकर 'हिन्दु' नाम वैदिककालसे चला आ रहा है।

गोपाष्टमीमें गोपाल बनकर भगवान्ने हमें यह सिखलाया कि तुम्हारी गौओंको चुराने वाला ब्रह्मा भी क्यों न हो, उसे वह पाठ पढ़ाओ कि फिर वह तुम्हारे पैरोंपर आ गिरे। कोई दैत्य गुप्त होकर अथवा भिन्न-वेष धारणकर तुम्हारी गौ चुरा ले, तो उसे मारनेमें भी पाँव पीछे मत रखो। प्रतिवर्ष 'गोपाष्टमी' हमें यही बताती है।

वेदमें देवपूजनपर बहुत बल दिया गया है। यह जगत् देवताओंके आश्रयसे ठहरा है, अतः जागतिक-पुरुषोंके विविध प्रकारके होनेसे देवपूजाके भी विविध प्रकार रखे गये हैं। जैसे आयुर्वेदमें विविध रोगियोंकी चिकित्साके अवसर पर मुख्यतया रोगबीजरूप दूषित-मलके निकालनेकेलिए विविध-ओषधियाँ स्वस्वप्रकृत्यनुकूल दी जाती हैं, अथवा दूषित-मलके निःसारणार्थ भिन्न-भिन्न उपाय (वमन, विरेचन, मलद्रवीकरण, मलक्वथन, एनीमा आदि) हुआ करते हैं, वैसे ही शास्त्रोंमें पाप-रूप रोगके मुख्य-बीजरूप मानसिक-मलके दूरीकरणार्थ देवपूजाके भी विविध उपाय बताये गये हैं जिनसे मुख्यतः मानसिक मल दूर किया जाता है। उनमें एक प्रकार है—महायज्ञों द्वारा देवगणकी तृप्ति अथवा साधारण-यज्ञों द्वारा देवगणका पूजन। इसमें देवताओंके मुख-स्थानीय अग्निको प्रतिनिधि बनाकर देवपूजन किया जाता है।

एक अन्य उपाय भी है और वह है—मूर्तिपूजन। इसमें किसी प्रस्तर आदिकी मूर्तिमें वेदमन्त्रोंसे देवताओंको प्रतिष्ठापितकर उसके द्वारा देवपूजन किया जाता है। एक अन्य प्रकार है तीर्थका

सेवन। इसमें किसी विशिष्ट नदी-तीर्थको माध्यम बनाकर देवपूजा की जाती है। अपर प्रकार है—वेदविद्वान् ब्राह्मणोंका दान-मान आदि द्वारा सत्कार। यहाँ पर ब्राह्मणको माध्यम बनाकर उसके द्वारा देवपूजन किया जाता है। अन्य भी देवपूजनके बहुतसे प्रकार हैं, उनमें यह भी एक विशिष्ट प्रकार माना गया है कि गायको माध्यम बनाकर गोपूजासे उसमें व्याप्त सब देवताओंका पूजन किया जाय। वेदमें 'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (यजुः वा०सं० २३।४८) गाय-को अनुपमेय माना गया है। अथर्ववेदकी 'पैप्पलादसंहिता'के 'गोपथब्राह्मण'में कहा है—'यद् गां ददाति, वैश्वदेवी वै गौः, विश्वेषामेव तदा देवानां तेन प्रियं धाम उपैति, (२।३।१६) गायको वैश्वदेवी या सब देवताओं से उपजीव्य कहा है। 'ये देवास्तस्यां (गवि) प्राणन्ति, (१०।१०।७) 'देवांश्च याभिर्यजते' (अ० ४।२१।३) इस 'अथर्ववेदसंहिता' (शौ० सं०)के वचनमें गायमें देवताओंका निवास स्वीकृत किया गया है। न केवल यहीं पर, प्रत्युत 'अथर्ववेद'का एक सम्पूर्ण सूक्त (६।१२।७) ही इस प्रकारका है, जहाँ गायके प्रत्येक अवयवमें भिन्न-भिन्न देवताओंका निवास मानागया है।

यहाँ यह जो आक्षेप किया जाता है कि 'सनातनधर्मके सिद्धान्तमें तैंतीस करोड़ देवता माने गये और उनकी पूजा भी मानी गयी है, 'यथा सम्पूजिता देवास्त्रयस्त्रिंशत्तु कोटिशः' (पद्मपुराणीय कार्तिकमाहात्म्य २८।२६) अब कोई इन सबका एक साथ पूजन करना चाहे, तो कैसे करे ? तब यदि प्रत्येक देवताकेलिए दो-तीन अक्षत भी चढ़ाये जायँ, तो तदर्थ कई मन चावल चाहियें। एक-एक

जलकी बून्द भी प्रत्येककेलिए समर्पित की जाय, तो उसकेलिए भी कई गागर पानी चाहिये। एक-एक बादाम भी नैवेद्य-रूपमें एक-एक पर चढ़ाया जाय तो कई मन बादाम चाहियें। एक-एक पैसा भी दक्षिणा चढ़ायी जाय, तो कई सौ रुपये खर्च पड़ेंगे। धूप-दीप स्वयं सोच लेने चाहियें। यह है संक्षिप्त पूजाका हाल, षोडशोपचार तो प्रत्येकका असम्भव हो जायगा।" इस आक्षेपका उत्तर सब देवताओंको अपनेमें व्यापक रखे हुए गाय दे रही है। उसीकी पूजासे सर्व-देवपूजा अनायास हो जाती है, जैसे कि हम पहले शास्त्रीय-वचन दे चुके हैं। इसी कारण भगवान्ने गोपाल बननेमें अपना गौरव समझा।

गाय जहां शास्त्रीय-दृष्टिसे उपासनीय है, वहीं लौकिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिसे भी उपासनीय है। गायकी वस्तुओंको रसायन, पथ्य, बलप्रद, आयुष्प्रद, त्रिदोषनाशक तथा हृदय-रोगके दूर करनेवाला कहा गया है। जिस घीको 'आयुर्वै घृतम्' (तै० सं०२।३।२।२) इस प्रकार आयुरूप माना है, उसी घृतकी माता गायकी सेवा कर भगवान्ने हमें यह शिक्षा दी कि उसे सन्तुष्ट रखनेसे प्राप्त हुआ दुग्ध ही हमारी सर्वविध-कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। 'सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुशे दुहे। अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्' (अथर्व०शौ०सं० १२।४।३६) इस मन्त्रमें गोदान करनेपर दाताकी सब कामनाओंका यमराज्यमें पूर्ण होना कहा है। उसकी याचना करनेपर रुकावट डालनेवालेको नरक-लोककी प्राप्ति कही है। 'ब्राह्मणेभ्यो वशां (गां) दत्त्वा सर्वान् लोकान् समश्नुते' (अथर्व०

१०।१०।३३) यहांपर ब्राह्मणको गोदान देनेका बहुत फल बताया गया है। 'यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर-ओदनम्' (अथर्व० १८।२।३०) इस मन्त्रमें मृतकके उद्देश्यसे गोदान तथा खीरका विधान किया गया है।

आजकल छुआछूतको निर्दयतासे हटाया जा रहा है, जो लोग बाज़ारका कुछ नहीं खाना चाहते और स्वादिष्ठ-पदार्थ भी खाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि घरमें गाय रखें और उसकी सेवा करें, उनकी इच्छा पूर्ण होगी। गाय ही दूध, मक्खन, घी, खोया, रबड़ी, मलाई सब देती है। 'आयुर्वै घृतम्' घीको आयुरूप माना गया है, उस घृतकी देवी, हमारी आयुकी देवता, हमारे बालबच्चोंको पालने वाली, हमसे बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखवानेवाली, हमसे हज़ारों प्रवचन करानेवाली, हमें सब मिठाइयां खिलानेवाली, हमारे मस्तिष्कको सुरक्षित एवं उज्ज्वल रखनेवाली गोमाताकी सेवाके इस प्रकारके फलोंको देखकर भगवान्‌ने दृश्य-काव्यके रूपमें स्वयं गोपाल बनकर गोपालन किया। हमें इस दृश्यकाव्यको मन लगाकर देखना चाहिये और उसपर मनन करना चाहिये, तभी गोपाष्टमीको हम सफल बना सकेंगे।

(११) गीताजयन्ती एवं गीतोपदेशकी तिथि।

गीता-जयन्तीके दिनके सम्बन्धमें कई विद्वानोंने अनुसन्धान किया है। यह तो सभी मानते हैं कि गीताका उपदेश उसी दिन हुआ था, जिस दिन महाभारतका युद्ध प्रारम्भ हुआ था। और यह भी मानते हैं कि यह युद्ध मार्गशीर्ष-मासमें हुआ था; परन्तु ठीक

दिनके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद हैं।

महाभारतमें जो अठारह दिनोंकी लड़ाईका वर्णन है, उसपर ध्यान देनेसे इस विषयमें बहुत कुछ पता लग सकता है। इन वर्णनोंमें स्थान-स्थानपर जो नक्षत्रों और चन्द्रमाका वर्णन आता है, उसपर उस समयके भारतीय ज्योतिष-शास्त्रके अनुकूल विचार करनेसे महाभारतका युद्ध आरम्भ होनेके दिनका अनुमान हो जाता है।

भारतीय ज्योतिष-शास्त्रमें और आजकलकी गणनामें बहुत अन्तर है। वैसे तो सालके ३६५ दिन बने हैं, लेकिन नाम और तरीकोंमें हेर-फेर होगया है। एक उद्धरणमें यही बात आती है कि उन दिनों महीने शुक्लपक्षसे आरम्भ होते थे और आजकल कृष्णपक्षसे आरम्भ होते हैं; गुजरात-महाराष्ट्रादिमें अब भी शुक्ल-पक्षसे आरम्भ होते हैं। इस पुरानी प्रथाका इतना ही चिह्न इधर रह गया है कि नये वर्ष का शुक्लपक्ष चैत्रमें प्रारम्भ होता है, पूर्णमासीकेलिए १५का अङ्क लिखा जाता है और अमावास्याकेलिए ३० का।

अठारहवें दिन अर्थात् अन्तिम दिनके युद्धमें राजा दुर्योधनके हारनेके बाद रातको अश्वत्थामाने पाण्डवोंके डेरेपर आक्रमण किया था। इस आक्रमणका वर्णन 'रौद्री' नामसे किया गया है। 'रौद्री'के अर्थ हैं कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिमें होनेवाली। इससे स्पष्ट प्रकट है कि युद्धका अन्तिम-दिन मार्गशीर्ष कृष्ण-चतुर्दशी (आजकलकी पौषकृष्ण-चतुर्दशी) था। इस दिनसे उलटे अठारह

दिन गिननेपर महाभारतका युद्ध आरम्भ होनेकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशी ही पड़ती है।

भीष्मपर्वके सत्रहवें अध्यायमें युद्धका वर्णन करते हुए संजय राजा धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि युद्ध बड़े अशुभ समयमें आरम्भ हुआ है; क्योंकि–'मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत।' (भीष्म० १७।२) उस दिन चन्द्रमा 'मघाविषयग' होगया था। 'मघा' स्वयं और उसके दलके कुछ नक्षत्र बड़े अशुभ माने गये हैं। ज्योतिषके विद्वानोंके मतानुसार युद्धके प्रसङ्गमें जिस दिन भीष्म-पितामह शरशय्यापर गिरे थे, उस दिन चन्द्रमा मघा-नक्षत्रमें था और मघाके दलमेंसे केवल भरणी-नक्षत्र मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशीको था। संजय मघा-नक्षत्रका नाम नहीं लेते हैं; परन्तु मघाके दलके नक्षत्रका। इससे यह मानना पड़ता है कि युद्ध आरम्भ होनेके दिन चन्द्रमा भरणी-नक्षत्रमें होगा और इस दिन मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशी ही थी।

वीर-अभिमन्यु युद्धके तेरहवें दिन मारे गये थे। इसके दूसरे दिन अर्थात् चौदहवें दिन सूर्यास्तपर राजा जयद्रथका वध हुआ और रातभर युद्ध चलता रहा। आधी रातमें घटोत्कच मारा गया। घटोत्कच-वधके बाद दोनों सेनाओंने थोड़ा विश्राम किया। इस समय चन्द्रमाके उदय, आकार और प्रकाश आदिका बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन है। ज्योतिषियोंकी सम्मतिमें चन्द्रमाका यह दृश्य कृष्णपक्षकी दशमीके अतिरिक्त और किसी दिन नहीं पड़ता। इसके हिसाबसे युद्धके चौदहवें दिन मार्गशीर्ष-कृष्ण (आजकलका

पौष-कृष्ण) दशमी पड़ती है। चौदह दिन पीछे गिननेसे युद्ध आरम्भ होनेकी तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशी ही ठहरती है।

भीष्मपर्वमें एक और भी पद्य आता है। उसका ठीक-ठीक अर्थ तभी लगता है, जब हम यह मान लेते हैं कि युद्ध मार्गशीर्ष-शुक्ल-एकादशीको आरम्भ हुआ। वह श्लोक यह है—'श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति। अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति' (भीष्म० ३।१२) यह युद्धके चौदहवें दिनका वर्णन मालूम होता है। इसी दिन अर्जुन, भीम, घटोत्कच आदिने कौरवोंका विशेष-नाश और नुकसान किया था। इसी दिन 'श्वेत' ग्रह चित्रा-नक्षत्रमें आया, ऐसा मालूम होता है।

इसी मार्गशीर्ष शुक्ल-एकादशीके दिन युद्ध आरम्भ होनेसे पहले भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय-सखा भक्त अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था। इसी दिन अर्जुनको जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई थी। इसीलिए तो इस एकादशीको 'मोक्षदा' कहते हैं।

(१२) श्रीगीतोपदेशकी तिथि और गीताकी महत्ता।

यह प्रश्न होता है कि—'श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष-शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है'? इसकेलिए हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह-भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है। महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट

भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखाई पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ-शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्या पर पड़े रहे। इस हिसाबसे माघशुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर-अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों)के प्रकाश में ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अंधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बन्द करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके कुछ पहले ही कही गई थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है।

यदि कहें कि 'एकादशीके दिन ही गीता कही गई, इसका क्या प्रमाण है'? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध

आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष-कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

यदि यह मानें कि प्राचीन-कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष-कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ, तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है।

इसके अतिरिक्त एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसकेलिए स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्—(१०।३५)।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक-पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया।

संसारमें अध्यात्मविषयक-ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएं, भाष्य और अनुवाद नाना-प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—'गीता

सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुख-पद्माद् विनिःसृता ।। (भीष्मपर्व ४३।१) गीताका ही अच्छी प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठनपाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य-शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

'सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः । सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्व-वेदमयो मनुः'।। (भीष्मपर्व ४३।२) 'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकलतीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।' 'भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च । सारमुद्-धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ।। (भीष्मपर्व ४३।५) 'महाभारत रूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकाल कर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्' ।। 'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहने वाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा है और गीताप्रेमी भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।' सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा' ।। 'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं,

उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका फल तो अधिक-से-अधिक स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है। यों गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरों को मुक्त नहीं कर सकता; किन्तु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भाव-युक्त है। अतएव सभी को प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

(१३) युद्धमें गीताका सुनाना सम्भव।

कई लोग 'अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः' (महाभारत भीष्मपर्व २५।२०) इस पद्यको देखकर युद्धभूमिमें युद्धके प्रारम्भके समय भगवद्गीता-सदृश ग्रन्थका सुनाना असम्भव मानते हैं। उनका भाव यह है कि यहाँ कहा है—'प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते' शस्त्र-प्रहार शुरू होगया था—अर्जुनने भी धनुष उठा लिया था। 'प्रवृत्ते' शब्दमें भूतकालमें 'क्त' प्रत्यय है; तब उस समय ७०० श्लोकोंकी गीताका सुनाना सम्भव नहीं। अतः 'भगवद्गीता' पीछेकी रचना है, महाभारतमें पीछेसे प्रक्षिप्त की गई'।

इस पर यह जानना चाहिये कि 'प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते'में 'क्त' प्रत्यय आदिकर्म-अर्थमें है, भूतकालमें नहीं। 'आदिकर्म'का भाव

यह है कि उस कर्मसे पूर्व; शस्त्र चलनेकी तैयारीसे पूर्व। संस्कृतमें इसे 'प्रवर्तितुमिष्टे' कह सकते हैं; अर्थात् शस्त्र चलना अभी भविष्यत् था; वर्तमान नहीं हो पाया था। इसके उदाहरण भी देख लीजिये 'भवत्-कृतां भूतिमपेक्षमाणाः' (३।४६) इस किरातार्जुनीयके पद्यमें 'कृतां' इस 'क्त' प्रत्ययका भूतकाल अर्थ न होकर 'भवत्करिष्यमाणां भूतिम्' यह भविष्यत्का अर्थ है, वैसा ही टीकाकारोंने अर्थ किया है। इसीलिए 'आशंसायां भूतवच्च' (३।३।१३२) इस पाणिनिसूत्रसे 'आशंसा' अर्थ इष्ट होनेपर भूतवत् प्रत्यय कहा गया है। आशंसा भविष्यत्काल-विषयक होती है। तभी तो 'योत्स्यमानान् अवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः' (गीता० १।२३) इस अर्जुनके वाक्यमें कौरवोंकेलिए 'योत्स्यमान' यह 'लृटः सद् वा' (पा० ३।३।१४) भविष्यत्-लकार लृट् कहा गया है। यदि 'प्रवृत्ते'में भूतकालमें 'क्त' होता, तो यहाँ भविष्यत्-लकार न हो सकता। भविष्यत्-लकार होनेसे 'प्रवृत्ते'में भी भविष्यत् काल इष्ट है।

'षट् शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः। अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः। धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते' (भीष्मपर्व० ४३।४-५) इस महाभारतके पद्यमें भगवद्गीताका परिमाण कहा है। इसमें श्रीकृष्णके ६२० पद्य, अर्जुनके ५७, संजयके ६७, धृतराष्ट्रका १ पद्य माना गया है। मिलकर सारी संख्या ७४५ बनती है, आजकल ७०० मिलती है। धृतराष्ट्र और संजयके श्लोक तो श्रीकृष्णने कहे नहीं; तो ७४५ से ६८ श्लोकोंको निकाल देने पर शेष ६७७ श्लोक बचते हैं। इनके विचारपूर्वक पाठमें डेढ-घण्टा लगता है।

यही संवाद एक घण्टेमें हो सकता है। इतने समयकी प्राप्ति इस धर्म-युद्धमें असम्भव भी नहीं, क्योंकि—महाभारतीय-युद्ध कई नियमोंसे होता था; उन नियमोंका दिग्दर्शन मनुस्मृति (७।९०, ९३) में है कि—उसमें रथी-रथीसे, सवार-सवारसे, हाथी पर चढ़ा हाथी-चढ़े से, पैदल-पैदलसे युद्ध करता था। प्रातः सन्ध्या-पूजा-पाठादिके बाद युद्ध शुरू होता था। जब तक दोनों ओरसे वीर युद्धकेलिए तैयार न हों, तब तक युद्ध शुरू नहीं होता था। एक पक्षका वीर किसीसे बात-चीतकेलिए गया हुआ हो; तब तक युद्ध शुरू नहीं होता था।

इसके अतिरिक्त यहाँ तो सेनाकी व्यवस्थितिके समयमें भी युद्ध शुरू नहीं हुआ था। उस समय गीता शुरू हुई थी। तब उसके भी बाद जब अर्जुन गाण्डीव-धनुषको तैयार कर ठहरा; तब 'ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते। ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप!' (भीष्मपर्व ४२।११) विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्। अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः' (१२) पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः। वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम्।' (१३) यहाँ युधिष्ठिर कवच खोलकर अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर शत्रु-सेनामें भीष्मकी ओर चल पड़े; तो शत्रुयोद्धाओंने उन्हें युद्धसे डरा देखकर उनकी निन्दा की। अर्जुन-भीम आदि तथा श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरको युद्धसे विरत जानकर उन्हें समझानेकेलिए उनके पीछे गये। परन्तु युधिष्ठिरने कहा कि—मैं युद्धकी आज्ञा तथा आशीर्वाद-ग्रहणार्थ भीष्म-द्रोणादि

गुरुओंके पास जाता हूँ।

तब भीष्मके पास जाकर युधिष्ठिरने कहा कि—'आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष ! त्वया योत्स्यामहे सह। अनुजानीहि मां तात ! आशिषश्च प्रयोजय' (भीष्म ४३।४७) अर्थात् मुझे युद्धकी आज्ञा तथा आशीर्वाद दीजिये। तब भीष्मने इससे अपनी प्रसन्नता प्रकट की, कहा—'यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ! शपेयं त्वां महाराज ! पराभावाय भारत !' (३८) प्रीतोऽहं पुत्र ! युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ! (३९) कि—यदि तुम न आते; तो मैं तुम्हारी हार मनाता।

फिर युधिष्ठिर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदिके पास भी युद्धार्थ आज्ञा लेने गये। उनसे आज्ञा लेकर तब अपने रथमें बैठे। इसी बीचमें श्रीकृष्ण भी कर्णके पास पाण्डवोंकी ओर से युद्ध करनेकी प्रार्थना करने गये; पर उसने स्वीकार न किया। तब वे लौट आये। पीछे युधिष्ठिरने (भीष्मपर्व ४३।९४-९६) जोरसे घोषणा की कि—जो कौरवोंकी सेनासे हमारे आश्रयमें आना चाहे; वह आ सकता है। तब कौरवोंकी सेनासे धृतराष्ट्रका लड़का युयुत्सु पाण्डव-सेनामें आया। पटह बजाकर उसकी घोषणा कर दी गई। उसके बाद युधिष्ठिरने कवच-धारण किया और शस्त्रास्त्रोंको उठाया। इसके पीछे ही युद्ध शुरू हुआ।

तब भीष्म, द्रोण, शल्य, कर्ण आदिके पास जाने, उन्हें नमस्कार करने, प्रार्थना करने, और उनसे आशीर्वाद लेनेमें थोड़ा समय नहीं बीता होगा; क्योंकि—यह वीर एक-दूसरेके निकट

नहीं थे। इससे पूर्व सेनाओंके व्यूह रचे गये। वे वीर अपने-अपने नियत स्थानोंमें थे। कर्ण तो सारी सेनाके पीछे ही था। लक्षशः सेनाओंके पीछे ठहरे हुए कर्णके पास पहुँचनेमें कमसे-कम एक मील जाना तो अनिवार्य ही था। यह गमनागमन पैदल ही हुआ। प्रत्येकसे संवाद, तथा दूसरेके पास पहुँचनेमें और उनसे पृथक्-पृथक् आशीर्वाद-ग्रहण करनेमें प्रति १५ मिनट भी माने जाएँ; तो डेढ घण्टा तो इसीमें लगा। जब इस प्रकार इतने समयके बाद ही युद्ध शुरू हुआ; क्योंकि—पहले दिन सब कामोंमें सबको देरी लग जाना स्वाभाविक ही होता है; तो गीता सुनानेका समय निकालना असम्भव कैसे हो सकता है? तब स्पष्ट है कि भगवद्गीता महाभारतके समयकी ही है, पीछेसे प्रक्षिप्त नहीं की गई है। इसीके पद्य महाभारतमें बहुत-बार अनूदित किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त गीतामें अपाणिनीय प्रयोग भी दीखते हैं। जैसे कि—'निवसिष्यसि (निवत्स्यसि) (१२।८), 'प्रसविष्यध्वम्' (प्रसूध्वम्) (३।१०), 'एतन्मे (एतं मे) संशयं (६।३९) संयमतां (संयच्छतां १०।२९), हे सखेति—(हे सख इति ११।४१) महिमानं तवेदं (इमं) (११।४१) प्रियः प्रियायार्हसि (प्रियाया अर्हसि ११।४४) 'शक्य अहं (शक्योऽहम् ११।४८, ५४)। 'सेनानीनाम्' (सेनान्याम् १०।२४), 'जिज्ञासुरपि योगस्य' (योगं ६।४४) 'वक्तुमर्हसि' 'आत्मविभूतयः (विभूतीः १०।१६), 'अपनुद्यात्' (नुदेत् २।८) इत्यादि। इससे गीता पाणिनिसे पूर्वकालीन सिद्ध होनेसे महाभारतकालिक सिद्ध हो जाती है। महाभारतकाल श्रीपाणिनिसे प्राक्कालिक है; क्योंकि—

अष्टाध्यायीमें महाभारतीय-पात्रोंके नामोंकी सिद्धि आती है; और पाणिनि महाभारतसे कुछ पीछे हुए हैं-यह सर्वसम्मत है।

इसके अतिरिक्त गीताका उपक्रम तथा उपसंहार भी महाभारतीय युद्धसे ही सम्बद्ध है। इससे स्पष्ट है कि गीता महाभारतका ही अङ्ग है।

(१४) भगवद्गीताकी सर्वप्रियताका कारण।

'भगवद्गीता'में कर्म है अथवा ज्ञान—इस विषयमें बहुत समयसे विचार चल रहा है। एक पक्ष यह है कि—'भगवद्गीता में केवल कर्म है, क्योंकि-भगवद्गीताके उपक्रम-उपसंहारसे यही प्रतीत होता है। उपक्रममें अर्जुन युद्धकेलिए उद्यत होकर भी उसमें गुरुओंको देखकर युद्ध-कर्मसे हट गया। तब भगवान्ने उसे 'गीता' सुनाई और अर्जुन युद्धार्थं उद्यत होगया। युद्ध क्षत्रियका कर्म है; अतः गीताका विषय भी 'कर्म' है।' पर यह बात भी बुद्धिमें नहीं बैठती।

यदि 'गीता'को केवल कर्म ही इष्ट हो, ज्ञान सर्वथा नहीं, तो 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ! बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः (कर्म) फलहेतवः' (२।४६)। (कर्म ज्ञानसे निम्न श्रेणीका है,) 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (४।३३) (ज्ञान होनेपर सब कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है।) 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (४।३८)। 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (४।३१) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' (४।३६) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !' (४।३७) 'सर्वकर्माणि मनसा

संन्यस्यास्ते सुखं वशी' (५।१३) 'सर्वधर्मान् (कर्माणि) परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८।६६) इन पद्योंकी संगति कठिनतासे बैठती है।

यदि गीतामें केवल कर्म विवक्षित हो; उपासना नहीं; तो 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा' (११।५३) यहाँपर कही हुई कर्मकी निन्दा तथा 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।' (११।५४) यहाँपर की हुई उपासनाकी प्रशंसा अन्वित नहीं हो सकती।

यदि गीताके 'योग' शब्दसे 'कर्मयोग' इष्ट हो तो 'कर्मिभ्य-श्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन!' (६।४६) इस पद्यकी भी संगति नहीं लगती। 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (२।४८) यहाँ भी पुनरुक्ति होती है।

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येवात्मना तुष्टस्तस्य कार्यं (कर्म) न विद्यते' (३।१७) यहाँ पर आत्मतृप्त-पुरुषके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं स्वीकृत की गयी। अर्जुन इस प्रकारका नहीं था, इसलिए उसकेलिए कहा है—'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (३।१९)। इन सब बातोंको देखकर सिद्ध होता है कि—गीताको कर्म, उपासना, ज्ञान सभी इष्ट हैं, केवल एक-एक नहीं। कर्मयोग आदिम सोपान, उपासना मध्यम तथा ज्ञानयोग अन्तिम सोपान इष्ट है। यही बात 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (६।३) यह पद्य बता रहा है। 'योगमारोढुमिच्छतो

मुनेः-कर्मफलसंन्यासिनः कर्म कारणं-साधनम् उच्यते। योगारूढस्य पुनस्तस्यैव शमः-उपशमः, सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः कारणं-योगारूढत्वस्य साधनमुच्यते'।

अर्जुनके दृष्टान्तसे गीताकी कर्मयोगपरता भी हृदयंगम नहीं मालूम होती। अर्जुन तो गीतामें निमित्तमात्र है। भगवान्ने गीता अर्जुनको नई नहीं सुनाई; किन्तु इससे पूर्व भी विवस्वान्को सुनाई थी—'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्' (४।१-२-३-४-५-६)। तब अर्जुनका उदाहरण देकर गीतामें केवल कर्म बताना ऐकदेशिकता है। 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्' इस प्रसिद्ध-पद्यमें अर्जुनको 'वत्स' कहा है, गीतामृतको दुग्ध कहा है। बछड़ा सारा दूध नहीं पीता; तब अर्जुन तो बछड़ेकी तरह दूधको क्षरण करानेका निमित्त है; तभी यहाँपर सुधीगणोंको 'भोक्ता' कहा है; अर्जुनको नहीं। तब अर्जुन 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' (११।३३) इस प्रकार भीष्मादिके-मारणकी तरह गीताज्ञानके अधिकारमें भी निमित्तमात्र है, उसका एकमात्र आधार नहीं। तभी श्रीशंकराचार्य-स्वामीने भी कहा है—'सर्वलोकसंग्रहार्थम् अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान्' (२।११)।

'गीताके सुननेके बाद अर्जुनका युद्धमें उद्यम देखकर उससे गीताको कर्म इष्ट है'—इसपर भी जानना चाहिये कि भगवान् युद्धका फल स्वर्ग (२।३७) बताते हैं; परन्तु सिद्धान्तपक्षमें वे स्वर्गको अवर (९।२१) बताकर मुक्तिको श्रेष्ठ (१५।६) बताते हैं। इससे स्पष्ट है,

कि वे निष्काम कर्म कराकर ज्ञानकी ही पुष्टि चाहते हैं; क्योंकि, कर्म सदा सकाम ही होता है निष्काम नहीं—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'।

हाँ, पहली अज्ञानावस्थामें वे सकाम-कर्मका निषेध भी नहीं करते, बल्कि वैसे अज्ञानीको कर्मसे रोकना वे ज्ञानीकेलिए भी उचित नहीं मानते, 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् (ज्ञानी) युक्तः समाचरन्' (३।२६)। तब कर्मकी निष्कामता गीताके मतमें अकर्मतामें परिणत हो जाती है। वह अकर्मता ज्ञानमें पर्यवसित हो जाती है।

अर्जुनको युद्धमें ही प्रवृत्त करना सम्पूर्ण गीताका उद्देश्य नहीं। दस अध्याय तक गीता सुनानेपर भी अर्जुनका अन्तःकरण समाधानको प्राप्त नहीं हुआ। विराट् रूप दिखलाकर जब भगवान् ने अर्जुनको निमित्तमात्र सिद्ध कर दिया; तभी उसके हृदयका समाधान हुआ। तब केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेकेलिए इतनी विशाल-गीता सुनानेका प्रयोजन नहीं रहता। अर्जुन तो गायसे दूध निकलवानेमें बछड़ेकी तरह निमित्तमात्र था। भगवान् ने यहाँ पर सोचा कि मेरे पृथिवी-लोकसे तिरोभाव होनेपर कलियुगके भीषण-आक्रमणवश लोग कर्म-उपासना-ज्ञानसे भ्रष्ट होकर बड़ी हानि उठायेंगे; इस कारण उनके कल्याणार्थ कर्म-उपासना-ज्ञानके सामञ्जस्यसे पूर्ण उपदेश किया। गीताका कर्म-संन्यासपूर्वक केवल ज्ञानपरता भी विषय नहीं; अन्यथा गाण्डीवको छोड़ चुके अर्जुनकेलिए यह कर्म-त्यागकी प्रोत्साहना हो जाती।

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०) इत्यादि पद्योंसे कर्मसे भगवान्‌को मुक्ति इष्ट है—ज्ञानसे नहीं; यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि गीताके मतमें कर्मसे मुक्ति इष्ट होती, तो वह 'यामिमां पुष्पितां वाचं' (२।४२-४३-४४) इस प्रकार कर्मनिन्दा न करती। इससे स्पष्ट है कि—'कर्मणैव हि संसिद्धिम्' इत्यादि-पद्योंका 'कर्म' शब्द 'फलेच्छाविरहितकर्म'-परक होनेसे पारिभाषिक है। आपाततः वह 'कर्म' है, पर गीताके मतमें वह अकर्म है (४।१८)। वेदान्तदर्शनमें भी कहा है—'तुल्यं तु दर्शनम्' (३।४।६) अर्थात् जो ३।४।३ सूत्रके पूर्वपक्षमें कहा है कि—जनक आदि आत्मज्ञानी कर्म करते थे, उसका उत्तर यह है कि—इस प्रकारके आत्मज्ञानियों का कर्म करना न करना तुल्य ही है। उसमें तो 'लोकसंग्रहमात्र' है, वास्तवमें वह 'कर्म' नहीं।

तब गीतामें कर्मसे मुक्ति-आदिकी प्राप्ति नहीं समझनी चाहिये; किन्तु 'अकर्म'से ही। वानप्रस्थ-आश्रम तक कर्मनिरत पुरुष कभी भी वासना-त्याग नहीं कर सकता। ७५ वर्षके बाद जब सब वासनाओंके क्षयकी अवस्था आती है; तभी संन्यासकी आज्ञा है; तब वासना-क्षयवश कर्मफलकी आकांक्षा नष्ट होनेसे अकर्मत्व हो जाने पर, ज्ञानोदयसे क्योंकि—'तत (ज्ञानं) स्वयं योग-(कर्मयोग) संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गी० ४।३८) यथैधांसि समिद्धोग्नि-र्भस्मसात्कुरुतेर्जुन! ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात कुरुते तथा' (४।३७) पूर्व-कर्मोंके क्षय होनेपर वही 'ज्ञान'से मुक्ति हो जाती है।

फलतः गीता-प्रोक्त सिद्धि भी अन्तमें संन्यासित्वमें कर्म वा

कर्मफल-त्याग होनेपर ज्ञानावस्थामें फलित होती है; जैसे वेदमें भी कहा है—'अविद्यया (कर्मणा) मृत्युं तीर्त्वा विद्यया (ज्ञानेन) अमृतमश्नुते' (यजुः सं० ४०।१४)। 'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' (५।२) यहाँ पर भगवान्ने कर्मसंन्याससे भी मुक्ति मानी है। जो कि—'यस्तु कर्मफल-त्यागी स त्यागी (संन्यासी) त्यभिधीयते' (१८।११), यहाँ भगवान् कर्मफल-त्यागीको ही यौगिक-संन्यासी मानते हैं। 'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्' (१८।१२), यहाँ भगवान्ने अत्यागीसे विपरीत त्यागीको 'संन्यासी' कहा है। तब कर्म करनेकी अवस्था-वानप्रस्थाश्रम तक वासनाक्षयके असम्भव होनेसे अन्तमें वही ज्ञानावस्था पर्यवसित हो जाती है। उसी चतुर्थ-अवस्थामें 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' (६।८), 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिः (८।६), 'गवि-शुनि, ब्राह्मणे-श्वपाके समदृष्टिः' (५।१८) ये बातें हो सकती हैं। प्रथम-अवस्थाओंमें यह साम्यवाद नहीं हो सकता। इस कारण कर्म-द्वारा सिद्धिमें कर्मत्याग ही फलीभूत हुआ।

इससे स्पष्ट है कि गीता प्राणिमात्रकेलिए है, केवल अर्जुन वा केवल कर्मीकेलिए नहीं। प्राणिमात्रकेलिए कर्मकाण्ड व्यावहारिक है और ज्ञानकाण्ड पारमार्थिक। इस कारण गीतामें भी कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही हैं। ज्ञानाग्निमें ही सब कर्मोंका भस्मीभाव (४।३७) कहा है। अतः गीतामें केवल कर्म इष्ट नहीं।

जिस प्रकार पूर्णपुरुष-भगवान्की वाणी-वेदमें कर्म, उपासना, ज्ञान—तीनों सम्बद्ध हैं। वेदके ब्राह्मण-भागमें कर्म, मन्त्र-भागमें

उपासना, उपनिषद्भागमें ज्ञान है, वैसे ही पूर्णपुरुष-भगवान्की गीतामें भी तीनों सम्बद्ध हैं। अतः गीताका उपदेश भी पूर्ण ही है, अपूर्ण नहीं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७) इत्यादि स्थलोंमें कर्म, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८।६६) 'पत्रं पुष्पं' (६।२६) इत्यादिमें उपासना, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (४।३३) इत्यादिमें ज्ञान 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः' (११।५५) इत्यादिमें कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका समुच्चय है।

संसारमें कर्मियोंकी संख्या अधिक होनेसे गीतामें कर्म भी अधिक रखा गया है इसलिए कर्मकाण्डकी अवधि भी ७५ वर्ष तक रखी गई है। उपासनाको मध्यम और ज्ञानको अल्पमात्रामें कहा गया है। इसी कारण वेदमें भी कर्मकाण्डके मन्त्रोंकी संख्या ८० प्रतिशत है, उपासना-काण्डकी १६ और ज्ञानकाण्डकी ४ प्रतिशत है। लोकमें भी ज्ञानस्वरूप-नेता थोड़ी संख्यामें होते हैं, उनके पीछे चलनेवाली कर्मठ-जनता अधिक होती है; अधिक होनी भी चाहिये। जनता प्रायः वासनावश सकाम-कर्म करती है; जहाँ उसे वासनाकी तृप्तिका अवसर नहीं मिलता; उस कर्मको सर्वथा छोड़ देती है। निष्काम-कर्म करने पर तो कर्म-अकर्मका सामञ्जस्य हो जाता है; क्योंकि उसमें कर्मका त्याग भी सर्वथा नहीं होता और फिर फलमें अस्पृहतावश वह कर्म भी कर्म-त्यागके तुल्य हो जाता है। इस प्रकार पूर्णपुरुष-प्रोक्त गीता भी पूर्ण ही है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनोंसे युक्त है, केवल कर्मपरक नहीं।

जैसे वेदमें केवल ज्ञानकाण्ड माननेवाले त्रुटि करते हैं, वैसे

ही गीतामें केवल कर्म मानना भी त्रुटिपूर्ण है। वेदकी तरह गीतामें भी कर्मप्रवृत्ति और ज्ञान दोनों हैं। उपासनाका कर्म-ज्ञान दोनोंसे संबंध है; अतः गीतामें कर्म-ज्ञान दोनों ही हैं। यदि उसमें कर्म होता; ज्ञान न होता; ज्ञान होता, कर्म न होता; प्रवृत्ति उसमें होती, निवृत्ति न होती; केवल निवृत्ति होती, प्रवृत्ति न होती; तो 'भगवद्गीता' एकदेशीय पुस्तक हो जाती, अपूर्ण रहती; अतः सर्वप्रिय भी न बन सकती। त्रिविधता होनेसे ही सब प्रकारके अधिकारियोंकेलिए उपयोगी हो जानेसे यह सर्व-प्रिय है। सब एक प्रकारके अधिकारी नहीं हो सकते। इसी कारण 'श्रीमद्भागवत'में भगवान्‌ने उद्धवको कहा था—'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित्' (११।२०।६) इस प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञानके सामञ्जस्य-द्वारा सारे संसारका कल्याण-साधन, साथ ही साथ युद्ध कराकर धर्मकी विजय करना ही गीताका उद्देश्य है।

इसके अतिरिक्त गीतामें प्रायः उपनिषदोंको आधार बनाया गया है; इसीलिए भगवद्गीताकी पुष्पिकाओंमें 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' ऐसा पाठ मिलता है। 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः' यह पद्य भी प्रसिद्ध है। उपनिषदोंमें यद्यपि कर्म है, तथापि ज्ञान भी है। उपनिषदोंमें प्रसिद्ध जनक, अजातशत्रु आदि राजर्षि कर्मपरक भी ब्रह्मज्ञानी थे। उनके आधारसे बनी हुई गीतामेंभी कर्मयोगके साथ ज्ञानयोग भी स्वतः सिद्ध है। हाँ, कर्मकी प्रधानता तथा ज्ञानकी अल्पता तो सम्भव है, जैसे कि वेदमें

भी है। वस्तुतः कर्मको निष्कामतासे करनेका उपदेश उसमें ज्ञान-योगकी प्रधानता बता रहा है। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४।१८) इसमें अपने इष्टकर्मको वस्तुतः अकर्म बताकर उसके आचरण करनेवालोंको 'बुद्धिमान्' बताकर, वस्तुतः उसी अकर्मको कर्म कहने वालोंको, ढंगसे बुद्धि-रहित बताया गया है। इसीलिए अर्जुनने भी 'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन !' (३।१) भगवान्के मतमें कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ समझनेका भगवान्का अभिप्राय समझा है।

इससे स्पष्ट है कि—कर्म आदिम-सोपान होनेसे व्यावहारिक है, क्योंकि वही मल-आवरण-विक्षेप आदि दोषोंके हटानेमें सहायता कर चित्त-शुद्धि करता है, अथवा कर्मके द्वारा मलनाश, उपासनासे विक्षेपका नाश होता है। फिर परमार्थ-कोटिमें ज्ञान-योगका अवसर होनेसे, उससे आवरणके नष्ट होनेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है। इसी कारण द्वैतवाद व्यावहारिक होता है और अद्वैतवाद पारमार्थिक।

फलतः भगवद्गीतामें केवल कर्म नहीं है। कर्म भी है, उपासना भी है, ज्ञान भी है। बल्कि ज्ञानको विशिष्ट-पद दिया गया है—'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ-महं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्' (७।१७-१८)। 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' (१३।११)। तब जिस काण्डका प्रेमी भगवद्गीताको उठाता है, उससे

उसकी इष्टसिद्धि होती है, उसके चित्तको शांति मिलती है। यह अवश्य है कि गीताके मतमें भी कर्म आदिम-काण्ड है और ज्ञान अन्तिम। कर्मकी सिद्धतासे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८)। यहाँपर कर्मयोगकी सिद्धतासे, समयपर ज्ञानका प्राप्त हो जाना कहा है। अतः गीताके मतमें भी ज्ञान अन्तिम-उद्देश्य सिद्ध हुआ; कर्म उसमें साधन बना, अस्तु।

कर्मी भी इसी गीतासे शान्ति, अपना मनोरथ और अपने पक्षका समन्वय प्राप्त करते हैं। उपासक भी इसीसे उपासना सीखते हैं, इसीमें अपना मनोरथ एवं अपने पक्षका समन्वय पाते हैं। ज्ञानी भी इसीसे शान्ति पाते हैं, अपना मनोरथ तथा अपने पक्षका समन्वय पाते हैं। इस प्रकार 'भगवद्गीता' वेदकी भांति मान्य है। वेद भी भगवद्वाणी है, यह भी। 'भगवद्गीता' संसारकी महोच्च-पुस्तक है। वेदके विषयमें तो अधिकार-अनधिकारका प्रश्न साथ है; पर इसकेलिए तो वह भी नहीं है; क्योंकि वेदकी वाणी छान्दस है, गीताकी वाणी लौकिक है। छान्दस-वाणीमें अयज्ञोपवीतियोंका अधिकार नहीं होता; पर लौकिक-भाषाबद्ध-इसमें वह बन्धन नहीं; तभी तो यह क्या देशमें और क्या विदेशमें सर्वत्र आदृत है। इसी कारण यह सर्वप्रिय भी है।

---

(१५) गीताके अन्तिम-मन्त्रका रहस्य ।

भगवद्गीताका अन्तिम मन्त्र यह है। 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥' (१८।७८)

इसे यदि सम्पूर्ण गीताका निष्कर्ष (निचोड़) कहा जावे; तो कोई अत्युक्ति न होगी। सम्पूर्ण रोमहर्षण—श्रीकृष्णार्जुन-संवाद सुननेवाले सञ्जयकी यह उक्ति है। इस पद्यका साधारण अर्थ तो यह है कि—'जिस पक्षमें योगके अधिष्ठाता श्रीकृष्ण हैं और जिस पक्षमें धनुषधारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, भूति (ऐश्वर्य); और स्थिर-नीति है—यह मेरा मत है।'

(क) यह वाच्यार्थ है; यह केवल महाभारत-युद्धकी तात्कालिक परिस्थिति बता रहा है। इससे संजयने पाण्डवोंकी विजय आंकी है। तब यह अर्थ उस समयके अनुकूल होनेसे सार्वकालिक नहीं रहता और गीता भी एकदेशी बन जाती है। कई लोग अब भी इसका यही अर्थ मानते हैं, पर यह अर्थ केवल भक्तोंको प्रसन्न कर सकता है, आजकलके सुधार-युगमें जिसमें सब बातें विज्ञानसे परखी जाती हैं; ऐसे अर्थ माननेमें उत्सुकता नहीं दीखती। उनके मतमें न श्रीकृष्ण अब हैं, न अर्जुन। किसी प्रकार श्रीकृष्णको परमात्माका अवतार मानकर उनकी अब भी विद्यमानता मान ली जावे, पर अर्जुनके मनुष्य होनेसे उसकी तो अब विद्यमानता उनके मतमें नहीं हो सकती। तब इस अर्थके एकदेशी होनेसे अव्यापक हो जानेके कारण वे फिर गीताकी ओर ध्यान भी नहीं

दे सकते।

(ख) कई भक्त लोग इस मन्त्रके अर्थमें दूरकी उड़ान भरते हैं। वे इसीसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस महामन्त्रकी उत्पत्ति बताते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जिस मन्त्रमें योग (व्युत्पत्ति) का अधिपति अर्थात् शब्द 'कृष्ण' है; क्योंकि व्युत्पत्ति शब्दकी हुआ करती है। 'यत्र पार्थो धनुर्धरः' जहाँ पर धनुषसे धारण किया जानेवाला शर (बाण) 'पार्थः' 'पा' धातुके अर्थको धारण करनेवाला हो, 'पा'का अर्थ होता है 'रक्षण'। सो 'शर'का 'रक्षा' अर्थ कब हो सकता है ? वह तब हो सकता है; जब उसे 'शरणं' बना दिया जावे। अब मन्त्र बन गया 'कृष्णः शरणं'।

'तत्र श्रीः, मम' उक्त मन्त्रकी आदिमें 'श्री' रखदो; अन्तमें 'मम' रख दो। अब बन गया 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। अब इसी पद्यमें इस गुप्त-मन्त्रका माहात्म्य बताते हैं—'विजयो भूतिः, ध्रुवा, नीतिः, मतिः' अर्थात् 'इस महामन्त्रका जप करनेसे विजय प्राप्त होगी, ऐश्वर्य प्राप्त होगा, अचल-नीति प्राप्त होगी, मति अर्थात् बुद्धि प्राप्त होगी' ऐसा अर्थ नैरुक्त-शैली हो जाती है।

पर आजका युग नैरुक्त-शैलीका पक्षपाती होता हुआ भी इस मन्त्रके केवल-जापसे भी इतने फलकी प्राप्ति नहीं मानता। वह केवल-शब्दके जपनेसे कुछ भी फल नहीं मानता। यद्यपि विज्ञान आजकल शब्द-रूप मन्त्रमें भी बड़ी शक्ति मानने लग गया है, संगीतके शब्दसे ही मृग पकड़ा जा सकता है, किसीके मनको पकड़ा जा सकता है। शब्दसे ही सारी सेनाका संचालन किया

जाता है। मल्हार रागके शब्द गानेसे ही वर्षा होती है; शब्दसे ही बड़े-बड़े युद्ध और शब्दसे ही बड़े-बड़े संघ-संघटन बना करते हैं; तथापि नास्तिकताकी ओर प्रवृत्त यह युग उक्त-अर्थको भी स्वीकार करनेमें नाक-भौं सिकोड़ता है।

(ग) कई भक्तिकी कोटिसे ऊँचे उठे हुए और वर्तमान-युगकी गतिविधिको समझनेवाले विद्वान् उक्त पद्यका आशय यह बताते हैं कि—'श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों धर्मके सजीव प्रतिनिधि हैं। सो वे जिस पक्षमें हैं; उसी पक्षकी विजय होती है। पाण्डवोंके पक्षमें धर्म है; उनकी विजय होगी। कौरवोंके पक्षमें अधर्म है; उनकी पराजय होगी'—यह इस पद्यका उनके मतमें संजयाभिमत आशय है। वैसा हुआ भी। अधर्मी कौरव हार गये, धर्मात्मा पाण्डव जीत गये।

पर आजके धर्म-निरपेक्ष राज्यमें 'धर्म' शब्द सुनते ही सुधार-वादी अपने कानोंको बन्द करने लगते हैं। वे कहते हैं कि—इसी धर्मसे महायुद्ध हुए और हो रहे हैं और होंगे। हम शान्तिके इच्छुक हैं; अब इस धर्मको कब्रमें दफना देना चाहिये। और पाण्डव तथा श्रीकृष्ण कितने भी धर्मात्मा हों; पर युद्धके समय इन्होंने भी कम अधर्म नहीं किया। अर्जुनने थके हुए अपने शिष्य सात्यकिका सिर काटनेकेलिए उठाए हुए खड्गवाले भूरिश्रवा-योद्धा का हाथ, दूरसे बाण मारकर काट दिया; और फिर सात्यकिने उसी खड्गसे भूरिश्रवाका सिर काट दिया। क्या यह धर्म था? श्रीकृष्णने रथके चक्रके उद्धारमें लगे हुए कर्णको अर्जुन द्वारा

मरवा दिया। क्या यह धर्म था ?

'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुञ्जरो वा' ऐसा गोलमोल-शब्द युधिष्ठिरने कह दिया और 'कुञ्जरः' कहनेके समय श्रीकृष्णने शंख बजा दिया, भीमसेनने उस समय सिंहनाद कर दिया; शेष पाण्डव तथा सैनिक अपने ढोल बहुत जोरसे बजाने लगे—जिससे उक्त शब्द द्रोणाचार्यके कानमें नहीं पहुँच सके। इससे उनने शस्त्र-त्याग करके प्राणायाम चढ़ा लिया। उसी समय धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यका तलवारसे सिर काट लिया—क्या यह धर्म था ?

वस्तुतः युद्धोंमें धर्म-अधर्म देखा भी नहीं जाता। इसका नाम नीति होता है। इस नीतिद्यूतसे प्रतिपक्षीको पराजित करना पड़ता है। अतः यह अर्थ भी आधुनिक-युगको नहीं रुचता। अब ऐसे अर्थकी आवश्यकता है—जो इस सुधार-युगमें भी सबका सिर स्वीकृतिसे हिलवा दे और वह अर्थ गहरेमें गोता लगानेसे निकल सकता है, अब उसी अर्थको हम उपस्थित करते हैं; जो आस्तिक-नास्तिक, धर्मात्मा तथा सुधारवादी सभीको सम्मत हो।

(घ) वह यह है—जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं। योगेश्वरसे यहाँ यह भाव है कि—ज्ञानके प्रतिनिधि, सजीव ज्ञान श्रीकृष्ण हैं। जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं। धनुषधारीसे अभिप्राय है कि—कर्म-प्रवृत्त, सजीव कर्म अर्जुन हैं। निष्कर्ष यह है कि जहाँ ज्ञान और कर्मका समुच्चय है, समन्वय है; वहीं श्री (शोभा) और विजय है; वहीं ऐश्वर्य एवं ध्रुव नीति है—ऐसा मेरा मत है। क्योंकि पाण्डवोंके पक्षमें ज्ञान और कर्मका ठीक-ठीक मेल है। इसमें

श्रीकृष्ण ज्ञान हैं और अर्जुन कर्म है, अतः इसी पक्षकी विजय होगी—यह संजयका आशय है।

यह बात ठीक भी है। जहाँ केवल कर्म होता है; वहाँ भी विजय नहीं होती; क्योंकि—वहाँ ज्ञानी न होने से मार्ग-प्रदर्शन नहीं होता। जहाँ केवल ज्ञान होता है, वहाँ भी विजय नहीं होती; क्योंकि—ज्ञान, क्रिया के बिना व्यर्थ हो जाता है—'ज्ञानं भारः क्रियां विना।' सभी उपदेशक हो जाएँ, केवल मार्ग-प्रदर्शक ही रहें; कर्म करनेवाला कोई न रहे; तब सफलता कैसे मिल सकती है? अतः दोनोंके समन्वयसे सफलता हुआ करती है।

यही बात वेदमें भी कही है—'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ (यजु० वाज० संहिता ४०।१२) यहाँ 'अविद्या' केवल-कर्मकी उपासना करने वालेको अन्धेरेमें रहनेवाला बताया है और 'विद्या' केवल-ज्ञानका अवलम्बन करनेवालेको पूर्वसे भी अधिक अन्धेरेमें रहनेवाला बताया है। कर्मका नाम 'अविद्या' इसलिए है कि—उसमें ज्ञानका सम्बन्ध नहीं होता; उसे जैसे कहा जाता है—वैसे ही करना पड़ता है। इससे केवल कर्म तथा केवल ज्ञान दोनों पृथक्-पृथक् असफलताके ही कारण बताये गये। अब वेद दोनोंका समुच्चय बताता है—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (४०।१४)

यहाँ अविद्या (कर्म)से मृत्यु (असफलता) दूर होना तथा विद्या (ज्ञान)से अमृत (सफलता)की प्राप्ति कही है। इससे कर्म तथा ज्ञान

के समवायको विजय-आदिका साधन वताया है। यह केवल यहां नहीं, किन्तु सर्वत्र ही यह समन्वित होगा।

आप छात्रोंकी परीक्षाको ही ले लीजिये। जो छात्र केवल रट लगानेवाला है; वह भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। रटना 'अविद्या' है। पर जो केवल समझ (ज्ञान, विद्या) रखनेवाला छात्र है; वह पूर्वसे भी अधिक असफलता प्राप्त कर सकता है। पर जो छात्र कर्म और ज्ञान, रट और समझ दोनों रखता है, वह रटनेसे अनुत्तीर्णताके भय (मृत्यु)को पार करके, समझसे उत्कर्षको, अच्छे अङ्कोंको प्राप्त करता है।

यही बात आप युद्धोंमें ले लीजिये। युद्धोंमें सेना होती है—कर्म, और ज्ञान होता है सेनानायक। यदि केवल सेना हो, मार्ग-प्रदर्शक ज्ञानी सेनानायक न हो; तब भी विजय कैसे मिले ? यदि केवल ज्ञान सेनापतिही हो, सेनारूप कर्म न हो; तो पराजय निश्चित ही है। इसलिए 'कर्म' चाहिये अधिक, ज्ञान चाहिये थोड़ा, पर उत्तम; दोनोंका ठीक समन्वय हो; तब विजय असन्दिग्ध होगी। इसी प्रकार युद्धमें शस्त्र-बल वा भुज-बल है कर्म, पालिसी है ज्ञान। यह दोनों जिस पक्षमें यथावत् होंगे; उस पक्षकी सफलता निश्चित होगी।

इस बात को सभी ओर घटाइये। हमारे हिन्दु-जीवन को ही ले लीजिये। इसमें ७५ वर्ष तक यज्ञोपवीत रखकर कर्म करने पड़ते हैं। कर्मके साथ उपासना भी गृहीत हो जाती है। उपासनाका कर्म-ज्ञान दोनोंसे सम्बन्ध होता है। शेष २५ वर्ष तक ज्ञान रखना पड़ता

है। इस समुच्चयसे मुक्ति-प्राप्ति सुलभ हो जाया करती है। इस प्रकार आप दूकानदारीको ही ले लीजिये; पुस्तक-प्रकाशनको ही ले लीजिये, किसी देशको ही ले लीजिये; जिसमें ज्ञान और कर्मका समन्वय होगा; उसमें उसकी सफलता निश्चित है। दूकानदारीमें उपयोगी-वस्तुओंका संग्रह कर्म है; उनका ग्राहकोंकी प्रसन्नताके उपायोंको आविष्कृत करके विक्रय करना यह ज्ञान है। दोनोंके समुच्चयसे दूकानदारी चल निकलेगी। पुस्तक-प्रकाशन या पत्र-प्रकाशनमें बाहरी सज-धज 'कर्म' है, भीतरी उपयोगी-सामग्री 'ज्ञान' है। दोनोंका समन्वय लाभकारक होगा। देशमें प्रजा 'कर्म' है, उसका राजा, नायक 'ज्ञान' है। समाज 'कर्म' है, नेता—लीडर 'ज्ञान' है। 'कर्म' चाहिये अधिक, 'ज्ञान' चाहिये थोड़ा, पर अत्युत्तम; तब तो सफलता होगी। यदि ज्ञान बहुत हुआ, और कर्म थोड़ा हुआ; लीडर बहुत हुए, जनता थोड़ी हुई; राजा बहुत हुए, प्रजा थोड़ी हुई; वक्ता बहुत हुए, श्रोता थोड़े हुए; तब उसमेंभी सफलता मिलने की आशा नहीं होती। बहुत-ज्ञानसे फिर कुछ भी निश्चित नहीं हो पाता। बहुत लीडर हों; बहुत राजा हो जाएं; तो आपसमें तू-तू, मैं-मैं होकर कई विवाद खड़े हो जाएंगे। सफलता सर्वथा नहीं होगी। किसी सोसायटीके उत्सवमें वक्ता अधिक हों, श्रोता कम हों; तो अपील करनेपर धन कहांसे जमा होगा?

'ज्ञानी भले ही अधिक न हों, पर चाहियें उत्तम; इससे वह सम्प्रदाय वा धर्म खूब फैल जाता है। केवल उपदेशक हों तो धर्म पर विपत्ति पड़ने पर खड़े-खड़े ताका ही करते हैं; अपनी जान

उनको प्यारी होती है; वे मरने-मारनेके लिए तैयार होना नहीं चाहते। ज्ञान इस समयमें कट्टर लोग ही होमते हैं, उनको उस धर्मका अन्ध-मोह होता है। वे उस धर्मसे प्यार करते हैं; पीछे नहीं हटते; अतः वे धर्मकी रक्षार्थ मर-मिटते हैं। अपना बलिदान दे देते हैं। प्रातः वे ही उठते हैं, सर्दीमें नहाते हैं, सन्ध्या-होमादि करते हैं, उपदेशक-महोदय तो सूर्योदय होनेपर विस्तर छोड़ते हैं; सन्ध्या-हवनादि कर्म तो उनके नाममात्रके होते हैं। अतः दोनों ही चाहियें। सफलता ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे ही होती है; तब वह धर्म वा सम्प्रदाय ओर से छोर तक फैल जाता है, उसके मानने वालोंकी संख्या बढ़ जाती है।

यही बात जातियोंमें ले लीजिये। विश्वमें कुछ मुसलमान-आदि जातियां 'कर्म' स्वरूप हैं; इनमें कट्टरपना बहुत है, पर 'ज्ञान' नहीं; अतः यह भी पूर्ण-सफल नहीं हो सकती। पर 'कर्म'-परक जाति केवल ज्ञानवाली-जातिकी अपेक्षा फिर भी अधिक लाभ उठा लेती है। 'हिन्दु' जाति आजकल 'ज्ञान' स्वरूप है—अतः यह भी पूर्ण सफल नहीं होती। अतः इसकी संख्या भी अब घटती चली जा रही है। पर पूर्व-समय इसमें ज्ञान और कर्म दोनों समुच्चित थे; अतः इसका ही तो सारे भू-मण्डल पर शासन था। पर जो जाति वा जो सम्प्रदाय कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय न रखेगा; उसका पतन हो जाया करेगा। 'कर्म' फिरभी कुछ समय तक टिका देता है, पर ज्ञानके पांव नहीं होते। केवल-ज्ञान पतन करा देता है। इसीसे ही हिन्दु-जातिका शासन भू-मण्डल परसे फिसला; अब

फिर अपने देशसे भी फिसलना चाहता है। पर हमें गीताका अन्तिम श्लोक समझा रहा है कि—योगेश्वर कृष्ण, मार्ग-प्रदर्शक, सजीव ज्ञान भी चाहिये, धनुर्धारी अर्जुन भी, सजीव कर्म भी अपेक्षित है; तभी श्री, विजय, ऐश्वर्य प्राप्त होगा। क्या कारण है कि बहुत होकर भी कौरव नहीं जीत सके, थोड़े पाण्डव जीत गये? कारण यह है कि—कौरव केवल 'कर्म' रूप थे; उस पक्षमें अपेक्षित 'ज्ञान' नहीं था। पर पाण्डवोंके पक्षमें अर्जुन 'कर्म' थे; श्रीकृष्ण थे मूर्त 'ज्ञान'। कर्मका रहना तो आवश्यक होता ही है। तभी तो श्रीकृष्णने कर्णकी एकवीरशत्रुघातिनी शक्तिसे अर्जुनको बचवानेकेलिए रात्रि-युद्ध शुरू करवाके घटोत्कचको मरवा दिया। और फिर 'श्रीकृष्ण' रूप 'ज्ञान' न होते; तो मार्ग-प्रदर्शन कौन करता? तभी तो अर्जुनने—शस्त्रके न उठानेकी प्रतिज्ञा करनेवाले भी—श्रीकृष्णको ही चुना; पर दुर्बुद्धि-दुर्योधनने ऐसे श्रीकृष्णको लेना व्यर्थ समझकर उनकी नारायणी-सेनाको ही ले लिया। इसी भूलका परिणाम उसे पराजय मिला।

प्रतिवर्ष 'गीता-जयन्ती' हमें इसी 'ज्ञान'को देने वा बताने आती है; पर हम 'कर्म' द्वारा उसे नहीं मिलते; उसका अवलम्बन नहीं करते; तब वह असफलताका साँस भरती हुई निराश होकर लौट जाती है। गीताका पाठ कीजिये, यह तो होगा 'कर्म', फिर इसके निष्कर्ष-रूप अन्तिम पद्यका जिसकी हमने व्याख्या की है—मनन कीजिये, यह हो जायगा 'ज्ञान'। बस दोनोंके अवलम्बनसे और जनताको भी इधर चलानेसे 'मानवधर्म'का प्रचार वा प्रसार ही

होगा। संसार सुखी और समृद्ध होगा। बस, फिर सफलता ही सफलता है; हमारे भारतकी फिर विजय ही विजय है। तभी इसको श्री एवं ऐश्वर्य प्राप्त होगा, फिर और चाहिये क्या? आइये पाठक! 'कर्म और ज्ञानका समुच्चय' इस मूलमन्त्रका जाप कीजिये और फिर उठिये, इस 'ज्ञान'को लेकर 'कर्म' कीजिये और कराइये फिर तो हमारा बेड़ा पार है; विजय है, श्री है, आनन्द है। यही बतानेको 'गीता-जयन्ती' हमारे पास आती है।

(१६) गीताका गूढ उद्देश्य वा विषय।

गीताका उद्देश्य स्वर्ग है या मुक्ति—यह एक संशय है, गीता वेदविरोधिनी है या नहीं; यह दूसरा संशय है। गीताका विषय कर्म है वा ज्ञान; यह तीसरा संशय है। गीताका यज्ञ कौन-सा है—यह चौथा संशय है। इसपर विचार आवश्यक है।

यदि गीताका उद्देश्य स्वर्ग है, तो वह 'स्वर्गपराः' (२।४३) 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९।२१) 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम' (१५।६) यहाँ स्वर्गपर आक्षेप क्यों करती है? यदि गीताका उद्देश्य मुक्ति है; तो वह कर्ममें क्यों प्रवृत्त करती है? कर्मसे तो स्वर्ग वा नरक मिलता है, मुक्ति नहीं। मुक्ति तो कर्मके अत्यन्ताभावसे मिलती है, तभी वह नित्य होती है। कर्मसे मुक्ति मानी जावे; तो कर्मके अनित्य होनेसे मुक्ति भी अनित्य हो जायगी। तभी तो आर्यसमाज-सम्प्रदायमें कर्ममूलक-मुक्तिको अनित्य माना जाता है। या मुक्ति ज्ञानसे मिलती है; पर यह कर्मयोग-शास्त्र ज्ञान कैसे दिलवा सकता है?

यदि गीताका उद्देश्य मुक्ति है; तो 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' (२।३७) इस प्रकार स्वर्गमात्रदायक-युद्धकेलिए अर्जुनको क्यों प्रोत्साहित करती है ? यदि गीता वेदविरोधिनी नहीं है, तो 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (२।४२-४४) इत्यादि-श्लोकों द्वारा स्वर्गप्रापक वैदिक-कर्मकाण्डका खण्डन क्यों करती है ? 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' (२।४५) यहाँ अर्जुनको वह वेदसे विरुद्ध क्यों चलाना चाहती है ? वैदिक-देवपूजाको वह 'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९।२३) यहाँ अवैध कैसे कहती है ?

यदि गीताका विषय 'कर्म' है; तो गीतासे मुक्ति कैसे मिलेगी ? मुक्ति कर्मसे नहीं मिलती, किन्तु ज्ञानसे मिलती है। फिर वह 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०) इत्यादिमें जनक-आदियोंकी कर्मसे मुक्ति 'सिद्धि' शब्दसे कैसे बताती है ? यदि गीताका विषय 'ज्ञान' है, तब इसे कर्मयोग-शास्त्र कैसे बताया जाता है ? अर्जुन उसे सुनकर युद्ध-कर्ममें कैसे प्रवृत्त हुआ ?

गीताको यज्ञ कौनसे इष्ट हैं ? यदि वैदिक यज्ञ; तो उन्हें तो 'यामिमां पुष्पितां वाचं' (२।४२-४४)से गीताने खण्डित कर दिया है। वेदप्रोक्त-देवपूजाको अविधिपूर्वक माना है। तब कदाचित् 'प्राणेऽपानहवनम्' इत्यादि चतुर्थाध्याय-प्रोक्त यज्ञ ही गीताको इष्ट हों—यदि ऐसा हो, तो गीता वेदविरोधिनी सिद्ध हुई। फिर नास्तिकताकी प्रवर्तक हुई; वैदिक लोग इसका सम्मान क्यों करें ?

इस प्रकार बहुत-तरहके प्रश्न गीताके विषयमें उपस्थित होते हैं। यदि इन सबका सर्वाङ्गीण-समाधान करें; तो स्वतन्त्र एक

ग्रन्थ तैयार हो सकता है। पर यहाँ उतना अवकाश नहीं; हमारा विचार है कि-इस विषयमें गीताका 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (२।४७) यह पद्य अंशतः उक्त-प्रश्नोंका उत्तर दे देता है। इस पद्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि—गीताका उद्देश्य मुक्ति है, गीता वेदविरोधिनी, वेदोक्त-कर्मकाण्ड-विरोधिनी अथवा वेदोक्त-यज्ञ-विरोधिनी नहीं है; किन्तु केवल उनके फलको ही हटवाना चाहती है। गीताका विषय है कर्म एवं ज्ञान। वह ज्ञानयुक्त-कर्मसे मुक्तिका उद्देश्य रखती है। गीताको वैदिक-यज्ञ भी इष्ट हैं; पर कामनाको छोड़कर ही। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' जहाँ यह-पद्य शास्त्रीय-विषयमें लाभदायक है; वैसे लौकिक-विषयमें भी। यह यहाँ यथासम्भव दिखलाया जाता है—

यह ठीक है कि-मुक्ति ही सभीके मतमें परम पुरुषार्थ है, स्वर्ग किसीके भी मतमें परम-पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार गीताके मतमें भी मुक्ति ही परम-पुरुषार्थ है। यदि ऐसा है; तब गीता कर्मकेलिए क्यों पुरुषको प्रोत्साहित करती है? इस पर यह जानना चाहिये कि मुक्ति यद्यपि कर्मके अत्यन्ताभावसे ही होती है, गीतासे पूर्व, चतुर्थाश्रममें कर्मसंन्यास एवं ज्ञानसे ही मुक्ति मिलना माना जाता था; तथापि गीताने मुक्तिकेलिए बड़ा सुन्दर उपाय उद्भावित किया। उसके तरीकेसे गृहस्थी भी या कर्मकर्ता भी संन्यासी हो सकता है, मुक्ति पा सकता है। उसका उपाय यही बताया गीताने कि—पुरुषका कर्ममें ही अधिकार है, फलमें नहीं। इसलिए पुरुष

कर्मफलका हेतु मत बने, कर्मरहित भी न बने। इस प्रकार कर्मफल छोड़नेपर हुआ-हुआ भी वह कर्म अकर्म ही हो जाता है, जैसेकि—'कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः' (४।१८)। वही अकर्म ज्ञानरूप होकर मुक्तिदायक हो जाता है। अथवा कर्मसिद्धता होने पर ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। जैसेकि—'तत् [ज्ञानं] स्वयं [कर्म] योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८) तब ज्ञानसे मुक्ति हो ही जाती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इस न्यायसे सभी कर्म किसी फलका उद्देश्य करके ही हुआ करते हैं; पर गीता बताती है कि फलोद्देश्यसे किया जानेवाला कर्म बन्धन-कारक अथवा गिरानेवाला होता है। मुक्तिदायक नहीं होता। बल्कि—फलाशा होनेपर बाह्य-दृष्टिमें अकर्म भी वस्तुतः कर्म एवं बन्धनकारक हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि—वेदमें जो कर्मफल कहे गये हैं; वे प्ररोच-नार्थक हैं, कर्ममें प्रवृत्ति करानेकेलिए हैं। फल-प्राप्तिकी आकांक्षा पैदा करानेकेलिए नहीं हैं। जैसेकि श्रीमद्भागवतमें कहा है—'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः' (११।३।४६) लेकिन अज्ञानी-बच्चोंकी भांति लोग उसकी प्ररोचनाको कर्मके प्रवर्तनमें साधनभूत न मानकर उसे साध्य मानते हुए उस प्ररोचनामें ही लग जाया करते हैं। उसका दुष्फल यह होता है कि—उसमें कर्म करना मुख्य नहीं रहता; किन्तु वहाँ उसका फल ही आँखोंके आगे उद्देश्य-रूपसे नाचा करता है। तब उसी फलमें लगे रहनेसे मूल-कर्ममें विगुणता आजानेसे

बन्धन स्वाभाविक ही हो उठता है।

कोई पुरुष गुलाबजामन पका रहा हो; और मनमें उसके स्वादरूप फलमें लगा हुआ, उसीके सोचनेमें लगकर, उससे हृत-चित्त हो रहे; तो उसका फल क्या होगा? यही कि उन गुलाब-जामुनोंके पाकमें भी त्रुटि हो जावेगी। वे जल जावेंगे वा यथायोग्य नहीं पकेंगे, जिससे उसका फल स्वाद भी नहीं मिलेगा। प्रत्युत वे रोगजनक वनकर उसे बन्धनदायक होंगे; खाटमें वा घरमें उसे बांध रखेंगे। इस प्रकार रोग दूर करनेकेलिए कड़वी दवाई कुनाइन पीनेकी आज्ञा होनेपर पुरुष उसके ऊपर लिप्त हुई खाँडके चाटनेके स्वादमें लग जानेपर कुनाइनसे हटनेवाले रोगको, उसके पीनेमें त्रुटि करके उसे वह अज्ञानी बढ़ाना ही चाहता है। बन्धनसे छुड़ानेकेलिए उसी फलकामनाको ही गीता छुड़ाना चाहती है; वैदिक यज्ञादि-कर्मोंको नहीं छुड़ाना चाहती—यह सूक्ष्म-तत्त्व जाननेवाले विद्वान् जान सकते हैं; आपातदर्शी-जन नहीं। तभी तो कहा है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

तब यह कहनेवाले भगवान् वैदिक-कर्म यज्ञादिसे कैसे हटवा सकते हैं? वैदिक-यज्ञोंकेलिए वेदमें अर्थवादात्मक-कामनाओंके अनुस्यूत होनेसे उन कामनाओंके त्यागका ही भगवान्‌ने उपदेश दिया है। भगवान् चीनीसे लिप्त कुनाइन पीनेकी मनाही नहीं करते; किन्तु उसमें लिप्त खांडके स्वादकी आसक्ति ही छुड़ाते हैं; क्योंकि कामना अपनी ओर खींचकर पुरुषोंके कर्मके वैगुण्यको करानेवाली बन जाती है, जिससे सीमित-फल मिलता है, असीमित

मुक्ति आदि फल नहीं। गीताका मुख्य उद्देश्य मुक्ति है। भगवान् 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (२।४७) यहां अकर्मत्वका निषेध इस उद्देश से करते हैं कि—पहले तो पुरुष 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५) अकर्मा हो ही नहीं सकता। यद्यपि बाहरी-दृष्टिसे अकर्मा दीखे भी सही; तथापि मनमें विविध-फलाकाङ्क्षाओंमें लगा हुआ वह कुछ न करता हुआ भी कर रहा होता है; तो वह अकर्म भी कर्म होता है। और 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' (३।४) यह भी भगवान्का मत है कि—विहित कर्मोंके त्यागसे भी सिद्धि नहीं मिलती।

इस प्रकार भगवान् कर्म नहीं छुड़ाना चाहते; किन्तु उसका फल ही छुड़ाना चाहते हैं। ऐसा होनेपर वह कर्म भी अकर्म ही होता है। भगवान् बिच्छूको नहीं मरवाना चाहते; किन्तु उससे अनुस्यूत उसके डंकको ही निकलवाना चाहते हैं। इस प्रकार डंकके निकलने पर वह विच्छू-विच्छू नहीं रह जाता। विच्छूका बिच्छूपन उसके डंकमें ही है, उसके स्वरूपमें नहीं। इस प्रकार होनेपर फल-रहित कर्म और वास्तवमें अकर्मसे मुक्ति ही होती है, जिसे भगवान् ने 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०) यहाँ सूचित किया है। अभाव नित्य हुआ करता है; अतः उस कर्माभाव-रूप कर्मसे मुक्ति भी नित्य हुआ करती है, कर्मका अभाव उसकी फल-कामनाके त्यागसे ही है, स्वरूपतः कर्म छोड़नेसे नहीं। तब भगवान् वैदिक-यज्ञ आदियोंको नहीं छुड़वाना चाहते,

किन्तु उसकी फल-कामनाको ही छुड़वाना चाहते हैं। 'यामिमां पुष्पितां वाचं' (२।४२-४४) इत्यादिमें 'स्वर्गपराः, कामात्मानः' आदि-लिङ्गसे कामनाको छोड़ना-रूप अनासक्ति ही भगवान्को इष्ट है, वैदिककर्म-त्याग नहीं।

इसी भांति 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' (२।४५) इत्यादिमें भी गुणत्रयके कार्यरूप ऐहिक-आमुष्मिक समस्त-भोगोंमें तथा उनके साधनभूत समस्त-कर्मोंमें ममता, आसक्ति एवं कामना-आदिका उच्छेद ही निस्त्रैगुण्यभाव है। स्वरूपसे समस्त-कर्मोंका त्याग भगवान्के मतमें निस्त्रैगुण्य नहीं; क्योंकि—स्वरूपसे सब कर्मों वा सब विषयोंको कोई भी पुरुष नहीं छोड़ सकता (गीता ३।५) कर्ममात्र त्रिगुणमूलक हुआ करता है; तब गुणातीतता न होने से क्या भगवान्के मतमें कर्ममात्र त्याज्य हो जावेगा? यदि ऐसा है; तो गीताका 'कर्मयोगशास्त्र' यह नाम फिर कैसे हो सकता है? यदि त्रिगुणात्मक भी कर्म त्याज्य नहीं; किन्तु उसका फलमात्र ही त्याज्य है, जैसे कि—'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०) इसमें कहा है, तब भगवान्के मतमें वैदिक-यज्ञादिकर्म भी त्याज्य नहीं; किन्तु उसका फलमात्र ही त्याज्य है।

इसके अतिरिक्त यह शरीर भी तो त्रिगुणका कार्य है (गीता १८।४०); तब शरीरके त्यागका भी गीता क्यों उपदेश नहीं देती? बल्कि शरीर-यात्रा (३।८) चलानेका उपदेश देती है। अपने शरीरका उपघात-रूप आत्महत्या पाप मानी गई है।

परन्तु निष्काम उक्त कर्म तो आचरणीय कहे गये हैं; इस प्रकार त्रिगुणात्मक-कर्मोंका उपघात तो पाप है; परन्तु निष्काम उनका आचरण तो सभी अधिकारियोंकेलिए कर्तव्य ही है। इसीलिए शरीर तथा उससे किये जाते हुए कर्मोंमें उनके फलरूप समस्त भोगोंमें अहन्ता, ममता, आसक्ति, कामना आदिसे रहित होना ही यहां 'निस्त्रैगुण्य' विवक्षित है; अर्थात् तीनों गुणोंके कार्य कर्मफल आदिका छोड़ना ही यहां अभिप्रेत है, वेदप्रोक्त-कर्मोंको छोड़ना यहां विवक्षित नहीं। इससे 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् (९।२३) एतदादिक गीता-श्लोकोंकी भी व्याख्या होगई।

यह आशय है कि—देवता-लोग भगवान्के विशेष अंग हैं (गीता ११।१५, ११।६, अथर्व० १०।७।२७), तब अङ्गीकी पूजा अङ्गोंके बिना कभी नहीं होती। यदि अङ्ग वा अङ्गोंकी पूजा केवल अङ्ग-पूजा मानी जावे; उसके पूजनसे केवल अङ्गकी प्रसन्नता मानी जावे; अङ्गीकी नहीं; तो वह केवल अङ्गपूजा गीताके मतमें अवश्य ही अविधिपूर्वक है; परन्तु यदि अङ्गपूजा अङ्गीकी पूजाकेलिए निमित्तमात्र मानी जावे; वहां लक्ष्य अङ्गीकी पूजा हो; अङ्गीकी प्रसन्नता हो; अङ्गकी नहीं; इस प्रकार अभेद माना जावे; और उसके पूजनमें फलाकाङ्क्षा न की जावे; तब गीताके मतमें वह अङ्ग-पूजन भी अविधि-पूर्वक नहीं होता, अज्ञान-पूर्वक नहीं होता।

इसे इस प्रकार समझिये—दो शिष्य गुरुजीकी लातें दबा रहे थे। एक बाईं जांघ और दूसरा दाहिनी जांघको दबा रहा था।

गुरुजीने करवट बदली। बाईं एवं दाईं जांघें भी बदल गईं। परन्तु अपने-अपने स्थान पर बैठनेके दुराग्रही मूढ उन शिष्योंने यह न सहकर एक-दूसरेकी जांघपर लाठी मार दी कि—दूसरेके दबानेकी टांग मेरी ओर कैसे आ पड़ी? गुरुजी चिल्ला उठे। यह सेवा उन दोनोंकी दृष्टिसे अङ्गपूजन थी; और फलाकांक्षासे की जा रही थी कि—यदि गुरुजीकी मेरे जिम्मे हुई लात दबानेपर प्रसन्न होगई—तो मुझे विद्या आजायगी। यदि वे अज्ञानी न होते, अङ्ग की सेवासे उसमें विद्यमान अङ्गीकी सेवा समझते; अङ्गकी प्रसन्नता से अङ्गीकी ही प्रसन्नता समझते; तब उन-द्वारा ऐसा अवैध आचरण न होता। यही अज्ञान भिन्न-भिन्न देवकी पूजामें परस्पर झगड़ने वालोंका होता है। गुरुजीके गलेमें पुष्पमाला डाली है; इससे अङ्गकी सेवा वा प्रसन्नता इष्ट नहीं होती, किन्तु अङ्गी-गुरुजी के आत्माकी प्रसन्नता ही उसमें अभिमत होती है। अङ्गका प्रसाधन माना जावे; तो वह पूजा चमड़े एवं रुधिर आदिकी होने से अवश्य अवैध होगी।

फलतः अङ्गभूत वैदिक-देवोंकी पूजा भी यदि अङ्गी-परमात्मासे अभेद बुद्धि करके तथा कर्मफलको अनुद्दिष्ट करके की जावे; तो वह गीता-सम्मत है; एवं मुक्ति-प्रदात्री है! फलका उद्देश होने पर वही स्वर्गादि-सीमितफल एवं बन्धन देनेवाली होती है। गीतानुसार केवल उससे फलकी आकाङ्क्षा हटा दो।

भगवान् ने अर्जुन-द्वारा युद्ध करवाया और अर्जुनने किया; क्या अर्जुन नहीं जानता था कि—शास्त्रोंमें युद्धका ऐहिक-फल विजय

है और प्रत्यक्ष तो हिंसा है, और पारलौकिक फल स्वर्ग है ? जैसे कि वेदमें कहा है—'ये युध्यन्ते प्रधनेषु (युद्धेषु) शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा (यज्ञेषु) सहस्रदक्षिणाः' (ऋ० १०।१५४।३) कौटलीय-अर्थशास्त्रमें भी कहा है—'वेदेष्वपि अनुश्रूयते—समाप्तदक्षिणानामवभृथेषु, सा ते गतिर्या शूराणाम्' (१०।३।३२-३३)। बोधायन-पितृमेध-सूत्रमें भी कहा है—'यां गतिं यान्ति युधि युद्धशूराः' (३।४।१४-१५)। मनुस्मृतिमें भी कहा है—'युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' (७।८९)। क्या भगवान् श्रीकृष्ण भी नहीं जानते थे कि युद्धका फल स्वर्ग है, मैं उस क्षयी फलवाले स्वर्गके लिए अर्जुनसे क्यों युद्ध करवाता हूँ ? अवश्य जानते थे; बल्कि स्वयं ही तो भगवान्ने अर्जुनको कहा था—'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम्' (२।३२) 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (२।३७)।

इस प्रकार श्रीकृष्ण एवं अर्जुन दोनों ही जानते थे कि युद्ध का पारलौकिक-फल स्वर्ग है, और ऐहिक-फल राज्यभोग है, तथा वर्तमान-फल हिंसा है; तब गीतामें स्वर्गको क्षयी दिखलाने वाले और कामोपभोग छुड़वाने वाले तथा मुक्तिकेलिए प्रोत्साहित करने-वाले भगवान्ने, गुरुओंकी हिंसा आदिसे डरे हुए अर्जुनसे युद्ध क्यों कराया ? गुरुओंकी हिंसासे डरे हुए अर्जुनने ही युद्ध क्यों किया ? इसमें तात्पर्य यह है कि जब भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दे दिया कि—'मामेकं शरणं व्रज' (१८।६६), और

अर्जुनने भी स्वीकार कर लिया कि—'करिष्ये वचनं तव (१८।७३), तब उसमें यही रहस्य है कि—कामोपभोग छुड़ानेवाले भगवान्, अर्जुनको उस युद्धसे नहीं हटवाना चाहते थे, किन्तु 'उसके फलको न चाह कर तू युद्ध कर' यह भगवान्का अभिप्राय था कि-फलकी कामनासे रहित केवल युद्धरूप-कर्मसे न तो तुम्हें गुरुओंकी हिंसाका फल मिलेगा; न पारलौकिक-स्वर्गफल मिलेगा; इसी प्रकार युद्धकी भांति वैदिक-देवयज्ञका फल भी परलोकमें स्वर्ग है—(गीता ९।२०), और इस लोकमें इष्टभोगोंकी प्राप्तिका फल है—(गीता ३।१८); तथापि भगवान्का उसे हटवाना इष्ट नहीं; किन्तु युद्ध करवानेकी भांति देवपूजाका करवाना ही इष्ट है, और उसमें पूर्वकी भांति रहस्य यह है कि—फलकी आकांक्षाको मनमें न रखो, अथवा उस देवपूजाका जो फल है; उसे भी मुझमें अर्पण कर दो; उस फलसे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करके देवपूजन करो—इस प्रकार करनेसे सीमित-इष्टफल स्वर्गादिफल वा अनिष्ट-फल बन्धन न मिलेगा, किन्तु असीमित-मुक्तिरूप फल मिलेगा। यही भगवान्ने कहा है—'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्य-त्यागिनां प्रेत्य, न तु (कर्मफल) संन्यासिनां क्वचित्' (१८।१२) यहां कर्मफलके त्यागियोंको इष्टानिष्ट दोनों प्रकारके फलकी अप्राप्ति कहकर बन्धनसे मुक्ति (छुटकारा) बताई है। तब स्पष्ट है कि-गीता बिच्छूको नहीं मरवाना चाहती, किन्तु बिच्छूके दंशकण्टकं (डंक) को ही निकलवाना—दूर करवाना चाहती है। क्षत्रियकेलिए युद्ध भी वैदिक कर्मकाण्डकी भांति सकाम होनेसे स्वर्गादिभोगरूप तथा

गतागतकी बन्धनकी पीड़ा देनेवाले होनेसे बिच्छूके समान है। गीता उस बिच्छूरूप युद्धको, इस प्रकार संसार यात्रारूप युद्धको नहीं हटवाना चाहती; किन्तु उसके डंकके समान उसके फलको ही हटवाना चाहती है। वैसा होनेपर युद्ध-युद्ध नहीं रह जाता; इसलिए उसका फल स्वर्ग भी नहीं मिलता। अकर्म हो जानेसे उससे बन्धनसे मुक्ति ही प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार वैदिकयज्ञ, वैदिक-देवपूजादि कर्मके विषयमें भी भगवान्‌का आशय स्वयं समझ लेना चाहिये।

पहले कालमें वैदिक कर्मोंसे स्वर्गकी प्राप्ति मानी जाती थी, कर्मसंन्यासरूप अकर्म वा ज्ञानसे मुक्ति मानी जाती थी, परन्तु भगवान्‌ने उसमें यह सुधार किया कि—वैदिक-कर्मसे भी मुक्ति मिल जाती है; केवल उसमें फलभोगकी आसक्ति छोड़ देनी चाहिये; ऐसा होनेपर अकर्म (कर्माभाव) हो जाता है, यही कर्म-संन्यास होता है इसीसे मुक्ति हो जाती है। तभी तो भगवान्‌ने जहां-तहां कहा है कि—कर्म तो करो; पर उसका फल मत चाहो। इसी बातको यही पद्य बताता है कि—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (२।४७)।

इसका यह आशय है कि पुरुषोंका कर्ममें ही अधिकार है; क्योंकि वह कर्म करनेमें सक्षम होते हैं। उसके फलमें उनका अधिकार नहीं; क्योंकि वह उनके बसकी बात नहीं। किस कर्म का क्या फल होगा और कब होगा, यह वे नहीं जान सकते। वे उसे स्वेच्छानुसार क्रम वा अक्रमसे प्राप्त नहीं कर सकते;

क्योंकि—'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति यच्चेतसा न निहितं तदिहाभ्युपैति' अपना सोचा हुआ दूर चला जाता है; न सोचा हुआ आ उपस्थित होता है। पुरुष पुत्रेष्टियज्ञ कर सकता है; तथापि उसके फलकी प्राप्ति उसके अधीन नहीं होती, किन्तु दैवके अधीन होती है। कोई भी पुरुष कर्मफलका हेतु न बने। कर्मफलासक्त-पुरुष अपनेको इष्ट, अनिष्ट फलका हेतु बना डालता है; अनासक्त तो नहीं (गीता १८।१२)। किसी भी पुरुषकी अकर्ममें भी सक्ति न हो; क्योंकि विहित-कर्मके त्यागमें सिद्धि नहीं होती। जैसे कि—'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' (३।४)। और फिर मोहपूर्वक कर्मत्याग तामस होता है—(१८।७)। कायक्लेशके भयसे कर्मत्याग राजस होता है (१८।८)। और जो स्वरूपसे कर्मत्याग चाहे, वह वैसा नहीं कर सकता (३।५)। स्वभाव पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त करता ही है (३।३३,१८।५९-६०) तब हे अर्जुन! तू भी फलासक्ति छोड़कर कर्म कर, यह तात्पर्य निकलता है।

लौकिक-दृष्टिसे भी यह पद्य उपयोगी है। हम कर्मकर्ता हैं; उसका फल परमात्मा ही देता है; उसमें जीवका अधिकार नहीं। यदि हम उसमें फलदृष्टि रखेंगे, तब कर्ममें विगुणताकी भी आशा हो सकती है। यदि हमें हमारा इष्टफल न मिला; तो हम निरुत्साह होकर अकर्मण्य भी हो सकते हैं। परन्तु भगवान्ने हमारे सामने ऐसा सुन्दर प्रकार रखा है, जिससे हमें अन्तः-सन्तोष वा शान्ति होती है।

जो परीक्षादित्सु छात्र उत्तीर्णतारूप-फल उद्दिष्ट करके परिश्रम-

रूप कर्म करते हैं; उसके फल न मिलने पर वे इस प्रकार निराश हो जाते हैं कि उनमें कई चलती-रेलगाड़ीके नीचे आ गिरते हैं। दूसरे उस परीक्षासे ही विरक्त होकर सर्वथा अकर्मण्य हो जाते हैं। अथवा जो दूसरे केवल उत्तीर्णताकी दृष्टि रखनेवाले उत्तीर्णता प्राप्त करके भी जो कि योग्यता प्राप्त नहीं करते; उसका कारण यही होता है कि वहां वे केवल उत्तीर्णताका ही उद्देश्य रख लेते हैं। तब उस फलकी दृष्टिमें उनकी कर्ममें विगुणता भी हो जाती है, जिससे उनकी परम-पुरुषार्थरूप योग्यता नहीं होती, किन्तु उन्हें सीमित फल-सर्टिफिकेटमात्र प्राप्त हो जाता है, असीमित फल योग्यता नहीं मिलती; जो सर्वत्र लाभ करनेवाली होती है। इस प्रकार जगत्के कर्ममात्रमें जान लेना चाहिये।

भगवान् कर्मके फलको अनुद्देश्य कहकर कर्मकी सर्वथा निष्फलता नहीं बता रहे, किन्तु सीमित फलसे दृष्टि हटवाकर, कर्मको पूर्णरूपसे करवाकर लोगोंको असीमित-फलकी प्राप्तिका अवसर देते हैं। यह वस्तुतः ठीक भी है कि—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'। इससे असफलोंको निराशा वा अनुत्साह नहीं होता, उनका धैर्य विगलित नहीं होता, और सफलोंको भी अभिमान नहीं होता। अथवा असफलताका अनुमान करके पुरुषोंमें अकर्मण्यता भी प्रवृत्त नहीं होती। वह कर्म पूर्ण हो जाता है, विगुण नहीं होता। इसी पद्यसे उपक्रममें उपक्षिप्त विषयमें भी यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि गीता वेदविरोधिनी नहीं है, और वैदिक-यज्ञ तथा देव-

पूजादि कर्मकी विरोधिनी नहीं है। उसका परम-पुरुषार्थ मुक्ति ही है, स्वर्ग नहीं। उसका ज्ञानयुक्त कर्म अर्थात् फलाशा-रहित कर्म ही विषय है। ऐसा होनेपर वह कर्म अकर्म ही होकर ज्ञानको प्राप्त कराकर मुक्ति दिलवाता है, फलयुक्त कर्म तो स्वर्गपद प्राप्त कराकर फिर वहांसे गिरा देता है। 'संयमाग्निषु जुह्वति' इत्यादि यज्ञ वैदिक-देवयज्ञोंकी फलाशात्यागमें ही चरितार्थ हैं, कोई नवीनयज्ञ-प्रदर्शनमें नहीं।

ऐसा अद्भुत ज्ञान देनेवाली, हमें गृहस्थमें ही संन्यासका फल देनेवाली, उसी भगवद्गीताकी यह मार्गशीर्ष शुक्ला-एकादशी जयन्ती है। इसमें गीताका उपदेश अनुसृत करके हमें परम-पुरुषार्थ मुक्ति पानेका प्रयत्न करना चाहिये।

(१७) श्रीगणेश-चतुर्थी

श्रीगणेशके चार व्रत माने गये हैं। १म दूर्वागणेश, २य कपर्दी विनायक, ३ सिद्ध-विनायक, ४ संकट चतुर्थी। इनमें दूर्वागणेश श्रावण वा कार्तिककी शुक्ला चतुर्थीको होता है। कपर्दीविनायक-व्रत श्रावणकी चतुर्थीसे शुरू होकर भाद्रपद शुक्ला-चतुर्थी तक होता है। सिद्धविनायक-व्रत भाद्रपद-शुक्ला चतुर्थीको होता है। ४र्थ संकट-चतुर्थी व्रत माघकृष्ण चतुर्थीको होता है। इनमें संकट-चतुर्थीका वर्णन तो हम अग्रिम निबन्धमें करेंगे; अब यहाँ सिद्ध-विनायक व्रतके विषयमें निरूपण करते हैं।

यह व्रत भाद्रशुक्ला चतुर्थीको होता है। इस दिन चन्द्र-दर्शनका निषेध होता है। इसे वैज्ञानिक रूपमें इस प्रकार वर्णित किया जा

सकता है। यह तिथि चौमासेमें आती है। चौमासेमें सबकी उदराग्नि मन्द होती है; जिससे खाया-पीया हज़म नहीं होता। लोग रोगी हो जाते हैं; उनके कल्याणार्थ चतुर्थीके मध्याह्नमें श्रीगणेश प्रादुर्भूत होते हैं। चौमासेमें अग्निमन्दताका कारण होता है सोमकी अधिकता। उस सोमको मन्द करनेकेलिए श्रीगणेश अवतीर्ण होते हैं। जो उस देवकी पूजा करता है, वह नीरोग हो जाता है।

उसमें रहस्य यह है कि—गणेश अग्निस्वरूप हैं। उनका पूजन अग्नि-सन्दीपन है। गणेशजीका बीजमन्त्र 'गं' है। इसमें ग्, अ, और अनुस्वार यह तीन वर्ण हैं। अग्नि सत्यलोकमें रहता है। वह नीचे पृथ्वीलोकमें आकर अपने उत्पत्तिस्थानमें फिर वापिस लौटता है। 'ग' अग्निस्वरूप है। क, ख, ग, घ, ङ यह पाँच अक्षर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्चमहाभूतोंके प्रतीक हैं। भूतोंमें अग्निरूप तेज तीसरा है। ककारादि पाँचोंमें तीसरा 'ग' है। श्रीगजानन गणेशकी सूंड भी गकारकी आकृतिकी है, अतः अग्निस्वरूप है। अग्नि पञ्चमहाभूतोंके मध्यस्थानमें होने से अग्निस्वरूप-गणेशजीको भी मध्यस्थानमें प्रतिष्ठापित किया जाता है।

अग्निका वर्ण रक्त होता है, गणेशजीका भी सिन्दूर-वर्ण है। अतः गणेश पार्थिवाग्नि ही है। रुद्रको वेदमें अग्निरूप माना गया है—'रुद्राय नमो अस्तु अग्नये' (अ० ७।६२।१)। पार्वतीको पृथिवी माना गया है। दोनोंका लड़का होनेसे 'आत्मा वै पुत्र नामासि'

(निरुक्त० ३।४।२) गणेश पार्थिवाग्नि संगत ही हैं। उक्त-मन्त्रका 'ग' आ चुका। शेष 'अ' मध्याह्नकी सप्त-व्याहृतिरूप समरेखाको, और अनुस्वार प्रत्यगात्म-स्वरूपको बताता है। पार्थिवाग्निस्वरूप होनेसे इस देवका आकार भी स्थूल कहा जाता है। पर उसका वाहन-मूषक ह्रस्वाकार है। पृथिवीके विकार प्लेग आदि बीमारियाँ सबसे पूर्व मूषकपर आक्रमण करती हैं, और मूषक उसका प्रसार करनेवाला सिद्ध हो सकता है। तब लोक-कल्याणार्थ उन विकारों को दूर करनेकेलिए उन विकारोंके मूल मूषकको उन पार्थिवाग्निरूप गणेशने अपने नीचे दबा रखा है; अर्थात् उनका वाहन मूषक है। वही पार्थिवाग्निस्वरूप-श्रीगणेश चौमासेमें बढ़ी हुई सोमवृद्धि-रूप अग्निमन्दताको कम करनेकेलिए जगत्में अवतीर्ण होते हैं; अर्थात् अग्निको तीव्र करते हैं; इससे सोमकी मन्दता हो जानेसे अग्नि और सोमकी समता हो जाती है। समतामें ही नीरोगताका साम्राज्य होता है। इसीलिए कहा जाता है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्'। सोमकी वृद्धि और अग्निकी मन्दता अस्वास्थ्यका, तथा दोनोंकी समता स्वास्थ्यका कारण होती है।

भगवान्-गणेशके माथेपर सोम होता है; अतः उसे 'भालचन्द्र' कहा जाता है। जो लोग सोमको मध्याह्नमें गणेशके जन्मकालमें देखते हैं; वे यदि भौतिक सोम अर्थात् चन्द्रमाका रात्रिको दर्शन करते हैं; तो उन्हें कलंक लगता है, अर्थात् दो सोमोंको देखनेसे सोमकी अधिकता तथा अग्निकी मन्दता होती है। ऐसा होनेपर खाये-पीये हुए पदार्थकी अजीर्णता (बदहज़मी) हो जाती है।

अजीर्ण ही रोगोत्पत्तिका मूल होता है। इसलिए भाद्रशुक्ला ४र्थीकी रात्रिमें सोमदर्शनका निषेध किया गया है, यह वैज्ञानिक-दृष्टिकोण है।

आध्यात्मिक-दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है। उसमें गणेश ब्रह्म हैं। चन्द्रमा मनका देवता है, और मन चञ्चल होता है, और कुतर्क चूहा होता है। जब तक कुतर्क-आदिके कारण मनकी चञ्चलता रहेगी; तब तक ब्रह्म-दर्शन किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। इसी कारण जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें भी ब्रह्मकी तन्मयता नहीं होती; क्योंकि—वहाँ भी किसी न किसी रूपमें मन अवश्य ही विद्यमान रहता है। चतुर्थावस्था-तुरीयामें मनका लय हो जाता है; उसी दशामें ब्रह्मका तादात्म्य होता है। यही कारण है कि सिद्धिदायक-गणेशरूप-ब्रह्मके पूजनमें मनोदेवता चन्द्रमाका न देखना ही विधान-प्रोक्त है।

गणेशजीका वाहन जोकि—चूहा बताया गया है, सो चूहा कुतर्कका प्रतीक है। चूहा पदार्थको काट-काटकर खंड-खंड कर देता है। कुतर्क भी प्रत्येक आस्तिक-भावको खण्ड-खण्डकर नास्तिकता फैलाता है। सो जहाँ शुष्क-तर्क, दलीलबाज़ीकी प्रधानता होती है, वहाँ ब्रह्मभाव (आस्तिकत्व) भी नहीं रहता। जहाँ ब्रह्मभावकी प्रधानता रहती है, वहाँ शुष्क-तर्क दबा रहता है, इसीलिए गणेशरूप-ब्रह्म कुतर्करूप-चूहेपर सवार हुए-हुए उसे दबाये रहते हैं।

रुद्र एवं गणेश वैदिक देवता हैं। कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणीसंहिता-के २य काण्ड, ६म प्रपाठकमें, ३य मन्त्रमें रुद्रकी गायत्री, ४र्थमें गौरीकी, ५ममें कार्तिकेयकी, ६ठेमें गणेशकी गायत्री तथा नाराय-

णोपनिषद्में ५ममें नन्दीगायत्री प्रसिद्ध है। इस विषयमें हम ३३-३४ पृष्ठमें लिख चुके हैं। इस प्रकार यह सारा ही शिव-परिवार वैदिक सिद्ध होता है। गणेश वैदिक आर्य-देव हैं, वा अवैदिक अनार्य अपदेव—इस विषयमें हम आरम्भिक निबन्धमें स्पष्टीकरण कर चुके हैं। गणेशजीका मन्त्र 'गणानां त्वा'''गर्भधम्' (२३।१६) यह यजुर्वेदवा०सं०का बहुत प्रसिद्ध है; पर प्रतिपक्षी इसके महीधर-भाष्यके अर्थको उपहास एवं आक्षेपका विषय बनाते हैं; कुछ इसपर भी लिखना आवश्यक है; अतः 'आलोक'के विज्ञ पाठकगण अग्रिम-निबन्ध देखनेका कष्ट करें।

(१८) श्रीमहीधरका 'गणानां त्वा'मन्त्रका अर्थ।

(१) गणपतिदेवके 'गणानां त्वा गणपतिᳬ हवामहे, प्रियाणां त्वा प्रियपतिᳬ हवामहे, निधीनां त्वा निधिपतिᳬ हवामहे। वसो! मम, आहमजानि गर्भधम्, आ त्वमजासि गर्भधम्, (यजुः वा० सं० २३।१६) इस मन्त्रके अन्तिम-अंशपर किये हुए श्रीमहीधराचार्यके भाष्यपर प्रतिपक्षी लोग बहुत उछल-कूद मचाते हैं। उन्होंने इस मन्त्रके अर्थसे श्रीमहीधराचार्यको बहुत कलङ्कित कर रखा है। यहां तक कि—स० प्र० में महीधरादि-टीकाकारोंको निशाचर (राक्षस) तक लिख दिया है। कितनी कड़ी गाली है यह? चार्वाकने तो 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः' यह आक्षेप वेदके कर्तापर लिखा था, न कि उसके टीकाकारपर; वही आक्षेप वेदके भाष्यकार श्रीमहीधराचार्यपर कर दिया जाता है। क्या श्रीमहीधर वेदके कर्ता थे?

गणेशजीका प्रकरण होनेसे हम यहां संक्षिप्त कुछ लिख देना उचित समझते हैं। 'आहमजानि गर्भधम्, आ त्वमजासि गर्भधम्' (यजु० २३।१९) इस मन्त्रांशका महीधर-भाष्य इस प्रकार है—'महिषी अश्वसमीपे शेते-हे अश्व ! गर्भधं—गर्भं दधातीति गर्भधं—गर्भधारकं रेतः, अहम् आ अजानि—आकृष्य क्षिपामि। तच्च गर्भधं-रेतः, आ अजासि-आकृष्य क्षिपसि'। एक आर्यसमाजी इसका अर्थ लिखते हैं—'यजमानकी स्त्री घोड़ेके पास सोवे और घोड़ेसे कहे कि—हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य है, उसको मैं खैंचके उपस्थमें डालूं; तूं भी गर्भधारण करने वाला रेत खींच के डाल'।

(२) ऋ०भा०भू० (पृ० ३४९)में 'ता उभौ चतुरः चतुरः पदः' इस मन्त्रका 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते—वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेव अश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति' यह महीधरकृत अर्थ लिखकर वहां बड़ा उपहास किया गया है। एकने तो यहां यह लिखा है—'जो स्त्री घोड़ेसे सम्बन्ध करेगी; वह पतिव्रता कैसे रह सकती है ? [पतिव्रता तो वह नियोगसे रह सकती है; वा विधवा होकर पतिसे भिन्नकी अंकशायिनी बनकर] क्या कोई स्त्री इस तरह जीवित रह सकती है' ?। स्वा०द०जीने इसपर लिखा है—'भला विचारना चाहिये कि—स्त्रीसे अश्वके लिङ्गका ग्रहण कराके उससे समागम कराना (चार्वाक ने 'अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नी-ग्राह्यं प्रकीर्तितम्' केवल पत्नी-द्वारा अश्वशिश्नग्रहण करना बताया था; पर स्वामीजीको उसमें समागमका विचार भी आगया) और

यजमानकी कन्यासे हँसी-ठट्ठा आदि कराना सिवाय वाममार्गी-लोगोंसे अन्य-मनुष्यका काम नहीं है' (स० प्र० १२ पृ० २५६)। एक अन्य-महाशयने लिखा है—'वेदमें कोई मन्त्र अश्लील है ही नहीं; तो यहां अश्लीलता कैसे हो सकती है? अतः यह दोष टीका-कार-महीधरका है।'

(३) इसपर हमारा कथन यह है कि—अश्वमेधके मन्त्रोंका जो श्रीमहीधराचार्य-कृत अर्थ उद्धृत किया जाता है, उसमें श्रीमहीधराचार्यकी अपनी कुछ भी कल्पना नहीं है। जो अर्थ उन मन्त्रोंका सम्भवी है; और शतपथब्राह्मण तथा यजुर्वेद संहिताके कल्प 'कात्यायन-श्रौतसूत्र आदि सूत्रकारोंने जो अर्थ किया है; वही अर्थ श्रीमहीधराचार्यने भी किया है। यदि शतपथ तथा श्रौतसूत्रका अर्थ बदला जावे; तो श्रीमहीधरका अर्थ भी तदनुसारी होनेसे बदला जा सकता है। केवल श्रीमहीधरने ही नहीं; किन्तु उवटाचार्य तथा श्रीसायणाचार्य तथा श्रीभवदेव-आदिने भी वही अर्थ किये हैं। क्या आक्षेप्ता-लोग शतपथब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रकारोंको वाममार्गी मानते हैं? क्या वाममार्गी भी स्त्रियोंका अश्वसे समागम कराया करते हैं? यदि नहीं; तब श्रीमहीधरको 'वाममार्गी' कैसे कहा जाता है?।

ऋ०भा०भू० के प्रणेता स्वा० द० जी अपने यजुर्वेद-भाष्यकी कसौटी 'शतपथ'को बना गये हैं। अपने वेदभाष्यकी उत्तमतामें उन्होंने यही कारण बताया है कि—वह शतपथाद्यनुकूल है। उनके शब्द पाठकगण देखें—'(प्र०) किञ्च भोः! नवीनं

भाष्यं त्वया क्रियते, आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ? (उ०) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद् यथा-यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिः- ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्य-वात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्च, ऐतरेय- शतपथादीनि भाष्याणि रचितानि आसन्; तथा यानि पाणिनि- पतञ्जलि-यास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि ...एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते, नचात्र किञ्चिद् अप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यते' (पृ० ३४१-३४२)।

(४) शताब्दी-संस्करणमें प्रकाशित दयानन्द-ग्रन्थमालाके प्रथम भागके १८वें पृष्ठमें श्रीहरविलास-सारडा लिखते हैं—'ऋषि (दयानन्द)का भाष्य उवट-आदिके भाष्योंसे अर्थोंकी दृष्टिसे सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि—ऋषि दयानन्द इन आचार्यों [महीधर आदि]के उन भाष्योंको सर्वथा गलत समझते थे, क्योंकि—ऋषिने वेदोंके याज्ञिक-अर्थोंको भी स्वीकार किया है (देखो—ऋषिभाष्य यजुर्वेद तथा ऋ०भा०भू०के वेदविषय-विचार तथा प्रतिज्ञाविषय-प्रकरण) उन [याज्ञिक] अर्थोंकी सत्तासे ऋषिने इनकार नहीं किया। हाँ, जहाँ-जहाँ ये भाष्यकार शतपथ-ब्राह्मणके भावोंसे उल्टे चले गये हैं, उन-उन भागोंकी संक्षेपसे ऋषिने आलो- चना भी करदी है।'

इससे यजुर्वेदके याज्ञिक-अर्थ भी ठीक सिद्ध हुए; और यजुर्वेद- भाष्यकी कसौटी 'शतपथ' सिद्ध हुआ। इस कारण जहाँ आक्षेप्ता (स्वा० द०) ने महीधरभाष्यका खण्डन किया है; वहाँ 'सत्यार्थ' शतपथका देकर स्वयं उसका व्याख्यान लिखा है। सो जब हम

वही महीधर-भाष्यवाले शब्द शतपथसे, वह भी आर्यसमाजी-प्रेस वैदिक-यन्त्रालय अजमेरके छपे हुए शतपथ-ब्राह्मणसे दिखला दें; तब श्रीमहीधराचार्य अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जावेंगे। तब जो अर्थ शतपथके उद्धरणोंका किया जायगा; वही महीधरभाष्यका हो जाएगा। इससे महीधरको बदनाम करनेका उत्तरदायित्व भी उन लोगों पर पड़ जावेगा।

वस्तुतः यह दुर्नीति है। इसी दुर्नीति पर आर्यसमाजके विद्वान्, गुरुकुल ज्वालापुरके आचार्य, श्रीनरदेवजी शास्त्रीने अपने 'ऋग्वेदालोचन'के पृष्ठ २९८ में आश्चर्यमिश्रित-खेद प्रकाशित किया है। देखिये श्रीनरदेवजीके शब्द—

'स्वामी [दयानन्दजी]ने यजुर्वेदभाष्यकार-महीधराचार्य, ऋग्वेद-भाष्यकार-सायणाचार्यादिके भाष्यका खण्डन तो किया; किन्तु जिन शतपथादि-ब्राह्मणोंके आधार और प्रमाणोंसे वे [महीधरादि] इस प्रकारका भाष्य करने पर बाध्य हुए; उन ब्राह्मणों [ब्राह्मणभाग]के विषयमें मौन साध लिया'।

(५) अब हम शतपथब्राह्मणका वह पाठ उद्धृत करते हैं, जिनके अनुसार श्रीमहीधरने लिखा है—'तस्मिन् एनमधिसंज्ञपयन्ति। संज्ञप्तेषु पशुषु पत्न्यः पान्नेजनैरुदायन्ति। चतस्रश्च जायाः, कुमारी पञ्चमी, चत्वारि च शतानि अनुचरीणाम्' (१३।५।२।१) निष्ठितेषु पान्नेजनेषु महिषीम् अश्वाय उपनिषादयन्ति [यही महीधरके 'महिषी अश्वसमीपे शेते' इन शब्दोंका मूल है]। अथ एनौ [महिषीम् अश्वं च] अधिवासेन संप्रोर्णुवन्ति'। [वस्त्रेण आच्छादयन्ति]

निरायत्य अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते, [यही वे शब्द हैं; जो श्रीमहीधरके थे] 'वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (यजुः २३।२०) इति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय' (१३।५।२२) 'तयोः [अश्वमहिष्योः] शयानयोः अश्वं यजमानः अभिमेथति-'उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि' इति [यजुः २३।२१] (शत० ३) 'अथ अध्वर्युः कुमारीमभिमेथति—हये कुमारि! 'यकासकौ शकुन्तिका' [यजुः २३।२२]' 'तं कुमारी प्रत्यभिमेथति-हयेऽध्वर्यो-'यकोऽसकौ शकुन्तकः' इति [यजुः २३।२३]' (शत० ४)। 'अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति-हये महिषि! 'माता च ते पिता च ते' [यजुः २२।२४]। शतं राजपुत्र्योऽनुचर्यः ब्रह्माणं प्रति अभिमेथन्ति-हये ब्रह्मन्! 'माता च ते पिता च ते' [यजुः २३।२५] (शत० ५) 'अथ उद्गाता वावातामभिमेथति'...'अनुचर्यै उद्गातारं प्रति अभिमेथन्ति' (शत० ६) होता परिवृक्तामभिमेथति'...'अनुचर्यो होतारं प्रति अभिमेथन्ति (शत० ७) 'क्षत्ता पालागलीमभिमेथति। अनुचर्यः क्षत्तारं प्रत्यभिमेथन्ति' (शत० ८)। 'सर्वाभिर्वा एषा वाचः यद् अभिमेथिकाः। 'उत्थापयन्ति महिषीम्, ततस्ता [महिष्यादयः] यथेतं [यथागमनं] प्रतिपरायन्ति' (शत० १३।५।२।६)।

यह शतपथका सारा ही पाठ श्रीमहीधराचार्यका उपजीव्य है, तब श्रीमहीधराचार्यपर दोष क्यों? यह उद्धरण हमने आर्य-समाजके प्रामाणिक-प्रेस 'वैदिक-यन्त्रालय अजमेर'में सं० १९५९ वि०में मुद्रित एवं प्रकाशित 'शतपथ-ब्राह्मण'के ६६१ पृष्ठकी २०-२१-२२-२४ आदि तथा ६६२ पृष्ठकी आरम्भिक-पंक्तियोंसे दिया है। इसी प्रकार वेदके अङ्ग कल्प 'कात्यायन-श्रौतसूत्र'में भी

देख लीजिये—'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते—वृषा वाजीति' [यजुः २३।२०] (२०।६।१६)

आक्षेप्ता-महाशय देखें। महीधर तथा शतपथके इस प्रकरणके शब्द भी बराबर हैं। ऋ०भाष्यभूमिकामें (पृ० ३४६) यही महीधरका अर्थ—'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते—वृषा वाजीति' आक्षेप्य माना है, वही शतपथमें अन्य भी स्पष्ट कर दिया गया है—'अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते, वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (शत० १३।५।२।२)। तब दोनों स्थान अर्थ बराबर होगा।

अब आक्षेप्ता बतावें कि—क्या शतपथ भी वाममार्गियोंका ग्रन्थ है? उसमें अब प्रक्षेप बताना अपने पक्षकी दुर्बलताका प्रकाशन होगा। तब प्रतिपक्षी जो इन आर्ष-उद्धरणोंका अर्थ करें; वही तदाश्रित-महीधरभाष्यका कर लें। शेष रहा महिषी-कुमारी आदिसे ठट्ठा—वह शतपथमें भी 'अभिमेथन' शब्दसे कहा ही है। हम अभी-अभी उनके उद्धरण दे चुके हैं। अभिमेथनके वेद-मन्त्र भी दोनों स्थलों (शतपथ एवं महीधरभाष्य)में समान बताये गये हैं। कात्यायन-श्रौतसूत्रमें भी वही अर्थ मिलेगा। केवल इसमें ही नहीं; लाट्यायनश्रौतसूत्रमें भी वही मिलेगा। उसमें लिखा है—'संज्ञप्तेषु पशुषु होत्राभिमेधिते ब्रह्मा वावातामभिमेथेत्' (६।१०।३) उक्त-सूत्रपर अग्निस्वामीका भाष्य भी देखिये—'अभिमेथनं नाम असंयतया मन्त्रवत्या उक्ति-प्रत्युक्तिः'। इसी प्रकार वहां ६।१०।७ में भी कहा है। फिर अभिमेथनकी शान्त्यर्थ आचमन करके वामदेव्यगान करना कहा है। यह वचन 'सा याऽसौ फाल्गुनी

पूर्णमासी भवति' (शतपथ० १३।४।१।४)। फाल्गुनकी पूर्णिमामें होलिकाके अवसरपर अश्वमेध-यज्ञमें कहे जाते थे; इसी परम्पराके फल-स्वरूप होलियोंमें अश्लील-परिहास की शैली अब भी मिलती है। इसे हम 'होलिका-विज्ञान' में स्पष्ट करेंगे। इससे इसकी वैदिकता सिद्ध हो रही है।

(६) इन आक्षेप्ताओंको जो कि यह (रानीसे घोड़ेके मैथुनका) भ्रम हुआ है, उसका कारण यह है कि—वे लोग उस समय घोड़ेको जीवित समझते हैं, यद्यपि यह घोड़ेके जीवनमें भी उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि घोड़ेका मानुषीसे समागम तथा घोड़ेके वीर्यसे मानुषीमें गर्भ उपपन्न नहीं। अतः आक्षेप्ताओंका यह महामोह है। उस समय अश्वमेधका अश्व संज्ञप्त (मृतक) है; उसके अङ्ग भी पृथक्-पृथक् संशोधित होकर पड़े होते हैं। हम पहले शतपथका पाठ लिख चुके हैं कि—'संज्ञप्तेषु पशुषु'। 'संज्ञप्त' का अर्थ 'मृतक' है। देखो—वेदाङ्ग-व्याकरण, श्रीपाणिनिमुनिका धातुपाठ। उसमें 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' (८११) यहां मित्संज्ञक धातुओंमें 'ज्ञा' धातुका अर्थ 'मारना' सबसे पूर्व लिखा है। 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' में भी यही है। इतना अधिक लिखा है—'ज्ञप मिच्च' इति चुरादौ। ज्ञापनं मारणादिकं च तस्यार्थः'। यहां 'तत्त्वबोधिनी'में लिखा है—'पशुं संज्ञपयति-मारयति इत्यर्थः'। 'बालमनोरमा'में भी यही लिखा है—'पशुं संज्ञपयति-अघ्नतं मारयतीत्यर्थः। यही स्वा०द०-संगृहीत 'धातुपाठ'में लिखा है—'मारणतोषण-निशामनेषु ज्ञा' (पृ० १२) यहां मित्संज्ञक 'ज्ञा'

धातुका पहला अर्थ मारण है। यही बात स्वामी दयानन्दके आख्यातिक भ्वादिगण (पृ० ८३) में लिखी है। यदि प्रतिपक्षियोंको वेदाङ्गपर विश्वास न हो; तो हम 'संज्ञप्त' शब्दपर वेदभाग 'ब्राह्मण' की सम्मति देते हैं; देखिये—'घ्नन्ति वै एतत् पशुम्, यद् एनथ्ं संज्ञपयन्ति' (शत० १३।२।८।२)। तो जब पशु उस समय संज्ञप्त (मृतक) है; तो उस समय प्रतिपक्षियोंका दुरभिप्राय कैसे सङ्गत हो सकता है ?

(७) जब घोड़ेके पास महिषीको रखा जाता है; उस समय अश्व मृतक होता है—इस विषयकी ब्राह्मणभागकी साक्षी हम दे चुके। अब इसमें इतिहासकी साक्षी भी पाठकगण देखें—

(क) वाल्मीकि-रामायणमें पुत्रेष्टियज्ञ करनेके लिए पूर्वजन्मकृत, कार्य-प्रतिबन्धक पापके क्षयार्थ पहले अश्वमेध-यज्ञ किया गया था। उस समयका वहां वर्णन है—'कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य (परिक्रम्य) समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा' (१।१४।३३) यहां अश्वकी 'पत्न्यः एनं त्रिः परियन्ति' (शत० १३।२।८।४) इस कथनसे परिक्रमा और (शत० १३।२।८।२ के अनुसार) कौशल्या-द्वारा अश्वका विशसन (हनन) कहा है। फिर आगे लिखा है—'पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया' (१४।३४) यहां पर मृतक-घोड़ेके पास रहना धर्मेच्छासे कहा है, सम्भोगेच्छासे नहीं।

(ख) इसी प्रकरणके तैत्तिरीयब्राह्मणके भाष्यमें श्रीभट्टभास्करने भी यही भाष्य किया है—'तप एव सन्तापहेतुत्वात् अस्या (महिष्या)

एतत् तपस्थानीयं यद् मृतेन *मिथुनीभवनम् [सह-उपवेशनम्]' (३।६।६।२६) यहां भी अश्वकी मृतकता स्पष्ट है। (ग) अब इसकी अन्य साक्षी महाभारतमें देखें—'ततः संज्ञप्य तुरगं विधिवद् याजकस्तदा। उपासंवेशयन् राजन्! ततस्तां द्रुपदात्मजाम्' (आश्वमेधिकपर्व ८६।२) यहां भी मृतक-घोड़ेके साथ द्रौपदीको बैठाया गया है। जब अश्व मृतक है; तब यहां आक्षेप्ताओंके आक्षेप व्यर्थ हैं। जैसे कि—'वेदोंका सार्वभौम संदेश' (पृ० ३६) में उसके व्याख्याताका यह कहना कि—महीधरके अपने-वेदभाष्यमें किये अर्थ स्पष्टतया अश्लील ग्राम्यधर्म (संभोगादि)-परक हैं; यह निष्पक्ष विद्वानोंको लज्जाके साथ स्वीकार करना पड़ेगा' इत्यादि निराकृत हो गया।

यहां बतलाया जा चुका है कि अश्व मृतक है, और उसे गणपतिदेवके रूपमें आहूत किया गया है, जैसा कि हम आरम्भिक-मयूखमें विस्तारसे बता चुके हैं। 'हवामहे' ऐसा आह्वान भी वैदिक-शैलीसे चेतन-देवताका होता है; उसमें प्राकृत अश्व, उसमें भी मृतकका आह्वान नहीं हुआ करता। सो 'शिश्न' वा 'रेत' एवं वीर्य उसी गणपतिदेवका इष्ट है, मृतक-अश्वका नहीं। इस बात पर न विचारनेसे ही प्रतिपक्षी भ्रमकूपमें गिरे हुए हैं। यदि यहां प्रतिपक्षी भी प्राकृत अश्वका वर्णन न समझकर 'गणपति' देवका वर्णन समझ लें, क्योंकि—'गणानां त्वा' मन्त्रका देवता आर्यसमाज

* 'मिथुनीभवनम्'का अर्थ इकट्ठा होना है। वेदादि-शास्त्रोंमें भाई-बहिनके जोड़ेको भी 'मिथुन' कहा जाता है। जैसे कि—निरुक्त (३।४।२)में।

की छपाई हुई यजुर्वेदकी संहितानुसार भी 'गणपति' है; तब उन्हें यह भ्रम वा दूसरोंपर आक्षेप करनेका अवसर ही न रहे। जब जीवित-अश्वसे भी यह प्रार्थना सङ्गत नहीं हो सकती, जीवित-अश्व भी न निधिपति, न प्रियपति, और न गणपति बन सकता है, न उसका आह्वान ही उपपन्न हो सकता है; न उसके वीर्यका मानुषीमें गर्भ करनेसे कोई सम्बन्ध है, न अश्वका मानुषीसे समागममें कोई सम्बन्ध है; तब मृतक-घोड़ेसे यह प्रार्थना सङ्गत कैसे हो सकती है ? तब वादियोंकी यह अपने नियोग आदिकी कल्पनासे विकृत हुए मस्तिष्ककी उपज है, प्राचीन-ग्रन्थोंसे इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं। अतः वहां अश्वरूपमें प्रजापति-गणपतिकी ही प्रार्थना है, जैसे कि शतपथमें कहा है-'प्राजापत्यो वै अश्वः' (शतपथ० १३।३।३।४) 'प्रजापतिर्देवता अस्य—इति प्राजापत्यः, अश्वः। वही गणपतिदेव आरम्भिक-मयूखमें निदर्शित की हुई सरणिसे विघ्नेश्वर एवं सर्वेश्वर होनेसे प्रजाके पति-रक्षक, हमारी निधिके रक्षक, वसु आदि वा कूष्माण्ड-आदि गणों तथा साध्य आदि गणदेवताओंके पति, पद्म-महापद्म आदि निधियोंके पति, पति-पुत्र, प्राण-धन आदि प्रिय वस्तुओंके भी पति होते हैं। वही सम्पूर्ण-जगत्में व्यापकतासे निवास करनेसे 'वसु' नामसे सम्बोधित किये जाते हैं, मरा हुआ अश्व सम्बोधित नहीं किया जाता। वह मृतक-अश्व तो केवल मूर्तिपूजाकी मूर्तिकी तरह सम्बोधन वा अर्चनका साधन है, मूर्तिपूजामें पत्थरकी मूर्तिका आह्वान न करके मूर्तिस्थित देवताशक्तिको आहूत किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञके नायक

अश्वमें भी गणपति-देवताको ही आहूत किया जाता है कि—'गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे, (यजुः २३।१६)। अब इस मन्त्र का शेष भाग है—'वसो! मम आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्'।

यहां पर 'गर्भधं—गर्भं दधातीति गर्भधं रेतः अहम् आ अजानि—आकृष्य क्षिपामि, तच्च गर्भधं रेत आ अजासि—आकृष्य क्षिपसि' इस महीधरकी व्याख्यापर बिना-विचारके ही बड़ा होहल्ला मचाया जाता है। यहां 'रेतः'का अर्थ 'वीर्य' किया जाता है; सो अश्वके जिस रेतः (वीर्य)को प्राप्त करना श्रीमहीधरने लिखा है, वही वेदने स्वयं कहा है, देखिये—'वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (यजुः २३।२०) यहां 'रेतः'का अर्थ छिपा लिया जाता है। यदि आक्षेप्ता 'रेतः'का 'बल' अर्थ करते हैं; तो 'वीर्य'का भी 'बल'ही अर्थ होता है; वही 'तेज'का आशय निकला। फिर किस मुंहसे महीधरको बदनाम किया जाता है? जो 'वाजी रेतो दधातु' वाले मन्त्रका अर्थ एवं आशय है, वही महीधरके भाष्यका भी है—यह क्यों नहीं सोचा जाता? अब इस विषयमें पाठकगण देखें—

(८) 'गर्भधं' पर 'शतपथब्राह्मण'में लिखा है—'प्रजा वै पशवो गर्भः, प्रजां वै पशून् आत्मन् धत्ते' (१३।२।२।५) इस श्रुतिसे 'गर्भ' शब्द यहां प्रजा एवं पशु-वाचक है। उस प्रजा-पशुरूप गर्भके धारण करनेवाले दैवी रेतः—गणपतिदेवके तेजके आकर्षणकी प्रार्थना की गई है, प्राकृत-घोड़ेके प्राकृत-वीर्यकी नहीं; क्योंकि—अश्वके वीर्यका और फिर उसमें मृतक-अश्वके वीर्यका मानुषी-स्त्रीमें गर्भसे सम्बन्ध ही

भला क्या हो सकता है ? क्या मृतकका वीर्य भी रह जाता है ? वीर्य-की शुष्कतासे ही तो मृत्यु होती है ।

(ख) आक्षेप्ताओंकी कुमारियां वा स्त्रियां प्रार्थना करती हैं—'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि' (यजुः १९।९) 'अग्निः प्रजां बहुलां मे करोतु, अन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त' (यजुः १९।४८) इत्यादि मन्त्रोंसे वे कुमारियाँ वा स्त्रियाँ अपनेमें रेतः या वीर्यके आधानकी प्रार्थना करती हैं क्या ?

(ग) 'आर्याभिविनय' (पृ० ४९)के अनुसार वे प्रार्थना करती हैं—'हमारे हृदयमें रमण कीजिये' (ऋ० १।९१।१३); तो क्या वे आक्षेप्ताओंकी स्त्रियाँ उसी 'प्राकृत वीर्य' तथा 'रमण'की प्रार्थना कर रही होती हैं, जिसे प्रतिपक्षी यहाँ बताते हैं ?

(घ) 'इमं ते उपस्थं मधुना सꣳसृजामि' इस स्वा० द० जीकी संस्कारविधिमें लिखे, विवाहकालीन-मन्त्रमें भी आक्षेप्तागण क्या स्त्रीके उसी उपस्थको मधुसे युक्त कर रहे होते हैं ? यदि ऐसा है; तो दूसरों पर आक्षेप क्यों ?

(ङ) 'अथैनं मनुष्याः उपस्थं कृत्वा उपासीदन्' (शतपथ २।४।२।३) यहाँ क्या प्रजापतिके सामने मनुष्योंका गुप्त-अङ्ग निकालना माना जावेगा ? जो अर्थ 'वीर्य, उपस्थ' आदिका प्रतिपक्षी यहाँ करेंगे, वही महीधरभाष्यमें भी हो जायगा ?

(च) परमैश्वर्यकेलिए बैलसे, छेरीसे भोग करें' [उपयोग लें] (यजुः २१।६०) यह स्वा० द० जीका किया अर्थ है; तब क्या आक्षेप्ताओं-की वेद पढ़नेवाली स्त्रियोंका बैलसे और उनका स्वयं छेरीसे भोग

वा उपयोग लेना वही तथाकथित अश्वके भोग वा उपयोग जैसा माना जावेगा या नहीं ?

(छ) 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (१४।३) इस गीताके पद्यमें भी योनिमें गर्भ-धारण करनेका 'तस्य योनिं परि-पश्यन्ति धीराः' (यजुः ३१।१६) यहां भी क्या योनिका वही अश्लील अर्थ किया जावेगा ? 'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' (ऋ० १०।१२५।७) यहाँ वागाम्भृणी-ऋषिकाकी योनि, 'नागं योनिं च लिङ्गं च बिभ्रती नृप ! मूर्धनि' (प्राधानिकरहस्य ५) क्या यहां भी श्रीदुर्गादेवीकी योनिका वही अश्लील अर्थ किया जावेगा ?

(ज) यदि नहीं; तो याज्ञिक-प्रक्रियामें भी ऐसी बात नहीं; वहां-पर अश्व मृतक है, 'मेढ्रं ते शुन्धामि' (यजुः ६।१४) उसके अंग पृथक्-पृथक् शोधित कर रखे हैं; उससे मैथुन हो ही कैसे सकता है ? 'गणानां त्वा' इस यजुर्वेदके मन्त्रका ऐतरेय-ब्राह्मणसे 'ब्राह्मणस्पत्यम्' यह जो आक्षेप्ताओं-द्वारा अर्थ बताया जाता है, उन लोगोंको यह पता नहीं कि—यह याजुष-मन्त्रका अर्थ नहीं, किन्तु ऋग्वेदके 'गणानां' इस ब्रह्मणस्पतिवाले मन्त्रका अर्थ है। उसमें 'गर्भधं' आदि याजुषमन्त्रके पदोंकी व्याख्या है ही नहीं। जिन्हें यह पता नहीं; वे चले हैं महीधरके अर्थपर आक्षेप करने। यदि दोनों ऋग्वेद एवं यजुर्वेदके गणपति एक हैं; इसलिए याजुष-मन्त्रका ऋग्वेदके ऐतरेय-ब्राह्मणसे अर्थ किया जाता है; तब भी हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ कि अश्वमें उसी गणपति-देवताका आह्वान किया जा रहा है; उसी गणपतिदेवके तेजके आकर्षणार्थ प्रार्थना है; तब

भी हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ। 'आ अजासि'में 'अज' धातुका 'क्षेपण' ('अज गतिक्षेपणयोः' इस धातुके अनुकूल) अर्थ प्राकरणिक था; पर आक्षेप्ताओं-द्वारा 'आ समन्ताज्जानासि' यह अर्थ बदलकर अपनी जान बचा ली जाती है। इस प्रकार श्रीमहीधरके अर्थका आशय भी जान लिया जा सकता है; तब उसपर आक्षेप क्यों ?

(९) प्रतिपक्षिगण अश्वके...डरते हैं; और उससे स्त्रीके जीवित न रहनेकी शङ्का प्रकट करते हैं; पर उपवेद-आयुर्वेद पुरुषको ही 'वाजीकरण' औषधि देकर स्त्रीकेलिए 'अश्व' बनाया चाहता है; और वेद भी पुरुषके अंगको 'अश्वका अङ्ग' बनाया चाहता है। देखिये—'यावदंगीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावद् अश्वस्य वाजिनः तावत् ते (पुरुषस्य) वर्धतां पसः, (अथर्व० ६।७२।३) पस 'शिश्न' को कहते हैं; देखिये इसपर स्वा० द०जीका यजुर्वेदभाष्य (२०।९)। तो क्या स्त्री उस पुरुषके अश्वके शिश्नसे जीवित रह सकेगी, जिसका वेद विधान कर रहा है ? यदि यहां प्रतिपक्षी 'अश्व'का साक्षात् 'अश्व' अर्थ नहीं लेते; वैसे यहां पर भी वे 'अश्वशिश्न' खास अर्थ कैसे करते हैं ?

(१०) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि—जो अर्थ श्रीमहीधराचार्यने किया है; वह शतपथब्राह्मणसे लिया है। सो जो तात्पर्य शतपथमें होगा, महीधरभाष्यमें भी वही तात्पर्य होगा। सो 'गर्भधं रेतः स्व-योनौ स्थापयति, अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते' आदिका अर्थ भी यही जान लेना चाहिये कि—स्त्री प्रजा-पशुरूप गर्भको धारण करनेवाले

गणपतिदेवके सोमरूप तेजको—जैसे कि वेदमें कहा है—'अयꣳ सोमो वृष्णोऽश्वस्य रेतः' (यजुः २३।६२)—प्रार्थित करके उसे अपने भीतर आकर्षित करनेकी भावना करती है। इसी भावनाके फलस्वरूप उसे चक्रवर्ती पुत्र पैदा होता है।

विवाह-संस्कारमें स्वा०द०ने संस्कारविधिमें 'इन्द्राग्नी... बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (पृ० १५४-१५५) यह मन्त्र लिखा है। उसका अर्थ किया है—बृहस्पतिः—राजा, मरुतः—सभ्य मनुष्य...इस मेरी स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं' यह वरकी उक्ति है। तो क्या वरकी स्त्रीमें राजा और सभ्य मनुष्य मैथुन करते हैं? यदि नहीं, यह केवल आशीर्वादमात्र है, वैसे वहां भी गणपतिके तेजके आकर्षणकी भावनामात्र है। सो यहां अर्थ यह है—

'अश्वस्य—अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगद्-इति अश्वः, गणपतिदेवः (नमस्ते गणपतये...त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि' इति गणपत्युपनिषदुक्तेः) तस्य गणपतिदेवस्य शिश्नम्-'शिश्नं श्नथतेः' (निरुक्त ४।१६।६) श्नथयति—ताडयति हिनस्ति वा विघ्नरूपं तम इति शिश्नम्, शेषति—हिनस्ति वा प्रतिबन्धकतामिति वा शिश्नम्, शश प्लुतगतौ-शशति शीघ्रं व्याप्नोति इति वा शिश्नम्, शिनोति-तीक्ष्णीभवति इति वा शिश्नम्' (सर्वत्र पृषोदरादिः (६।३।१०६) शिश्नं-तेज इत्यर्थः; तद् व्यापकं गणपति-तेज आकृष्य भक्त्या स्वयोनौ—कर्मफलोत्पादके कारणभूतस्वसूक्ष्मशरीरान्तः फलोत्पादनपर्यन्तं सूक्ष्मरूपेण धारयति। वाजी—वेगवान् बलवान् वृषा-

फलानां वर्षुकः, प्रजापतिः—गणपतिः, रेतः—स्वकीयं तेजः, मयि दधातु-स्थापयतु'। महिषी यहां गणपतिके तेजकी प्रार्थना करती है, और उसे अपने अन्दर आकर्षण करनेकी भावना करती है। जैसे कि—'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि' (यजुः १९।९) 'रेतो अस्मासु धत्त' (यजुः १९।४८) आक्षेप्ताओंकी स्त्रियाँ यह वेद-मन्त्र पढ़कर अपनेमें वीर्याधानकी प्रार्थना करती हैं।

अथवा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (गीता १४।३)के अनुसार प्रकृतिरूप-पत्नीमें चिदाभासरूप गर्भका आधान करनेवाले गणपतिदेवका मैं आह्वान करती हूँ; यह अर्थ है, शेष पूर्ववत्।

यहां अश्वके मृतक होनेसे उससे मैथुन असम्भव है; जबकि जीवितके साथ भी वैसा नहीं हो सकता। तब जिस-यज्ञमें अपने पतिसे भी कामवासना आदिका निषेध होता है, उसीमें मृत-अश्वके साथ वासनारूप-ग्राम्यधर्म कैसे हो सकता है? तब यहां पूर्व कहा हुआ अर्थ ही वास्तविक है। उक्त शब्द परोक्ष-वृत्तिसे कहे गये हैं। क्या कभी आक्षेप्ताओंकी स्त्रियां अपने मृतक-पतिसे मैथुन कर सकती हैं? यदि नहीं; तब मृतक-अश्वसे ही वैसे कैसे हो सकता है? अतः गणपतिदेवका तेज ही यहां प्रार्थित किया गया है। इस अवसरपर अश्वकी तीन-परिक्रमा शतपथ (१३।२।८।४) और कातीयश्रौतसूत्र (२०।६।१३) के अनुसार की जाती हैं, परिक्रमा देव-पूजामें ही हुआ करती है; सो यह स्पष्ट देवपूजा ही है। इसी दैवी तेजके आकर्षणके फलस्वरूप महिषीका चक्रवर्ती-लड़का उत्पन्न

होता है।

कर्मकाण्डमें भी अश्वमहिषी-प्रसङ्गमें कोई सम्भोगका सम्बन्ध नहीं दीखता; क्योंकि अश्व मृतक है; तब केवल मृतक-अश्वके पृथग्भूत और संशोधित अङ्गका स्पर्शमात्र, *उपस्थ (उत्सङ्ग, गोदमें, अथवा अपने अङ्गपर) स्थापनमात्र ही इष्ट है, वहाँ विलासिता न होनेसे तथा भावना दूषित न होनेसे पातिव्रत्य-भंगकी आशङ्का भी नहीं होती, क्योंकि-वह भी शास्त्राज्ञानुसार पतिकी आज्ञासे उसके यज्ञकी पूर्त्यर्थ किया जाता है। गायके स्तन वा मूत्रस्थानका पुरुष स्पर्श करते हैं; तो क्या वहाँ पुरुषोंको स्त्रीके अङ्गोंके स्पर्शका विचार आ जाता है? वा उन्हें उससे काम-वासना हो जाती है? यदि नहीं; तब स्त्रीको ही घोड़ेके अङ्गके स्पर्शमात्रसे काम-वासना कैसे उत्पन्न हो जावेगी? क्या वह मनुष्य है? प्रतिपक्षियोंको जो ऐसी-वासना उत्पन्न हो जाती है; उसका कारण नियोग आदिकी कामुकताके प्रचारसे मस्तिष्कमें विकृतिका उत्पन्न हो जाना है। प्रतिपक्षी लोग नियोगसे वा विधवा-विवाहसे मृतककी पत्नीके अङ्गमें अन्य पुरुषके अङ्गका स्पर्शमात्र तो क्या; उसमें तो विलास भी करवाते हैं; वहाँ उनको उस पत्नीके पातिव्रत्य-भङ्गकी शङ्का ही नहीं होती। यदि वे उसे अपने अभिमत-शास्त्रके अर्थके अनुसार व्यवहार करानेसे उसके पातिव्रत्यके भङ्गकी शङ्का नहीं करते; तब इस-कर्मकाण्डमें शङ्का करना अपने नियोग वा विधवा-विवाहसे आँख मूँद लेना है। जिस प्रकार आप लोग यहाँ उपहास

*उपस्थके उत्सङ्ग-अर्थमें शतपथ-ब्राह्मणकी साक्षी हम दे चुके हैं।

करते हैं; वैसे नियोगमें आप लोगोंका भी उपहास होता है; पर विचार करनेसे यह सब आक्षेप कट जाते हैं। प्रसव करनेमें डाक्टर भी स्त्रीकी योनिका स्पर्श कर रहे होते हैं। उसमें हाथ भी डाल रहे होते हैं; इससे क्या उस स्त्रीका आप पतिव्रत्यभङ्ग मान लेंगे? विवाहको ही ले लीजिये; इसके अङ्ग-गर्भाधानमें ही क्या अश्लीलता नहीं है? पर शास्त्रानुसार व्यवहारसे वहाँ धर्म्यता मान ली जाती है; अश्वमेधमें तो न कोई कामवासना है, न ही विलास वा सम्भोग ही; तब बलात् वहाँ समागम वा सम्भोग बताना प्रतिपक्षियोंका अपने कलुषित-हृदयका ही यह कलुषित-विचार है, प्रकृतमें ऐसी कोई बात नहीं।

यदि वादी ऐसा मानते हैं; और अपनेको वेद-प्रेमी मानते हैं; तो वे जरा अथर्ववेदके कुन्तापसूक्तपर दृष्टि डालें। उसमें मन्त्र है—'महानग्नी उपब्रूते अश्वस्य आवेशितं पसः' (२०।१३६।६) इस मन्त्रमें महानग्नी स्त्रीमें 'अश्वस्य पस आवेशितम्'का अर्थ क्या करेंगे? इन्हीं अश्वमेधके मन्त्रों तथा कुन्तापसूक्तोंसे त्रस्त होकर आर्यसमाजके एक अन्वेषक-विद्वान्ने अपने काँगड़ी वेद-सम्मेलनके सभापति-भाषण (११ अप्रैल १९५०)के ४२ पृष्ठमें कहा है—'प्रतिवर्ष भारतके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंके वेदोंके विद्वान् एक केन्द्रिय-स्थानपर एकत्रित हों,...'अश्वमेधसूक्त, कुन्तापसूक्त, तथा 'त्रीणि शता त्री सहस्राणि अग्निं त्रिंशच्च देवाः' 'इन्द्रो दधीचो अस्थिभिः' इत्यादि मन्त्रोंमें विशेषरूपसे विचार किया जाए, जो वेदोंका अनुशीलन करनेवालोंकेलिए विशेष कठिनाई उपस्थित करते हैं'। इससे स्पष्ट है कि—

अश्वमेधसूक्तके उक्त मन्त्रोंका जो अर्थ स्वा० द० जीने किया है, वह उन्हें भी सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं हुआ; उसमें उन्हें भी उनकी प्रसह्यकारिता मालूम होती है।

(११) शेष प्रश्न यह रहता है कि—'वेदमें तथाकथित अश्लील मन्त्र ही नहीं होते। 'आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका' (यजुः २३।२२) आदि मन्त्रोंका महीधरने अश्लील अर्थ किया है कि-'यदा भगे-योनौ शिश्नमागच्छति, तदा धारका-धरति लिङ्गमिति धारका-योनिः (बच्चेदानी) गिलति-वीर्यं चरति, गल्गलेति शब्दं वा करोति'।

इसपर उत्तर यह है कि—इन अर्थोंके करनेसे यदि श्री-महीधराचार्यको अपवादित किया जाता है; तो इसका भाव यह हुआ कि—वेदमें तथाकथित अश्लील वर्णन नहीं हो सकता। पर ऐसा कहना अज्ञान है। वेदमें सर्वाङ्गीणता होती है। सर्वाङ्गतामें सब कुछ होता है। यदि वेदमें ऐसे वर्णन अश्लील माने जावें; तो 'रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्' (यजुः १६।७६) इस मन्त्रका अर्थ आर्यसमाजी-आचार्य अपने पास वेद पढ़नेवाली १७।२४ वर्षकी कुमारियोंको क्या बताते हैं? 'यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं' (ऋ० १०।८५।३७) इस मन्त्रका अर्थ कुमारियोंको क्या पढ़ाते हैं? वा विवाहित हो रही हुईको स्पष्ट बताते हैं? 'मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि' (यजु० ६।१४) इस मन्त्रका अर्थ कुमारियोंको क्या पढ़ाते हैं? क्या यह तथाकथित अश्लीलता है या नहीं?

फिर महीधरका अपवाद क्यों किया जाता है ? 'त्रिः स्म माऽह्नः श्नथयो वैतसेन' (ऋ० सं० १०।९५।५) यहां निरुक्तमें 'वैतसेन' का 'पुंस्प्रजनेन' (३।२९।३) अर्थ किया है। इसका भी अर्थ कुमारियों को क्या बताते हैं ? यहां कहनेवाली उर्वशी-अप्सरा है, क्योंकि वही ऋषिका (वक्त्री) है। 'यभ माम् अद्धि ओदनम्' (अथर्व० २०।१३६।११,१३) यहांपर 'यभ मैथुने' धातु है। इसका भी अर्थ बताया जाता है या नहीं ? प्रतिपक्षी इन मन्त्रोंमें तथाकथित अश्लीलता मानते हैं या नहीं ? यदि मानते हैं वा नहीं मानते; तो दोनों ही पक्षोंमें महीधराचार्यपर ही तथा-कथित वेदसम्मत-अर्थ करने पर वाग्-बाणोंकी वर्षा क्यों होती है ?

शेष रहा 'आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका' का श्रीमहीधराचार्यका अर्थ; सो वह वेदको पूर्व-वचनोंकी साक्षीसे अमान्य नहीं। 'पसः' का अर्थ 'शिश्न' तथा 'धारका' का अर्थ 'योनि' वेदको अनिष्ट नहीं। 'आनन्दनन्दौ आण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः' (यजु० २०।९) यहां स्वामी दयानन्दजीने भी 'पसः' का अर्थ 'शिश्न' किया है। 'धारका' का 'योनि' अर्थ शतपथमें देखिये—'ते स्त्रियमाविशतः, तस्या उपस्थमेव आहवनीयं कुर्वाते, धारकाँ समिधम्। धारका ह नाम एतया ह वै प्रजापतिः प्रजां धारयाञ्चकार, रेत एव शुक्रामाहुतिम्, ते स्त्रियं तर्पयतः। स य एवं विद्वान् मिथुनमुपैति, अग्निहोत्रमेव आहुतं भवति, यः ततः पुत्रो जायते, स लोकः, एतद् अग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य ! नातः परमस्ति' (११।६।२।१०)।

केवल यहीं नहीं, तैत्तिरीय-संहितामें भी यह प्रसिद्ध है—'आहतं गभे पसो निजल्गुलीति धाणिका' (७।४।१६।३) यहां 'धारका' के स्थान पर 'धाणिका' है। इस 'धाणिका' को कुन्तापसूक्तमें देखिये—'महानग्नी कृकवाकुं' 'शीर्ष्णा हरति धाणिकाम्' (अ० २०।१३६।१०)। इस सूक्तमें अश्लील होनेसे ही आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस पर भाष्य ही नहीं किया। 'भगे' का 'गभे' लिखना अक्षरके वैदिक-आद्यन्तविपर्ययके कारण है, जैसे 'पसः' का विपरीत 'सपः' का अर्थ 'शिश्न' होता है, देखो निरुक्त (५।१६।२)। तब श्रीमहीधरको वैसा अर्थ लिखनेमें क्यों दोष दिया जाता है? शेष प्रश्न है कि उसको कुमारीको कहा गया है; सो शतपथमें भी तो कुमारीको कहा गया है—हम उसका उद्धरण दे चुके हैं।

इसी प्रकार 'आहं तनोमि ते पसो अधिज्यामिव धन्वनि' (अ० ४।४।७) 'मैं धनुषमें तनी हुई डोरीके समान तेरे पसः—पुंव्यञ्जनको तानता हूँ'। यहां भी वादी कुमारियोंको यह अर्थ बताते हैं वा नहीं? यदि हाँ, वा नहीं, तब तादृश-व्याख्या करनेसे महीधरको दोष क्यों दिया जाता है? अतः उस मन्त्रमें 'गभे' और 'पसः' का अर्थ वही हुआ जो श्रीमहीधरने किया है। इसमें श्रीसायणकी सम्मति भी देखिये—'धनुरिवातानय पसः' (अ० ४।४।६) इस मन्त्रके भाष्यमें उसने लिखा है—'अस्य पसः—पुंव्यञ्जनं वीर्यप्रदातृत्वेन धनुरिव ऊर्ध्वायतं कुरु' यह लिखकर श्रीसायणने लिखा है—'पसः-शब्दस्य लिङ्गवाचित्वम् 'आहतं गभे पसो निजल्गुलीति धाणिका'

(तै०सं० ७।४।१६।३) इत्यादि मन्त्रान्तर-प्रसिद्धम्'। यही वह मन्त्र है, जिसका स्वामी दयानन्दजीने महीधरका अर्थ उपस्थित करके उसे फटकार दी। श्रीसायणाचार्यको भी उक्त-मन्त्रका श्रीमहीधर-जैसा ही अर्थ ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

(१२) अब इसी तथाकथित-अश्लीलताको यदि परोक्षवृत्ति मान लिया जाय, और उसके स्थानापन्न अन्य वस्तु रख दी जाय; तो फिर भाव उत्तम हो जाता है। जैसे कि शतपथमें कहा है— 'विड् वै गभः, राष्ट्रं वै पसः, राष्ट्रमेव विशि आहन्ति, तस्माद् राष्ट्री विशं घातुकः (१३।२।६।६) यहां 'गभ' और 'पसः' का अर्थ नहीं बदला गया; अर्थ वही रखा गया है। 'विड् वै गभः, राष्ट्रं वै पसः'में 'वै' पदसे पर्यायवाचकता विवक्षित नहीं; नहीं तो 'आयुर्वै घृतम्' (तै०सं० २।३।२।२) में भी 'वै' शब्दसे 'आयु' शब्द 'घृत' का वा 'घृत' आयुका पर्यायवाचक हो जावे; पर वैसा नहीं होता। तो जैसे पसः (शिश्न)के गर्भ (भगमें) आहनन करनेसे धारका (बच्चेदानी) ताडित हो जाती है और शब्द-सा करती है; वैसे ही अन्यायी राजा जब प्रजामें गमन करता है और उसे ताडन करता है; तब प्रजाकी धारिका-व्यवस्था ताड़ित हो जाती है, और प्रजाकी चिल्लाहटका शब्द निकलता है।

यहां पर अश्वमेधयज्ञका प्रकरण है; जो राजाको करना पड़ता है; तो कर्मके व्याजसे राजाको परोक्ष-वृत्तिसे उपदेश भी किया जाता है। जैसे हमसे पूर्वोद्धृत शतपथके वाक्यसे पस-भग आदिके व्याजसे अग्निहोत्रकी विधि उपदिष्ट कर दी गई है; वैसे

ही उपहासके मन्त्रोंमें भी समझ लेना चाहिये। छान्दोग्यमें पञ्चम आहुतिमें 'योषा वाव गौतम! अग्निः, तस्या उपस्थ एव समित्, योनिरर्चिः, अभिनिन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ रेतो जुह्वति' (५।८।१-२) इस उल्लेखसे क्या तथाकथित-अश्लीलता मान ली जावेगी?

(१३) यह भी याद रख लेना चाहिये कि—वेदमें एक मन्त्रके भी विविध भाव हो जाते हैं। यदि कहीं तथाकथित अश्लीलता है; तो इसमें वेदकी निन्दा नहीं। वेदकी सर्वाङ्गीणताका यह चिह्न है। क्या एक समय दम्पतिको भी वेदके अनुसार तथाकथित-अश्लीलता नहीं करनी पड़ती? यदि न की जावे; तो सृष्टिका ही प्रलय हो जावे? और शङ्काकर्ता-वादी ही उत्पन्न न हो सके। उस अश्लीलता का परिणाम उत्तम रहता है, वंश चल निकलता है; तब श्रीमहीधर-प्रोक्त स्वारसिक-अर्थकेलिए हो-हल्ला क्यों मचाया जाता है? कामशास्त्रकी भी तो गृहस्थीकेलिए आवश्यकता पड़ती है; उसका मूल भी तो वेदसे ही निकालना पड़ेगा। श्रीमनोहर विद्यालङ्कार-महाशयका जो गुरुकुलके स्नातक प्रतीत होते हैं, 'वैदिक-धर्म' पत्र (३०।५पृ० २०१) में 'महीधरभाष्य भी उपादेय है' इस शीर्षकसे एक लेख निकला था। उसमें वे लिखते हैं—उस (वेद)के एक-एक शब्दके नाना अर्थ हो सकते हैं, इस प्रकार इन २० हजार मन्त्रोंमें अनन्त-ज्ञान मिल सकते हैं; क्योंकि—वेदमें सम्पूर्ण-ज्ञान है। इसलिए बहुत सी ऐसी बातें भी वेदमें दिखाई देंगी, जो आदर्श-दृष्टिसे हमें अनुचित मालूम पड़ें' 'इनके द्वारा वेदकी पूर्णता ही समझनी चाहिये'।

आगे विद्यालङ्कारजी लिखते हैं—'यजुर्वेदके २३वें अध्यायका भाष्य करते हुए भाष्यकार-महीधरने जो अर्थ किये हैं, वे विचारणीय हैं। वे कामशास्त्रका बहुत ही अच्छा ज्ञान देते हैं, जो वेदकी शैलीके अनुरूप हैं। इस प्रकारके ज्ञानकी वेदमें अनावश्यकता है—यह कहकर पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता। ...एक समय था; जब महीधरके भाष्यको भी अश्लील कहकर त्याज्य ठहराया गया था; किन्तु आज कामशास्त्रके ज्ञानकेलिए उसकी वैज्ञानिकताको परखना आवश्यक है। ...महीधरका भाष्य भी युक्तियुक्त है, और वह भी एक विज्ञान (कामशास्त्र) पर प्रकाश डालता है'।

इससे स्पष्ट है कि—इसमें महीधरको बदनाम करना अपने-आपको अल्पश्रुत बनाना है। वेदमें पुरुषके अङ्गकेलिये 'अश्व'का सा वर्णन बहुत आया है; एक-दो मन्त्र इस विषयके दिये जा चुके हैं। एक मन्त्र अन्य देखिये—'अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्वस्य च। अथ ऋषभस्य ये वाजाः (वीर्याणि) तान् अस्मिन् [पुरुषे] धेहि तनूवशिन्!' (अ० ४।४।८) 'मृतभ्रजे...ओषधिं शेपहर्षणीम्' (४।४।१) इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हैं; जिनसे वाजीकरण-ओषधियोंका ज्ञान होजाता है; कौन कह सकता है कि अश्वमेध-यज्ञमें भी उक्त-कर्मोंके व्याजसे कोई राजाकेलिए वाजीकरणका रहस्य नहीं भरा है? यह रहस्य अश्लीलता कहकर उससे आँख मूँद लेनेसे, और अर्थ सर्वथा बदल देनेसे नहीं मिलते; यहाँ तो मूलमें ही घुसकर देखनेसे आगे पता चलता है। फलतः श्रीमहीधरको बदनाम करना अपनी ही कलुषित-मनोवृत्तिको परिचायित करना

है, श्रीमहीधरने कहीं भी महिषीका अश्वसे समागम नहीं बताया; स्वा० द० जीने बलात् उसे ठोंसा है; अतः जनताको स्वामीजीकी बातों पर न आकर स्वयं भी कुछ देखभाल करनी चाहिये।

(१४) स्वा० दयानन्दजीने 'मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि' (यजुः ६।१४)इस मंत्रका अश्वमेध-यज्ञसे अपने बचावकेलिए पृ०५०० में यह अर्थ किया है कि–'हे शिष्य! मैं तेरे''लिङ्गको पवित्र करता हूँ, तेरे''गुदेन्द्रियको पवित्र करता हूँ' क्या यह अर्थ कुमार वा कुमारियों को पढ़ाया जाता है? यह अर्थ कितना उपहासयोग्य बन गया है? कहते हैं कि–इस अश्लीलताका एक गुरुकुलमें काण्ड भी बन गया था। आर्यसमाजी लोग इस अर्थकी हिमायतकेलिए बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं; पर गुदेन्द्रियकी शुद्धि वे ठीक नहीं बता सकते। यह अर्थको तोड़-मरोड़ करनेका परिणाम होता है। तो फिर महीधरका ही अपवाद क्यों किया जाता है? उवटने भी वैसे अर्थ किये; श्री-सायणाचार्यने भी। कल्पने भी वैसे अर्थ किये, शतपथब्राह्मणने भी। जहाँ कुमारीको उपहास-वचन कहा जा रहा है; वहाँ कुमारी भी उसका उत्तर उपहासमें दे रही है; इस प्रकार वावाता-आदिके उत्तर-प्रत्युत्तर उपहासके हैं; शतपथब्राह्मणने भी वहाँ वैसा ही लिखा है। शतपथब्राह्मणको अपने भाष्यकी कसौटी मानते हुए भी स्वामीजीने क्या शतपथानुकूल-अर्थ इन मन्त्रोंका लिखा है कि–जो कुमारी आदिके उत्तर-प्रत्युत्तरमें घट जावें? किसीका तोड़-मरोड़ करके अर्थ करनेमें कठिनाई नहीं होती; कठिनाई यह होती है कि—स्वारसिक-प्राकरणिक अर्थ किया जाए, और उसकी सङ्गति बैठाई जाय। पर

वैसा स्वयं सामर्थ्य न होनेसे दूसरेका अपवाद कर देना, दूसरेको वाममार्गी तक कह देना बहुत बुरी बात है।

फलतः 'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्' (श्रीमद्भागवत ११।२१।३५) इत्यादि-वचनोंके अनुसार कहीं गुप्त-बात परोक्षतासे कही जाती है, वहां सर्वसाधारणको ज्ञान न हो सकनेसे आक्षेप्ताओं को वाममार्गिता वा अश्लीलता प्रतीत होती है। जैसे कोई कहे कि—'करशनजीके लड़केने अर्वाचीन-जगत्में हलचल मचा दी'। इस वाक्यको परोक्षवृत्तिसे कहा जावे; तो ऐसे बनेगा—'करशनजीके शिश्नके वीर्यने नव-शिक्षित जनताकी योनिमें पड़कर खूब विप्लव मचा दिया। उसमें अनुरक्त एक विशेष-जनताने उसे अपने उपस्थमें डाल लिया। इससे उसे गर्भ होगया; उससे बहुतसे तादृश-विचारवाले लड़के प्रसूत होगये'। इस दूसरे वाक्यका परोक्ष पूर्वोक्त-अर्थ न समझकर उसके प्रत्यक्ष-शब्दोंका ही केवल अर्थ समझनेवाला अल्पश्रुत-व्यक्ति इस वाक्यसे चिढ़ उठेगा। यही बात स्वामी वा उसके अर्धघट-अनुयायिओंकी है, जिन्होंने गणपतिदेवके तेजके आकर्षणकी बात न समझकर मृतक-अश्वसे महिषीका असम्भवी-समागमका अर्थ करके श्रीमहीधराचार्यको वाममार्गी लिख डाला। क्या वाममार्गी स्त्रियोंका मृतक-अश्वसे सम्भोग कराया करते हैं?

(१५) जिस प्रकार स्वामीजीने भूलसे मृतक-अश्वका समागम-अर्थ श्रीमहीधरके भाष्यमें समझकर उसे 'वाममार्गी' शब्दसे बदनाम किया; वैसे ही वाममार्गके परोक्षवृत्तिसे कहे हुए योग-

विषयको न समझकर उसके प्रत्यक्ष-शब्दोंका अर्थ करके जनतामें उसे भी कलङ्कित कर दिया। प्रकरणवश हम वाममार्गके विषयमें भी उसके रहस्यका दिग्दर्शन करा देते हैं, जिससे सर्वसाधारणकी भ्रान्ति दूर हो जावे।

(क) रुद्रयामल-तन्त्रका एक पद्य है—'रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी। चर्मकारी प्रयागः स्याद् रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता' यहाँ भी परोक्षवादके वर्णनको न समझकर इस तन्त्र-वाक्यके लेखकको घृणित-शब्दोंसे स्मरण किया जाता है; और कहा जाता है कि—'शास्त्रोंमें रजस्वला [चाण्डाली, चर्मकारी, रजकी, पुक्कसी] आदि स्त्रियोंके स्पर्शका निषेध है, उनको वाममार्गियोंने अतिपवित्र माना है। सुनो इनका अण्ड-बण्ड श्लोक—'रजस्वला पुष्करं तीर्थं, चाण्डाली तु स्वयं काशी' इत्यादि। रजस्वलाके साथ समागम करनेसे जानो पुष्करका स्नान, चाण्डालीसे समागममें काशीयात्रा, चमारीसे समागमसे मानो प्रयाग-स्नान, धोबी-स्त्रीसे समागमसे मथुरा-यात्रा और कञ्जरीके साथ लीला करनेसे मानो अयोध्यातीर्थ कर आये'। (स०प्र० ११ समु० वाममार्ग-आलोचनाप्र०)

खेद है कि—संन्यासीजीको समागमके स्वप्न बहुत आया करते थे। श्रीमहीधरके भाष्यमें घोड़ेसे महिषीके समागमकी कोई गन्ध भी नहीं थी; पर स्वामीजीको बहुत जल्द आगई। इस प्रकार इस श्लोकमें भी। यह निन्दा स्वामीकी आपात-दृष्टिके कारण लिखी गई; और वे परोक्षवाद समझ न सके। रजस्वला आदि यहाँ

पारिभाषिक शब्द हैं कि—जहाँ रजस्वलाके गमनसे स्वर्गप्राप्ति बताई हो, वहाँ पुष्करतीर्थके गमनसे वैसा समझना चाहिए। जहाँ चाण्डाली-गमन लिखा हो; वहाँ काशीयात्रा समझनी चाहिए। इसी भांति चर्मकारीगमनसे प्रयागगमन, रजकीगमनसे मथुरागमन तथा पुक्सीगमनसे अयोध्यागमन समझना चाहिये। पर यह न समझकर उसका उल्टा अर्थ लिख दिया गया। उन्हें गाली भी दे दी गई। वे नहीं जानते थे कि—'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथब्रा० १।१।१)। देवकल्प-शास्त्रकार परोक्ष-शब्दोंसे अपना विवक्षितार्थ सूचित करते थे। तभी तो स्वामीजीने इनकेलिए स्वयं भी लिखा है—'इसलिए ऐसे-ऐसे नाम धरे हैं कि—जिससे दूसरा न समझ सके' (स०प्र०पृ० १७८) यदि ऐसा है; तो उनपर उपालम्भ क्यों?

कोई बड़े-से-बड़ा व्यभिचारी भी रजस्वला आदि-गमनकी प्रशंसाको कभी भी ग्रन्थ-बद्ध नहीं कर सकता। जब उक्त-स्थलमें प्रशंसा की गई है, तो यह स्पष्ट है कि—इन परोक्षवादोंको समझा नहीं गया। वस्तुतः तन्त्रशास्त्रोंमें परोक्ष-शब्दोंसे योगविषय वर्णित किया गया है। उसकी परिभाषाओंका रहस्य न जाननेवाला वहाँ पर घृणित-वर्णन समझने लग जाया करता है। इस अवसरपर यथाश्रुत-अर्थ करनेपर 'भ्रातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ० ६।५५।५) इस मन्त्रका भी अश्लील अर्थ प्रतीत होगा। अब देखिये—'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्'। इस पद्यको देखकर साधारण आपाततोदर्शी-पुरुष भ्रममें पड़ जाते हैं कि—

यहां गोमांस-भक्षण और मद्यपान आदिष्ट किया गया है; पर इसकी परिभाषा देखनेसे भ्रम दूर हो जाता है कि—'गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम्। जिह्वाप्रवेशसंजात-सुषुम्णाक्षोभसम्भवः। चन्द्रात् स्रवति यः सारः सैवेहामरवारुणी' (हठयोगप्रदीपिका)।

(१६) इस प्रकार तान्त्रिक मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन आदि पञ्च-मकारोंकी परिभाषाओंका ज्ञान जब तक 'नित्यतन्त्र, महानिर्वाणतन्त्र, मेरुतन्त्र' आदि ग्रन्थोंसे न किया जावे; तब तक आपातदृष्टि रखनेवालेको बड़ा भ्रम सम्भव हो जाता है। यह न जाननेसे ही (स० प्र० ११ समु० पृ० १७७में) कालीतन्त्रके पञ्च-मकारोंका उपहास उड़ाया गया है। पञ्च-मकारोंको तो योगियोंको मुक्तिदायक बताया है—'मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। मकारपंचकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्'। स्वामीजीसे उद्धृत उत्तरार्धमें कहा है—'एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे-युगे'। कोई व्यभिचारीसे व्यभिचारी भी प्रचलित मद्य-मांस मैथुन आदिको योगियोंकेलिए मुक्तिदायक कभी भी नहीं कह सकता। जब कहा है; तो स्पष्ट है कि—इनमें रहस्य हैं। सो इनकी परिभाषाओंको जाननेसे ही उनका मुक्तिसे सम्बन्ध सिद्ध होगा। अब देखिये वे परिभाषाएँ—

१ मद्य—'यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्। तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तद् मद्यं परिकीर्तितम्' (विजयतन्त्र) यह 'मद्य'की परिभाषा है कि—निरञ्जन परब्रह्ममें मस्त होजाना। इसी मद्यकेलिए कहा गया है—'पीत्वा-पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।

पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' (महानिर्वाणतन्त्र)। क्या यहाँ साधारण-मद्यके पानसे पुनर्जन्मका दूरीभाव कभी सम्भव हो सकता है? यह तान्त्रिकता सद्गुरु-द्वारा ही जानी जा सकती है; और संयमी ही इसका अधिकारी हो सकता है। जो ऐसा नहीं करता; केवल ग्रन्थोंके शब्दोंके ही अर्थ अनुसृत करने बैठता है; वह कुमार्गमें प्राप्त होकर पथभ्रष्ट हो सकता है।

२ मांस—'मा-शब्दाद् रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान्। सदा यो भक्षयेन्नित्यं स भवेन्मांससाधकः' (आगमसार) पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्। परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते' (कुलार्णवतन्त्र) यह मांसभक्षणकी परिभाषा है कि ज्ञानखड्गसे पुण्य-पापरूप पशुको मारकर परब्रह्ममें चित्तको लगाना।

३ मत्स्य (मीन)—'गङ्गा (शरीरस्थित-इडानाडी)—यमुनयोः (पिङ्गलानाडी) मध्ये मत्स्यौ द्वौ (श्वासप्रश्वासौ) चरतः सदा। तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु (प्राणायामे) स भवेद् मत्स्यसाधकः' (आगमसार) यह मत्स्यभक्षणकी परिभाषा है कि–प्राणायाममें श्वासप्रश्वास को खाना (रोकना)। 'मनसा चेन्द्रिय-ग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्। मत्स्याशी स भवेद् देवि! शेषा धीवरवृत्तयः' यह मेरुतन्त्रप्रोक्त मत्स्यकी परिभाषा है।

४ मुद्रा—'सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेन बन्धनम्। असत्सङ्ग-मुद्रणं यत्तु सा मुद्रा परिकीर्तिता' (विजयतन्त्र) आत्मनो जायते मोद-स्ता मुद्राः परिकीर्तिताः। ता ज्ञेया धारणा-ध्यानसमाध्याख्यास्तु मोक्षदाः' (मेरुतन्त्र) यह मुद्राकी परिभाषा है कि—असत्सङ्गका

मुद्रण करना और धारणा-ध्यान आदिसे आत्माकी मोक्षप्राप्ति।

५ मैथुन—'कुलकुण्डलिनीशक्तिर्देहिनां देहधारिणी। तयोः शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्' (विजयतन्त्र) 'सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मैथुनं शिवे! मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्' (योगिनीतन्त्र)। 'सुषुम्णा शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः। तयोस्तु सङ्गमो देवाः! मैथुनं परिकीर्तितम्। वीर्यपातस्य समये सुषुम्णासन्नमारुते। उत्पद्यते तु यत् सौख्यं शतकोटिगुणं तु तत्। एतदेव रतं (मैथुनं) प्रोक्तम् अन्यद् स्याद् रासभं रतम्' (मेरुतन्त्र) यह मैथुनकी परिभाषा है कि—सुषुम्णारूप-शक्ति और जीवरूप-शिवसे सम्मेलन। इससे सुषुम्णाके साथकी वायुका वेगप्रवाह ही सुखजनक-वीर्यपात हुआ करता है—यह बताया गया है।

बालरण्डाबलात्कार—अब बालविधवासे बलात्कारकी परिभाषा देखिये—'गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्। बलात्कारेण गृह्णीयात् तद् विष्णोः परमं पदम्'। परिभाषा यह है—'इडा भागीरथी गङ्गा, पिङ्गला यमुना नदी। तयोर्मध्यगता रण्डा सुषुम्णैव सरस्वती' (हठयोग-प्रदीपिका ३।६) इडा, पिङ्गलाकी मध्यवर्तिनी सुषुम्णानाडीका ग्रहण ही बालरण्डा-बलात्कार है।

(१७) आक्षेप्ता-वैदिकम्मन्योंका यह प्रश्न होता है कि—'यदि तन्त्रग्रन्थोंमें इस प्रकार उत्तम विषय है; तो उसे उद्वेजक-शब्दोंसे क्यों कहा जाता है?' इसपर उत्तर पूर्व दिया गया है कि—'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथ १।२।२१) 'परोक्षवादा ऋषयः' (श्रीमद्भागवत ११।२१।३५) 'परो-

क्षकामा देवाः प्रत्यक्षविद्विषः' (शतपथ० ७।५।१।२२) परोक्षवाद देवता एवं ऋषि-मुनियोंको बहुत प्रिय होता है। वेदमें भी तो यही तरीका है। देखिये—'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (ऋ० १।१६४।३३) 'जार आ भगम्' (ऋ० १०।११।६) 'वीर्यं मयि धेहि' (यजुः १६।६) 'वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (यजुः २३।२०) 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ० ६।५५।५) दिधिषु—दूसरे पतिको कहते हैं, (माँका दूसरा पति) 'सुयम्या कन्या कल्याणी' (अथर्व० २०।१२८।६) 'योनिरुलूखलं शिश्नं मुसलम्' (शत० ७।५।१।३८) 'यदा स्थूलेन पससाऽणौ मुष्कौ उपावधीत्' (अथर्व० २०।१३६।२) इत्यादि। क्या यह बाहरसे उद्वेजक शब्द नहीं? फिर तन्त्रग्रन्थों वा महीधरभाष्य पर आक्षेप क्यों?

यह वाममार्ग जितेन्द्रियोंकेलिए कहा गया है, विषय-लोलुपोंकेलिए नहीं। जैसे कि—'अयं सर्वोत्तमो मार्गः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः। जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः' (पुरश्चर्यार्णव) 'परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः। परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः। तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे (वाममार्गे) स्यादधिकारिता'। तब बिना सोचे-विचारे वाममार्गकी भी निन्दा फैला देना एक अक्षम्य-अपराध है। इसलिए 'भावचूडामणि' नामक-तन्त्रग्रन्थमें लिखा है कि तन्त्र अतिगूढ हैं। 'तन्त्राणामतिगूढत्वात् तद्भावोप्यतिगोपितः। ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी। गूढतन्त्रार्थभावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः' अर्थात् तन्त्रशास्त्रका ज्ञान वेदशास्त्रार्थज्ञ विद्वान् ब्राह्मण ही कर सकता है, आपाततोदर्शी नहीं।

यही आक्षिप्त वाममार्गका श्लोक ही देखिये—'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु' (स० प्र०) यहां भाव था कि मातृ-वंशकी लड़कीसे विवाह न करे, अन्य वंशवालीका उतना विचार न करे; पर इस पद्यपर बहुत उपहास किया जाता है, देखिये स० प्र०। इस मार्गमें भग-लिङ्गकी पूजा गौरीशङ्करकी पूजा इष्ट है। जो इस मार्गमें कई उद्वेजक-बातें चालू हो गई हैं, वह सद्गुरु-द्वारा ज्ञान न प्राप्त करनेके ही कारण हैं। पर विद्वान्का कर्त्तव्य है कि उसके अन्तस्तलमें घुसकर उसका तत्त्व जाने। आपाततः देखकर उसपर उपहास न करे।

(१८) यदि आक्षेप्ताकी आपात-दृष्टिमें यही वाममार्ग है; तो वह अपने सम्प्रदायको भी 'वाममार्ग' बना देगा। आक्षेप्ताने लिखा है—'जिन नीच स्त्रियोंको छूना नहीं [लिखा]; उनको वाममार्गियोंने अतिपवित्र माना है। जैसे—शास्त्रोंमें रजस्वला [चाण्डाली, चर्मकारी, रजकी, पुक्कसी] आदि स्त्रियोंके स्पर्शका निषेध है; उनको वाममार्गियोंने अतिपवित्र माना है, (स० प्र० ११ पृ० १७७) इस प्रकार आक्षेप्ताका सम्प्रदाय भी चाण्डाल-आदिसे स्पर्श मानता है। 'चाण्डाल'का अर्थ आक्षेप्ताने अपने-ग्रन्थोंमें 'भंगी' माना है; तब चाण्डाल-आदिका स्पर्श करनेवाले आक्षेप्ताके अनुयायी भी वाममार्गी बन जाएँगे। (ख) और कहा है—'जब भैरवीचक्र हो; तब उसमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल-पर्यन्तका नाम द्विज होता है' (पृ० १७८) इस प्रकार जब इनका 'शुद्धिचक्र' चलता है; तब 'अब्दुलगफूर' आदि भी 'धर्मपाल शर्मा' बन जाते हैं; उस चक्रसे

पृथक् होनेपर फिर मुसलमान वा भङ्गी बन जाते हैं।

(ग) 'अहं भैरवः, त्वं भैरवी, आवयोरस्तु सङ्गमः' कहकर चाहे कोई पुरुष हो, वा स्त्री हो, समागम करनेमें दोष नहीं मानते, (स० प्र०) इस प्रकार वे 'नियोग' के आवरणमें किसी भी स्त्री-पुरुषके समागममें दोष नहीं मानते। (घ) वहीं वाममार्गियोंका अभक्ष्य-भक्षण माना है। आक्षेप्ताने चाण्डाल-आदि तथाकथित-नीचोंका भोजन निषिद्ध कर रखा है। जैसे कि—'ब्राह्मणादि उत्तम-वर्णोंके हाथका खाना, और चाण्डालादि नीच भङ्गी-चमार आदिका न खाना' (स० प्र० १० पृ० १६६) पर आक्षेप्ताके सम्प्रदायमें इनका भोजन किया जाता है—यह 'अभक्ष्यभक्षण' है। (ङ) इस प्रकार 'अप्राप्ताम्' (४।८८) इस मनुपद्यका 'अप्राप्त-विवाहकालाम्, द्वादशवर्षेभ्योपि न्यूनाम्' यह अर्थ था; उसका सं०वि०में 'माताकी छे पीढ़ीके भीतर भी विवाह' (पृ० १२७) अर्थ करके भगिनीसे समागम, और 'इमं ते उपस्थं मधुना सं-सृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्' इस मन्त्रसे स्त्रीके उपस्थको मन्त्र-द्वारा मधुसंयुक्त अभिप्रेत करके अपनी वाममार्गिता सिद्ध कर दी गई है। पर आक्षेप्ताके भाष्यकी कसौटी शतपथ-ब्राह्मणके अनुसार अर्थ करनेवाले श्रीमहीधराचार्यपर वाममार्गिताका आक्षेप कैसे हो सकता है? क्या 'शतपथ-ब्राह्मण' वाममार्गियोंका ग्रन्थ है?

चाहिये तो यह था कि महीधरभाष्यका वास्तविक अर्थ बताया जाता; जैसे कि हम पूर्व निर्देश दे चुके हैं; परन्तु इससे विपरीत श्रीमहीधरको शतपथसे विरुद्ध अर्थ करनेवाला लिख दिया !!! परन्तु

श्रीमहीधराचार्यने शतपथके अनुसार जो शब्द लिखे थे; उन शब्दोंको अपने ही प्रकाशित शतपथमें या तो देखा नहीं जाता, या देखकर भी उन्हें छिपा दिया जाता है। हमने शतपथका वह पाठ लिख दिया है, और उसका आशय भी बता दिया है। वहां मृतक-अश्वके साथ समागमका कुछ भी गन्ध नहीं है, अतः अब श्रीमहीधराचार्यका कुछ भी दोष नहीं रहा, और कुछ भी तथाकथित अश्लीलता नहीं रही। अब उस पाठको प्रक्षिप्त वा वेदविरुद्ध बताना अपनी दुर्बलताका प्रकाशन होगा। शेष मन्त्रोंका अर्थ श्री पं० भीमसेनजी-कृत 'आश्वमेधिकमन्त्रमीमांसा' वा पं० ज्वालाप्रसादजीके यजुर्वेदभाष्यमें देखा जा सकता है। याज्ञिक-पश्वालम्भपर हम अन्य-पुष्पमें लिखेंगे, पर अश्वमेधादि कलिवर्जित हैं—यह जान रखना चाहिये।

विद्वानोंको चाहिये कि इस प्रकारके भ्रमोंको साधारण-जनता से हटवा दें। यह निबन्ध श्रीगणेशजीके 'गणानां त्वा' इस प्रसिद्ध-मन्त्रके प्रसङ्गसे हमें आरम्भमें 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' के आगे देना चाहिये था; पर कारणवश वहां इसे न देकर पूर्वप्रतिज्ञानुसार 'गणेशचतुर्थी' के प्रकरणमें दिया है। फलतः श्रीगणेश वैदिक-देवता हैं और उनका उक्त मन्त्र ठीक है, उसके अर्थमें कोई अश्लीलता वा लज्जास्पदता नहीं। आगे 'संकट-गणेशचतुर्थी' पर लिखा जायगा।※

※ पृ० ७१३ पं० १४में 'गर्भ'के स्थान 'गभ' पढ़ें। पृ० ६२२में 'मघे चन्द्रमसा युक्ते सिंहे चाभ्युदिते गुरौ' (१।१२२।१८) 'कल्याण'से प्रकाशित-महाभारतमें सिंह-राशिका नाम प्रत्यक्ष है। पृ० ७३४ पं०२में 'पापिनि' के स्थानमें 'पाणिनि' पढ़ें।

(१६) संकटनाशन-गणेशचतुर्थी।

चार गणेश-चतुर्थियोंमें हम पहले आदिमका वर्णन कर चुके हैं; यह अन्तिमका वर्णन है। इसे संकट-नाशनी कहते हैं– यह माघकृष्ण-चतुर्थीमें आती है और बहुत प्रसिद्ध है।

इसकी कथा इस रूपसे प्रसिद्ध है कि—पार्वतीने गणेशको अपने शरीरके मलसे बनाया था; उसमें जीव प्रतिष्ठित कर दिया था। स्वयं अन्दर स्नान करने बैठी; और उसे बाहर बैठा दिया; और उसे किसीको अन्दर न आने देनेकी आज्ञा दे दी। महादेव जब आये; और अन्दर जाने लगे; तो उसने रोका; पर मुखसे कुछ नहीं कहा। तो महादेवजीने उसे अजनबी तथा अपनेको रोकते देख उसका सिर त्रिशूलसे उड़ा दिया और भीतर चले गये। पार्वतीने अपना कोप-प्रदर्शन किया। महादेवजीने सब वृत्त कह सुनाया। पार्वती बोली—वह तो मेरा लड़का था; उसका सिर उससे जोड़कर उसे जीवित कर दीजिये; नहीं तो मैं अन्न-जल ग्रहण न करूंगी। महादेवजी ने सर्वत्र ढूंढ डाला; पर उन्हें वह सिर न मिला। फिर एक दिव्य-हाथी आ रहा था; उसका सिर काट कर उस कबन्धपर जोड़ दिया। पार्वतीने कहा कि यह आपने क्या किया? विचित्र आकृति बना दी। उन्होंने कहा कि—यह एकदन्त, गजवदन गणेशजी होंगे। सब कार्योंमें पहले इन्हींकी पूजा होगी। हम दोनोंके विवाहमें भी पहले इन्हींकी पूजा हुई थी; यह उनका दूसरा अवतार है, दूसरा संस्करण है। हमारे पूर्वके विवाहमें इनकी पूजा नहीं हुई; तत्फल-स्वरूप वह विवाह असफल

होगया, और तुम सतीरूपमें पिता-द्वारा अपमानित होकर सती होगईं।

वह सिर जो गणेशजीका उड़ गया था—कहते हैं, वह चतुर्थीके चन्द्रमाके पृष्ठभागमें पहुँच गया था; अतः न दीखा। इसलिए उस दिन चन्द्रमाका दर्शन करके उसे अर्घ्यजल देते हैं। फिर गणेश-चतुर्थीव्रतका उद्यापन करते हैं।

इस कथामें कही हुई गणेशोत्पत्तिमें कई लोग शंकाएं करते हैं; वह सब उनके अल्पश्रुतत्वके कारण है। संक्षेपमें उत्तर यह है कि—पञ्चभूतोंके मिश्रण-विशेषसे उसमें जीव प्रतिष्ठित हो जाता है—इस विषयमें विच्छू-आदिकी उत्पत्ति देख लीजिये; और फिर देवताओंमें योनिजता न होनेसे उनमें पृथिवी-भूतकी अपेक्षा तेज आदि भूतोंकी प्रधानता होती है; अतः सिर कटने पर भी मृत्यु नहीं होती। जरासन्धके भी शरीरकी दो फांकोंको सर्जरी (जरा-राक्षसी) द्वारा जोड़नेपर उसमें रक्तप्रवाह जारी होकर जीवका प्राकट्य होगया था। उक्त-कथामें शिरः-सन्धानमें भी उक्त सर्जरी जानी जा सकती है। वर्तमान-विज्ञान अभी इधर अभ्यास तो कर रहा है; कदाचित् इधर सफल हो जाए। यहां दिव्यतावश ऐसी सब शंकाएं समाहित हो जाती हैं। सिर कटनेपर भी जन्मतः अमृत पिये होनेसे देवता मरते नहीं। इसमें राहु-केतु याद रख लेने चाहिएँ। दिव्यता-वश ही गजशिरः-सन्धानसे कोई बेमेल नहीं हुआ। इनके वाहन मूषककेलिए इस ग्रन्थका ५२-५३ पृष्ठ देख लेना चाहिए। अब अग्रिम-निबन्धमें गणेशजीके १२ नामोंपर राजनीतिक-दृष्टिकोण उपस्थित किया जायगा।

---

(२०) गणेश एवं गणनायकके स्वरूपका परिचय।

'गणेश'का सब स्थानोंमें तथा सबसे पूर्व पूजन किया जाता है। वेदमें प्रार्थनापूर्वक उसे कहा जाता है—हे गणपति-गणनायक! तुम गणोंमें ठीक-ठीक प्रतिष्ठित होवो। तुम बहुत मेधावी हो। तुम्हारे बिना कोई भी कार्य नहीं किया जाता' (ऋ० १०।११२।९) ऐसे गणपति-गणेशका राजनीतिक-स्वरूपभी जानना आवश्यक है।

वैसे तो 'गणेश-पुराण'में 'गणेश-सहस्रनाम'में गणेशके सहस्र नाम कहे गये हैं, और वे सब राजनीतिक-रहस्यपूर्ण हैं; गणनायकके स्वरूपको परिचायित करनेमें अद्भुत-क्षमता रखते हैं; तथापि गणेशके तीन प्रकारके बारह नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। नामों से ही उसके कार्योंका परिचय हो सकता है। पुराणोंके अनुसार पहले बारह नाम यह हैं—"सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः। लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः। धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः। द्वादशैतानि नामानि यः पठेत् शृणुयादपि। विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा। संग्रामे सङ्कटे चैव विघ्न-स्तस्य न जायते"।

यहां पर गणेशके सुमुख १, एकदन्त २, कपिल ३, गजकर्णक ४, लम्बोदर ५, विकट ६, विघ्ननाश ७, विनायक ८, धूम्रकेतु ९, गणाध्यक्ष १०, भालचन्द्र ११, गजानन १२ यह बारह नाम आये हैं। इन नामोंके अतिरिक्त भी गणेशके बारह नाम पुराणादिमें आते हैं। वे यह हैं—'वक्रतुण्ड! महाकाय! सूर्यकोटिसमप्रभ! अविघ्नं कुरु मे देव! सर्वकार्येषु सर्वदा।' 'गणेश्वरं विघ्नविनाशनं च,

लम्बोदरं मोदक-वल्लभं च । सुरासुरैर्वन्दितपूजितं च, गणेश्वरं शरणमहं प्रपद्ये ।' 'गजाननं भूतगणाधिसेवितं, कपित्थजम्बूफल-चारुभक्षणम्। उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि *विघ्नेश्वर-मात्तपंकजम्' ।

यहाँपर पूर्व-नामोंके अतिरिक्त गणेशके १ वक्रतुण्ड, २ महाकाय, ३ सूर्यकोटिसमप्रभ, ४ गणेश्वर, ५ विघ्नविनाशन, ६ मोदकवल्लभ, ७ सुरासुर-वन्दित-पूजित, ८ भूतगणाधिसेवित, ९ चारुभक्षण, १० उमासुत, ११ शोकविनाशकारक, १२ आत्त-पंकज—यह बारह नवीन नाम आये हैं। यह गणेशके नाम पुराणोंके आ चुके। अब वेदानुगृहीत 'गणेश-पुराण' (उपासना खण्ड) स्थित कई गणेशके नाम भी संगृहीत किये जाते हैं।

'गणेश-पुराण'के उपासना-खण्डमें गणेशसहस्रनामोंमें गणेशके निम्न वैदिक-नाम आये हैं—'कविं कवीनामृषभो ब्रह्मण्यो ब्रह्मणस्पतिः। ज्येष्ठराजो निधिपतिर्निधिः प्रियपतिः प्रियः॥ (४६।१४-१५) ब्रह्म ब्रह्मार्चितपदो ब्रह्मचारी बृहस्पतिः' (१०२) इसमें 'गणपति'के १ कवि, २ ज्येष्ठराज, ३ ब्रह्मणस्पति, ४ बृहस्पति यह नाम आये हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक (१०।१)में तथा 'मैत्रायणी-यजुर्वेदसंहिता' (२।९।१।६) में गणेशके ८ तत्पुरुष, ९ वक्रतुण्ड, १० दन्ती, ११ कराट, १२ हस्तिमुख—यह नाम आये हैं।

*यदि 'विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्' पाठ हो तो वह 'उमासुतं' का विशेषण होगा; उसका अर्थ होगा— 'विघ्नेश्वरभूते पादपङ्कजे यस्य सः, तम्।

'गणेशाथर्वशीर्ष'में 'एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमंकुशधारिणम्। अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्' यह नाम आये हैं। 'बोधायनगृह्य-शेषसूत्र'में—'विघ्न ! विघ्नेश्वरागच्छ विघ्नेत्येव नमस्कृत ! 'अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदास्माकं भव प्रभो !' (३।१०।२) यहां गणेशके विघ्न तथा विघ्नेश्वर यह नाम आये हैं। इनमें कई पूर्व आ चुके हैं। इनमें हमने १ मूषकवाहन, २ ब्रह्मणस्पति, ३ कवि, ४ ज्येष्ठराज, ५ बृहस्पति, ६ तत्पुरुष, ७ कराट, ८ प्रियपति, ९ निधिपति, १० वसु अथवा वरद, ११ चतुर्भुज, १२ विघ्नेश्वर अथवा स्वस्तिक यह बारह नाम चुन लिये हैं।

इन नामोंसे पूर्ण 'गणेश' बनता है। नामोंसे कार्योंका परिचय होता है-'यथा नाम तथा गुणः'। यह पूर्व कहा जा चुका है कि-इन नामोंके पठन, श्रवण वा अवधारणसे सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। गणेशका मुख्य-स्वरूप गजानन होना, एकदन्त तथा लम्बोदर होना है। चूहा इनका वाहन होता है।

गणेश वा गणपति गणनायकको कहते हैं। गण संघको कहते हैं। संघका नायक कैसा होना चाहिये—गणपति-गणेशके स्वरूप से तथा नामोंसे इसका परिचय प्राप्त हो जाता है। इनका राज-नीतिक स्वरूप इस प्रकार है—

१ सुमुखः—गणनायकको सम्पत्ति तथा विपत्तिमें 'सुमुख' रहना चाहिये, हर्ष-शोकमें एक-रूप 'सुमुख' रहे। मुखके द्वारा हर्ष-शोकको प्रकट न होने दे। इसीसे गणनायक शत्रुओंकेलिए 'विकट' सिद्ध होता है, शत्रु उससे प्रभावित होते हैं, अपनी

कार्यवाहियोंको उसपर निष्फल होता हुआ देखकर भाग खड़े होते हैं। यदि शत्रुओंकी कार्यवाहियोंसे गणनायकके मुखपर जरा भी खिन्नता-विचलितता दिखाई पड़ती है; तो शत्रु अपनी कार्यवाहियों की सफलता समझ कर प्रवृद्धोत्साह हो जाते हैं। ऐसे गणनायक की पराजय आशंकित हो जाती है, पर अपने विनायकत्व—विशिष्ट नायकत्वको अक्षत रखनेकेलिए उसे सदा 'सुमुख' ही रहना पड़ता है।

२. 'एकदन्तः'—गणनायकको 'एकदन्त' (दन्ती) भी होना चाहिये, एक ही शुभ्र दान्त बाहर रखना चाहिये। शेष नीतिरूप दान्तोंको अन्दर अर्थात् बाहरमें अप्रकट-गुप्त रखना चाहिये; प्रसिद्ध है—'हाथीके दांत खानेके और दिखानेके और' तभी विघ्न-रहित होगा, तभी उसकी विजय होगी।

३. 'कपिल'—'कपिल' से 'कपिल-रंग' अभीष्ट है। जैसे कपिला गाय होती है, उसमें या तो शुभ्र रंग होता है, या लाल। काला रंग सर्वथा नहीं होता। इस प्रकार गणनायक भी यशः-शुभ्र हो, लोकानुराग-रूप रक्तवर्ण भी हो, पर उसमें कलङ्करूप-कालापन सर्वथा न हो। कलङ्ककी एक रेखा भी होनेसे वह 'कपिल' न बन सकेगा। तब वह विनायक, विशिष्ट-नायक भी न बन सकेगा।

४. 'गजकर्णकः'—गणनायकको कान गजका रखना पड़ता है। उसे प्रतिसमय हिलाना-डुलाना पड़ता है। गजका कान बहुत कोमल होता है, गणनायकका भी। दुर्जनरूपी च्यूंटी उसमें छिद्र करनेमें सफल हो जाय, तो तत्परिणाम-स्वरूप गणनायकके आत्म-विनाश

का प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है। इसके अतिरिक्त गणनायकको बड़े कान वाला भी होना चाहिये। उसमें गणकी बातोंकी सुनवाई भी हो, कुत्ते तककी भी सुने, इसलिए उसके कान बड़े हों, तंग न हों।

५. 'लम्बोदरः'—गणनायकका पेट बड़ा होना चाहिये, जो बातें सुनता रहे, उन्हें पेटमें जमा करता जाय, हज़म करता जाए। इसकेलिए उसका पेट बड़ा होना चाहिये, सब चीजें उसमें समा सकें।

६. विकट—गणनायकको 'विकट' भी बनना चाहिये। 'विकट' न बनेगा तो उसे शत्रु शष्प-तुल्य समझकर उखाड़ फेंकेंगे। 'सीधी अंगुलिसे घी भी नहीं निकल सकता।'

७. विघ्ननाशः—गणनायकको विघ्नविनाशक भी बनना चाहिये। गणराज्यकी असफलता करनेवाले जो विघ्न आवें उन्हें पीस दे। तभी 'गण' का उसपर विश्वास होगा।

८. 'विनायकः'—विघ्ननाशक होनेसे ही गणनायक विनायक—विशिष्ट नायक, विशिष्ट नेता, बन सकता है।

९. 'धूम्रकेतु'—गणनायकको 'धूम्रकेतु' भी बनना चाहिये। धूम्रकेतु अग्निको कहते हैं, अग्निमें पतंगे जल मरते हैं, सिंह आदि हिंस्र जन्तु इससे दूर रहते हैं, शरीरको काटनेवाले, खराब करनेवाले कीटाणु अग्निके प्रभावसे अलक्षित हो जाते हैं। अग्निका केतु धूम्र होता है उस धुएँसे विदेशी-शत्रुओंकी आंखोंसे आंसू निकलवाता रहे, उस धुएँको अपनेमें न रखकर दूर-देशोंमें

भिन्न-देशोंमें, विदेशोंमें, शत्रु-देशोंमें फहराता रहे। जिससे वे डरकर दूर भागें कि—कहीं यह प्रज्वलित-अग्नि हमें जलाती न जाये। धूम्रकेतु पूछल-तारेको भी कहते हैं। 'धूम्रकेतुरहितजनस्य' शत्रु-राजाओंकेलिए गणनायक पूछल-तारा रहे। उनकेलिए अशुभोत्पादक रहे। ऐसा गणनायक शत्रु-देशोंकेलिए होना भी चाहिये, क्योंकि 'लातोंके भूत बातोंसे नहीं मानते'।

१०. 'गणाध्यक्ष:'—गणनायकको 'गणाध्यक्ष' अपने गणका वास्तविक अध्यक्ष होना चाहिये, उसकी सब तरहकी देख-रेख वाला, उसका स्वामी होना चाहिये। साधारण-स्वामी भी न हो, किन्तु विनायक, विशिष्ट-नेतृत्व करनेवाला हो, उसका प्रताप ऐसा हो कि उसके समक्ष सबका सिर अवनत होना चाहिये। यही 'गणाध्यक्षता' है।

११. 'भालचन्द्र:'—गणनायकको 'भालचन्द्र' भी होना चाहिये, चन्द्र उसके भाल पर, माथे पर हो। 'चन्द्र' से आह्लादकता विवक्षित है। उसके माथेका ऐसा प्रभाव हो कि गण उसे देखते ही आह्लादित हो उठें। चन्द्र भी मस्तकपर द्वितीयाका होता है, जिसे सब नमन करते हैं, उसके भालके आगे सब झुकें। चन्द्र कलाधर भी होता है। गणनायक सभी कलाओंको सिर-माथे रखे, अर्थात् उनका ज्ञान रखे।

चन्द्र, द्विजराज भी होता है। गणनायकको भी द्विजोंको राजित करना चाहिये। यदि वह अद्विजोंको राजित करेगा, तो वह 'भालचन्द्र' न होगा। वह गणके विशिष्ट-नेतृत्वको प्राप्त न कर

सकेगा। फिर निम्न-जातियां ही उसे अपना मतदान करेंगी, उच्च-जातियां नहीं। तब निम्नोंको प्रसन्न करनेकेलिए उसे निम्नोंके निम्न-कार्योंमें प्रोत्साहन देना पड़ेगा। यदि वह कभी निम्न-कार्योंमें प्रतिबन्ध डालेगा, जैसे कि समयानुसार नियन्त्रण करना पड़ता है, तो वे निम्न ही फिर उसे पटक देंगे, उच्च तो पहलेसे ही उसके सहयोगी न होंगे। इसलिए कहते हैं कि 'छोटोंको मुँह लगाना अच्छा नहीं होता', नहीं तो फिर वे अपनी छोटी-छोटी बातें भी मनवाते रहेंगे, न मानने पर वे बहुत तंग करते हैं। उससे गणनायकके विशिष्ट-नेतृत्वमें विघ्न खड़े हो जाते हैं। उस समय वह 'विघ्नेश' न रहकर विघ्ननेय, विघ्नवशी हो जाता है।

चन्द्र, क्षपा (रात्रि)-कर भी होता है। गणनायकको शत्रु देशों की रात्रि करनेवाला होना चाहिये। शत्रुओंकी बातें मानता रहा, अपनी बातें उनसे न मनवा सका, तो वह कभी शत्रुओंके चक्रमें फँसेगा। उसपरसे गणका विश्वास भी धीरे-धीरे उठ जायगा। उसकी विनायकता भी क्रम-क्रमसे हट जायगी।

१२. 'गजाननः'—गणनायकका हाथीका सिर, हाथीका मुख, हाथीका नाक, हाथीवाला मद भी होना चाहिये। 'बड़ा सिर सर्दार का, बड़ा पांव गँवार का' वह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। नेपोलियन-बोनापार्टका सिर भी बड़ा सुना जाता है। दिमागदार, चिन्तन-शील सिर होना चाहिये। वह गज-शिरसे सूचित होता है। गज केवल भोला-भाला भी नहीं होता, कुव्यवहार करनेपर बदला भी

लेता है। इसमें एक दर्जीकी कथा भी प्रसिद्ध है—

एक हाथी प्रतिदिन उसके घरमें सूँड डाल दिया करता था। दर्जी भी कभी केला तथा कभी कोई अन्य खाद्य-वस्तु दे दिया करता था। एक दिन दर्जी क्रोधमें बैठा था। हाथीने यथापूर्व सूँड डाली। दर्जीने उसे सुई चुभो दी। हाथीने सूँड खींच ली। फिर वह अपनी सूँडमें नालीका गदला पानी भर लाया। वह पानी उसने दर्जीके सिये जा रहे नये कपड़ोंपर डालकर उन्हें खराब कर दिया।

फलतः गजशिर, गणनायककी चिन्तनशीलता तथा गजका आनन, उसकी गम्भीरता बताता है। गम्भीर तथा मस्त रहना यह गजका स्वभाव है। तब गजाननका भी वही स्वभाव अनिवार्य है। गजानन-गणनायककेलिए भी ऐसा ही अपेक्षित है। गजानन होनेसे ही 'शुण्डी' शुण्डाधारी भी अवश्य होना पड़ता है। सूँडसे ही वह आगे आनेवाले—शत्रुओंको तितर-वितर कर देता है, बड़े सम्मर्द (भीड़-भड़क्का) में अपनी पहुँच कर सकता है। गणनायकके शुण्डा-स्थानीय शस्त्रधारी राजपुरुष होते हैं, जो सदा उसके आगे रहते हैं।

शुण्डासे गजकी नासिका भी इष्ट होती है, गणनायककी नासिका भी बड़ी होनी चाहिये। नासिकासे यहां घ्राण-शक्ति विवक्षित है। गणनायक आदमीको भांप ले कि वह कैसा है? पुरुषके भावोंको शीघ्र सूँघ ले. भांप ले, उनके अन्तस्तलमें घुस जाय। बस आदमीकी पूरी जांचवाला ही पूर्ण गणेश, गणनायक

होता है। गजकर्णक—गणनायकके कान भी हाथीके होने चाहियें; इस पर पहले प्रकाश किया जा चुका है। हाथी पशु होता है, मानवका वाहन होता है, पर गणनायक केवल हाथी नहीं होना चाहिये। गजका तो उसका आनन (मुख) हो, शेष देवशरीर हो, दिव्य-गुणधारी शरीर वाला हो, तभी उसमें कहे गये तथा कहे जानेवाले नायकताके गुण होंगे, अन्यथा नहीं। गजवाला मद भी उसमें होना चाहिये। मदोत्कट गजके आगे कोई प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं हो पाता। 'गजानन' में एक अन्य भी रहस्य है; वह यह कि गणनायकको चारों वेदोंका पारङ्गत होना चाहिये। 'गजानन' का 'ग' 'ऋग्' से 'जा' यजुः से, 'न' सामन्से 'न' अथर्वन्से लिया गया है। अतः गणनायकको भी चारों वेदोंको भुला नहीं देना चाहिये। यह रहस्य निकलता है।

इन बारह नामोंको जो अपनेमें रखता है अर्थात्—इनकी जो पूर्ण-व्याख्या रूप बनता है वही पूर्ण-रूपसे गणेश होता है, गणनायक होता है, विघ्नेश होता है। गणनायकके इन नामोंको जो स्मरण रखता है, जो श्रवण करता है; उसको भी कोई विघ्न प्रतिहत नहीं कर सकता है। विवाहमें भी, संग्राममें भी, विद्यारम्भमें भी, किसी भिन्न राज्य-प्रवेशमें तथा किसी बन्धनसे निर्गमनके अवसरपर भी जो इन्हीं व्याख्यात-नामोंको याद कर लेगा, तदनुकूल उसमें व्याख्या कर लेगा, वह भी गणनायक बनकर विघ्न-रहित हो सकेगा। विवाहमें वरको गणनायक बनना पड़ता है। संग्राममें तो गणनायक होता ही है, नहीं तो संग्राममें विघ्न

कैसे दूर हों ? संकटमें भी तो परिवारके मुख्यको गणनायकत्व स्वीकृत करना पड़ता है; तभी तो अपने आश्रितोंको उसपर विश्वास प्राप्त होता है, और उन्हें निर्भयता हो जाती हैं, वह भी उस समय 'सुमुख' आदि बने। विद्यारम्भमें भी 'सुमुख' 'गजकर्णक' आदि बनने पर छात्रको गणनायकता प्राप्त हो जाती है। यह गणेशके—बारह नामोंका विवरण हो चुका। अब गणेशके पूर्व कहे अन्य बारह वक्र-तुण्ड आदि नामोंको भी देखना चाहिये कि—यह गणेशत्व—गणनायकत्वमें कितनी सहायता पहुँचाते हैं।

(१) वक्रतुण्डः—गणनायकको 'वक्रतुण्ड' भी होना चाहिये, केवल सीधा मुख भी न रखे। 'सीधा मुंह बिल्लियां चाटा करती हैं' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। यदि सर्वदा सीधे मुंह रहेगा, तो ऐरा-गैरा आदि आकर उसे तंग किया करेंगे। फिर उसे शासनका अवसर ही न मिलेगा। वे तो उसे 'अलिफ-लैला' की कहानियोंमें ही उलझाये रखेंगे, तब वह 'विघ्नहर' कैसे हो सकता है ? 'गणनायक' फिर कैसे बन सके ? 'वक्रतुण्डता' से सर्व-साधारण तथा दुर्जनगण उसके पास आते हुए घबड़ाते हैं, इससे शासनमें सम्भावित विघ्न भी हट जाते हैं।

(२) महाकायः—गणनायककेलिए 'महाकाय' होना भी आवश्यक ही है, तभी तो 'वपुर्वचन-वस्त्राणि विद्या विभव एव च। वकारैः पंचभिर्युक्तो नरो नारायणो भवेत्' इन पांच वकारोंमें 'वपु' (शरीर) को प्रथम स्थान दिया गया है। विद्या-आदि पीछेके

पदार्थ हैं; आदिमें चाहिये 'महाकाय'ता, क्यों वी० ए० पास कृशतनुको थानेदारीमें नहीं लिया जाता, अनपढ़े, पर डीलडौल वालेको थानेदारी में क्यों शीघ्र स्वीकृत कर लिया जाता है, उसमें कारण है 'महाकाय'ता। पहला प्रभाव शरीरका ही पड़ता है। पहलेके सुने प्रसिद्ध-पुरुषको जब लोग देखने आते हैं, तो उसका पहले क्या देखते हैं? शरीर। सिरसे लेकर उसका पांव तक क्या देखते हैं? शरीर। पहले उसीका प्रभाव पड़ता है। महा-कायता ही उसकी गणनायकता स्वतः बता रही होती है। पूछने-कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

३. सूर्यकोटिसमप्रभः—सूर्यकोटि-समप्रभता' गणनायकका प्रभावशालित्व द्योतित करती है। प्रभावशाली ही तो गणनायक होता है। जो 'महाकाय' नहीं, वह प्रभावशाली नहीं। उसकी पर्वाह नहीं की जाती। उससे कोई डरता नहीं। उसके प्रेमको भी कोई नहीं चाहता। 'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना, न जातहार्देन न विद्विषादरः' (किरातार्जुनीय १।३३) प्रभावोत्पादक होता है अमर्ष-क्रोध। वही 'महाकायता' होने पर 'सूर्यकोटिसमप्रभ' करता है। उसके सामने कोई आंख उठा ही नहीं सकता।

४. 'गणेश्वरः' ५. 'विघ्नविनाशकः'—यही प्रभाव ही 'गणेश्वर' कर देता है। एक बार एक अंग्रेजने पंजाब-केशरी रणजीतसिंहके लिए उसके एक भृत्यसे पूछा, क्यों! तुम्हारे राजाकी दाहिनी आंख कानी है या बाईं? उसने उत्तर दिया साहब! सत्य बात यह है कि आज तक मैं अपनी आँख उठाकर अपने स्वामीके मुखकी ओर

ही नहीं देख सका कि उनकी कौनसी आंख कानी है ? इसी प्रभाव से 'गणेश्वर' 'विघ्नविनाशक' हो जाता है। बिना युद्धके युद्धोंको समाप्त कर देता है, सब कार्योंके विघ्न दूर कर देता है।

६. 'मोदकवल्लभः'—गणनायककी 'मोदकवल्लभ' तो सूचित करती है कि वह मोदकोंको बहुत चाहता है। उसके गण 'मोदक' हों, प्रजाको प्रसन्न रखते हों, प्रजाको सन्तुष्ट, प्रमुदित करने वाले ही उसे प्रिय लगते हैं।

७. सुरासुरैर्वन्दितपूजितः'—ऐसा ही प्रजाप्रसादक, साथ ही प्रभावशाली तथा समय-समय पर 'विकट' तथा 'वक्रतुण्ड' होने वाला 'महाकाय' 'गजानन' होनेसे ही गजकी तरह समय-समय पर बृंहित (चिंघार) करने वाला अपनी सूंड आगे करके घुमा कर जनसम्मर्दको डरा देने वाला, शेष दिव्य-शरीरधारी ही गणेश्वर 'सुरासुर-वन्दितपूजित' होता है। देवता भी उसे नमस्कार करते हैं, दानव भी उसे पूजते हैं, मानवोंका तो भला क्या कहना ? बल्कि पिता भी अपने विवाहादि शुभ-कृत्योंमें पहले उसी का सम्मान करता है (देखिये 'रामचरितमानस' में महादेवके विवाहमें गणपति-पूजन)। यदि देवता उसकी पूजा करते हैं, पर यदि दैत्य उसकी पूजा नहीं करते, तो वह एकदेशी ही रह जाता है, गणपति, सर्वपति नहीं बन सकता। इसी प्रकारका 'गणेश्वर' 'शरणमहं प्रपद्ये' शरण-प्रपत्तिके योग्य होता है। ऐसे गणनायक से देश तथा काल भी आश्रय-योग्य होता है। उससे हीन अथवा उसे न पूजने वाले देशकालमें रहनेमें भांति-भांतिकी विघ्न-बाधाएं

उपस्थित होती हैं।

८. 'भूतगणाधिसेवितम्'—'भूतगणाधिसेविततत्व'से यह सूचित होता है कि उसके गण भूतों-जैसे महाकाय—डरावने भी होने चाहियें। अन्यायियोंकेलिए, दुर्जनोंकेलिए, दीनोंको उत्पीड़ित करने वालोंकेलिए, देश-शत्रुओंकेलिए, देशके खण्डित करने वालोंकेलिए भीषणाकृति भी होने चाहियें। उनका उन परिगणितों पर प्रभाव (रोब) पड़ेगा, तो गणनायकका भी स्वतः ही उन दुष्टों पर प्रभाव पड़ेगा।

९. 'चारुभक्षणः'—गणनायकको 'चारुभक्षण' भी होना चाहिये। उसका भोजन मनोहर हो। ऐसा उसका भोजन न हो, जो अचारु हो। लोक-विद्विष्ट खाना उसे न खाना चाहिये। मांस, मद्य, अण्डे जो भी आता जाय, उसे न गटकता जाय। फलजनक उसका चारुभक्षण होना चाहिये।

१०. 'उमासुतः'—गणनायकको 'उमासुत' भी होना चाहिये। 'ओः—शिवस्य मा—लक्ष्मीरुमा, तस्याः सुतः' वह शिवकी लक्ष्मी-स्वरूपा पार्वतीका सुत हो, शिव-लक्ष्मी से पालित हो। कुलक्ष्मीसे पालित न हो। पार्वती (पर्वतीयभूमि) से वह रक्षित हो, पर्वतोंकी सोना, चांदी, हीरा आदिकी खानोंसे परिपोषित हो, शिवापादक लक्ष्मीसे वह परिपुष्ट हो, वही 'गणेश' बनता है।

११. 'शोकविनाशकारकः'—गणनायकको गणोंका शोक दूर करने वाला होना चाहिये। 'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना। स स पापाद् ऋते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् (अभिज्ञान

शाकुन्तल ६।२६) इस दुष्यन्त राजाकी नीतिको अपनाने वाला हो।

१२. 'आत्तपङ्कजः'—गणनायकके हाथमें कमल हो, अर्थात् गणनायक पङ्कसे भी कमल निकाल कर, अमेध्यसे भी कांचन निकाल कर, पापसे भी पुण्य निकाल कर उसे अपने हाथमें रखे। कमलसे ही कमला (लक्ष्मी) प्रसन्न होती है। वह हाथमें होनेसे ही कमलासना कमला (लक्ष्मी) आएगी कि यह मुझे कमलका आसन देगा, कमलसे मेरी पूजा करेगा; तो मैं भी इसके पास स्थिर होऊं।

इस प्रकार इन नामों और कामोंको रखने तथा करने वाला ही गणेश्वर-गणनायक होता है। सभी देशोंमें, सभी कालोंमें और सबसे पूर्व उसीका वन्दन-पूजन होता है। किसी भी नव्य-कार्यके उद्घाटन-कर्ममें उसीको निमन्त्रित किया जाता है। अब 'गणेश' के अन्य बारह वैदिक नामों पर भी विचार कर यह निबन्ध उपसंहृत किया जाता है।

१. 'मूषक-वाहन'—'गणेश' का वाहन मूषक है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये। गणेश श्रद्धा-विश्वासरूप है। गोस्वामी तुलसीदासने 'मानस' में कहा है—'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ' (१।२) यहां भवानी-शंकरको श्रद्धा-विश्वासरूप माना है। तब भवानी-शंकरका अंश गणपति भी श्रद्धा-विश्वासरूप होता है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः'। मूषक (चूहे)से 'तर्क'का बोध होता है। 'तर्क' वादोंको काटता है, चूहा भी पदार्थों-को काटता है। चूहे पर गणेशको अधिष्ठित करके बताया गया है कि—मूषकरूप-तर्कको यदि निरंकुश कर दोगे; उसे गणेशरूप

विश्वाससे आक्रान्त नहीं रखोगे; तो तुम्हारा व्यवहार नहीं चल सकता। विश्वासकी उपासना सब कार्योंकी आदिमें आवश्यक है।

यदि विश्वास न किया जायगा, केवल तर्क ही रखा जायगा, तो तर्क यह कहेगा कि 'क' की आकृति यह क्यों है? ऐसी आकृति 'ख' की क्यों नहीं? इस तर्कका फल क्या होगा? यही कि अक्षर-ज्ञान ही न होगा। व्यापारीका यदि अन्य व्यापारीपर विश्वास न होगा; तो हुण्डी चलना ही असम्भव हो जायगा। अतः यहाँ यह सिद्ध हो रहा है कि 'तर्क' भी विश्वासके अंकुशके बिना 'कुतर्क' हो जाता है, और विश्वास भी 'तर्क'के बिना 'अन्धविश्वास' हो जाता है। अतः तर्कको श्रद्धा-विश्वाससे आक्रान्त करके रखनेसे तर्क हानिप्रद नहीं होता।

चूहेमें बल भी बहुत होता है। वही पुरुषोंसे सारा घर भी छुड़वा सकता है। दक्षिण-दिशासे दो निरंकुश चूहे प्रकट हुए। एकने प्लेग शुरू कराई, दूसरेने एक सम्प्रदाय (आर्यसमाज) खड़ा कराया। वेदोंके परम्परागत अर्थ भी बदलवा दिये। तर्कवादका इस युगमें प्राबल्य भी कर दिया। जनताके करोड़ों रुपये इधर-उधर करवा दिये। इसी चूहेने मुसलमान जातिमें 'ताजिये' शुरू कराकर उनसे उनकी छातियाँ पिटवाईं। ऐसे प्रबल-चूहेको गण-पतिने अपना वाहन बना लिया।

गणनायकको भी स्वयं श्रद्धा-विश्वासरूप होकर, दूसरोंका श्रद्धास्पद तथा विश्वास-भाजन बनकर, तर्करूप-चूहेपर सवारी करनी पड़ती है, तर्कका सहारा लेना पड़ता है। तभी वह विघ्न-

हरण बनता है। तभी उसे विजय प्राप्त होती है।

२ 'ब्रह्मणस्पति'—गणनायकको 'ब्रह्मणस्पति' भी होना चाहिये। ब्रह्मधर्म, वेदधर्म, ब्राह्मण-धर्मका पति-संरक्षक बनना पड़ता है। तभी वह गणोंका 'गणपति' बनता है। 'गणपति' 'गजानन' भी वेद-संरक्षणसे ही होता है। वेद चार होते हैं, ऋग्, यजुः, सामन्, अथर्वन्। इन्हीं चारोंका अन्तिम अक्षर लेकर 'गजानन' नाम रखा जाता है।

३ 'कवि'—गणनायकको 'कवि'—क्रान्तदर्शी भी होना चाहिये। कवियोंका कवि होनेपर ही महाभारत (महा—भा (शोभा) रत) ग्रन्थ-लेखक बनता है। क्रान्तदर्शी ही अपने पीछे जनताको कठ-पुतलीकी तरह चला सकता है। इसलिए इसे ऋ०सं० (१०।११२।६)में 'विप्रतम' (मेधावी) कहा गया है।

४ 'ज्येष्ठराज'—गणनायकको 'ज्येष्ठराज' भी बनना चाहिये, ज्येष्ठों—श्रेष्ठोंमें राजित-शोभित होनेवाला। यदि वह साधारण-पुरुषोंमें ही शोभित होनेवाला हो, तो उसका गणपतित्व भी कैसे हो सकता है?

५ 'बृहस्पति'—गणनायकको 'बृहस्पति' भी बनना आवश्यक है। 'बृहती' वाक्को कहते हैं, वाणीका पति, गीर्पति अर्थात् व्याख्यान-वाचस्पति। यदि गणनायकका वाक्पर अधिकार नहीं, वक्तृत्व पर आधिपत्य नहीं, तब वह गणनायक कैसे बन सकता है? बृहस्पति—अर्थात् प्रभावशाली-वक्तृतावाला ही गणनायक बन सकता है, वह जनताको अपनी ओर खींच सकता है।

६ 'तत्पुरुष'—गणनायकको 'तत्पुरुष' प्रसिद्ध-पुरुष होना चाहिये। यदि वह देश-विदेशमें प्रसिद्ध पुरुष नहीं, तो फिर गणनायक होनेके योग्य भी नहीं हो सकता।

७ 'कराटः'—गणनायकको 'कराट' भी बनना पड़ता है। 'करम्-शुण्डाम् आटयति-भ्रमयति इति कराटः। अपनी सूँडको घुमानेवाला, आपत्ति-समयमें शत्रु-सम्मर्द होनेपर कर—शुण्डा-दण्ड घुमानेपर शत्रुओंको शीघ्र तितर-बितर किया जा सकता है। अथवा 'कर' टैक्सका नाम भी होता है; उसे अटन करानेवाला अर्थात् जनताके उपयोगमें लगानेवाला। इससे वह भली-भांति गण-नेतृत्वके योग्य सिद्ध होता है।

८ 'प्रियपति'—गणनायकको प्रियोंमें 'प्रियपति' बनना चाहिये। अप्रिय—पति बनने पर वह गणका नायक, उस गणका विश्वस्त नहीं हो सकता।

९ 'निधिपति'—गणनायकको 'निधिपति' बनना तो आवश्यक है। जो 'निधिपति' नहीं, वह 'गणपति' भी नहीं। वह गणनायक कैसा? निधिके बिना भला उसका कार्य कैसे चल सकता है? निधिके विना उसका गण कैसे बन सकता है? इसलिए इसे ऋ०सं० (१०।११२।९)में 'मघवा' भी कहते हैं।

१० 'वसु' अथवा 'वरद'—गणनायकको 'वसु' सर्वनिवास भी होना चाहिये, गण उसके पास निवास कर सके; तभी वह नेता बन सकेगा। 'वरद' वर देनेवाला भी होना चाहिये। गणको उत्साहित करनेकेलिए समय-समय पर वरदान दे, उपाधि-प्रदान—

पदवी-प्रदान, मनोरथ-प्रदान करे। ऐसे नायकको गण लिपटे रहते हैं, उसकेलिए अपने देहको होम देते हैं।

११ 'चतुर्भुज'—गणनायकको 'चतुर्भुज' होना चाहिये। 'चतुर्भुज'से उसका सपत्नीकत्व इष्ट है। उसकी पत्नी भी गणनेत्री हो। अथवा उसके अपने चार हाथ होने चाहियें, एक भुजामें अंकुश (नियन्त्रण-कन्ट्रोल) होना चाहिए। दूसरे हाथमें कमल रखे, कमलकी मनोहरता रखे। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' इस न्यायसे जलमें रहता हुआ भी उससे अछूता रहे, उससे ऊपर रहे। तीसरी भुजामें रणभेरीके प्रतिनिधि स्वरूप शङ्ख धारण करे। समय पर उसे बजावे, जिसका घोष 'धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्'को चरितार्थ करनेवाला बने। चतुर्थ-हस्तमें मोदकधारी रहे। समय-समय पर गणमें मधुर-प्रसाद बांटे, स्वयं भी खावे।

१२ विघ्नेश्वर अथवा स्वस्तिक। गणनायक 'विघ्नेश्वर' भी हो, विघ्नोंके अधीन होजानेवाला न हो, विघ्न उसके अधीन रहने वाले हों। जब वह चाहे विघ्नोंको भगा दे, जब चाहे—विघ्नोंको शत्रु-समाजमें भेज सके। 'परमाणु-बम'का आविष्कारक उससे शत्रुनाश भी कर सकता है; उसे अच्छे कामोंमें भी प्रयुक्त कर सकता है। यही विघ्न लाभप्रद भी हो सकते हैं—यदि उनका प्रयोग अपने अधिकारियोंके कुकृत्योंमें किया जाय। कुकृत्योंमें विघ्न उपस्थित कर देनेसे वे कुकृत्योंसे विरत हो जाते हैं। गण-नायकको 'स्वस्तिक' स्वस्तिकारक भी होना चाहिये। यदि वह स्वस्तिक—चारों ओर स्वस्ति—कल्याण करनेवाला नहीं; तो वह

गणनायकतामें भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इन ऊपरके नामोंके होनेपर ही ऋद्धि और सिद्धि गणपति पर चँवर डुलाती हैं।

यह गणपति—गणेश—गणनायकके वैदिक एवं पौराणिक और लौकिक-स्वरूपका राजनीतिक-परिचय है। यह इसके तीन प्रकारके बारह नाम कहे हैं। इन्हींसे गणपतित्वकी पूर्णता होती है। इन सब बारह नामोंका फल इस प्रकार कहा है—'द्वादशैतानि नामानि यः पठेत् शृणुयादपि। विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा। संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते'। इस प्रकार सभी व्यक्ति, सभी कार्योंकी आदिमें दिव्य-गणपति तथा लौकिक गण-नायकका आह्वान करते हैं, उसीकी सबसे पूर्व अर्चना-वन्दना करते हैं। 'गणनायकता'के इच्छुक भक्तोंको इन तीन प्रकारके बारह नामोंकी सर्वदा ही उपासना करनी चाहिये। उसी गणेशजीकी यह 'गणेशचतुर्थी' है।

(२१) वसंत-पञ्चमी।

'ऋतूनां कुसुमाकरः' (१०।३५) भगवद्गीताके इस पद्यमें भगवान्‌ने वसन्त-ऋतुको अपनी विभूति कहा है। इसीसे वसन्त का महत्त्व सिद्ध होता है। इसमें शीतका वह भयानक आक्रमण, जिसमें हिमपात, तुषारपात आदिसे पौधे म्लान हो जाते हैं, वृद्ध लोग कालके गालमें जा समाते हैं; समाप्त हो जाते हैं। खेत लह-लहा उठते हैं, सरसोंके फूलोंकी वह पीतच्छटा आंखोंका आसेचन कर रही होती है। इस ऋतुसे सभी प्रसन्न होते हैं। शीतकालमें कुहरे आदिसे सूर्य नहीं दीख पाता था; रात्रिको चन्द्रमा भी मलिन

सा दीखता था; यह सब अब ठीक हो जाता है। यह कामदेवकी ऋतु मानी जाती है।

यद्यपि वसन्त-ऋतु तो चैत्र-वैशाखमें ही होती है; तो माघ-मासमें शुक्लपक्षकी पञ्चमीमें वसन्त कैसे—यह प्रश्न उठता है। इसपर उत्तर यह है कि—जैसे किसी राजाके आगमनसे पूर्व ही प्रजाकी ओरसे तत्सम्बन्धी तैयारियां होने लगती हैं, अथवा जैसे—'पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः' किसी नाटक होनेसे पूर्व उसकी रिहर्सल होने लगती है, वैसे ही ऋतुराज-वसन्तके आनेकी सूचना भी प्रकृति इसी-तिथिसे ही विशेषरूपसे देने लगती है। इसकी प्रजा पवन, भ्रमर, कोकिलादि ४० दिन पहले ही सुसज्जित होने लगते हैं। पतझरके पीले-पत्तोंको गिराकर नवीन हरे-भरे किसलयको धारण करती हुई, मनोमोहक आम्रमञ्जरीसे सुवासित, मन्द मलयानिलस्नात, मधुमाधवी-प्रकृतिका जो रमणीय-दृश्य इस ऋतुमें देखनेको मिलता है, वैसा अन्य किसी ऋतुमें नहीं। कहीं सरस-सरसोंकी पीली-मञ्जरी दिखाई दे रही होती है; तो कहीं आम्रविटपपर बैठी कोलिल जीवन-सङ्गीत सुना रही होती है; और कहीं स्वच्छ-सरोवरोंमें सरोजोंपर गुञ्जारते हुए भ्रमर नव-जीवन सन्देश सुना रहे होते हैं। कितना सुन्दर समय होता है यह ?

इसमें वृक्ष पुष्पोंसे लदे होते हैं; अतः सुगन्धित-पवनका प्रवाह होता है। सर्वत्र नव-उल्लास एवं स्फूर्ति तथा कार्यका उत्साह होता है। शीत-भीति जो कार्य नहीं करने देती थी, इसमें वह आलस्य नहीं रहता। इसमें सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दीखता है।

आंखें बाग-बगीचोंके मनोरम-दृश्यको देखना चाहती हैं; पांव विहारार्थ चलना चाहते हैं।

उत्तरायणका समय पुण्यप्रद माना जाता है। उसमें भी मकर-संक्रमण अन्य भी विशिष्ट होता है। फिर माघमास भी पुण्यप्रद मास माना है; इसमें प्रातः-स्नानका विशेष महत्त्व माना जाता है। उसमें भी शुक्लपक्ष शुभ माना गया है, उसमें भी पञ्चमी तिथि जिसे ज्योतिःशास्त्रमें 'पूर्णा' तिथि कहा गया है। प्रत्येक-शुभकार्य पूर्णा-तिथिमें करनेसे विशिष्ट-फलदायक होते हैं। यह कामकी तिथि मानी गई है। मनकी कामनायें इसमें पूर्ण होती हैं।

इसे 'श्रीपञ्चमी' भी कहते हैं, श्री, शोभा तथा लक्ष्मी दोनोंका नाम होता है। शोभा इसमें प्रत्यक्ष होती है, लक्ष्मीकी ऋतु तो यह होती है, शीतकालमें भयानक-शीतसे व्यापारमें जो शिथिलता आ जाती थी, इस दिनसे नवीन-स्फूर्तिका सञ्चार होकर उसमें नया कार्य प्रारम्भ हो जाता है। 'व्यापारे वसति लक्ष्मीः' यह प्रसिद्ध है ही। इस दिन सरस्वती-पूजन भी किया जाता है। जनता इस ऋतुका ही रूप सिरपर रखती है अर्थात वसन्ती रंगके साफे पहनती है। इसकी प्रसन्नतामें कई खेल, कई उत्सव मनाये जाते हैं। इसी दिन वीर-हकीकतरायने हिन्दुधर्मकी रक्षाकेलिए आत्म-बलिदान दिया था।

---

(२२) शिवरात्रिकी शास्त्रीय-महत्ता ।

फाल्गुन-कृष्णचतुर्दशी ही शिवरात्रिका दिन माना जाता है। इसमें उन्होंने आसुरी शक्तियोंको नष्ट किया था। समस्त-संसार सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंमें विभक्त है। देवता लोग भी इससे नहीं छूट पाये। भगवद्गीतामें भी कहा है—'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः, (१८।४०)। उसमें ब्रह्मा रजोगुण, विष्णु सत्त्व-गुण और रुद्र तमोगुणका अवलम्बन करते हैं। चतुर्दशी-तिथिके स्वामी भी भगवान् शिव हैं। शिव 'तम' तत्त्वके अधिनायक हैं। एवं 'तम' रात्रिमें होता है; अतः शिवरात्रिको भी सायंकाल-व्यापिनी माना जाता है। इसे कालरात्रि भी कहा जाता है।

शिव वैदिक-देव हैं। शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी यह पांच-देवता उपासनामें प्रसिद्ध हैं। इसमें शिवको महादेव कहा जाता है। यह आशुतोष कहे जाते हैं। आराधनासे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। इन्होंने हालाहल-पान करके देवताओंको भी अभयदान दिया था। यह इतने अहिंसक हैं कि सांप भी इनके भूषण बने हुए हैं। संहारके देवता यही हैं। इनकी मूर्त्ति शिव-लिङ्ग कही जाती है। ब्रह्माण्ड इनका लिङ्ग है—ज्ञापक है। उसका ब्रह्मा तथा विष्णु भी पार नहीं पा सके। यही बात बतलाने केलिए शिवपुराणमें शिवलिङ्गकी कथा लिखी है—जिसे न समझकर प्रतिपक्षी लोग उपहास करके अपना अज्ञान प्रकाशित करते हैं। सो शिवलिङ्ग शिवकी अण्डाकार मूर्ति होती है। 'भग'

प्रकृतिका नाम होता है। ठीक देखा जावे; तो यह ॐकारकी मूर्त्ति स्पष्ट दीख पड़ती है।

प्रतिपक्षियोंके अनुसार शिवलिङ्गको शिवका लिङ्ग तथा जलहरीको पार्वतीका 'भग' भी माना जावे; और उसे पूजनीय माननेमें शङ्का की जावे; तो उसपर यह जानना चाहिये कि महादेव जगत्के जनक (पिता) माने जाते हैं; और पार्वती जननी (माता)। जननीका जननीत्व वस्तुतः किस अङ्गमें होता है ? जनक (पिता)का जनकत्व किसमें है ? वे दो यही अङ्ग हैं, पर अपवित्रता होनेसे लोकमें इन अङ्गोंकी पूजा अव्यवहार्य होती है; अतः नहीं की जाती; पर जगत्के जनक-जननी पार्वती-परमेश्वर पवित्र-देवता होनेसे इनके यह दोनों अङ्ग भी पवित्र हैं; अतः उनकी पूजामें भी कोई न तो दोष है, न उपहसनीयता। यह लिङ्ग-योनि अङ्ग कहां नहीं हैं; सर्वत्र हैं। मनुष्यके इन अङ्गोंमें लज्जा मानी जाती है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार देवताओंके भी अङ्गोंमें कुछ उपहसनीयता वा लज्जाकी बात नहीं, क्योंकि वह मनुष्य नहीं, इस विषय पर हमारा निबन्ध भिन्न-पुष्पमें प्रकाशित होगा।

शिवपुराणमें विष्णुकी निन्दा, और विष्णुपुराणमें यदि शिवकी निन्दा पाई जाती हैं, तो यह अपने-अपने देवताकी अनन्य-भक्त्यर्थ है। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्'। किसी वस्तुकी निन्दा उसके निन्दनार्थ नहीं होती; किन्तु अन्यके स्तुत्यर्थ होती है, ऐसा समझनेसे शास्त्रीय निन्दा-स्तुतिका तात्पर्य ज्ञात होता है, नहीं तो परस्पर-विरोध ही विरोध दीखता है।

शिवपूजा बहुत प्राचीन (वैदिक)कालसे चली आ रही है। आये दिन भूगर्भकी खुदाइयां हुआ करती हैं। मुहंजोदड़ों तथा हडप्पामें जो खनन हुआ था; उसकी मिली वस्तुओंकेलिए भी अनुसन्धाताओंका विश्वास था कि यह वस्तुएँ वैदिक-सभ्यतासे भी प्राचीन हैं। उस खननमें शिवलिङ्गकी मूर्तियां प्रायः मिलीं थी। अतः शिव प्राचीन-देव हैं, वैदिक-देव हैं, और आर्योंके देव हैं। उन्हीं शिवका इस दिन व्रत किया जाता है। रात्रिमें जागरण कर रुद्राष्टाध्यायीका पाठ किया जाता है।

(२३) शिवरात्रिका सूचक एक सम्प्रदायका स्थापक।

शिवभक्त बालक-*दयारामके सामने १८६४ वा ६५ संवत्‌की शिवरात्रिमें शिव-प्रतिमापर चढ़नेवाले एक चूहेने अपनी बलवत्ताका खूब परिचय दिया। एक तो उसने धार्मिक-संसारमें उथल-पुथल कर देनेवाला, वेदमन्त्रोंका अपनी इच्छानुसार अर्थ करनेवाला एक सम्प्रदाय खड़ा करा दिया; दूसरा उसने शिवरात्रि-पर्वको अमर करवा दिया। अब इस शिवरात्रिके अवकाश होते हैं। शिवका कीर्तन होता है—कहीं अनुयोगिविधया, तो कहीं प्रतियोगि-विधया। शिवलिङ्गकी पूजा अत्यन्त प्राचीनकालसे [कई लोगोंके अनुसार तो वैदिककालसे भी पहले; वे लोग मुहञ्जोदाड़ोकी खुदाईकी वस्तुओंको तो वैदिककालसे भी प्राचीन मानते हैं] चली आती थी; यह हडप्पा और मुहञ्जदड़ेके खननसे सिद्ध हो चुका है। कदाचित्

*श्रीदेवेन्द्रनाथ-मुखोपाध्यायने स्वा० दयानन्दके बाल्यकालका नाम 'दयाराम' बताया है।

वह पूजा इस समयमें नष्ट हो जाती; पर इस शिवरात्रिके चूहेने उसे दृढ करा दिया। आज हम इसपर विचार करते हैं। 'आलोक' पाठक इसपर पूरा ध्यान दें।

१८६४ वा ६५ विक्रमी-संवत्की शिवरात्रिमें आर्यसमाजके जन्मदाता स्वा० दयानन्दको १४ वर्षकी बाल्यावस्थामें महादेवकी मूर्तिपर चढ़ा हुआ और नैवेद्य खाता हुआ एक चूहा दिखाई पड़ा। उसके देखनेके साथ ही बालकके चित्तमें विचार आया कि—'मैंने तो महादेवकी बड़ी महिमा सुनी थी; परन्तु यह मूर्ति तो चूहेको भी हटानेमें सामर्थ्य नहीं रखती; तब मेरी रक्षा क्या कर सकेगी ? यदि महादेवकी इस मूर्तिमें सामर्थ्य होती, तो अपने अपमान करनेवाले-मूषकको वह दण्ड देती; पर वह तो टससे मस नहीं हुई; अतः उस मूर्तिकी पूजा भी ठीक नहीं' इस साधारण-सी बातपर उस बालकके हृदयपर चोट पहुँची। उसके धैर्य और धर्म स्थिर न रह सके। उस दिनसे शुरू करके उसने पूर्वसे मुखको मोड़कर पश्चिमकी ओर मुख करना शुरू कर दिया।

इसीके आधारसे दयानन्द-समाज आर्यसमाजके नामसे जारी हुआ। आर्यसमाजी अपने व्याख्यानोंमें इस घटनाको नमक-मिर्च लगाकर वर्णित करते हैं। मूर्तिपूजाके खण्डनमें भी प्रबल समझकर इसी युक्तिको आगे रखते हैं। यही लीला आर्यसमाजका बीज है, दयानन्दजीके बोधका आदिम-सूत्र है, आर्यसमाजी उपदेशकोंका ब्रह्मास्त्र है, आर्यसमाजियोंका गुरुमन्त्र भी इसे कहा जा सकता है।

(१) अब यह विचारणीय है कि—श्रीमहादेवजी उस समय

चूहेके साथ क्या व्यवहार करते ? कौन जान सकता है कि-चूहेके मनमें उस समय कैसा भाव था ? अल्पज्ञताके कारण हम भले ही न जान सकें; पर श्रीमहादेव तो सर्वज्ञ हैं। वे तो सबके भीतर-बाहरका भाव जानते हैं। बालक दयारामने कैसे जाना कि—चूहा मलिन-भावको लेकर आया था ? कोई मलिनभाव नहीं था, तभी तो महादेव उससे कुपित नहीं हुए।

(२) श्रीमहादेव विश्वम्भर हैं। वे कई प्रकारोंसे विश्वको पालते हैं; अतः उनका भाण्डार सबकेलिए खुला रहता है; उसमें किसी वस्तुकी न्यूनता नहीं। तब चूहेको वहांसे क्यों लौटाया जाता ? क्या चूहा विश्वसे बाहर था ? विश्वनाथकी प्रजा नहीं था ? जब भगवान्ने उसका मुख भी बनाया; बुद्धि भी तदनुसार उसके निर्वाहार्थ उसे दी; तब क्या चूहा भगवान्से नहीं ले सकता था ? मनुष्य और मूषककी अवयव-रचनामें बड़ा अन्तर है; जैसे-हम कोई वस्तु लेते हैं, चूहा वैसे नहीं ले सकता। तब यदि चूहेने अपनी स्वभावसिद्ध-प्रकृतिके अनुसार उछलकर वह वस्तु ले ली हो; तो उसकेलिए दण्डविधान क्या ?

(३) कहा जाता है कि—'जब चूहा महादेवकी मूर्तिपर चढ़ा, तब उसने भगवान्का अपमान किया; इससे चूहेको दण्ड देना चाहिये था' इसपर यह जानना चाहिये कि—प्रत्येक कार्यकेलिए मर्यादाको देखा जाता है; उसीके अनुसार व्यवहार किया जाता है। कोई नीच-पुरुष द्वेषवश प्रतिष्ठित-पुरुषकी पगड़ी उतार दे; तब उसे अपना अपमान समझ क्रोध आता है; अपमन्ताको दण्डविधान भी

वहाँ आवश्यक है। पर यदि भोलाभाला हृदयका आधार, स्नेहकी मूर्ति, उसी प्रतिष्ठित-पुरुषका बच्चा उसकी गोदपर उछलता हुआ चढ़ जावे; और उसके हाथसे उस पुरुषकी पगड़ी गिर पड़े, वा वह बच्चा ही पगड़ीको खींचकर गिरा दे; तो उसकेलिए न तो उस प्रतिष्ठित-पुरुषको कोई क्रोध आता है, न ही कोई कानूनके अनुसार उस बच्चेकेलिए कोई दण्ड नियत है; न ही दण्ड उसे दिया जाता है।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि—बच्चे अपने पिता-आदिके सिर पर भी चढ़ जाते हैं; वे कुछ खा रहे हों, तो उनसे छीनकर खा भी लेते हैं; इससे न तो उस बच्चेपर थप्पड़ रसीद किया जाता है, न ही उसे जेलखानेमें भेजा जाता है। बल्कि उससे क्रोध भी न करके पिता उस बच्चेसे स्नेह ही करता है। उसका कारण यह है कि—सब बातोंमें मानसिकभाव ही देखा जाता है। यदि मानसिक-पवित्रता हो; तो शरीर-द्वारा मर्यादालंघनको भी उपेक्षित ही किया जाता है। बच्चा अपनी उस अवस्थामें इसी तरहसे ही तो अपने प्रेमको प्रकाशित करता है। वह उस समय पिताका प्रणामादि-द्वारा सम्मान करना नहीं जानता; बल्कि उसपर पेशाब-टट्टी भी कर दिया करता है; पर इससे पिता उस बच्चेको दण्डविधान नहीं करता।

योगवासिष्ठमें श्रीवसिष्ठजीने श्रीरामको कहा था—'मनःकृतं कृतं राम! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता' अर्थात्—मनसे जो किया जाता है; वही 'किया हुआ' माना

जाता है, शरीरसे किया हुआ 'किया हुआ' नहीं माना जाता। देखिये—कोई पुरुष उसी शरीरसे अपनी प्रियाका भी आलिङ्गन करता है; उसी शरीरसे अपनी लड़कीका भी आलिङ्गन करता है। शारीरिक-क्रियाके समान होनेपर भी मनोभावके भेदसे उन आलिङ्गनोंको एक नहीं माना जाता।

कोई पुरुष किसीके शरीरमें चाकू चुभोकर उसका कोई अवयव काट ले; इस पर उसे दंड मिलता है, पर एक डाक्टर तेज़ चाकूसे किसीके शरीरका अवयव काटता है; तो व्रणित-द्वारा उस डाक्टरको दण्ड नहीं दिलवाया जाता। यदि कोई किसीको विष खिला दे; तो उसे अपराधी मानकर दण्ड-विधान होता है। पर यदि कोई वैद्य किसी रोगीको उस रोगमें उपयुक्त विष खिलावे; इससे वैद्यको दण्डविधान नहीं होता। कोई भिन्न-पुरुष बागीचेमें वृक्षके पत्तोंको काटे, तो स्वामी उसपर क्रोध करता है, पर माली पत्ते तो क्या, शाखाओं तकको भी काट देता है; इससे स्वामी उसपर क्रोध नहीं करता। कहां तक इन भावनाओंको गिना जावे, संसार इस-प्रकारकी घटनाओंसे परिपूर्ण ही है। उसी कार्यको एक करता है; तो दूसरेको उससे प्रसन्नता होती है, और दूसरा उसीको करे; तो उसको उससे क्रोध होता है। काम बराबर होनेपर भी फलभेदका एकमात्र-कारण मानसिक भावकी भिन्नता ही है। जब हम किसी-व्यवहारमें प्रसन्न होते हैं; तब हम उसको करनेवालेके शरीरपर दृष्टि न डालकर उसके मनका अध्ययन करते हैं।

इस प्रकार यहां भी जानना चाहिए कि—भगवान् सबके पिता

हैं। जलचर, स्थलचर, खेचर सब प्राणी उसीकी सन्तान हैं। हम किसीका मानसिक-भाव न पहचान सकें, यह सम्भव है; पर परमात्मा तो सर्वज्ञ होनेसे सब जानता है। तब चूहेका मानसिक-भाव भी पवित्र हो सकता है, जिसे चर्मचक्षु बालक दयानन्द न समझ सका हो। केवल उसकी शारीरिक-क्रियाको देखकर आपात-दृष्टिवाला बालक भ्रान्त हो गया हो। पर अन्तर्यामी एवं दिव्य-दृष्टि भगवान् बिना कारण ही चूहेको क्यों दण्ड देते? चुहे ने पुत्र समझकर ही अपने परमपिता पर उछल-कूद मचाई हो, और उसका भोजन ले लिया हो। क्या दयारामको निराकारके दर्बारसे कोई तार मिला था कि—चूहेने महादेवकी मूर्तिपर द्वेषसे आक्रमण किया है। जब तक यह निर्णय न हो जावे कि—चुहेने दुर्भाग्यसे मूर्तिपर आक्रमण किया; तब तक चूहेकी दण्डनीयता कैसे सिद्ध की जा सकती है?।

(४) परमात्मापर श्रद्धा लानेवालोंका यह विश्वास है कि—वह सर्वत्र व्यापक है; उसके बिना कोई स्थान भी शून्य नहीं। इसी कारण पृथिवी-आदि भगवान्के शरीर माने गये हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद्में कहा है—'यस्य पृथिवी शरीरम्, आपः शरीरम्' (३।७)। उसी पृथिवी-परमात्माके शरीरपर दयानन्दजी न केवल जूते समेत पांवको रखते थे; बल्कि—उसपर थूकते भी थे, मलमूत्र भी करते थे। किसी साधारण-पुरुषके शरीर पर भी कोई थूक दे; तो वह कितना पीटता है; पर आप लोग भगवान्का इतना अपमान करते हैं, वह आपको दण्ड क्यों नहीं देता? क्या

मूषकका अपराध इससे भी बड़ा था ? आप कह सकते हैं कि—'परमात्मा तो सर्वव्यापक है; हमें व्यवहारार्थ उसके शरीर-पृथिवी आदि पर चलना पड़ता है; उसके बिना हमारा निर्वाह ही नहीं हो सकता'। तब आप ही चूहेपर अपना गुस्सा क्यों डालते हैं ? चूहेका भी निर्वाह ऐसा किये बिना नहीं होता। आप तो ज्ञानी-मनुष्य होकर भी करें; वह ठीक हो जाए, पर दण्ड अज्ञानी-चूहेको दिया जाय ?

(५) यदि शङ्काकर्ता कहें कि—'ईश्वर तो आकाशकी भांति निर्लेप है। घड़ा टूटनेपर भी घटाकाश नहीं टूटता, घड़ेके अपवित्र होनेपर भी घटाकाश अपवित्र नहीं होता। वृष्टि होनेपर भी आकाश गीला नहीं होता, सूर्यकी घामसे भी नहीं तपता; तूफानकी मट्टीसे भी मैला नहीं होता; इस प्रकार ईश्वर त्रिकालमें भी एकरस रहता है; वह किसी दोषसे भी लिप्त नहीं होता'। तो क्या चूहेकी टांग इतनी भारी थी; जिससे भगवान्‌की निर्लेपता भी टूट पड़ती ? जिस प्रकार आप परमात्मापर टट्टी भी कर देते हैं; तो भी वह उससे न तो लिप्त होता है; और न आपको ही दण्ड देता है; इस प्रकार चूहेकेलिए भी समझ लें। जो परमात्मा पृथिवीमें है, वही मूर्तिमें भी है, और दोनों ही स्थानोंमें निर्लेप है।

यदि आप कहें कि—'टट्टी-पेशाब आदिके समय हमारा मानसिक भाव दूषित नहीं होता है, बल्कि-परमात्माके अपमानका तो उस समय हमें विचार ही नहीं होता, अतः वह परमात्माका अपमान न

होनेसे हमें दण्ड भी क्यों मिले ?' तब आपके पास क्या प्रमाण है कि चूहा द्वेषसे ही भगवान्की मूर्तिपर चढ़ा था और उसे दण्ड मिलना चाहिए था। जबतक यह सिद्ध न हो जावे; तब तक मूर्ति-पूजाको कैसे छोड़ा जा सकता है ?

(६) मनुष्य पुण्य-पाप जो कुछ भी करता है, उसके कर्मका फल कुछ समयके बाद ही मिलता है। कुपथ्य करनेवालेको भी फल तत्क्षण नहीं मिल जाता। बीमारको भी दवाई तत्क्षण आराम नहीं देती। विद्यार्थी परीक्षा देते हैं, उनका परिणाम भी बादमें ही निकलता है। बीजके बोनेमें अंकुर भी तत्क्षण नहीं निकल आता। पुष्प-फल भी पीछे ही होते हैं, पीछे ही पकनेपर खाये जाते हैं। दुकानके खोलनेके समय ही लाभ नहीं मिलने लग जाता, किन्तु कुछ समय बाद ही।

जीव मनुष्य-शरीरको प्राप्त करता है, यह पूर्व-जन्मके ही कर्मका फल है। इस जन्ममें जो कर्म हम कर रहे हैं, इसका फल हमें जन्मान्तरमें मिलेगा। यदि दुर्जनतोषन्यायसे मान भी लिया जावे कि चूहेने महादेवजीकी मूर्तिका अपमान किया; तो यह कहाँका न्याय है कि—उसी समय चूहेके प्राणोंको निकालकर उसकी पूंछ दयानन्दजीके हाथमें दे दी जाती ? क्या चूहेको दण्ड देनेका यही अवसर था ? आगेकेलिए क्या भगवान्का दरबार बन्द होने-वाला था ?

(७) स्वा०दयानन्दजीने अपनी 'संस्कारविधि'के गृहाश्रम-प्रकरणमें यह लिखा है कि—'नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति

गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति' (मनु० ४।१७२) यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु। नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः' (४।१७३) इन पद्योंका अर्थ स्वामीजीने लिखा है—'मनुष्य निश्चय करके जाने कि—इस संसारमें जैसे गायकी सेवाका फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता; वैसे ही किये हुए अधर्मका फल भी शीघ्र नहीं होता; किन्तु धीरे-धीरे अधर्मकर्ताके सुखोंको रोकता हुआ सुखके मूलोंको काट देता है। पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है। यदि अधर्मका फल कर्ताकी विद्यमानतामें न हो, तो पुत्रों, और पुत्रोंके समयमें न हो तो नातियोंके समयमें अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि—कर्ताका किया हुआ कर्म निष्फल होवे'।

जब अपने किये हुए मनु-पद्यके अर्थमें स्वामी अधर्मका फल तत्काल नहीं मानते; तब चूहेके अधर्मका फल तत्काल क्यों दिलवाना चाहते थे? मनुजीने यह कहीं नहीं लिखा कि—चूहेको अधर्म करनेपर तत्काल फाँसी दे दी जावे? हैरानी तो यह है कि—स्वामी दयानन्दकी बालबुद्धिको समझदार भी आर्यसमाजी अभी तक भी महत्त्व दिये ही जाते हैं !!!

(८) शास्त्रोंमें यह भी लिखा है कि—'अत्युग्र-पुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते' कि—अत्यन्त-उग्र पापका फल यहीं शीघ्र मिल जाता है। स्वामीजीके अनुसार कथंचित् यह चूहेका उग्र-पाप और उसे शीघ्र दण्ड देना मान भी लिया जाय; तो कौन जान सकता है कि—बिल तक पहुँचने तक उसकी क्या दशा हुई होगी? पर क्या बालक दयाराम चूहोंका डाक्टर था कि—जान जाता कि—चूहेपर रोगका

आक्रमण हुआ या नहीं? यह दयानन्दजीका चूहा दक्षिण-पश्चिमका था। दक्षिणके चूहेपर ही पहले-पहल प्लेगकी बीमारी शुरू हुई। बम्बईसे फैलती हुई प्लेग पंजाब आदिमें चूहेपर ही पहुँची। अब पता नहीं लगता कि-क्या दयानन्दजीकी भगवान्‌की कचहरीमें नालिशके कारण ही उस दिनसे चूहोंपर प्लेग शुरू हुई? यदि ऐसा है; तो स्वा० दयानन्दका मूर्तिपूजा छोड़ बैठना उनकी भूल सिद्ध हुआ।

(६) यदि कोई साधारण-पुरुष कुछ अपराध करे; तो उसे साधारण-सिपाही ही पकड़कर ले जाता है। उसे गवर्नर आदि वा राजा दण्ड देने स्वयं नहीं आते। हाँ, शासकोंका कोई अपराध हो; तो हैसियतके मुताबिक गवर्नर वा सम्राट् आदि भी दण्ड-विधानार्थ आते हैं। परन्तु अबोध-बालक दयानन्दने उस चूहेका ऐसा क्या महत्त्व देखा था; जिससे ज्वर-प्लेग आदि रुद्रके दूत उस मूषकको दण्डित न करते, किन्तु त्रिलोकीके सम्राट् वे स्वयं ही उसे दण्ड देते?

आधी रातका समय था। लोग निद्रा-देवीकी उपासनामें लगे थे। बालक दयानन्दपर भी निद्रादेवी अपना प्रभाव डाल रही थी। वह जलके छींटे मारकर तन्द्राको दूर करनेके प्रयत्नमें लगा था; (यह दयानन्द-जीवन-चरित्रोंमें स्पष्ट है) सारे दिनकी भूख भी अपना प्रभाव डाल रही थी। ऐसे समय एक छोटा-बालक अपनी दशा भी नहीं जान पाता, दूसरेकी दशा जाननी तो बहुत कठिन हो जाती है। तब वह बालक जिसे अभी तक योगदृष्टि भी नहीं

प्राप्त थी; कैसे जान सकता कि—चूहेपर रोगका आक्रमण हो रहा है वा नहीं ?

(१०) संसारमें देखा जाता है कि—कोई प्रतिष्ठित पुरुष अपनी गद्दीपर बैठा हो; तो उसकी सेवामें बहुतसे नौकर इसलिए ठहरे होते हैं कि—स्वामीकी सेवा की जाए। वे स्वामीको पंखा करते हैं कि—स्वामीको गर्मी न लगे। चमर डुलाते हैं—इसलिए कि—स्वामीको मक्खियाँ तंग न करें। वे बेत लेकर ठहरते हैं कि—कोई दुष्ट स्वामीका अपमान न करे। परन्तु उन नौकरोंके मनमें यह विचार कभी नहीं आता कि—हमारा स्वामी इतना असमर्थ है कि—वह मक्खियोंको भी नहीं हटा सकता। दीया भी नहीं बुझा सकता, हम ही बुझाते हैं। वे स्वयं निश्चित कर लेते हैं कि—हमारा धर्म है कि-स्वामीका संकेत बिना पाये भी उसके कार्य करें।

जब नौकरके उपस्थित होनेपर भी स्वामी ही स्वयं मक्खियाँ उड़ाया करे, चूहा, बिल्ली, कुत्तोंको स्वयं भगाया करे; दूसरा उसका अपमान कर डाले; ऐसे सेवकको लाख-लाख धिक्कार है। इस प्रकार यदि दयानन्द-जैसे नौकरके बैठे रहनेपर भी दुर्जन-मूषक स्वामीकी मूर्तिपर चढ़ गया; तो नौकर-दयानन्दका कर्तव्य था कि—उसे हटा देता ! पर भूल उसने की कि-उसे न हटाया। अपना कर्तव्य पूर्ण न करनेकेलिए उसे लज्जित होना चाहिये था; भविष्य-केलिए सावधान हो जाना चाहिये था; पर खेद, अबोध-बालकने अपनी भूल न मानकर महादेव पर ही असामर्थ्यका दोष लगा दिया ! 'उलटा चोर कोतवालको डांटे' यह उक्ति ही चरितार्थ कर दी !

(११) मालूम होता है कि—दयानन्दजी आशय यह था कि—महादेव मेरे सामने प्रत्यक्ष होकर—चूहेको दण्ड देते; तभी दयानन्दजी देवपूजन मानते; पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—ईश्वरका दर्शन बड़े भाग्यसे मिलता है। बालक-दयानन्द ईश्वर-दर्शनका अधिकारी नहीं था; न उसका पूर्वजन्मका कोई ईश्वरदर्शनयोग्य पुण्यातिशय अनुमित होता है, और न ही इस जन्मकी उसकी अक्षुण्ण भक्ति दीखती है। भक्ति थी प्रह्लादमें; जो कि असीम-विपत्तियोंमें डाला गया हुआ भी स्थिर रहा, विचलित नहीं हुआ। पर्वतसे गिरानेपर भी, अग्निमें जलाने एवं समुद्रमें डुबानेपर भी उसकी भगवान्में श्रद्धा-भक्ति क्षुण्ण नहीं हुई। बालक-प्रह्लादके मनमें नहीं आया कि—'यदि परमात्मामें कोई शक्ति होती; तो अपने तथा अपने भक्तके अपमानका बदला लेता। कुछ न करनेसे वह असमर्थ है, या है ही नहीं। भक्त-बालकके पवित्र-हृदयमें ऐसे कुतर्क आये ही नहीं। बहुत आपत्तियोंके झेलनेपर भी, परमात्माके इतने अपमानमें अप्रकटता देखकर भी उसकी श्रद्धा क्षुण्ण नहीं हुई, बल्कि बढ़ी ही। उसके धर्म एवं धैर्य स्थिर ही रहे। अन्तमें श्रीभगवान्ने उसे दर्शन दिये, अपराधी-उसके पिताको दण्ड दिया। परन्तु दयानन्दजीको तो न पहाड़से गिराया गया, न ही समुद्रमें गिराया गया, न आगमें ही जलाया गया। न पिता ही मारनेको तैयार हुआ। परन्तु इस भक्त (?) का धैर्य एवं विश्वास ऐसा हलका रहा कि—जिसे एक साधारण-सा चुहा ले भागा, खेद ! अत्यन्त खेद !!

(१२) बालक-दयानन्दने मूर्तिपूजा इसलिए छोड़ी कि—महादेव

उस चूहेको न हटा सके; परन्तु यह जान रखना चाहिये कि संसारमें जहां आस्तिक रहते हैं, वहीं ईश्वरके न माननेवाले नास्तिक भी रहते हैं। नास्तिक तो भगवान्के अस्तित्वका घोर खण्डन करते हैं, भगवान्को गालियां निकालकर उसकी निन्दा भी करते हैं। इसप्रकारके नास्तिक भी कोई दो-चार नहीं; प्रत्युत बहुत-संख्यामें है। रूसका तो सारा साम्राज्य ही नास्तिक है। कहते हैं—'रूसने परमात्माकी मूर्ति बनाकर उसे फांसी भी दे दी थी। चूहेने तो भगवान्की मूर्त्तिपर केवल पांव ही रखा था, परन्तु नास्तिक तो निराकार-भगवान्को संसारसे ही नष्ट करना चाहते हैं। यदि निराकार परमात्मा इनसे आत्मरक्षा नहीं कर सकता; तो क्या आप यही कहेंगे कि परमात्मामें कुछ शक्ति ही नहीं? उसकी उपासना छोड़कर वहांसे भाग खड़े होंगे, और एक नास्तिक-सम्प्रदाय खड़ा कर देंगे?

यदि आप कहें कि—भगवान् किसी समयमें उन्हें दण्ड दे देंगे; तब प्रश्न है कि उन्हें उसी समय दण्ड क्यों नहीं दिया जाता, जो उसका अपमान करनेवाले उसे उड़ाना ही चाहते हैं? यदि उनको दण्ड देनेकेलिए तिथि नियत की जा सकती है; तो क्या चूहा ही इतना बड़ा अपराधी था कि उसी समय उसे फांसी चढ़ा दिया जाता?

यह भी सोचिये—सन् १९१५में आर्यसमाजके काङ्गड़ी गुरुकुल के उत्सवपर ला० मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)जीके सुझावसे वेदोंकी चार पोथियोंको सभापति बनाया गया था; इसपर देखिये

मेरठका वेदप्रकाश-पत्र (सन् १६१६ वर्षका १२७ पृष्ठ)। क्या वे वेदपुस्तकें जनतापर कण्ट्रोल करती थीं ? यदि ऐसा नहीं; तब उन्हें सभापति क्यों बनाया गया ? यदि उन्हें मान देनेकेलिए ऐसा किया गया; तो यह मूर्त्तिपूजा सिद्ध हुई ! यदि उस समय कोई मूर्ख-व्यक्ति सभापति बने हुए-वेदपर पांव रखकर कहता कि—'आपका सभापति वेद-भगवान् मुझे तो कुछ दण्ड नहीं देरहा, अतः वह असत्य है; प्रतारणा है, इसका त्याग कर दो'; तब क्या आप भगवान्के ज्ञानके मूर्तरूप-वेदपोथियोंको सभापति बननेमें निर्बल समझकर उन पोथियोंको परे फेंक देंगे ? वा उनका मानना बन्द कर देंगे ? नहीं, बल्कि आप उस वेदको पांवकी ठोकर मारनेवालेकी बुद्धिको शोचनीय समझ लेंगे ? हो सकता है, उसे दो-चार थप्पड़ भी लगा दें। इस प्रकार मूषक-द्वारा महादेवकी मूर्तिका अपमान देखकर उसकी पूजा छोड़नेवाले तथा उस मूषकको वहांसे न हटाकर स्वयं ही वहांसे हट आनेवाले बालकका यह बोधोत्सव नहीं; किन्तु महान् अबोध ही है।

शासक कितने बलवान् होते हैं, किसीने शासकोंके शिरोमणि गांधीजीको मार डाला; फिर भी उसे एकदम दण्ड नहीं मिला। मुकदमेमें ही बहुत-सा समय लग गया। बहुत समयके बाद गोडसेको फांसी मिली। ईश्वर भी प्रत्येक अशुभ-कर्मका यथासमय और यथाधिकार ही दण्डविधान करता है। इधर ईश्वरमें न्याय-कारिता और दयालुता यह दोनों ही गुण बराबर होते हैं। और वह अन्तर्यामी भी होता है, और जानता है कि—इसने यह

अपराध ज्ञानसे किया है, वा अज्ञानसे। यदि चूहेने सचमुच ही महादेवका अपमान किया था, वह महान् देव यथाधिकार तथा यथासमय उसे दण्ड देगा ही। बालक दयानन्द कौन था उस व्यवस्थामें हस्तक्षेप करनेवाला ?

अथवा आपका यह अभिप्राय हो कि—महादेवकी मूर्त्ति चूहे से अपनी रक्षा न कर सकी; अतः वह असमर्थ होनेसे पूजनीय नहीं, तो आप निराकार परमात्माको तो सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं। हमारे सामने आप उसी निराकार-ईश्वरको करोड़ों गालियां देकर अपमान करें; तब देखिये कि—क्या वह आपको उसी समय दण्ड दे देगा ? बहिरा तो है नहीं कि—वह सुन नहीं सकता। आप भी तो मानते हैं कि—'स शृणोत्यकर्णः' इस प्रकार आपके देखते ही देखते किसी नास्तिकने आपके ईश्वरको गाली देकर अपमानित कर दिया, तब उसी समय उसे दण्ड दिया जाता हुआ न देखकर उस सर्वशक्तिमान् निराकार परमेश्वरका मानना भी बन्द कर देंगे ? यदि नहीं; तो फिर काम-क्रोधादि, तथा रक्त-माँस, एवं मल-मूत्रादि-दोषरहित शुद्ध मूर्तिके ऊपर चूहेके चढ़नेसे, और मूर्ति द्वारा चूहेके न हटानेसे यदि मूर्ति-पूजाको हटाते हैं; तो यह आपका अबोध ही है। यदि निराकार-परमेश्वरको गालिप्रदानरूप पापका वा ईश्वरको उड़ानेरूप-पापका फल वा दण्ड होना आप कभी मानेंगे; तो वेदोक्त महादेवकी मूर्तिके तिरस्कारकोंको भी यथासमय दण्ड मिलेगा ही।

अन्य यह भी ध्यान देनेकी बात है कि—सनातनधर्मियोंकी

भांति आर्यसमाजी तथा उनके स्वामी भी ईश्वरको सर्वव्यापक मानते हैं। तब इन्हींसे सर्वव्यापक माना हुआ वह महान् देव मूर्तिमें भी व्यापक है; तथा उस समय भी व्यापक था ही। तब उसी निराकार ने अपनी-आश्रित मूर्तिपर चढ़ते हुए चूहेको—यदि प्रतिपक्षियोंके अनुसार यह उसका अपमान था—तो नष्ट क्यों नहीं किया; वा क्यों नहीं हटाया? यदि उनसे माना हुआ निराकार-ईश्वर भी अपने ऊपर चढ़ते हुए चूहेको न हटा सका; तब इसी प्रकारकी शङ्का करके मूर्तिपूजासे हटना क्या यह बालक दयारामका अबोध नहीं? यदि वे कहें कि—ईश्वर मूर्तिमें व्यापक नहीं; तब उनका ईश्वरको सर्वव्यापक मानना ही क्या अबोध नहीं? यदि वे कहें कि—ईश्वर तो चूहेमें भी व्याप्त था; तो फिर कहिये कि–फिर कौन किसको रोकता? तब भी वह शङ्का अबोध ही है।

फिर भी यदि वे कहें कि—चूहा चेतन है, और मूर्ति जड़। चेतन-चूहेमें ईश्वर चेतनरूपमें व्यापक है; और जड़ मूर्तिमें व्यापक ईश्वर भी जड़ होनेसे चेतन-मूषकको ऊपर चढ़नेसे न हटा सका; अतः मूर्तिपूजा ठीक नहीं; तब तो उनका यह कथन भी इसलिए अबोधरूप है कि–फिर आप जड़मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा एवम् आवाहनादिसे इस प्रकारकी शक्तिका उत्पन्न होना कैसे मानते हैं, जो चूहेको अपने ऊपर चढ़नेसे रोके। जिस ईश्वरको आप सच्चिदानन्द मानते हैं; उस ईश्वरकी व्यापकतासे तो जड़मूर्तिमें चेतनता आवे नहीं, और आवाहन एवं प्राणप्रतिष्ठासे उस मूर्तिमें चेतनता आती हुई न देखकर मूर्तिपूजन यदि आप निषिद्ध मानें; तो यह भी तो

अबोध सिद्ध होगा। फलतः बालक दयानन्दका महादेवकी मूर्तिके 'अपमानसे महादेव-द्वारा चूहेको दण्डविधान न देखकर महादेवकी मूर्तिकी पूजासे श्रद्धा हटा लेना यह बोध सिद्ध न हुआ; किन्तु बालकपनका अबोध ही सिद्ध हुआ। इसपर बोधोत्सव मनाना भी अबोध-परम्परा बन जाती है।

वस्तुतः तब नींद-भूख आदिसे हुई-हुई बालककी व्याकुलता अबोध ही थी। यदि यह बोध ही था; तो इसके बाद किये हुए दयानन्दजीके आचार आर्यसमाजियोंको मान्य होने चाहियें। दयानन्द-चरित 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' ५३ पृष्ठमें लिखा है—'उन दिनों स्वामीजी भालपर विभूति रमाया करते थे, गलेमें रुद्राक्षकी एक माला होती थी'। ७४-७५ पृष्ठमें लिखा है—'उस [स्वा० द०की वैष्णवों पर प्राप्त की हुई] विजयसे प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे। कण्ठियोंका स्थान रुद्राक्षकी मालाएं लेने लगीं। महाराजा रामसिंहने भी शैव-सम्प्रदायको स्वीकार कर लिया। इससे राजकीय हाथी और घोड़ोंके गलेमें भी रुद्राक्षकी मालाएँ पड़ गईं। स्वामीजीके हाथसे भी मालाएँ वितरण कराई गईं'। इसी प्रकार स्वामीजीके अपने कहे हुए जीवनचरित्रके ४६ पृष्ठमें भी कहा है। 'दयानन्दप्रकाश'के ८० पृष्ठमें लिखा है–'पुष्करनिवासके दिनोंमें स्वामीजी वहांसे विभूति मंगाकर रमाया करते थे। उनके कण्ठमें रुद्राक्षकी माला थी, उसके बीचोंबीचमें एक-एक दाना श्वेत काँचका भी था'।

यदि १४ वर्षकी आयुमें चूहेकी घटनासे दयारामजीको बोध

होगया होता; तो २७ सालके बाद ४१ वर्षकी आयुमें जयपुरमें स्वामी दयानन्दजी मूर्तिपूजामूलक इस शैव-सम्प्रदायको कैसे स्वीकार करते; और कैसे प्रचारित करते ? यदि मूर्तिपूजा-विरोधी होते, तो देवमन्दिरोंमें क्यों निवास करते ? क्या आर्यसमाजी रुद्राक्ष-मालाको धारण करना ठीक मानते हैं ? यदि नहीं; तब आर्यसमाजियोंके मतमें स्वा० दयानन्दजीका यह भी अबोध सिद्ध हुआ। यदि यह बोध है; तो उसका आचरण क्यों नहीं करते ? अथवा व्यंग्यसे वे अबोधको बोध कहते हों ? नहीं तो वे स्वा०द०जीका गुरु आदिज्ञानदाता, शिवरात्रिके चूहेको कैसे बतावें ? और आर्य-समाजका भी आदिगुरु चूहा सिद्ध कैसे करें ? वस्तुतः यह सब अबोध ही है। जब आर्यसमाजका मूलस्तम्भ भी अबोध ही है तब उसमें बोध कैसे प्राप्त होगा ?

यदि इस शिवरात्रिके दिन स्वामीको बोध होगया होता; तो वे अपने जीवनमें निर्भ्रान्त रहते। एक मत मानकर फिर उसे बदलते नहीं। बल्कि हम तो कहते हैं कि—जितने समय वे जीये; उनका जो मत अब बन गया है, उसके बाद यदि वे जीते रहते; तब उनका यह मत भी न रहता, किन्तु बदल जाता। तब उनको बोध क्या हुआ, निर्भ्रान्तता क्या रही ? यह हम ही नहीं कहते; किन्तु आर्यसमाजके शिरोमणि भारतके मान्य राजनीतिक नेता डी.ए.वी. कालेज लाहौरके सञ्चालक स्वर्गीय ला० लाजपतराय भी मान गये हैं। वे अपने 'दयानन्द-जीवनचरित्र'में लिखते हैं—

'इसके अतिरिक्त हमको भलीभांति विदित है कि—स्वा०

दयानन्द सरस्वतीने अपने जीवनमें कई वेर अपनी सम्मतियाँ पलटीं। एक समय था कि—वे शिवमतको प्रतिपादन करते थे और रुद्राक्ष-कण्ठीमाला धारण करते थे। फिर एक समय आया कि—उसका खण्डन करने लगे। एक समय था कि—वे मोक्षकी अवधि नहीं मानते थे, और उनको निश्चय था कि—मुक्त हुई आत्मा फिर देह धारण नहीं कर सकती, फिर वह समय आया कि उन्होंने अपनी सम्मति बदल ली, आदि-आदि। किसको विदित है कि—यदि वे जीवित रहते, तो अपने जीवनमें और क्या-क्या सम्मतियां पलटते ? जितनी आयु बढ़ती थी, उतनी ही विद्या और ज्ञान उनका अधिक होता जाता था। ऐसी अवस्थामें कौन कह सकता है कि—स्वामीजी निर्भ्रान्त थे ? जो महाशय उनको निर्भ्रान्त मानते हैं; वे कृपाकर उस समयको भी प्रकट करें, जब कि—वे निर्भ्रान्त हुए' (पृ० १४२ पं० ६)

इससे स्पष्ट होगया कि—शिवरात्रिके मूषकसे उन्हें बोध नहीं हुआ, किन्तु भ्रान्तता बढ़ी। यदि बोध होगया होता; तो वे निर्भ्रान्त होगये होते। पर वे कभी भी निर्भ्रान्त नहीं हुए; यह हम नहीं कहते, किन्तु दृढ-आर्यसमाजी नेता कह चुके हैं; जिस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

उक्त पुस्तकके १४ पृष्ठकी १४ पंक्तिमें ला० लाजपतरायने लिखा है कि—'एक वेर एक बालकने आप (स्वा० द०) की व्याकरणमें गलती पकड़ी। आपने तत्काल उस भूलको स्वीकार किया'। क्या यही बोधका लक्षण है ?। आरम्भमें स्वामीने 'संस्कृतवाक्यप्रबोध'

छपाया था। उसमें श्रीअम्बिकादत्त-साहित्याचार्यने 'अबोध-निवारण'में स्वामीजी की १०० अशुद्धियां निकालीं। स्वा० दयानन्द उसका उत्तर नहीं दे सके। द्वितीय-संस्करणमें स्वामीजीने 'अबोध-निवारण' पुस्तकके अनुसार संशोधन कर लिया। आज भी 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' की संस्कृतमें व्याकरणकी भूलें हैं; क्या यही होता है बोध? यदि शिवरात्रिके दिन स्वामीजीको बोध हो जाता; तो उन्होंने योगानन्दजीसे योग, कृष्णशास्त्रीसे वेद, विरजा-नन्दजीसे व्याकरण क्यों पढ़ा? स्पष्ट है कि—उन्हें चूहेसे अबोध प्राप्त हुआ था, बोध नहीं।

(१३) 'उपदेशमञ्जरी'के १५वें व्याख्यानमें २३६ पृष्ठमें कहा है—'एक दिन पूना शहरमें अपने जीवनचरित्रको सुनाते हुए इस चूहेकी घटनाका वर्णन स्वामीने किया कि-'मैंने पिताजीको जगाकर पूछा कि—महादेव इस चूहेको हटाते क्यों नहीं? तब पिताजीने उत्तर दिया कि—तेरी बुद्धि तो भ्रष्ट है, यह तो केवल देवमूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि—मैं इस त्रिशूलधारी-शिवको जब प्रत्यक्ष देखूंगा, तभी पूजा करूँगा, नहीं तो नहीं।'

इस व्याख्यानसे बात स्पष्ट हो गई कि—स्वा०दयानन्द, बिना-तपस्या, बिना ही भक्ति-ज्ञानके, बिना ही परिश्रम ईश्वरके दर्शन करना चाहते थे। पीछे उसकी भक्ति करना चाहते थे; पर 'पहले होवे सेवा, फिर मिले मेवा'। पहले होता है यत्न, फिर मिलता है रत्न। पर स्वामी उल्टी-गङ्गा बहाना चाहते थे। अनन्य-भक्तिके बिना भला भगवान्के दर्शन कैसे होते?। चूहेका तो

केवल बहाना ही मिल गया।

(१४) सत्यार्थप्रकाशके ७म संमुल्लास ११३ पृष्ठमें स्वामीने लिखा है—'सहोसि सहो मयि धेहि।' (यजु० १९।९) इसका अर्थ उन्होंने वहाँ यह किया है—'आप निन्दा, स्तुति और स्व-अपराधियोंका सहन करने वाले हैं'। यह परमात्माकेलिए कहा गया है। जो पुरुष मनमें द्वेष रखकर किसीके साथ नीचतासे व्यवहार करता है; वह अपराधी कहा जाता है। जब इस प्रकार स्वामीने स्वीकार कर लिया कि—परमात्मा निन्दा तथा स्व-अपराधको सहन करता है; तब श्रीमहादेव, आपसे अपराधी कहे जाते हुए चूहेको क्यों दण्ड देते? संसारके अपराधियोंको तो ईश्वर सह जावे; परन्तु उस चूहेका अपराध क्या इतना बड़ा था कि—जिसे प्रभु न सहते; 'किमाश्चर्य-मतः परम्'। वस्तुतः यह बहुत-लचर कुतर्क है; इसका विद्वानोंकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं। हाँ; बालबुद्धि अवश्य है; पर आजके युवा एवं आर्यम्मन्य वृद्ध-महाशय इसी पर लट्टू हैं।

(१५) हम तो समझते हैं कि—चूहा शिवरात्रि वाले दिन कुछ लेने आया था। जब सेठ, साहूकार वा राजा-महाराजाओंके घरों में उत्सव हुआ करते हैं; तब उनके नौकरोंको बड़ी खुशी होती है, क्योंकि उत्सवोंमें नौकरोंको इनाम दिया जाता है। नौकर तो प्रेमका झगड़ा करके भी मालिकसे ले लेते हैं; यहां तक कि—जब वे देखते हैं कि स्वामी आज बहुत प्रसन्न है; तो उसके कन्धे से रेशमी-दुपट्टा तक उतार लिया करते हैं। उदारचित्त-स्वामी भी प्रसन्न हो जाते हैं और जानते हैं कि आज इनका दिन है।

शिवरात्रिके दिन प्रभु-विश्वनाथके घर महोत्सव होता है। देश-विदेशमें इस दिन बड़ा समारोह होता है। यह भी प्रसिद्ध है कि—चूहा श्रीमहादेवके लड़के श्रीगणेशका वाहन है*। इस महोत्सवके दिन गणेशवाहनके जातभाई चूहेने कुछ मांगा हो, वा प्रसन्नतासे महादेवकी मूर्त्तिसे कुछ उतार लिया हो, तो यह तो उसका अधिकार था। तब इस अवसर पर महादेव उसे कैसे लौटाते? दाता थे प्रभु महादेव; लेनेवाला था—भृत्य चूहा। उन दोनोंके बीच दयानन्द 'दाल-भातमें मूसलचन्द' क्यों बनने गये? क्या दयारामकी बाल्यकालिकता तो कारण नहीं थी?

मेघदूतमें लिखा है—'ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी, पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति। धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेः (कार्तिकेयस्य) तं मयूरं, पश्चाद् अद्रिग्रहण-गुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः' (पूर्वमेघ ४४) कविकुलगुरु-कालिदासके वाक्यमें सूचित किया है कि—हे बादल! पार्वती अपने पुत्र कार्तिकेयके वाहन मोरके पंखको अपने कानमें लगाती है कि—यह पंख मेरे पुत्रके वाहन मोरका है। इस प्रकार यदि पुत्रके वाहनका वात्सल्य होता है, तो महादेव अपने पुत्र-गजाननके वाहन मूषकको ही अपने विवाहके उत्सवमें क्यों रोकते? हा! स्वामीजी! पुत्र-रहित आपको प्रजाके वात्सल्य-रसका क्या पता?

(१६) मनुस्मृति आदि जितने भी धर्मशास्त्र बने हुए हैं, जो

* चूहेके गणेशवाहन होनेमें 'गणेशचतुर्थी' निबंध वा 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' आरम्भिक-निबन्ध देखें।

कर्त्तव्य-कर्मोंकी कर्त्तव्यता तथा दुष्कर्मोंमें दण्डविधान बताते हैं, वा प्रायश्चित्त अनुशिष्ट करते हैं, वह सब मनुष्योंकेलिए हैं, पशुओंके लिए नहीं। जन्मसे प्रारम्भ करके अग्निकी लपटोंमें भस्म होनेतक जितना धर्म-कर्म नियमित है, वह सब मनुष्यकेलिए है। मनुष्यके ही मुण्डन, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, विवाह आदि संस्कार यथाविधि हुआ करते हैं; परन्तु घोड़ा, ऊँट, चूहा, बिलाव आदि पशुओंका शिरोमुण्डन, यज्ञोपवीत, गुरुकुलगमन आर्य-समाजी पण्डित भी नहीं कराते होंगे। न ही उनकेलिए कोई 'संस्कार-विधि' ही बनी हुई है। न ही उनकेलिए ऐसा व्यवहार उचित है; क्योंकि—वे खाना-पीना, सोना, आदिके अतिरिक्त इतना ज्ञान नहीं रखते कि—वे मनुष्य-नियमित धर्मबन्धनमें पड़ें।

मनुष्योंमें यदि कोई माता वा बहिन आदिसे अनुचित-सम्बन्ध करे; तो उसे महापतित समझा जाता है; परन्तु पशुओंमें ऐसा बन्धन नहीं। वे प्रायः यथेष्टरूपसे इन सबमें सन्तान उत्पन्न कर लेते हैं; पर उन्हें कोई नीच नहीं कहता; इससे उन्हें कोई पाप भी नहीं माना जाता। मनुष्य कर्मयोनि होता है, वह जो कुछ भी करता है; उसे उसका फल भोगना पड़ता है। पशु भोगयोनिमें गिना जाता है। वह जो कुछ भी इस शरीरसे करता है, बिना विशेष-कारण उसका फल उन्हें आगेके जन्ममें नहीं मिलता। वह तो पूर्वजन्मके कर्मफलको भोगनेकेलिए ही केवल उत्पन्न हुआ है। यदि उसे इस पशुजन्मके कर्मका फल भी अग्रिम जन्ममें भोगना पड़े; तब तो उसका पशुयोनिसे पिण्ड ही न छूटे। इसी कारण ही

पशु-जाति धार्मिक दण्डोंसे मुक्त मानी जाती है।

शास्त्रोंमें कहा है—'आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' अर्थात् खाना, सोना, डरना और मैथुन करना, यह बातें तो जैसे पशुओंमें होती है; वैसे मनुष्योंमें भी। मनुष्यों में केवल धर्मकी विशेषता है। जिन मनुष्योंमें धर्म नहीं है; वे पशुके समान होते हैं। अब पाठकगण जरा विचार करें कि—जिस मनुष्यमें धर्म नहीं होता; उसे यदि पशुके समान माना जाता है; तो जो साक्षात पशु हो; उसकेलिए धर्म-बन्धन डालना तो अपने आपको पशु बनाना है। तब यह चूहा भी तो पशु ही था; तब इसके लिए धार्मिक-बन्धन भला कैसे हो सकता है? चूहोंके लिए कहीं न तो सन्ध्या-वन्दन लिखा है; न ही उनके लिए गुरुकुल कहीं खोले गये हैं; तब श्रीमहादेव उसे दण्ड क्यों देते? बालक दयानन्द अपने विज्ञानको स्वयं ही समझें।

(१७) काम किया किसी दूसरेने; और नाम हुआ किसी दूसरे का। भूलमें पड़ा तो बालक दयानन्द; पर अपराधी माना गया चूहा। बालक दयानन्दकी थोड़ी-सी उपासनासे आशुतोष इतने शीघ्र प्रसन्न हुए कि उन्होंने दयानन्दकी मन द्वारा की हुई चूहेपर नालिश सुनी और उन्होंने चूहेको दण्ड-विधान कर दिया। चूहेको उसके बादसे प्लेग शुरू हो गई। स्वामी दयानन्दजीका चूहा भी दक्षिण-पश्चिम दिशासे निकला। प्लेग भी दक्षिण-दिशाके ही बम्बईके चूहेपर पहले-पहल शुरु हुई। प्राचीन धार्मिक रीति-रिवाजोंपर प्लेग

(आ.सा.) भी पहले दक्षिणसे—बम्बईसे शुरू हुआ। पर प्लेगका चूहा स्वयं भी बीमार होता है, कष्ट पाता है; मरता है, उसके संगसे दूसरे भी अपना जीवन खोते हैं; परन्तु शिवरात्रिका चूहा तो स्वामी दयानन्द को धर्मका रोगी बनाकर स्वयं भाग निकला। पर एक सम्प्रदायके स्थापनाका श्रेय अपने सिरपर लेकर निकल गया।

अब एक-दो बातें कहकर ही इस निबन्धको समाप्त किया जाता है। उसमें पहली बात यह है कि जब कभी आर्यसमाजियोंसे बातचीत होती है; तो वे कहते हैं कि—'स्वामी दयानन्दजीने वेदोंमें मूर्त्तिपूजा न देखकर उसका खण्डन किया'। परन्तु यह उनका भ्रम ही है। वस्तुतः यदि देखा जावे; तो चूहेके कारण ही उन्हें ऐसा करना पड़ा। वेदोंका उस समय उस बालकको ज्ञान नहीं था। घरसे निकलकर बहुत समय भटककर तब श्रीकृष्णशास्त्री-आदिसे उसने वेदका ज्ञान प्राप्त किया, और स्वामी विरजानन्दजीसे व्याकरणका। फिर वेदमन्त्रोंका अर्दन-विमर्दन करके उनके अर्थ बदले।

इस प्रकार पाठकोंने जान लिया होगा कि स्वामी-दयानन्दजीकी इस चूहेवाली बाल्यलीलामें कुछ भी तत्त्व नहीं; केवल आपाततो-दर्शी लोग कुछ संशयमें पड़ जावें—यह सम्भव है; पर मूर्तिपूजा के महत्त्वपर इसका प्रभाव नहीं पड़ा। प्रतिवर्ष हजारों देवमन्दिर भारतमें नये बनते चले जा रहे हैं। केवल भारतमें ही नहीं; अब तो अफ्रीका, अमेरिका एवं लण्डन आदिमें भी अनेक मन्दिर बन चुके हैं। स्वामी दयानन्दके समय जितना मूर्त्तिपूजन था; अब

उसकी अपेक्षा भी अधिक-मात्रामें मिलता है। अब तो आर्यसमाजी अन्त्यजोंके मन्दिर-प्रवेशमें आग्रह करते हैं और इस विषयमें शास्त्रार्थ भी करते हैं।

आर्यसमाजियोंमें उच्च-लोग देवमूर्तिका आदर करना भी मानने लग गये हैं, और दूसरोंके विश्वासका आदर भी वे करना चाहते हैं। तब इस विषयमें व्यर्थ ही विवादोंको न बढ़ाकर इस-प्रकारके कार्योंमें लग जाना चाहिये कि जिसमें भविष्यत्‌में जनता का कल्याण हो; और हिन्दुजातिमें फूट न होने पावे। श्रीमहादेव हमारी इस प्रार्थनाको स्वीकार करें और आर्यसमाजियोंको सुमति दें।

हम तो समझते हैं कि—स्वामी दयानन्दजीकी यह जो कीर्ति फैली है; वह शिवरात्रिमें शिवाराधनाके फलस्वरूप हुई है। उसके पिता आदि बान्धव सो गये, पर बालक-दयाराम सारा दिन शिवरात्रिका व्रत करके आधी रात तक महादेवके ध्यानमें रहा; परन्तु पीछे यदि वह अश्रद्धा धारण करके व्रत-भङ्ग न कर देता; थोड़ा-सा समय और भी धैर्य और श्रद्धासे काम लेता; तो उसका यशरूप चन्द्रमा निष्कलङ्क होता। उसमें कुतर्क-प्रवृत्ति, ग्रन्थोंका वास्तविक अर्थ बदलकर अपना मनघड़न्त अर्थ करना, और उसका पत्थर आदि खाना, तथा शोच्य-निधनप्रसङ्ग न होता। यह अवश्य उसके शिव-व्रतभङ्गका तथा अन्तिम-दिनोंमें महादेवकी निन्दाका ही दुर्विलसित है—इसमें कोई संशय नहीं।

यह हमने शिवरात्रिपर्वके प्रसङ्गमें प्रसक्तानुप्रसक्त लिख दिया

कि पाठकगण भी कहीं इस घटनाके सन्देहमें न रह जावें। (गो० य० कु० भू० शा०)

(२४) होली विज्ञानकी कसौटीपर

हिन्दुओंके होली-पर्वको विदेशोंमें घृणित-दृष्टिसे देखा जाता है, हमारे कुछ देशी भाई भी इससे नाक-भौं सिकोड़ते देखे गये हैं। हम इस पर शास्त्रीय, वैज्ञानिक, आयुर्वेदिक एवं लौकिक-दृष्टि-कोणसे विचार करते हैं—

होलीका पर्व बहुत प्राचीन है। 'मीमांसादर्शन' के भाष्यकार श्रीशबरस्वामीने भी सदाचरणके मुख्य-उदाहरणमें होलिकाको रखा है, पूर्वके प्रदेशमें इसका विशिष्ट-प्रचार माना है। होलीका प्रचार कबसे हुआ—यद्यपि इस विषयमें सबका ऐकमत्य नहीं है; तथापि रक्षोघ्न (राक्षस-नाशक) मन्त्रोंसे अग्निमें हवि देनेसे राक्षसोंके दूर करनेका तथा नवसस्येष्टिका उद्देश्य करके इसका प्रचार अनादिकालसे ही प्रचलित है।

इस पर शास्त्रीय-दृष्टि यह है। यजुर्वेद वाजसनेयी-संहिताके 'शतपथ-ब्राह्मण' में कहा है—'याऽसौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति, तस्यै पुरस्तात् षडहे सप्ताहे वा ऋत्विज उपसमायन्ति, अध्वर्युश्च, होता च, ब्रह्मा च, उद्गाता च। एतान् वै अनु अन्ये ऋत्विजः' (१३।४।१।४) तद् वै वसन्त एव अभ्यारभेत, वसन्तो वै ब्राह्मणस्य ऋतुः। य उ वै कश्च यजते, ब्राह्मणीभूयैव [ब्राह्मणवद्] यजते' (शत० १३।४।१।३)।

इससे प्रतीत होता है कि वैदिक-कालमें फाल्गुन-पूर्णिमामें

अश्वमेध-यज्ञकी प्रथा थी; उसका कार्यक्रम फाल्गुन-शुक्ल अष्टमीके बाद प्रारम्भ हो जाता था। अश्वमेध-यज्ञके समय कुछ अश्लील भाषण तथा परिहास भी हुआ करता था—यह शुक्ल यजुर्वेद (वाज०) संहिताके २३।२२ मन्त्र से २३।३१ मन्त्र तक दस मन्त्रोंमें प्रत्यक्ष है। इसका संकेत हम 'श्रीमहीधरका अर्थ' में कर चुके हैं। इस मूलको लेकर होलीके इस समयमें अग्नि-प्रज्वलन किया जाता है, तथा अश्लील-भाषण और दूसरोंसे छेड़छाड़ की जाती है।

ऐसी बात नहीं मान लेनी चाहिये कि—'वेदमें अश्लील-भाषण भला कैसे हो सकता है?' वेदोक्त-कर्म 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (भगवद्गीता २।४५) त्रैगुण्यविषय होनेसे राजसत्व और तामसत्वसे सर्वथा पृथक् नहीं किये जा सकते। भोजन करनेपर शरीरमें मल भी तो अवश्य होता है; उसके बहिष्कारसे अपनी शुद्धि करना पुरुषोंका कर्त्तव्य हुआ करता है। इस प्रकार कर्मकाण्डमें भी राजस-तामस अंश अनिवार्य रूपसे आता ही है; उसका शोधनरूप प्रायश्चित्त भी मध्य-मध्यमें आया ही करता है। जैसे कि—राक्षस वा असुर देवता वाले मन्त्रोंके उच्चारण करनेपर जलस्पर्श ही प्रायश्चित्त हुआ करता है। इसी कारण वैवाहिक-यज्ञमें यम आदि क्रूर-देवताओंके मन्त्रोच्चारणके अवसर पर 'प्रणीतोदक-स्पर्श' प्रसिद्ध ही है।

इसी प्रकार अश्वमेध-यज्ञमें भी सम्भावित पापको शान्त करनेकेलिए जलदेवके प्रति प्रार्थना आई है—'इदमापः प्रवहत अवद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोह अनृतं यच्च शेपे अभी-

रुणाम्। आपो मा तस्माद् एनसः पवमानश्च मुञ्चतु' (यजुर्वेद-वाज० सं० ६।१७)।

यहां पर 'अनृतम् अभिद्रुद्रोह, यच्च अभीरुणां शेपे' इन पदोंसे गाली देना, अश्लील-भाषण, किसीसे छेड़-छाड़ करना, परिहास करना इत्यादि अभिव्यक्त हो रहे हैं। उससे सम्भावित-पापोंकी निवृत्त्यर्थ जलके स्पर्शसे जलदेवकी प्रार्थना की गई है। इस प्रकार होलीकी 'अश्लील-भाषण—परिपाटी अथवा उपहासकी परिपाटी वेदमूलक ही है। वसन्तके आरम्भिक-उत्सवमें रङ्गोंका डालना ईश्वरीय-सृष्टिके स्वभावका अंशतः अनुकरण है—यह बात वसन्त-ऋतुमें प्रत्यक्ष ही है, विशेषतः लाल-पीला रंग इस ऋतुमें देखा गया है। इसपर हम पूर्व 'वसन्तपंचमी'में संकेत दे चुके हैं।

(२) इसी प्रकार श्रौतस्मार्त्त–नवसस्येष्टिके समयमें नूतन जौ, चावल, गेहूँ आदिकी नवान्नेष्टि भी प्राचीन-समयमें हुआ करती थी। क्योंकि—नवीन-अन्नकी उत्पत्ति होनेपर जब तक उसे यज्ञ-द्वारा देवताओंको अर्पण नहीं किया जाता था; तब तक उसको उपयोगमें नहीं लाया जाता था। यज्ञ हिन्दुओंका प्राचीन-व्यवहार है। क्योंकि उनका विश्वास है कि कृषिसे जो अन्न हमने प्राप्त किया है; वह हमें देवताओंने ही दिया है। तब—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते' इस न्यायसे—'तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः' इस 'भगवद्गीता'के वचनानुसार वे अग्निके द्वारा उसे देवताओंको देते हैं। वही यह नवान्नेष्टि-होली है। उसके बाद वे उस अन्नका उपयोग करते थे। संस्कृतमें भुने

हुए अन्नको 'होलका' कहते हैं। उसे अब भी होलीके समय प्रयुक्त किया जाता है। वह नया अन्न जो कि सस्य-रूपमें हुआ करता है—उसे होलीकी अग्निमें आधा पकाकर कुछ अग्निमें देवताओंको दिया जाता है, क्योंकि अग्निको देवताओंका मुख माना गया है—'अग्निर्वै देवानां मुखम्'। (शतपथ० ३।७।४।१०) 'मुखत एव तद् देवान् प्रीणयति' (शाङ्खायनब्रा० ३।६) 'अग्ने! वह हविरद्याय देवान्' (ऋ० सं० ७।११।५)। इस प्रकार देवताओंको देकर पीछे आप खाया जाता है। शूद्र बिना-मन्त्रके तथा द्विज मन्त्र-सहित ऐसा किया करते थे। इस कारण वैदिक-सम्प्रदायमें भी यज्ञके समय जौ-चावल आदिका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार यह होलीका पर्व वेदकालीन एवं समूल सिद्ध हुआ।

(३) इसके अतिरिक्त होली ऋतुराज वसन्तका एक उत्सव भी है। वसन्त-ऋतुका महत्त्व तो विश्व-विश्रुत है। छः ऋतुओंमें वसन्त ही ऋतुराजकी उपाधिसे विभूषित है। मनुष्यके स्वास्थ्यका सम्बन्ध देशीय-प्रकृतिके स्वास्थ्यके साथ विशेषतः हुआ करता है। यों तो प्रकृति बारहों महीने विशेष-नियमोंको लेकर जगत्के कार्यको प्रवृत्त कर रही होती है; परन्तु अन्य-ऋतुओंमें इधर-उधरकी परिस्थिति-वश वह अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेमें कुछ कुण्ठित-सी रहती है; परन्तु उसके सुखमय-स्वरूपके विकासका सुन्दर साधन वसन्त ऋतु ही है।

वसन्त-ऋतु एकमात्र मनुष्योंकेलिए ही आनन्दप्रद हो ऐसी बात नहीं है; प्रत्युत वह तो मनुष्योंके साथ ही साथ पशु, पक्षी,

कीट, पतङ्ग आदि सभीका उत्साहवर्धक-काल है। इन्हींका ही क्या, अपितु स्थावर वनस्पतियोंका भी यही उल्लास-काल है। कविकुल-गुरु श्रीकालिदासने वसन्तका प्राकृतिक-चित्र अङ्कित करते हुए खग, मृग, वृक्ष, लता आदियोंकी भी इसी ऋतुमें प्रेमपाश-बद्धता चित्रित की है। भारतीय प्राचीन-पद्धति वसन्तके आगमनमें देवताओंकेलिए प्राचीनकालमें होनेवाले एक बड़े वार्षिक सामष्टिक-यज्ञको परिचायित करती है, जिसका अनुमान होलिका-दहनसे होता है।

(४) इसके अतिरिक्त यह उत्सव अन्य भी कई इतिहासोंको अपने गर्भमें धारण करता है। 'भविष्यपुराण' (उत्तर पर्व १३३ अध्याय)के अनुसार पहले-समयमें ढुण्ढानामकी राक्षसी शिवप्राप्त-वरके प्रभावसे अवध्य होकर छोटे बच्चोंको पीड़ा दिया करती थी। तब बीभत्स-गाली देनेके साथ—'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निः तान् लोकात् प्रणुदाति अस्मात्' (यजुर्वेद-वाजसं० २।३०) 'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता' (शतपथ० २।४।२।१५)—

इस प्रकार सूखी-लकड़ियों वा उपलोंसे अग्नि जलानेके साथ उसको वहांसे हटा दिया गया। उस बातको स्मरण दिलानेवाली यह होली है। उस समय सायं घरको लीपना ही पड़ता है और गुड़-पकवान आदि बाँटना पड़ता है।

(५) होलीका सम्बन्ध प्रह्लादके साथ भी माना जाता है। भगवद्भक्तिमें संलग्न प्रह्लाद जब पिता-द्वारा समझानेसे भी न समझा; तब उसको उस मार्गसे हटानेकेलिए पिताने उसे पर्वतसे

गिराया, हाथीके पैरों तले दबवाया, तलवारसे उसकी गर्दन काटने का प्रयत्न किया; परन्तु वह हिरण्यकशिपु उसमें सफल न हुआ।

अन्तिम उपाय उस दानवने उसके नाशका यह सोचा कि प्रह्लादको अग्निमें जलाया जाय। हिरण्यकशिपु की बहिन थी 'होलिका'। उसे ब्रह्माका वर था कि वह अग्निमें भी न जलती थी। हिरण्यकशिपुने उसे प्रह्लादको गोदमें लेकर अग्निमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दी, जिससे प्रह्लाद जल जाय। परन्तु—'श्रीकृष्णस्य कृपालवो यदि भवेत् कः कं निहन्तुं क्षमः' वहांपर उल्टा ही हुआ। होली तो अग्निमें जल गई, पर वह परमात्माका भक्त प्रह्लाद बच गया। इस उल्लासको प्रकट करनेकेलिए लोगोंने उसकी भस्मको इधर-उधर विकीर्ण करके आमोद-प्रमोद किया और होलीको गालियां दीं। उस अभिनयकेलिए अब भी होलीमें जलती हुई अग्निसे प्रह्लादके प्रतिनिधि वृक्ष-खण्डको निकाल कर उसे जलाशय में ठंडा करते हैं। उस समयकी भस्मको इधर-उधर फेंकते हैं। यह होलिकोत्सव उसकी स्मृति-रूपमें भी है। इस प्रकार होलीके स्वरूपमें दीख रहे हुए इस वैषम्यको कल्पभेदसे समाहित करना चाहिये।

होलीमें अन्त्यजोंके स्पर्शका रहस्य

(६) इस उत्सवमें यह महत्त्वकी बात है कि छोटेसे-छोटा बच्चा भी बूढ़ेसे बूढ़े पुरुषपर भी रंग डालता है। इस उत्सवमें छोटे बड़े, धनी-निर्धन, ऊंच-नीच सारे वर्षके भेद-भाव वा शत्रुता को हटाकर एकता उत्पन्न करते हैं। प्रधानतासे शूद्रोंका उत्सव

माने जाते हुए भी इसमें ब्राह्मण आदि सारे वर्ण एक दूसरेके साथ मिलते हैं। प्रत्युत इसमें श्वपचस्पर्श भी किया जाता है। जैसे कि 'हेमाद्रि' 'निर्णयसिंधु' (६-३४५) तथा 'भविष्य-पुराण'में भी आता है।

"चैत्रे मसि महाबाहो! पुण्ये तु [कृष्ण०] प्रतिपद्दिने। यस्तत्र श्वपचं स्पृष्ट्वा स्नानं कुर्यान्नरोत्तमः। न तस्य दुरितं किञ्चिद् नाधयो व्याधयो नृप! कृत्वा चावश्यकार्याणि संतर्प्य पितृ-देवताः। वन्दयेद् होलिकाग्निं सर्वदुःखोपशान्तये।"

यहां पर श्वपचस्पर्शका रहस्य यह है कि अपना पाप, रोग, दुःख आदि निकृष्ट अंश उस श्वपचको दिया जाय, उससे उसके पहलेसे ही वैसे होनेसे उसकी अपूर्व हानि नहीं होती। विषके कृमिको विष खिलानेसे उसकी अपूर्व हानि नहीं होती; पर उससे हमारा लाभ हो जाता है। हममें रहनेवाले तत्सदृश-कीटाणु अपनी सजातीयतावश श्वपच-शरीरमें शीघ्र प्रवेश कर जाते हैं। उसकी इससे हानि नहीं होती और हमारी सम्भावित हानि हट जाती है। फिर श्वपचस्पर्श-जन्य दोषके दूरीभावार्थ स्वयं स्नान कर लेना चाहिये। यह इस प्रकारकी चिकित्सा है कि जैसे श्वास पी जानेवाले सर्पविशेषके विष-दूरीकरणार्थ आकके पत्ते खा लेने पड़ते हैं; इससे उक्त सर्पका विष दूर होकर आकका विष उस पुरुषको चढ़ जाता है। फिर आकके विषके दूरीकरणार्थ तो बहुत सी ओषधियां प्राप्त हो जाती हैं।

इसी लक्ष्यसे कि हमारे दिये हुए निकृष्टांशसे शूद्रकी कुछ भी

हानि नहीं होती—वेदमें अपने रोगका शूद्रामें जाना मांगा गया है। जैसे कि—'तक्मन्! (रोग!)'··"दासीं' निष्टक्वरीमिच्छ'(अथर्ववेद (शौ०) सं० ५।११।६) यहां 'दासी'का अर्थ 'शूद्रा' है। इसी कारण अग्रिम-मन्त्रमें कहा है—'शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं' (५।२२।७) यहां पर 'शूद्रा' शब्द त्रैवर्णिकेतरपरक हैं। 'भविष्य-पुराण'ने इसी वेदाशयको प्रकट किया है।

यह आशय है भी ठीक ही। हम द्विज लोग सदा पवित्र-वायुमण्डलके रहनेके अभ्यासी होनेसे साधारण अपवित्र-वायुमण्डलके निवासी कीटाणुओंसे दष्ट होकर रोगी हो जाते हैं। गन्दी-नालियोंके कीटाणु हमारे स्वास्थ्यको बिगाड़ देते हैं। पक-रहे हुए मांसकी दुर्गन्ध हमारे मस्तिष्कमें चक्कर ला देती है; परन्तु अन्त्यजोंका तो नालीके पानीमें हर समय ही हाथ रहता है। बल्कि वे नालीके कूपमें घुसकर उसके कीचड़को निकाल रहे होते हैं। टट्टीको साफ कर रहे होते हैं, टट्टीके पात्रको उठा रहे होते हैं। इससे उनका अस्वास्थ्य नहीं हो जाता। इसलिए वे उनसे प्रबल-कीटाणुओंसे दष्ट होकर ही बीमार होते हैं, साधारण-कीटाणुओंसे नहीं।

परन्तु हम लोगोंके रोग-कीटाणु वैसे प्रबल नहीं हुआ करते। इसलिए श्वपचके स्पर्शसे हमारे वे रोग वा पापके कीटाणु अपने सजातीय-कीटाणुओंको पाकर उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे उनकी कोई नई हानि नहीं होती। पर हमें उसके स्पर्शसे सम्भावित दोषोंका कीटाणुओंके निरासार्थ स्नान करना पड़ता है। इसलिए

हमारे देशके पुरुषोंमें प्रसिद्ध है कि—जिसे वारेका (एक दिन छोड़कर आनेवाला) बुखार हो, वह यदि अंगीसे आलिंगन कर ले, तब उसका वह ज्वर नष्ट हो जाता है। फलतः होलीके श्वपच-स्पर्शमें भी यही रहस्य है। इससे पुरुष एक वर्ष स्वस्थ रहता है, ऐसा माना गया है। इसमें न तो सनातनधर्मका कोई असद्भाव है, न ही श्वपच-स्पर्शसे आजके सुधारकोंकी कोई अछूतोद्धार-सम्बन्धी पक्षकी सिद्धि है; क्योंकि श्वपचके स्पर्शके बाद फिर स्नान भी तो लिखा है—यह सनातनधर्मका ही पक्ष है, सुधारकोंका नहीं। अस्तु ! इस होलोत्सवमें सम्पूर्ण वर्षके चिन्ता-शोक आदि दग्ध हो जाते हैं।

(७) जो पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा-दीक्षित अर्वाचीन लोग होलीके नामसे भी घृणा करते हैं, और इस उत्सवको असभ्यता एवं अश्लीलताकी पराकाष्ठा मानते हैं, वे महापुरुष अपने प्रभुओंके 'एप्रिल-फूल' इस उत्सवको क्यों भूल जाते हैं ? 'फूल' का अर्थ ही उस भाषामें 'मूर्ख' है। जहांके पाश्चात्य अपने उस उत्सवमें मूर्खता कर रहे हैं, वहां तो सुधारकगण सभ्यता देखते हैं; पर अपने उत्सवमें उन्हें असभ्यता वा अश्लीलता दीखती है। अब उन्हीं पाश्चात्योंकी अनुन्मत्तता (सावधानता)ऽवस्थाकी सभ्यता भी देखें। वे लोग उत्सवविशेषोंमें 'वाल' नृत्य करते हैं। इस प्रकारकी चिकनी भूमि उस समय बनवाते हैं; जहां नाचते हुए स्त्री-पुरुषोंके फिसलने तथा एक-दूसरे पर गिर पड़नेकी आशङ्का रहती है। वहां सभ्य कहे जाते हुए वे पाश्चात्य पुरुष दूसरोंकी पत्नीके साथ सन्मद होकर एक-दूसरेका हाथ पकड़कर नाचते हैं। चिकनी भूमिकी

कृपासे फिसलकर एक-दूसरे पर जा गिरते हैं। यह उनकी सभ्यता मानी जाती है।

इस प्रकार किसी यान (सवारी) आदिसे उतारनेके समय दूसरोंकी स्त्रियोंका हाथ पकड़ा जाता है, जिसमें लिखित-पत्र दे देना कठिन नहीं होता, जिसमें कोई अपनी वाञ्छा भी लिख दी गई हो। मित्रके साथ एकान्तमें बैठकर बातचीत करती हुई अपनी पत्नीके कमरेकी खिड़कीमें झांकना भी वहां असभ्यता मानी जाती है। वहां पर पतिका चला जाना तो असभ्यताकी पराकाष्ठा मानी जाती है। गुप्त धात्री-भवनोंका खोलना भी वहां सभ्यता मानी जाती है। यह तो अर्वाचीनोंके दृष्टिकोणमें सभ्यता है, पर होलीमें वैसे व्यवहार न होने पर भी अपने भारतीयोंको वह असभ्यता दीखती है! यह पाश्चात्योंका भाग्य समझना चाहिये।

(८) पाठक-महोदयोंको यह भी जान लेना चाहिये कि जैसे कोई वेहोशीकी दवाई सुंघानेसे वेहोश हो जाए, फिर प्रयत्न-विशेष से उसकी वेहोशी हटा दी जाय, और उसका वहांसे शीघ्र भगाना इष्ट हो; तो नसोंमें शिथिलता होनेसे वह वहांसे दौड़ना तो दूर रहा—शीघ्र उठ भी नहीं सकता। उस समय उसकी नसोंमें स्फूर्ति संचारार्थ उत्तेजनाकी आवश्यकता पड़ा करती है। तब उस समय यदि उसे कोई गालियां देनेको तैयार हो जाय; अथवा उस पर कोई रंग डाल दे; तब वह झट उत्तेजित होकर धमनियोंमें शक्ति प्राप्त कर उसी क्षण मुकाबला करनेको तैयार हो जायगा।

इसी प्रकार वसन्त-ऋतुके आने पर कार्य-प्रतिबन्धक तन्द्रा-

आलस्य आदि विघ्न पुरुषके ऊपर आक्रमण कर देते हैं, तब पुरुषोंकी नस-नाड़ियोंमें शिथिलता निर्बलता आ जाती है। उससे पुरुषोंके संरक्षणार्थ हमारे पूर्वजोंने यह प्रणाली बनाई है कि लोग एक दूसरे पर रंग डालें। इस प्रकार दौड़ने, कूदने, उछलने आदि से एक दूसरेकी नसोंमें स्फूर्ति उत्पन्न होगी। कई नाचेंगे, कई गायेंगे, दूसरे कूदेंगे, दौड़ेंगे, उपहास वा गाली देनेसे एक-दूसरे को उत्तेजित करेंगे, कई रंग डालनेसे बिगड़ कर उत्तेजित होंगे। ऐसा होने पर पुरुषोंके इस ऋतुके स्वाभाविक तन्द्रा-आलस्य आदि हट जावेंगे; और वे फुर्ती पाकर अपने-अपने कार्यमें लग जाएंगे। इसमें सब देश-कालोंके परीक्षक हमारे पूर्वजोंकी किस प्रकार वैज्ञानिकता है?

(६) इसके अतिरिक्त सर्दीका हटना और गर्मीका प्रवेश इस प्रकार वसन्त-ऋतु गर्मी-सर्दीका सन्धिकाल है। इस सन्धिकालमें जलवायुके खराब होनेकी ऐसी आशङ्का रहती है कि वे जनताको ज्वर, हैज़ा, शीतला, मलेरिया, प्लेग आदि रोगोंके पाशमें फंसा लें। वहां उस प्रकारके दूषित-गैसकी दूरी हो जाय, उत्तेजनासे स्फूर्ति उत्पन्न हो जाय; दुर्बलता हट जाय; इस से हमारे पूर्वजोंने होलीकी मर्यादा रखी, इसमें उनका विज्ञान-ज्ञान स्पष्ट अनुभूत हो रहा है।

इसमें यह भी विज्ञान है कि शीत-कालका संचित कफ वासन्तिक-ऊष्माको प्राप्त करके पिघलता है। इसके कीटाणु सारे शरीरमें फैलकर अनेक-प्रकारके खांसी, दमा, जुकाम आदि रोगों

को उत्पन्न करते हैं। यह ऋतु कफ-आदि रोगोंकेलिए आयुर्वेद तथा लोकमें सुप्रसिद्ध है, विशेष करके बालकोंको विविध-रोग इसी ऋतुमें होते हैं। घरोंमें भी शीतकालमें पूर्ण-ऊष्माके अप्रवेश से भांति-भांतिके कीटाणु अपना स्थान बना लेते हैं; जो कई-प्रकारकी हानि पहुँचाने वाले होते हैं। जो क्रीड़ाएं वा क्रियायें होलियोंमें होती हैं; वे ही इनकेलिए प्राकृतिक चिकित्सायें हैं।

शरीरमें उत्साह लाना, कूदना, उछलना, अग्निको जलाकर उसके पास ठहरना, ऊंचे स्वरसे गाना, हंसी-मखौल आदि कार्य कफ-निवर्तक हैं। उस समयके अन्नमें गुड़ मिलाना कफके निवर्तनार्थ है—'गुडेन वर्द्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्धया निपात्यते।' घरोंकी स्वच्छता, गोबरका लेप, अग्निकी ऊंची ज्वाला, यह विधियां कीटाणुओंकी विनाशक हैं। इन वैज्ञानिक-अनुष्ठानोंसे कफ-रोगों की निवृत्ति स्पष्ट है। हास्य-प्रधान गाना, यथेष्ट-भाषण होलीके अवसर पर इसी आधारसे व्यवस्थापित किया है कि मनुष्य स्वभावसे यह सब ऊंचे स्वरसे करता है; तब उत्साहजनित उच्च स्वर कफको हटाकर फेफड़ेको शुद्ध करता है, इस प्रकार यहां प्राचीनोंका विज्ञान-ज्ञान स्पष्ट है।

इस अवसरपर रंग डालनेमें वैज्ञानिक कारण यह है कि लाल-पीला आदि रंग 'कारबोलिक एसिडगैस' आदि दूषित-गैसको नष्ट करके स्वास्थ्य-संचारमें समर्थ हुआ करते हैं। वैज्ञानिकोंने हमारे अन्दर भी रंगोंकी सत्ता स्वीकार की है, किसी रंग-विशेषकी न्यूनतासे ज्वर-विशेषका हो जाना भी बताया है। उस रंगकी पूर्ति

कर देने पर उस रंगकी न्यूनता-मूलक ज्वर आदिकी शान्ति भी मानी है। सुगन्धित रसके फैंकनेसे दुर्गन्धित विषाक्त-परमाणु एवं कीटाणु नष्ट हो जाया करते हैं। यह बात पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों प्रकारके भिषक् लोग मानते हैं। इस प्रकार होलीकी क्रियाएँ विज्ञान-मूलक हैं, असभ्यता मूलक नहीं।

(१०) कई विद्वानोंका यह विचार है कि होलीके अवसर पर गाना, बजाना, नाचना, कूदना आदि अज्ञान-मूलक नहीं। शरद्, हेमन्त, शिशिर ऋतुओंमें सभी लोग नवीन-बलवीर्यशाली बनते हैं। शक्ति-संचय हो जाने पर वासन्तिक-वायुके प्रभावसे विलास कर रही हुई प्रकृतिकी छटा देखनेसे प्रेमरूपमें कामकी उत्पत्ति भी स्वाभाविक हुआ करती है। इस कारण प्राचीन-समयमें इस अवसरपर कामदेवकी पूजाका प्रचार भी था। इस कारण वसन्त ऋतुको भी 'कामदेवका सखा' कहा जाता है। वृद्धोंमें भी इस अवसर पर स्फूर्ति हो जाया करती है।

किसी भी प्रवृत्तिके रोकनेसे कई रोगोंकी उत्पत्ति हो जाया करती है। यह बात 'चरक-संहिता'के वेगनिग्रहण-हानिनिरूपणाध्यायमें स्पष्ट है। कोप-शोक आदिके वेगको रोकनेसे बहुतसे लोग पागल या बीमार हो जाते हुए देखे गये हैं। चिन्तासे वे व्यक्ति मानसिक-रोगोंसे पीड़ित होकर क्रमसे बड़े-बड़े रोगोंको प्राप्त हो जाते हैं। शोक एवं हर्षके वेग रोकनेसे तो क्षणमें ही 'हार्टफेल' हो जाने की सम्भावना भी रहती है। इस प्रकार मूत्रपुरीष-वेगों को रोकनेपर भी रोग हो जाया करते हैं। इस तरह कामके

वेगको रोकनेपर भी रोगके वेगकी आशंका सम्भव हुआ करती है। तब गाना, नाचना आदि—साधनों तथा यथेच्छ भाषण एवं हास-उपहासोंसे उन दिनों उस वेगको चरितार्थ कर दिया जाता है; नहीं तो पथरी आदि रोगोंका उपद्रव, वीर्य-हानि तथा क्लीबताके उदयका प्रसंग उपस्थित हो सकता है। तब वैसी वासन्तिक-वायुसे मस्त अपनी प्रमदाओंको वैसे पुरुष प्रसन्न कैसे कर सकते हैं ?

जो व्यक्ति सारा वर्ष गम्भीर-विचारमें लगे रहते हैं; थोड़ा भी हास्य आदिमें प्रवृत्त नहीं होते, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' 'नाति कुत्रापि शोभते' इस न्यायसे उनके लाभार्थ सप्ताहमें रविवारकी तरह वर्षमें यह होली स्थिर की गई है। इस कारण सभी इस अवसरमें राज-यक्ष्मा आदिके मूलभूत सतत-परिश्रमकी प्रकृतिको छोड़कर नाचने-कूदने—आदिमें लगे हुए अपनी जीवन-यात्राको सुपरिणाम वाली बनाया करते हैं। इस प्रकार अलौकिक स्फूर्ति एवम् अदम्य उत्साहके उदय होने और नवीन-रक्तके संचारसे सम्पूर्ण वर्ष आनन्दसे बीत जाता है। गृहस्थमें शान्ति रहती है। सन्तानोंके मनोविनोदके साथ उनका स्वास्थ्य भी बढ़ता है। इसके अतिरिक्त सब हिन्दुओंका इन अवसरोंपर सम्मेलन तथा संगठन विधर्मियों तथा राष्ट्रके शत्रुओंके चित्तमें कंपकपी उपस्थित कर दिया करता है। जिससे इस भारतपर कुदृष्टि करनेमें उनका उत्साह शेष नहीं रहता।

इस प्रकार शास्त्रीय-मर्यादाओंका प्रसारक, सुस्वास्थ्यका उत्पादक, देशरक्षाका सम्पादक, मनोमालिन्य वा उदासीनताको

दूर भगाने वाला, शत्रुओंके चित्तपर चोट करने वाला, धर्म, अर्थ, कामकी मर्यादा फैलाने वाला, दूरदर्शीजनोंके मनमें विहरण करने वाला होलीका यह महोत्सव पूर्ण-वैज्ञानिक एवं रहस्यमय है। यह विचार करनेसे स्वयं स्पष्ट हो जाता है। अन्तमें हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि इस हास-परिहासमें भी 'नाति कुत्रापि शोभते' इस न्यायसे इतनी 'अति' नहीं कर देनी चाहिये, जिससे शिष्टताका उल्लंघन हो जाय; और धर्म-मर्यादा कहीं अतिक्रांत हो जाय। हाँ, जो पाश्चात्य-चमत्कृतिसे चौंधियाई हुई आँखों वाले आपको इस उत्सवमें सहयोग नहीं देना चाहते, आप उनको उनकी दयापर छोड़ कर उनसे कोई भी छेड़-छाड़ न करते हुए अपने मित्र-मण्डलमें ही शिष्टजनोचित मनोविनोद करें, यही सामयिक-मर्यादा है, जिनका पालन सामयिक-कर्तव्य है।

सूचना—गत-पृष्ठोंमें कई प्रूफकी भूलें रह गई हैं; वे ठीक कर ली जावें। पृ० ६६ 'इन्द्रकी मूर्ति (ऋ० ४।२४।१०)। पृ० २८८ आघस्तम्ब-आपस्तम्ब। पृ० ३४७ तीर्थस्थान-तीर्थस्नान। पृ० ३२६ मेधा आपः-मेध्या आपः। पृ० ३६१ 'गायत्रेण त्वा' (२।२)। पृ० ५४४ पं० ६ संकुचित-संघुक्षित। पृ० ६०४ पं० १२, १, ३८, ३४, ००० यहां १, ३८, २४, ००० पाठ है। पृ० ६४२ सीतया सह सचमानः-सञ्जीभवन्। सु-असा स्वसा-सुन्दरी। पृ० ८१०में 'गणानां त्वा' यह मन्त्र और उसके ५ प्रियपति, ६ निधिपति, ७ वसु यह नाम देख लें। पृ० ८५६ (आ. सा.)-(आ. स.)। पृ० ८२६ अवमेधयज्ञ-अश्वमेधयज्ञ। इत्यादि।

(१०) 'ओम्' का महत्त्व।

'गिराम् अस्म्येकमक्षरम्' (भगवद्गीता १०।२५)

हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थके पञ्चम-पुष्पके आरम्भमें श्रीगणेशका मङ्गलाचरण कर चुके हैं; उसके द्वितीय-निबन्धमें हमने 'ॐ' यह गणपति-गणेशकी प्रतीक-मूर्ति सिद्ध की है। ग्रन्थके मध्यमें हम ब्रह्मके प्रतीक 'गायत्री-मन्त्र'का, तथा ब्रह्मकी प्रतिमा 'संवत्सर' का वर्णन करके उनका भी एक ढंगसे मङ्गलाचरण कर चुके हैं। ग्रन्थके अन्तमें भी महाभाष्य-आदिमें मङ्गलाचरणका विधान आया है; तदनुसार अब अन्तमें हम यहां जगत्प्रसिद्ध अक्षरात्मक 'ओम्'का मङ्गलाचरण करते हुए इस निबन्धमें उसके विषयमें ज्ञातव्य-बातोंका उल्लेख करके इस पञ्चम-पुष्पको (छठे-पुष्पके प्रकाशनकी सम्भावना लेकर जिसमें हमें सभी पाठकोंका सहयोग अपेक्षित है), समाप्त करेंगे।

'ओम्' का वेदोंसे सम्बन्ध।

'ओम्' की वेदों, स्मृतियों आदि सबने महिमा गाई है। यह ब्रह्मका सर्वश्रेष्ठ नाम (कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी ४।६) माना जाता है। वेद हमारे सनातन-हिन्दुधर्मके अक्षय-निधि हैं। 'मनुस्मृति' (२।७४) में उसी वेदके अध्ययनके आरम्भ और अन्तमें 'ओम्' का पढ़ना आवश्यक माना गया है।

'नैषधचरित' महाकाव्य (३।७५) में दमयन्तीने हंसको भी यही सूचित किया था कि—"यदि तुम मेरा नलसे विवाह न करना

'वेद' मानते हो; तो उस वेदसे पूर्व 'रात्रिका भी चन्द्रसे भिन्न पति हो सकता है' यह 'ओंकार' भी साथ लगा दो। इससे 'ओम्'का वेदोंसे सम्बन्ध सिद्ध होता है। 'मनुस्मृति' (२।७६-७७) में परमेष्ठी-द्वारा 'ओम्' के 'अ, उ, म्' इन तीन वर्णोंको और गायत्रीकी तीन व्याहृतियों तथा तीन पादोंको तीन वेदोंसे दुहना माना है। इससे यह सूचित किया है कि जैसे हिन्दुधर्ममें वेद सर्वश्रेष्ठ हैं, जैसे द्विजोंकेलिए वेदत्रयनिष्पन्न गायत्री सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही वेदत्रयसे निष्पन्न 'ओम्' भी सर्वश्रेष्ठ है। यह भी 'त्रिवृद्-वेद' है। (मनु० ११।२६५)।

'ओम्' शब्द की सिद्धि।

'ओम्' शब्द वेदाङ्ग-व्याकरणके अनुसार 'अवँ' (६००) (भ्वा० प० से०) धातुसे 'अवतेष्टिलोपश्च' (उ० १।१३६) इससे मन्-प्रत्यय करनेपर तथा प्रत्ययकी टि का लोप होनेपर 'ज्वर-त्वर' (पा० ६।४।२०) से सारी धातुको ऊठ् आदेश करके उसे गुण करने पर बनता है। 'नित्' होनेसे यह आद्युदात्त-स्वरवाला है। इसका विग्रह है—'अवति इति ओम्'। अव् धातुके उन्नीस अर्थ होते हैं। इतने अर्थ अन्य किसी धातुके नहीं हैं। वे उन्नीस अर्थ निम्न हैं—१ रक्षण, २ गति, ३ कान्ति (शोभा), ४ प्रीति, ५ तृप्ति (इच्छाकी पूर्ति), ६ अवगम (ज्ञान), ७ दीप्ति (तेज), ८. श्रवण, ९ स्वाम्यर्थ (स्वामित्व), १० याचन, ११ क्रिया, १२ इच्छा, १३ प्रवेश, १४ अवाप्ति (प्राप्ति), १५ आलिङ्गन, १६ हिंसा, १७ आदान (लेना), १८ भाग, १९ वृद्धि। यह सभी सांसारिक

अनिवार्य अर्थ हैं। अतः संसारी जीवोंकेलिए इन बहुतसे अर्थोंका एक ही शब्द उस बीजमन्त्रकी भांति बन जाता है कि जिसके एक अक्षरमें बहुत-सा अर्थ सञ्चित किया हुआ होता है।

इसमें मुख्य अर्थ 'रक्षण' है, परमात्मा सबका संरक्षण करता है। सबका प्रीतिका पात्र है। तृप्ति अर्थात् सेवन करनेपर हमारी इच्छा पूर्ण करता है। हमें ज्ञान देता है, शोभा और तेज देता है। हिंसा—दुष्टों अथवा दुर्गुणोंका हनन करता है। हमारी वृद्धि करता है। गतिका अर्थ सर्वगतत्व-सर्वव्यापकत्व है। आलिङ्गनसे प्रेमका अतिशय झलकता है। फलतः यही 'ओम्' अपनी अनेक सांसारिक-क्रियाओंको हमें स्मरण दिलाता है, तभी तो 'ओम्'के अर्थस्वरूप-ब्रह्मका चिन्तन करते हुए 'ओम्'का जप करना पड़ता है। जैसे कि—'योगदर्शन'में कहा है—'तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२७-२८)।

तात्पर्य यह है ब्रह्मका नाम (वाचक) प्रणव (ओम्) है; उसके अर्थ (वाच्य-ब्रह्म) का ध्यान करते हुए उसका जप करना चाहिये। उस योगसूत्रके 'वार्तिक'में श्रीविज्ञानभिक्षुने 'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः। तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति' यह योगी-याज्ञवल्क्यका वचन उद्धृत किया है। इसका आशय यह है कि परमात्मा अद्भुत-शरीर है, भक्तिमात्र-ग्राह्य है, और मनोमय हैं, उसे उसके नाम 'ओम्'से आहूत करनेपर वह प्रसन्न होता है। उक्त-सूत्रके व्यासभाष्यमें ईश्वर और 'ओम्'का वाच्य-वाचकभाव स्थित-सम्बन्ध माना गया है, प्रदीप-प्रकाशकी भांति अस्थित

प्रकाश्यता-सम्बन्ध नहीं माना गया।

स्मरणकेलिए जप ही एक सर्वोत्तम साधन है। इसी कारण ही तो भगवान् श्रीकृष्णने 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' (भगवद्गीता १०।२५) जपको यज्ञ मानते हुए-'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्' (८।१३), यहां पर 'ओम्'को 'एकाक्षर-ब्रह्म' बताकर उसका जप बताया है और अन्तिम-कालमें ओंकारको उच्चारण करते और भगवान्का स्मरण करते हुए देह-छोड़नेमें परम गति (मुक्ति) बताई है।

'ओम्' की महिमा।

वेदके उपनिषद्-भागान्तर्गत कृष्णयजुर्वेद (कठोपनिषद्)में तो इसी 'ओम्' अक्षरके जान लेनेपर सब इच्छाओंका पूर्ण हो जाना कहा है। जैसे कि—'एतद्धि एव अक्षरं ब्रह्म एतद्धि एव अक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' (१।२।१६)। 'भगवद्गीता'में 'प्रणवः सर्ववेदेषु' (७।८) यह कहकर ओङ्कारको समस्त-वेदोंका सारभूत माना है। वही 'वेद्यं पवित्रमोङ्कारः, ऋक्, साम, यजुरेव च' (९।१७) इस पद्यमें भगवान्ने 'ओम्'को अपना स्वरूप कहा है। यह ठीक भी है; क्योंकि 'ओम्' भगवान्का नाम है; नाम और नामीका अभेद हुआ करता है। 'भगवद्गीता'के (१७।२३ पद्य)में 'ओम्'को ब्रह्मका नाम और वेद तथा यज्ञ एवं ब्राह्मण-जातिका बनानेवाला कहा है।

'ॐ' इस अक्षरके कई लकड़ीके टुकड़े बने हुए होते हैं, उनको विशिष्ट-क्रमसे जोड़ने पर सब भाषाओंकी लिपि बन सकती है;

सब प्रकारके जीवोंकी आकृतियां बन सकती हैं। इसी 'ॐ'से शेषनाग बन जाता है। यही गणेशकी मूर्ति, एवं शिवलिङ्ग एवं जलहरीकी मूर्ति है। यह 'ॐ' एक प्रतीक है। अक्षरात्मक-ब्रह्मकी भी यह प्रतीक हो सकती है, इसकी उपासना की जा सकती है। यह ब्रह्मकी साकार-उपासना होगी। इस प्रकारकी अद्भुत-वस्तुको हिन्दुधर्मके ग्रन्थोंने ही ढूँढ पाया है; तभी तो 'ओम्' कहकर ही यज्ञ, दान तथा तपस्यायें की जाती हैं—'तस्माद् ओम् इत्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ता सततं ब्रह्मवादिनाम्' (गीता १७।२४)।

जब इस 'ओम्' के नाम-कीर्तनसे सब यज्ञादि-कर्मोंका अङ्ग-वैगुण्य दूर हो जाना सूचित किया है, तब इससे नाम-कीर्तनका महत्त्व भी सिद्ध हुआ। 'ओम्'का सब कर्मोंकी आदिमें कीर्तन इसलिए भी होता है कि यह माङ्गलिक है। 'गृह्यासंग्रह'में कहा है—'ओङ्कारश्चाथ-शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं (अण्डं) भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ' (२।६)।

पञ्च ओंकार

हिन्दुधर्मके विवाह-संस्कारमें पञ्चोङ्कारपूजन हुआ करता है, पूजन-मन्त्रमें 'ओम्'की जो महिमा वर्णित है, उसे भी देखना चाहिये—'आवाहयाम्यहं देवमोङ्कारं परमेश्वरम्। त्रिमात्रं* त्र्यक्षरं दिव्यं

*इसकी त्रिमात्रता प्रश्नोपनिषद्में भी कही गई है। ब्रह्मविद्योपनिषद् (२,८।६) तथा योगतत्त्वोपनिषद् (१३४।१३६) वाराहोपनिषद् (४।१)में ३॥ मात्रा बताई गई हैं।

त्रिपदं च त्रिदैवतम् (१) अक्षरं त्रिगुणाकारं सर्वाक्षरमयं शुभम्। त्र्यर्णवं प्रणवं हंसं स्रष्टारं परमेश्वरम्। (२) अनादिनिधनं देवमप्रमेयं सनातनम्। परं परतरं बीजं निर्मलं निष्कलं शुभम्। (३) ओङ्कारं बिन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव ओंङ्काराय नमो नमः' (४) (कात्यायनी-शान्तिः) यहां पर ओंकारको प्रणव, तथा बीज कहा गया है। 'प्रणव' इसलिए इसे कहा जाता है कि— 'प्रकर्षेण नूयते-स्तूयते' इस 'ओम्'की बहुत ही स्तुति होती है। बीज इसे इसलिए कहा जाता है—जैसे बीजमें सारा वृक्ष समाया रहता है, वैसे इस ओङ्कारमें भी सम्पूर्ण संसार-वृक्ष समाया हुआ है। यहांपर ओङ्कारकी संख्या पांच कहनेका कारण विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य इस पञ्चायतनपूजामें पांचों देवोंकी ओङ्कारात्मक-मूर्तिका होना है।

इस प्रकार इस हिन्दुधर्मके साहित्यने 'ओम्'की महिमाको सूचित किया है। इसका प्रभाव दूसरोंपर भी पड़ा। सिक्ख (शिष्य)-सम्प्रदायके 'गुरुग्रन्थसाहब'में भी 'एक ओंकार सतगुरुप्रसाद' ऐसा माना गया है। नामकीर्तनको महत्त्व न देनेवाले अन्य आजकलके अर्वाचीन-सम्प्रदायोंमें भी 'ओम्'को महत्त्व दिया जाता है। वे लोग पत्रव्यवहारमें तथा पुस्तकोंके आरम्भमें भी इसी 'ओम्'को लिखा करते हैं। छोटा बच्चा भी तो 'ओआँ' इस शब्दसे रोता है, यह 'ओम्'का ही रूप है, प्रकृति उसे भी अवैध-रूपसे 'ओम्'का जप करवाती है।

'ओम्' में तीन अक्षर।

पूर्व बताया जा चुका है कि—'ओम्' में तीन अक्षर हैं—'अ, उ, म्'। आत्मबोधोपनिषद्, योगचूडामणि-उपनिषद् ब्रह्मविद्योपनिषद्, आदिमें भी इसे त्र्यक्षर बताया गया है। 'तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त, अकार उकारो मकार इति। तान् एकदा-समभरत्, तदेतद् ओम् इति। तस्माद् ओम्, ओम् इति प्रणौति' (ऋग्वेद-ऐतरेय-ब्राह्मण ५।३२) वृद्धहारीतस्मृति (७।३५-३७) बृहत्पराशरस्मृति (१२।२६५-२६७), बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति (२।१५-१६) में भी इसकी त्र्यक्षरता बताई गई है। इन तीन अक्षरोंका भी पृथक्-पृथक् अर्थ शास्त्रोंमें बताया गया है। जैसे कि—अथर्ववेदीय 'माण्डूक्योपनिषद्' में कहा है—

'अकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेः, आदिमत्त्वाद् वा, आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति (९) उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षाद्, उभयत्वाद् वा, उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम्, समानश्च भवति। नास्य अब्रह्मवित् कुले भवति (१०)। मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा, मिनोति ह वा इदं सर्वम् अपीतिश्च भवति (११)।

ओम्का अर्थ।

इसी उपनिषद्में 'सोयमात्मा अध्यक्षरमोङ्कारः' (८) यहां पर आत्माको अक्षर-दृष्टिसे ओङ्कार माना गया है। उसकी 'अ' मात्रा सबमें *व्याप्त तथा आत्मा सबके आदिमें होती है। उसको जानने-

* 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐत० आ० २।३।६)।

वालेको सब कामनाओंको प्राप्त कर लेनेवाला तथा सबका आदि (बड़ा) माना है। 'उ'का अर्थ उत्कृष्ट, उभय अ-म्के मध्य स्थित है; इसे जाननेवालेको ज्ञानमें उत्कृष्ट तथा मित्र-शत्रु उभयपक्षमें सम्मानित हो जाना कहा है। 'म्'का अर्थ सबको नीचे डाल देनेवाला 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' (स्वा० अ० उ०) यह किया है। अपीति-जगत्का कारणात्मा अथवा एकरूप होता है। इस 'ओम्'के ज्ञाताको इन सब बातोंकी प्राप्ति कही है।

'ओम्'की महिमाको बतानेवाला कृष्ण-यजुर्वेद-'कठोपनिषद्'का यह वाक्य भी मननीय है कि—'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति, तपांꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीमि—'ओम्' इत्येतत्' (१।२।१५) यहाँ पर बताया गया है कि—सब वेद इसी 'ओम्' पदका व्याख्यान करते हैं, सब तपस्याएँ भी जिस पदको कहती हैं, जिसको प्राप्त करनेकेलिए ब्रह्मचर्य किया जाता है, वह ब्रह्मपद 'ओम्' है। 'एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठम् एतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते' (कठ १।२।१७) यहाँ पर ओंकाररूप-आलम्बनके जाननेसे ब्रह्मलोकमें उसका सम्मान माना है। ('महीङ् पूजायाम्' कण्ड्वादिः आ० से०)।

अथर्ववेदीय 'माण्डूक्योपनिषद्' ने तो यहाँ तक कहा है कि—'ओम् इत्येतद् अक्षरम् इदꣳ सर्वं तस्य उपव्याख्यानं, भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वम् ओङ्कार एव। यच्च अन्यत् त्रिकालातीतम्, तदपि ओङ्कार एव।' (१) अर्थात् इस संसारमें सारे साहित्य

'ओम्'की ही व्याख्यायें हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तथा त्रिकालातीत सभी 'ओम्' ही है। पाठकगण, देखिये—'ओम्'का कितना महत्त्व है? इसी 'ओम्'के अ, उ, म्' तीन अक्षर ब्रह्मा, विष्णु, महेश माने जाते हैं।

'ओं खं ब्रह्म' (यजुर्वेद-वाजसनेयसंहिता ४०।१७) यहाँपर आदित्य-स्थित ब्रह्मको 'ओम्'के नामसे कहा गया है। इसीलिए 'छान्दोग्य-उपनिषद्'की आदिमें 'ओम्'की उपासना कही गई है-'ओम्' इत्येतद् अक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओम् इति हि उद्गायति' (१।१।१)

अथर्ववेद-'प्रश्नोपनिषद्' में कहा है—'यः पुनरेतत्-त्रिमात्रेण ओम् इत्येतेनैव अक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादो-(काको) दरः [सर्पः] त्वचा विनिर्मुच्यते; एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' (५।५) यहाँ पर 'ओम्' अक्षरसे परमात्माका ध्यान करनेसे पापोंका हट जाना कहा है। 'ऋग्भिरेतं, यजुर्भिरन्तरिक्षं, स सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैव आयतनेन अन्वेति'. (५।७) यहाँपर ओङ्कार के द्वारा तीन-वेदोंके फलकी प्राप्ति कही है।

कृष्णयजुर्वेद—तैत्तिरीयोपनिषद्'में कहा है—'ओम्' इति ब्रह्म, ओम्-इति इदं सर्वम्' (१।८।१) यहाँपर भी 'ओम्'को ही सब-कुछ कहा है; तथा 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र आदि करना कहा है।

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद, ऋचा किं करिष्यति, य इत् तद् विदुः, ते इमे समासते' (ऋग्वेद-शाकल्यसं० १।१६४।३६, अथर्ववेद-शौनकसं० ६।१०।१८) इस मन्त्रके कई अर्थ किये जाते हैं। एक अर्थ 'ओम्'-परक भी है। जैसा कि—'निरुक्त' (१३।१०।१)में लिखा है—'कतमत् तदेतद् अक्षरम्? ओम् इत्येषा वाग् इति शाकपूणिः'। यहीं श्रीयास्काचार्यने ब्राह्मणभागका प्रमाण भी दिया है—'एतद्ध वै एतदक्षरम्, यत् सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति-प्रति' इति। इसपर श्रीदुर्गाचार्यने भी अपनी वृत्तिमें 'ओंकार एव इदं सर्वम्' यह प्रमाण भी उद्धृत किया है। इसी प्रकारका 'तैत्तिरीयोपनिषद्'का प्रमाण पूर्व उद्धृत किया ही जा चुका है।

उक्त-अर्थमें ऋगादि-वेदोंके सारस्वरूप 'ओम्' अक्षरमें ही सब देवताओंका निवास माना गया है। उसके ज्ञान न रखनेसे तो ऋगादि सब वेदोंकी विफलता बताई गई है। उसके ज्ञानसे ही वेदोंकी भी सफलता मानी गई है।

'श्रीसनातनधर्मालोक'के अभिज्ञ-पाठकों ने 'ओम्'का महत्त्व देख लिया। सब शास्त्र इसकी महिमासे ओत-प्रोत हैं। पुराणोंका तो नाम लेना ही पुनरुक्त है। वेदके सभी सिद्धान्तोंका जनताके पास पहुँचानेका श्रेय पुराणोंको ही है; क्योंकि—इन्हींने वेदकी कठिन-बातोंको सरल तथा सरस प्रकारोंसे सबके समक्ष प्रस्तुत किया है। 'ओम्'की महत्ता और भी देखिये—

'ओम्' अविकारी अक्षर।

'ओम्'का आदि अक्षर 'अच्' है। व्याकरणकी सन्धिकी

चक्कीके पाटमें पड़कर 'अच्' पिस जाते हैं, दीखते ही नहीं; अथवा विकृत हो जाते हैं; पर 'ओम्' यह ब्रह्मका नाम है, यह भला व्याकरणमें भी क्यों न अविकृत रहे? अच्के सामने 'ओ' पड़ा हुआ हो तो वह 'औ' इस वृद्धिरूपमें विकृत हो जाता है। वृद्धि भी तो विकृति होती है। खींचकर कानोंकी वृद्धि कर दी जाय; तो वे भी तो विकृत लगते हैं। पर यदि 'ओम्' रूपमें वही 'ओ' अच्के सामने आ जाए; तो उसीका रूप रह जाता है। जैसे कि—'शिव+ओम्=शिवोम्'। अर्थात् वृद्धि-सन्धि 'औ' न होकर पररूप 'ओ' ही रहेगा। इस प्रकार अन्य-अक्षरोंकी सन्निधिमें भी 'ओम्' अपनी मात्रारूपमें ही रहता है।

'ओम्' अव्यय-ब्रह्म।

अन्य बात यह है कि—'ओम्' यह अव्यय-शब्द है, अव्यय-ब्रह्म है। अव्ययका लक्षण प्रसिद्ध है—'सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्'। यह 'अथर्ववेद-गोपथब्राह्मण' (१।१।२६) की श्रुति है। यह वहाँपर आई भी 'ओम्'केलिए ही है। पहले वहाँ अवतरणिका दी गई है—'निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति, तद् अव्ययीभूतम्। अन्वर्थवाची शब्दः, न व्येति कदाचन' यह कहकर उक्त श्रुति दी गई है। सो यह शाब्दिक-अव्यय भी है, वास्तविक-अव्यय भी। पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग तीनों लिङ्गोंमें यह समान है। पुरुष, स्त्रियों तथा नपुंसकोंमें भी वही 'ओम्'-ब्रह्म समानरूपसे व्यापक है। प्रथमासे सप्तमी तककी सब विभक्तियोंमें भी यह

शब्द समान है, और 'ओम्'-ब्रह्म भी संसारके सब विभागों-(विभक्तियों)में समानरूपसे व्यापक है। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन तीनों वचनोंमें यह शब्दरूपमें समान है, ब्रह्मरूपमें 'ओम्' वाच्य, तात्पर्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य इन वचनोंमें भी समान-रूपसे व्यापक है। यह 'ओम्' शब्द भी 'न व्येति' भिन्नतारूप-विकारको प्राप्त नहीं होता; 'ओम्'—ब्रह्म भी विकारको प्राप्त नहीं होता।

ब्राह्मणभागात्मक-अथर्ववेद (गोपथ-ब्राह्मण)में भी 'ओम्'की बहुत महिमा कही गई है। हम उसे अंशतः उद्धृत करते हैं। जब ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमलसे हुई, तो ब्रह्माजीने सोचा—'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स खलु ब्रह्मा सृष्टः चिन्तामापेदे—केन अहम् एकेन अक्षरेण सर्वांश्च कामान्, सर्वांश्च लोकान्, सर्वांश्च देवान्, सर्वांश्च वेदान्, सर्वांश्च यज्ञान्, सर्वांश्च शब्दान्, सर्वांश्च व्युष्टीः, सर्वाणि च भूतानि स्थावर-जङ्गमानि अनुभवेयम् इति। (मैं किस प्रकार एक-अक्षरसे सब कामनाओं, सब देवताओं, वेदों, यज्ञों तथा सब प्राणियोंका अनुभव करूँ) स ब्रह्मचर्यमचरत्, स ओम्-इत्येतद् अक्षरमपश्यत्' (१।१।१६) 'ब्रह्मचर्य करके ब्रह्माजीने इसी 'ओम्' अक्षर को देखा, जो सर्वव्यापी, सर्वविभु, चतुर्मात्र, अयातयाम-ब्रह्मरूप था।

उसकी प्रथम-मात्रामें ब्रह्माजीने ऋग्वेद, पृथिवीलोक (१७), द्वितीय-मात्रामें यजुर्वेद और अन्तरिक्ष लोक (१८), तृतीय-मात्रामें सामवेद और द्युलोक (१९), चतुर्थ-मात्रासे अथर्ववेद (२०)

मकार की मात्रासे इतिहास-पुराणका अनुभव किया (२१)। अब इस 'ओम्'का माहात्म्य देखिये—'तदेतद् अक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत, त्रिरात्रोपोषितः, प्राङ् मुखो, वाग्यतो, बर्हिषि उपविश्य सहस्रकृत्व आवर्तयेत्, सिध्यन्ति अस्य अर्थाः, सर्व-कर्माणि च' (गोपथ १।१।२२) (जो इस ओङ्कारका एक सहस्रवार जप करे, मुख पूर्वमें हो, बोले-चाले नहीं, तीन रातका उपवास किये हो, कुशा पर बैठा हो; उसके मनोरथ सिद्ध होते हैं।) यहाँ-पर प्रसक्तानुप्रसक्त पूर्वदिशाकी ओर मुख करनेका तथा कुशका महत्त्व भी सिद्ध हो गया। तभी श्रीपाणिनि-द्वारा अष्टाध्यायी-निर्माणके समय महाभाष्यकारने पूर्वदिशाकी ओर मुख करके तथा हाथमें कुश पहिनकर बैठना कहा है—'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भ-पवित्रपाणिः, शुचौ अवकाशे, प्राङ्मुख उपविश्य सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्र अशक्यं वर्णेनापि अनर्थकेन भवितुम्' (१।१।३।१)

'ओम्'का सर्वसाधारणस्थलमें अप्रयोग।

इस प्रकार जब कि सनातनधर्मके ग्रन्थ 'ओम्' की महिमासे भरे पड़े हैं; फिर सनातनधर्मियोंकी पत्र-व्यवहारमें, वा ग्रन्थकी आदिमें 'ओम्' लिखनेसे उदासीनता देखकर, उनके द्वारा 'श्रीः'का प्रयोग देखकर बहुतसे धर्मप्रेमियोंको आश्चर्य-मिश्रित खेद होता है। पर सनातनधर्मी जो इसका सर्वसाधारण-स्थलमें प्रयोग नहीं करते; इसका कारण उनकी इसमें अश्रद्धा हो—यह बात नहीं; किन्तु वे उसको परम-पवित्र मानते हैं। परम-पवित्रको सर्वसाधारण-स्थलमें, सर्वसाधारण-रूपसे प्रयोगमें नहीं लाया जाता। सर्वस्मृतिमूर्धन्य,

वेदानुगत, सृष्ट्यादि-प्रणीत 'मनुस्मृति'में कहा है—'प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः। प्राणायामैस्त्रिभिः पूतः, तत ओंकारमर्हति' (२।७५) 'पूर्वाग्र-कुशोंको बिछाकर उनपर बैठे, और पवित्रों (कुशों)से अपनेको मार्जन कर पवित्र होवे, तीन-प्राणायामों से जब पवित्र हो जावे, तब ओंकारके प्रयोगके योग्य होता है। 'गोपथब्राह्मण' (अथर्ववेद)के पीछे दिये प्रमाणमें भी यही बात प्रत्यक्ष ही है।

इस कारण सनातनधर्मियोंका यह हार्दिक आशय है कि जब कि वेदपर भी अधिकार-अनधिकारका प्रतिबन्ध है; तो यह अक्षर तो सब वेदोंका नवनीत एवं सर्वश्रेष्ठ माना जाता है; तब इसकी सर्वसाधारणता कैसे की जाय? उसे अनधिकारी ग्रहण न करें, उसे सर्वसाधारण पर न गिरा दिया जाय; अन्यथा 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस न्यायसे उसका निर्दिष्ट-फल भी नहीं मिला करता; अतः वे इसका सर्व-साधारण-स्थल पर तथा सर्वसाधारण-अवस्थामें वैधरूपेण प्रयोगमें लाना प्रतिसमय उसका लिखना-कहना उचित नहीं समझते।

किसी वस्तुको सर्वसाधारणसे छिपाना (जैसे अपनी धर्मपत्नी आदिका), इससे उनका उसमें अप्रेम नहीं झलकता, किन्तु अत्यन्त-गाढ अनुराग सूचित होता है। तभी तो विशिष्ट-मन्त्रोंकेलिए सनातनधर्मी कहते हैं—'गोपनीयं, गोपनीयं, गोपनीयं प्रयत्नतः'। गुप्त करनेसे तो उस वस्तुपर प्रेम बढ़ता ही है, घटता नहीं। 'मन्त्र' शब्द भी 'मत्रिँ गुप्तपरिभाषणे' (चु. आ. से.) धातुसे बना है, जिसका अर्थ ही 'गुप्तरूपसे बोलना, विचारना' है;

तब यह 'ओम्' तो मन्त्रराज है। यही उनका ओङ्कारको सर्व-साधारण-स्थलमें प्रयुक्त न करनेका वास्तविक-दृष्टिकोण है, अन्य उसके प्रति उदासीनता-आदि कारण नहीं। सब शास्त्रीय-कर्म-विशेषोंके आरम्भमें तो वे उसका प्रयोग मानते ही हैं। तभी तो सनातनधर्मकी सन्ध्यामें लिखा है—'ओंकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता, शुक्लो वर्णः, सर्वकर्मारम्भे विनियोगः'।

'ओम्' की वास्तविक आकृति।

'ओम्' को एक अक्षर माननेपर तो 'वर्णात् कारः' इससे 'कार' प्रत्यय हो जाता है; पर वर्णसमुदाय माननेपर 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (१।२।३५) इस पाणिनिके निर्देशसे समुदायको भी 'कार' प्रत्यय होकर 'ओङ्कार' शब्द बन जाता है। इसकी वास्तविक एवं विशुद्ध आकृति तो 'ओम्' यह है। इसके समक्ष कोई भी अक्षर न पड़ा हुआ हो; तो 'ओम्' ही लिखना वेदाङ्ग-सम्मत है। सामने अच् अक्षर पड़ा हो; तब भी 'ओम्' ही लिखना व्याकरणानुशिष्ट है। जैसे कि 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म (गीता ८।१३) 'तस्माद् ओमित्युदाहृत्य' (१७।२४) यदि सामने व्यञ्जन-वर्ण (हल्प्रत्याहार) पड़ा हो, तो 'म्'को अनुस्वार कर देना चाहिये, अर्थात् वहां 'ओं' लिखा जाना व्याकरणानुगृहीत है। पर सामने अच् अक्षर होनेपर अथवा कोई भी अक्षर सामने न होनेपर 'ओं' लिखना व्याकरण-विरुद्ध है। अनुस्वारका मूल 'म्' ही होता है, अतः गोपथ (१।१।२५) में लिखा है—'मकारं व्यञ्जनमित्याहुः' पर 'ॐ' यह तो शिवलिङ्गकी अथवा गणेश आदि पांच-देवोंकी प्रणवात्मक-प्रतीक आकृति-विशेष भी है,

अर्थात् यह एक चित्र (मूर्तिविशेष) है। अत 'ॐ' इस प्रकार लिखनेवाले, वेदाङ्गके अनुसार अशुद्धि जानकर भी जानबूझकर यदि इस आकृतिको लिख रहे हैं; तो समझना पड़ेगा कि—वे 'ॐ' इस रूपमें गणेशकी मूर्ति लिख रहे हैं; इस विषयमें 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' आरम्भिक निबन्ध देखें। उसमें तो अक्षरात्मकता न होनेसे व्याकरणका प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता।

श्री पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी-महोदय (काशी)ने लिखा है कि–'प्र ते इन्द्र ! पूर्व्याणि' (ऋ० १०।११२।८)में कहा गया है—शिव-पार्वती एक-बार प्रणव-चित्रकी ओर एकाग्रतासे ध्यान कर रहे थे। उनके संकल्पके बलसे उस चित्रसे परब्रह्मतत्त्व गणपति-रूपसे प्रादुर्भूत हुआ, जिसमें गजका गण्डस्थल, शूर्पकर्ण, शुण्डा-दण्ड, चन्द्रकला की आकृति थी। श्रीगणपति ही परब्रह्म हैं। जैसा कि—गणपत्युपनिषद्में लिखा है। श्रीगणेशके परब्रह्म होनेसे 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगदर्शन १।२६-२८) उसका वाचक ॐकारको बताया गया है। वाच्य-वाचकका अभेद हुआ करता है। तब सर्वकर्मारम्भमें ॐकारका उच्चारण गणपतिका पूजन है। सो 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः' (गीता १७।२४) 'दानयज्ञतपःस्वाध्यायजप-ध्यानसन्ध्योपासना-प्राणायाम-होमदैवपित्र्यमन्त्रोच्चारण, ब्रह्मारम्भादीनि प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्' (शांठ्यायन) इत्यादि तथा 'गणेशः सर्वदेवानामादौ पूज्यः सदैव हि' (रुद्रकल्पद्रुम) 'आदौ विनायकः पूज्यो ह्यन्ते च कुलदेवता' (बह्वृचपरिशिष्ट) 'सर्वकर्म-समृद्ध्यर्थमादौ पूज्यो विनायकः'

(लिङ्गपुराण) इत्यादि शास्त्र-वचनोंकी इसीसे एकवाक्यता हो जाती है। अतः सर्व-कर्मोंके आरम्भमें 'ॐ'का उच्चारण तथा स्मरण गणपतिका ही संक्षिप्त-पूजन है। अतः उक्त-ऋग्वेदके अग्रिम-(१०।११२।६) मन्त्रमें गणपतिका वर्णन किया है।

कई लोग कहते हैं—"गणेशकी उत्पत्ति 'ओं३'से हुई है; क्योंकि प्रारम्भमें वही मंगलाचरण-रूपमें लिखा जाता है, उसमें 'अ' शिर और शरीर है, आरम्भिक-भाग सूँड है, ऊपरकी मात्रा गणेशका एकदन्त है, और अनुस्वारका-भाग उसका मोदक है। प्लुत(३)का चिन्ह उसका मूषक-वाहन है। इस प्रकार 'ओं३'से ही मोदकभोजी, मूषकारोही और एकदन्तधारी-गजाननकी उत्पत्ति हुई है। 'ओं३' लिखते-लिखते और उसकी वास्तविक-आकृतिको भुलानेसे गजानन बन गया है"—पर इस कल्पनामें कुछ थोड़ा-सा भेद कर दिया जाता है। वस्तुतः गणेशकी ही एक आकृति 'ॐ' भी है, जैसे कि गणेशपुराणमें लिखा है—'ॐकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठितः। यं सदा मुनयो देवाः स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि। 'ओंकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायकः। यथा सर्वेषु कार्येषु पूज्यतेऽसौ विनायकः'। सो 'गणपति' तो एक देव सिद्ध हो ही गये। ॐकार उन्हींका एक संक्षिप्त-संस्करण वा संक्षिप्त-प्रतीक वा मूर्ति सिद्ध हुआ। यहां भूल तो नहीं बताई गई; किन्तु उसकी मूर्ति बताई गई है।*

* इसमें वेदका 'यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ. १।१६४।३९) यह मन्त्रांश साक्षी है। अर्थात् इस 'ओम्'में सब देवता विराजते हैं। तब उससे देवमूर्ति निकलना भूल नहीं; किन्तु इसमें वैदिकता है।

इसका संकेत हम 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' निबन्ध में भी कर चुके हैं। यजुर्वेद वा० सं० (४०।१५-१७) मन्त्रके भाष्यमें उवट-महीधरने इसे आदित्य-स्थित ब्रह्मकी 'प्रतिमा' माना है। उसपर भला व्याकरणका नियन्त्रण कैसे हो सकता है? इसपर बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृतिका यह वचन विचारणीय है—'अनुस्वारो मकारस्तु ओङ्कारस्य शिरो यदा। प्रकृतिः साधनं कृत्वा व्यञ्जनादौ तु लुप्यते' (२।८१)

'ओ३म्' लिखनेमें तीन पक्ष।

अब 'ओम्'की एक आकृति 'ओ३म्' इस प्रकार प्लुत-सहित भी है। पर इस प्लुत-सहितका भी सर्वत्र प्रयोग उचित नहीं। यहाँ पर 'ओमभ्यादाने' (८।२।८७) इस पाणिनिसूत्रसे अभ्यादानमें प्लुत होता है। जैसा कि—गोपथब्राह्मणमें भी कहा है—'तिस्रो मात्राः अभ्यादाने हि स्रवते' (१।२७) अभ्यादान सबसे पूर्वके आरम्भको कहते हैं। वह सबसे पूर्वका आरम्भ भी वेदका ही इष्ट है; क्योंकि—'ओम्' वेदका ही सारस्वरूप है। तभी 'सिद्धान्तकौमुदी'में इसका लोकमें उपयोग न होनेसे इस सूत्रको वैदिक-प्रक्रियामें रखा गया है।

इसी कारण ही श्रीभट्टोजिदीक्षितने इसका उदाहरण 'ओ३म्-अग्निमीले पुरोहितं—' यह वेदका ही रखा है। काशिकाकार श्रीवामन-जयादित्यने भी यही उदाहरण लिखा है। इससे सिद्ध हो रहा है कि—इस 'ओ३म्'का प्रयोग वेदसंहिताका सबसे पूर्वका आरम्भ करनेके समय किया जाना चाहिये, सर्वत्र इसे नहीं

लिखना चाहिये। 'अग्निमीले' यह मन्त्र 'ऋग्वेदसंहिता'का सर्वादिम है। अतः उसके पूर्व 'ओ३म्'का प्रयोग ठीक ही है।

बीसवीं शताब्दीके वेदानुरागी-रूपसे प्रसिद्ध, आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजीने भी अपने 'वेदाङ्गप्रकाश'के 'सन्धिविषय'के 'संज्ञाप्रकरण' ४र्थ पृष्ठमें उक्त-सूत्रके उदाहरण 'ओ३म् इषे त्वा ऊर्जे त्वा' 'ओ३म् अग्निमीले पुरोहितम्' यह दो दिये हैं। यह दोनों ही वेदसंहिताओंके आरम्भके हैं। पहला उदाहरण यजुर्वेदवाजसनेयी-संहिताका सर्वादिम है, दूसरा ऋग्वेदशाकलसंहिताका सर्वादिम है। स्वामीजीने उक्त सूत्रके 'अभ्यादान' पदका अर्थ भी 'आरम्भ' ही किया है। इससे दो बातें सिद्ध हो रही हैं, एक यह कि—इस 'ओ३म्'का प्रयोग केवल वेदके आरम्भमें किया जावे, सर्वसाधारण-स्थलपर नहीं। दूसरा यह कि—वेदके प्रत्येक-मन्त्रके साथ जो 'ओम्' बोला जाता है, न तो वहाँ प्लुत-सहित 'ओ३म्' लिखना चाहिये, न ही वेद-संहिताओंके मण्डल, अष्टक, अध्याय, आर्चिक, पर्व, काण्डोंके आरम्भिक मन्त्रोंमें; क्योंकि—वह आरम्भ होनेपर भी सर्वादिम-आरम्भ नहीं। तभी तो अभ्यादानके प्रत्युदाहरणमें 'सिद्धान्तकौमुदी'में 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' तथा काशिकामें 'ओमित्ये-तदक्षरमुद्गीथमुपासीत' यह उदाहरण दिया गया है। यहाँ आरम्भ होने पर भी सर्वादिम-आरम्भ नहीं।

इसका तत्त्व यह है कि—जब यज्ञोंमें वेद-संहिताओंका उच्चारण प्रारम्भ किया जाता था; तब उससे पूर्व 'ओ३म्' इस प्रकार प्लुत त्रिमात्रतासे बोला जाता था। त्रिमात्रतामें इसे लम्बे-स्वरमें बहुत

देर तक बोलना पड़ता है। इससे आस-पास बैठे हुए यज्ञसम्बद्ध सब अधिकारियोंको पता लग जाता था कि—अब वेदसंहिताका आरम्भ होगया है। इसी कारण उस आरम्भमें वहाँ 'ओ३म्' लिखा जाता है। वह लिखनेकेलिए नहीं है, किन्तु वहाँ वैसा बोलनेकेलिए है। अतः आजकल जो वेदसे इतर-स्थल लोकमें, तथा सर्वादिम आरम्भ न होनेपर भी जो कि 'ओ३म्' लिखा जाता है, यह अनार्ष-व्यवहार है। प्लुत तो लिखना भी व्यर्थ है, वह बोलनेका द्योतक है; पर आजकल जो कि लिखनेमें प्रयुक्त किया जाता है, वहाँ बोलनेकी कोई बात ही नहीं होती। अतः प्लुत-सहित उसे सर्वसाधारण-स्थलपर बोलना वा लिखना शास्त्रीय नहीं।

दूसरा पक्ष।

यह एक पक्ष है, अब दूसरा पक्ष दिया जाता है। वह यह है कि—यह आवश्यक नहीं कि-प्लुत-सहित 'ओ३म्'को आरम्भमें ही लिखा जावे, और वह भी वेदमें। 'ओमभ्यादाने' (पा० ८।२।८०) के 'अभ्यादान'का आरम्भ यह अर्थ 'वृत्ति'में ही लिखा है, यह अर्थ सर्वसम्मत नहीं। श्रीनागेशभट्टने उक्त-सूत्रपर 'शब्देन्दुशेखर' वैदिक-प्रक्रियामें लिखा है कि—'न सुब्रह्मण्याख्यायां' (१।२।३७) इस सूत्रमें कैयटने 'सुब्रह्मण्योम्' इसमें 'ओमभ्यादाने'से प्लुतोदात्त नहीं माना। उसका आशय यह है कि-'इस सूत्रके 'अभ्यादान' पदका अर्थ 'अयज्ञकर्म' है, 'प्रारम्भ' नहीं। यदि उसका अर्थ 'प्रारम्भ' ही होता; तो 'सुब्रह्मण्योम्'में प्रारम्भ न होनेसे प्लुतोदात्त की प्राप्ति ही नहीं थी; तब उस प्लुतोदात्तकी अप्राप्त्यर्थ श्रीकैयटको

'अभ्यादान'का 'अयज्ञकर्म' अर्थ करनेकी क्या आवश्यकता थी? इससे श्रीनागेशने यह सिद्ध किया है कि—उक्त सूत्रसे 'ओम्'को प्लुतोदात्त 'अयज्ञकर्म'में होता है, यज्ञ-कर्ममें नहीं; और प्रारम्भ में ही प्लुत देना आवश्यक भी नहीं। मध्य वा अन्तमें कहीं भी 'ओम्' आ जावे; तो उसमें प्लुत दिया जा सकता है। इसपर श्रीनागेशने उपपत्ति भी दी है कि—इसीलिए ही जपमें भी शुद्ध-प्रणवको प्लुत ही जपते हैं, पर 'सुब्रह्मण्योम्'में यज्ञकर्म होनेसे 'ओमभ्यादाने' वाला अयज्ञकर्मपरक-प्लुतोदात्त न हुआ।

यहाँपर श्रीनागेशभट्टके यह शब्द हैं—'अभ्यादानम्—आरम्भः, तत्र वर्तमानस्य इत्यर्थ इति वृत्तिः। 'न सुब्रह्मण्याख्यायाम्' (१।२।३७) इति सूत्रे कैयटस्तु 'सुब्रह्मण्योम्' इत्यत्र 'ओमभ्यादाने' इति प्लुतोदात्तत्वं न भवति, तस्य अयज्ञकर्मविषयत्वात्' इति वदन् अप्रारम्भेपि अनेन प्लुतमाह। अत एव [तस्य सूत्रस्य अयज्ञकर्मविषयत्वादेव इति भैरवः] शुद्ध-प्रणवजपेपि तं प्लुतमेव जपन्ति। 'अभ्यादान'-पदेन 'अयज्ञकर्म' उच्यते—इति तदाशयं वर्णयन्ति'।

इसपर भैरवमिश्रने 'चन्द्रकला'में यह समर्थन लिखा है—'अयज्ञकर्मणि विधीयमानः 'ओमभ्यादाने' इति प्लुतः प्रारम्भेपि भवति, नतु 'अभ्यादान' पदस्य आरम्भार्थकत्वमिति। न च वृत्ति-सम्मतमेव 'अभ्यादान' पदस्य आरम्भार्थकत्वमस्तु—इति वाच्यम्, यज्ञकर्मणि प्रारम्भे प्लुतोदात्तस्य 'ओ३म्' इत्यत्र सिद्धावपि जपे प्लुतानापत्तेः'।

तृतीय पक्ष ।

पर हमें वृत्तिकारका ही मत ठीक जँचता है; श्रीनागेशभट्टका नहीं। इसमें कारण यह है कि—एक तो श्रीकैयटने 'तस्य ('ओमभ्यादाने' इत्यस्य) अयज्ञकर्मविषयत्वाद्' इत्याहुः' यहाँ पर 'इति आहुः' इस शब्दसे अपनी इस पक्षमें अरुचि सूचित की है। यह किन्हीं अन्योंका मत उसने दिखलाया है, अपना नहीं। दूसरा श्रीकैयटने उन दूसरोंके मतानुसार 'ओमभ्यादाने' इस सूत्रको ही अयज्ञकर्मविषयक बताया है, किन्तु 'अभ्यादानका' 'अयज्ञकर्म' अर्थ नहीं दिखाया। तब श्रीनागेशका 'अभ्यादान' पदेन-'अयज्ञकर्म उच्यते' यह आशय दिखलाना निर्मूल हुआ, क्योंकि—'ओमभ्यादाने' (८।२।८७) इस सूत्रसे अग्रिम सूत्र 'ये यज्ञकर्मणि' (८।२।८८) है।

यदि 'अभ्यादान' पदका अर्थ ही 'अयज्ञकर्म' होता; तो अग्रिम सूत्रमें 'यज्ञकर्म' शब्द साक्षात् होनेसे पूर्व-सूत्रमें 'अभ्यादाने' पद न होनेपर भी स्वतः यज्ञकर्मकी व्यावृत्ति हो जाती; तब 'अभ्यादान' पद रखना ही व्यर्थ हो जाता। पर यदि वृत्तिके अनुसार 'अभ्यादान'का अर्थ प्रारम्भ माना जावे, जैसा कि—'अमरकोष'के 'स्याद् अभ्यादानमुद्घात आरम्भः' (३।२।२६) इस प्रमाणमें भी लिखा है, 'आभिमुख्येन आदानं' यह व्युत्पत्ति भी इसकी इसी अर्थको संकेतित करती है, 'अयज्ञकर्म' अर्थमें यह सम्बन्ध नहीं बैठता। काशिका-आदिमें भी 'अभ्यादानम्-प्रारम्भः' इत्यादि उल्लेखसे इसी अर्थकी स्वीकृति प्रत्यक्षदृष्ट है; तो अग्रिम-सूत्रमें 'यज्ञकर्मणि' होनेसे यह सूत्र 'अयज्ञकर्म' विषयक भी सिद्ध हो

जाता है, और प्रारम्भार्थक 'अभ्यादान' पद भी सार्थक हो जाता है; और फिर श्रीनागेशभट्टके अनुसार 'ओम्'के अयज्ञकर्म-विषयक जपनमें भी उसके प्लुतत्वमें कोई बाधा नहीं रह पाती। अतः वृत्तिकारके अनुसार 'अभ्यादान'का प्रारम्भ अर्थ ही ठीक है। इस प्रकार 'सुब्रह्मण्योम्'में प्रारम्भ न होनेसे प्लुतोदात्तकी प्राप्ति ही नहीं है। उसे हटानेकेलिए बलात् 'अयज्ञकर्म' अर्थ करनेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

शेष बात यह है कि—यदि यह सूत्र अयज्ञकर्म-विषयक माना जावे; तो इससे यज्ञकर्मके आरम्भमें प्लुत नहीं हो सकेगा; पर यज्ञोंमें वेदका जब आरम्भ होता है; तो 'ओ३म्' प्लुत ही बोला जाता है; वेदका विषय भी यज्ञ ही सर्वसम्मत है, अतः 'ओमभ्या-दाने' इस सूत्रको यज्ञकर्म अथवा अयज्ञकर्म दोनोंसे स्वतन्त्र वा दोनोंमें सामान्य ही समझना चाहिये। हाँ, प्रारम्भ तो अवश्य अपेक्षित होना चाहिये।

श्रीनागेशका जपको अयज्ञकर्म बताना भी ठीक नहीं; अन्यथा 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' (गी० १०।२५) इस भगवदुक्तिसे विरोध पड़ेगा। जोकि—श्रीनागेशभट्टने प्रणवका जप प्लुतयुक्त माना है; यह भी कोई अपूर्व बात नहीं, 'प्रणव' कहते ही त्रिमात्र (प्लुतसहित) 'ओ३म्'को हैं। जैसेकि महाभाष्यकारने कहा है—'पादस्य वा, अर्धर्चस्य वा अन्त्यमक्षरमुपसंहृत्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्र-मोंकारं, त्रिमात्रमोकारं वा विदधति, तं प्रणवमाचक्षते' (८।२।८८)।

फलतः इस पक्षमें 'ओम्'को अयज्ञकर्ममें प्लुत प्रसक्त तो हो

सकता है, पर वह प्रारम्भमें ही होगा; अन्य-स्थलमें नहीं। जैसे कि—बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखा है—'त्रिमात्रश्च प्रयोक्तव्यः कर्मारम्भेषु सर्वदा' (२।५), मदनरत्नमें श्रीव्यासका वचन भी कहा है—'त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः कर्मारम्भेषु सर्वदा'। और फिर प्लुत करना वैकल्पिक भी है। 'ओमभ्यादाने' (८।२।८७) से पूर्वके 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' (८।२।८६) इस सूत्रमें श्रीभट्टोजिदीक्षितने लिखा है—"इह 'प्राचाम्' इति योगो विभज्यते, तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते' अर्थात्—'प्राचाम्' सूत्रको पृथक् कर देनेसे सभी प्लुत वैकल्पिक हो जाते हैं। प्राचीनोंके मतमें प्लुत होगा, अर्वाचीनोंके मतमें नहीं। इस प्रकारका एक वार्तिकभी है—'सर्व एव प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्यः' (महाभाष्य ८।२।२।६२)। अतः सर्वत्र 'ओ३म्' इस प्रकार लिखना भी आवश्यक नहीं। यह तृतीय-पक्ष है। गोपथ-ब्राह्मण (१।१।२५)के अनुसार ऋग्वेदमें इस स्वरितोदात्त, यजुर्वेदमें त्रैस्वर्योदात्त, सामवेदमें दीर्घ-प्लुतोदात्त और अथर्ववेदमें ह्रस्वोदात्त स्वर वाला माना है। यही बात बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृति (२।७८-८१)में बताई गई है।

वेदके आदिका 'ओम्' शब्द।

एक अन्य बात विचारणीय यह है कि—यह 'ओम्' जो इन वर्तमान चार-वेदसंहिताओंकी आदिमें लिखा मिलता है; यह शब्द इन वेदसंहिताओंका अपना है; या इनमें प्रक्षिप्त अर्थात् साम्प्रदायिक है? इस पर एक विचार यह है कि—वर्तमान चारों-वेदोंकी संहिताएं परमात्मासे प्रोक्त मानी जाती हैं, पर चारों संहिताओंको

आदिमें ठहरा हुआ 'ओम्' शब्द संहिता-मन्त्रके अन्तर्गत नहीं। पहले ऋग्वेद(शाक.)संहिताको ही लीजिये। 'अग्निम्' से लेकर 'धातमम्' तकके मन्त्रमें गायत्री-छन्द है; और २४ अक्षर हैं, कोई न्यूनता नहीं है; अतः स्पष्ट है कि—'ओम्'से संहिताका आरम्भ नहीं; किन्तु 'अग्निम्' से है। इस कारण श्रीसायणाचार्यने भी 'स च [संहिता-ग्रन्थः] 'अग्निमीले' इत्यारभ्य 'यथा वः सुसहासति' इत्यन्तः' 'अग्नि' शब्दसे संहिताका आरम्भ माना है। श्रीयास्कमुनि ने भी 'निरुक्त'के सप्तमाध्यायमें उक्त मन्त्र 'ओम्'-रहित ही व्याख्यात किया है। आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वा०दयानन्दजीने भी अपने 'ऋग्वेदसंहिता' भाष्यके प्रारम्भमें 'अग्निमीले' यहां से लेके 'यथा वः सुसहासति' इस पर्यन्त ऋग्वेद' (पृ० १) यह लिखकर 'ओम्' को वेदसंहिताके अन्तर्गत नहीं माना।

इसी प्रकार 'इषे त्वा' यह यजुर्वेद (वाज०) संहिताका आरम्भिक-मन्त्र है। इस मन्त्रकी आदिमें दीख रहा हुआ 'ओम्' भी मन्त्रा-न्तर्गत नहीं। तभी महाभाष्यकारने आरम्भमें इन आरम्भिक वेद-मन्त्रोंकी आदिमें 'ओम्' नहीं लिखा। इसी प्रकार 'सामवेद (कौ०) संहिता'के आरम्भिक-मन्त्र 'अग्न आयाहि वीतये' इस मन्त्रमें भी गायत्री-छन्द है। अक्षर भी २४ पूरे हैं; तब स्पष्ट है कि—इसका 'ओम्'भी संहिता-मन्त्रसे पृथक् है। इसी प्रकार 'ये त्रिषप्ताः' इस अथर्ववेद (शौ०) संहिताके मन्त्रमें सबसे पूर्व ठहरा 'ओम्' भी संहिताका नहीं। इसमें अनुष्टुप् छन्द है। अक्षर भी ३२ पूरे हैं तब स्पष्ट है कि—यहाँ का 'ओम्' भी संहितासे पृथक् है।

इस विषयमें साक्षियां भी हैं। आर्यसमाजके प्रसिद्ध स्वा० विश्वेश्वरानन्दजी तथा स्वा० नित्यानन्दजीने इन वर्तमान चारों संहिताओंकी पदसूची बनाई है। इनसे संहिताके पद जाने जा सकते हैं; पर इन चारों पदसूचियोंमें 'ओम्' शब्द ऐसा नहीं आया, जिसकी आरम्भिक सूची १।१।१ यह लिखी गई हो। प्रत्युत 'ऋग्वेदसंहिता'की सारी सूचीमें 'ओम्' शब्द ही नहीं। इसी प्रकार यास्कीय-निरुक्त तथा निघण्टुकी शब्दसूचीमें भी 'ओम्' शब्द ही नहीं। इस प्रकार उक्त स्वामियोंकी 'सामवेदसं० तथा अथर्ववेद-संहिताकी सूचीमें भी कहीं 'ओम्' शब्द है ही नहीं।

हाँ, यजुर्वेद-संहिताकी उक्त-सूचीमें 'ओम्'का स्थल संकेत २।१३, ४०।१५-१७ दिया है। इसमें पहला मन्त्र 'मनोजूतिर्...ओ३म्प्रतिष्ठ' है। इसमें हमारा प्रकृत 'ओम्' नहीं है, यह स्वीकार-वाचक है, और यह मन्त्रकी आदिमें भी नहीं है। दूसरा मन्त्र 'ओं क्रतो स्मर' (४०।१५) है, इसमें मन्त्रागत 'ओम्' अवश्य है, पर मन्त्रकी आदिमें नहीं। इस मन्त्रका आरम्भ तो 'वायुरनिल'से होता है; हां, उत्तरार्ध की आदिमें तो है। तीसरा मन्त्र 'ओं खं ब्रह्म' (४०।१७) है। यहां भी 'ओम्' मन्त्रान्तर्गत ही है, पर मन्त्रके आरम्भमें नहीं। इस मन्त्रका आरम्भ 'हिरण्मयेन पात्रेण' से है। इस 'ओं खं ब्रह्म' को स्वतन्त्र मन्त्र माना जावे; तो अन्य बात है। पर इसकी संख्या 'हिरण्मयेन' मन्त्रसे पृथक् नहीं; क्योंकि उक्त-मन्त्रमें आदित्य-मण्डलान्तर्गत-पुरुषको ही 'ओम्' कहा गया है। अतः 'ओं खं ब्रह्म' यह उक्त मन्त्रका शेष ही है।

तथापि वह बात पूर्ण न हुई, अर्थात् वर्तमान वेदकी चार संहिताओंके आरम्भमें 'ओ३म् अग्निमीले' 'ओ३म् इषे त्वा, ओ३म् अग्न आयाहि', 'ओ३म् ये त्रिषप्ताः' इनमें ठहरे हुए 'ओ३म्' संहिताके नहीं—अर्थात् इन चारों-संहिताओंके आदिम-पद 'अग्निम्, इषे, अग्ने, ये' ही हैं, 'ओम्' नहीं; यह पूर्व कहे प्रकारसे सिद्ध हो चुका है।

केवल हम ही यह नहीं कहते, किन्तु 'ओम्'का महत्त्व माननेवाले आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी-दयानन्दजी भी इससे सहमत हैं। वे अपने प्रसिद्ध-ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश'में लिखते हैं—"ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियोंके ग्रन्थोंमें 'ओ३म्' और 'अथ' शब्द लिखे हैं, वैसे ही—'अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः' ये शब्द चारों वेदोंकी आदिमें लिखे हैं, (प्रथम-समुल्लास पृ० १३) स्पष्ट है कि यहां वे इन शब्दोंको ही वेदसंहिताका आदिम-पद मानते हैं, 'ओम्'को नहीं।

अब फिर प्रश्न है कि—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति...ओमित्येतत्' (१।२।१५) यह कृष्णयजुर्वेदीय 'कठोपनिषद्' 'ओम्'की सत्ताको सभी वेदोंमें कहती है। स्वामी दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश'के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है—'देखिये वेदोंमें ऐसे प्रकरणोंमें 'ओम्'-आदि परमात्माके नाम हैं। यहांपर स्वामीजीने 'वेदों' यह बहुवचन देकर चारों वेदोंमें 'ओम्'की सत्ता मानी है। पर अब तो 'ओम्' पद कहनेवाली केवल यजुर्वेद-वाजसनेयीसंहिता ही हुई; क्योंकि केवल उसीमें 'ओम्' मिलता है; चारों वेदसंहिताएँ तो 'ओम्' कहनेवाली न हुईं; क्योंकि उनमें 'ओम्' मिलता नहीं; और

'ऋचो अक्षरे' (ऋ० १।१६४।३९, अथर्व० ९।१०।१८) इस मन्त्रका 'ओम्' अर्थ करनेमें सबका ऐकमत्य नहीं। स्वामी-दयानन्दजीने भी स० प्र० में (पृ० ४१ तृतीय समु०) तथा संस्कारविधिके (२८४ पृष्ठ) संन्यास-प्रकरणमें उक्त-मन्त्रका 'ओम' परक अर्थ नहीं किया। इधर कठोपनिषद्का उक्त वचन वादि-प्रतिवादि-सम्मत है; तब उस वचनकी सङ्गति कैसे हो ?

इसपर यह जानना चाहिये कि—यहांपर 'सर्वे वेदाः' कहा है, 'सर्वा वेदसंहिताः' नहीं कहा। 'सर्वे वेदाः' का अर्थ है 'सब वेद'। सब वेद कितने हैं ? चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। पर क्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहीं मिलते भी हैं ? कहीं भी नहीं। आप आर्यसमाजके वैदिक-यन्त्रालय अजमेरकी छपी वेद-पुस्तकें भी देख लीजिये, अथवा निर्णयसागर प्रेस, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई, विद्याविलास प्रेस काशी, भारतमुद्रणालय पारडी (सूरत) आदि प्रामाणिक-यन्त्रालयोंकी मुद्रित वेद-पुस्तकें भी देख लीजिये—आपको 'ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता, अथर्ववेद-संहिता' छपी हुई मिलेंगी, ऋग्वेद-यजुर्वेद आदि छपे नहीं मिलेंगे। जहाँ ऋग्वेद, अथर्ववेद ये नाम छपे हैं उनके सम्पादक-प्रकाशकोंको वस्तुस्थितिका ज्ञान नहीं है।

अथवा यदि वे 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस पस्पशाह्निकस्थ-महाभाष्यके वचनानुसार शाकल्यसंहिता, वाजसनेयी-संहिता, कौथुमी-संहिता तथा शौनकी-संहिताको 'ऋग्वेद-यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद लिखते हैं, तो उन्हें बाष्कलसंहिता

आदिको भी ऋग्वेद, काण्व, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कठ-कपिष्ठल आदि संहिताओंको भी यजुर्वेद, जैमिनि, राणायनीय आदि संहिताओंको भी सामवेद, पैप्पलाद आदि संहिताओंको भी 'अथर्व-वेद' लिखना चाहिये। अवयवरूपमें सब समान हैं।

वास्तविक बात यह है कि—ऋग्वेद आदि स्वतन्त्र नहीं मिलते। वेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इन चार भागोंमें मिलते हैं। इनमें मुख्य भाग दो हैं,—मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग। मन्त्र-भागमें ११३१ संहिताएं आ जाती हैं। ब्राह्मणभागमें पुराण आदि अष्टविध ११३१ ब्राह्मण, तथा इतनी ही उपनिषदें, और इतने ही आरण्यक आजाते हैं। यह सारा साहित्य मिलकर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार अथवा सब वेद बनते हैं। तो इन्हीं चारोंकी ११३१ संहिताओंके मध्यमें किसी भी संहिता, किसी भी ब्राह्मण, वा किसी भी उपनिषद् वा किसी भी आरण्यकमें आया हुआ 'ओम्'का वर्णन, आम्नान वा व्याख्यान मिल जावे; वह चारों वेदोंका माना जावेगा।

तब 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इसकी संगति लग गई। हम तत्तद्-वेदोंके संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदिके 'ओम्'-विषयक-प्रमाण दे ही चुके हैं। जो नहीं लिखे, वे उद्धृत किये जा सकते हैं। तब उक्त उपनिषत्-कण्डिकाएं जो स्वयं वेद हैं—ठीक ही है। प्रत्युत इस वचन से 'वेदोंकी कसौटी' भी निकल आई कि—यह सारा साहित्य वेद है। जैसे 'यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः (अथर्व० ४।७।६) 'वेदेन रूपे व्यपिबत् (यजुः १६।७८) इनमें परोक्षरूपसे

वर्णित 'वेद' शब्दसे इन वेदका वर्णन करनेवाले मन्त्रोंकी वेदसे भिन्नता नहीं हो जाती; वैसे ही 'त्रयो वेदा अजायन्त' (ऐत० ब्रा० २५।७) 'वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः' (तै०ब्रा० ३।१०।११।४) 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोपनि० १।२।१५) इत्यादि ब्राह्मण-उपनिषदादिके वचनोंमें परोक्षरूपसे कहे हुए 'वेद' शब्दसे ब्राह्मण, आरण्यक-उपनिषदादिकी वेद-भिन्नता भी नहीं हो जाती। बल्कि—यह सभी साहित्य 'चार-वेद' सिद्ध हो जाता है।

इसी सम्पूर्ण वेद-साहित्यको अवलम्बित करके फिर पुराण, इतिहास, श्रीमद्भगवद्गीता आदिने भी—जो पंचम वेद हैं—'ओम्' की महिमा गाई। इस प्रकारके 'ओम्' का महत्त्व स्पष्ट ही है। तब इन सब संहिताओंके आरम्भमें भी प्रोक्त 'ओम्' शब्द संहिताके आविष्कारकसे ही आया। 'गायत्री, अनुष्टुप्' आदि छन्दोंके अक्षरसे वह बढ़ा हुआ है'—यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि—छन्दोंके अक्षर न्यूनाधिक भी हुआ करते हैं। यदि गायत्री २४ अक्षर, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, जगती ४८ अक्षरवाले हों; तो 'शुद्ध' कहलाते हैं। यदि एक-अक्षर इनमें कम हो, तो 'निचृत', दो अक्षर कम हों, तो 'विराट्', एक अक्षर अधिक हो तो 'भुरिक्' दो अक्षर अधिक हों, तो 'स्वराट्' कहलाते हैं। छन्द भी वही माना जाता है। कोई त्रुटि नहीं आती।

अथवा वेदमन्त्रसे उस 'ओम्' का पृथक् रखना उसके वशिष्ट्यार्थ है; अन्यथा वेदमन्त्रान्तर्गत होनेपर वह वैसा ही

साधारण रहता; पर अब अलग होकर उन मन्त्रोंसे भी श्रेष्ठ होकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। और 'ॐ' होनेपर वह गजानन-गणेशका प्रतीक सिद्ध हुआ।

'हरिःओम्' का प्रयोग।

साहित्यमें 'अविमृष्टविधेयांश' एक दोष है, उसका निष्कर्ष यह है कि विधेय—जिसे मुख्य रखना पड़ता है—उसकी मुख्यताके दो प्रकार हैं। उसे अन्य अनुवाद्यके, समान-आसनपर न बैठाया जाय—यह पहला प्रकार है। उसके पूर्व अनुवाद्य-शब्द रखा जावे—यह दूसरा प्रकार है। वैसे ही 'ओम्' को मन्त्रमें न डालकर उससे पृथक् आदिम उच्च-आसन पर बैठाया गया—यह पहला प्रकार उसकी मुख्यताका है। दूसरे प्रकारके अनुसार 'हरिः' शब्द उससे पूर्व रखा जाता है। जैसे कि—मुख्य नेता पहलेसे ही आकर उच्च-आसनपर नहीं बैठ जाता, किन्तु कुछ जनताके पहले आजाने पर ही वह नेता आकर अपने आसन पर बैठता है।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे' इस पद्यमें 'न्यक्कार' शब्द विधेय है, उसका पहले रखना अविमृष्टविधेयांशदोषदूषित माना गया है। इसी लक्ष्यसे वेदके आरम्भमें 'हरिःओम्' कहनेकी परिपाटी भी प्राचीनकालसे प्रचलित है कि—सर्वोच्च 'ओम् स्वतः ही पहले न आ बैठे, उसका दूसरा रूप उससे पूर्व आवे, पीछे वह स्वयं आवे। वेदमें इस 'ओम्' के सर्वसाधारण होनेसे ही वेदकी पदानुक्रमणिकाओं वा मन्त्रसूचियोंमें न 'ओम्' ही रखा गया है, न 'हरिः-ओम्', यह अवश्य जान लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त वेदका विषय यज्ञ है। इसमें 'ब्राह्मणभाग भी वेद है' यह निबन्ध सम्भवतः हम अग्रिम-पुष्पमें देंगे। कुछ यहाँ भी लिखते हैं—'चत्वारो वै वेदाः, तैर्यज्ञस्तायते' (अथर्ववेद गोपथब्राह्मण १।४।२४) इत्यादि। यज्ञोंमें सोमका बहुत उपयोग हुआ करता था, यह बात वेदज्ञ-विद्वानोंसे छिपी हुई नहीं। वेदमें 'हरि' शब्द सोमकेलिए आया है, यह सामवेद (कौ०) संहिताके 'पवमानपर्व' तथा ऋग्वेद (शा०) संहिताके नवममण्डलमें पवमान-सोमके सूक्तोंमें द्रष्टव्य है। उनमें एक मन्त्र यह है—'हरिं... गोभिराद्रृतं' (ऋ० सं० ६।८६।२७) यहाँ 'सोम' को 'हरि' कहा गया है। तो 'ओम्' से अभिमन्त्रित सोम जैसे—'ओङ्काराभिष्टुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत्' (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।५।३०६) इस स्मार्तपद्यके कथनानुसार पीनेपर पवित्र करनेवाला माना गया है, वैसे सोमके पर्याय 'हरि' शब्दसे कवचित 'ओम्' भी उच्चारण करनेपर पवित्र करनेवाला होनेसे ही वेदारम्भमें 'हरिः-ओम्'-रूपमें गाया जाया करता था।

एक प्रश्न है 'हरिः ओम्' में सामने खर्-प्रत्याहार वा अवसान न होनेसे विसर्ग की प्राप्ति ही नहीं; तब या तो 'हरिरोम्' कहा जावे; या 'हरिःओम्' को व्याकरणानुसार अशुद्ध माना जावे', इस पर उत्तर यह है कि—व्याकरणमें दो पक्ष होते हैं; एक वाक्य-संस्कारपक्ष दूसरा पद-संस्कारपक्ष। 'हरिः ओम्' में पद-संस्कारपक्ष है। 'हरिः' यह पद विसर्गान्त आनेपर फिर सामने 'ओम्' आनेपर 'जातः संस्कारो न निवर्तते' इस न्यायसे अथवा 'अकृत-व्यूह'-

परिभाषासे फिर विसर्गोंको कुछ नहीं होता-अतः इसमें अशुद्धता नहीं।

'हरिं—गोभिरावृतम्' उक्त इस मन्त्रमें सोमस्थानापन्न 'हरि' शब्दसे गौओंसे आवृत हरि (कृष्ण) का भी बोध होता है, क्योंकि—भगवानने 'भगवद्गीता' में 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (८।४) अपने आपको 'अधियज्ञ' कहा है। स्वा० शंकराचार्यने इसपर लिखा है—'अधियज्ञः—सर्वयज्ञाभिमानिनी देवता विष्ण्वाख्या 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः, स हि विष्णुरहमेव'। इस प्रकार भगवान् यज्ञाधिष्ठाता-देव कहे गये हैं। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (६।२४) यहांपर भी भगवान्ने वही कहा है। 'सोमो भूत्वा रसात्मकः' (१५।१३) यहां पर भगवान्ने रसस्वरूप-सोम भी अपनेको कहा है। तब गौओंसे आवृत भगवान्-श्रीकृष्णका भी 'हरिः' इस वैदिक-शब्दसे कथन हो सकता है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (१५।१५) भगवान्-श्रीकृष्ण ने यहां सभी वैदिक-शब्दोंसे अपनी ही वेद्यता-वर्ण्यता मानी है। ब्रह्मसूत्रके माध्वभाष्यमें 'एकशब्दैर्द्विशब्दैश्च बहुशब्दैश्च केशवः। एक एवोच्यते वेदैस्तावता नास्य भिन्नता' (२।३।२२) यह भविष्य-पुराणका वचन उद्धृत किया है। इसमें भी वेदके शब्दोंसे भगवान्-कृष्णका ही प्रवचन होना कहा है। तब 'हरि' यह श्रीकृष्णका वैदिक-नाम सिद्ध हुआ। 'श्रीहरिः'का अर्थ होता है—'श्रिया लक्ष्म्या सहितो हरिः-श्रीहरिः'।

इसमें अन्य भी एक ज्ञापक मन्त्र है—'ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः

परमं पदमवभाति भूरि' (ऋ०सं० १।१५४।६) यहांपर यद्यपि श्रीयास्कने 'निरुक्त'में सूर्यका अर्थ किया है; क्योंकि वे अपने माने तीन देवताओं—अग्नि, इन्द्र अथवा वायु तथा सूर्यमें सबका अन्तर्भाव मानते हैं; तथापि इन तीनोंका भक्तिसाहचर्य दिखलानेकेलिए श्रीयास्कने विष्णु, रुद्र आदि देवता पृथक् भी बताये हैं। सूर्यके विषयमें श्रीकात्यायनने 'ऋग्वेदसर्वानुक्रमणिका'में भी कहा है—'एकैव वा महानात्मा देवता, स सूर्य इति आचक्षते। स हि सर्वभूतात्मा। तदुक्तमृषिणा—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इति। तद्विभूतयोऽन्या देवताः। तदपि एतद् ऋचा उक्तम्—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरिति' (२।१४-२०)। जब सब देवोंको सूर्यकी विभूति माना गया है; तब 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः (गीता ७।८) 'आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्' (गीता १०।२१) के अनुसार सूर्य-देवतावाले मन्त्रमें श्रीकृष्ण-भगवान्का वर्णन भी मौलिक है। इस मन्त्रका देवता भी तो 'विष्णु' है; तब तो उक्त-अर्थ करनेमें कोई निर्मूलता रहती भी नहीं है।

तब उक्त-मन्त्रमें श्रीकृष्णके गोलोकका वर्णन भी सङ्गत है। उक्त मन्त्रमें 'वृष्णः' का अर्थ है 'वृष्णिवंशीयस्य'। 'वृष्णेः'के स्थानमें 'वृष्णः' कहना छान्दस इकारलोपके कारण है। उस उरुगाय-सर्वस्तूयमान वृष्णिवंशीय-श्रीकृष्णका परमपद-गोलोक शोभित होरहा है, जिसमें भूरिशृङ्गा अयासः गावः—बड़ी सींगपक्ष वाली गमनशील गौएँ हैं। उसी गोलोकको यजमान तथा उसकी पत्नीके निवासलोकरूपमें हम चाहते हैं। यही अर्थ महामहोपाध्याय

पं० शिवदत्तजीने निरुक्तकी अपनी टिप्पणीमें दिया है। हम उसे भी उद्धृत करते हैं—

"उरुगायस्य-बहुभिर्गीयमानस्य स्तुत्यस्य, वृष्णः—इत्यत्र 'वृष्णि'-शब्दस्य अन्त्यस्य इकारस्य छान्दसे लोपे अङ्गीकृते वृष्णिकुलोत्पन्नस्य [वृष्णिवंशे अवतीर्णस्य] श्रीकृष्णाख्यस्य विष्णोः, परमं पदं स्थानं 'व्रज' नामकं—इत्यपि गूढोभिप्रायः। निरुक्तरीत्या गोलोकस्य प्रतीतिर्भवत्येव—इति गोलोक एव व्रजमण्डलम्-इति सर्वेषामास्तिकानां सिद्धान्तः। 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः' इत्युक्तेः।"

इस प्रकार हमारा किया हुआ अर्थ निर्मूल वा वेदप्रतिकूल भी नहीं। वेदमें अन्यत्र भी 'व्रजं च विष्णुः सखिवान् अपोर्णुते' (ऋ०सं० १।१५६।४) यहांपर विष्णु (वृष्णिवंशीय)का सखाओं-गोपोंसे मिलकर व्रज (गोकुल वा ब्रह्मवैवर्तके गोलोक)में रहना संकेतित किया गया है।

यह हमने प्रसक्तानुप्रसक्त लिखा है। फलतः उक्त 'हरिं गोभिरावृतं' वेदमन्त्रमें 'हरि' से 'विष्णु' श्रीकृष्णका ग्रहण भी हो जाता है। भगवान्-श्रीकृष्णने अपने आपको 'ओम्'का रूप भी माना है। जैसे कि ७।८, ९।१७, १०।२५ आदि गीताके पद्य पूर्व दिये जा चुके हैं। अपनेको 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' (९।१६) यहां 'यज्ञ' भी माना है। सो 'सततं कीर्तयन्तो माम्' (गीता ९।१४) इस प्रकार यज्ञविषयवाले वेदके आरम्भमें 'हरिः ओम्' कहना अनुपपन्न नहीं।

पूर्व कहा जा चुका है—'ओम्'के तीन अक्षरोंको तीन वेदोंसे

दुहा गया। इससे स्पष्ट है कि-भगवान्‌ने भी उसे तीनों वेदोंमें गुप्त रखकर उसे गुप्त रखनेका ही संकेत दिया है। फिर उसे केवल वेदके आरम्भमें बोलनेकेलिए उसे वहीं निर्दिष्ट भी कर दिया। पर अजमेर वैदिक-यन्त्रालयकी वेदसंहिताओंमें तो 'ओम्'को उस वेदारम्भमें भी आदिममन्त्रके साथ प्रकाशित नहीं कराया गया। कदाचित् वे इसे वहां 'साम्प्रदायिक-प्रक्षिप्त' समझते हों; वा उसे गुप्त-मन्त्ररूपमें रखना चाहते हों। पर वह 'ओम्' वेदारम्भसे पूर्व बोला जाता था। इसमें 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदौ अन्ते च सर्वदा। स्रवत्य-नोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च [अनोङ्कृतं] विशीर्यति' (२।७४) यह मनु-वचन तो प्रसिद्ध है ही। स्वयं इसमें वेदकी साक्षी भी है। ब्राह्मण-भागात्मक-अथर्ववेदमें कहा गया है कि—

एक बार असुरोंने इन्द्रपुरीको घेर लिया। देवता डरे और सोचने लगे कि—असुर कैसे मारे जावें? उन्हें 'ओम्' मिला। कहा कि—हम आपको प्रमुख बनाकर असुरोंको जीतना चाहते हैं। 'ओम्'ने कहा कि-मैं इस नियमसे आपकी बात पूर्ण करूंगा कि— 'न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुः। यदि वदेयुः—अब्रह्म तत् स्यादिति' (गोपथब्रा० १।१।२३) अर्थात् मुझ 'ओम्'को पूर्व पढ़े बिना ब्राह्मण वेदोच्चारण न करें। यदि करें; तो वह वेदपाठ न माना जाय। देवताओंने यह स्वीकार किया। 'ओम्'की सहायतासे असुर हार गये।

इस प्रकार वेदने ही अपने आरम्भमें 'ओम्' लगाया। गोपथ-ब्राह्मण भी वेद ही है—यह कुछ ४र्थ पुष्पमें बताया जा चुका है;

शेष छठे पुष्पमें बताया जायगा। इसे वेद-वचन न माना जावे; तो 'ओम्'का वेदके आरम्भमें 'साम्प्रदायिक-प्रक्षेप' ही मानना पड़ेगा। फिर सन्धि-विषयमें 'ओमभ्यादाने' सूत्रका 'ओ३म् अग्निमीले पुरोहितं' 'ओ३म् इषे त्वा' इस उदाहरणको देनेसे वेदभक्त कहे जानेवाले स्वा०द०जी भी 'साम्प्रदायिक' तथा 'प्रक्षेपको आदर देनेवाले' बन जाएंगे; और स्वा०द०जी के स० प्र० (पृ० २)में लिखे हुए 'वेदोंमें ऐसे-ऐसे प्रकरणोंमें 'ओम्' आदि परमेश्वरके नाम लिखे हैं' इस वचनमें 'वेदोंमें' यह बहुवचनान्त-शब्द भी 'निर्विषय' हो जाएगा। अतः यहाँ सभी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषदोंको वेद मानना, तथा उनके आरम्भमें 'ओम्'का होना मानना अनिवार्य है। जैसे कि—कात्यायनकी 'ऋग्वेद (शाकलक) सर्वानुक्रमणिका'में लिखा है—'ओंकारो वेदेषु' (१।१८)

'ओम्'में सर्वत्र 'ओ३म्' इस प्रकार प्लुत देना चाहिये या नहीं, इस विषयमें हम तीन पक्ष दिखला चुके हैं। प्लुत भी उसमें लिखना आवश्यक नहीं; केवल वेदारम्भमें उसका प्लुत-स्वरमें बोलना ही अपेक्षित होता है। 'ओम्'को 'ओं' वा 'ॐ' तब तक लिखना ठीक नहीं, जब तक कि उसके आगे 'श्रीः' वा अन्य कोई व्यञ्जन न पड़ा हो। सामने कुछ भी न हो; वा अच् अक्षर हो, तो 'ओं' लिखना वेदाङ्ग (व्याकरण)से विरुद्ध है। हाँ, 'ओं, वा ॐ' को यदि गणेशकी संक्षिप्त-मूर्ति मान लिया जावे; जैसा कि हम 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' निबन्धमें आरम्भमें लिख चुके हैं; तो वहाँ 'ॐ' अक्षरात्मक न होनेसे, किन्तु एक मूर्तिविशेष होनेसे वहाँ व्याकरणका

बन्धन नहीं हो सकता; अतः उसे निर्विघ्नतार्थं मङ्गलकेलिए लिखा जा सकता है। अस्तु।

जिस-किसी भी प्रकारसे हो; यह 'ओम्' बहुत पवित्र तथा अतिशयित-महत्त्वपूर्ण एवं वेदका सार सिद्ध है जैसा कि मनुजीने इसके जाननेसे ही वेदका जानना कहा है—'आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म, त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता। स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद् वेदो यस्तं वेद स वेदवित्' (११।२६५) यही अन्तिम बात 'ध्यानविन्दूपनिषद् (१८)में भी कही है। अतः उदात्तस्वरयुक्त इसका अधिकार भी द्विजोंकेलिए है। इसका जो बहुत प्रचार दीखता है, इसका कारण सनातनधर्मका पुराण-साहित्य ही है। अधिकारियोंको इसका वैध-स्थलमें वैध प्रयोग करना चाहिये। वेदके उपनिषद्-भागमें ठीक ही कहा है— 'ओमिति आत्मानं युञ्जीत' (मैत्र्युपनि० ६।३) 'ओमिति ब्रह्म' (तैत्ति०उ० १।८।१) 'ओङ्कार एव इदꣳ सर्वम्' (छान्दोग्य २।२३।३) यही 'ओम्'की महत्ता है। इसीके अपेक्षित स्थलपर वैध-नादसे हमारी सर्वाङ्गीण-पवित्रता हो सकती है। शम्।

इति श्रीगौरीदेवीगर्भजेन, श्रीपं०शीतललालशर्मसेतुपालतनुजनुषा, विद्याभूषण श्रीपण्डितहीरानन्दशास्त्रि-पं०श्रीजगन्नाथशास्त्रि-महाभागाभ्यामधीतविद्येन, मुलतानस्थ-स०ध० संस्कृतकालेजस्य भूतपूर्वाध्यक्षेण, इदानीं देहली-रामदल-(दरीबाकलां) स्थ-सं०हिं० महाविद्यालयाध्यक्षेण, विद्यावागीश-विद्याभूषण-विद्यानिधिपदभाजा श्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिसारस्वतेन प्रणीते 'श्रीसनातनधर्मालोके' तद्ग्रन्थमालाया हिन्दुधर्माचारविचारपर्वादिनिरूपक-पञ्चम-सुमनोविकासः पूर्तिमगात्।

सूचना—पृ० ६४९में 'गोवध करना'के स्थान 'गोवध बन्द करना' तथा पृ० ८७४में 'ज्वरस्वर'के स्थान 'ज्वरत्वर' पढ़ें।

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमालाका परिचय

इस ग्रन्थमालाको १०००) देनेवाले इसके संरक्षक माने जाते हैं, उनका चित्र छपता है, प्रत्येक प्रकाशनमें उनका नाम छपता है। २००) प्रदाता सम्मान्य-सहायक, २५०) दाता मान्यसहायक, और १००) देने वाले सहायक माने जाते हैं। इसके प्रकाशित पुष्पोंका परिचय दिया जा रहा है। पाठकगण इनका जनतामें प्रचार करें।

प्रथम पुष्प—इसमें 'नमस्ते'को एक-पद बताने वालोंका मत आलोचित किया गया है। मूल्य ≡)

द्वितीय पुष्प—इसमें 'नमस्ते'को निपात बताने वालोंका मत आलोचित किया गया है। इसमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थकी सम्पूर्ण विषय-सूची, तथा उसपर प्रसिद्ध विद्वानोंकी सम्मतियाँ भी दी गई हैं। मूल्य ४)

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकारपर विचार किया गया है। 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' मन्त्रका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी, गोभिलसूत्रस्थ 'यज्ञोपवीतिनी'शब्दका रहस्य, 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय' 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इत्यादि बहुत प्रमाणोंके वास्तविक अर्थ बताकर, ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सूत, शबरी आदि शूद्र थे, या अशूद्र, इसपर विचार किया गया है। इसके लेने पर प्रथम-द्वितीय पुष्प अमूल्य दिये जाते हैं। सजिल्द मू० ३।) समाप्त

चतुर्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेदविषयमें भारी भूल, वर्ण-व्यवस्था जन्मसे है वा गुणकर्मसे, मृतकश्राद्ध वैदिक है वा अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित-मन्त्र ग्रहोंके कैसे हैं, ग्रहण और उसका सूतक, इत्यादि अनेकों विषयोंपर बड़ा सुन्दर विचार किया गया है। ४०० पृ० की सजिल्द सुन्दर-पुस्तकका मूल्य ६।)

पंचम पुष्प—यह ६०० पृ० की पुस्तक २८ पौंडके कागज़ पर बहुत सुन्दर छपी है। इसमें हिन्दुधर्मके चोटी-जनेऊ, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गों पर विचार, मालाकी मणियोंकी १०८ संख्या क्यों? यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व क्या है—इनपर विचार करके प्रातःसे रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई गई है। इसमें दीपमाला, होली आदि सभी वर्षके पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताकर श्रीगणेशका वैदिकदेवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्यपर तथा 'ओम्'के महत्त्व आदि १२५ विषयोंपर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। सजिल्दका मूल्य ८॥)

इन ग्रन्थोंकी बिक्रीमें शीघ्र सहायता कीजिये; जिससे छठा पुष्प शीघ्र प्रकाशित किया जा सके। पुस्तक मंगानेका संक्षिप्त पता—

पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत C/o- रामदल, दरीबाकलां, देहली-६
अथवा—श्रीनारायणशास्त्री सारस्वत प्रभाकर 'राजीव'
फर्स्ट बो० १६ लाजपतनगर, (नई देहली-१४)

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके सहयोगी

संरक्षक

श्री पं० मुरारि[illegible], मेहता, कलकत्ता।

[illegible]

१. जगद्गुरु-शङ्कराचार्य, ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज १००)। २. दंडी स्वामी श्री १०८ भूमानन्दजी महाराज हरद्वार १००)। ३. दानवीर श्री पं० कृष्णचन्द्रजी बैंकर्स, देहली १०१)। ४. 'पण्डितभूषण' स्वामी श्रीरामदासजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, देहली १०१)। ५. स्वामी श्री १०८ वासुदेवानन्दजी महाराज, शिमला १००)। ६. श्री पं० ब्रह्मदत्तजी शर्मा 'सांकरिया निवासी' अध्यापक माध्यमिक विद्यापीठ कादेड़ा (अजमेर) १००)। ७. श्री पं० हरिप्र[illegible]दजी शास्त्री पाराशर ओ. टी. संस्कृत-टीचर स० ध० हाईस्कूल, पठानकोट १००)। ८. रायबहादुर गोस्वामी श्री व्रजनाथजी शर्मा सारस्वत, अध्यक्ष कारोनेशन प्रेस आगरा [illegible]००)। ९. सेठ श्रीगोपीलालजी काबरा, [illegible]रवाड़ मूँडवा १०१)। १०. सेठ श्रीमांगीरामजी श्रीछबीलदासजी ब[illegible]ई ३, १५१)।

अर्थ-साहाय्यदाता

१. सेठ श्रीकुम्भनदास किशनदासजी बम्बई ५१), २. सेठ श्री भगवानदासजी डी० गा[illegible] बम्बई ५१) आदिकी सूची भूमिकामें है।

कृपया आप भी आज रु० १०००) देकर संरक्षक, और कमसे कम १००) देकर सहायक बनिये।

सहायता भेजनेका संक्षिप्त पता—

श्रीदीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत

[illegible]/0 श्री मदन, [illegible]